[illegible]

समय शब्द

(समयसारो)

गाथा 1, 2, 3, 36, 37, (142, 143), 144, 170, 342, 413, 415,

,, 50-55 व जीवाजीव, कर्ताकर्माधिकार में जीव कहा है।

कई जगह आत्मा, आत्मा भी कहा है।

अहिंसा-मन्दिर-प्रकाशन

समयसार

मूल रचयिता

भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य

टीकाकार

संस्कृत टीका आत्मख्याति—श्री अमृतचन्द्राचार्य

संस्कृत टीका तात्पर्यवृत्ति—जयसेनाचार्य

हिन्दी टीका—पं० जयचन्द जी

प्रकाशक

अ हिं सा - म न्दि र - प्र का श न

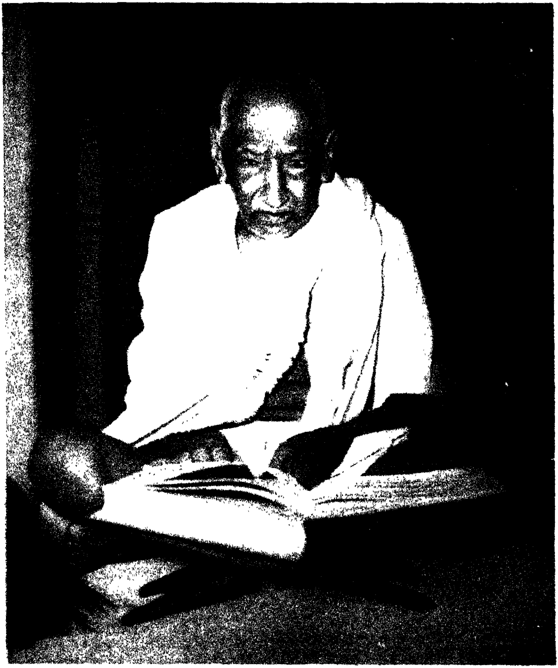
१ दरियागंज, दिल्ली-२

प्रकाशक
राजकृष्ण जैन,
अहिंसा-मन्दिर-प्रकाशन,
१, दरियागंज, दिल्ली-७

द्वितीयावृति १००१
इंगलिश अनुवाद सहित
मूल्य १५०/- रू०

मुद्रक :
जयको प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स प्रा. लि.
एफ-३४/५, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, फेज-२
नई दिल्ली-११००२०
दूरभाष : ६३१९७८

समयसार



105 क्षुल्लक श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी



स्व० लाला राजकृष्ण जैन

समर्पण

जिनकी स्नेह-सिक्त शुद्ध भावनाओं से प्रेरित होकर
समयसार का यह सुन्दर संस्करण संभव हुआ है
जिनकी जीवन-ज्योति परमार्थ की प्रेरक है
जो कारण समयसार से स्वयं कार्य समयसार
बनते जा रहे हैं
उन
परम अध्यात्मिक सन्त प्रशममूर्ति न्यायाचार्य
श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी
के
पवित्र कर कमलों में
सजीव गुरुभक्ति, प्रगाढ़ श्रद्धा और अनन्त निष्ठा से
यह समयसार
सादर
समर्पित
है

विनम्र
राजकृष्ण जैन

प्रथम संस्करण पर सम्मतियां

श्री कुंदकुंद के समयसार पुस्तक की प्रथम प्रति आपकी तरफ से प्रेमपूर्वक मुझे भेट दी गई, इसके लिए मैं बहुत उपकृत हूँ।

"समयसार निःसंशय एक अद्भुत ग्रंथ है, जो हमेशा ताजा रहनेवाला है और प्रकाशन भी उसका आप लोगों ने बहुत ही बढ़िया ढंग से किया है। भारत का श्रेष्ठ वैभव ही उसका आध्यत्मिक साहित्य है। लोगों के पास वह। पहुंचाने का काम एक मूल्यवान सेवा है।"

— *आचार्य विनोबा भावे*

इसी प्रकार महात्माजी के द्वितीय अनुयायी आचार्य श्री काका कालेलकर जी ने इस के सम्बन्ध निम्नलिखित शब्द लिखे है :-

"इस युग का तकाजा है कि हम बौद्ध दर्शन, जैन दर्शन और वेदान्त दर्शन तीनों का एक साथ अध्ययन करें। केवल तत्वज्ञान की चर्चा के लिए नहीं, किन्तु जीवन की उन्नति के लिए।

"तीनों का अध्ययन करते हमें देखना होगा कि कहां तक केवल परिभाष भेद है और कहां-कहां तात्त्विक मतभेद है। इसके बाद हमें यह भी तय करना है कि दृष्टिभेद के कारण या भूमिकाभेद के कारण जो तात्त्विक भेद पैदा हुए हैं, उनका परिहार हो सकता है या नहीं।

"जब समग्र मानवी जीवन ही समन्वित है, तब सब दर्शनों का भी किसी न किसी रूप में समन्वय होना ही चाहिए। वेदान्तियों ने और भक्तों ने एसे प्रयत्न किये भी हैं। लेकिन इस युग के लिए व्यापक दृष्टि से नया समन्वय करने के दिन आ गए हैं। इस महत् समन्वय की खोज करने वाले को दर्शन शिरोमणि कुन्दकुन्दाचार्य का 'समयसार' बहुत ही मदद करेगा। दिल्ली के अहिंसा-मंदिर ने 'समयसार' की आदर्श आवृत्ति तैयार करके देश की समयोचित्त सेवा की है।"

— *काका कालेलकर*

विश्व धर्मप्रेरक आचार्य श्री विद्यानंद जी महाराज का कुंद-कुंद भारती से शुभआर्शिवाद।

प्रस्तुत संस्करण समयसार का द्वितीय संस्करण है। प्रथम संस्करण आज से लगभग 31-32 वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। उस संस्करण की एक प्रति हमें स्व. लाला राजकृष्ण जी ने भेट की थी। प्रस्तुत द्वितीय संस्करण धर्मानुरागी श्री प्रेमचन्द्र जी ने अपने पिताजी के धर्म-प्रेम का अनुकरण करते हुए प्रकाशित किया है। इस समय समयसार की मांग भी बहुत थी।

इस संस्करण की विशेषता यह है कि इसमें मूल गाथाओं का अंग्रेजी अनुवाद भी जोड़ दिया गया है। यह अनुवाद स्व. लाला राजकृष्ण जी ने किया और उसका संशोधन सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ. ए. ऐन. उपाध्ये ने किया है। श्री प्रेमचन्द जी को उनके इस जैन वाड्मय की सेवा के लिए हम शुभआर्शिवाद देते हैं।

आचार्य विद्यानंद

आचार्य विद्यानंद मुनि

3.11.92

युगप्रवर्त्तिका, आर्यिकाशिरोमणि जम्बूद्वीप की पावन प्रेरिका पूज्य श्री गणिनी ज्ञानमती माताजी का मंगल आर्शिवाद।

अहिंसा मंदिर से प्रकाशित इस समयसार को मैंने कई वर्ष पूर्व देखा था तब ही मुझे प्रसन्नता हुई थी। मैं अधिकतर अपने संघ में सामूहिक स्वाध्याय के लिए इसी समयसार का चयन करती थी।

अब प्रेमचन्द्र जी जैन अहिंसा मंदिर ने इसमें अंग्रजी अनुवाद जोड़कर पुनः प्रकाशित करवा दिया है अतः यह और अधिक लोकप्रिय बनेगा इसमें कोई संदेह नहीं है। ग्रन्थ के प्रकाशक को मेरा यही मंगल आर्शिवाद है कि वे इसी प्रकार जिनवाणी के प्रचार प्रसार में अपना योगदान देते रहें तथा अपने परिवार को देवशास्त्र गुरु की भक्ति में अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान करते रहें।

गणिनी आर्यिका ज्ञानमती

१ - ११ - ९२

हस्तिनापुर

प्रकाशकीय

जैन वाङ्मय में आध्यात्मिक ग्रंथ 'समयसार' का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रथम बार यह ग्रंथ तीन टीकाओं (आचार्य अमृतचन्द्र कृत 'आत्मख्याति', आचार्य जयसेनकृत 'तात्पर्यवृत्ति' और पं० जयचंद जी की हिन्दी टीका) सहित ५० वर्ष पूर्व श्री रायचन्द्र ग्रंथमाला बम्बई से प्रकाशित हुआ था। अब इस रूप में यह ग्रंथ अप्राप्य था।

आध्यात्मिक संत, प्रशममूर्ति, न्यायाचार्य पूज्यपाद श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी इस समय 'समयसार' के सबसे बड़े मर्मज्ञ हैं। जिन्होंने हजारों बार इस ग्रंथ का स्वाध्याय किया है। 'मेरी जीवनगाथा' पढ़ने से पता लगता है कि पूज्य वर्णीजी 'समयसार' के उस समय के रसिया हैं, जब लोगों की दृष्टि आध्यात्म की ओर कम थी। वर्णी जी को इसकी कमी खटकी और उन्होंने मुझे प्रेरणा की कि तीनों टीकाएं सहित 'समयसार' का एक सर्व-शुद्ध-संस्करण निकाला जावे। हमने जयपुर, नयामंदिर दिल्ली, पंचायती मंदिर दिल्ली और टीकमगढ़ के भंडार की प्राचीनतम प्रतियों से मूल और तीनों टीकाओ का मिलान किया। यह संशोधन ३ मास तक पूज्य वर्णी जी के सान्निध्य में श्री पं० शिखरचन्द जी शास्त्री, पं० रतनचन्द जी मुख्तार और पं० सरदारमल जी ने किया। अब तक जितने प्रकाशित 'समयसार' मिले उनमें ३०० से अधिक ऐसी अशुद्धियां निकली कि कहीं पर शब्द छूटे हुए थे और कहीं पर कुछ पंक्तियां। उन सभी को प्रस्तुत संस्करण में शुद्ध कर दिया गया है। इतना ही नहीं, पूज्य वर्णीजी ने समयसार के दो अनुभवी विद्वानों (पं० ठाकुरदास जी शास्त्री बी० ए० टीकमगढ़ और प० शिखरचंद जी शास्त्री ईसरी) को दिल्ली भेजा, जिन्होंने पुनः मिलान के पश्चात् अपने समक्ष प्रकाशन प्रारम्भ कराया। समय-समयपर कई स्थलों पर हमें पं० लालबहादुर जी शास्त्री तथा पं० हीरालाल जी शास्त्री दिल्ली ने भी सहयोग प्रदान किया। अतः हम उन सभी विद्वानों के आभारी हैं। मुझे ग्रन्थ प्रकाशन का बिल्कुल अनुभव नही था। सौभाग्यवश यह कार्य सिद्धार्थ पब्लिकेशन (प्रा०) लि० (नया हिन्दुस्तान प्रेस) को दिया गया, जिसके मैनेजिंग डायरेक्टर श्री विमलप्रसाद जी जैन, जिन्हें ग्रन्थ को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने में मुझ से भी अधिक लगन थी। मुझे हर्ष है कि उन्होंने व्यवसायिक दृष्टि न रखकर साहित्य-सेवा की दृष्टि से ग्रन्थ के प्रकाशन का कार्य पूर्ण किया। इसमें प्रेस के हैड कम्पोजीटर श्री चन्द्रमोहन जी त्रिवेदी ने भी अथक परिश्रम किया। अब ग्रन्थ जिस रूप में निकल रहा है, इसका श्रेय इन्हीं महानुभावों को है।

'समयसार' की भूमिका कोई अधिकारी विद्वान् ही लिख सकता था। एतदर्थ हमने पूज्य बड़े वर्णीजी से प्रार्थना की। जैसे उनके 'दो शब्द' शीर्षक लेख से ज्ञात होगा, उन्होंने इस कार्य को प्रारम्भ भी किया, किन्तु ८६ वर्ष की अवस्था में अत्यधिक दुर्बलता के कारण अधिक न लिख सके। हमें हर्ष है कि उसकी पूर्ति उनके अन्यतम शिष्य समयसार के ज्ञाता न्यायतीर्थ श्री १०५ क्षुल्लक सहजानन्द जी महाराज (श्री मनोहरलाल वर्णी) ने की। हम उनको हृदय से अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

अहिंसा-मन्दिर-प्रकाशन का उद्देश्य अहिंसात्मक साहित्य का सृजन, प्रकाशन और प्रचार है। इसके संचालकों की दृष्टि इसे व्यवसायिक आधार पर चलाने की बिल्कुल नहीं है। हमारा प्रण है कि लागत से कुछ कम मूल्य पर अप्रकाशित और अप्राप्य साहित्य जनता तक पहुँचाया जावे। अहिंसा-मंदिर के ट्रस्ट में कुछ ऐसी अचल सम्पत्ति है जिसकी आय इस घाटे की पूर्ति कर देगी। वस्तुतः अहिंसा-मन्दिर के सुव्यवस्थित रूप से संचालन का श्रेय हमारे चि० सुपुत्र प्रेमचन्द्र जैन को है। वह अपने घरेलू स्वार्थों की उपेक्षा करके रात-दिन इस संस्था के अभ्युत्थान में लगा रहता है। इस प्रकाशन की व्यवस्था में भी उसी का अधिक हाथ रहा है। अतः मैं उसका भी आभारी हूँ। मैं सोच रहा हूँ कि आत्म-कल्याण के लिए सब सांसारिक झंझटों से मुक्त होकर उसे ही पूर्णतया यह कार्य सौंप दूं।

बड़े वर्णी जी की भावना है कि समयसार ग्रन्थ का घर-घर प्रचार हो। उसी के अनुरूप यह प्रयत्न है, जो पाठकों के सामने है।

अहिंसा-मन्दिर
१ दरियागंज, दिल्ली-७

राजकृष्ण जैन
१५-१-१९५९

卐 जिनवाणी स्तुति 卐

वीर हिमाचल तै निकसी गुरु गौतम के मुख कुण्ड ढरी है।
मोह महाचल भेद चली, जग की जड़ता ताप दूर करी है।।
ज्ञान पयोनिधि मांहिरली बहु भंग तरंगनि सो उछरी है।
ता शुचि शारद गंगनदी प्रति में अंजुरी करि शीश धरी है।
या जग मन्दिर में अनिवार अज्ञान अन्धेर छयो अति भारी।
श्री जिनकी दीप शिखा सम जो नहिं होत प्रकाशन हारी।।
तो किस भांति पदारथ पांति कहां लहते, रहते अविचारी।
या विधि संत कहैं धनि हैं धनि हैं जिन बैन बड़े उपकारी।।

6339

भूमिका

समयसार-महिमा

सभी जीव शाश्वत शान्ति चाहते हैं और एतदर्थ ही भरसक प्रयत्न करते हैं। जो जीव विषय भोगों में ही आनन्द मानते हैं और विषय भोगों के बाधक निमित्तों से द्वेष एवं कलह करके शान्ति प्राप्त करना चाहते हैं, उन जीवों की तो इसमे चर्चा ही नही करना है। जो अलौकिक उपायो से शान्ति का मार्ग ढूढते हैं, उनकी ही कुछ चर्चाओं के बाद परिणामस्वरूप हितकर प्रकृत बात पर आना है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है :—कि जिस परम ब्रह्म परमेश्वर ने अपनी सृष्टि की है उस परम पिता परमात्मा की उपासना से ही दु.खो की मुक्ति हो सकती है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है —कि प्रकृति और पुरुष मे एकत्व का अध्यास होने से ही क्लेश एवं जन्म-परम्परा हुई है, सो प्रकृति और पुरुष का भेदज्ञान कर लेने से ही क्लेश एवं जन्म-परम्परा से मुक्ति मिल सकती है।

कुछ विवेकी महानुभावो की धारणा है कि —क्षणिक चित्तवृत्तियों में जो आत्मा मानने का भ्रम है इस आत्मभ्रम से सारा क्लेश है, सो आत्मा का भ्रम समाप्त कर देने से ही निर्वाण प्राप्त हो सकता है।

कुछ विवेकी महानुभावो की धारणा है कि :—आत्मा तो शाश्वत निर्विकार है। उसमे विकार का जब तक भ्रम है तब तक जीव दु खी है, विकार का भ्रम समाप्त होने से ही जीव शान्ति प्राप्त कर सकता है।

कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि :—दुष्कर्मों से ही जीव सासारिक यातनाएं सहता है, और यातनाओं से मुक्ति पाना सत्कर्म करने से ही सम्भव है।

और कुछ विवेकी महानुभावों की धारणा है कि :—विकल्पात्मक विविध उपयोगों से ही जीव का संसार परिभ्रमण चल रहा है। इस भव-भ्रमण की निवृत्ति निर्विकल्प समाधि से ही हो सकती है।

इत्यादि प्रज्ञापूर्ण अनेक धारणाएं हैं। इनमे से किसी भी धारणा को असत्य नही कहा जा सकता और यह भी नही कहा जा सकता कि इनमें कोई भी धारणा किसी दूसरे के विरुद्ध है। इन सब धारणाओं का जो लक्ष्य है वह सब है एक "समयसार"।

एक समयसार के यथार्थ परिज्ञान में उक्त समस्त उपाय गर्भित हैं। एक समयसार के परिज्ञान से उक्त सब उपाय कैसे प्रचलित हो जाते हैं यह बात अभिधेय समयसार के यत्किंचित् अभिधान के पश्चात् कहीं तो विशद् उक्तियों मे और कही फलितार्थ रूप मे प्रकट हो ही जावेंगी। अत अन्य कोई विस्तृत विवेचन न करके अब समयसार के सम्बन्ध में ही संक्षिप्त प्रकाश डाला जाता है।

समयसार का अर्थ

समय शब्द के दो अर्थ हैं :—१ (समस्त पदार्थ) २ (आत्मा)। इनमें अर्थात् समस्त पदार्थों में अथवा आत्मा में जो सार हो वह समयसार कहलाता है। 'सम्—एकीभावेन स्वगुण पर्यायान् गच्छति' इस निरुक्ति से समय

शब्द का अर्थ समस्त पदार्थों मे घटित होता है; क्योंकि सभी पदार्थ अपने अपने ही गुण पर्यायों को प्राप्त हैं। 'सम्—एकत्वेन युगपत् ए अयते गच्छति, जानाति' इस निरुक्ति से समय शब्द का अर्थ आत्मा होता है, क्योंकि आत्म पदार्थ ही जानने वाला है और उसका स्वभाव सर्व पदार्थों को एकत्वरूप अर्थात केवल उसका सत्तात्मक बोध एक साथ जानने का है।

अब सब पदार्थों में सार कहो तो वह आत्मा नाम का पदार्थ है और उसमें भी निरपेक्ष, शाश्वत, सहज, एक-स्वरूप-आत्म-स्वभाव (चैतन्य स्वभाव) की दृष्टि से दृष्ट आत्म-तत्व सार है। इसी प्रकार दूसरी निरुक्ति से भी यही समयसार वाच्य है। समयसार के अपर नाम—ब्रह्म, परम्-ब्रह्म, परमेश्वर, कारण परमात्मा, जगत्पिता, शुद्धचेतन, परम-पारिणामिक भाव, शुद्धचेतना, सर्व विशुद्ध, चिन्मात्र, चैतन्य, प्रभु, विभु, अद्वैत, विष्णु, ब्रह्मा, परमज्योति और शिव इत्यादि अनेक हैं।

यह समयसार अजर, अमर, अविकार, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरंजन, अपरणामी, ध्रुव, अचल, एक-ज्ञायक-स्वरूप अनंतरसनिर्भर, सहजानन्दमय, चिन्मात्र, सहजसिद्ध, अकलंक, सर्वविशुद्ध, ज्ञानमात्र, सच्चिदानन्द स्वरूप इत्यादि अनेक द्वार से समवेद्य है।

वस्तु व्यवस्था

समयसार के विशद परिज्ञान का उपाय भेद-विज्ञान है। अनेक पदार्थों को स्व स्व लक्षणो से पृथक्-पृथक् नियत कर देना और उनमें से उपादेय पदार्थ को लक्षित और उसमे अन्य समस्त पदार्थों को उपेक्षित कर देने को भेद विज्ञान कहते हैं। प्रकृत भेद-विज्ञान के लिए आत्म-अनात्मस्वरूप समस्त पदार्थों का जान लेना प्रथम आवश्यक है। इस जानकारी के लिए समस्त पदार्थ कितने हैं, यह जानना आवश्यक है। इस जानकारी के लिए आखिर एक पदार्थ होता कितना है यह भी जानना आवश्यक है।

एक परिणमन जितने पूरे में होना ही पड़े और जितने से बाहर त्रिकाल में भी कभी न हो सके, उतने को एक पदार्थ कहते हैं। जैसे :—विचार, सुख, दुख, अनुभव आदि कोई परिणमन मेरा, केवल मेरे आत्मा में, वह भी समस्त प्रदेशों में होता है और मेरे आत्म-प्रदेशों से बाहर अन्यत्र कभी नही हो सकता। इसलिए यह मैं आत्मा एक पदार्थ हूँ। इसी प्रकार सब आत्मा हैं। इस तरह विश्व मे अक्षय अनन्तानन्त आत्मा हैं। दृश्यमान स्कंधों मे जो कुछ दीखता है वह एक एक नहीं है; क्योंकि जलने से या अन्य हेतुओं से या समय व्यतीत होने से उस एक पिण्ड मे एक जगह तो रूप-परिवर्तन और तरह देखा जाता है; किन्तु वह परिवर्तन सर्वत्र नही होता। इसी प्रकार रस, गन्ध, स्पर्श मे भी विविधता देखी जाती है। एक पदार्थ का जो लक्षण है उसके अनुसार यह निर्णीत होता है कि इन पिण्डों में एक एक परमाणु करके अनन्त परमाणु हैं और वे एक-एक द्रव्य हैं। क्योंकि एक पदार्थ का लक्षण इनमें घटित हो जाता है। इस तरह जब दृश्यमान छोटे से पिण्ड में अनन्त परमाणु हैं तब समस्त विश्व में तो अक्षय अनन्तानन्त परमाणु हैं। यह सुसिद्ध बात है। इन परमाणुओ को पुद्गल कहते हैं; क्योंकि इनमें पूर पूर कर एक पिण्ड होने की व गल-गलकर पुन. बिखरने की योग्यता है। अनन्तानन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्यों के चलने में जो उदासीन सहायकद्रव्य है, वह धर्मद्रव्य है, और वह एक है। अनन्तानन्त जीव व अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्य के चलकर ठहरने में जो उदासीन सहायकद्रव्य है, वह अधर्मद्रव्य है, वह भी एक है। समस्त जीव व पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य तथा जो समस्त द्रव्यों के अवगाह का उदासीन हेतु है ऐसा आकाश एक द्रव्य है। इन सबके परिणमन का जो उदासीन हेतु रूप है वह काल द्रव्य है। काल द्रव्य असंख्यात हैं। वे लोकाकाश (जितने आकाश में सब द्रव्य हैं) के एक एक प्रदेश पर एक एक स्थित है। आकाश द्रव्य एक है। इस प्रकार अनन्तानन्त आत्मा, अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य व असंख्यात काल द्रव्य ऐसे अनन्तानन्त पदार्थ हैं।

समयसार के परिज्ञान के लिए अब अनन्तानन्त पदार्थों में से एक आत्मा स्व के रूप में और अवशिष्ट अन्य अनन्तानन्त आत्मा, अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य, असंख्यात् काल द्रव्य इन सबको पर के रूप में जानना चाहिए। इसके अनन्तर उस एक आत्मा में भी उन सभी गुण व सभी पर्यायों की दृष्टि गौण करके सनातन एक चैतन्य स्वभाव की दृष्टि करनी चाहिये।

आवश्यक व ज्ञातव्य दृष्टियां

समयसार के परिज्ञान के लिए समयसार व समयसार से भिन्न समस्त परभाव का जानना आवश्यक है और आवश्यक है उन समस्त परभावों से हटकर एक समयसार का ही उपयोग करना। एतदर्थ वह सब परिज्ञान अनेक दृष्टियो से आवश्यक होता है। अतः संक्षेप मे आवश्यक दृष्टियों का वर्णन किया जाता है। इसके पश्चात् समयसार ग्रन्थ में वर्णित विषयों का संक्षेप सारांश प्रकट किया जायगा। दृष्टि के अपर नाम नय, अभिप्राय, आशय, मत इत्यादि अनेक हैं। इनमें प्रसिद्ध शब्द नय है। नय के मुख्य भेद दो हैं (१) निश्चयनय (२) व्यवहारनय। एक पदार्थ के ही जानने को निश्चयनय कहते हैं। अनेक या अन्य के निमित्त से होने वाला कार्य व्यपदेश आदि के जानने को व्यवहारनय कहते हैं। चूंकि पदार्थों को केवल भी जाना जा सकता है, संयुक्त या सहयोगी भावों द्वारा भी जाना जा सकता है, इसलिए नयों की द्विविधता होना प्राकृतिक बात है।

अथवा पदार्थो को भेद रूप से जानने को व्यवहार कहते हैं और अभेद रूप से जानने को निश्चयनय कहते हैं। निश्चयनय एक व अभेद अथवा एक या अभेद को जानता है, व्यवहारनय अनेक व भद अथवा अनेक या भेद को जानता है। इस कारण कितने ही निश्चयनय उसके सामने अन्य अन्तरग की दृष्टि प्राप्त होने पर व्यवहारनय हो जाते हैं और कितने ही व्यवहारनय उसके सामने अन्य अधिक बहिरंग की दृष्टि प्राप्त होने पर निश्चयनय हो जाते हैं। फिर भी माध्यम द्वारा नयों का संक्षिप्त विस्तार किया जाता है :—

निश्चयनय के परमशुद्धनिश्चयनय, विवक्षितैकदेश शुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय, और अशुद्ध निश्चयनय आदि भेद हैं। व्यवहारनय के उपचरित असद्भूत व्यवहार, अनुपचरित असद्भूत व्यवहार, उपचरित सद्भूत व्यवहार और अनुपचरित सद्भूत व्यवहार आदि भेद हैं।

परम शुद्ध निश्चयनय—परिणमन व शक्तिभेद (गुण) की दृष्टि गौण कर एक स्वभावमय पदार्थ को जानना परमशुद्ध निश्चयनय है, जैसे आत्मा चित्स्वरूप है। इसी नय का विषय समयसार है।

विवक्षितैकदेश शुद्ध निश्चयनय :—उपादेय तत्त्व को शुद्ध निरखकर विकार का उपाधि से सम्बन्ध जानने को विवक्षतैकदेश शुद्ध निश्चय कहते हैं; जैसे रागादि पौद्गलिक हैं। यह आशय अशुद्ध निश्चयनय की मुख्यता होने पर व्यवहारनय हो जाता है।

शुद्ध निश्चयनय—शुद्ध पर्याय परिणत पदार्थ के जानने को शुद्ध निश्चयनय कहते हैं जैसे सिद्ध प्रभु शुद्ध हैं।

अशुद्ध निश्चयनय :—अशुद्ध पर्याय परिणत पदार्थ के जानने को अशुद्ध निश्चयनय कहते हैं। जैसे रागादिमान् संसारी जीव है।

उपचरित असद्भूत व्यवहारनय :—अन्य उपाधि के निमित्त से होने वाले प्रकट परभाव को निमित्त से उपचरित करना उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है जैसे :—अनुभूत विकारभाव पुद्गल कर्म के कारण जीव में हुए हैं।

अनुपचरित असदभूत व्यवहारनयः—अन्य उपाधि के निमित्त से होने वाले सूक्ष्म (अप्रकट) विकार को कहना अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है, जैसे औपाधिक अबुद्धिगत जीव के विकार भाव।

उपचरित सद्भूत व्यवहारनयः—उपाधि के क्षयोपशम से प्रकट होने वाले जीव के गुणों का विकास उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है, जैसे जीव के मतिज्ञान।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय—जीव के निरपेक्ष आदिक स्वभाव-भाव को गुण-गुणी का भेद करके कहना अनुपचरित सदभूत व्यवहार नय है, जैसे जीव के ज्ञानादि गुण ।

इस प्रकार अंतरंग से बहिरंग की ओर, बहिरंग से अंतरंग की ओर अभिप्रायों का आलोडन विलोडन करके समय (आत्मा) का सम्यक् प्रकार से निश्चय किया जाय और पश्चात् अनेक निश्चयनयो मे से निकल कर परम शुद्ध निश्चयनय का अवलम्बन करके समयसार का परिज्ञान किया जावे और फिर परमशुद्धनिश्चयनय के आशय से भी सहज छूठकर समयसार का अनुभव किया जावे ।

समयसार का विषय विभाग

समयसार आत्मतत्त्व की विवेचना का अनुपम ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ का प्राकृत भाषा मे नाम "समयपाहुड" है, जिसका संस्कृतानुवाद है समयप्राभृत । प्राभृत का अर्थ भेट भी होता है जिससे यह ध्वनित हुवा कि समय अर्थात् शुद्ध आत्मतत्व की जिज्ञासा करने वाले मुमुक्षु समयसार (कारण परमात्मा या निर्दोषपरमात्मा) राजा के दर्शन करने के लिये उद्यम करे तो इस भेटका (ग्रन्थका) उपयोग करें । यदि कोई यह जानना चाहे कि जैन सिद्धान्त में वर्तमान सर्व प्रमुख व्यवहारोपयोगी ग्रन्थ कौन है तो यह निशक कहा जा सकता है कि एक तत्त्वार्थ-सूत्र और दूसरा समयसार । ये दो ग्रन्थ प्रमुख लोकोपयोगी हैं । समयसार मे तो आत्म-तत्त्व विषयक सुविवेचना है और तत्वार्थ सूत्र मे पदार्थ की विविध विषयक सुविवेचना है ।

समयसार ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय विस्तृत है । अत: इसके मूलकर्त्ता (गाथाकार पूज्य श्रीमतकुन्दकुन्दा चार्य) की रचना इस प्रकार हुई है —प्रारम्भ की १२ गाथा तो समयसार की पीठिका है । पश्चात् मुख्य विषय जीव के स्वरूप का है सो जीवाधिकार आया । पश्चात् अजीवाधिकार आया । पश्चात् जीव-अजीव के बन्धन के मूल कारण का अर्थात् कर्तृ-कर्म-भाव का अधिकार आया । पश्चात् कर्तृ-कर्म भाव के परिणाम स्वरूप अथवा ससार के प्रधान एक भाव निमित्तभूत पुण्यपापकर्म का अधिकार आया । पश्चात् पुण्यपापकर्म के द्वारभूत आस्रव का अधिकार आया । इसके पश्चात् आस्रव के विपक्षी अथवा मुक्ति के मूल उपायभूत सवर का अधिकार आया । पश्चात् सवर के होने पर कार्यकारी एव मोक्ष के साधनभूत निर्जरा का अधिकार आया । पश्चात् मोक्ष के विपक्षभूत बध का अधिकार आया । पश्चात् मोक्ष का अधिकार आया । पश्चात् मुक्ति के सर्व उपायो के लक्ष्यभूत समयसार का विशुद्ध वर्णन करने के लिए सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार आया । अन्त मे इसी तत्त्व का तथा पूर्व मे उक्त व अनुक्त विषयो का उपसहार करने वाला परिशिष्ट रूप स्याद्वाद अधिकार आया ।

इस प्रकार इस समयसार ग्रन्थ में (१) पीठिका (२) जीवाधिकार (३) अजीवाधिकार (४) कर्तृ-कर्मा धिकार । (५) पुण्य-पापाधिकार (६)आस्रवाधिकार (७) सवराधिकार(८) निर्जराधिकार (९) बधाधिकार (१०) मोक्षाधिकार (११) सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार (१२) चूलिकाधिकार (१३) और स्याद्वादाधिकार । इन १३ अधिकारों में आत्मतत्त्व का वर्णन किया है । अद्यतन प्रसिद्धि के अनुसार पीठिका व जीवाधिकार का वर्णन एक धारा में होने के हेतु इन दो अधिकारो का एक पूर्व रंग हो जाने से, व अजीवाधिकार मे ही विधि-निषेध के रूप में जीव का वर्णन आ जाने के हेतु अजीवाधिकार हो जाने से, तथा सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार व चूलिकाधिकार का विषय भी एक धारा में चलने से एव स्याद्वाद (परिशिष्ट) अधिकार समय प्राभृत ग्रन्थ के टीकाकार पूज्य श्री अमृतचन्दजी सूरि की स्वतंत्र रचना होने मे (१) पूर्वरंग (२) जीवाजीवाधिकार (३) कर्तृकर्माधिकार (४) पुण्य-पापाधिकार (५) आस्रवाधिकार (६) संवराधिकार (७) निर्जराधिकार (८) बधाधिकार (९) मोक्षाधिकार (१०) सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार । इस प्रकार १० अधिकार हैं ।

अब समयसार ग्रन्थ के उक्त अधिकारों में किस किस विषय का वर्णन है, इस पर संक्षेप में प्रकाश डाला जाता है ताकि यह भी सुगमता से जानने में आ सके कि द्वैतभाव से की गई अनेक ऋषियों की पूर्वोक्त विभिन्न आध्यात्मिक धारणाओं का लक्ष्य भी यही समयसार है; चाहे उनमें से किसी ने उसपर लक्ष्य कर पाया हो या न कर पाया हो ।

पीठिका

सर्व प्रथम समयसार के पूर्ण अनुरूप विकास अर्थात् सिद्ध प्रभु को नमस्कार करके समय (सामान्य आत्मा) का इस प्रकार संकेत किया है कि समय की दो अवस्थायें होती हैं (१) स्वसमय (शुद्धावस्था) (२) परसमय (अशुद्धावस्था) । जो अपने दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित हो, अर्थात् शुद्ध ज्ञान-दर्शनमय निज परमात्मतत्त्व की रुचि, संवित्ति व निश्चल अनुभूति से परिणत हो, सो स्वसमय है और जो औपाधिक भावो मे स्थित हो, सो परसमय है। ये दोनों अवस्थायें जिस एक पदार्थ की हैं वह समय है । अन्य सर्व परपदार्थों से, सर्व पर्यायों से भिन्न देखा गया, केवल यही समय समयसार कहलाता है ।

ससारी जीवो ने इस समयसार की दृष्टि नही की । इसी कारण इस जीव लोक में आपत्तियो का भाजन होना पडा है । इस समयसार का वर्णन करने के पहले ग्रन्थ कर्ता श्री मद्कुन्दकुन्दाचार्य स्वय कहते हैं कि इस समयसार (एकत्व विभक्त आत्मा) को आत्मविभव द्वारा दिखाऊँगा । यदि दिखा दूं तो स्वय अपने विभव से प्रमाण करना यदि दिखाने मे चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नही करना । दिखावा शब्दो द्वारा ही तो हो रहा है, यह क्रिया नयगर्भित है अत· सुनने में नय का ठीक उपयोग न करने से श्रोता का चूकना सम्भव है । इस ही बात को अपना लेने से ग्रन्थकर्ता की कितनी निर्गवर्ता प्रकट हुई है और स्वय अनुभव मे प्रमाण करना चाहिये इस भाव द्वारा वस्तु स्वतंत्र की प्रतीति प्रकट हुई है, इससे सहसा विवेच्य विषय पर श्रद्धा होती है तथा मनन कर लेने से तो दृढ़ प्रतीति हो ही जावेगी क्योकि इस विवेचना में सब वैज्ञानिक पद्धति है ।

समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मतत्त्व का लक्ष्य इस प्रकार किया गया है, कि जो न प्रमत्त या कषाय सहित और न अप्रमत्त या कषाय रहित है, किन्तु एक शुद्ध ज्ञायक-भावमय है, वह शुद्ध आत्मा है । इस शुद्ध आत्मा मे बन्ध की कथा दूर हो रही इसमे ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदिक गुणभेद भी नही है । फिर भी बुद्धि में गुणभेद आदि किये बिना परमार्थभूत आत्मा को समझाया नहीं जा सकता । इसलिए गुणभेद आदि निरूपक व्यवहार परमार्थ के प्रतिपादक होने से वक्तव्य होता है और यह व्यवहार भी पहिली पदवी मे प्रयोजनवान् है, किन्तु परमार्थभूत चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व के अवकोलन करने वालो को व्यवहार प्रयोजनवान् नही है

अधिकार गाथा

उक्त प्रकार से एकत्व विभक्त शुद्ध आत्मा अथवा समयसार का सँक्षेप मे वर्णन किया गया है उसी को विस्तृत रूप में कहने के लिए एक अधिकार गाथा ग्रन्थ कर्ता ने दी है ।

भूयत्थेणाभिगदा जीवा जीवा प पुण्य पावं च ।
आसव सवर णिज्वर बधो मोक्खो य सम्मत्त ॥

भूतार्थनय से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध और माक्ष सम्यक्त्व हैं । यहां कारण मे कार्य का उपचार करके सम्यक्त्व का वर्णन किया है, जिससे यह भाव निकला कि भूतार्थ नय से जाने गये जीवादि नवतत्त्व सम्यक्त्व के कारण हैं । गुण पर्यायो के भेद से उठाकर एकत्व मे ले जाने वाले नय को भूतार्थनय कहते हैं । इस गाथा मे अधिकार सूची भी आ गई । अध्यात्मिक ग्रन्थो मे आवश्यक कर्तव्य होने से केवल कर्तृ-कर्माधिकार व सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार और कहना पड़ा । चूलिका तो प्राय सर्वत्र आपतित होती है ।

उक्त नव तत्वों में जीव व अजीव तो द्रव्य हैं व पुण्य-पाप, आस्रव आदि पर्यायें है। इसी कारण ये साता जीव रूप भी कहे गये हैं और अजीवरूप भी कहे गये है। जैसे जीव पुण्य, अजीव पुण्य आदि। जीव की परिणतियां जीव पुण्य आदि हैं व अजीव (कर्म) की परिणतियां अजीव पुण्य आदि हैं। जीव परिणतियों के द्वार से चलकर उन परिणतियो के स्रोतभूत गुण पर आना और गुणद्वार से चलकर गुणों के अभेद पुञ्ज अथवा गुणो के श्रोतभूत जीवद्रव्य पर आना यह भूतार्थ नय की पद्धति है। इसी प्रकार अजीव में भी लगानी चाहिये। यह सर्वविषय ग्रन्थ के अध्ययन से स्फुट करना चाहिये। यहाँ तो विषयो का दिग्मात्र ही दिखाना है।

जीवाधिकार

जीवाधिकार में सर्वप्रथम ही शुद्ध आत्मा के स्वरूप, स्वामी व उपाय का ही एकदम सुगम रीति स वर्णन कर दिया गया है, कि जो अपनी आत्मा को (अपने आप को) अबद्ध, अस्पष्ट, अनन्य, नियत, अविशिष्ट व असयुक्त देखता है उसे शुद्ध नय जानो, अथवा शुद्ध-नय से जैसा शुद्धआत्म तत्व देखा जाता है आत्मतत्त्व वैसा ही शुद्ध जानो। यही जिन शासन का सार है।

इस शुद्ध आत्मा का श्रद्धान ज्ञान व आचरण करना चाहिये। वस्तुत: श्रद्धान-ज्ञान-आचरण भी आत्मा ही है। यद्यपि यह आत्मा स्वभाव से ही ज्ञानमय है किन्तु इसकी निज तत्व पर दृष्टि नही हुई; अत इसकी उपासना का आदेश दिया गया है।

समयसार का परिचय न होने से जीव की दृष्टि कर्म, शरीर व विभाव मे "वह मैं हूँ या ये मेरे है" ऐसी मान्यता की हो जाती है; और जब तक ऐसी दृष्टि रहती है तब तक यह जीव अज्ञानी कहलाता है। इतना ही नहीं अज्ञानी जीव के भूत, भविष्यत् का भी परिग्रह लगा रहता है। अज्ञानी के यह धारणा रहती है कि शरीरादिक मैं हूँ ये मेरे है, मै इनका हूँ, ये मेरे थे, मै इनका था, ये मेरे होगे, मै इनका होऊँगा इत्यदि।

परन्तु शरीरादिक अजीव पदार्थ व चेतन आत्मा एक कैसे हो सकते है? क्योंकि जीव तो ज्ञान लक्षण वाला है और अजीव ज्ञान रहित है। हे आत्मन्! तू शरीर नही है, किन्तु शरीर का अभी पड़ोसी है, शरीर से भिन्न उपयोग स्वरूप अपनी आत्मा को देख।

चूंकि जीवलोक को इस शरीर रूप में ही जीव का परिचय रहा है और कभी धर्म भी चला तो इसी पद्धति से, इसी कारण उक्त उपदेश की बात सुनते ही कोई शिष्य पूछता है कि प्रभो! शरीर से भिन्न आत्मा कहाँ है? शरीर ही जीव है, यदि शरीर ही जीव न होता तो तीर्थकर देव की जो ऐसी स्तुति की जाती है कि आपकी काति दसों दिशाओं में फैल जाती है, आपका रूप बड़ा मनोहारी है, आपके १००८ शुभ लक्षण है, इत्यादि सब स्तुति मिथ्या हो जावेगी तथा आचार्य परमेष्ठी की जो स्तुति की जाती है कि आप देश, जाति व काल से शुद्ध हैं, शुद्ध मन, बचन, काय वाले हैं इत्यादि, वह भी स्तुति मिथ्या हो जावेगी। इस पर पूज्य श्री मत्कुन्दकुन्दाचार्य उत्तर देते हैं—

नय दो प्रकार के होते हैं (१) व्यवहारनय (२) निश्चयनय। व्यवहारनय से तो देह व जीव का संयोग संबन्ध है; इसलिए देह व जीव में कथंचित एकत्व मान लिया जाता है, परन्तु निश्चयनय से जीव में ही जीव है, देह जीव हो ही नहीं सकता। शरीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति व्यवहाररूप से कथंचित् हो सकती है, निश्चयनय स तो शरीर के गुण आत्मा के कुछ नहीं है; इसलिए शरीर की स्तुति से आत्मा की स्तुति नही होती। आत्मा की स्तुति से ही आत्मा की स्तुति होती है। यहाँ यह अवश्य जान लेना चाहिये कि जो आत्मस्वरूप से बिलकुल अपरिचित है उसके लिए तो व्यवहारनय से भी स्तुति नहीं कहला सकती।

अब निश्चय स्तुति किस प्रकार हो सकती है इस विषय पर आते हैं। चूंकि यह निश्चय स्तुति है, इसलिये जो भी विशुद्ध स्थिति कही जावेगी वह आत्मा की ही कही जावेगी। आचार्य पूज्य श्री मत्कुन्दकुन्द प्रभु के द्वारा कही हुई

निश्चय-स्तुति का भाव पूज्य श्री अमृतचन्द्राचार्य सूरि व्यक्त करते हैं :—जिन्होंने असंग, अखण्ड, चैतन्य स्वभाव के अवलम्बन से ज्ञेय पदार्थों से, भावेन्द्रियों से व द्रव्येन्द्रियों से पृथक् अपनी प्रतीति करके इन्द्रियों को जीतकर ज्ञान स्वभावमय अपने को माना है वे जितेन्द्रिय जिन कहलाते हैं। जो द्रव्यमोह व भावमोह से अलग अपनी आत्मा को लौटा लेने के द्वारा मोह को जीतकर परमार्थ सद्रूप ज्ञानस्वभावमय अपनी आत्मा को अनुभवते है, वे जित मोह कहलाते हैं। (पुनश्च) उक्त प्रकार से मोह को जीत लेनेवाले निर्मल आत्मा के मोह ऐसा समूल नष्ट हो जाता है कि फिर कभी भी उसका प्रादुर्भाव नही हो सकता। ऐसी उस निर्मल आत्मा को क्षीण-मोह कहते हैं। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सहजानन्द मय इत्यादि स्तुति भी निश्चय स्तुति कहलाती है। इन्द्रियों का विजय आत्म ज्ञान ही है। वस्तुत. त्याग ज्ञानस्वरूप ही है; क्योंकि पर को पर जानकर ही त्याग किया जाता है। व पर तो भिन्न है ही, मान्यता मे एक कर रक्खा था सो सच्चा ज्ञान करना ही उसका त्याग है।

इस प्रकार प्रासंगिक स्तुति-चर्चा के बाद ग्रन्त में दिखाया है कि सम्यग्ज्ञानी की अन्तर्भावना ऐसी होती है—मोह मेरा कुछ नही है, मै तो एक उपयोग मात्र हूँ, ज्ञेयाकार व ज्ञेय पदार्थ मेरा कुछ नहीं है, मै तो एक उपयोगमात्र हूँ, मै एक (केवल) हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन ज्ञानमय हूँ, अमूर्त हूँ और अन्य कुछ परमाणुमात्र भी मेरा कुछ भी नहीं है।

अजीवाधिकार

इस अधिकार मे उन सब भावों को भी अजीव बतलाया है जो जीव के शुद्ध स्वरूप मे नही हैं। अतः अजीव मे अजीव द्रव्य तो है ही, साथ ही औपाधिक भाव भी अजीव है।

आत्मा को नही जानने वाले अतएव परभावों को आत्मा मानने वालो की विभिन्न धारणाएं हैं। कोई तो राग-द्वेष को, कोई राग-द्वेष के संस्कार को, कोई कर्म को, कोई शरीर को, कोई कर्मफल को, कोई सुख दुख को, कोई आत्मा व कर्म की मिलावट को इत्यादि अनेक प्रकार से जीव मानते है. किन्तु ये सब जीव नही हे, क्योंकि ये सर्व या तो पुद्गलद्रव्य के परिणमन है या कर्म रूप पुद्गलद्रव्य के निमित्त से हुए परिणमन है।

इस अवसर मे यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि फिर तो जीवसमास, गुणस्थान आदि की चर्चा अथवा त्रस-स्थावर भेद वाले जीव मानना यह सब जैन शास्त्रो मे क्यो कहा गया है ? इसका उत्तर यह है कि यह सब व्यवहार का उपदेश है; जो कि तीर्थ की प्रवृत्ति के निमित्त बतलाना आवश्यक ही है। अन्यथा षट्कायके जीव पर्यायो को अजीव मानकर जितना चाहे मर्दित कर दिया जावे, हिंसा नही होनी चाहिये। फिर तो हिंसा के अभाव में बन्ध का अभाव व बन्ध के अभाव मे मोक्ष का भी अभाव हो जायगा अथवा उच्छृङ्खलता आ जावेगी। हाँ निर्विकल्प समाधि के उद्यम में तो शुद्ध , चैतन्य स्वरूप ही जीव है, अवशिष्ट भाव सब अजीव हैं। इसी दृढ़ प्रतीति से काम चलेगा।

वस्तुत: जीव का लक्षण चेतना है। जीव वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श, शब्द से रहित है। जीव वाह्य चिन्ह से ग्रहण मे नहीं आ सकता। जीव का सहज नियत संस्थान भी कोई नही है। तात्पर्य यह है कि चैतन्य भाव के अतिरिक्त अन्य सब भाव अजीव है। इसी कारण जीव के वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मूर्तिकता, शरीर, संस्थान संहनन (अस्थिपिंजर) राग, द्वेष, मोह, कर्म, शरीर, विचार, योग, बन्ध, उदय, संक्लेश, विशुद्धि आदि कुछ नही है। ये सब व्यवहारनय से जीव के कहे गये हैं। व्यवहारनय विरोधक नहीं, किन्तु व्यवहार नय भी वस्तु के किन्ही भावों के जानने का एक तरीका है। जैसे कि जिस रास्ते मे चलते हुए मुसाफिरो को डाकुओं द्वारा लूटा जाता हो, लोग उस रास्ते को "यह रास्ता लूट लिया जाता है" ऐसा कह देते हैं। परन्तु वास्तव मे रास्ता क्या लुटेगा, फिर भी व्यवहारनय से तो कहा ही जाता है, क्योंकि लूटने वाले उस रास्ते में होते हैं। इसी प्रकार जीव मे बन्ध पर्याय से स्थित कर्म व शरीर के वर्ण आदि को जानकर व्यवहारनय से कहा ही जाता है कि जीव मे वर्णादिक है।

वस्तुतः जीव मे वर्णादि का कुछ भी तादात्म्य नही हैं । यदि जीव के साथ वर्णादि का तादात्म्य मान लिया जाता है तब तो अनेक अनिष्टापत्तियाँ आतीं है .—जैसे कि (१) वर्णादि का जिसके साथ तादात्म्य है वह तो पुद्गल कहलाता हैं, यदि कभी ससारी जीव मुक्त हो तो यही माना जायगा कि पुद्गल को मोक्ष हो गया । (२) जीव अजीव का कोई भेद नहीं रहा, तो जीव का ही अभाव हो गया इत्यादि ।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जिनका पुद्गल उपादान है वे परिणमन व जिनका पुद्कल कार्य निमित्त है वे परिणमन ये सब कोई भी परमार्थ मे जीव के नही हैं । इन्हे अजीव कहा गया है ।

कर्तृ-कर्माधिकार

अधिकार गाथा मे यद्यपि कर्तृ-कर्मभाव अधिकार की कोई सूचना नही है, तो भी जीवाजीवाधिकार के पश्चात् व आस्रव अधिकार के पहले कर्तृकर्म अधिकार का कहना यह दिखाने के लिए आवश्यक हुआ हैं कि जब जीव और अजीव स्वतंत्र द्रव्य हैं तब जीव व अजीव के सम्बन्ध व बन्ध पर्याय कैसे हो जाती है ? इसका उत्तर कर्तृ-कर्माधिकार में किया गया है । जीव व अजीव का सम्बन्ध व बन्ध पर्याय कैसे मिट सकती है इसका उत्तर भी उसी अधिकार मे दिया गया है । जब तक जीव निज-सहज-स्वरूप व क्रोधादि औपाधिक भावो में अन्तर नहीं जानता है तब तक क्रोधादि भावों को निज स्वरूप में जानने के कारण उनमे जीव की प्रवृत्ति होगी ही और क्रोधादि मे वर्तने वाले इस इस जीव के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के वश से पुद्गल कर्म (अजीव) का सचय हो जाता है । पुद्गल कर्म के आने का नाम अजीवास्रव हैं और जीव मे जो ये क्रोधादिक भाव हुए हे उनका नाम जीवास्रव है । यहा एक प्रश्न हो सकता है कि अजीवास्रव का निमित्त तो निज पर मे परस्पर कर्तृकर्म भाव की मान्यता है । इस कर्तृकर्मभाव की मान्यता मे क्या निमित्त है ? उत्तरः—इस कर्तृ-कर्म भाव की मान्यता मे पूर्वबद्ध अजीव कर्म का उदय निमित्त है । प्रश्न —इस कर्मास्रव मे क्या निमित्त हुआ था ? उत्तर —इस कर्मास्रव मे पूर्व का स्व पर का कर्तृ-कर्मभाव निमित्त हुआ था । इस प्रकार यह अनादि प्रवाह क्रम चला आया हैं । इस स्व पर कर्तृकर्मभाव की प्रवृत्ति भी अनादि से चली आई हैं ।

यद्यपि यहाँ ऐसा सम्बन्ध है कि जीव के परिणाम को हेतु पाकर पुद्गल कार्माणवर्गणाये कर्मरूप से परिणाम जाती हैं और पुदगल कर्म के उदय को निमित्त पाकर जीव के ऐसे परिणाम हो जाते हैं, तो भी जीव व पुदगल का परस्पर कर्तृकर्म भाव नही है, क्योंकि जीव न तो पुद्गलकर्म का कोई गुण या परिणमन करता है और न पुद्गल कर्म जीव का कोई गुण या परिणमन करता है । केवल अन्योन्यनिमित्त मे दोनो का परिणमन हो जाता हैं ।

इस ही निमित्त-नैमित्तिक-सम्बन्ध के कारण व्यवहारनय से 'जीव पुद्गलकर्म (द्रव्यास्रव) का कर्त्ता' और 'पुद्गल जीवास्रव का कर्ता' कहा जाता है । जीव मे अनुभवन शक्ति है, सो वस्तुत पुद्गलकर्म के उदय को निमित्त पाकर जीव अपने में आनन्द-श्रद्धा-चारित्रादि गुणो को विकृत परिणमन रूप से भोगता है तो भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के हेतु जीव पुद्गलकर्म को भोगता है यह भी व्यवहारनय से कहा जाता है । परमार्थ से जीव न तो पुद्गल कर्म को करता है और न पुद्गलकर्म को भोगता है; क्योकि यदि जीव पुद्गल कर्म को भी करे व भोगे तो एक तो जीव ने अपने परिणाम को किया व भोगा और दूसरे पुद्गल कर्म को भी किया व भोगा, तो इस तरह जीव दो द्रव्यो की क्रिया का कर्त्ता बन जायगा । ऐसा होने पर चूंकि क्रिया का कर्त्ता से उस काल में तादात्म्य रहता है, इस कारण जीव व अजीव में भेद नही रहा अथवा जीव अजीव मे से एक का अथवा दोनों का अभाव हो जायगा इत्यादि अनेक अनिष्टापत्तियाँ हो जायँगी । एक द्रव्य दो द्रव्यो की क्रिया का कर्ता है ऐसा अनुभव करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि नही किन्तु मिथ्यादृष्टि है । अर्थात् वस्तुस्वरूप से विपरीत दृष्टिवाला है । कर्म उपाधि के निमित्त से होने वाले क्रोधादिक औपाधिक भाव हैं, उनका भी जीव सहज भाव से याने उपाधि को निमित्त पाये बिना कर्त्ता नही है । इन क्रोधादिक परभावो का

कर्ता न तो जीव है और न कर्म; किन्तु कर्म के निमित्त से जीव के उपादान मे क्रोधादिक परिणमन होता है। जीव निज, सहज, चैतन्य स्वरूप व क्रोधादि परभावो मे अन्तर नही समझता। इसी कारण यह बन्ध होता है यह मौलिक प्रकृत बात सिद्ध हुई।

अब जिज्ञासा होती है कि इस बन्ध का अभाव कैसे हो? समाधान—जीव की परभाव के प्रति कर्ता कर्म की प्रवृत्ति होने से बन्ध होता था। जब कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति दूर हो जाती है तब बध का भी अभाव हो जाता है। प्रश्नः—इस कर्ता-कर्म प्रवृत्ति का अभाव कैसे हो जाता है? उत्तर—जब यह जीव आत्मा मे व परभाव मे इस प्रकार से अन्तर जान लेता है कि वस्तु स्वभावमात्र होती है, मै वस्तु हूँ, सो मै भी स्वभावमात्र हूँ। स्वभाव कहते है स्व के होने को, मै स्व ज्ञानमय हूँ। सो जितना ज्ञान का होना है सो तो मै आत्मा हूँ और क्रोधादि का होना क्रोधादि है, आत्मा (स्व) व क्रोधादि-आस्रवों में एक वस्तुता नही है। जब जीव ऐसा आत्मा व आस्रव में अन्तर जान लेता है तभी कर्ता कर्म की प्रवृत्ति दूर हो जाती है और कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति दूर होने पर पुद्गल कर्मबन्ध भी दूर हो जाता है।

आत्मा और अनात्मा के भेदविज्ञान से उसी काल में आस्रव की निवृत्ति होने लगती है। ज्ञानी जीव के इस प्रकार का विशद ज्ञान प्रकट रहता है—मै आत्मा सहज पवित्र हूँ, ज्ञान स्वभावी हूँ, दुख का अकारण हूँ, सम हूँ, नित्य हूँ, स्वयशरण हूँ, आनन्द स्वभावी हूँ, किन्तु ये आस्रव (परभाव) अपवित्र हैं, विरुद्ध स्वभाववाले है, दुख के कारण हैं, विषम हैं, अनित्य हैं, अशरण हैं, दुखस्वरूप हैं और इनका दुख ही फल है। मै एक हूँ, शुद्ध हूँ, मोह रागादि परभावरहित हूँ, ज्ञानदर्शनमय हूँ, मै (आत्मा) कर्म के परिणमन को व नोकर्म के परिणमन को नहीं करता हूँ। पुद्गलकर्म परद्रव्य है। मै परद्रव्य का ज्ञायक तो हूँ, किन्तु पर परद्रव्य में व्यापक नही हूँ। अतएव परद्रव्य की पर्यायरूप से परिणमता नहीं हूँ अर्थात् मै परद्रव्य की परिणति का कर्ता नहीं हूँ। मै पुद्गलकर्म के फल सुख दु खादि को जान तो सकता हूँ, किन्तु पुद्गलकर्म की परिणति का कर्ता नही हूँ। इसी प्रकार पुद्गलकर्म भी मेरा कर्ता नही है।

अशुद्ध-निश्चयनय से आत्मा तो मात्र अपने अशुद्ध भाव का कर्ता है, उसको निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य कर्मरूप से स्वय परिणम जाता है। जैसे कि हवा के चलने के निमित्त से समुद्र में तरग उठती है। निश्चय से तरंगों का कर्त्ता तो समुद्र ही है, हवा तो उसमें निमित्त है। हवा मे हवा का कार्य है। समुद्र मे समुद्र की परिणति है। प्रत्येक द्रव्य की स्वतन्त्र सत्तात्मकता के ज्ञान से कर्मबन्ध रुकता है और पर को आत्मा मानने व आत्मा को पररूप मानने से कर्म का बध होता है। अथवा पर को आत्मा माननेवाला अज्ञानी जीव कर्म का कर्ता होता है। वस्तुत तो अज्ञानी जीव भी कर्म का कर्ता नही है। परन्तु अपने अशुद्ध भाव का कर्ता है। उस अशुद्धभाव को निमित्त पाकर कर्म का आस्रव स्वय हो जाता है। वस्तुत कर्मास्रव का निमित्त रूप से भी जीव कर्ता नही है, किन्तु उसके योग व उपयोग जो कि अनित्य है, वे अनित्य परिणमन ही वहाँ निमित्त है। क्योंकि यह वस्तु स्वभाव अटल है—कि कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्य के रूप या अन्य के गुण-पर्याय रूप नही हो सकता। इसलिए यह सुसिद्ध हुआ कि आत्मा पुद्गलकर्म का कर्ता नही है।

यहाँ दो दृष्टियो से यह निर्णय करना चाहिये—(१) निश्चयनय से जीव पुद्गलकर्म का कर्ता नही है। (२) व्यवहारनय से जीव पुद्गलकर्म का कर्ता है। (१) निश्चय नय से जीव पुद्गलकर्म का भोक्ता नही है। (२) व्यवहारनय से जीव पुद्गलकर्म का भोक्ता है। (१) निश्चयनय से जीव मे पुद्गलकर्म बद्ध नही है। (२) व्यवहार नय से जीव मे पुद्गलकर्म बद्ध है। (१) निश्चयनय से जीव मे राग-द्वेषादि नहीं हैं। (२) व्यवहारनय से जीव में राग द्वेषादि हैं। (१) निश्चयनय से जीव पुद्गल के परिणमन का निमित्त नही है (२) व्यवहारनय से जीव पुद्गल परिणमन का निमित्त है। इत्यादि अनेक चर्चाये दोनो नयो से स्पष्ट कर लेनी चाहिये। पश्चात् समयसार के अनुभव के उद्यम मे दोनों ही नयपक्षो को ग्रहण नही करना चाहिये। जैसे कि पूर्ण निर्मल, देवाधिदेव, सर्वज्ञ परमात्मा विज्ञानघन-भूत होने के कारण नयपक्ष के परिग्रह से दूर होने से किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नही करते है। इसी प्रकार जिनसंज्ञक जो निर्मल सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञानी, अन्तरात्मा श्रुतज्ञानात्मक विकल्प वाले होकर भी परिग्रह के प्रति उत्सुकता से

निवृत होने के कारण विकल्प-भूमिका से दूर होकर स्वरूप को ही जानते हैं और किसी भी नयपक्ष को ग्रहण नहीं करते है, वे ही समयसार का अनुभव करते हैं।

पुण्य-पापाधिकार

मोह व रागद्वेष की प्रवृत्ति के निमित्त से जिन कर्मों का आस्रव हुआ, उनमें से कारणभूत शुभ-अशुभ योग उपयोग के अनुकूल कोई कर्म शुभ प्रकृति के (पुण्यरूप) व कोई अशुभ प्रकृति के (पापरूप) हो जाते हैं। होओ, फिर भी चाहे पुण्य कर्म (सुशील कर्म) हो, चाहे पाप-कर्म (कुशील कर्म) हो; सभी वस्तुत. कुशील ही है, क्योंकि सभी कर्म संसारमार्ग के निमित्त है। जैसे कि चाहे सुवर्ण की बेडी हो, चाहे लोहे की बेड़ी हो, कंदी के लिये दोनों भारभूत हैं। इसलिये दोनो प्रकार के कर्मों को बंधमार्ग जानकर इनमे या इनके कारणभूत भावों मे व आश्रयभूत विषयों में मन वचन काय से राग व ससर्ग छोड़ देना चाहिए। रागी जीव कर्मों को बांधता है व विरागी-आत्मा कर्मों से छूट जाता है; इसलिए चाहे शुभ कर्म हो, चाहे अशुभ कर्म हो, किसी भी कर्म मे राग मत करो। जैसे वन के हाथी को फसाने के लिये शिकारी लोग एक गड्ढे पर बांस व कागज की बड़ी सुन्दर एक हथिनी बनाते है और सामने एक भूठा हाथी। वन हस्ती हथिनी के राग में व दूसरे हाथी को विषय-बाधक जान कर उससे द्वेष के कारण शीघ्र वहां आता है और गड्ढे मे गिर जाता है। तो उस हाथी को गड्ढे का अज्ञानरूप मोह था व सुन्दर हथिनी का राग था व दूसरे हाथी से द्वेष था। इस तरह मोह-राग-द्वेष वश हाथी ने विपत्ति हो पाई। पुण्यकर्म भी भूठी सुन्दर हथिनी के समान विपत्ति में निमित्त बन जाता है। इसलिये किसी भी कर्म में राग मत करो।

मोह-राग-द्वेष ये सभी अज्ञान के विविध रूप है। ये भाव जानने का कार्य नही करते; इसलिये भी अज्ञान रूप है। अज्ञानभाव बंध का हेतु है, व ज्ञानभाव मोक्ष का हेतु है। परमार्थभूत ज्ञान होने पर बाह्य व्रत नियम तप की विशेषता न हो तो भी ज्ञान मोक्ष का कारण है। जो परमार्थभूत समयसार से अपरिचित है वे ही केवल अशुभ कर्मों को ही बंध का कारण जानकर व शुभ कर्म को मोक्ष का कारण जानकर पुण्य कर्म की चाह करते हैं।

सब ही कर्म मोक्ष के हेतुभूत सम्यक्त्व, ज्ञान व चारित्र का तिरोभाव करने वाले है। इसलिये ज्ञानभाव मोक्ष का अर्थात् पूर्ण विकास का हेतु है। अतः सर्व कर्मों का राग छोडकर एक निजज्ञायक स्वभाव की उपासना करना शान्ति का (मोक्ष का) मार्ग है।

आस्रवाधिकार

विकृत रूप से आने को आस्रव कहते हैं। आस्रवभाव जीव के राग द्वेष मोह भाव हैं। इनको निमित्त पाकर पौद्गलिक कार्माणवर्गणाओं में भी विकार की प्रकृति बनती है। इसलिए आस्रव का परिणाम होने से इन पौद्गलिक वर्गणाओं में कर्मत्व आने को भी आस्रव कहते हैं।

राग द्वेष मोह भाव अज्ञानमय परिणाम हैं। अज्ञानमय परिणाम अज्ञानी जीव के होते हैं। ज्ञानी के ज्ञानमय परिणाम होते हैं। ज्ञानमय परिणामो के द्वारा अज्ञानमय परिणामो का निरोध हो जाता है। अत. ज्ञानी जीव के ज्ञानमय परिणामों के द्वारा आस्रव का निरोध हो जाता है। अतश्च पुद्गलकर्म का बंध नहीं होता; क्योंकि अज्ञानमय परिणाम ही कर्तृत्वबुद्धि में प्रेरक होता है, ज्ञानमय परिणाम तो स्वभाव का ही उद्भासक है, उससे बंध कैसे हो सकता है।

यहा कोई पुरुष ऐसे शंकालु हो सकते हैं, कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानीजीव के भी तो दशवें गुणस्थान तक बंध चलता है, फिर ज्ञानी को अबन्धक कैसे कहा है? सो उन्हे तीन प्रकार से बात जानकर अपना चित्त समाधान रूप कर लेना चाहिए। (१) जिस गुणस्थान में जितनी प्रकृतियों का बन्ध नही होता है, उतनी प्रकृतियों की अपेक्षा उन्हें

अबन्धक समझना, (२) जो भी किंचित् बंध होता है वह संसारवृद्धि की सामर्थ्य नही रखता, इसलिए अबन्धसम ही समझना। (३) ज्ञानी विशेषण कहने से उसको केवल ज्ञानपरिणमनरूप से ही देखना, अन्य परिणामनरूप से नहीं देखना। तब तो यह पूर्ण सिद्ध है कि ज्ञानी के किंचिन्मात्र भी बंध नही होता।

ज्ञानी जीव क पूर्व संचित कर्म उदय में आए झड जाते है, नवीन बंध के कारण नही बनते, क्योंकि ज्ञानी के विभाव मे राग नही रहा। ज्ञानी जीव के जो भी बंध चलता है वह ज्ञान की जघन्यता से अनुमीयमान शेष रहे अबुद्धिपूर्वक राग के कारण होता है। अत कर्तव्य तो यही है कि तब तक ज्ञान की अनवरत उपासना करना चाहिए, जब तक ज्ञान का पूर्ण विकास न हो।

शुद्धनय के विषयभूत समयसार से च्युत रहकर या होकर जीव रागादि परिणाम से संकीर्ण हो जाता है और उसके निमित्त से पुद्गल-कर्मवर्गणाएँ स्वय बंधरूप से परिणम जाती हैं। जैसे किसी पुरुष ने आहार ग्रहण किया, यह तो उसका बुद्धिपूर्वक कार्य हुआ। अब आगे वह आहार स्वय रस, रुधिर, मल आदि रूप परिणाम जाता है और उसका जो विपाक होना होता है, होता है। यह सब निमित्त-नैमित्तिक भाववश होता ही है। यदि कोई आसक्ति से आहार ग्रहण करे तो उसे उसके फल मे आहार-विपाक के समय वेदना भोगनी पडती है। इसी तरह यदि कोई आसक्ति से, मोह से विभावरति करे तो तन्निमित्तक हुए कर्मबंध के परिपाकसमय में वेदना भोगनी पडती है। इसलिए कहा जा सकता है कि "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"। अत कल्याणार्थी को अपने परिणाम सदा सावधान रखना चाहिये।

संवराधिकार

संवर नाम रुकने का है। रागादि भावों के आगमन रुकने के या न आने को संवर कहते हैं। इस रागादि के संवर के परिणाम मे कर्मो का आना भी रुक जाता है। अतः कर्मों का आना रुक जाने को भी संवर कहते है। संवर का उपाय भेदविज्ञान है। आत्मा तो ज्ञानमात्र है और ज्ञानभाव के अतिरिक्त शेष सर्व औपाधिकभाव अनात्मा है। वहा अब यह देखना चाहिये कि ज्ञान मे (उपयोग मे, अथवा आत्मा मे) क्रोधादिक औपाधिक भाव नही हैं और क्रोधादिक औपाधिक भावों मे उपयोग नही है। क्रोधादिक तो क्रुध्यतादिक स्वरूप में है और ज्ञान जानता रूप मे ही है। इस भेदविज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है और शुद्धात्मा की उपलब्धि से संवर होता है।

शुद्धात्मा को जानता हुआ शुद्धात्मा को प्राप्त करता है और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ आत्मा अपने को अशुद्ध ही पाता रहता है। शुद्धात्मा की प्राप्ति व संवर का बुद्धिपूर्वक व अबुद्धिपूर्वक उपाय यह है कि—शुभ तथा अशुभ योग में प्रवर्तते हुए अपने आपको प्रबल भेदविज्ञान के उपयोग द्वारा इस प्रवर्तन से रोके और शुद्ध चैतन्यात्मक निज आत्म-तत्त्व मे प्रतिष्ठित करे। फिर यह आत्मा इच्छा-रहित व संग-रहित होकर अपने आपके द्वारा अपने आत्मा का ध्याता हो जाता है। उस समय एकत्व-विभक्त निज आत्मा का ध्यान करता हुआ अर्थात् चैतन्य चमत्कारमात्र आत्मा का ध्यान करता हुआ निज अकलक आत्मा को प्राप्त करता है। यही संवर का प्रकार है व कर्मों से मुक्त होने का उपाय है।

तात्पर्य यह है कि भेदविज्ञान से शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है, शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होने से अध्यवसानो का अभाव होता है, अध्यवसानो के अभाव होने पर मोहका अभाव होता है, मोहभाव का अभाव होने पर राग-द्वेषभाव का अभाव हो जाता है, राग-द्वेष का अभाव होने पर कर्म का अभाव हो जाता है, कर्म का अभाव होने पर सदा के लिए शरीर का अभाव हो जाता है और शरीर का अभाव होने पर संसार का अभाव हो जाता है। संसार ही दुःख है, सो दुःखो का अत्यन्ताभाव हो जाता है। इसलिए भेदविज्ञान की तब तक निरन्तर भावना करनी चाहिये जब तक कि ज्ञान पर से बिलकुल न हट जावे और ज्ञान में ही प्रतिष्ठित न हो जावे।

निर्जराधिकार

विकार के झड़ने का नाम निर्जरा है। निर्जरा दो प्रकार की है —(१) भावनिर्जरा (२) द्रव्यनिर्जरा:—सुख-दुःख राग द्वेषादि विभाव जो उदित हुए, वे बंध के कारण न बने और झड़ जावे इसका नाम तो भावनिर्जरा है और इसी कारण अन्यबंध का कारण न बन कर उन कर्मों का व अन्य कर्मों का निष्फल झड जाना सो द्रव्य-निर्जरा है।

ज्ञान का ऐसा ही सामर्थ्य है कि कर्मविपाक को भोगता हुआ भी ज्ञानी कर्मों से नहीं बंधता है। जैसे कि तान्त्रिक, मान्त्रिक अथवा विषवैद्य पुरुष विष को खाता हुआ भी मरण को प्राप्त नहीं होता। वैराग्य में भी ऐसा ही सामर्थ्य है। वस्तुत ज्ञान और वैराग्य अलग-अलग तत्त्व नहीं हैं, विधि रूप से देखने पर ज्ञान प्रतिष्ठित है और राग-निषेध की ओर से देखने पर वैराग्य प्रतिष्ठित है।

सम्यग्दृष्टि का मुख्य विचार एक यह भी रहता है कि जो लोभ क्रोधादि प्रकृति वाले कर्म होते हैं, उन कर्मों के उदय के निमित से उत्पन्न हुये रागादिक भाव पर भाव हैं। ये मेरे स्वभाव नहीं हैं। मैं तो टंकोत्कीर्णवत् निश्चल स्वतःसिद्ध एक ज्ञायक स्वभावरूप हूँ। इस विचार-बल से ज्ञानी परभावों से विरक्त रहकर उनको छोड देता है।

रागादिभाव आत्मा का स्वपद नहीं हैं, क्योंकि ये सभी भाव आत्म स्वभाव के विरुद्ध हैं, विषम हैं, अनेक रूप हैं, क्षणिक हैं और व्यभिचारी हैं। कभी कोई भाव रहे, कभी कोई भाव न रहे। दूसरा रहे; इस कारण स्थायी रूप से आत्मा मे स्थान नहीं पाते अर्थात् अस्थायी हैं। किन्तु ज्ञानस्वभाव आत्मा का स्वपद है; क्योंकि यह ज्ञानस्वभाव आत्म-स्वभाव है, सम अर्थात् नियत है, एकरूप है, नित्य है व अव्यभिचारी अर्थात् अनवरत सदा आत्मा में रहता है। इस ही कारण ज्ञानस्वभाव स्थायी रूप से आत्मा में स्थान पाता है। इसलिये हे आत्मन्! इस एक ज्ञान स्वभाव का ही अनुभव करो। जिसमें रंचमात्र भी विपत्ति नहीं रहती।

इस ज्ञानस्वभाव के जितने परिणमन हैं, उन परिणमनों के ज्ञान-द्वार से परिपूर्ण ज्ञानस्वभाव को ही देखो। इस ज्ञान भाव के आश्रय से ही ज्ञान की प्राप्ति है, अन्य क्रियाओं से नहीं। इस ज्ञानभाव के आश्रय के विना महान् तपों का भार भी सहे तो भी मुक्ति नहीं होती।

ज्ञानोपयोगी आत्मा निष्परिग्रह है, क्योंकि परिग्रह तो वास्तव मे इच्छा ही है, सो ज्ञानी के इच्छा का आदर ही नहीं, राग ही नहीं, केवल इच्छा का ही नहीं, किन्तु समस्त विभावों का ज्ञानी के ममत्व नहीं, आदर नहीं, ज्ञानी किसी भी परभाव को नहीं चाहता। इसी कारण बाह्य विषयो की चाह नहीं। ज्ञानी आत्मा अतीत भोगों का तो ख्याल ही क्या करेगा, वह तो वर्तमान भोगो में भी वियोग बुद्धि से प्रवर्तमान हो रहा है। जो वियोग बुद्धि से रहे, वह परिग्रही नहीं है। भविष्यत् भोग की चाह भी अनेक कारणों से ज्ञानी के नहीं है (१) ज्ञानी के वस्तुस्वभाव की ओर दृष्टि रहा करती है सो निदान को अवसर ही नहीं मिलता। (२) वस्तुस्वातंत्र्य की प्रतीति के कारण किसी भी बाह्य पदार्थ से ज्ञानी को हित की आशा ही नहीं है। (३) ज्ञानी के यह दृढ निश्चय है कि इच्छाभाव व भोगभाव ये दोनो भाव एक समय मे हो ही नहीं सकते; क्योंकि जब किसी वस्तु की चाह है तब तो उस वस्तु का भोग नहीं और कदाचित उस वस्तु का भोग हो तो तद्विषयक चाह नहीं कि यह मिल जावे। जब इच्छा व भोग दोनों एक समय में मिल नहीं सकते तो फिर चाह ही क्यों की जावे।

ज्ञानी आत्मा सर्व प्रकार के राग-रस का छोडनेवाला होता है। इसी कारण कोई ज्ञानी कर्म के मध्य भी पड़ा हो, तो भी कर्म से लिप्त नहीं होता। जैसे कि सुवर्ण का जंग से लिप जाने का स्वभाव नहीं है, तो कीचड़ के बीच पड़ा हुआ सोना जंग नहीं खाता। लोहे का जंग से लिप जाने का स्वभाव है, सो कीचड़ के बीच पड़ा हुआ लोहा जंग खा जाता है। इसी तरह अज्ञानी जीव राग-रस से लिप्त हो जाने की प्रकृति वाला है, सो कर्ममध्य पड़ा हुआ कर्म से लिप्त रहता है।

ज्ञानी का मुख्य चिन्ह कामना का अभाव है। कोई सोचे—मै ज्ञानी हूँ, मुझे भोग में भी कर्म बंध नही होता, और यदि कामना बनी हुई है तो उसके बने रहने से कर्मबंध में फरक नही आता। यह मात्र कहने की चीज नहीं है। उस रूप परिणमने की करामात है।

सम्यग्दृष्टि का परिणमन कैसा होता है इस विषय को संक्षप में कहा जाय तो उसका अष्ट अंगों द्वारा वर्णन होता है। सम्यग्दृष्टि के अंग ८ है — (१) निःशंकित (२) निःकांक्षित (३) निर्विचिकित्सित (४) अमूढ़दृष्टि (५) उपगहन (६) स्थितिकरण (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना।

निःशंकित—ज्ञानी आत्मा सातों प्रकार के भय से रहित होने से व यथार्थ वस्तु स्वरूप की यथार्थ प्रतीति के कारण सदा निःशंक रहता है। ज्ञानी जीव को इह लोक भय नहीं रहता कि इस जीवन का कैसे गुजारा होगा; क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि है कि मेरा लोक तो चैतन्य है इसका गुजारा याने परिणमन तो निर्बाध होता ही रहेगा। ज्ञानी जीव के परलोक भय नही रहता कि परलोक में मेरा कैसे गुजारा होगा; क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि है कि चैतन्य ही मेरा परलोक है उसका गुजारा भी निर्बाध होगा। ज्ञानी जीव के वेदना भय नही होता कि इस रोग से मेरी वेदना (अनुभूति) कैसी होगी; क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि है कि यह अविचल ज्ञान स्वयं वेदा जा रहा है, यही मेरी वेदना है, यह अन्य वस्तु से नहीं होती। ज्ञानी जीव के अरक्षाभय नही होता कि मेरी कोई रक्षा नही है, कभी मेरा नाश न हो जाय; क्योंकि ज्ञानी आत्मा की दृष्टि है कि जो सार है उसका नाश नही होता, सत् स्वयं सुरक्षित है, मैं भी सत् हूँ, अतः सुरक्षित हूँ। ज्ञानी जीव के अगुप्तिभय नही होता कि मेरा कोई गुप्त स्थान (किला आदि सुदृढ स्थान) नही है. कोई मुझे बाधा देने न आ जावे। क्योंकि ज्ञानी जीव की दृष्टि है कि मेरा स्वरूप ही मेरी गुप्ति है उसमें पर का प्रवेश ही नहीं हो सकता। ज्ञानी जीव के मरण-भय नही कि मेरे प्राण नष्ट न हो जायें, क्योंकि ज्ञानी आत्मा की यह दृष्टि है कि मेरा प्राण तो ज्ञान है, वह कभी नष्ट नही हो सकता। ज्ञानी जीव के आकस्मिक भय नही होता, कि मुझ पर अकस्मात् कोई आपत्ति न आ जाये: क्योंकि ज्ञानी जीव की यह दृष्टि है कि मैं अनादि, अनन्त, अचल, स्वत.सिद्ध, ज्ञानमात्र हूँ, मुझ में दूसरे का आक्रमण नही हो सकता। ज्ञानी जीव के वस्तुस्वरूप की अविचल प्रतीति है, उसके भय कहा से हो ? वह तो निःशंक स्वयं सहज ज्ञान का अनुभव करता है। इसलिये उसके शंकाजनित बध नही होता, किन्तु निःशंक होने से निर्जरा ही होती है।

निःकांक्षित—सम्यग्दृष्टि जीव के सब प्रकार के कर्मों में कर्म के फलो में और भोगों में वाञ्छा नहीं रहती है, इसलिये उसके कांक्षाकृत बध नही होता किन्तु निष्कांक्ष होने से निर्जरा होती है।

निर्विचिकित्सितः—सम्यग्दृष्टि जीव के धर्मात्माओ के अशुचि शरीर की सेवा में, धर्मात्माओं मे व समस्त वस्तु-धर्मों मे ग्लानि नही रहती और न कर्मविपाक स्वरूप क्षुधा आदि विपत्तियों में खेदरूप परिणाम रहता है; इसलिए उसके विचिकित्साकृत बंध नही होता; किन्तु निर्विचिकित्स होने से निर्जरा ही होती है।

अमूढदृष्टि—सम्यग्दृष्टि जीव के धर्म-विरुद्ध किसी भी कुभाव में व कुभाव वालों से संमोह नहीं होता। इसलिये उसके मूढदृष्टिकृत बध नही है, किन्तु अमूढदृष्टि होने से निर्जरा ही होती है।

स्थितिकरणः—उन्मार्ग में जाते हुये स्वयं को उन्मार्ग में जाने से रोक लेने व स्वयं को स्वरूप में स्थित कर देने से एव पर को भी धर्म में स्थित कर देने के निमित्त होने से ज्ञानी स्थितिकरण-युक्त होता है, इसलिए उसके मार्ग पतन-कृत बध नहीं होता, किन्तु धर्मस्थिरता के कारण निर्जरा ही होती है।

वात्सल्यः—रत्नत्रय को अपने मे अभेदबुद्धि से देखने की वत्सलता होने से व व्यवहार में धर्मात्मा जनों मे निश्छल वात्सल्य होने से सम्यग्दृष्टि मार्गवत्सल होते हैं। इसलिए उनके अवात्सल्यकृत बंध नहीं होता, किन्तु मार्ग वत्सलता के कारण निर्जरा ही होती है।

प्रभावना—ज्ञानशक्ति के विकास से सम्यग्दृष्टि प्रभावनाकारी होता है। अतः उसके अप्रभावनाकृत बंध नहीं है; किन्तु ज्ञानप्रभावक होने से निर्जरा ही होती है। ज्ञानी पुरुष अपनी अलौकिक आध्यात्मिक चर्या के कारण पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करता है। वह निर्जरा मोक्ष तत्त्व का साधन है।

बंधाधिकार

निर्जरा का फल मोक्ष है। मोक्ष बंधपूर्वक है। अत. मोक्षतत्त्व के वर्णन से पहले बधतत्त्व का वर्णन किया जा रहा है। बध किस कारण होता है यह व्यक्त करने के लिए एक उदाहरण है। जैसे कोई मल्ल देह मे तेल लगाकर धूलभरी भूमि पर स्थित होकर तलवार से कदलीवंश आदि पेडो को काटता है। इस अवसर में उस का देह धूल से लिप्त हो जाता है। यहाँ विचार करो कि वह धूल क्यों चिपट गई ? क्या धूलभरी भूमि मे स्थित होने से धूल चिपट गई ? नही। यदि धूल भरी भूमि में स्थित होने के कारण धूल चिपटी होती तो अन्य कोई मल्ल जिसके देह में तेल न लगा हो वह उसी भूमि में वैसा ही व्यायाम करे उसके तो नही चिपटती। क्या शस्त्र चलाया इस कारण धूल चिपटी ? नही, दूसरा भी तो वही शस्त्र चलाता है उसके तो नही चिपटती। कया वृक्षो का घात करता है इस कारण चिपटी ? नही, दूसरा मल्ल भी तो घात करता है उसके क्यों नही चिपटती। निष्कर्ष यह है कि इन बाह्य साधनों से धूल नही चिपटी, किन्तु जो देह मे स्नेह (तेल) लगा है, उसके कारण चिपटी। इसी प्रकार अज्ञानी जीव रागादि करता हुआ कार्माण-वर्गणाओ से व्याप्त लोक में मन वचन काय की चेष्टा करता हुआ अनेक प्रकार के साधनो से सजीव अजीव पदार्थों का घात करता हुआ कर्म से बंध जाता है। यहा विचार करो कि कर्म बधने का कारण क्या है ? क्या वह जीव कार्माणवर्गणाव्याप्त लोक मे स्थित है इस कारण कर्म-बध हुआ ? नही क्योंकि अरहंत सिद्ध भी तो ऐसे ही लोक में है, तो उनके कर्म बंध नही होता। क्या मन वचन काय की चेष्टा कर्म बध का कारण है ? नही, क्योंकि ग्यारहवे, बारहवे, तेरहवें गुणस्थान वालों के भी तो योगचेष्टा है, उनके तो कर्म नही बंधता। क्या अनेक उपकरण उसके पास हैं इसलिए कर्म बध होता है ? नही, अरहतदेव के समीप समवसरणादि महान वैभव है, उनके तो बध नही होता। क्या घात होने से कर्म बध होता है ? नही, समिति-पूर्वक क्रिया करने वाले मुनि-देह से सूक्ष्म जन्तु-घात सभव है, उनके तो बध नही होता। निष्कर्ष यह है, कि इन बाह्य साधनो से कर्म-बध नही होता, किन्तु उपयोग मे जो रागादि (स्नेह) को ले जाना है वह कर्म बंध का कारण है।

जो ज्ञानी रागादि को उपयोग भूमि मे न ले जावे ज्ञान स्वरूप रहे, वह कर्म से नही बधता। यहा विशेष यह जानना चाहिये कि राग से जो बध होता है वह ससार को दृढ नही करता, किन्तु राग मे राग होने से जो बध होता है वह ससार को दृढ करता है।

अज्ञानी जीव की मान्यता परतन्त्रता की रहती है। अज्ञानी के ऐसे भाव होते है कि मैं दूसरों को मारता हूँ, दूसरो से मारा जाता हूँ, मैं दूसरों को जिलाता हूँ, दूसरो के द्वारा मै जिलाया जाता हूँ, मैं दूसरो को सुख दु ख देता हूँ, दूसरे मुझे सुख दु ख देते हैं इत्यादि, किन्तु यह सब भाव मिथ्या हैं। जीवो का मरण उनके ही आयु कर्म के क्षय से होता है। जीवों का जीवन उनके ही आयु-कर्म के उदय से होता है। सुख-दुख भी उनके कर्म के उदय से होता है। किसी के विकल्प से किसी अन्य जीव की परिणति नही होती, विकल्प करके प्राणी कर्म बंध ही करता है। उन विकल्पों मे यदि वे विकल्प पापसबधी हो तो पाप बंध होता है। यदि दया व्रत तप आदि के शुभ विकल्प हो तो पुण्य बध होता है। बाह्य पदार्थ बध का कारण नही है। बध का कारण तो विकल्प है। विकल्प का आश्रय भूत बाह्य पदार्थ है।

ज्ञान-स्वभाव का अनुभव बंध का टालनेवाला है। परमार्थभूत ज्ञान भाव के आश्रय बिना दुर्धर व्रत तप भी निर्वाण के साधन नही होते, किन्तु कर्मबध के ही हेतु होते हैं। पर्यायबुद्धि जब तक रहती है तब तक जीव ससार का ही पात्र होता है। मोक्षमार्ग की सिद्धि उस अज्ञानी के कैसे हो सकती है।

तात्पर्य यह है कि निज आत्मा को ज्ञायक स्वभावरूप स्वीकार किये बिना कितने भी विकल्प किये जाये उनसे मुक्ति नही होती, किन्तु बंध ही होता है। मैं साधु हूँ, मुझे दया करनी चाहिये, सत्य बोलना चाहिये, परीषह सहना चाहिये, व परीषह भी एसी सहे कि कोल्हू में पिल जाय फिर भी उफ या क्रोध न करे। इन सब करामातों के

बावजूद भी चूंकि अपने को साधु पर्याय रूप में ही प्रतीत किया है, ज्ञायक स्वरूप के अनुभव से अनभिज्ञ है। अत पुण्य बंध तो होता है। और मिथ्या आशय के कारण पाप बंध भी होता है; किन्तु धर्मभाव, संवर व निर्जरा भाव नही होता है। अत: दु खो से मुक्ति पाने के लिए निज शुद्ध सनातन चित्स्वरूप का प्रज्ञा द्वारा परिचय प्राप्त करना चाहिये।

मोक्षाधिकार

आत्मा और बध को दो रूप अर्थात् अलग अलग कर देने का नाम मोक्ष है। आत्मा स्वभावरूप है। बध विभाव रूप है। स्वभाव का विभाव परिणमन न रहकर स्वभाव परिणमन रहे, यही अवस्था मोक्ष तत्त्व मे है।

कितने ही पुरुष बध के चिन्तन परिणाम को मोक्ष का कारण मानते हैं। वह ठीक नहीं; क्योंकि जैसे कि बेडी मे बधा हुआ पुरुष बेडी बध के स्वरूप जानने मात्र से या बेडी बध की चिन्तामात्र से छुटकारा नही पाता, किन्तु बेडी बध कटने से अर्थात् अलग होने से ही छुटकारा पाता है। इसी प्रकार कर्मबंध से बद्ध आत्मा बध का स्वरूप जानने मात्र से या अपायविचयधर्मध्यान मे ही बुद्धि लगाने मात्र से कर्ममुक्त नही होता। किन्तु बंध छेद से अर्थात् विभाव परिणमन के अलग करने से ही कर्म मुक्त होता है। बधच्छेद का उपाय क्या है ? प्रज्ञा। नियत स्वलक्षण का जो अवलम्बन करे ऐसे विज्ञान को प्रज्ञा कहते हैं। पहिले प्रज्ञा से यह निर्णय किया जाता है कि आत्मा का स्वलक्षण चैतन्य है जो कि आत्मा में अनादि अनन्त तादात्म्यरूप से है तथा आत्मातिरिक्त किसी भी पदार्थ मे कभी नही रहता, और बन्ध का स्वलक्षण रागादिक है जो कि चैतन्य चमत्कार से अन्य तथा आत्मा में उपाधि सयोगवश क्षण-क्षण को प्रतिभासते हैं व नष्ट होने वाले हैं। पश्चात् बंध का स्वभाव विकारक जान कर बंध से विरक्त हुआ जाता है और शुद्ध आत्मतत्त्व को आत्मस्वभाव जानकर उसको ग्रहण किया जाता है। यह ग्रहण अभिन्न चेतन-क्रिया द्वारा अभिन्न षट्कारक रूप मे होता है। जैसे कि मैं चेतता हूँ, चेतयमान होता हुआ चेतता हूँ, चेतयमान को चेतता हूँ, चेतयमान के द्वारा चेतता हूं, चेतयमान के लिए चेतता हूँ, चेतयमान से चेतता हूँ, चेतयमान मे चेतता हूँ। पश्चात् अभेद चैतन्य की प्रखर उपासना से अभिन्न षट्कारक के सूक्ष्म विकल्प का भी निषेध करके (कि मैं न चेतता हूँ, न चेतयमान होता हुआ चेतता हूँ, न चेतयमान को चेतता हूँ आदि रूप से निषेध करके) सर्वविशुद्ध चिन्मात्र हूँ, ऐसा अनुभव होता है। इसी शुद्ध अनुभव के बल से बधच्छेद होता है, क्योंकि परभाव का ग्रहण करना ही अपराध अर्थात् राध (आत्मसिद्धि) से दूर रहने का भाव था, इस अपराध के दूर होने पर बध की शका ही सभव नही है।

सर्वविशुद्धचिन्मात्र के अनुभव का परिणमन व्यवहार प्रतिक्रमण आदि भाव से भी उत्कृष्ट है और वस्तुत: द्रव्यप्रतिक्रमणादि, व अज्ञानी जनों के अप्रतिक्रमणादि से विलक्षण यह सहज अप्रतिक्रमणादि तो अमृत है और वे दोनो विष हैं। सहज अप्रतिक्रमणादि रूप तृतीय भूमि का सबध ही द्रव्य प्रतिक्रमणादि को अमृतपना व्यवहार से सिद्ध कराता है। इस प्रकार सर्व विशुद्धचिन्मात्र के अनुभव का परिणमन सर्वोत्कृष्ट परिणमन है और यही मोक्ष का हेतु है।

सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार

नव तत्त्वों का वर्णन करके, अब अन्त मे सबके आधार भूत उसी पारिणामिकभाव का पुन. विस्तार से इस अधिकार मे वर्णन किया गया है जिसकी कि सूचना पीठिका में की गई थी।

सम्यग्दर्शन का विषय शुद्धद्रव्य है। ज्ञान की समीचीनता भी शुद्ध द्रव्य के परिचय से है। सम्यक्चारित्र का स्वरूप लाभ भी शुद्ध द्रव्य के स्पर्श से है। अत शुद्ध अर्थात् आध्यात्मिक विकास का आश्रय ही शुद्ध आत्म-तत्त्व है। यह शुद्ध आत्म-तत्त्व सर्व-विशुद्ध ज्ञान स्वरूप है अर्थात् यह शुद्ध आत्मद्रव्य न तो किसी का कार्य है और न किसी का कारण है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्यो का केवल स्व स्व की पर्यायो से तादात्म्य है। यहाँ शुद्ध से तात्पर्य पर से भिन्न व स्व के स्वभावमय से है। पर्याय व शक्ति भेद की गौणता करके अभेद स्वभाव की दृष्टि में वह संवेद्य है।

आत्मतत्व का व परद्रव्य का कोई संबंध नही, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य निज-निज सत्तात्मक ही रहता है। इसी कारण आत्मा व परद्रव्य में कर्तृ-कर्म संबध भी नहीं है। फिर आत्मा परद्रव्य का कर्त्ता कैसे हो सकता है ? और इसी

कारण आत्मा परद्रव्य का भोक्ता भी कैसे हो सकता है ? जिनके आशय में पर-द्रव्य का कर्तृत्व-भोक्तृत्व समाया हुआ है वह सब उनके अज्ञान भाव की महिमा है। जैसे दृष्टि (नेत्र) दृश्यमान पदार्थ से अत्यन्त भिन्न है। वह दृश्य वस्तु को न तो करती है और न भोगती है। केवल देखती मात्र है, क्योंकि यदि करे तो अग्नि को देखने से जल जाना चाहिये, यदि भोगे तो अग्नि को देखने से नेत्र तप्त व भस्म हो जाना चाहिये। इसी प्रकार ज्ञान भी एक दृष्टि ही तो है वह किसी परपदार्थ को न तो करता है और न भोगता है। वह तो तत्त्वज्ञान के कारण पर पदार्थ को अहं व मम रूप से अनुभव नहीं कर सकने के कारण केवल जानता है, चाहे बंध हो, मोक्ष हो, उदय हो या कुछ हो। यहाँ यह निर्णय कर लेना आवश्यक है कि शुद्ध आत्मतत्त्व अथवा समयसार अभेद शुद्ध चैतन्य स्वभाव है। वह अनादि से अनन्त काल तक एकस्वरूप है। यही वह सहज सिद्ध भाव है जिसका अवलंबन मोक्ष मार्ग है। यह तो बंध मोक्ष पर्याय से परे है। इस परम पारिणामिक भाव स्वरूप समयसार का ध्यान, भावना, दृष्टि, आश्रय और अवलंबन मोक्षमार्ग है। जीव में यह अनादि सिद्ध भाव है, किन्तु इसकी दृष्टि बिना प्रकृति स्वभाव (रागादिभाव) में स्थित होकर विपरीताशय होकर यह अज्ञानी जीव कर्म का कर्ता व कर्मफल का भोक्ता होता है। जब प्रकृति-स्वभाव में व आत्मा में भेदज्ञान करता है तब अकर्ता अभोक्ता हो जाता है।

स्याद्वादाधिकार

अब समस्या एक सुलझने को आ जाती है कि राग-द्वेषादिभावों का कर्त्ता कौन है ? पुद्गलकर्म तो कर्त्ता नहीं है क्योंकि पुद्गलकर्म परद्रव्य है। परद्रव्य अन्य—पर के गुण पर्याय का न कर्ता है और न अधिकारी है। आत्मा भी राग-द्वेषादि का कर्ता नहीं; क्योंकि यदि आत्मा राग-द्वेषादि करे, तो आत्मा तो नित्य है फिर तो आत्मा रागादि का नित्य कर्ता हो जायगा। अतएव मोक्ष का अभाव हो जायगा। रागादि के विषयभूत पदार्थ भी रागादि के कर्ता नहीं। इस प्रकार रागादि का कर्ता न तो आत्मा ही है और कर्म ही है और न विषय है। फिर भी रागादि परिणमन तो होता है। इस समस्या को सुलझाने के अनेकों ने अनेक प्रयत्न किये हैं, किन्तु एक सन्धि नियत किये बिना यह समस्या नहीं सुलझती। वह सन्धि है निमित्त-नैमित्तिक भाव। अनित्य कर्मोदय को निमित्त पाकर अनित्य रागादि होते हैं। अनित्य रागादिक का निमित्त पाकर अनित्य कर्म बंध होता है। फिर बद्ध अनित्य कर्मोदय का निमित्त पाकर अनित्य रागादि होते हैं। यह परम्परा चलती रहती है, जब तक कि प्रखर भेद-विज्ञान न हो जाय। यहाँ बंध में निमित्त आत्म-विभाव है व उपादान—कार्माण-वर्गणा है तथा रागादि में निमित्त कर्मोदय है व उपादान—अध्यवसित आत्मा है। निमित्त-नैमित्तिक भाव की इस सन्धि का होना भी अज्ञान की महिमा है और आत्मा का कर्ता भोक्ता बनना भी अज्ञान की महिमा है।

इस प्रकरण से ऐसा नहीं समझना चाहिए है कि आत्मा भिन्न वस्तु है और वृत्तियाँ सर्वथा भिन्न वस्तुतत्त्व हैं। क्योंकि ऐसा समझने से दो प्रकार की पृथक्-पृथक् विचारधाराएँ बहने लगती हैं। (१) आत्मा सर्वथा अविकार है। विकार तो किसी अन्य से है उसे कोई जीव कहते हैं, कोई मन कहते हैं अथवा विकार प्रकृति का कार्य कहते हैं। (२) आत्मा कोई एक है ही नहीं, ये वृत्तियाँ ही आत्मा है सो करने वाला और है और भोगने वाला और है। इन पर विचार करना आवश्यक है। जीव का मन चेतन है या अचेतन ? यदि चेतन है तो यही तो आत्मस्वरूप है, फिर तो आत्मा के नामान्तर ही हुए। यदि अचेतन है तो जानने, देखने और विचारने वाले पदार्थ को घबड़ाने अथवा कल्याण की क्या जरूरत ? प्रकृति नाम कर्म का है। रागादि विकार यदि प्रकृति का कार्य है, तो "कारण-सदृशं कार्यं"। इस न्याय से ये सब विकार अचेतन ही होना चाहिये। विकार में बुद्धि विचार सभी आ गये। यदि आत्मा प्रकृति में विकार करता है तो प्रकृति चेतन हो जायेगी। यदि आत्मा व प्रकृति दोनों मिलकर विकार करते हैं, तो उसका फल दोनों को भोगना चाहिए। यदि कहा जाय कि प्रकृति ही सर्व विकार करती है, तो आत्मा की परिणति बताओ क्या होगी ? परिणति बिना तो आत्मा का अभाव हो जायगा और फिर प्रकृति ही कर्ता, प्रकृति ही भोक्ता, प्रकृति ही बद्ध व प्रकृति ही मुक्ति हुई, तब समझदार व्यक्तियों को घबड़ाने व कल्याण की क्या आवश्यकता ? इन सब का समाधान है पूर्वोक्त नैमित्तिक भाव की सन्धि।

एक दृष्टि से देखा जाय तो चैतन्यभाव से अतिरिक्त जितने भाव है, वे पर भाव कहे गये हैं। क्रोध, मान, माया,लोभ, सुख-दुःख, विचार, कल्पना, संकल्प-विकल्प आदि सब औपाधिक भाव हैं। इनमें विचार बुद्धि जैसे भाव तो प्रकृति के क्षयोपशम से हैं। क्रोधादि-भाव प्रकृति के उदय से हैं। तब ये सभी भाव अचेतन हैं। चेतन तो एक शुद्ध चैतन्य है। अथवा जो भाव शुद्धचैतन्य को चेतते हैं वह है। नयदृष्टियों से सभी चर्चाओं का विशुद्ध समाधान करना चाहिये। विवक्षावश प्रकृति कर्त्री है, आत्मा भोक्ता है, यह भी सिद्ध हो जाता है, किन्तु निमित्त-नैमित्तिकभाव का इसमें उल्लंघन नहीं होता। दूसरी चर्चा यह है कि यदि वृत्तिया ही आत्मा हैं और वे अनेक हैं तो असत् का उपयोग हो जायगा, सो सर्वथा असत् का उत्पाद होता ही नही। अतः आत्मा सब पर्यायो में वही है और उसकी पर्यायें भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न हैं। तब पर्याय-दृष्टि से जानो, करने वाला और पर्याय है भोगने वाला और पर्याय है। जैसे मनुष्य ने पुण्य किया, देव ने भोगा; परन्तु द्रव्यदृष्टि से देखो तो जिस आत्मा ने किया उसी आत्मा ने भोगा। यह ध्यान रखने की एक बात और है कि आत्मा व जीव एकार्थ-वाचक नाम हैं। वे भिन्न-भिन्न द्रव्य नहीं—केवल रूढिवश व शब्द-विशेषता से कहीं-कहीं यह प्रसिद्धि हो गई कि आत्मा अविकारी है, जीव विकारी है, हां यदि आदि से अन्त तक सिलसिले में बोला जाय तो यह कहना चाहिये कि चेतनद्रव्य जब मिथ्यात्व-विकार से मुक्त होकर स्वरूप दृष्टि कर लेता है, तो वह आत्मा कहलाता है। यदि मिथ्यात्व विकार में स्थिर रहता है तो वह जीव कहलाता है। निमित्त-नैमित्तिक भाव वाले पदार्थो में इतनी बात सुदृढता से जानते रहना चाहिए, कि जैसे जीव मे व कर्म में निमित्त नैमित्तिकता तो है किन्तु कोई किसी दूसरे में तन्मय नही हो जाता। इसी कारण जीव प्रकृतिबंध का कर्ता है, प्रकृति जीव विकार का कर्ता है। जीव प्रकृति फल को भोगता है। ये सब बातें व्यवहारनय से मानी जाती हैं। इसके लिये दो मुख्य दृष्टान्त हैं—(१) जैसे व्यवहारनय से कहा जाता है:—कि सुनार सुवर्ण का आभूषण बनाता है व आभूषण का फल (मूल्य वैभव) भोगता है, वस्तुतः सुनार अपनी चेष्टा ही करता है व विकल्प ही भोगता है। उसकी चेष्टा का निमित्त पाकर सुवर्ण की परिणति सुवर्ण ही करता है। (२) व्यवहार नय से कहा जाता है कि खड़िया ने भींत (दीवार) सफेद कर दी, खड़िया ने तो खड़िया को ही सफेद किया। हा, यह बात जरूर है कि दीवाल का निमित्त पाकर खड़िया ऐसे विस्तार रूप में अपना परिणमन बना रही है। इस तरह से तो यहां तक निर्णय कर लो; कि आत्मा निश्चय से अपने को ही जानता है, देखता है। पर का जानना देखना कहना भी व्यवहारनय से है। व्यवहारनय से तो कर्त्ता व कर्म भिन्न-भिन्न मान लिए जाते हैं। किन्तु निश्चय से कर्त्ता, कर्म एक ही वस्तु होता है और परम शुद्ध निश्चयनय में कर्म-कर्त्ता का भेद ही नही।

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में परिणमन नहीं होता। अन्यथा द्रव्य सीमा ही नष्ट हो जायगी। अब आत्मा जो दूसरे द्रव्य की ओर आकर्षित होता है, व रागी-द्वेषी होता है वह अज्ञान की प्रेरणा है। यह राग-द्वेष तब तक रहता है, जब तक ज्ञान ज्ञानरूप से न रहे, किन्तु ज्ञेयार्थ परिणमन करता रहे। कोई भी ज्ञेय आत्मा को प्रेरित नहीं करते कि तुम हमको जानो, देखो, स्वादो, छूओ, सुनो, सूंघो और आत्मा भी स्वप्रदेश से च्युत होकर उनमें प्रवेश कर जानना आदि का कार्य नही करता, किन्तु ज्ञान अपने परिणमन से जानता है। बाह्य पदार्थ का आत्मा में सम्बन्ध नही फिर भी आत्मा में विकार आवे तो वह अज्ञान की महिमा है।

इन सब आपत्तियों से बचने का उपाय प्रज्ञा है। प्रज्ञाबल से अनुभव करे कि मैं कर्मविपाक, रागादि समस्त अज्ञान भावों से परे हूँ, शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ। इस अनुभव के बल से चूंकि शुद्धज्ञान की संचेतना हो रही है अतः पूर्वबद्ध कर्म निष्फल हो जाता है, आगामी कर्मबंध रुक जाता है और वर्तमान कर्मविपाक भी बिना वेदे निकल जाता है। ज्ञानी जीव के अज्ञानचेतना नही है, वह ज्ञानक्रिया से अतिरिक्त अन्य को मैं करता हूँ ऐसी संचेतना रूप कर्म-चेतना नहीं करता। और ज्ञान क्रिया से अतिरिक्त अन्य भावों को मैं भोगता हूँ ऐसी संचेतनारूप कर्मफल-चेतना भी नहीं करता।

ज्ञानचेतना ही मोक्ष का कारण है। ज्ञान के शरीर नहीं है इसलिये शरीर की प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप कुछ भी भूषा मोक्ष का कारण नहीं है। हां यह बात अवश्य है कि ज्ञानचेतना के उपयोग वाले जीव को इतनी प्रबल ज्ञानाराधना

की रुचि होती है, कि रागभाव गये, अब बाह्य में परिग्रह को कौन संभाले। सो देह का निर्ग्रंथ निष्परिग्रह वेष हो जाता है। फिर भी ज्ञानचेतना ही मोक्ष का कारण है; क्योंकि वह आत्माश्रित है। देहलिंग मोक्ष का कारण नहीं, क्योंकि वह पराश्रित है। इसलिए निष्परिग्रह निर्ग्रन्थस्वरूप द्रव्यलिंग से गुजर कर भी देहलिंग की ममता से दूर रहकर एक समयसार का ही अनुभव करना चाहिए। जो समयसार मे स्थित होता है वही सहज उत्तम आनन्द को प्राप्त करता है।

स्याद्वाद (परिशिष्ट) अधिकार

यह अधिकार पूज्य श्री अमृतचन्द्र जी सूरि व पूज्य श्री जयसेनाचार्य ने स्वतंत्र रचना द्वारा प्रकट किया है। चूकि वस्तु की सिद्धि स्याद्वाद से होती है, अतः ज्ञानमात्र दृष्टि से देखे गये ज्ञानमात्र आत्मा को स्याद्वाद से प्रसिद्ध करके उसका उपयोग करना चाहिए। प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील होने के कारण प्रतिक्षण परिणमता ही रहता है। सो यह ज्ञानमात्र आत्मद्रव्य भी प्रति समय परिणमता रहता है। अब इस ही प्रसग में ज्ञानमात्र आत्मा दो दृष्टियों से देखा जा रहा है—(१) ज्ञानशक्ति द्वार से निश्चयनय द्वारा, (२) ज्ञानपरिणमन (ज्ञेयाकार) द्वार से व्यवहारनय द्वारा। पदार्थ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावात्मक होता है। इस कारण सत्त्व का विचार द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव इन चार दृष्टियों से भी होता है। इस प्रकार दो मौलिक संकेतों के बाद अब ज्ञानमात्र आत्मा को जिन धर्मों के द्वार से प्रसिद्ध करना है उन्हें कहते हैं—(१)आत्मा तद्रूप है, (२)आत्मा अतद्रूप है, (३)आत्मा एक है, (४) आत्मा अनेक है, (५)आत्मा द्रव्यतः सत् है, (६)आत्मा द्रव्यतः असत् है, (७)आत्मा क्षेत्रत. सत् है, (८)आत्मा क्षेत्रत असत् है, (९) आत्मा कालतः सत् है, (१०) आत्मा कालत. असत् है, (११) आत्मा भावत· सत् है, (१२) आत्मा भावतः असत् है, (१३) आत्मा नित्य है, (१४) आत्मा अनित्य है, (१५) आत्मा अभेदात्मक है, (१६) आत्मा भेदात्मक है।

(१-२) आत्मा ज्ञानशक्ति से तद्रूप है व ज्ञेयाकार परिणमन से अतद्रूप है, क्योंकि ज्ञेयाकार परिणमन व्यतिरेकी परिणमन है, अथवा ज्ञानमात्र आत्मा स्ववस्तु रूप से तद्रूप है व परवस्तु रूप से अतद्रूप है। मै ज्ञायकता से भी शून्य हूँ, ऐसा अथवा सर्व वस्तुओ से भी तद्रूप हूँ ऐसा नहीं मानना।

(३-४) ज्ञानमात्र आत्मा अखड एक ज्ञानस्वभाव की अपेक्षा एक है, वह ज्ञेयाकार पर्यायों अपेक्षा अनेक है, ज्ञेयाकार मुझ में नही है ऐसा यह ज्ञेयाकार मात्र हूँ, ऐसा नही मानना।

(५-६) ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञाता द्रव्य की अपेक्षा से सत् है व गुण-पर्याय-रूप द्रव्य विभाग की अपेक्षा असत् है अथवा ज्ञाता द्रव्य की अपेक्षा सत् है, वह ज्ञायमान परद्रव्य की अपेक्षा असत् है। ज्ञाता द्रव्य ही पर द्रव्य रूप है व परद्रव्य सब ही मै ाता द्रव्य हूँ ऐसा नही मानना।

(७-८) ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानाकारक्षेत्र से सत् है वह ज्ञेयाकारक्षेत्र से असत् है, अथवा स्वक्षेत्र मे सत् है व ज्ञेयभूत परवस्तु के क्षेत्र से असत् है। पर क्षेत्रगत ज्ञेयार्थ परिणमन से ही मै हूँ, ऐसा व ज्ञेयाकार का मुझमे सर्वथा त्याग है ऐसा नही मानना।

(९-१०) ज्ञानमात्र आत्मा काल-पर्याय सामान्य से सत् है व काल-विशेष से असत् है, अथवा स्वपर्याय से सत् है, अथवा पर पर्याय से असत् है, पदार्थों के अलम्बन काल में ही सत् है व आलंबित अर्थ के विनाश काल मे विनाश है, ऐसा नही मानना।

(११-१२) ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञायकभाव से सत् है, ज्ञेयभाव से असत् है अथवा अपने गुण मे सत् है परके गुण से असत् है। सब ही (स्व पर) भाव मे मैं हूँ, या मैं ही सब भाव हूँ, ऐसा नही मानना।

(१३-१४) ज्ञानमात्र आत्मा ज्ञानशक्ति की अपेक्षा नित्य है, ज्ञेयाकार विशेष पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। ज्ञानमात्र आत्मा को सर्वथा नित्य या अनित्य नही मानना।

(१५-१६) ज्ञान मात्र आत्मा द्रव्यदृष्टि से अभेदात्मक है, व्यवहार दृष्टि से भेदात्मक है।

अनेकान्त स्वरूप होकर भी आत्मा की ज्ञानमात्र प्रसिद्धि क्यों की ? लक्ष्यभूत आत्मा की सुगमता प्रसिद्धि के

लिए अथवा ज्ञानमात्र एक भाव मे ही गर्भित अनन्त शक्तियों का विकास प्रकट होने से ज्ञानमात्रपने की मुख्यता से आत्मा लक्ष्य हो जाता है; इसलिए ज्ञानमात्र आत्मा की प्रसिद्धि की। ज्ञानमात्र होकर भी अनेकान्तरूप क्यों बताया ? विशद जानने के लिए, अथवा भेद रत्नत्रय व अभेद रत्नत्रय के उपदेश के लिए. अथवा उपाय-उपेयभाव का चिन्तवन करने के लिए ज्ञानमात्र आत्मा को अनेकान्त रूप प्रगट किया।

इस प्रकार निज शुद्ध आत्मतत्त्व स्वरुप समयसार की प्रतीति करके उसमें हीं अनुष्ठान करना चाहिए। एतदर्थ परमार्थ दृष्टि रखकर भावना करना चहिए—मैं सहज शुद्ध ज्ञानानंद स्वभाव हूँ, निर्विकल्प हूँ, अखंड हूँ, निरंजन हूँ, सहजानन्द स्वरूप स्वसवेदन से गम्य हूँ, राग-द्वेष-विषय-कषायादि से रहित हूँ।

समयसार के परिज्ञान का प्रयोजन

समयसार निरपेक्ष आत्म-स्वभाव है। इसका अपरनाम सहजसिद्ध परमात्मा है। इस अविकार स्वरूप की दृष्टि होने पर परिणमन में भी अविकारता प्रगट होती है। अविकारता ही सत्य आनन्द की अमोघ जननी है। समस्त दार्शनिकों के प्रयोजन की सिद्धि इस समयसार के परिचय मे हो जाती है। समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मतत्त्व अविकार है, नित्य है, भेद दृष्टि से परे होने के कारण एक है। आत्म-गुणों मे व्यापक होने से व आत्म-गुणो से बढने के कारण ब्रह्म है। ऐसा स्वभाव होते हुए भी चूंकि प्रत्येक द्रव्य परिणमन शील है सो आत्मा भी परिणमनशील है। अतः इस आत्मा की पर्यायें होती हें। वे पर्यायें अनित्य हैं। अतः माया रूप कही जाती हें। इसतरह ब्रह्म और माया की सन्धि है। अविकार होते हुए भी यह माया का आधार है। यह रहस्य जिन्हे प्रगट हो गया वे विवेकी हैं और फिर माया की दृष्टि न रख कर एक परम ब्रह्म की दृष्टि रखते हैं वे परमविवेकी हें। समयसार के परिज्ञान का प्रयोजन निर्विकल्प समाधि की सिद्धि है जिसके बल से समस्त कर्म-कलंकों से मुक्ति, पूर्ण ज्ञान की सिद्धि व अनन्त आनन्द की निष्पत्ति होती है।

समयसार में दार्शनिक संतोष

प्रत्येक आत्मा मे समयसार तत्त्व है। इसे परम ब्रह्म परमेश्वर कहते हैं। इसकी पर्यायों का मूल आधार यह ही है। इस प्रकार प्रत्येक आत्माओं की सृष्टि का कारण उन्ही मे विराजमान परम-ब्रह्म परमेश्वर है। शुद्ध नय की दृष्टि मे अनेकता नही है। अत इस पद्धति मे यह अभिप्राय सुयुक्तियुक्त है कि जिस परमब्रह्म परमेश्वर ने अपनी सृष्टि की है, उस परम पिता को उपासना से ही दुखो की मुक्ति हो सकती है। समयसार की उपासना वगैर दु.खों से मुक्ति नही हो सकती।

स्वभावत अविकार होकर भी प्रकृतिजन्य विभावो मे एकत्व का अध्यास होने से नाना भावों के अवतार रूपों मे यह समयसार पुरुष प्रगट हुआ है। प्रकृति (कर्म व औपाधिक भाव) व पुरुष का जब तक भेदज्ञान नही होता तब तक क्लेश व जन्म-परम्परा चलती ही रहती है। अत यह बात सुयुक्त है कि प्रकृति व पुरुष का भेदविज्ञान कर लेने से ही क्लेश एवं जन्म-परम्परा से मुक्ति हो सकती है।

समयसार स्वरूप आत्मद्रव्य नित्य होने पर भी इसकी परिणतियां प्रतिक्षण होती ही रहती हें। आत्मा का मुख्य लक्षण ज्ञान है। ज्ञानस्वभाव की भी परिणतियाँ प्रतिक्षण होती रहती हैं। हम लोगो की ज्ञान परिणतियो का नाम चित्तवृत्ति है। यह चितवृत्तियां क्षणिक हें। ये आत्मस्वरूप नही हें। आत्मद्रव्य की क्षणिक परिणतिया हें। उन्हे ही जो आत्मद्रव्य समझते हें वे इष्ट अनिष्ट कल्पना द्वारा रागी-द्वेषी होकर दुखी होते हैं। जो चित्तवृत्तियो को गौण कर इस अविकार समयसार (शुद्ध आत्मतत्त्व) को कहते हें, वे दु खों से मोक्ष (निर्वाण) प्राप्त करते हें। अत यह बात सुयुक्त है कि क्षणिक चित्तवृत्तियो में आत्मा का भ्रम समाप्त कर देने से ही निर्वाण प्राप्त हो सकता।

परम-शुद्ध-निश्चय से देखा गया समयसार तत्त्व शाश्वत अविकार है। इस तत्त्व का विकारी रूप में उपलब्धि करने की जब तक प्रकृति रहती है तब तक वह जीव दुखी है। जब निरपेक्ष निज चैतन्य स्वभाव की द्रव्य शुद्धि

में उपलब्धि कर विकार भ्रम को समाप्त कर देता है तब आत्मा शांति का अनुभव करता है। अतः यह निश्चित है कि विकारों से सम्बन्ध न होने से जीव शांति प्राप्त कर सकता है।

समयसार की उपलब्धि न होने के कारण जीव का उपयोग विरुद्ध कर्मों (दुष्कर्मों) में भ्रमण करता रहता है। और इन्हीं दुष्कर्मों से ही जीव सांसारिक यातनाएँ सहता है। उनसे मुक्ति पाने का उपाय समयसार की दृष्टि है और यही निश्चयत सत्कर्म है तथा जब तक जीव समयसार की निश्चल अनुभूति में नही रह पाता, तब तक इस अशान्ति का उपयोग दुष्कर्म न उठा लें; इसलिये दुष्कर्म से बचने के अभिप्राय से व्यवहारिक सत्कर्म की प्रवृत्ति होती है। अतः यह बात सुयुक्त है कि सासारिक यातनाओं के कारणभूत दुष्कर्मों से मुक्ति पाना सत्कर्म से ही सम्भव है।

निर्विकल्प समयसार का परिचय जब तक जीव को नही है, वह विविध विकल्पों में ही उपयुक्त रहकर ससार का परिभ्रमण करता रहता है। विकल्पों से होने वाली भटकन की निवृत्ति निर्विकल्प ज्ञान परिणमन से ही सम्भव है। अतः यह बात भी सुयुक्तिक है कि संसार-परिभ्रमण की निवृत्ति निर्विकल्प समाधि से ही हो सकती है। निर्विकल्प समाधि समयसार के आलम्बन में होती है।

इस प्रकार अनेकों दार्शनिक इस समयसार में ही सन्तोष पाते हैं। उनके उद्देश्य की पूर्णता भी इसी समयसार में होती है। हे आत्मन्! ऐसा अद्भुत विलक्षण, अलौकिक सारभूत परमब्रह्मस्वरूप समयसार हस्तगत हुआ है, हाथ आया है तो इसकी अनवरत दृष्टि रखकर निर्दोष होते हुए तुम सहज आनन्द का अनुभव करो।

ॐ शुद्धं चिदस्मि ! "शुद्धचिदस्मि सहजं परमात्म तत्त्वम् ।"

समयसार की महिमा अपूर्व है। इसका वर्णन तो किया ही नही जा सकता। इसके शुद्ध अनुभव में ही महिमा की अनुभूति होती है। जिनका परिणमन समयसार के पूर्ण अविरुद्ध हो गया है अर्थात् समस्त आत्म-गुणों का पूर्ण शुद्ध विकास हो गया है, ऐसे देवाधिदेव परमात्मा को और जो आत्म-गुणों के शुद्ध विकास मे चल रहे हैं ऐसे गुरुओं को नमस्कार करता हूँ, अर्थात् सर्वपरमेष्ठियों को नमस्कार करता हूँ, जिनके स्वरूपचिन्तन व परम्पराप्राप्त उपकारों से मै धर्ममार्ग मै उपकृत हुआ हूँ।

समयसार ग्रन्थ के मूल रचयिता पूज्य श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्य को नमस्कार करता हूँ। समयसार गाथाओं के हार्द को आत्मख्याति टीकाद्वारा व्यक्त करने वाले पूज्य श्रीमदमृतचन्द्रसूरि को नमस्कार करता हूँ। समयसार गाथाओं के शब्दानुसार भाव एवं तात्पर्य को तात्पर्यवृत्ति द्वारा व्यक्त करने वाले पूज्य श्रीमज्जयसेनाचार्य को नमस्कार करता हूँ। जिनकी रचनाओं के आधार पर शान्ति मार्ग-प्रत्यय हुआ। अत. गृहवास छोड़कर व्रत-प्रतिमा ग्रहण करने के अनन्तर ही सन् १९४३ में आत्म शान्ति के मार्ग पर चलने का अधिक भाव हुआ। उस समय समयसार के मनन करने का परिणाम हुआ। उन शीत ऋतुओं के दिनों में त्रिलोकसार व कर्मकाण्ड के विशेष ज्ञान-अनुसंधान में लग रहा था। अतः समयसार के मनन का समय ४ बजे प्रातः से लेकर ६ बजे तक का था। समयसार ग्रन्थ के देखने का यह पहिला ही अवसर था। आत्म-ख्याति टीका के आधार पर मनन शुरू किया। उसमें जो बीच-बीच में कहीं कठिनाइयां आती थीं, उनका हल श्री पं० जयचंद जी छावडा कृत हिन्दी टीका से हो जाया करता था। इस प्रकार यह हिन्दी टीका भी मुझे बहुत ही सहायक रही। मै श्री पं० जयचंद जी छावडा का विशेष आभार मानता हूँ।

पूज्य श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसाद जी वर्णी न्यायाचार्य का तो मै अत्यन्त आभारी हूँ जिनके तत्त्वावधान में बाल्यकाल से ही न्यायतीर्थ परीक्षापर्यन्त मेरा अध्ययन रहा और न्याय विषय को स्वयं आपने पढ़ाया। अध्ययन के अतिरिक्त आत्म-विकास मार्ग में चलने के लिए आपसे ही दीक्षा प्राप्त हुई।

ॐ शान्ति ॐ शान्ति. ॐ शान्तिः

मनोहर वर्णी
(सहजानन्द)

११ दिसम्बर १९५८

।। समयसार का विषय-क्रम ।।

२-कर्तृकर्माधिकार

८-मोक्ष अधिकार

ॐ

नमः श्रीपरमात्मने ।

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितः

समयसारः

(टीकात्रयसहितः)

जीवाजीवाधिकारः

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृता आत्मख्यातिः

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥ १ ॥

श्रीजयसेनाचार्यकृता तात्पर्यवृत्तिः

वीतरागं जिनं नत्वा ज्ञानानंदैकसंपदम् ।
वक्ष्ये समयसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञिकाम् ॥ १ ॥

अथ शुद्धपरमात्मतत्त्वप्रतिपादनमुख्यत्वेन विस्तररुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं श्रीकुंदकुंदाचार्यदेवनिर्मिते समयसारप्राभृत-ग्रंथे अधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन पातनिकासहितं व्याख्यानं क्रियते । तत्रादौ 'वंदित्तु सव्वसिद्धे' इति नमस्कारगाथामादिं कृत्वा

श्रीपण्डित जयचन्द्रकृत आत्मख्याति-भाषाटीका

मङ्गलाचरण

दोहा—श्रीपरमातमकूं प्रणमि, शारद सुगुरु मनाय ।
समयसार शासन करूं, देशवचनमय भाय ॥ १ ॥
शब्दब्रह्मपरब्रह्मकैं, वाचकवाच्यनियोग ।
मंगलरूप प्रसिद्ध है, नमों धर्म धन भोग ॥ २ ॥

सूत्रपाठक्रमेण प्रथमस्थले स्वतन्त्रगाथाषट्कं भवति । तदनंतरं द्वितीयस्थले भेदाभेदरत्नत्रयप्रतिपादनरूपेण 'ववहारेणुवदिस्सदि' इत्यादि गाथाद्वयम् । अथ तृतीयस्थले निश्चयव्यवहारश्रुतकेवलिव्याख्यानमुख्यत्वेन 'जो हि सुदेण' इत्यादि गाथा-

नयनय लहइ सार शुभवार, पयपय दहइ मार दुखकार ।
लय लय गहइ पार भवधार, जय जय समयसार अविकार ।। ३ ।।

शब्द अर्थ अरु ज्ञान समयत्रय आगम गाये
मतसिद्धांत रु कालभेदत्रय नाम बताये ।
इनहिं आदि शुभ अर्थसमयवच के सुनिये बहु
अर्थ समयमें जीव नाम है सार सुनहु सहु ।।
तातें जु सार विनकर्ममल शुद्ध जीव शुध नय कहै ।
इस ग्रन्थ मांहि कथनी सबै समयसार बुधजन गहै ।। ४ ।।

नामादिक छह ग्रन्थमुख, तामें मंगलसार ।
विघन हरन नास्तिक हरन, शिष्टाचार उचार ।। ५ ।।

समयसार जिनराज है, स्यादवाद जिनवैन ।
मुद्रा जिन निरग्रंथता, नमूं करै सब चैन ।। ६ ।।

इस तरह मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा कर श्रीकुंदकुंद आचार्यकृत गाथाबद्ध समयप्राभृत ग्रंथकी जो संस्कृत टीका श्रीअमृतचंद्र आचार्यकृत आत्मख्याति नाम की है, उसकी देशभाषामय टीका प्रारम्भ करते हैं ।

अब संस्कृत टीकाकार श्रीमान् अमृतचंद्र आचार्य ग्रंथकी आदि में मंगल के लिये इष्टदेव को नमस्कार करते हैं—'नमः' इत्यादि । **अर्थ**—'समय' अर्थात् जीव नामा पदार्थ उसमें 'सार' जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म रहित शुद्ध आत्मा उसके लिए मेरा नमस्कार हो । कैसा है वह ? 'भावाय' अर्थात् शुद्ध सत्तास्वरूप वस्तु है । इस विशेषणपद से सर्वथा अभाववादी नास्तिकों का मत खंडित हुआ । फिर कैसा है ? 'चित्स्वभावाय'—जिसका स्वभाव चेतनागुणरूप है । इस विशेषणसे गुण गुणी का सर्वथा भेद मानने वाले नैयायिक का निषेध हुआ । फिर कैसा है ? 'स्वानुभूत्या चकासते'—अपनी ही अनुभवनरूप क्रिया से प्रकाश करता है—अपने को अपने द्वारा ही जानता है, प्रकट करता है । इस विशेषण से आत्मा को तथा ज्ञान को सर्वथा परोक्ष ही मानने वाले जैमिनीय-भट्ट-प्रभाकर भेद वाले मीमांसकों का व्यवच्छेद होता है । तथा ज्ञान अन्य ज्ञानकर जाना जाता है अपने को आप नहीं जानता ऐसा मानने वाले नैयायिकोंका प्रतिषेध होता है । फिर कैसा है ? 'सर्वभावांतरच्छिदे' अपने से अन्य सब जीव अजीव चराचर पदार्थों को उनके सब क्षेत्रकाल संबंधी सब विशेषणों के साथ एक ही समय जानने वाला है, तथा अपने चैतन्यस्वभाव से भिन्न रागद्वेषादि भावों को पृथक् करता है । इस विशेषण से सर्वज्ञ का अभाव मानने वाले मीमांसक आदि का निराकरण होता है । इन विशेषणों से अपने इष्टदेव समयसार को नमस्कार किया है ।

अनंतधर्मणस्तत्वं पश्यंती प्रत्यगात्मनः[1] ।
अनेकांतमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥ २ ॥

सूत्रद्वयं । अतःपरं चतुर्थस्थले भेदाभेदरत्नत्रयभावनार्थं तथैव भावनाफलप्रतिपादनार्थं च 'णाणम्हि भावणा' इत्यादि सूत्रद्वयं । तदनंतरं पंचमस्थले निश्चयव्यवहारनयद्वयव्याख्यानरूपेण 'ववहारोऽभूदत्थो' इत्यादिसूत्रद्वयं । एवं चतुर्दशगाथाभिः स्थलपंचकेन समयसारपीठिकाव्याख्याने समुदायपातनिका । तद्यथा—अथ प्रथमतस्तावद्गाथायाः पूर्वार्धेन मंगलार्थमिष्ट-देवतानमस्कारमुत्तरार्धेन तु समयसारग्रन्थव्याख्यानं करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति :—

भावार्थ—यहां मंगल के लिए शुद्ध आत्मा को नमस्कार किया है। प्रश्न—किसी विशेष इष्टदेव का नाम लेकर नमस्कार क्यों नहीं किया ? समाधान—यह अध्यात्मग्रन्थ है, इसलिए इष्टदेव का सामान्य स्वरूप सर्व कर्मरहित सर्वज्ञ वीतराग शुद्ध आत्मा ही है, इसलिए समयसार कहने से इष्टदेव आ गया। किसी एक नाम लेने में अन्यमतवादी मतपक्ष का विवाद करते हैं उन सबका निराकरण इन कहे हुए विशेषणों से बतलाया गया है। अन्यवादी अपने इष्टदेव का नाम लेते हैं, उसमें इष्ट शब्द का अर्थ नहीं घटता, बाधायें आती हैं, और स्याद्वादी जैनियों के सर्वज्ञ, वीतराग, शुद्ध आत्मा इष्ट है, उसके नाम कथं-चित् सभी सत्यार्थ होते हैं। इष्टदेव को परमात्मा कहो, परमज्योति कहो, परमेश्वर, शिव, निरंजन, निष्कलंक, अक्षय, अव्यय, शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी, अनुपम, अच्छेद्य, अभेद्य, परमपुरुष, निराबाध, सिद्ध, सत्यात्मा, चिदानन्द, सर्वज्ञ, वीतराग, अर्हत्, जिन, आप्त, भगवान्, समयसार-इत्यादि सहस्रों नामों से कहो कुछ विरोध नहीं। परन्तु सर्वथा एकांतवादियों के यहां इन नामों में विरोध है। इसलिये इनका अर्थ यथार्थ समझना चाहिये।

प्रगटै निज अनुभव करै, सत्ता चेतन रूप।
सब ज्ञाता लखिकें नमों, समयसार सब भूप ॥ ॥ १ ॥

आगे सरस्वती को नमस्कार करते हैं—"अनंत" इत्यादि। **अर्थ**—जिसमें अनेक अंत-धर्म हैं, ऐसा जो ज्ञान तथा वचन उस रूप मूर्ति नित्य ही प्रकाशरूप हो। वह मूर्ति ऐसी है कि जिसमें अनंत धर्म हैं ऐसा और प्रत्यक्—परद्रव्यों से, परद्रव्य के गुणपर्यायों से भिन्न तथा परद्रव्य के निमित्त से हुए अपने विकारों से कथंचित् भिन्न एकाकार ऐसा जो आत्मा उसके तत्व को अर्थात् असाधारण सजातीय विजातीय द्रव्यों से विलक्षण निज स्वरूप को अवलोकन करती है।

भावार्थ—यहां सरस्वती की मूर्ति को आशीर्वचनरूप नमस्कार किया है। जो लोक में सरस्वती की मूर्ति प्रसिद्ध है, वह यथार्थ नहीं है, इसलिये उसका यथार्थ वर्णन किया है। जो सम्यग्ज्ञान है, वह सरस्वती की सत्यार्थ मूर्ति है। उसमें भी सम्पूर्ण ज्ञान तो केवलज्ञान है जिसमें सब पदार्थ प्रत्यक्ष प्रति-भासित होते हैं, वही अनंत धर्मोंसहित आत्म तत्व को प्रत्यक्ष देखता है। और उसी के अनुसार श्रुतज्ञान

१. 'प्रत्यगात्मन्' शब्द वेदान्त और उपनिषद् में भी प्रयुक्त हुआ है। इसका वाच्य परमात्मा या समयसार ही है जिसे टीकाकार ने आद्य श्लोक में प्रणाम किया है।

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावादविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥ ३ ॥

'**वंदित्तु**' इत्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । **वंदित्तु** निश्चयनयेन स्वस्मिन्नेवाराध्याराधकभावरूपेण निर्विकल्पसमाधिलक्षणेन भावनमस्कारेण, व्यवहारेण तु वचनात्मकद्रव्यनमस्कारेण वंदित्वा । कान् । **सव्वसिद्धे** स्वात्मोपलब्धिसिद्धिलक्षणसर्वसिद्धान् । किंविशिष्टान् । **पत्ते** प्राप्तान् । कां ? **गदिं** सिद्धगतिं सिद्धपरिणतिं । कथंभूतां । **धुवं** टंको-

---

है, वह परोक्ष देखता है इसलिये यह भी उसी की मूर्ति है। तथा द्रव्यश्रुत वचनरूप है सो यह भी उसी की मूर्ति है क्योंकि वचनों द्वारा अनेक धर्म वाले आत्मा को यह बतलाती है। इस तरह सब पदार्थों के तत्व को जताने वाली ज्ञान रूप तथा वचनरूप अनेकांतमयी सरस्वती की मूर्ति है। इसी कारण सरस्वती के नाम 'वाणी, भारती, शारदा, वाग्देवी, आदि बहुत से कहे जाते हैं। यह अनंत धर्मों को स्यात्पद से एक धर्मी में अविरोध रूप साधती है इसलिये सत्यार्थ है। कितने ही अन्यवादी सरस्वती की मूर्ति को अन्यथा मानते हैं वह पदार्थ को सत्यार्थ कहने वाली नहीं है। **प्रश्न**—आत्मा का जो अनंतधर्मा विशेषण दिया है, उसमें अनंत धर्म कौन-कौन हैं ? उसका **उत्तर**—वस्तु में सत्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशवत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तिमत्त्व, अमूर्तिमत्त्व इत्यादि धर्म तो गुण हैं और उन गुणों का तीनों कालों में समय समयवर्ती परिणमन होना पर्याय हैं, वे अनंत हैं। तथा एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व अनित्यत्व, भिन्नत्व, अभिन्नत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व, आदि अनेक धर्म हैं, वे सामान्यरूप तो वचनगोचर हैं और विशेष रूप वचन के अविषय हैं, ऐसे वे अनंत हैं सो ज्ञानगम्य हैं। ऐसा होने पर आत्मा भी वस्तु है, उसमें भी अपने धर्म अनंत हैं। उसमें से चेतनत्व असाधारण है, यह दूसरे अचेतनद्रव्य में नहीं है। और सजातीय जीवद्रव्य अनंत हैं, उनमें भी चेतनत्व है तो भी निजस्वरूप से जुदा जुदा कहा है। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य के प्रदेश भिन्न भिन्न हैं इसलिए किसी का प्रदेश किसी में नहीं मिलता। यह चेतनत्व अपने अनंतधर्मों में व्यापक है इस कारण इसी को आत्मा का तत्व कहा है। उसको यह सरस्वती की मूर्ति देखती है और दिखाती है। इसलिये इस सरस्वती को आशीर्वाद रूप वचन कहा है—जो सदा प्रकाशरूप रहे। इसी से सब प्राणियों का कल्याण होता है, ऐसा जानना ॥ २ ॥ आगे टीकाकार इस ग्रंथ के व्याख्यान करने के फल को चाहते हुए प्रतिज्ञा करते हैं—'**पर**' इत्यादि।

अर्थ—श्रीमान् अमृतचंद्र आचार्य कहते हैं कि इस समयसार (शुद्धात्मा तथा ग्रंथ) की व्याख्या से ही मेरी अनुभूति—अनुभवनरूप परिणति की परम विशुद्धि-समस्त रागादि विभावपरिणतिरहित उत्कृष्ट निर्मलता हो जाय। यह मेरी परिणति ऐसी है कि परपरिणति का कारण जो मोहनीय कर्म, उसका अनुभाव—उदयरूप विपाक, उससे जो अनुभाव्य—रागादिक परिणामों की व्याप्ति है उससे निरंतर कल्माषित—मैली है। और मैं द्रव्यदृष्टि से शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि शुद्धद्रव्यार्थिकनयकी दृष्टि से तो मैं शुद्धचैतन्यमात्र मूर्ति हूँ। परन्तु मेरी परिणति मोहकर्म के उदय का निमित्त पाकर मैली है—रागादिरूप हो रही है। इसलिए इस आत्मा

अथ सूत्रावतारः—

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥ १ ॥

वंदित्वा सर्वसिद्धान् ध्रुवामचलामनौपम्यां गतिं प्राप्तान् ।
वक्ष्यामि समयप्राभृतमिदं अहो श्रुतकेवलिभणितम् ॥ १ ॥

'वंदित्तु' इत्यादि । अथ प्रथमत एव स्वभावभावभूततया ध्रुवत्वमवलंबमानामनादिभावांतरपरपरिवृत्तिविश्रांतिवशेनाचलत्वमुपगतामखिलोपमानविलक्षणाद्भुतमाहात्म्यत्वेनाविद्यमानौपम्यामपवर्गसंज्ञिकां गतिमापन्नान् भगवतः सर्वसिद्धान् सिद्धत्वेन साध्यस्यात्मनः प्रतिच्छंदस्थानीयान् भावद्रव्यस्तवाभ्यां स्वात्मनि परात्मनि च [1]निधायानादिनिधनश्रुतप्रकाशितत्वेन निखिलार्थसार्थसाक्षात्कारिकेवलिप्रणीतत्वेन श्रुतकेवलिभिः स्वयमनुभवद्भिरभिहितत्वेन च प्रमाणतामुपगतस्यास्य

टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेन ध्रुवामविनश्वरां । अमलं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितत्वेन शुद्धस्वभावसहितत्वेन च निर्मलां । अथवा अचलं इति पाठांतरे द्रव्यक्षेत्रादिपंचप्रकारसंसारभ्रमणरहितत्वेन स्वस्वरूपनिश्चलत्वेन च चलनरहितामचलां । अणोवमं निखिलोपमानरहितत्वेन निरुपमामद्भुतस्वस्वभावसहितत्वेन अनुपमां । एवं पूर्वार्धेन नमस्कारं कृत्वापरार्धेन संबंधाभिधेयप्रयोजनसूचनार्थं प्रतिज्ञां करोति । वोच्छामि वक्ष्यामि । किं समयपाहुडं समयप्राभृतं सम्यग् अयः बोधो यस्य भवति स समय आत्मा, अथवा समं एकीभावेनायनं गमनं समयः । प्राभृतं सारं सारः शुद्धावस्था समयस्यात्मनः प्राभृतं समयप्राभृतं, अथवा समय एव प्राभृतं समयप्राभृतं । इणं इदं प्रत्यक्षीभूतं ओ अहो भव्याः । कथंभूतं । सुदकेवली-

---

के शुद्ध कथन रूप जो यह समयसार ग्रंथ है उसकी टीका करने का फल यह चाहता हूं कि मेरी परिणति रागादिक से रहित होकर शुद्ध हो, मुझे शुद्धस्वरूप की प्राप्ति हो, दूसरा कुछ भी ख्याति, लाभ, पूजादिक नहीं चाहता । इस प्रकार आचार्य ने टीका करने की प्रतिज्ञा द्वारा इस फल की प्रार्थना की है ।

आगे मूलगाथाकार श्रीकुंदकुंदाचार्य ग्रंथ की आदि में मंगलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं;—

आचार्य कहते हैं, मैं **[ध्रुवां]** ध्रुव **[अचलां]** अचल और **[अनौपम्यां]** अनुपम **[गतिं]** गति को **[प्राप्तान्]** प्राप्त हुए ऐसे **[सर्वसिद्धान्]** सभी सिद्धों को **[वंदित्वा]** नमस्कार कर, **[अहो]** हे भव्यो, **[श्रुतकेवलिभणितं]** श्रुतकेवलियों द्वारा कहे हुए **[इदं]** इस **[समयप्राभृतं]** समयसार नामक प्राभृत को **[वक्ष्यामि]** कहूंगा ॥

[टीका]—यहाँ अथ शब्द मंगल के अर्थ को सूचित करता है । और प्रथमत एव ग्रंथ की आदि में सब सिद्धों को भाव-द्रव्यस्तुतिकर–अपने आत्मा में और परके आत्मा में स्थापन कर इस समय नामक प्राभृतका (हम) भाववचन और द्रव्यवचन द्वारा परिभाषण प्रारंभ करते हैं । इस प्रकार श्रीकुंदकुंदा-

---

१. 'निधाय' यह भी पाठ है ।

समयप्रकाशकस्य प्राभृताह्वयस्यार्हत्प्रवचनावयवस्य स्वपरयोरनादिमोहप्रहाणाय भाववाचा द्रव्य-वाचा च परिभाषणमुपक्रम्यते ॥ १॥

भणिदं प्राकृतलक्षणबलात्केवलीशब्दवीर्घत्वं । श्रुते परमागमे केवलिभिः सर्वज्ञैर्भणितं श्रुतकेवलिभणितं । अथवा श्रुतकेव-लिभणितं गणधरदेवकथितमिति । संबंधाभिधेयप्रयोजनानि कथ्यंते—व्याख्यानं वृत्तिग्रंथः व्याख्येयं तत्प्रतिपादकसूत्रमिति तयोस्संबंधो व्याख्यानव्याख्येयसंबंधः । सूत्रमभिधानं सूत्रार्थोऽभिधेयः तयोः संबंधोऽभिधानाभिधेयसंबंधः । निर्विकारस्व-संवेदनज्ञानेन शुद्धात्मपरिज्ञानं प्राप्तिर्वा प्रयोजनमित्यभिप्रायः ॥ १ ॥ अथ गाथापूर्वार्द्धेन स्वसमयमपरार्धेन परसमयं च कथयामीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्य सूत्रमिदं निरूपयति :—

चार्य कहते हैं। वे सिद्धभगवान् सिद्धनाम से साध्य जो आत्मा उसके प्रतिच्छन्द के स्थान—आदर्श हैं। जिनका स्वरूप संसारी भव्यजीव चिंतवनकर, उनके समान अपने स्वरूप का ध्यान कर उन्हीं के समान हो जाते हैं। और चारों गतियों से विलक्षण जो पंचमगति मोक्ष, उसे पा लेते हैं। वह पंचमगति स्वभाव से उत्पन्न हुई है इसलिये ध्रुवरूप का अवलम्बन करती है। इस विशेषण से चारों गतियां परनिमित्त से होती हैं इसलिये ध्रुव नहीं हैं, विनश्वर हैं इसलिये चारों गतियों से पृथक्पना सिद्ध हुआ। वह गति अनादिकाल से अन्य भाव के निमित्त से हुए पर में भ्रमण की विश्रांति (अभाव) के वश से अचल दशा को प्राप्त हुई है। इस विशेषण से चारों गतियों में परनिमित्त से भ्रमण होने का व्यवच्छेद हुआ। जगत में समस्त जो उपमायोग्य पदार्थ हैं, उनसे विलक्षण है—अद्भुत माहात्म्य के कारण जो किसी की उपमा नहीं पा सकती। इस विशेषण से चारों गतियों में परस्पर कथंचित् समानता भी पायी जाती है इसका निराकरण हुआ। वह अपवर्ग रूप है। धर्म अर्थ और काम इस त्रिवर्ग में न होने से वह मोक्ष-गति अपवर्ग कही गई है। ऐसी पंचमगति को सिद्ध भगवान् प्राप्त हुए हैं। कैसा है समयप्राभृत ? अनादिनिधन परमागम शब्द-ब्रह्म द्वारा प्रकाशित होने से तथा सब पदार्थों के समूह के साक्षात् करने वाले केवली भगवान् सर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत होने से और केवलियों के निकटवर्ती साक्षात् सुनने वाले और स्वयं अनुभव करने वाले ऐसे श्रुतकेवली गणधर देवों के द्वारा कहे जाने से जो प्रमाणता को प्राप्त हुआ है, वह अन्यवादियों के आगम की तरह छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) का ही कल्पना किया हुआ नहीं है, जिससे कि अप्रमाण हो। तथा समय अर्थात् सर्व पदार्थ अथवा जीव पदार्थ का प्रकाशक है। और अरहंत भगवान् के परमागम का अवयव (अंश) है। ऐसे समयप्राभृत का अनादिकाल से उत्पन्न हुए अपने और पर के मोह—अज्ञान मिथ्यात्व के नाश होने के लिये मैं परिभाषण (व्याख्यान) करूंगा ॥

भावार्थ—यहांपर गाथासूत्र में आचार्य ने "वक्ष्यामि" क्रिया कही है, उसका अर्थ टीकाकार ने "वच् परिभाषणे" धातु से परिभाषण लेकर किया है। उसका आशय ऐसा सूचित होता है कि जो चौदहपूर्व में ज्ञानप्रवाद नामा छठे पूर्व के बारह 'वस्तु' अधिकार हैं, उनमें भी एक एक के बीस-बीस प्राभृत अधिकार हैं, उनमें दसवें वस्तु में समय नामा जो प्राभृत है, उसका परिभाषण आचार्य करते हैं। सूत्रों की दश जातियां कहीं गई हैं, उनमें एक परिभाषा जाति भी है। जो अधिकार को यथास्थान सूचना करे, वह परिभाषा कही जाती है। इस समय नामा प्राभृत के मूलसूत्रों का ज्ञान तो पहले बड़े

तत्र तावत्समय एवाभिधीयते :—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण ।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥ २ ॥

जीवः चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः तं हि स्वसमयं जानीहि ।
पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम् ॥ २ ॥

योऽयं नित्यमेव परिणामात्मनि स्वभावेऽवतिष्ठमानत्वात् उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यानुभूतिलक्षणया सत्तयानुस्यूतश्चैतन्यस्वरूपत्वान्नित्योदितविशददृशिज्ञप्तिज्योतिरनंतधर्माधिरूढैकधर्मित्वादुद्योतमानद्रव्यत्वः क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावस्वभावत्वादुत्संगितगुणपर्यायः स्वपराकारावभासनसमर्थत्वादु-

---

'जीवो चरित्त' इत्यादि जीवो शुद्धनिश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावनिश्चयप्राणेन तथैवाशुद्धनिश्चयेन क्षायोपशमिकाशुद्धभावप्राणैरसद्भूतव्यवहारेण यथासंभवद्रव्यप्राणैश्च जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः। चरित्तदंसणणाणट्ठिद तं हिं ससमयं जाण स च जीवश्चारित्रदर्शनज्ञानस्थितो यदा भवति तदा काले तमेव जीवं हि

आचार्यों को था और उसके अर्थ का ज्ञान आचार्यों की परिपाटी के अनुसार श्रीकुंदकुंदाचार्य को था। इसलिये उन्होंने ये समयप्राभृत के परिभाषासूत्र रचे हैं। वे उस प्राभृत के अर्थ को ही सूचित करते हैं। ऐसा जानना। मंगल के लिये सिद्धों को जो नमस्कार किया और उनका 'सर्व' ऐसा विशेषण दिया, इससे वे सिद्ध अनंत हैं ऐसा अभिप्राय दिखलाया और 'शुद्ध आत्मा एक ही है' ऐसा कहने वाले अन्यमतियों का व्यवच्छेद किया। संसारी के शुद्ध आत्मा साध्य है, वह शुद्धात्मा साक्षात् सिद्ध हैं, उनको नमस्कार करना उचित ही है। किसी इष्ट देव का नाम नहीं कहा उसके विषय में जैसा टीकाकार के मंगलाचरण में कहा गया है वैसा यहां भी जानना। श्रुतकेवली शब्द के अर्थ में श्रुत तो अनादिनिधन प्रवाहरूप आगम है और केवली शब्द से सर्वज्ञ तथा परमागम के जानने वाले श्रुतकेवली हैं, उनसे समयप्राभृत की उत्पत्ति कही गई है। इससे ग्रंथ की प्रामाणिकता दिखलाई, और अपनी बुद्धि से कल्पित होने का निषेध किया गया है। अन्यवादी छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) अपनी बुद्धि से पदार्थ का स्वरूप अन्य प्रकार से कहकर विवाद करते हैं, उनकी असत्यार्थता बतलाई है। इस ग्रंथ के अभिधेय, संबंध और प्रयोजन तो प्रकट ही हैं। अभिधेय तो शुद्ध आत्मा का स्वरूप है, उसके वाचक इस ग्रंथ में शब्द हैं, उनका वाच्यवाचक रूप संबंध है और शुद्धात्मा के स्वरूप की प्राप्ति होना प्रयोजन है। इस तरह प्रथम गाथासूत्र का तात्पर्यार्थ जानना ॥ १ ॥

प्रथमगाथा में समय के प्राभृत कहने की प्रतिज्ञा की थी वहां यह जिज्ञासा हुई कि समय क्या है इसलिये प्रथम ही समय का स्वरूप कहते हैं:—हे भव्य, जो [जीवः] जीव [चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः] दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित हो रहा है [तं] उसे [हि] निश्चय से [स्वसमयं] स्वसमय [जानीहि] जानो। [च] और जो जीव [पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं] पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित है [तं] उसे [परसमयं] पर समय [जानीहि] जानो।

पारत्वैश्वरूप्यैकरूपः प्रतिविशिष्टावगाहगतिस्थितिवर्तनानिमित्तत्वरूपित्वाभावादसाधारणचिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाशधर्माधर्मकालपुद्गलेभ्यो भिन्नोऽत्यंतमनंतद्रव्यसंकरेऽपि स्वरूपादप्रच्यवनात् टंकोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः स समयः, समयत एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति चेति निरुक्तेः। अयं खलु यदा सकलभावस्वभावभासनसमर्थविद्यासमुत्पादकविवेकज्योतिरुद्गमनात्समस्तपरद्रव्यात्प्रच्युत्य दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकत्वगतत्वेन वर्तते तदा दर्शनज्ञानचारित्रस्थितत्वात्स्वमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च स्वसमय इति। यदा त्वनाद्यविद्याकंदलीमूलकंदायमानमोहानुवृत्तितंत्रतया दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपादात्मतत्वात्प्रच्युत्य परद्रव्यप्रत्ययमोहरागद्वेषादिभावैकत्वगतत्वेन वर्तते तदा पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वात्परमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च परसमय इति प्रतीयते। एवं किल समयस्य द्वैविध्यमुद्धावति ॥ २ ॥

स्फुटं स्वसमयं जानीहि। तथाहि—विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे निजपरमात्मनि यद्रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं तत्रैव रागादिरहितस्वसंवेदनं ज्ञानं तथैव निश्चलानुभूतिरूपं वीतरागचारित्रमित्युक्तलक्षणेन निश्चयरत्नत्रयेण परिणतजीवपदार्थं हे शिष्य स्वसमयं जानीहि। **पुग्गलकम्मुवदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं** पुद्गलकर्मोपदेशस्थितं च तमेव जानीहि परसमयं। तद्यथा—पुद्गलकमर्दोयेन जनिता ये नारकाद्युपदेशा व्यपदेशाः संज्ञाः पूर्वोक्तनिश्चयरत्नत्रयाभावात्तत्र यदा स्थितो भवत्ययं

टीका—जो यह जीव नामक पदार्थ है वह ही समय है। क्योंकि समय शब्द का ऐसा अर्थ है—'सम्' तो उपसर्ग और 'अय गतौ' धातु है उसका गमन अर्थ भी है तथा ज्ञान अर्थ भी है, 'सम्' का अर्थ एक साथ है। इसलिए एक काल में ही जानना और परिणमन करना—ये दो क्रियायें जिसमें हों वह समय है। यह जीव पदार्थ एक काल में ही परिणमन करता है और जानता भी है इसलिए यही समय है। इस तरह दो क्रियायें एक काल में होती हैं। वह समय नामक जीव नित्य ही परिणमन स्वभाव में रहने से उत्पाद व्यय ध्रौव्य की एकतारूप-अनुभूति लक्षण वाली सत्ता से युक्त है। इस विशेषण से जीव की सत्ता नहीं मानने वाले नास्तिक वादियों का मत खंडित हुआ। तथा पुरुष को (जीव को) अपरिणामी मानने वाले सांख्यों का व्यवच्छेद उसे परिणमन स्वभावी कहने से हुआ। नैयायिक और वैशेषिक सत्ता को नित्य मानते है तथा बौद्ध सत्ता को क्षणिक मानते हैं, उन दोनों का निराकरण उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप कहने से हुआ; वह चैतन्यस्वरूपी होने से नित्य उद्योत रूप निर्मल दर्शनज्ञान-ज्योतिस्वरूप है—चैतन्य का परिणमन दर्शन-ज्ञानस्वरूप है। इस विशेषण से चैतन्य को ज्ञानाकारस्वरूप नहीं मानने वाले सांख्यों का निराकरण हुआ; अनंतधर्मों में रहने वाला जो एक धर्मी उससे उसका द्रव्यत्व प्रकट हुआ है, क्योंकि अनंतधर्मों की एकता ही द्रव्यत्व है। इस विशेषण से वस्तु को धर्मों से रहित मानने वाले बौद्धों का निषेध हुआ; क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवृत्त हुए जो अनेक भाव उस स्वभाव युक्त होने से उसने गुणपर्यायों को अंगीकार किया है। पर्याय तो क्रमवर्ती हैं और गुण सहवर्ती होते हैं और सहवर्ती को अक्रमवर्ती भी कहते हैं। इस विशेषणसे पुरुष को निर्गुण मानने वाले सांख्यादिकों का निरास हुआ। अपने और अन्य द्रव्यों के आकार के प्रकाशन करने में समर्थ होने से उसने समस्तरूप के झलकाने वाली एकरूपता पा ली है अर्थात् जिसमें अनेक वस्तुओं का आकार झल-

जीवस्तदा तं जीवं परसमयं जानीहीति स्वसमयपरसमयलक्षणं ज्ञातव्यं ।। २ ।। अथ स्वगुणैकत्वनिश्चयगतशुद्धात्मैवोपादेयः कर्मबंधेन सहैकत्वगतो हेय इति, अथवा स्वसमय एव शुद्धात्मनः स्वरूपं न पुनः परसमय इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा, अथवास्य सूत्रस्यानंतरं सूत्रमिदमुचितं भवतीति निश्चित्य विवक्षितसूत्रं प्रतिपादयति;—इति पातनिकालक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यं ।

कता है, ऐसे एक ज्ञान के आकाररूप है । इस विशेषण से ज्ञान अपने को ही जानता है, पर को नहीं जानता, ऐसे एकाकार मानने वाले का तथा अपने को नहीं जानता, पर को जानता है, ऐसे अनेकाकार ही मानने वाले का व्यवच्छेद हुआ; पृथक् पृथक् जो अवगाहन, गति, स्थिति और वर्त्तना की हेतुता तथा रूपित्वरूप जो द्रव्यों के गुण उनके अभाव से और असाधारण चैतन्यरूप स्वभाव के सद्भाव से—आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल—इन पांच द्रव्यों से भिन्न है, इस विशेषण से एक ब्रह्मवस्तु को ही माननेवाले का व्यवच्छेद हुआ । वह अनंत अन्य द्रव्यों से अत्यंत एकक्षेत्रावगाहरूप होनेपर भी अपने स्वरूप से न छूटने से टंकोत्कीर्ण चैतन्य-स्वभावरूप है, इस विशेषण से वस्तु स्वभाव का नियम बतलाया है । ऐसा जीव नामक पदार्थ **समय है** । जब यह सब पदार्थों के स्वभाव के प्रकाशने में समर्थ ऐसे केवल ज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञान ज्योति के उदय होने से सब पर द्रव्यों से पृथक् होकर दर्शन-ज्ञान में निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्त्व से एकत्वरूप होकर प्रवृत्ति करता है, तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थिर होने से अपने स्वरूप को एकत्वरूप से एक काल में जानता तथा परिणमन करता हुआ **स्वसमय** कहलाता है । और जब यह अनादि अविद्या रूप मूल वाले कंद के समान मोह के उदय के अनुसार प्रवृत्ति की आधीनता से दर्शन-ज्ञान स्वभाव में निश्चित वृत्तिरूप आत्म-स्वरूप से छूट परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोह, राग द्वेषादि भावों में एकरूप हो प्रवृत्त होता है, तब पुद्गल के कार्मण प्रदेशों में स्थित होने से परद्रव्य को अपने से अभिन्न, एक काल में जानता है तथा रागादि रूप परिणमन करता है, अतः **परसमय** ऐसी प्रतीति होती है । इस तरह इस जीवनामक पदार्थ के स्वसमय और परसमय ऐसे दो भेद प्रकट होते हैं ।

भावार्थ—जीवनामक वस्तु को पदार्थ कहा है । वह इस प्रकार है कि पद तो 'जीव' ऐसे अक्षर समूह रूप है और इस पद से जो द्रव्यपर्याय रूप अनेकांत स्वरूप निश्चित किया जाय, वह पदार्थ है । ऐसा पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सत्ता स्वरूप है । दर्शनज्ञानमय चेतना स्वरूप है, अनंत धर्म स्वरूप द्रव्य है (और जो द्रव्य है, वह वस्तु है, गुण-पर्यायवान् है) वह स्वपर प्रकाशक ज्ञान अनेकाकाररूप एक है, आकाशादिक से भिन्न असाधारण चैतन्यगुण स्वरूप है और यद्यपि वह अन्य द्रव्यों से एक क्षेत्रावगाह रूप स्थित है तो भी अपने स्वरूप को नही छोड़ता । ऐसा जीवनामक पदार्थ समय है । जब यह अपने स्वभाव में स्थित होता है, तब तो स्वसमय है और जब पौद्गलिक कर्मप्रदेशों में स्थित होता हुआ पर-स्वभाव—रागद्वेष-मोह-स्वरूप परिणमन करता है तब परसमय है । ऐसे इस जीव के द्विविधता आती है ।। २ ।।

आगे आचार्य कहते हैं कि समय की द्विविधता ठीक नहीं है क्योंकि वह बाधा सहित है वास्तव में समय का एकत्व होना ही प्रयोजनीय है । समय के एकत्व से ही यह जीव शोभा पा सकता है

अथैतद् बाध्यते;—

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुंदरो लोए ।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥ ३ ॥

एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र सुंदरो लोके ।
बंधकथैकत्वे तेन विसंवादिनी भवति ॥ ३ ॥

समयशब्देनात्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते । समयत एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति निरुक्तेः । ततः सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावंतः केचनाप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यांतर्मग्नानंतस्वधर्मचक्रचुंबिनोपि परस्परमचुम्बिनोऽत्यंतमत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादपतंतः पररूपेणापरिणमनादविनष्टानंतव्यक्तित्वाट्टंकोत्कीर्णा इव तिष्ठंतः समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णन्तो नियतमेकत्वनिश्चयगतत्वेनैव सौंदर्यमापद्यंते । प्रकारान्तरेण सर्वसंकरादिदोषापत्तिः । एवमेकत्वे सर्वार्थानां प्रतिष्ठिते सति जीवाह्वयस्य समयस्य बंधकथाया एव विसंवादापत्तिः । कुतस्तन्मूलपुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वमूलपरसमयोत्पादितमेतस्य द्वैविध्यं । अतः समयस्यैकत्वमेवावतिष्ठते ॥ ३ ॥

एयत्तणिच्छयगदो स्वकीयशुद्धगुणपर्यायपरिणतः, अभेदरत्नत्रयपरिणतो वा एकत्वनिश्चयगतः **समओ** समयशब्देनात्मा, कस्माद्धेतोः । सम्यगयते गच्छति परिणमति । कान् ? स्वकीयगुणपर्यायानिति व्युत्पत्तेः । **सव्वत्थसुंदरो** सर्वत्र समीचीनः । क्व ? **लोगे** लोके अथवा सर्वत्रैकेंद्रियाद्यवस्थासु शुद्धनिश्चयनयेन सुंदर उपादेय इति । **बंधकहा** कर्मबंधजनितगुणस्थानादिपर्यायाः **एयत्ते** एकत्वे तन्मयत्वे या बंधकथा प्रवर्तते **तेण** तेन पूर्वोक्तजीवपदार्थेन सह सा

[एकत्वनिश्चयगतः] एकत्व निश्चय में प्राप्त जो [समयः] समय है वह [सर्वत्र लोके] सब लोक में [सुंदरः] सुंदर है [तेन] इसलिए [एकत्वे] एकत्व में [बंधकथा] दूसरे के साथ बंध की कथा [विसंवादिनी] निंदा कराने वाली [भवति] है ।

टीका—यहां समय शब्द से सामान्यतया सभी पदार्थ कहे जाते हैं क्योंकि समय शब्द का अक्षरार्थ ऐसा है कि 'समयते' अर्थात् एकीभाव से अपने गुणपर्यायों को प्राप्त हुआ जो परिणमन करे, वह समय है । इसलिए सब ही धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, और जीवद्रव्य स्वरूप लोक में जो कुछ पदार्थ हैं, वे सभी यद्यपि अपने द्रव्य में अंतर्मग्न हुए अपने अनंत धर्मों का स्पर्श करते हैं तो भी परस्पर में एक दूसरे का स्पर्श नहीं करते । और अत्यंत निकट एक क्षेत्रावगाह रूप स्थित हैं तो भी सदा काल निश्चय से अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते, इसीलिए विरुद्धकार्य–स्वभाव से विपरीत कार्य और अविरुद्ध कार्य–स्वभाव रूप कार्य इन दोनों हेतुओं से सदा सब परस्पर का उपकार करते हैं । परन्तु निश्चय से एकत्व के निश्चय को प्राप्त होने से ही सुंदरता पाते हैं । क्योंकि जो अन्य प्रकार हो जायें तो संकर व्यतिकर आदि सभी दोष उसमें आजावें ।

तथैतदसुलभत्वेन विभाव्यते:—

सुदपरिचिदाणुभूया सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा ।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥ ४ ॥

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबंधकथा ।
एकत्वस्योपलंभः केवलं न सुलभो विभक्तस्य ॥ ४ ॥

इह सकलस्यापि जीवलोकस्य संसारचक्रक्रोडाधिरोपितस्याश्रांतमनंतद्रव्यक्षेत्रकालभवभावपरावर्तैः समुपक्रांतभ्रांतेरेकच्छत्रीकृतविश्वतया महता मोहग्रहेण गोरिव वाह्यमानस्य प्रसभोज्जृंभिततृष्णातंकत्वेन व्यक्तांतर्माधिस्योत्तम्योत्तम्य[1] मृगतृष्णायमानं विषयग्राममुपरुन्धानस्य परस्परमाचार्यत्वमाचरतोऽनंतशः श्रुतपूर्वानंतशः परिचितपूर्वानंतशोऽनुभूतपूर्वा चैकत्वविरुद्धत्वेनात्यंतविसंवादिन्यपि

विसंवादिणी विसंवादी कोऽर्थ: ? विसंवादिनीकथा । प्राकृतलक्षणबलात् पुंल्लिगे स्त्रीलिंगनिर्देशः । विसंवादिनी असत्या **होदि** भवति । शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धजीवस्वरूपं न भवतीत्यर्थः । ततः स्थितं स्वसमय एवात्मनः स्वरूपमिति ॥ ३ ॥ अथैकत्वपरिणतं शुद्धात्मस्वरूपं सुलभं न भवतीत्याख्याति—"सुदपरिचिदाणुभूदा" इत्यादि ।

सुदा श्रुता अनंतशो भवति । **परिचिदा** परिचिता सा पूर्वमनंतशो भवति । **अणुभूदा** अनुभूतानंतशो भवति । कस्य । **सव्वस्सवि** सर्वस्यापि जीवलोकस्य । कासौ ? **कामभोगबंधकहा** कामरूपभोगाः कामभोगाः अथवा कामशब्देन स्पर्शनरसनेंद्रियद्वयं भोगशब्देन घ्राणचक्षुःश्रोत्रत्रयं तेषां कामभोगानां बंधः संबंधस्तस्य कथा । अथवा बंधशब्देन

इस तरह सब पदार्थों का भिन्न भिन्न एकत्व सिद्ध होने पर जीव नामक समय को बंध की कथा से विसंवाद की आपत्ति होती है । क्योंकि बंधकथा का मूलकारण जो पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थितरूप परसमयता से पैदा हुई, जीव में परसमय, स्वसमयरूप द्विविधता आती है । अतः समय का एकत्व होना ही सिद्ध होता है ।

भावार्थ—निश्चय से सब पदार्थ अपने अपने स्वभाव में ठहरते हुए शोभा पाते हैं । परन्तु जीव नामक पदार्थ की अनादिकाल से पुद्गल कर्म के साथ बंधअवस्था है, उससे इस जीव में विसंवाद खड़ा होता है, इसलिए शोभा नहीं पाता । अतः एकत्व होना ही अच्छा है, उसी से यह जीव शोभा पा सकता है ।३।

आगे कहते हैं कि इस एकत्व को प्राप्त कर लेना ही अच्छा है:—**[सर्वस्य अपि]** सब ही लोकों के **[कामभोगबंधकथा]** काम-भोग-विषयक बंधकी कथा तो **[श्रुतपरिचितानुभूता]** सुननेमें आगई है, परिचय में आ गई है और अनुभव में भी आयी हुई है इसलिए सुलभ है । **[नवरि]** किन्तु केवल **[विभक्तस्य]** भिन्न आत्मा का **[एकत्वस्य उपलंभः]** एकत्व कभी न सुना, न परिचय में आया और न अनुभव में आया इसलिए **[न सुलभः]** एक वही सुलभ नहीं है ।

[1] समस्त प्राचीन लिखित प्रतियों में 'व्यक्तान्तर्माधस्य' ऐसा पाठ है; किन्तु समस्तमुद्रित प्रतियोंमें 'व्यक्तान्तराधेः' यह पाठ है । दोनों के अर्थ समान हैं ।

कामभोगानुबद्धा कथा । इदं तु नित्यव्यक्ततयांतःप्रकाशमानमपि कषायचक्रेण सहैकीक्रियमाणत्वादत्यंततिरोभूतं सत्स्वस्यानात्मज्ञतया परेषामात्मज्ञानामनुपासनाच्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्वं न कदाचिदपि परिचितपूर्वं न कदाचिदप्यनुभूतपूर्वं च निर्मलविवेकालोकविविक्तं केवलमेकत्वं । अत एकत्वस्य न सुलभत्वम् ।। ४ ।।

प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधास्तत्फलं च नरनारकादिरूपं भण्यते । कामभोगबन्धाना कथा कामभोगबंधकथा, यतः पूर्वोक्तप्रकारेण श्रुतपरिचितानुभूता भवति ततो न दुर्लभा किन्तु सुलभैव । **एयत्तस्स** एकत्वस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैक्यपरिणतिरूपनिर्विकल्पसमाधिबलेन स्वसंवेद्यशुद्धात्मस्वरूपस्य तस्यैकत्वस्य **उवलंभो** उपलंभः प्राप्तिर्लाभः **णवरि** केवलं अथवा नवरि किंतु **ण सुलभो** नैव सुलभः । कथंभूतस्यैकत्वस्य । **विभत्तस्स** विभक्तस्य रागादिरहितस्य । कथं न सुलभ इति चेत्, श्रुतपरिचितानुभूतत्वाभावादिति ।। ४ ।। अथ यस्मादेकत्वं सुलभं न भवति तस्मात्तदेव कथ्यतेः—

तं तत्पूर्वोक्तं **एयत्तविभत्तं** एकत्वविभक्तं अभेदरत्नत्रयैकपरिणतं मिथ्यात्वरागादिरहितं परमात्मस्वरूप-

---

टीका—यद्यपि इस समस्त जीवलोक को कामभोग विषयक कथा एकत्व के विरुद्ध होने से अत्यंत विसंवाद करानेवाली है—आत्माका अत्यंत बुरा करनेवाली है, तो भी वह अनंतवार पहले सुनने में आई है, अनंतवार परिचय में आई है और अनंतवार अनुभव में भी आचुकी है । यह जीव लोक संसाररूपी चक्र के मध्य में स्थित है, जो निरंतर अनंतवार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप परावर्तन करने से भ्रमण करता रहता है, समस्त लोक को एकछत्र राज्य से वश करने वाले बलवान् मोह रूपी पिशाच से बैल की भांति जोता जाता है, वेग से बढ़ी हुई तृष्णा रूपी रोग के संताप से जिसके अंतरंग में क्षोभ और पीडा हुई है, मृग की तृष्णाके समान श्रान्त-संतप्त होकर इंद्रियों के विषयों की ओर दौड़ता है । इतना ही नही, आपस में आचार्यत्व भी करता है अर्थात् दूसरे को भी कह कर अंगीकार कराता है । इसलिए काम-भोग की कथा तो सबको सुख से प्राप्त है । तथा भिन्न आत्मा का जो एकत्व है, वह यद्यपि सदा प्रकटरूप से अंतरंग में प्रकाशमान है, तो भी वह कषायों के साथ एक रूप सरीखा हो रहा है, इसलिए उसका अत्यंत तिरोभाव होरहा है—आच्छादित है । इस कारण अपने में अनात्मज्ञता होने से कभी अपने को स्वयं भी नहीं जाना और दूसरे आत्मा के जानने वालों की संगति—सेवा भी नहीं की । इसलिए वह एकत्व की कथा न कभी सुनने में आई, न परिचय में आई और न कभी अनुभव मे ही आई । यद्यपि वह एकत्व निर्मलभेदज्ञान रूप प्रकाश के द्वारा प्रकट देखने में आता है, तो भी पूर्वोक्त कारणों से इस भिन्न आत्मा का एकत्व दुर्लभ है ।

भावार्थ—इस लोक में सभी जीव संसार रूप चक्र पर चढ़े पांच परावर्तन रूप भ्रमण करते हैं । वहां पर मोहकर्म के उदय रूप पिशाच से जोते जाते हैं, इसी कारण से विषयों की तृष्णा रूप दाह से पीड़ित होते हैं । उसमें भी उस दाह की शान्ति का उपाय इन्द्रियों के रूपादि विषयों को जान कर उनकी ओर दौड़ते हैं । और परस्पर में भी विषयों का ही उपदेश करते हैं । इसलिये काम (विषयों की इच्छा) तथा भोग (उनका भोगना) इन दोनों की कथा तो अनंतवार सुनी, परिचय और

अत एवैतदुपदर्श्यते :—

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं ॥ ५ ॥

तमेकत्वविभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन ।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलेयं छलं न गृहीतव्यम् ॥ ५ ॥

इह किल सकलोद्भासिस्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा समस्तविपक्षक्षोदक्षमातिनिस्तुषयुक्त्यवलंबनजन्मा निर्मलविज्ञानघनांतर्निमग्नपरापरगुरुप्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासनजन्मा अनवरतस्यंदिसुन्दरानंदमुद्रितामंदसंविदात्मकस्वसंवेदनजन्मा च यः कश्चनापि ममात्मनः स्वो विभवस्तेन समस्तेनाप्ययं तमेकत्वविभक्तमात्मानं दर्शयेहमिति बद्धव्यवसायोस्मि । किंतु यदि दर्शयेयं तदा स्वयमेव स्वानुभवप्रत्यक्षेण परीक्ष्य प्रमाणीकर्तव्यं । यदि तु स्खलेयं तदा तु न छलग्रहणजागरूकैर्भवितव्यम् ॥ ५ ॥

मित्यर्थः । **दाएहं** दर्शयेहं । केन **अप्पणो सविहवेण** आत्मनः स्वकीयमतिविभवेन आगमतर्कपरमगुरूपदेशस्वसंवेदनप्रत्यक्षेणेति । **जदि दाएज्ज** यदि दर्शयेयं तदा **पमाणं** स्वसंवेदनज्ञानेन परीक्ष्य प्रमाणीकर्तव्यं भवद्भिः । **चुक्किज्ज** यदि च्युतो भवामि **छलं ण घेत्तव्वं** तर्हि छलं न ग्राह्यं दुर्जनवदिति ॥ ५ ॥ अथ कोऽयं

अनुभव में आई, इस कारण सुलभ है । किन्तु सब परद्रव्यों से भिन्न चैतन्य चमत्कार स्वरूप अपने आत्मा की कथा का न तो स्वयमेव कभी ज्ञान हुआ और जिनके हुआ, उनकी न कभी सेवा की, इसलिये इसकी कथा न कभी सुनी, और न वह कभी परिचय और अनुभव में ही आई । इस कारण आत्मा के एकत्व का पाना सुलभ नहीं है, दुर्लभ है ॥ ४ ॥

अब आचार्य कहते हैं कि इस भिन्न आत्मा का एकत्व हम दिखलाते हैं;—**[तं]** उस **[एकत्वविभक्तं]** एकत्वविभक्त आत्मा को **[अहं]** मैं **[आत्मनः]** आत्मा के **(स्वविभवेन)** निज वैभव द्वारा **[दर्शये]** दिखलाता हूं **[यदि]** जो मैं **[दर्शयेयं]** दिखलाऊं तो उसे **[प्रमाणं]** प्रमाण (स्वीकार) करना **(स्खलेयं)** और जो कहीं पर चूक जाऊं तो **[छलं]** छल **(न)** नहीं **[गृहीतव्यम्]** ग्रहण करना ।

टीका—आचार्य कहते हैं कि जो कुछ मेरे आत्मा का निज वैभव है उस सबसे मैं इस एकत्व विभक्त आत्मा को दिखलाने के लिये उद्यत हुआ हूं । मेरे आत्मा के निज वैभव का जन्म, इस लोक में प्रकट समस्त वस्तुओं को प्रकाश करने वाला और स्यात् पद से चिह्नित शब्द ब्रह्म–अरहंत के परमागम की उपासना से हुआ है । यहां 'स्यात्' इस पद का तो कथंचित् अर्थ है अर्थात् किसी प्रकार से कहना और सामान्यधर्म से वचनगोचर सब धर्मों का नाम आता है तथा वचन के अगोचर जो कोई विशेष धर्म हैं उनका अनुमान कराता है । इस तरह वह सब वस्तुओं का प्रकाशक है । इस कारण सर्वव्यापी

कोऽसौ शुद्ध आत्मेति चेत्—

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥६॥

नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः ।
एवं भणंति शुद्धं ज्ञातो यः स तु स चैव ॥६॥

यो हि नाम स्वतः सिद्धत्वेनानादिरनंतो नित्योद्योतो विशदज्योतिर्ज्ञायक एको भावः स संसारावस्थायामनादिबंधपर्यायनिरूपणया क्षीरोदकवत्कर्मपुद्गलैः सममेकत्वेपि द्रव्यस्वभावनिरूपणया दुरंतकषायचक्रोदयवैचित्र्यवशेन प्रवर्त्तमानानां पुण्यपापनिर्वर्त्तकानामुपात्तवैश्वरूप्याणां शुभाशुभभावानां स्वभावेनापरिणमनात्प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च न भवत्येष एवाशेषद्रव्यांतरभावेभ्यो भिन्न-

---

शुद्धात्मेति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति—**णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो** शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुभाशुभपरिणमनाभावान्न भवत्यप्रमत्तः प्रमत्तश्च । प्रमत्तशब्देन मिथ्यादृष्ट्यादिप्रमत्तांतानि षड्गुणस्थानानि, अप्रमत्तशब्देन पुनरप्रमत्ताद्ययोग्यंतान्यष्टगुणस्थानानि गृह्यन्ते । स कः कर्त्ता । **जाणगो दु जो भावो** ज्ञायको ज्ञानस्वरूपो योऽसौ भावः पदार्थः शुद्धात्मा ।

कहा जाता है और इसी से अरहंत के परमागम को शब्दब्रह्म कहते हैं। उसकी उपासना के द्वारा मेरा ज्ञान वैभव उत्पन्न हुआ है; तथा जिसका जन्म समस्त विपक्ष—अन्यवादियों द्वारा ग्रहण किये गये सर्वथा एकांत रूप नयपक्ष के निराकरण में समर्थ अतिनिस्तुष (सुस्पष्ट) निर्बाधयुक्ति के अवलंबन से है; निर्मल विज्ञान घन आत्मा में अंतर्निमग्न परमगुरु सर्वज्ञ देव, अपरगुरु गणधरादिक से लेकर हमारे गुरुपर्यंत के प्रसाद से प्राप्त हुए शुद्धात्मतत्त्व के अनुग्रह पूर्वक उपदेश से जिसका जन्म है; निरन्तर झरते हुए आस्वाद में आये और सुन्दर आनन्द से मिले हुए प्रचुर ज्ञान स्वरूप आत्मा के स्वसंवेदन से जिसका जन्म है, ऐसा जो कुछ मेरे ज्ञान का वैभव है, उस समस्त वैभव से उस एकत्व विभक्त आत्मा का स्वरूप दिखलाता हूँ। यदि यह दिखलाऊं तो स्वयमेव अपने अनुभव प्रत्यक्ष से परीक्षा कर प्रमाण मानना। यदि कहीं अक्षर, मात्रा, अलंकार, युक्ति आदि प्रकरणों में चूक जाऊं तो छल (दोष) ग्रहण करने में जागरूक न रहना। क्योंकि शास्त्र समुद्र के प्रकरण बहुत हैं, इस कारण यहां स्वसंवेदन रूप अर्थ प्रधान है। इसलिये अर्थ की परीक्षा करना।

भावार्थ—आचार्य आगम का सेवन, युक्ति का अवलंबन, परापर गुरु का उपदेश और स्वसंवेदन इन चार निमित्तों से उत्पन्न हुए अपने ज्ञान के वैभव से एकत्व विभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप दिखलाते हैं। उसे सुनने वाले हे श्रोताओ, अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रमाण करो। कहीं-किसी प्रकरण में भूलू तो छल न मानना। यहां अनुभव प्रधान है, इसी से शुद्ध स्वरूप का निश्चय करो ॥५॥

आगे ऐसा शुद्ध आत्मा कौन है कि जिसका स्वरूप जानना चाहिये? ऐसे प्रश्न का उत्तररूप गाथा सूत्र कहते हैं:—[यः तु] जो [ज्ञायकः भावः] ज्ञायक भाव है वह [अप्रमत्तः अपि]

त्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलप्येत। न चास्य ज्ञेयनिष्ठत्वेन ज्ञायकत्वप्रसिद्धेः दाह्यनिष्कनिष्ठ-दहनस्येवाशुद्धत्वं यतो हि तस्यामवस्थायां ज्ञायकत्वेन यो ज्ञातः स स्वरूपप्रकाशनदशायां प्रदीपस्येव कर्तृकर्मणोरनन्यत्वात् ज्ञायक एव ॥ ६ ॥

एवं भणंति सुद्धा शुद्धनयावलंबिनः, तर्हि किं भवति **णादा जो सो दु सो चेव** ज्ञाता शुद्धात्मा यः बध्यते स तु स चैव ज्ञातैवेत्यर्थः ॥ ६ ॥ इति स्वतंत्रगाथाषट्केन प्रथमस्थलं गतं। अथानंतरं यथा प्रमत्तादिगुणस्थानविकल्पा

अप्रमत्त भी **[न]** नहीं है और **[न प्रमत्तः]** न प्रमत्त ही है **[एवं]** इस तरह **[शुद्धं]** उसे शुद्ध **[भणंति]** कहते हैं **[च यः]** और जिसे **[ज्ञातः]** ज्ञायक भाव द्वारा जान लिया **(सः)** वह **(स एव तु)** वही है, अन्य कोई नहीं।

टीका—जो एक ज्ञायक भाव है, वह अपने आपसे ही सिद्ध है, किसी से उत्पन्न नहीं हुआ। उस भाव से तो अनादिसत्तारूप है और कभी उस ज्योति का विनाश नहीं होता इसलिए अनंत है, नित्य उद्योत रूप है इस कारण क्षणिक नहीं है। ऐसी स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है। वह संसार की अवस्था में अनादिबंधपर्याय की निरूपणा (अपेक्षा) से कर्मरूप पुद्गलद्रव्य सहित, दूध जल की तरह होने पर भी द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाय, तब तो जिसका मिटना कठिन है ऐसे कषायों के उदय की विचित्रता से प्रवृत्त हुए पुण्य पाप के उत्पन्न करने वाले समस्त अनेक रूप शुभ अशुभ भाव के स्वभाव से परिणमन नहीं करती। ज्ञायक भाव से जड़ भावरूप नहीं होती। इसलिए प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है। यही समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्न रूप में सेवित हुआ 'शुद्ध' ऐसा कहा जाता है। और इसका ज्ञेयाकार होने से ज्ञायकत्व प्रसिद्ध है। जैसे दाहने योग्य जो दाह्य ईंधन यद्यपि उसके आकार अग्नि होती है इसलिए अग्नि को दहन कहते हैं तो भी अग्नि तो अग्नि ही है, ईंधन अग्नि नहीं है। उसी तरह ज्ञेयरूप आप नहीं है, आप तो ज्ञायक ही है। इस तरह उस ज्ञेय के द्वारा की हुई भी इस आत्मा के अशुद्धता नहीं है, क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्था में भी ज्ञायकभाव द्वारा जाना गया जो अपना ज्ञायकत्व, वही स्वरूप प्रकाशन की—जानने की अवस्था में भी ज्ञायकरूप ही है ज्ञेयरूप नहीं हुआ। क्योंकि अभेद विवक्षा से कर्ता तो आप ज्ञायक और कर्म अपने को जाना—ये दोनों एक आप ही है, अन्य नहीं है। जैसे दीपक घट-पटादि को प्रकाशित करता है, उनके प्रकाशने की अवस्था में भी दीपक ही है, वही अपनी ज्योति रूप लौ के प्रकाशने की अवस्था में भी दीपक ही है, कुछ दूसरा नहीं है।

भावार्थ—अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से आती है। वहाँ मूल द्रव्य तो अन्य द्रव्य रूप होता ही नहीं, कुछ परद्रव्य के निमित्त से अवस्था मलिन हो जाती है। उस जगह द्रव्यदृष्टि से तो द्रव्य जो है वो ही है और पर्यायदृष्टि से देखा जाय तब वह मलिन ही दीखता है। उसी तरह आत्मा का स्वभाव ज्ञायकत्व मात्र है और उसकी अवस्था पुद्गल कर्म के निमित्त से रागादि रूप मलिन है, वह पर्याय है। उसकी दृष्टि से देखा जाय तब मलिन ही दीखता है और द्रव्यदृष्टि से देखा जाय, तब ज्ञायकत्व तो ज्ञायकत्व ही है, कुछ जड़त्व नहीं हुआ। यहां पर द्रव्यदृष्टि को प्रधान कर कहा है। जो

दर्शनज्ञानचारित्रवत्त्वेनास्याशुद्धत्वमिति चेत्:—

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ।। ७ ।।

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चरित्रं दर्शनं ज्ञानम् ।
नापि ज्ञानं न चरित्रं न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ।। ७ ।।

आस्तां तावद् बंधप्रत्ययात् ज्ञायकस्याशुद्धत्वं, दर्शनज्ञानचारित्राण्येव न विद्यंते; यतोह्य-

---

जीवस्य व्यवहारनयेन विद्यंते शुद्धद्रव्यार्थिकनिश्चयनयेन न विद्यंते तथा दर्शनज्ञानचारित्रविकल्पोपीत्युपदिशति—

प्रमत्त अप्रमत्त का भेद है, वह तो परद्रव्य के संयोगजनित पर्याय है। यह अशुद्धता द्रव्यदृष्टि में गौण है, द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, इसलिये आत्मा ज्ञायक है, इस कारण उसे प्रमत्त अप्रमत्त नहीं कहा जाता। 'ज्ञायक' ऐसा नाम भी ज्ञेय के जानने से कहा जाता है क्योंकि ज्ञेय का प्रतिबिंब जब झलकता है तब वैसा ही अनुभव में आता है। सो यह भी अशुद्धता इसके नहीं कही जा सकती क्योंकि जैसे ज्ञेय ज्ञान में प्रतिभासित हुआ, वैसे ज्ञायक का ही अनुभव करने पर ज्ञायक ही है यह में जानने वाला हूं सो में ही हूँ दूसरा कोई नहीं है—ऐसा अपना अपने से अभेद रूप अनुभव हुआ तब उस जानने रूप क्रिया का कर्ता आप ही है और जिसको जाना सो कर्म भी आप ही है। ऐसे एक ज्ञायकत्व मात्र आप शुद्ध है—यह शुद्धनय का विषय है। अन्य पर संयोग जनित भेद हैं, वे सब भेद रूप अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं। शुद्ध द्रव्य की दृष्टि में यह भी पर्यायार्थिक ही है इसलिये व्यवहारनय ही है—ऐसा आशय जानना। यहां ऐसा भी जानना कि जिनमत का कथन स्याद्वादरूप है इसलिये शुद्धता और अशुद्धता दोनों वस्तु के धर्म हैं। अशुद्धनय को सर्वथा असत्यार्थ ही न मानना। जो वस्तु धर्म है, वह वस्तु का सत्त्व है, परद्रव्य के संयोग से ही हुआ भेद है। यहां अशुद्धनय को हेय कहा है, उस अशुद्धनय का विषय संसार है। उसमें आत्मा क्लेश भोगता है। जब आत्मा पर द्रव्य से भिन्न हो जाय तब संसार मिटे और तभी क्लेश मिटे। इस तरह दुःख मेटने के लिये शुद्धनय का प्रधान उपदेश है। और अशुद्धनय को असत्यार्थ कहने से ऐसा तो नहीं समझना कि यह वस्तु धर्म सर्वथा ही नहीं, आकाश के फूल की तरह असत् है। ऐसे सर्वथा एकांत समझने से मिथ्यात्व आता है। इसलिये स्याद्वाद का शरण लेकर शुद्धनय का आलंबन करना चाहिये, स्वरूप की प्राप्ति होने के पश्चात् शुद्धनय का भी अवलंबन नहीं रहता। जो वस्तु स्वरूप है वह है—यह प्रमाणदृष्टि है। इसका फल वीतरागता है, ऐसा निश्चय करना योग्य है। यहां पर जो 'प्रमत्त अप्रमत्त नहीं है' ऐसा कहा है, वह गुणस्थान की परिपाटी में छठे गुण स्थान तक तो प्रमत्त कहा जाता है और सातवें से लेकर अप्रमत्त है। सो ये सभी गुण-स्थान अशुद्धनय के कथन में हैं, शुद्धनय से आत्मा ज्ञायक ही है ।। ६ ।।

प्रश्न—क्या आत्मा के दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीन भावों से अशुद्धता आ सकती है?

उत्तर—[ज्ञानि] ज्ञानी के [चरित्रं दर्शनं ज्ञानं] चारित्र, दर्शन, ज्ञान—ये तीन भाव [व्यवहारेण]

नंतधर्मण्येकस्मिन् धर्मिण्यनिष्णातस्यांतेवासिजनस्य तदवबोधविधायिभिः कैश्चद्धर्मैस्तमनुशासतां सूरीणां धर्मधर्मिणां स्वभावतोऽभेदेपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शनं ज्ञानं चारित्रमित्युपदेशः। परमार्थतस्त्वेकद्रव्यनिष्पीतानंतपर्यायतयैकं किंचिन्मिलितास्वादमभेदमेकस्वभावमनुभवतां न दर्शनं न ज्ञानं न चारित्रं ज्ञायक एवैकः शुद्धः ॥ ७ ॥

ववहारेण सद्भूतव्यवहारनयेन **उवदिस्सदि** उपदिश्यते कथ्यते। कस्य। **णाणिस्स** ज्ञानिनो जीवस्य। किं। **चरित्त दंसणं णाणं** चारित्रदर्शनज्ञानस्वरूपं। **णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं** शुद्धनिश्चयनयेन न पुनर्ज्ञानं न चारित्रं न दर्शनं। तर्हि किमस्तीति चेत्। **जाणगो** ज्ञायकः शुद्धचैतन्यस्वभावः। **सुद्धो** शुद्ध एव रागादिरहित इति। अयमत्रार्थः। यथा निश्चयनयेनाभेदरूपेणाग्निरेक एव पश्चाद्भेदरूपव्यवहारेण दहतीति दाहकः पचतीति पाचकः प्रकाशं करोतीति प्रकाशकः इति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते। तथा जीवोपि निश्चयरूपाभेदनयेन शुद्धचैतन्यरूपोपि भेदरूपव्यवहारनयेन जानातीति ज्ञानं, पश्यतीति दर्शनं चरतीति चारित्रमिति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते इति ॥७॥

व्यवहार द्वारा **[उपदिश्यते]** कहे जाते हैं। निश्चयनयसे **[ज्ञानं अपि न]** ज्ञान भी नहीं है। **[चरित्रं न]** चारित्र भी नही है और **[दर्शनं न]** दर्शन भी नहीं है। ज्ञानी तो एक **[ज्ञायकः]** ज्ञायक ही है इसलिये **[शुद्धः]** शुद्ध कहा गया है।

टीका—इस ज्ञायक आत्मा के बंधपर्याय के निमित्त से अशुद्धता है, वह तो दूर ही रहो, इसके दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी नही है। क्योंकि निश्चयनय से अनंतधर्मा जो एक धर्मी वस्तु, उसको जिसने नहीं जाना ऐसे निकटवर्ती शिष्य जन को उस अनंतधर्मस्वरूप धर्मी के बतलाने वाले जो कोई धर्म उनके द्वारा शिष्य जनों को उपदेश करते हुए आचार्यों का ऐसा कथन है कि धर्म और धर्मी का यद्यपि स्वभाव से अभेद है तो भी नाम से भेद होने के कारण व्यवहार मात्र से ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। परन्तु परमार्थ से देखा जाय तो एक द्रव्य के द्वारा पिये गए अनंत पर्याय की रूपता से एकमेक मिले हुए अभेद स्वभाव वस्तु को अनुभव करने वाले पंडित पुरुषों की दृष्टि में दर्शन भी नहीं, ज्ञान भी नहीं और चारित्र भी नहीं, एक ज्ञायक भाव है, वही शुद्ध है।

भावार्थ—इस शुद्ध आत्मा के कर्मबंध के निमित्त से अशुद्धता आती है, यह बात तो दूर ही रहे, इसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भी भेद नहीं है। क्योंकि वस्तु अनंत धर्मरूप एक धर्मी है। परन्तु व्यवहारी जन धर्मों को ही समझते हैं, धर्मी को नहीं जानते इसलिये वस्तु के कुछ असाधारण धर्मों को उपदेश में लेकर अभेद रूप वस्तु में भी धर्मों के नाम रूप भेद को उत्पन्न करके ऐसा उपदेश करते हैं कि ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। अभेद में भेद करने से यह व्यवहार है। परमार्थ से विचारा जाय तो अनन्त पर्यायों को एक द्रव्य अभेद रूप पिये हुए बैठा है, इस कारण भेद नहीं हैं। यहां कोई कहे कि पर्याय भी द्रव्य का ही भेद है, अवस्तु तो नहीं है, उसे व्यवहार किस तरह कह सकते हैं ? उसका समाधान—यह तो सच है परन्तु यहां द्रव्यदृष्टि से अभेद को प्रधान मान कर उपदेश है, इसलिये

तर्हि परमार्थ एवैको वक्तव्य इति चेत् :—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥ ८ ॥

यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम् ।
तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यम् ॥ ८ ॥

यथा खलु म्लेच्छः स्वस्तीत्यभिहिते सति तथाविधवाच्यवाचकसंबंधावबोधबहिष्कृतत्वान्न किंचिदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव । यदा तु स एव तदेतद्भाषासंबंधैकार्थज्ञेनान्येन तेनैव वा म्लेच्छभाषां समुपादाय स्वस्तिपदस्याविनाशो भवतो भवत्वित्यभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमंदानंदमयाश्रुझलज्झलल्लोचनपात्रस्तत्प्रतिपद्यत एव । तथा किल लोकोऽप्यात्मेत्यभिहिते सति यथावस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानबहिष्कृतत्वान्न किंचि-

---

अथ यदि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य दर्शनज्ञानचरित्राणि न संति तर्हि परमार्थ एवैको वक्तव्यो न व्यवहार इति चेत्तन्न;— **जह णवि सक्कं** यथा न शक्यः । कोसौ । **अणज्जो** अनार्यो म्लेच्छ । किं कर्तुं । **गाहेदुं** अर्थग्रहणरूपेण संबोधयितुं । कथं ? **अणज्जभासं विणा** अनार्यभाषा म्लेच्छभाषा तां विना । दृष्टांतो गतः । इदानीं दार्ष्टांतमाह—**तह** तथा **ववहारेण विणा** व्यवहारनयेन विना **परमत्थुवदेसणमसक्कं**

अभेददृष्टि में भेद को गौण करने से ही अभेद अच्छी तरह ज्ञात हो सकता है, इस कारण भेद को गौण करके व्यवहार कहा है । यहां ऐसा अभिप्राय है कि भेददृष्टि में निर्विकल्प दशा नही होती और सरागी के जब तक रागादिक दूर नहीं होते, तब तक विकल्प बना रहता है । इस कारण भेद को गौण करके अभेद रूप निर्विकल्प अनुभव कराया गया है । वीतराग होने के बाद भेदाभेद रूप वस्तु का ज्ञाता हो जाता है वहां नयका अवलंबन ही नहीं रहता ॥ ७ ॥

यदि ऐसा है तो एक परमार्थ का ही उपदेश करना चाहिए । उसके उत्तर में गाथा सूत्र कहते हैं;—[यथा] जैसे [अनार्यः] म्लेच्छ जनों को [अनार्यभाषां विना तु] म्लेच्छ भाषा के विना तो [ग्राहयितुं] वस्तु का स्वरूप ग्रहण कराने को [नापि शक्यः] कोई पुरुष नहीं समर्थ हो सकता [तथा] उसी तरह [व्यवहारेण विना] व्यवहार के बिना [परमार्थोपदेशनं] परमार्थ का उपदेश करने में [अशक्यम्] कोई समर्थ नहीं है ।

टीका—जैसे किसी म्लेच्छ को देख कर किसी ब्राह्मण ने 'स्वस्ति हो' ऐसा शब्द कहा । वह म्लेच्छ उस शब्द के वाच्य वाचक संबंध के ज्ञान से शून्य होने से उसका अर्थ कुछ भी न समझता हुआ ब्राह्मण के सामने मेंढ़े की तरह टकटकी लगाकर देखता ही रहा कि इसने क्या कहा है । तब उस

दपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव। यदा तु स एव व्यवहारपरमार्थपथप्रस्थापितसम्यग्बोधमहारथरथिनान्येन तेनैव वा व्यवहारपथमास्थाय दर्शनज्ञानचारित्राण्यततीत्यात्मेत्यात्मपदस्याभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमंदानंदान्तःसुंदरबंधुरबोधतरंगस्तत्प्रतिपद्यत एव। एवं म्लेच्छस्थानीयत्वाज्जगतो व्यवहारनयोऽपि म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन परमार्थप्रतिपादकत्वादुपन्यसनीयोऽथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य इति वचनाद्व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः॥ ८॥

परमार्थोपदेशनं कर्तुमशक्यं इति। अयमत्राभिप्रायः। यथा कश्चिद्ब्राह्मणो यतिर्वा म्लेच्छपल्ल्यां गतः तेन नमस्कारे कृते सति ब्राह्मणेन यतिना वा स्वस्तीति भणिते स्वस्त्यर्थमविनश्वरत्वमजानन्सन् निरीक्षते मेष इव। तथायमज्ञानिजनोप्यात्मेतिभणिते सत्यात्मशब्दस्यार्थमजानन्सन् भ्रांत्या निरीक्षत एव। यदा पुनर्निश्चयव्यवहारनयज्ञपुरुषेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिजीवशब्दस्यार्थ इति कथ्यते तदा संतुष्टो भूत्वा जानातीति। एवं भेदाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यतया गाथाद्वयेन द्वितीयं स्थलं गतं॥ ८॥

ब्राह्मण की भाषा तथा म्लेच्छ की भाषा—इन दोनों का अर्थ जानने वाले अन्य किसी पुरुष ने उसे म्लेच्छ भाषा में समझाया कि 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ 'तेरा कल्याण हो' ऐसा है। उस समय उत्पन्न हुए अत्यंत आनंद के आंसुओं से उस म्लेच्छ के नेत्र भर आये, इस तरह वह म्लेच्छ उस 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ समझ ही लेता है। उसी तरह व्यवहारी जन भी 'आत्मा' ऐसा शब्द कहने से जैसा आत्म शब्द का अर्थ है उस अर्थ के ज्ञान से रहित है। इस कारण आत्मशब्द का अर्थ कुछ भी नहीं समझता हुआ मैंढे की तरह टकटकी लगाकर देखता ही रहता है। और जब कोई व्यवहार परमार्थ मार्ग पर सम्यग्ज्ञान रूप महारथ को चलाने वाले सारथी के समान आचार्य या अन्य कोई विद्वान् व्यवहार मार्ग में रह कर 'दर्शन ज्ञान चारित्र रूप जो सदा परिणमन करे, वह आत्मा है' ऐसा आत्मा शब्द का अर्थ कहता है तब उसी समय उत्पन्न हुए अत्यंत आनन्द वाले हृदय में सुन्दर और ज्ञान रूप तरंगों के उछलने से वह उस आत्मशब्द का अर्थ अच्छी तरह समझ जाता है। इस प्रकार यहां जगत तो म्लेच्छवत् जानना और व्यवहारनय म्लेच्छ भाषा के तुल्य जानना। इसलिये व्यवहार को परमार्थ का कहने वाला समझ कर उपदेश करने योग्य है। अतः ब्राह्मण को म्लेच्छ योग्य आचरण नहीं करना चाहिए, इस वचन से व्यवहारनय सर्वथा उपादेय नहीं मानना।

भावार्थ—लोक शुद्धनय को तो जानते ही नहीं हैं क्योंकि शुद्धनय का विषय अभेद एक रूप वस्तु है। तथा अशुद्धनय को ही जानते हैं क्योंकि इसका विषय भेद रूप अनेक प्रकार है इसलिये व्यवहार के द्वारा ही शुद्धनय रूप परमार्थ को समझ सकते हैं। इस कारण व्यवहारनय को परमार्थ का कहने वाला जान उसका उपदेश किया जाता है। यहांपर ऐसा न समझना कि व्यवहार का आलंबन कराते हैं किन्तु व्यवहार का आलंबन छुड़ाकर परमार्थ में पहुंचाते हैं। ८।

आगे प्रश्न उत्पन्न होता है कि व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक कैसे है? उसके उत्तर में

कथं व्यवहारस्य प्रतिपादकत्वमिति चेत् :—

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा ॥ ९ ॥
जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा ।
णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुयकेवली तह्मा ॥ १० ॥ (जुम्मं)

यो हि श्रुतेनाभिगच्छति आत्मानमिमं तु केवलं शुद्धम् ।
तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणंति लोकप्रदीपकराः ॥ ९ ॥
यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुर्जिनाः ।
ज्ञानमात्मा सर्वं यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात् ॥ १० ॥

यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति तावत्परमार्थो यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति तु व्यवहारः । तदत्र सर्वमेव तावत् ज्ञानं निरूप्यमाणं किमात्मा किमनात्मा ? न तावदनात्मा समस्तस्याप्यनात्मनश्चेतनेतरपदार्थपंचतयस्य ज्ञानतादात्म्यानुपपत्तेः । ततो गत्यंतराभावात् ज्ञानमात्मेत्यायात्यतः श्रुतज्ञानमप्यात्मैव स्यात् । एवं सति य आत्मानं

अथ पूर्वगाथाया भणित व्यवहारेण परमार्थो ज्ञायते तनस्तमेवार्थं कथयति;—**जो** य कर्त्ता **हि** स्फुटं **सुदेण** भावश्रुतेन स्वसंवेदनज्ञानेन निर्विकल्पसमाधिना करणभूतेन **अभिगच्छदि** अभि समंताज्जानात्यनुभवति । कं । **अप्पाणं** आत्मानं **इणं** इम प्रत्यक्षीभूत **तु** पुन । किंविशिष्टं । **केवलं** असहायं **सुद्धं** रागादिरहित **तं** पुरुषं **सुदकेवलिं** निश्चयश्रुतकेवलिनं **इसिणो** परमऋषय **भणंति** कथयंति **लोगप्पदीवयरा** लोकप्रदीपकरा. लोक-

---

गाथा सूत्र कहते है,—[यः] जो जीव [हि] निश्चय कर[श्रुतेन]श्रुतज्ञान से [तु इमं] इस अनुभव गोचर [केवलं शुद्धं] केवल एक शुद्ध [आत्मानं] आत्मा को [अभिगच्छति] समुख हुआ जानता है [तं] उसे [लोकप्रदीपकराः] लोक को प्रकाश करने वाले [ऋषयः] ऋषीश्वर [श्रुतकेवलिनं] श्रुतकेवली [भणंति] कहते हैं । [यः] जो जीव [सर्वं] सब [श्रुतज्ञानं] श्रुतज्ञान को [जानाति] जानता है [तं] उसे[जिनाः] जिनदेव [श्रुतकेवलिनं]श्रुत केवली [आहुः]कहते हैं [यस्मात्]क्योंकि[सर्वं] [ज्ञानं] सब ज्ञान [आत्मा] आत्मा ही है [तस्मात्] इस कारण आत्मा को ही जानने से [श्रुतकेवली]श्रुत केवली कहा जा सकता है ।

टीका—जो श्रुतज्ञान से केवल शुद्ध आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है, यह तो परमार्थ है, और जो सब श्रुतज्ञान को जानता है वह श्रुतकेवली है यह व्यवहार है । यहां पर दो पक्ष लेकर परीक्षा करते हैं—यहां निरूपण किया जाने वाला सब ही ज्ञान आत्मा है कि अनात्मा ? उनमें से अनात्मा का पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि जड-रूप अनात्मा आकाशादि पांच द्रव्य हैं उनका ज्ञान के

जानाति स श्रुतकेवलीत्यायाति स तु परमार्थ एव। एवं ज्ञानज्ञानिनौ भेदेन व्यपदिशता व्यवहारेणापि परमार्थमात्रमेव प्रतिपाद्यते न किंचिदप्यतिरिक्तं । अथ च यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति परमार्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वाद्यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति व्यवहारः परमार्थप्रतिपादकत्वेनात्मानं प्रतिष्ठापयति ॥ ९ ॥ १० ॥

कुतो व्यवहारनयो नानुसर्तव्य इति चेत् ?—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥ ११ ॥

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः ।
भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥ ११ ॥

प्रकाशका इति । अनया गाथया निश्चयश्रुतकेवलिलक्षणमुक्तम् । अथ 'सुदणाण' मित्यादि—**जो** यः कर्ता **सुदणाणं** द्वादशांगं द्रव्यश्रुतं **सव्वं** सर्वं परिपूर्णं **जाणादि** जानाति **सुदकेवलिं** व्यवहारश्रुतकेवलिनं **तमाहुजिणा** तं पुरुषं आहुः ब्रुवति । के ते । जिना सर्वज्ञा. । कस्मादित्ति चेत् । **जह्मा** यस्मात्कारणात् **सुदणाणं** द्रव्यश्रुताधारेणोत्पन्नं भाव-

---

साथ तादात्म्य नही है । इसलिए अन्य पक्ष का अभाव होने से ज्ञान आत्मा ही है ऐसा पक्ष सिद्ध हुआ । श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है ऐसा होने पर यह सिद्ध हुआ कि जो आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है और वही परमार्थ है । इस तरह ज्ञान और ज्ञानी को भेद से कहने वाले व्यवहार से भी परमार्थ मात्र ही कहा जाता है, उससे अधिक कुछ भी नहीं । अथवा जो श्रुतज्ञान से केवल शुद्ध आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है; इस परमार्थ का (निश्चयनय के द्वारा) कहना अशक्य है, इसलिए जो समस्त श्रुतज्ञान को जानता है, वह श्रुतकेवली है । ऐसा व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक होने के कारण अपने को प्रतिष्ठित कराता है ।

भावार्थ—जो शास्त्रज्ञान से अभेद रूप ज्ञायक मात्र शुद्ध आत्मा को जानता है, वह श्रुतकेवली है यह तो परमार्थ कथन है और वही सब शास्त्रज्ञान को जानता है । ज्ञान आत्मा है ऐसा जिसने ज्ञान को जाना उसने आत्मा को ही जाना यही परमार्थ है । इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानी के भेद कहने वाले व्यवहार ने भी परमार्थ ही कहा, अन्य कुछ नहीं कहा । यहां ऐसा है कि परमार्थ का विषय तो कथंचित् वचनगोचर नहीं भी है; इसलिए व्यवहारनय अपनी आवश्यकता को सिद्ध करता है ॥ ९-१० ॥

आगे फिर प्रश्न उठता है—पूर्व में कहा था कि व्यवहार को अंगीकार नहीं करना, परन्तु जब यह परमार्थ का कहने वाला है तो ऐसे व्यवहार को क्यों नहीं अंगीकार करना चाहिये ? इसके उत्तर में गाथासूत्र कहते हैं;— [**व्यवहारः**] व्यवहारनय [**अभूतार्थः**] अभूतार्थ है [**तु**] और [**शुद्धनयः**] शुद्धनय [**भूतार्थः**] भूतार्थ है ऐसा [**दर्शितः**] ऋषीश्वरों ने दिखलाया है [**जीवः**] जो जीव [**भूतार्थं**] भूतार्थ के [**आश्रितः**] आश्रित है वह जीव [**खलु**] निश्चयकर [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**भवति**] है ।

व्यवहारनयो हि सर्व एवाभूतार्थत्वादभूतमर्थं प्रद्योतयति । शुद्धनय एक एव भूतार्थत्वाद् भूतमर्थं प्रद्योतयति तथाहि । यथा प्रबलपंकसंवलनतिरोहितसहजैकाच्छभावस्य पयसोऽनुभवितारः पुरुषाः पंकपयसोर्विवेकमकुर्वन्तो बहवोऽनच्छमेव तदनुभवंति । केचित्तु स्वकरविकीर्णकतकनिपातमात्रोपजनितपंकपयसोर्विवेकतया [1]स्वपुरुषाकाराविर्भावितसहजैकाच्छभावत्वादच्छमेव तदनुभवंति । तथा प्रबलकर्मसंवलनतिरोहितसहजैकज्ञायकस्यात्मनोऽनुभवितारः पुरुषा आत्मकर्मणोर्विवेकमकुर्वन्तो व्यवहारविमोहितहृदयाः प्रद्योतमानभाववैश्वरूप्यं तमनुभवंति । भूतार्थदर्शिनस्तु स्वमतिनिपातितशुद्धनयानुबोधमात्रोपजनितात्मकर्मविवेकतया स्वपुरुषाकाराविर्भावितसहजैकज्ञाय-

---

श्रुतज्ञानं **आदा** आत्मा भवति । कथंभूतं **सव्वं** सर्वमात्मसंवित्तिविषयं परपरिच्छित्तिविषयं वा **तह्मा** तस्मात्कारणात् **सुदकेवली** द्रव्यश्रुतकेवली स भवतीति । अयमत्रार्थः यो भावश्रुतरूपेण स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुद्धात्मानं जानाति स निश्चयश्रुतकेवली भवति । यस्तु स्वशुद्धात्मानं न संवेदयति न भावयति बहिर्विषयं द्रव्यश्रुतार्थं जानाति स व्यवहारश्रुतकेवली भवतीति । ननु तर्हि स्वसंवेदनज्ञानबलेनास्मिन् कालेपि श्रुतकेवली भवति ? तन्न यादृशं पूर्वपुरुषाणां शुक्लध्यानरूपं स्वसंवेदनज्ञानं तादृशमिदानीं नास्ति किंतु धर्म्यध्यानं योग्यमस्तीत्यर्थः । एवं निश्चयव्यवहारश्रुतकेवलिव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयेन तृतीयस्थलं गतं ।। ९-१० ।। अथ गाथायाः पूर्वार्द्धेन भेदरत्नत्रयभावनामुत्तरार्द्धेनाभेदरत्नत्रयभावनां च प्रतिपादयति;—

णाणह्मि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य ।
ते पुण तिण्णिवि आदा तह्मा कुण भावणं आदे ।।

ज्ञाने भावना खलु कर्तव्या दर्शने चारित्रे च ।
तानि पुनस्त्रीण्यपि आत्मा तस्मात् कुरु भावनामात्मनि ।।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयेभावना खलु स्फुटं कर्तव्या भवति । तानि पुनस्त्रीण्यपि निश्चयेनात्मैव यतः कारणात् तस्मात् कुरु भावनां शुद्धात्मनीति ।। अथ भेदाभेदरत्नत्रयभावनाफलं दर्शयति;—

जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि ।
सो सव्व-दुक्ख-मोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ।।

टीका—समस्त व्यवहारनय अभूतार्थ होने से अविद्यमान–असत्य–अभूतार्थ को प्रकट करता है और केवल शुद्धनय ही भूतार्थ होने के कारण विद्यमान–सत्य–भूत अर्थ को प्रकट करता है । जैसे प्रबल कीचड़ के मिलने से जिसका निर्मल स्वभाव आच्छादित हो गया है, ऐसे जल के अनुभव करने वाले बहुत से पुरुष तो ऐसे हैं कि जल और कीचड़ का भेद न करके उस मैले जल का ही अनुभव करते हैं और कोई जीव अपने हाथ से निर्मली औषधि डालकर कर्दम और जल को भिन्न-भिन्न करने से जिसमें अपना पुरुषाकार दिखलाई दे ऐसे स्वाभाविक निर्मल स्वभावरूप जल को पीने का अनुभव करते हैं । उसी प्रकार प्रबल कर्म के संयोग होने से जिसका स्वाभाविक एक ज्ञायक भाव आच्छादित हो गया है ऐसे आत्मा के

---

१. पुरुषकार इत्यपि पाठः

कस्वभावत्वात् प्रद्योतमानैकज्ञायकभावं तमनुभवंति। तदत्र ये भूतार्थमाश्रयंति त एव सम्यक् पश्यंतः सम्यग्दृष्टयो भवंति न पुनरन्ये कतकस्थानीयत्वाच्छुद्धनयस्यातः प्रत्यगात्मदर्शिभिर्व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः। अथ च केषांचित्कदाचित्सोपि प्रयोजनवान्। यतः—

य: आत्मभावनामिमां नित्योद्यतः मुनिः समाचरति।
स: सर्वदु:खमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन॥

यः कर्ता आत्मभावनामिमां नित्योद्यतः सन् मुनिस्तपोधनः समाचरति सम्यगाचरति भावयति स सर्वदु:खमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण स्तोककालेनेत्यर्थः। इति निश्चयव्यवहाररत्नत्रयभावनाभावनाफलव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयेन चतुर्थस्थलं गतं। अथ यथा कोपि ब्राह्मणादिविशिष्टोजनो म्लेच्छप्रतिबोधनकाले एव म्लेच्छभाषां ब्रूते न च शेषकाले तथैव ज्ञानी-पुरुषोप्यज्ञानिप्रतिबोधनकाले व्यवहारमाश्रयति न च शेषकाले। कस्मादभूतार्थत्वादिति प्रकाशयति;—**ववहारो** व्यवहारनयः **अभूदत्थो** अभूतार्थःअसत्यार्थो भवति **भूदत्थो** भूतार्थः सत्यार्थः **देसिदो** देशितः कथितः **दु** पुनः कोसौ **सुद्धणओ** शुद्धनयः निश्चयनयः। तर्हि केन नयेन सम्यग्दृष्टिर्भवतीति चेत्। **भूदत्थं** भूतार्थं सत्यार्थं निश्चयनयं **अस्सिदो** आश्रितो गतः स्थितः खलु स्फुटं **सम्मादिट्ठी हवदि जीवो** सम्यग्दृष्टिर्भवति जीव इति टीकाव्याख्यानं। द्वितीयव्याख्यानेन पुनः **ववहारो अभूदत्थो** व्यवहारोऽभूतार्थो **भूदत्थो** भूतार्थश्च **देसिदो** देशितः कथितः न केवलं व्यवहारो देशितः **सुद्धणओ** शुद्धनिश्चयनयोपि। दु शब्दादयं शुद्धनिश्चयनयोपीतिव्याख्यानेन भूताभूतार्थभेदेन व्यवहारोपि द्विधा, शुद्धनिश्चयाशुद्धनिश्चयभेदेन निश्चयनयोपि द्विधा इति नयचतुष्टयं। इदमत्र तात्पर्यं यथा कोपि ग्राम्यजनः सकर्दमं नीरं पिबति, नागरिकः पुनः विवेकीजनः कतकफलं निक्षिप्य निर्मलोदकं पिबति। तथा स्वसंवेदनरूपभेदभावनाशून्यजनो

अनुभव करने वाले जो पुरुष हैं वे आत्मा और कर्म का भेद न करके व्यवहार में विमोहित चित्त हुए, जिसके भावों का अनेकरूपपना प्रकट है; ऐसे अशुद्ध आत्मा का ही अनुभव करते हैं और शुद्धनय के देखने वाले जीव अपनी बुद्धि से प्रयुक्त शुद्धनय के अनुसार ज्ञान मात्र से उत्पन्न हुए आत्मा और कर्म की विवेक-बुद्धि से अपने पुरुषाकार रूप स्वरूप से प्रकट हुए स्वाभाविक एक ज्ञायकभावपने से जिसमें एक ज्ञायक भाव प्रकाशमान है ऐसे शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं। इसलिए जो पुरुष शुद्धनय का आश्रय करते हैं वे ही सम्यक् अवलोकन करते हुए सम्यग्दृष्टि हैं और दूसरे जो अशुद्ध नय का सर्वथा आश्रय करते हैं वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। यहां शुद्धनय निर्मली द्रव्य के समान जानना, इसकारण कर्म से भिन्न आत्मा को जो देखना चाहते हैं उन्हें व्यवहारनय अंगीकार नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—यहां व्यवहारनय को अभूतार्थ और शुद्धनय को भूतार्थ-सत्यार्थ कहा है। जिसका विषय विद्यमान न हो—असत्यार्थ हो उसे अभूतार्थ कहते हैं। उसका अभिप्राय ऐसा है कि शुद्धनय का विषय अभेद एकाकाररूप नित्यद्रव्य है इसकी दृष्टि में भेद नहीं दीखता। इसलिये इसकी दृष्टि में भेद अविद्यमान—असत्यार्थ ही कहना चाहिये। ऐसा न समझना कि भेद रूप कुछ वस्तु ही नहीं है। यदि ऐसा माना जावे तो जैसे वेदांत मतवाले भेदरूप अनित्य को देख अवस्तु-मायास्वरूप कहते हैं और सर्वव्यापक एक अभेद नित्य शुद्धब्रह्म को वस्तु कहते हैं, वैसा हो जायगा। इससे सर्वथा एकांत

30 सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
27 ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ।। १२ ।।

शुद्धः शुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः ।
व्यवहारदेशिताः पुनर्ये त्वपरमे स्थिता भावे ।। १२ ।।

ये खलु पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयं परमं भावमनुभवंति, तेषां प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरंपरापच्यमानकार्त्तस्वरानुभवस्थानीयापरमभावानुभवनशून्यत्वाच्छुद्धद्रव्यादेशितया समुद्योतितास्खलितैकस्वभावैकभावः शुद्धनय [1]एवोपरितनैकप्रतिवर्णिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानः

मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणामसहितमात्मानमनुभवति, सद्दृष्टिजन. पुनरभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिबलेन कतकफलस्थानीयं निश्चयनयमाश्रित्य शुद्धात्मानमनुभवतीत्यर्थ. ।। ११ ।। अथ पूर्वगाथायां भणितं भूतार्थनयमाश्रितो जीव: सम्यग्दृष्टिर्भवति । अत्र तु न केवलं भूतार्थो निश्चयनयो निर्विकल्पसमाधिरताना प्रयोजनवान् भवति । किंतु निर्विकल्पसमाधिरहिताना पुन. षोडशवर्णिकासुवर्णलाभाभावे अधस्तनवर्णिकासुवर्णलाभवत्केषांचित्प्राथमिकानां कदाचित् सविकल्पावस्थायां मिथ्यात्वविषयकषायदुर्ध्यानवंचनार्थं व्यवहारनयोपि प्रयोजनवान् भवतीति प्रतिपादयति—

शुद्धनय की पक्षरूप मिथ्यादृष्टि का ही प्रसंग आजायगा । इसकारण यहां ऐसा समझना कि जिनवाणी स्याद्वादरूप है, प्रयोजन के वश से नयको मुख्यगौण करके कहती है । भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो प्राणियों को अनादिकाल से ही है और उसका उपदेश भी बहुधा सभी परस्पर में करते है, किन्तु जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का सहायक जानकर किया है । परन्तु उसका फल संसार ही है । और शुद्धनय का पक्ष इस जीव ने कभी नहीं ग्रहण किया तथा उसका उपदेश भी कहीं कहीं है इसलिये उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर इसी का उपदेश मुख्यता से दिया है, कि शुद्धनय भूतार्थ है—सत्यार्थ है, इसी को आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि हो सकता है, इसके जाने विना व्यवहार में जब तक मग्न है तब तक आत्मा का ज्ञान श्रद्धान रूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता—ऐसा जानना । ११ ।

आगे कहते हैं कि यह व्यवहारनय भी किसी किसी को, किसी काल में प्रयोजनवान् है, सर्वथा निषेध करने योग्य नहीं है, इसलिये इसका उपदेश है:—**(परमभावदर्शिभिः)** जो शुद्धनय तक पहुँच कर श्रद्धावान् हुए तथा पूर्णज्ञान चारित्रवान् हो गये उनको तो **(शुद्धादेशः)** शुद्धनय का उपदेश करने वाला **(शुद्धः)** शुद्धनय **(ज्ञातव्यः)** जानने योग्य है । यहां शुद्ध आत्मा का प्रकरण है इसलिये शुद्ध, नित्य, एक, ज्ञायकमात्र आत्मा जानना । **(पुनः)** और **(ये तु)** जो जीव **(अपरमे भावे)** अपरमभाव अर्थात् श्रद्धा ज्ञान और चारित्र के पूर्ण भाव को नहीं पहुँच सके, तथा साधक अवस्था में ही **(स्थिताः)** ठहरे हुए हैं वे **(व्यवहारदेशिताः)** व्यवहारद्वारा उपदेश करने योग्य हैं ।

---

१. प्राचीन प्रतियों में उपरितनैक पाठ मिला है, किन्तु पं० जयचन्द्र जी को उपरतानेक पाठ मिला था, जिसका अर्थ दूर हुए अनेक वर्णों वाला है ।

प्रयोजनवान्। ये तु प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरंपरापच्यमानकार्त्तस्वरस्थानीयमपरमं भावमनुभवंति तेषां पर्यन्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयपरमभावानुभवनशून्यत्वादशुद्धद्रव्यादेशितयोप-

---

सुद्धादेसो शुद्धद्रव्यस्यादेश. कथनं यत्र स भवति शुद्धादेशः। णादव्वो ज्ञातव्यो भावयितव्यः। कैः। परमभावदरसीहिं शुद्धात्मभावदर्शिभिः। कस्मादिति चेत्। यतः षोडशवर्णिकाकार्त्तस्वरलाभवदभेदरत्नत्रयस्वरूपसमाधिकाले सप्रयोजनो

टीका—जो पुरुष अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध सोने के समान वस्तु के उत्कृष्ट असाधारण भावों का अनुभव करते हैं उनको प्रथम द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पच्यमान अशुद्ध सुवर्ण के समान अनुत्कृष्ट मध्यम भाव का अनुभव नहीं होता। इस कारण शुद्धद्रव्य के ही कहने वाले होने से जिसने अचलित अखंड एकस्वभावरूप एक भाव प्रकट किया है ऐसा शुद्धनय ही उपरितन एक शुद्ध सुवर्णावस्था के समान जाना हुआ प्रयोजनवान् है। और जो पुरुष प्रथम द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पच्यमान उस अशुद्ध सुवर्ण के समान वस्तु के अनुत्कृष्ट मध्यम भाव का अनुभव करते है उनको अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध सुवर्ण के समान वस्तु के उत्कृष्ट भाव का अनुभव न होने से उस काल में जाना हुआ व्यवहारनय ही प्रयोजनवान् है। क्योंकि व्यवहारनय अशुद्ध द्रव्य के कहने से भिन्न-भिन्न एक भाव स्वरूप अनेक भाव दिखलाता है तथा जो विचित्र अनेक वर्णमाला के समान है। इस तरह अपने अपने समय में दोनों ही नय कार्यकारी हैं क्योंकि तीर्थ और तीर्थ के फल की ऐसी ही व्यवस्थिति है। (जिससे तरा जावे वह तीर्थ है ऐसा तो व्यवहार धर्म है और जो पार होना वह व्यवहार धर्म का फल है अथवा अपने स्वरूप का पाना वह तीर्थ-फल है)। ऐसा ही दूसरी जगह भी 'जो जिणमयं'' इत्यादि गाथा में कहा है। **अर्थ**—यदि तुम जैन धर्म का प्रवर्तन चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों को मत छोड़ो क्योंकि एक व्यवहार नयके विना तो तीर्थ—व्यवहार मार्ग का नाश हो जायगा और दूसरे निश्चय के विना तत्व (वस्तु) का नाश हो जायगा।

भावार्थ—लोक में सोने के सोलह ताव प्रसिद्ध हैं उनमें पन्द्रह ताव तक चूरी आदि परसंयोग की कालिमा रहती है तब तक उसे अशुद्ध कहते हैं और फिर ताव देते देते जब अन्तिम ताव से उतरे, तब सोलहवान शुद्ध सुवर्ण कहलाता है। जिन जीवों को सोलहवान के सोने का ज्ञान, श्रद्धान तथा उसकी प्राप्ति हो चुकी है उनको पंद्रहवान तक का सोना कुछ प्रयोजनीय नहीं है। और जिनको सोलहवान के शुद्ध सुवर्ण की प्राप्ति जब तक नहीं हुई तब तक पंद्रहवान तक का भी प्रयोजनीय है। उसी तरह यह जीव पदार्थ है वह पुद्गल के संयोग से अशुद्ध अनेकरूप हो रहा है, उसका सब परद्रव्यों से भिन्न एक ज्ञायकता मात्र का जिनका ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण रूप प्राप्ति हो गई है उनको तो पुद्गल संयोगजनित अनेकरूपता को कहने वाला अशुद्धनय कुछ प्रयोजनवान् नहीं है, और जबतक शुद्धभाव की प्राप्ति नहीं हुई है तबतक जितना अशुद्ध नय का कथन है उतना यथापदवी प्रयोजनवान् है। जबतक यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान की प्राप्ति रूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हुई हो तबतक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिन वचनों का सुनना, धारण करना तथा जिन वचन

दर्शितप्रतिविशिष्टैकभावानेकभावो व्यवहारनयो विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात् ॥ १२ ॥ उक्तं च—जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह । एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके, जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ॥ ४ ॥

भवति। निःप्रयोजनो न भवतीत्यर्थः। **ववहारदेसिदो** व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायेण देशितः कथित इति व्यवहारदेशितो व्यवहारनयः **पुण** पुनः अधस्तनवर्णिकसुवर्णलाभवत्प्रयोजनवान् भवति। केषां ? **जे** ये पुरुषाः **दु** पुनः **अपरमे**

के कहने वाले श्रीजिनगुरु की भक्ति, जिनबिंब का दर्शन इत्यादि व्यवहार मार्ग में प्रवृत्त होना प्रयोजनवान् है। और जिसके श्रद्धान और ज्ञान तो हुआ पर साक्षात्प्राप्ति न हुई तबतक पूर्वकथित कार्य, पर द्रव्य का आलंबन छोड़ने रूप अणुव्रत और महाव्रत का ग्रहण, समिति, गुप्ति, पंचपरमेष्ठी के ध्यानरूप प्रवर्तन तथा उसी प्रकार प्रवर्तन करने वालों की संगति करना और विशेष जानने के लिए शास्त्रों का अभ्यास करना इत्यादि व्यवहारमार्ग में आप प्रवर्तन करना तथा अन्य को प्रवृत्त कराना इत्यादि व्यवहारनय का उपदेश अंगीकार करना प्रयोजनवान् है। व्यवहारनय को कथंचित् असत्यार्थ कहा गया है; यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जान कर छोड़ दे तो शुभोपयोग रूप व्यवहार छोड़ दे और चूंकि शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई इसलिये उल्टा अशुभोपयोग में ही आकर भ्रष्ट हुआ यथाकथंचित् स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तब नरकादिगति तथा परंपरा से निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही भ्रमण करेगा। इस कारण साक्षात् शुद्धनय का विषय जो शुद्ध आत्मा है, उसकी प्राप्ति जबतक न हो तबतक व्यवहार भी प्रयोजनवान् है। ऐसा स्याद्वादमत में श्रीगुरुओं का उपदेश है।

इसी अर्थ का कलश रूप काव्य टीकाकार कहते हैं—"उभय"—इत्यदि। **अर्थ**—निश्चय व्यवहार रूप जो दो नय उनमें विषय के भेद से परस्पर में विरोध है। उस विरोध को दूर करने वाले स्यात्पद से चिह्नित जिनेन्द्र भगवान के वचन में जो पुरुष रमण करते हैं—प्रचुर प्रीतिसहित अभ्यास करते हैं, वे पुरुष विना कारण अपने आप मिथ्यात्व-कर्म के उदय का वमन कर इस अतिशय रूप परमज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्मा का शीघ्र ही अवलोकन करते हैं। यह समयसार रूप शुद्ध आत्मा नवीन नहीं उत्पन्न हुआ—पूर्व से ही कर्म से आच्छादित था, वह प्रकट—व्यक्त हो गया है। तथा वह सर्वथा एकांतरूप कुनय के पक्ष से खंडित नहीं होता—निर्बाध है।

भावार्थ—जिन वचन स्याद्वादरूप है, जहां दो नयों के विषय का विरोध है, जैसे जो सद्रूप है वह असद्रूप नहीं होता, एक है वह अनेक नहीं होता, नित्य है वह अनित्य नहीं होता, भेदरूप है वह अभेदरूप नहीं होता, शुद्ध है वह अशुद्ध नहीं होता इत्यादि नयों के विषयों में विरोध है, वहां जिन वचन कथंचित् विवक्षा से सत्-असद्रूप, एक अनेकरूप, नित्य-अनित्यरूप, भेद-अभेदरूप,

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहितपदानां हंत हस्तावलंबः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित् ॥ ५ ॥
एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः।
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक् ॥
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं।
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोस्तु नः ॥ ६ ॥

अशुद्धे असंयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापेक्षया च भेद-

---

शुद्ध-अशुद्धरूप जिस प्रकार विद्यमान वस्तु है, उसी प्रकार कहकर विरोध मिटा देता है, झूठी कल्पना नहीं करता। इसलिये द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक दोनों नयों में प्रयोजन के वश शुद्ध द्रव्यार्थिक को मुख्यकर निश्चयनय कहता है और अशुद्ध द्रव्यार्थिकरूप पर्यायार्थिक को गौणकर व्यवहारनय कहता है। इस प्रकार जिन वचन में जो पुरुष रमण करते हैं, वे इस शुद्ध आत्मा को यथार्थ पाते हैं, अन्य सर्वथा एकांती सांख्यादिक नहीं पाते। क्योंकि वस्तु सर्वथा एकांतपक्ष का विषय नहीं है तो भी वे एक धर्ममात्र को ही ग्रहण कर वस्तु की असत्य कल्पना करते हैं। वह असत्यार्थ ही है, बाधासहित मिथ्यादृष्टि है ऐसा जानना। इस प्रकार बारह गाथाओं में पीठबंध (भूमिका) है।

आगे आचार्य शुद्धनय को प्रधानकर निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं क्योंकि अशुद्धनय (व्यवहारनय) की प्रधानता में जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है। उसी स्थान पर उन जीवादिकों को शुद्धनय के द्वारा जानने से सम्यक्त्व होता है ऐसा कहते हैं। वहां टीकाकार उसकी सूचनिका रूप तीन श्लोक कहते हैं। उनमें से प्रथम श्लोक में यह कथन है कि व्यवहारनय को कथंचित् प्रयोजनवान् कहा है तो भी यह कुछ वस्तुभूत नहीं है। "व्यवहरण" इत्यादि। **अर्थ**—व्यवहारनय को यद्यपि इस प्रथम पदवी में (जबतक शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति न हुई हो तबतक) जिन्होंने अपना पैर रखा है ऐसे पुरुषों के लिये हस्तावलंब तुल्य कहा है तो भी जो पुरुष चैतन्यचमत्कारमात्र, परद्रव्यभावों से रहित परम-अर्थ (शुद्धनय का विषयभूत) को अंतरंग में अवलोकन करते हैं, उसका श्रद्धान करते हैं तथा उस स्वरूप में लीनतारूप चारित्रभाव को प्राप्त होते हैं, उनके लिये यह व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान् नहीं है।

भावार्थ—शुद्धस्वरूप का ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण होने के पश्चात् अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजनभूत नही है।

अब आगे के श्लोक में निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं—"एकत्वे" इत्यादि। **अर्थ**—जो इस आत्मा को अन्य द्रव्यों से भिन्न देखना, श्रद्धान करना वही नियम से सम्यग्दर्शन है। क्योंकि यह आत्मा अपने गुणपर्यायों में व्यापक है; शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है। पूर्ण ज्ञानघन है और जितना यह सम्यग्दर्शन है उतना ही आत्मा है। इसलिये आचार्य प्रेरणा करते हैं कि इस नव तत्त्व की परिपाटी को छोड़ कर यह आत्मा ही हमें प्राप्त होवे।

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुंचति ॥ ७ ॥

रत्नत्रयलक्षणे वा **ठिदा** स्थिताः, कस्मिन् स्थिताः । **भावे** जीवपदार्थे तेषामिति भावार्थः ॥ १२ ॥ एवं निश्चयव्यव-

---

भावार्थ—अपनी सभी स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अवस्थारूप गुणपर्यायभेद में व्याप्त रहने वाला यह आत्मा शुद्धनय के द्वारा एकत्व में निश्चित किया गया है—शुद्धनय से ज्ञायक मात्र एक आकार दिखलाया उसको सब अन्य द्रव्य और अन्य द्रव्यों के भावों से पृथक् देखना और श्रद्धान करना वह नियम से सम्यग्दर्शन है । व्यवहारनय जहां आत्मा को अनेक भेदरूप कह कर सम्यग्दर्शन को अनेक भेद रूप कहता है, वहाँ व्यभिचार (दोष) आता है, नियम नहीं रहता । किन्तु शुद्धनय की सीमा में पहुँचते ही व्यभिचार नहीं रहता इसलिए नियम रूप है । क्योंकि शुद्धनय का विषयभूत आत्मा पूर्ण ज्ञानघन है सब लोकालोक का जानने वाला ज्ञानस्वरूप है, ऐसे आत्मा का श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन है वह कुछ आत्मा से भिन्न पदार्थ नहीं है, आत्मा का ही परिणाम है । इसलिए आत्मा ही है । इस कारण जो सम्यग्दर्शन है वह आत्मा है, अन्य नहीं है । यहां पर इतना और जानना कि नय श्रुतप्रमाण के अंश हैं इसलिए शुद्धनय भी श्रुतप्रमाण का ही अंश हुआ । श्रुतप्रमाण है वह परोक्ष प्रमाण है क्योंकि वस्तु आगम से जानी जाती है । यह शुद्धनय भी सब द्रव्यो से भिन्न आत्मा की सब पर्यायों में व्याप्त पूर्णचैतन्य केवलज्ञान रूप सब लोकालोक के जानने वाले असाधारण चैतन्य धर्म को दिखलाता है, उसको यह व्यवहारी छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) जीव आगम को प्रमाण मानकर पूर्ण आत्मा का श्रद्धान करे, वही श्रद्धान निश्चयसम्यग्दर्शन है । जब तक व्यवहार नय के विषयभूत जीवादिक भेद रूप तत्त्वों का केवल श्रद्धान रहता है, तब तक निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। इसलिए आचार्य कहते है कि इन तत्त्वों की संतति (परिपाटी) को छोड़कर शुद्धनय का विषयभूत एक यह आत्मा ही हमको प्राप्त हो; हम दूसरा कुछ नहीं चाहते । यह वीतराग अवस्था की प्रार्थना है, कुछ नयपक्ष नहीं है । सर्वथा नयो का पक्षपात ही मिथ्यात्व है । **प्रश्न**—अनुभव में चैतन्यमात्र आना इतना ही आत्मा को मानकर श्रद्धान करे तो सम्यग्दर्शन है कि नहीं ? **समाधान**—चैतन्य मात्र तो नास्तिक के अतिरिक्त सभी मतवाले आत्मा को मानते हैं, यदि इतने ही श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा जाय तो सभी के सम्यक्त्व सिद्ध हो जायगा । इसलिए सर्वज्ञ की वाणी में जैसा पूर्ण आत्मा का स्वरूप कहा है, वैसा श्रद्धान होने से निश्चय सम्यक्त्व होता है ।'अतः' इत्यादि ।

अर्थ—इसके बाद शुद्ध नय के आधीन आत्मज्योति प्रगट होती है । नवतत्त्व में प्राप्त होने पर भी जो अपने एकत्व को नहीं छोड़ती ।

भावार्थ—नवतत्त्व में प्राप्त हुआ आत्मा अनेक रूप दीखता है । वास्तव में यदि इसका भिन्न स्वरूप विचारा जाय तो यह अपनी चैतन्यचमत्कारमात्र ज्योति को नहीं छोड़ता ॥ १२ ॥

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ १३ ॥

भूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च।
आस्रवसंवरनिर्जरा बंधो मोक्षश्च सम्यक्त्वम् ॥ १३ ॥

अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थेनाभिगतानि सम्यग्दर्शनं संपद्यंत एवामीषु तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तमभूतार्थनयेन व्यपदिश्यमानेषु जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणेषु नवतत्त्वेष्वेकत्वद्योतिना भूतार्थनयेनैकत्वमुपानीय शुद्धनयत्वेन व्यवस्थापितस्यात्मनोनुभूतेरात्मख्यातिलक्षणायाः संपद्यमानत्वात्। तत्र विकार्यविकारकोभयं पुण्यं तथा पापं। आस्राव्यास्रावकोभयमास्रवः, संवार्यसंवारकोभयं संवरः, निर्जर्यनिर्जरकोभयं निर्जरा, बंध्यबंधकोभयं बंधः, मोच्यमोचकोभयं मोक्षः। स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षानुपपत्तेः। तदुभयं च जीवाजीवाविति। बहिर्दृष्ट्या नवतत्त्वान्यमूनि जीवपुद्गलयोरनादिबंधपर्यायमुपेत्यैकत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ चैकजीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि। ततोऽमीषु नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते। तथांतर्दृष्ट्या ज्ञायको भावो जीवो जीवस्य विकार-

---

हारनयव्याख्यानप्रतिपादनरूपेण गाथाद्वयेन पंचमं स्थलं गतं। इति चतुर्दशगाथाभिः स्थलपंचकेन पीठिका समाप्ता। अथ कश्चिदासन्नभव्यः पीठिकाव्याख्यानमात्रेणैव हेयोपादेयतत्त्वं परिज्ञाय विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं निजस्वरूपं भावयति। विस्तररुचिः पुनर्नवभिरधिकारैः समयसारं ज्ञात्वा पश्चाद्भावनां करोति। तद्यथा—विस्तररुचिशिष्यं प्रति जीवादिनवपदार्थाधिकारैः समयसारव्याख्यानं क्रियते। तत्रादौ नवपदार्थाधिकारगाथाया आर्त्तरौद्रपरित्यागलक्षणनिर्विकल्पसामायिकस्थितानां यच्छुद्धात्मरूपस्य दर्शनमनुभवनमवलोकनमुपलब्धिः संवित्तिः प्रतीतिः ख्यातिरनुभूतिस्तदेव निश्चयनयेन निश्चयचारित्राविनाभावि निश्चयसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं भण्यते। तदेव च गुणगुण्यभेदरूपनिश्चयनयेन शुद्धात्मस्वरूपं भवतीत्येका पातनिका। अथवा नवपदार्था भूतार्थेन ज्ञाताः संतस्त एवाभेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वाद् व्यवहारसम्यक्त्वनिमित्तं भवंति, निश्चयनयेन तु स्वकीयशुद्धपरिणाम एव सम्यक्त्वमिति द्वितीया चेति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्ररूपयति.—

शुद्धनय से जानना ही सम्यक्त्व है, ऐसा सूत्रकार गाथा में कहते है,—**[भूतार्थेन अभिगताः]** भूतार्थनय से जाने हुए **[जीवाजीवौ]** जीव, अजीव **[च]** और **[पुण्यपापं]** पुण्य, पाप **[च]** तथा **[आस्रवसंवरनिर्जराः]** आस्रव, संवर, निर्जरा **[बंधः]** बंध **[च]** और **[मोक्षः]** मोक्ष **[सम्यक्त्वं]** ये नवतत्त्व सम्यक्त्व हैं।

टीका—जो जीवादि नौ तत्त्व हैं वे भूतार्थ नय से जाने हुए सम्यग्दर्शन ही हैं यह नियम कहा, क्योंकि जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष लक्षण वाले व्यवहार धर्म की प्रवृत्ति के अर्थ ये जीवादि नवतत्त्व अभूतार्थ (व्यवहार) नय से कहे हुए हैं, उनमें एकत्व प्रगट करने

हेतुरजीवः । केवला जीवविकाराश्च पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणाः, केवला जीवविकारहेतवः पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षा इति । नवतत्वान्यमून्यपि जीवद्रव्यस्वभावमपोह्य स्वपरप्रत्ययैकद्रव्यपर्यायत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ च सकलकालमेवास्खलंतमेकं जीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि । ततोऽमीष्वपि नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते । एवमसावेकत्वेन द्योतमानः शुद्धनयत्वेनानुभूयत एव । यात्वनुभूतिः सात्मख्यातिरेवात्मख्यातिस्तु सम्यग्दर्शनमेवेति समस्तमेव निरवद्यं ।

भूदत्थेण भूतार्थेन निश्चयनयेन शुद्धनयेन अभिगदा अभिगता निर्णीता निश्चिता ज्ञाताः संतः । के ते । जीवाजीवा य पुण्णपावं च आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षस्वरूपा नव पदार्थाः सम्मत्तं त एवाभेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वात्कारणत्वात्सम्यक्त्वं भवंति । निश्चयेन

वाले भूतार्थ नय से एकत्व प्राप्त कर शुद्ध नय से स्थापन किए गए आत्मा की ख्याति लक्षण वाली अनुभूति की प्राप्ति है; क्योंकि शुद्धनय से नव तत्त्व को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है । उनमें से विकारी होने योग्य और विकार करने वाला—ये दोनों पुण्य भी हैं और पाप भी हैं तथा आस्राव्य व आस्रावक (आस्रव करने वाले) ये दोनों आस्रव हैं, संवार्य (संवर रूप होने योग्य) व संवारक (संवर करने वाले) ये दोनों संवर हैं । निर्जरने योग्य, निर्जरा करने वाले ये दोनों निर्जरा हैं । बंधने योग्य, बंधन करने वाले ये दोनों बंध हैं और मोक्ष होने योग्य, मोक्ष करने वाले ये दोनों मोक्ष हैं । क्योंकि एक के ही अपने आप पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, और मोक्ष की उपपत्ति (सिद्धि) नहीं बनती । तथा वे जीव और अजीव दोनों मिलकर सब नौ तत्त्व हैं । इनको बाह्य दृष्टि से देखा जाय तब जीव पुद्गल की अनादि बंध पर्याय को प्राप्त करके उनका एकत्व से अनुभव करने पर तो ये नौ भूतार्थ हैं—सत्यार्थ हैं तथा एक जीव द्रव्य के ही स्वभाव को लेकर अनुभव किए गए अभूतार्थ हैं—असत्यार्थ हैं । जीव के एकाकार स्वरूप में ये नहीं हैं । इसलिए इन तत्त्वों में भूतार्थ नय से जीव एकरूप ही प्रकाशमान है । उसी तरह अंतर्दृष्टि से देखा जाय तब ज्ञायक भाव जीव है और जीव के विकार का कारण अजीव है । पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष जिसका लक्षण है ऐसा केवल अकेले जीव का विकार नहीं है, पुण्य आदि ये सातों पदार्थ केवल एक अजीव के विकार से जीव के विकार के कारण हैं । ऐसे ये नय तत्त्व हैं वे जीव के स्वभाव को छोड़कर स्वपरनिमित्तक एक द्रव्यपर्याय रूप से अनुभव किए गए तो भूतार्थ हैं तथा सब काल में नहीं चिगते एक जीव द्रव्य के स्वभाव को अनुभव करने पर ये अभूतार्थ हैं—असत्यार्थ हैं । इसलिए इन नौ तत्त्वों में भूतार्थ नय से देखा जाय तब जीव तो एक रूप ही प्रकाशमान है । ऐसे यह जीवतत्त्व एकत्व रूप से प्रकट प्रकाशमान हुआ शुद्ध नय से अनुभव किया जाता है । यह अनुभवन ही आत्मख्याति है—आत्मा का ही प्रकाश है, जो आत्मख्याति है वही सम्यग्दर्शन है । इस प्रकार यह सब कथन निर्दोष है—बाधारहित है ।

भावार्थ—इन नव तत्त्वों में शुद्ध नय से देखा जाय तब जीव ही एक चैतन्यचमत्कार मात्र

'चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥ ८॥

अथैवमेकत्वेन द्योतमानस्यात्मनोऽधिगमोपायाः प्रमाणनयनिक्षेपाः ये ते खल्वभूतार्थास्तेष्वप्ययमेक एव भूतार्थः। प्रमाणं तावत्परोक्षं प्रत्यक्षं च। तत्रोपात्तानुपात्तपरद्वारेण प्रवर्त्तमानं परोक्षं, केवलात्मप्रतिनियतत्वेन प्रवर्त्तमानं प्रत्यक्षं च, तदुभयमपि प्रमातृप्रमाणप्रमेयभेदस्यानुभूयमानतायां भूतार्थमथ च व्युदस्तसमस्तभेदैकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थं। नयस्तु द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। तत्र द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति द्रव्यार्थिकः, पर्यायं मुख्यतयानुभावयतीति पर्यायार्थिकः, तदुभयमपि द्रव्यपर्याययोः पर्यायेणानुभूयमानतायां भूतार्थं। अथ च द्रव्यपर्यायानालीढशुद्धवस्तुमात्रजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थं। निक्षेपस्तु नाम, स्थापना, द्रव्यं, भावश्च। तत्रातद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकरणं नाम। सोऽयमित्यन्यत्र प्रतिनिधिव्यवस्थापनं स्थापना। वर्त्तमानतत्पर्यायादन्यद्द्रव्यं, वर्त्तमानतत्पर्यायो

परिणाम एव सम्यक्त्वमिति। नव पदार्था भूतार्थेन ज्ञाताः सन्तः सम्यक्त्वं भवतीत्युक्तं भवद्भिस्तत्कीदृशं भूतार्थपरिज्ञानमिति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह। यद्यपि नव पदार्था तीर्थवर्त्तनानिमित्तं प्राथमिकशिष्यापेक्षया भूतार्था

प्रकाश रूप प्रकट हो रहा है। इसके विना जुदे-जुदे नव तत्त्व देखे जायं तो कुछ भी नहीं। जब तक इस तरह जीव तत्त्व का जानना नहीं है, तब तक व्यवहारदृष्टि में होकर पृथक् पृथक् नव तत्त्वों को मानता है। जीव पुद्गल की बंधपर्याय रूप दृष्टि से ये पदार्थ भिन्न-भिन्न दीखते हैं और जब शुद्ध नय से जीव पुद्गल का निज स्वरूप जुदा जुदा देखा जाय, तब ये पुण्य पाप आदि सात तत्त्व कुछ भी वस्तु नहीं दीखते, निमित्तनैमित्तिक भाव से हुए थे सो निमित्तनैमित्तिक भाव जब मिट गया तब जीव पुद्गल जुदे जुदे होने से दूसरा कोई पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता। वस्तु तो द्रव्य है। द्रव्य के निज भाव द्रव्य के ही साथ रहते हैं और नैमित्तिक भाव का तो अभाव ही होता है, इसलिए शुद्ध नय से जीव को जानने से ही सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो सकती है। जब तक आत्मा को नहीं जाना तब तक पर्यायबुद्धि है।

यहां पर इसी अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं **"चिरं"** इत्यादि। **अर्थ**—इस प्रकार नौ तत्त्वों में बहुत काल से छुपी हुई यह आत्मज्योति शुद्धनय से प्रकट की है। जैसे वर्णों (रंग) के समूह में सुवर्ण के छुपे हुए एकाकार को निकालते हैं, उसी तरह यह आत्मज्योति समझना। इसको हमेशा अन्य द्रव्यों से तथा उनसे हुए नैमित्तिक भावों से भिन्न एक रूप देखो। यह हर एक पर्याय में एकरूप चिच्चमत्कारमात्र उद्योतमान है।

कलश का भावार्थ—यह आत्मा सब अवस्थाओं में नाना रूप दीखता था, उसे शुद्धनय ने एक चैतन्यचमत्कार मात्र दिखलाया है सो अब सदा एकाकार ही अनुभवन करो। पर्यायबुद्धि का एकांत मत रखो, ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है।

भावस्तच्चतुष्टयं स्वस्वलक्षणवैलक्षण्येनानुभूयमानतायां भूतार्थं। अथ च निर्विलक्षणस्वलक्षणैकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थं। अथैवममीषु प्रमाणनयनिक्षेपेषु भूतार्थत्वेनैको जीव एव प्रद्योतते ॥ १३ ॥

भण्यंते तथाप्यभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिकाले अभूतार्था असत्यार्थाः शुद्धात्मस्वरूपं न भवंति। तस्मिन् परमसमाधिकाले नवपदार्थमध्ये शुद्धनिश्चयनयेनैक एव शुद्धात्मा प्रद्योतते प्रकाशते प्रतीयते अनुभूयत इति। या चानुभूतिः प्रतीतिः शुद्धात्मोपलब्धिः सा चैव निश्चयसम्यक्त्वमिति सा चैवानुभूतिर्गुणगुणिनोर्निश्चयनयेनाभेदविवक्षायां शुद्धात्मस्वरूपमिति तात्पर्यं। किं च, ये च प्रमाणनयनिक्षेपाः परमात्मादितत्त्वविचारकाले सहकारिकारणभूतास्तेपि

टीका—जैसे नव तत्त्वों में एक जीव का ही जानना भूतार्थ कहा, उसी तरह एकत्व से प्रकाशमान आत्मा के अधिगम के उपाय जो प्रमाण, नय और निक्षेप हैं, वे भी निश्चय से अभूतार्थ है, उनमें भी एक आत्मा ही भूतार्थ है, क्योंकि ज्ञेय और वचन के भेद से वे प्रमाणादि अनेक भेदरूप होते है। उनमें से प्रमाण दो प्रकार है—परोक्ष और प्रत्यक्ष। उनमे से उपात्त अर्थात् इन्द्रिय और मन, अनुपात्त अर्थात् प्रकाश उपदेशादि इन दोनों परद्वारों से प्रवर्तमान ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। तथा जो आत्मा के प्रतिनियतपने से प्रवर्तमान हो वह प्रत्यक्ष है।

भावार्थ—प्रमाण ज्ञान है। वह पांच प्रकार का है—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। उनमें से मति और श्रुत ये दो ज्ञान परोक्ष हैं, अवधि, मनःपर्यय ये दो विकल प्रत्यक्ष है और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। ये दोनों तरह के ही प्रमाण है। ये दो भेद प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के भेद का अनुभव करते हुए तो भूतार्थ हैं—सत्यार्थ है और जिसमें सब भेद गौण हो गये हैं ऐसे एक जीव के स्वभाव का अनुभव करते हुए अभूतार्थ है—असत्यार्थ हैं। नय दो प्रकार है—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। उनमे से जो द्रव्यपर्याय स्वरूप वस्तु को द्रव्यत्व की मुख्यता से अनुभव करावे वह द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय की मुख्यता से अनुभव करावे वह पर्यायार्थिक नय है। ये दोनों ही नय द्रव्य पर्याय को भेदरूप पर्याय से अनुभव कराते हैं अतः भूतार्थ हैं—सत्यार्थ हैं और द्रव्य पर्याय इन दोनों का आस्वाद न लेते हुए शुद्ध वस्तुमात्र जीव के स्वभाव चैतन्यमात्र का अनुभव कराने पर भेदरूप अभूतार्थ हैं—असत्यार्थ हैं। निक्षेप भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से चार तरह का है। जिसमें वह गुण तो न हो किन्तु व्यवहार के लिये उसकी संज्ञा करना वह नाम निक्षेप है; अन्य वस्तु में अन्य की प्रतिमा रूप स्थापना करना कि यह वही है यह स्थापना निक्षेप है; वर्तमान पर्याय से अन्य अतीत अनागत पर्याय रूप वस्तु को वर्तमान पर्याय में कहना यह द्रव्य निक्षेप है; और वर्तमान पर्याय रूप वस्तु को वर्तमान में कहना यह भाव निक्षेप है। ये चारों ही निक्षेप अपने अपने लक्षण भेद से भिन्न-भिन्न विलक्षण रूप अनुभव किये गये भूतार्थ है—सत्यार्थ हैं और भिन्न लक्षण से रहित एक अपने चैतन्य-लक्षणरूप जीव के स्वभाव का अनुभव करने पर चारों ही अभूतार्थ हैं—असत्यार्थ हैं। इस तरह इन प्रमाण, नय और निक्षेपों मे भूतार्थपने से एक जीव ही प्रकाशमान है।

भावार्थ—इन प्रमाण, नय और निक्षेपो का विस्तार से व्याख्यान इनके प्रकरण ग्रंथों में से

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रं ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ ९ ॥
आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम् ।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ॥ १० ॥

सविकल्पावस्थायामेव भूतार्थाः । परमसमाधिकाले पुनरभूतार्थास्तेषु मध्ये भूतार्थेन शुद्धजीव एक एव प्रतीयते ॥ १३ ॥

जानना। इन्हीं से द्रव्यपर्यायस्वरूप वस्तु की सिद्धि होती है। ये साधक अवस्था में सत्यार्थ ही हैं क्योंकि ये ज्ञान के ही विशेष हैं, इनके बिना वस्तु को यथाकथंचित् (एकान्त रूप से) साधा जाय तब विपर्यय हो जाता है। अवस्था के व्यवहार के अभाव की तीन रीतियां हैं। एक तो यथार्थ वस्तु को जान कर ज्ञान और श्रद्धान की सिद्धि करना। ज्ञान और श्रद्धान सिद्ध होने के बाद प्रमाणादिक से श्रद्धान करने का कुछ प्रयोजन नहीं है। दूसरी अवस्था विशेष ज्ञान और राग, द्वेष, मोह, कर्म का सर्वथा अभाव रूप यथाख्यात चारित्र का होना है, इसी से केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है, इसके होने के बाद प्रमाणादिक का आलंबन नहीं रहता। उसके बाद तीसरी साक्षात् सिद्ध अवस्था है। वहां पर भी कुछ आलंबन नहीं है इसलिये सिद्ध अवस्था में भी प्रमाण-नय-निक्षेप का अभाव ही है।

इसी अर्थ का कलशरूप "उदयति" इत्यादि श्लोक कहते हैं। **अर्थ**—इन सब भेदों का नाश करने वाले शुद्धनय के विषयभूत चैतन्यचमत्कारमात्र तेजपुंज आत्मा के अनुभव में आने पर नयों की लक्ष्मी उदय को प्राप्त नहीं होती। प्रमाण अस्त को प्राप्त हो जाता है और निक्षेपों का समूह भी कहां चला जाता है ये हम नहीं जानते। इससे अधिक क्या कहें, कि द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता।

भावार्थ—भेद को अत्यन्त गौण कर कहा है। शुद्ध अनुभव होने पर प्रमाणनयादिक भेद की तो बात क्या है, द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता। इस विषय में विज्ञानाद्वैतवादी तथा वेदांती कहते हैं कि परमार्थ में (असल में) तो अद्वैत का ही अनुभव हुआ, यही हमारा मत है, तुमने विशेष क्या कहा? इसका उत्तर यह है कि तुम्हारे मत में सर्वथा अद्वैत मानते हैं। यदि सर्वथा अद्वैत ही माना जाय तो बाह्य वस्तु का अभाव ही हो जाय किन्तु ऐसा अभाव प्रत्यक्ष विरुद्ध है। हमारे मत में नयविवक्षा है, वह बाह्य वस्तु का लोप नहीं करती। शुद्ध अनुभव से विकल्प नष्ट हो जाता है, तब आत्मा परमानन्द को प्राप्त हो जाता है इसलिये अनुभव कराने को ऐसा कहा गया है। यदि बाह्य वस्तु का लोप किया जावे तो आत्मा का भी लोप हो जाने से शून्यवाद का प्रसंग आ सकता है। इसलिये तुम्हारे कहने से वस्तु-स्वरूप की सिद्धि नहीं हो सकती और वस्तु-स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा के बिना जो शुद्ध अनुभव भी किया जाय वह भी मिथ्यारूप है। ऐसा होने से शून्यवाद का प्रसंग आता है तब आकाश के फूल के समान अनुभव हो जायगा।

आगे जो शुद्ध नय का उदय होता है उसकी सूचना का श्लोक कहते हैं। 'आत्मस्वभावं' इत्यादि। **अर्थ**—शुद्धनय आत्मा के स्वभाव को प्रकट करता हुआ उदयरूप होता है। वह आत्मा को

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि ॥ १४ ॥

यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतं।
अविशेषमसंयुक्तं तं शुद्धनयं विजानीहि ॥ १४ ॥

या खल्वबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनयः सात्वनुभूतिरात्मैवेत्यात्मैक एव प्रद्योतते। कथं यथोदितस्यात्मनोनुभूतिरिति चेद्बद्धस्पृष्टत्वादीनामभूतार्थत्वात्तथाहि—यथा खलु बिसिनीपत्रस्य सलिलनिमग्नस्य सलिलस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां सलिलस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः सलिलास्पृश्यं बिसिनीपत्रस्वभावमुपेत्यानुभूयमानताया-

---

इति नवपदार्थाधिकारगाथा गता। तत्र नवाधिकारेषु मध्ये प्रथमतस्तावदष्टाविंशतिगाथापर्यंतं जीवाधिकारः कथ्यते। तथाहि-सहजानंदैकस्वभावशुद्धात्मभावनामुख्यतया **जो पस्सदि अप्पाण**मित्यादि सूत्रपाठक्रमेण प्रथमस्थले गाथात्रयं।

परद्रव्य, परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से हुए अपने विभाव इस तरह के परभावों से भिन्न प्रकट करता है। फिर समस्त रूप से पूर्ण सब लोकालोक के जानने वाले स्वभाव को प्रकट करता है, **क्योंकि ज्ञान में भेद कर्मसंयोग से है, शुद्धनय में कर्म गौण हैं।** तथा आदि अन्त से रहित (कुछ आदि लेकर किसी से उत्पन्न नहीं हुआ और न कभी किसी से नाश होता है) ऐसे पारिणामिक भाव को प्रकट करता है। एक, सब भेद भावों से (द्वैत भावों से) रहित एकाकार तथा जिसमें समस्त संकल्पविकल्पों के समूह का विलय (नाश) हो गया है, ऐसा शुद्धनय प्रकाश रूप होता है। द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नोकर्म आदि पुद्गल द्रव्यों में अपनी कल्पना करने को **संकल्प** और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेदों की प्रतीति को **विकल्प** कहते है। १३।

इस तरह के शुद्धनय को गाथा सूत्र से कहते है;—**[यः]** जो नय **[आत्मानं]** आत्मा को **[अबद्धस्पृष्टं]** बंधरहित और पर के स्पर्श रहित **[अनन्यं]** अन्यत्व रहित **[नियतं]** चलाचलतारहित **[अविशेषं]** विशेष रहित **[असंयुक्तं]** अन्य के संयोग रहित—ऐसे पांच भावरूप **[पश्यति]** अवलोकन करता है **[तं]** उसे **[शुद्धनयं]** शुद्धनय **[विजानीहि]** जानो।

टीका—निश्चय से अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, असंयुक्त—ऐसे आत्मा का अनुभव करना ही शुद्धनय है। यह अनुभूति निश्चय से आत्मा ही है। ऐसा आत्मा ही एक प्रकाशमान है अर्थात् शुद्धनय, आत्मा की अनुभूति या आत्मा इन सब का एक ही अभिप्राय है। यहां शिष्य पूछता है कि आपने जैसा कहा है, वैसे आत्मा की अनुभूति इन पांच भावों में कैसी है? उसका समाधान—जो बद्धस्पृष्टत्व आदि पांच भाव है उनमें अभूतार्थता है—असत्यार्थता है इसलिये शुद्धनय ही आत्मा की अनुभूति है। इसी बात को दृष्टांत से प्रकट करते हैं—जैसे कमलिनी का पत्र जल में डूबा

नयचक्र पृ. १०८ पर गाथा।

ममूतार्थं । तथात्मनोनादिबद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं । यथा च मृत्तिकायाः करककरीर-कर्करीकपालादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोप्यस्खलंतमेकं मृत्तिकास्वभाव-मुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं । तथात्मनो नारकादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोप्यस्खलंतमेकमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं । यथा च वारिधेर्वृद्धिहानिपर्याये-णानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितं वारिधिस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायाम-

---

तदनंतरं दृष्टांतदार्ष्टांतद्वारेण भेदाभेदरत्नत्रयभावनामुख्यतया **दंसणणाणचरित्ताणि** इत्यादि द्वितीयस्थले गाथात्रयं । ततः परं जीवस्याप्रतिबुद्धत्वकथनेन प्रथमगाथा, बंधमोक्षयोग्यपरिणामकथनेन द्वितीया, जीवो निश्चयेन रागादिपरिणामानामेव कर्त्तेति तृतीया चेत्येवं **कम्मे णोकम्मम्हि य** इत्यादि तृतीयस्थले परस्परसम्बन्धनिरपेक्षस्वतन्त्रं गाथात्रयं । तदनंतरमि-

---

हुआ है उसका जल-स्पर्शन रूप अवस्था से अनुभव किये जाने पर जल-स्पर्श रूप दशा भूतार्थ है—सत्यार्थ है तो भी एक अपेक्षा से वास्तव में जल के स्पर्शन योग्य नहीं ऐसा कमलिनी का पत्र स्वभाव को लेकर अनुभव किये जाने पर जल-स्पर्श रूप दशा अभूतार्थ है—असत्यार्थ है । उसी तरह आत्मा के अनादि पुद्गल कर्म से बद्धस्पर्श रूप अवस्था से अनुभव किये जाने पर बद्धस्पृष्टत्व भूतार्थ है—सत्यार्थ है । वास्तव में जो पुद्गल के स्पर्श योग्य नहीं ऐसे आत्मस्वभाव को लेकर अनुभव किये जाने पर बद्धस्पृष्टत्व असत्यार्थ है । और जैसे मिट्टी के कुण्डी, घट, कलशी, खप्पर आदि पर्यायभेदों का अनुभव करने से अन्यत्व सत्यार्थ है तो भी सब पर्यायों के भेद रूप नहीं होते हुए एक मिट्टी के स्वभाव को अनुभवन करने से यह पर्याय भेद अभूतार्थ है—असत्यार्थ है । उसी तरह आत्मा को नारक आदि पर्याय भेदों के रूप में अनुभवन करने से पर्यायों का अन्यत्व सत्यार्थ है, तो भी सब पर्याय भेदों में अचल एक चैतन्याकार आत्मस्वभाव को लेकर अनुभव करने से अन्यत्व अभूतार्थ है—असत्यार्थ है । जैसे समुद्र को वृद्धि-हानि अवस्था रूप अनुभव करने से अनियतता भूतार्थ है तो भी नित्य स्थिर समुद्रस्वभाव को अनुभवन करने से अनियतता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है । उसी तरह आत्मा का वृद्धिहानि पर्याय भेदों रूप अनुभव करने से अनियतता भूतार्थ है—सत्यार्थ है तो भी नित्य व्यवस्थित निश्चल आत्मा के स्वभाव का अनुभव करने से अनियतता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है । जैसे सुवर्ण का चिकना, भारी और पीला आदि गुण रूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता सत्यार्थ है तो भी जिसमें सब विशेष विलय हो गये हैं ऐसे सुवर्ण-स्वभाव को लेकर अनुभव करने से विशेषता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है । उसी तरह आत्मा का ज्ञान, दर्शन आदि गुण रूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है—सत्यार्थ है तो भी जिसमें सब विशेष विलय हो गये हैं, ऐसे चैतन्यमात्र आत्म-स्वभाव को लेकर अनुभव करने से विशेषता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है । जैसे अग्नि के निमित्त से उत्पन्न उष्णता से मिले हुए जल की तप्तरूप अवस्था का अनुभव करने से जल में उष्णता की संयुक्तता भूतार्थ है—सत्यार्थ है तो भी वास्तव में शीतल स्वभाव को लेकर जल का अनुभव करने से उष्णता की संयुक्तता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है । उसी तरह कर्म

भूतार्थं तथात्मनो वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं। यथा च कांचनस्य स्निग्धपीतगुरुत्वादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषं कांचनस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं तथात्मनो ज्ञानदर्शनादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं। यथा चापां सप्तार्चिःप्रत्ययौष्ण्यसमाहितत्वपर्यायेणानु-

---

ग्धनाग्निदृष्टांतेनाप्रतिबुद्ध लक्षणकथनार्थं **अहमेद** मित्यादि चतुर्थस्थले सूत्रत्रयं। अतः परं शुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिलक्षणाभेदरत्नत्रयभावनाविषये योऽसावप्रतिबुद्धस्तत्प्रतिबोधनार्थं **अण्णाणमोहिदमदी** इत्यादि पंचमस्थले सूत्रत्रयं। अथ निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धात्मतत्त्वमजानन् देह एवात्मेति योऽसौ पूर्वपक्षं करोति तस्य स्वरूपकथनार्थं **जदि जीवो** इत्यादि पूर्वपक्षरूपेण गाथैका। तदनंतरं व्यवहारेण देहस्तवनं निश्चयेन शुद्धात्मस्तवनमिति नयद्वयविभागप्रतिपादनमुख्यत्वेन

निमित्तक मोह संयुक्तता रूप अवस्था द्वारा आत्मा का अनुभव करने के कारण संयुक्तता भूतार्थ है—सत्यार्थ है तो भी वास्तव में आत्मबोध का बीज रूप चैतन्य स्वभाव को लेकर अनुभव करने से मोह संयुक्तता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है।

भावार्थ—आत्मा पांच तरह से अनेक रूप है—प्रथम तो अनादि काल से कर्म पुद्गल के सम्बन्ध से बंधा हुआ कर्म पुद्गल से स्पर्श रूप दीखता है तथा कर्म के निमित्त से हुए नर नारकादिपर्यायों में भिन्न भिन्न स्वरूप दीखता है। शक्ति के अविभाग प्रतिच्छेद (अंश) घटते भी हैं, बढ़ते भी हैं, यह वस्तु का स्वभाव है। इसलिए नित्य नियत एक रूप नहीं दीखता। दर्शन ज्ञान आदि अनेक गुणों से विशेष रूप दीखता है। कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुए मोह राग द्वेषादिक परिणाम सहित सुख दुःख स्वरूप दीखता है। यह सब अशुद्ध द्रव्यार्थिक रूप व्यवहारनय का विषय है। उस दृष्टि से देखा जाय तो सब ही सत्यार्थ है परन्तु आत्मा का एक स्वभाव नय से ग्रहण नहीं होता और एक स्वभाव के जाने विना यथार्थ आत्मा को कोई कैसे जान सके, इस कारण दूसरे नय को—इसके प्रतिपक्षी शुद्ध द्रव्यार्थिक को ग्रहण कर एक असाधारण ज्ञायक मात्र आत्मा का भाव लेकर सब पर द्रव्यों से भिन्न, सब पर्यायों में एकाकार, हानि वृद्धि से रहित, विशेषों से रहित, नैमित्तिक भावों से रहित शुद्धनय की दृष्टि से देखा जाय तब सभी (पांच) भावों द्वारा अनेकरूपता है वह अभूतार्थ है—असत्यार्थ है। यहां ऐसा जानना कि वस्तु का स्वरूप जो अनंत धर्मात्मक है, वह स्याद्वाद से यथार्थ सिद्ध होता है। आत्मा भी अनंतधर्मा है, उसके कितने ही धर्म तो स्वाभाविक हैं और कितने ही पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हैं। जो कर्म के संयोग से होते हैं, उनसे तो आत्मा के संसार की प्रवृत्ति होती है, उस सम्बन्धी सुखदुःखादिक होते हैं उनको भोगता है। यह इस आत्मा के अनादि अज्ञान से पर्यायबुद्धि है, अनादि अनन्त एक आत्मा का ज्ञान नहीं है। उसको बतलाने वाला सर्वज्ञ का आगम है। उसमें शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से यह बतलाया गया है कि आत्मा का एक असाधारण चैतन्य भाव है—वह अखंड है, नित्य है, अनादिनिधन है। इसी

भूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांततः शीतमप्स्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं तथात्मनः कर्मप्रत्ययमोहसमाहितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांततः स्वयंबोधबीजस्व[1]-भावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् ।

ववहारणश्रो भासदि इत्यादि परिहारसूत्रचतुष्टयं । अथ परमोपेक्षालक्षणशुद्धात्मसंवित्तिरूपनिश्चयस्तुतिमुख्यत्वेन **जो इंदिए जिणित्ता** इत्यादि सूत्रत्रयं । एवं गाथाष्टकसमुदायेन षष्ठस्थलं । ततः परं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानमेव विषयकषायादिपरद्रव्याणां प्रत्याख्यानमिति कथनेन **णाणं सव्वे भावा** इत्यादि सप्तमस्थले गाथाचतुष्टयं । तदनंतरमनंतज्ञानादिलक्षणशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकस्वसंवेदनमेव भावितात्मनः स्वरूपमित्युपसंहारमुख्यतया **अहमिक्को खलु सुद्धो** इत्यादि सूत्रमेकं । एवं दंडकान्विहायाष्टाविंशतिसूत्रैः सप्तभिरंतरस्थलैर्जीवाधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा-अथ प्रथमगाथायामबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतमविशेषमसंयुक्तं संसारावस्थायामपि शुद्धनयेन बिसिनीपत्रमृत्तिकावार्द्धिसुवर्णोष्ण्यरहितजलवत्पंचविशेषणविशिष्टं शुद्धात्मानं कथयतिः—

जो पस्सदि यः कर्ता पश्यति जानाति । कं । **अप्पाणं** शुद्धात्मानं । कथंभूतं । **अबद्धपुट्ठं** द्रव्यकर्मनोकर्म-

---

के जानने से पर्याय बुद्धि का पक्षपात मिट जाता है। पर द्रव्यों से तथा उनके भावों से अथवा उनके निमित्त से हुए अपने विभावों से अपने आत्मा को जानकर इसका अनुभव करे, तब पर द्रव्य के भाव स्वरूप परिणमन नही करता । उस समय कर्म नहीं बंधते, संसार से निवृत्ति हो जाती है । इसलिए पर्यायार्थिकरूप व्यवहारनय को गौण करके अभूतार्थ (असत्यार्थ) कह कर शुद्धनिश्चयनय को सत्यार्थ कहकर आलम्बन दिया है । वस्तु स्वरूप की प्राप्ति होने के बाद उसका भी आलम्बन नहीं रहता । इस कथन से ऐसा नहीं समझ लेना कि शुद्ध नय को जो सत्यार्थ कहा है, इस कारण अशुद्धनय सर्वथा असत्यार्थ ही है । ऐसा मानने से वेदांत मतवाले जो संसार को सर्वथा अवस्तु मानते हैं उनका सर्वथा एकांत पक्ष आ जायगा, तब मिथ्यात्व आ जायगा । उस समय इस शुद्धनय का भी आलम्बन उन वेदांतियों की तरह मिथ्यादृष्टि हो जायगा । इसलिए सभी नयों की कथंचित् रीति से सत्यार्थता का श्रद्धान करने पर ही सम्यग्दृष्टि होता है । इस प्रकार स्याद्वाद को समझ कर जिनमत का सेवन करना; मुख्य गौण कथन सुनकर सर्वथा एकांत पक्ष न पकड़ लेना । इसी प्रकार इस गाथा सूत्र का व्याख्यान टीकाकार ने किया है कि आत्मा व्यवहारनय की दृष्टि में जो बद्धस्पृष्ट आदि रूप दीखता है, वह इस दृष्टि में तो सत्यार्थ ही है परन्तु शुद्धनय की दृष्टि में बद्धस्पृष्ट आदि रूप असत्यार्थ है । इस कथन में स्याद्वाद बतलाया गया है, ऐसा जानना । जो ये नय हैं वे श्रुतज्ञान प्रमाण के अंश है । वह श्रुतज्ञान वस्तु को परोक्ष बतलाता है और ये नय भी परोक्ष ही बतलाते हैं । बद्ध-स्पृष्ट आदि पाँच भावों से रहित आत्मा शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषय चैतन्यशक्तिमात्र है, वह शक्ति तो परोक्ष ही है और उसकी व्यक्तियां कर्म संयोग से मति श्रुत आदि ज्ञानरूप हैं, वे कथंचित् अनुभव गोचर हैं उनको प्रत्यक्ष रूप भी कहते हैं । तथा संपूर्ण ज्ञान केवलज्ञान छद्मस्थ के (अल्पज्ञानी के) प्रत्यक्ष

---

१ जीव इत्यपि पाठः ।

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी स्फुटमुपरि तरंतोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठां।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समंतात् जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावं ॥ ११ ॥

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधी-
र्यद्यंतः किल कोप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोयमास्ते ध्रुवं,
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥ १२ ॥

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंपमेकोस्ति नित्यमवबोधघनः समंतात् ॥ १३ ॥

भ्यामसंस्पृष्टं जले बिसिनीपत्रवत्। **अणण्णयं** अनन्यकं नरनारकादिपर्यायेषु द्रव्यरूपेण तमेव स्थासकोशकुशूलघटादिपर्यायेषु मृत्तिकाद्रव्यवत् **णियदं** नियतमवस्थितं निस्तरंगोत्तरंगावस्थासु समुद्रवत् **अविसेसं** अविशेषमभिन्नं ज्ञानदर्शनादिभेदरहितं गुरुत्वस्निग्धत्वपीतत्वादिधर्मेषु सुवर्णवत् **असंजुत्तं** असंयुक्तमसंबद्धं रागादिविकल्परूपभावकर्मरहितं निश्चयनयेनौष्ण्यरहित-जलवदिति **तं सुद्धणयं वियाणीहि** तं पुरुषमेवाभेदनयेन शुद्धनयविषयत्वाच्छुद्धात्मसाधकत्वाच्छुद्धाभिप्रायपरिणतत्वाच्च शुद्धं विजानीहीति भावार्थः ॥ १४ ॥ अथ द्वितीयगाथायां या पूर्वं भणिता शुद्धात्मानुभूतिः सा चैव निर्विकारस्वसंवेदन-ज्ञानानुभूतिरिति प्रतिपादयति;—**जो पस्सदि** यः कर्ता पश्यति जानात्यनुभवति। कं **अप्पाणं** शुद्धात्मानं। किंवि-

---

नहीं है तो भी यह शुद्धनय आत्मा को केवलज्ञान रूप परोक्ष बतलाता है। जब तक इस नय को नहीं जानते तब तक आत्मा के पूर्ण रूप का ज्ञान श्रद्धान नहीं होता। इसलिए श्री गुरु ने इस शुद्धनय को प्रकट कर दिखलाया है कि बद्ध-स्पृष्ट आदि पांच भावों से रहित पूर्णज्ञानघनस्वभाव आत्मा को जानकर श्रद्धान करना, पर्यायबुद्धि का न रहना यह उपदेश है। **प्रश्न**—ऐसा आत्मा प्रत्यक्ष तो दीखता नहीं है और विना देखे श्रद्धान करना झूठा श्रद्धान है। **उत्तर**—देखे हुए का ही श्रद्धान करना यह तो नास्तिक मत है। जिनमत में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही प्रमाण माने गये हैं, सो आगम प्रमाण परोक्ष है, उसका भेद शुद्धनय है। इस शुद्धनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करना, केवल व्यवहार—प्रत्यक्ष का ही एकांत न कर लेना।

यहां इस शुद्धनय को मुख्य करके कलश रूप काव्य **"न हि विदधति"** इत्यादि कहते हैं। उसका अर्थ—टीकाकार उपदेश करते हैं कि—तुम उस सम्यक् स्वभाव का अनुभव करो जिसमें ये बद्ध-स्पृष्ट आदि भाव प्रगटपने से इस स्वभाव के ऊपर तरते हैं तो भी प्रतिष्ठा नहीं पाते। क्योंकि द्रव्य स्वभाव नित्य है, एकरूप है और ये भाव अनित्य हैं, अनेक रूप हैं। पर्याय द्रव्यस्वभाव में प्रवेश नहीं करती है, वह ऊपर ही रहती है। यह शुद्ध स्वभाव सब अवस्थाओं में प्रकाशमान है। ऐसे स्वभाव का मोहरहित होकर अनुभव करो क्योंकि मोहकर्म के उदय से उत्पन्न मिथ्यात्वरूप अज्ञान जब तक रहता है तब तक यह अनुभव यथार्थ नहीं होता।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
अपदेससुत्तमज्झं[1] पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥ १५ ॥

यः पश्यति आत्मानं अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम् ।
अपदेशसूत्रमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम् ॥१५ ॥

येयमबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोनुभूतिः सा खल्वखि-

---

शिष्टं । **अबद्धपुट्ठं** अबद्धस्पृष्टं । अत्र बद्धशब्देन संश्लेषरूपबंधो ग्राह्यः । स्पृष्टशब्देन तु संयोगमात्रमिति । द्रव्यकर्म-नोकर्मभ्यामसंस्पृष्टं जले बिसिनीपत्रवत् । **अणण्णं** अनन्यं मृत्तिकाद्रव्यवत् । **अविसेसं** अविशेषमभिन्नं सुवर्णवत्

भावार्थ—शुद्धनय के विषय रूप आत्मा का अनुभव करो यह उपदेश है ।

आगे इसी अर्थ का कलश रूप काव्य "भूत" इत्यादि कहते हैं कि ऐसा अनुभव करने पर आत्म देव प्रगट प्रतिभासमान होता है । **अर्थ**—यदि कोई सुबुद्धि सम्यग्दृष्टि भूत (पहले हुआ), भांत (वर्तमान) और अभूत (आगामी होने वाला) ऐसे तीनों काल के कर्मों के बंध को अपने आत्मा से तत्काल पृथक् करके तथा उस कर्म के उदय के निमित्त से उत्पन्न हुए मिथ्यात्व रूप अज्ञान को अपने बल (पुरुषार्थ) से पृथक् कर अन्तरंग में अभ्यास करे तो देखता है कि यह आत्मा, अपने अनुभव से ही जानने योग्य प्रगट महिमामय, व्यक्त, अनुभवगोचर, निश्चल, शाश्वत (नित्य) और कर्म-कलंक-कर्दम से रहित स्वयं स्तुति करने योग्य देव विराजमान हो रहा है ।

भावार्थ—शुद्धनय की दृष्टि से देखा जाय तो सब कर्मों से रहित चैतन्यमात्र देव अविनाशी आत्मा अन्तरंग में स्वयं विराजमान है । पर्यायबुद्धि बहिरात्मा इसको बाहर ढूंढ़ता है सो बड़ा अज्ञान है ।

शुद्धनय के विषयभूत आत्मा की जो अनुभूति है, वही ज्ञान की अनुभूति है, ऐसा आगे की गाथा की उत्थानिका रूप काव्य कहते हैं **आत्मानु** इत्यादि । **अर्थ**—इस प्रकार जो पूर्वकथित शुद्धनय स्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वही इस ज्ञान की अनुभूति है, ऐसा अच्छी तरह जानकर तथा आत्मा में आत्मा को निश्चल स्थापित करके सदा सब तरफ ज्ञानघन एक आत्मा ही है, इस प्रकार देखना चाहिये ।

भावार्थ—पूर्व में सम्यग्दर्शन को प्रधान मान कर कहा था, अब ज्ञान को मुख्य करके कहते हैं कि यह शुद्धनय के विषयस्वरूप आत्मा की अनुभूति है वही सम्यग्ज्ञान है ॥ १४ ॥

अब इसी को गाथा से स्पष्ट करते हैं; [**यः**] जो [**आत्मानं**] आत्मा को [**अबद्धस्पृष्टं**] अबद्धस्पृष्ट [**अनन्यं**] अनन्य [**अविशेषं**] अविशेष (तथा पूर्वगाथा में कथित नियत और असंयुक्त) [**पश्यति**] देखता है वह [**अपदेशसूत्रमध्यं**] द्रव्यश्रुत और भावश्रुत रूप [**सर्वं जिनशासनं**] सब जिनशासन को [**पश्यति**] देखता है ।

---

१ 'अपदेससंतमज्झं' इत्यपि पाठः दिल्ली नयामन्दिर प्रतौ । न प्रदेशभिन्नं न सान्तं न मध्यं अप्रदेशसान्तमध्यं । जिसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि वह जिन शासन आदि, मध्य और अन्त रहित है ।

लस्य जिनशासनस्यानुभूतिः श्रुतज्ञानस्य स्वयमात्मत्वात्ततो ज्ञानानुभूतिरेवात्मानुभूतिः किन्तु तदानीं सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामनुभूयमानमपि ज्ञानमबुद्धलुब्धानां न स्वदते । तथाहि—यथा विचित्रव्यंजनसंयोगोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं लवणं लोकानामबुद्धानां व्यंजनलुब्धानां स्वदते न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां । अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं लवणं तदेव सामान्याविर्भावेनापि । तथा विचित्रज्ञेयाकारकरं-बितत्वोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं ज्ञानमबुद्धानां ज्ञेयलुब्धानां स्वदते न

नियतमवस्थितं समुद्रवत् असंयुक्तं परद्रव्य संयोगरहितं निश्चयनयेनौष्ण्यरहितजलवदिति । नियतासंयुक्तविशेषणद्वयं सूत्रे नास्ति । कथं लभ्यत इति चेत् सामर्थ्यात् । तदपि कथं, श्रुतप्रकृतसामर्थ्ययुक्तो हि भवति सूत्रार्थः इति वचनात् । स पुरुषः **पस्सदि** पश्यति जानाति । किं तत् **जिणसासणं** जिनशासनं अर्थसमयरूपं जिनमतं **सव्वं** सर्वं द्वादशांगपरि-पूर्णं । कथंभूतं । **अपदेससुत्तमज्झं** अपदेशसूत्रमध्यं अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेशः शब्दो द्रव्यश्रुतमिति यावत् सूत्रं परिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं ज्ञानसमय इति तेन शब्दसमयेन वाच्यं ज्ञानसमयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्यं भण्यते इति । अयमत्र भावः । यथा लवणखिल्य एकरसोपि फलशाकपत्रशाकादिपरद्रव्यसंयोगेन भिन्नभिन्नास्वादः

टीका—अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त-ऐसे पांच भावरूप आत्मा की जो यह अनुभूति है, वही निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है । क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है इसलिये जो यह ज्ञान की अनुभूति है वही आत्मा की अनुभूति है । यहां पर यह विशेषता है कि सामान्यज्ञान का तो प्रकट होना और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान का आच्छादित होना उससे ज्ञानमात्र ही जब अनुभव किया जाय तब ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है तो भी जो अज्ञानी हैं, ज्ञेयों (पदार्थों) में आसक्त हैं, उनको वह नहीं रुचता । जैसे अनेक तरह के शाक आदि भोजनों के संबन्ध से उत्पन्न सामान्य लवण का तिरोभाव (अप्रकटता) तथा विशेष लवण का आविर्भाव (प्रकटता) उससे अनुभव में आने वाला जो सामान्य लवण का तिरोभाव रूप लवण तथा लवण का विशेषभाव रूप व्यंजनों का ही स्वाद अज्ञानी और व्यंजनों के लोभी मनुष्यों को आता है । परन्तु अन्य के असंयोग से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव तथा विशेष के तिरोभाव से एकाकार अभेदरूप लवण का स्वाद नहीं आता । और जब परमार्थ से देखा जाय तब जो विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आया क्षार रसरूप लवण है, वही सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आया हुआ क्षार रसरूप लवण है । उसी तरह अनेकाकार ज्ञेयों के आकारों की मिश्रता से जिसमें सामान्य का तिरोभाव और विशेष का आविर्भाव ऐसे भाव से अनुभव में आया जो ज्ञान वह अज्ञानियों और ज्ञेयों में आसक्तों को विशेषभावरूप—भेदरूप—अनेकाकार रूप स्वाद में आता है परन्तु अन्य ज्ञेयाकार के संयोग से रहित सामान्य का आविर्भाव और विशेष का तिरोभाव ऐसा एकाकार अभेदरूप ज्ञानमात्र अनुभव में आता हुआ भी स्वाद में नहीं आता । और परमार्थ से विचारा जाय तब जो विशेष के आविर्भाव से ज्ञान अनुभव में आता है, वही सामान्य के आविर्भाव से ज्ञानियों के और ज्ञेय में अनासक्तों के अनुभव में आता है । जैसे लवण की कंकड़ी अन्य द्रव्यों के संयोग के अभाव से केवल लवणमात्र अनुभव किये

पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां । अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं ज्ञानं तदेव सामान्याविर्भावेनाप्यलुब्धबुद्धानां । यथा सैंधवखिल्योन्यद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोप्येकलवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते तथात्मापि परद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोप्येकविज्ञानघनत्वात् ज्ञानत्वेन स्वदते ॥ १५ ॥

अखंडितमनाकुलं ज्वलदनंतमंतर्बहिर्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालंबते यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितं ॥ १४ ॥
एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः । साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यतां ॥ १५॥

प्रतिभात्यज्ञानिनां । ज्ञानिनां पुनरेकरस एव तथात्माप्यखंडज्ञानस्वभावोऽपि स्पर्शरसगंधशब्दनीलपीतादिवर्णज्ञेयपदार्थविषयभेदेनाज्ञानिनां निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टाना खंडखंडज्ञानरूपः प्रतिभाति ज्ञानिनां पुनरखंडकेवलज्ञानस्वरूप एव इति हेतोरखंडज्ञानरूपे शुद्धात्मनि ज्ञाते सति सर्वं जिनशासनं ज्ञातं भवतीति मत्वा समस्तमिथ्यात्वरागादिपरिहारेण तत्रैव शुद्धात्मनि भावना कर्त्तव्येति । किंच मिथ्यात्वशब्देन दर्शनमोहो रागादिशब्देन चारित्रमोह इति सर्वत्र ज्ञातव्यं । अथ तृतीयगाथायां सम्यग्ज्ञानादिकं सर्वं शुद्धात्मभावनामध्ये लभ्यत इति निरूपयति ।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥

आत्मा स्फुटं मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च ।
आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे संवरे योगे ॥

जाने पर एक लवण रस सर्वतः क्षार रूप से स्वाद में आता है, उसी तरह आत्मा भी पर द्रव्य के सयोग से भिन्न केवल एक भाव से अनुभव करने पर सब तरफ से एक विज्ञानघन स्वभाव के कारण ज्ञान रूप से स्वाद में आता है ।

भावार्थ—यहां आत्मा की अनुभूति को ज्ञान की अनुभूति कहा गया है । अज्ञानी जन इंद्रियज्ञान के विषयों में ही लुब्ध हो रहे हैं अतः ज्ञेयों से अनेकाकार हुए ज्ञान का ही ज्ञेयमात्र आस्वादन करते हैं । ज्ञेयों से भिन्न ज्ञान मात्र का आस्वाद नहीं लेते । और जो ज्ञानी हैं, ज्ञेयों में आसक्त नहीं हैं, वे एकाकार ज्ञेयों से भिन्न ज्ञान का ही आस्वाद लेते हैं । जैसे व्यंजनों (भोजनों) से जुदी लवण की डली का क्षार मात्र स्वाद आता है, उसी भांति आस्वाद लेते हैं । क्योंकि ज्ञान है, वही आत्मा है और आत्मा है वही ज्ञान है । इस तरह गुण-गुणी की अभेददृष्टि में आया हुआ जो सब परद्रव्यों से भिन्न अपने पर्यायों में एकरूप निश्चल अपने गुणों में एक रूप, पर निमित्त से उत्पन्न हुए भावों से भिन्न अपने अपने स्वरूप का अनुभव है वही ज्ञान का अनुभव है । यही अनुभव भावश्रुतज्ञान रूप जिन शासन का अनुभव है । शुद्धनय से इसमें कुछ भेद नहीं है ।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—'अखंडितं' इत्यादि । **अर्थ**—वह उत्कृष्ट तेज प्रकाशरूप हमें होवे, जो सदा काल चैतन्य के परिणमन से भरा हुआ है । जैसे लवण की डली एक क्षार

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥ १६ ॥

दर्शनज्ञानचरित्राणि सेवितव्यानि साधुना नित्यं।
तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यप्यात्मानमेव निश्चयतः ॥ १६ ॥

येनैव हि भावेनात्मा साध्यः साधनं च स्यात्तेनैवायं नित्यमुपास्य इति स्वयमाकूय परेषां व्यवहारेण साधुना दर्शनज्ञानचारित्राणि नित्यमुपास्यानीति प्रतिपाद्यते। तानि पुनस्त्रीण्यपि परमार्थेनात्मैक एव वस्त्वंतराभावात् यथा देवदत्तस्य कस्यचित् ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं च देवदत्तस्य स्वभावानतिक्रमाद्देवदत्त एव न वस्त्वंतरं। तथात्मन्यप्यात्मनो ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं चात्मस्वभावानतिक्रमादात्मैव न वस्त्वंतरं, तत आत्मा एक एवोपास्य इति स्वयमेव प्रद्योतते ॥१६॥

स किल—

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयं। मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥१६॥

आदा शुद्धात्मा खु स्फुटं मज्झ मम भवति। क्व विषये। णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रप्रत्याख्यानसंवरयोगभावनाविषये। योगे कोऽर्थः? निर्विकल्पसमाधौ परमसामायिके परमध्याने चेत्येको भावः भोगाकांक्षानिदानबंधशल्यादिभावरहिते शुद्धात्मनि ध्याते सर्वं सम्यग्ज्ञानादिकं लभ्यत इत्यर्थः। एवं शुद्धनयव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथात्रयं गतं ॥ १५ ॥ इत ऊर्ध्वं भेदाभेदरत्नत्रयमुख्यत्वेन गाथात्रयं कथ्यते—तद्यथा प्रथमगाथाया पूर्वार्द्धेन भेदरत्नत्रयभावनामपरार्द्धेन चाभेदरत्नत्रयभावनां कथयति—दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवितव्यानि

रस की लीला का आलंबन करती है, उसी भांति एक ज्ञानरसस्वरूप को आलंबन करता है। वह तेज अखंडित है—जो ज्ञेयों के आकार से खंडित नहीं होता; अनाकुल है—जिसमें कर्म के निमित्त से हुए रागादिकों से उत्पन्न आकुलता नहीं है; अविनाशी है; अंतरंग तो चैतन्यभाव से दैदीप्यमान अनुभव में आता है और बाह्य वचनकाय की क्रिया से प्रकट दैदीप्यमान है सहज स्वभाव से हुआ है, इसे किसी ने रचा नहीं है और सदैव उसका विलास उदय रूप है; एक रूप प्रतिभासमान है।

अब अगली गाथा की उत्थानिका में "एष ज्ञान" इत्यादि श्लोक कहते हैं। **अर्थ**—पूर्व कथित ज्ञान स्वरूप जो नित्य आत्मा है उसकी सिद्धि के इच्छुक पुरुषों के द्वारा साध्य-साधकभाव के भेद से दो तरह का होने पर भी एक रूप ही सेवनीय है, उसे सेवन करो।

दर्शन ज्ञान चारित्र रूप साधक भाव है यही गाथा में कहते हैं;—**[साधुना]** साधु पुरुषों को **[दर्शनज्ञानचरित्राणि]** दर्शन, ज्ञान और चारित्र **[नित्यं]** निरंतर **[सेवितव्यानि]** सेवन करने योग्य हैं **[पुनः]** और **[तानि त्रीणि अपि]** वे तीन हैं तो भी **[निश्चयतः]** निश्चयनय से **[आत्मानं एव]** एक आत्मा ही **[जानीहि]** जानो।

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः । एकोपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ॥१७॥
परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः । सर्वभावांतरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥१८॥
आत्मनश्चितयैवालं मेचकामेचकत्वयोः । दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ॥१९॥

साधुना व्यवहारनयेन नित्यं सर्वकालं **ताणि पुण जाण तिण्णिवि** तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यपि **अप्पाणं चेव** शुद्धात्मानं चैव **णिच्छयदो** निश्चयतः शुद्धनिश्चयतः । अयमत्रार्थः—पंचेंद्रियविषयक्रोधकषायादिरहितनिर्विकल्पसमाधिमध्ये सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमस्तीति ॥ १६ ॥ अथ गाथाद्वयेन तामेव भेदाभेदरत्नत्रयभावनां दृष्टांतदार्ष्टांताभ्यां समर्थयतिः—**जह** यथा **णाम** अहो स्फुटं वा **कोवि** कोपि कश्चित् **पुरिसो** पुरुषः **रायाणं**

टीका—यह आत्मा जिस भाव से साध्य तथा साधन हो उसी भाव से नित्य सेवने योग्य है, ऐसा स्वयं विचार करके, दूसरों के लिए व्यवहार नय से ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि साधु पुरुषों को दर्शन ज्ञान चारित्र सदा सेवने योग्य हैं और परमार्थ से देखा जाय, तब ये तीनों एक आत्मा ही हैं; क्योंकि ये अन्य वस्तु नहीं हैं (आत्मा के ही पर्याय हैं) जैसे किसी देवदत्त नामक पुरुष के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण हैं, वे उसके स्वभाव को उल्लंघन नहीं करते, इसलिए वे देवदत्त पुरुष ही हैं, अन्य वस्तु नहीं हैं, उसी प्रकार आत्मा में भी आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण आत्मा के स्वभाव को नहीं उल्लंघन करते, इस कारण आत्मा ही हैं, अन्य वस्तु नहीं हैं। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है। यह अपने आप ही प्रकाशमान होता है।

भावार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों आत्मा के ही पर्याय हैं, कुछ जुदी वस्तु नहीं हैं इसलिये साधु पुरुषों को एक आत्मा का ही सेवन करना चाहिये, यह निश्चय है और व्यवहार से अन्य को भी यही उपदेश करना चाहिये।

आगे इसी अर्थ का कलश रूप श्लोक कहते हैं—**"दर्शन"** इत्यादि। **अर्थ**—यह आत्मा प्रमाण दृष्टि से देखा जाय तब एक काल में मेचक—अनेक अवस्था रूप भी है और अमेचक—एक अवस्था रूप भी है। क्योंकि इसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र से तो तीन रूपता है और स्वयं एक रूप ही है।

आगे कहते हैं। **"दर्शन"** इत्यादि—**अर्थ**—व्यवहारदृष्टि से देखा जाय तब आत्मा एक है तो भी तीन स्वभावरूप होने से अनेकाकार है; क्योंकि वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप परिणमता है।

भावार्थ—शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से आत्मा एक है; इस नय को प्रधान करके कहा जाय, तब पर्यायार्थिकनय गौण हो जाता है। सो एक को तीन रूप परिणमता कहना यही व्यवहार हुआ, असत्यार्थ भी हुआ। ऐसे व्यवहार नय से दर्शन ज्ञान चारित्र परिणाम से आत्मा को मेचक कहा है।

अब परमार्थनय से कहते हैं **"परमार्थे"** इत्यादि। **अर्थ**—शुद्ध निश्चय से देखा जाय तब प्रकट ज्ञायकज्योति मात्र आत्मा एक स्वरूप है क्योंकि इसका शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से सभी अन्यद्रव्य के स्वभाव तथा अन्य के निमित्त से हुए विभावों का दूर करने रूप स्वभाव है। अतः अमेचक है, शुद्ध एकाकार है।

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि ।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥ १७ ॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥ १८ ॥ (युगलम्)

यथा नाम कोपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति ।
ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन ॥ १७ ॥
एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः ।
अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन ॥ १८ ॥

यथा हि कश्चित्पुरुषोऽर्थार्थी प्रयत्नेन प्रथममेव राजानं जानीते ततस्तमेव श्रद्धत्ते ततस्त-

---

राजानं **जाणिऊण** छत्रचामरादिराजचिह्नैर्ज्ञात्वा **स हदि** श्रद्धत्ते अयमेव राजेति निश्चिनोति **तो** ततो ज्ञानश्रद्धानानंतरं **तं** तं राजानं **अणुचरदि** अनुचरति आश्रयत्याराधयति । कथंभूतः सन् । **अत्थत्थीओ** अर्थार्थिको जीवितार्थी **पयत्तेण** प्रयत्नेन सर्वतात्पर्येणेति दृष्टांतगाथा गता । **एवं** अनेन प्रकारेण **हि** स्फुटं **जीवराया** शुद्धजीवराजा **णादव्वो** निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेन ज्ञातव्यः । **तह य** तथैव **सद्दहेदव्वो** अयमेव नित्यानंदैकस्वभावो रागादि-

---

आगे प्रमाणनय से मेचक अमेचक कहा सो इस चिन्ता को मेट जैसे साध्य की सिद्धि हो वैसे करना यह **"आत्मन"** इत्यादि से कहते है। **अर्थ**—यह आत्मा मेचक है—भेदरूप अनेकाकार है तथा अमेचक है—अभेद रूप एकाकार है। ऐसी चिन्ता को छोड़ो। साध्य आत्मा की सिद्धि तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इन तीनों भावों से ही होती है दूसरी तरह नही, यह नियम है।

भावार्थ—आत्मा की सिद्धि शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से होती है। ऐसा शुद्ध स्वभाव साध्य है, वह पर्यायार्थिकस्वरूप व्यवहारनय से ही साधा जाता है इसलिये ऐसा कहा है कि भेदाभेद की कथनी से क्या, जिस तरह साध्य की सिद्धि हो वैसे करना। व्यवहारी लोक भेद द्वारा ही समझते हैं। इस कारण दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों परिणामरूप ही आत्मा है। इस तरह भेद की प्रधानता से अभेद की सिद्धि करना कहा गया है ॥ १६ ॥

आगे इसी प्रयोजन को दो गाथाओं में दृष्टांत द्वारा व्यक्त करते हैः—**[यथा नाम]** जैसे **[कोपि]** कोई **[अर्थार्थिकः पुरुषः]** धन का चाहने वाला पुरुष **[राजानं]** राजा को **[ज्ञात्वा]** जानकर **[श्रद्धधाति]** श्रद्धान करता है **[ततः]** उसके बाद **[तं]** उसकी **[प्रयत्नेन अनुचरति]** अच्छी तरह सेवा करता है **[एवं हि]** इसी तरह **[मोक्षकामेन]** मोक्ष को चाहने वाला **[जीवराजः]** जीवरूप राजा को **[ज्ञातव्यः]** जाने **[पुनः च]** और फिर **[तथैव]** उसी तरह **[श्रद्धातव्यः]** श्रद्धान करे **[तु च स एव]** उसके बाद **[अनुचरितव्यः]** उसका अनुचरण करे और तन्मय हो जाये।

मेवानुचरति । तथात्मना मोक्षार्थिना प्रथममेवात्मा ज्ञातव्यः, ततः स एव श्रद्धातव्यः, ततः स एवानुचरितव्यश्च साध्यसिद्धेस्तथान्यथोपपत्त्यनुपपत्तिभ्यां । तत्र यदात्मनोनुभूयमानानेकभावसंकरेपि परमविवेककौशलेनायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानेन संगच्छमानमेव तथेतिप्रत्ययलक्षणं श्रद्धानमुत्प्लवते तदा समस्तभावान्तरविवेकेन निःशङ्कमेव स्थातुं शक्यत्वादात्मानुचरणमुत्प्लवमानमात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेस्तथोपपत्तिः । यदात्वाबालगोपालमेव सकलकालमेव स्वयमेवानुभूयमानेपि भगवत्यनुभूत्यात्मन्यात्मन्यनादिबंधवशात् परैः सममेकत्वाध्यवसायेन विमूढस्यायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानं नोत्प्लवते तदभावादज्ञातखरशृङ्गश्रद्धानसमानत्वाच्छ्रद्धानमपि नोत्प्लवते तदा समस्तभावांतराविवेकेन निःशंकमेव स्थातुमशक्यत्वादात्मानुचरणमनुत्प्लवमानं नात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेरन्यथानुपपत्तिः ।

रहित शुद्धात्मेति निश्चेतव्यः **अणुचरिदव्वो य** अनुचरितव्यश्च निर्विकल्पसमाधिनानुभवनीयः । **पुणो** पुनः **सो चेव** स चैव शुद्धात्मा **दु** पुनः **मोक्खकामेण** मोक्षार्थिना पुरुषेणेति दार्ष्टांतः । इदमत्र तात्पर्यं भेदाभेदरत्नत्रय-

---

टीका—निश्चय से जैसे कोई धन को चाहने वाला पुरुष प्रयत्न से, पहले तो राजा को जानता है, पीछे उसी का श्रद्धान करता है उसके पश्चात् उसी का सेवन करता है उसी तरह मोक्ष का चाहने वाला पहले तो आत्मा को जाने, अनन्तर उसी का श्रद्धान करे उसके पश्चात् उसीका अनुचरण करे क्योंकि निष्कर्म अवस्था रूप अभेद शुद्ध स्वरूप साध्य की इसी प्रकार उपपत्ति—सिद्धि है अन्यथा अनुपपत्ति है । जिस समय आत्मा के अनुभव में आये हुए जो अनेक पर्यायरूप भेदभावों से मिश्रितता होने पर भी सब प्रकार भेदज्ञान में प्रवीणता से यह अनुभूति है कि "वही मैं हूँ" ऐसे आत्मज्ञान से प्राप्त हुआ यह आत्मा जैसा जाना वैसा ही है ऐसी प्रतीतिस्वरूप श्रद्धान उदय होता है उसी समय समस्त अन्य भावों का भेद होने के कारण निःशंक ही ठहरने में समर्थ होने से आत्मा का आचरण उदय हुआ आत्मा को साधता है । इस तरह तो साध्य आत्मा की सिद्धि की; तथा उपपत्ति वह है कि जो उसी प्रकार हो । जिस समय ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा बाल गोपाल तक सदाकाल आप ही अनुभव में आता हुआ भी अनादिबंध के वश से परद्रव्यों सहित एकत्व का निश्चय कर अज्ञानी के "वह मैं हूं" ऐसा अनुभूति रूप आत्मज्ञान नहीं उदय होता, उसके अभाव से ज्ञान के विना श्रद्धान गधे के सींग के समान है । इस तरह श्रद्धान का भी उदय नहीं होता । उस समय समस्त अन्य भावों का भेद न होने के कारण निःशंक आत्मा में ही ठहरने की असामर्थ्य से आत्मा का आचरण न होने पर आत्मा को नहीं साध सकता । इस तरह साध्य आत्मा की सिद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति अर्थात् दूसरी तरह असिद्धि है ।

भावार्थ—साध्य आत्मा की सिद्धि दर्शनज्ञानचारित्र से ही है, अन्य प्रकार नहीं है । क्योंकि पहले तो आत्मा को जाने कि जो यह जानने वाला अनुभव में आता है "वह मैं हूं" उसके अनन्तर इसकी प्रतीतिरूप श्रद्धान होता है । विना जाने श्रद्धान किसका ? फिर समस्त अन्यभावों से भेद करके अपने

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
सततमनुभवामोऽनंतचैतन्यचिह्नं न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥ २० ॥

ननु ज्ञानतादात्म्यादात्मा ज्ञानं[1] नित्यमुपास्त एव कुतस्तदुपास्यत्वेनानुशास्यत[2] इति चेत्तन्न, यतो न खल्वात्मा ज्ञानतादात्म्येपि क्षणमपि ज्ञानमुपास्ते स्वयंबुद्ध-बोधितबुद्धत्वकारणपूर्वकत्वेन ज्ञानस्योत्पत्तेः । तर्हि तत्कारणात्पूर्वमज्ञान एवात्मा, नित्यमेवाप्रतिबुद्धत्वादेवमेतत् ॥ १७ ॥ १८ ॥

भावनारूपया परमात्मचिंतयैव पूर्यतेऽस्माकं किं विशेषेण शुभाशुभरूपविकल्पजालेनेति । एवं भेदाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रयं द्वितीयस्थले गतं ॥ १७ ॥ १८ ॥ अथ स्वतंत्रव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रयं कथ्यते । तद्यथा—स्वपरभेदविज्ञानाभावे जीवस्तावदज्ञानी भवति परं किन्तु कियत्कालपर्यंतं इति न ज्ञायते एवं पृष्टेसति प्रथमगाथायां प्रत्युत्तरं ददाति;—**कम्मे** कर्मणि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणि रागादिभावकर्मणि च **णोकम्मम्हि य** शरीरादिनोकर्मणि च **अहमिदि** अहमिति प्रतीतिः **अहकं च कम्म णोकम्मं** अहकं च कर्म नोकर्मेति प्रतीतिः यथा घटे वर्णादयो गुणा घटाकारपरिणतपुद्गलस्कंधाश्च वर्णादिषु च घट इत्यभेदेन **जा** यावंत कालं **एसा** एषा

में स्थिर होवे ऐसी सिद्धि है । जब जानेगा ही नहीं तब श्रद्धान भी नहीं हो सकेगा । तब स्थिरता किसमें कर सकता है । इसलिये दूसरी तरह सिद्धि नहीं है ऐसा निश्चय है ।

अब इसी को दृढ करने के लिये कलशरूप काव्य कहते है–"**कथमपि**" इत्यादि । **अर्थ**—आचार्य कहते हैं कि इस आत्मज्योति को हम निरंतर अनुभव करते हैं । जो आत्मज्योति, अनत, अविनश्वर चैतन्य चिह्नवाली है, क्योंकि इसके अनुभव विना अन्य रीति से साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं है । जिस आत्मज्योति ने किसी प्रकार तीन रूपता अगीकार की है तो भी वह एक रूप से च्युत नहीं हुई तथा निर्मल उदय को प्राप्त हुई है ।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि जिसके किसी तरह पर्यायदृष्टि से तीनपना प्राप्त है तो भी शुद्धद्रव्यदृष्टि से एकरूपता नही छूटी है तथा अनत चैतन्य स्वरूप निर्मल उदय को प्राप्त आत्मज्योति का हम निरन्तर अनुभव करते हैं । ऐसा कहने से यह आशय भी जानना कि जो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं वे ऐसे ही अनुभव करें कि जैसे हम अनुभव करते हैं । **प्रश्न**—आत्मा तो ज्ञान से तादात्म्यस्वरूप है जुदा नहीं है इसलिये ज्ञान का नित्य सेवन करता ही है फिर ज्ञान की ही उपासना करने की शिक्षा क्यों दी जाती है ? **समाधान**—यह कहना ठीक नही, यद्यपि आत्मा ज्ञान से तादात्म्यरूप है तो भी एक क्षणमात्र भी ज्ञान की उपासना नही करता । इसके ज्ञान की उत्पत्ति आप ही जानने से अथवा दूसरे के बतलाने से होती है; क्योंकि या तो काललब्धि आये तब आप ही जान लेता है या कोई उपदेश देने वाला मिले तब जान सकता है । जैसे सोया हुआ पुरुष या तो आप ही जाग जाता है या कोई जगावे तब जाग सकेगा । **प्रश्न**—यदि इस तरह है तो जानने के कारण के पहले आत्मा अज्ञानी ही है, क्योंकि सदा ही इसके अप्रतिबुद्धपना है ? **उत्तर**—यह बात ऐसे ही है कि वह अज्ञानी ही है ॥ १७ । १८ ॥

---

१ मुद्रित प्रतौ 'आत्मानं' इति पाठः । २ 'अनुशास्तनम्' इत्यपि पाठः प्रतौ ।

तर्हि कियंतं कालमयमप्रतिबुद्धो भवतीत्यभिधीयतां;—

कम्मे गोकम्मह्मि य अहमिदि अहकं च कम्म गोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ।। १६ ।।

कर्मणि नोकर्मणि चाहमित्यहकं च कर्म नोकर्म ।
यावदेषा खलु बुद्धिरप्रतिबुद्धो भवति तावत् ।। १६ ।।

यथा स्पर्शरसगंधवर्णादिभावेषु पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधेषु घटोयमिति घटे च स्पर्शरसगंधवर्णादिभावाः पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधाश्चामी इति वस्त्वभेदेनानुभूतिस्तथा कर्मणि मोहादिष्वंतरंगेषु, नोकर्मणि शरीरादिषु बहिरंगेषु चात्मतिरस्कारिषु पुद्गलपरिणामेष्वहमित्यात्मनि च कर्ममोहादयोऽतरंगा नोकर्मशरीरादयो बहिरंगाश्चात्मतिरस्कारिणः पुद्गलपरिणामा अमी इति वस्त्वभेदेन यावंतं कालमनुभूतिस्तावंतं कालमात्मा भवत्यप्रतिबुद्धः । यदा कदाचिद्यथा रूपिणो दर्पणस्य स्वपराकारावभासिनी स्वच्छतैव वह्नेरौष्ण्यं ज्वाला च तथा नीरूपस्यात्मनः स्वपराकारावभासिनी ज्ञातृतैव, पुद्गलानां कर्म नोकर्म चेति स्वतःपरतो वा भेदविज्ञानमूलानुभूतिरुत्पत्स्यते तदैव प्रतिबुद्धो भविष्यति ।। १६ ।।

प्रत्यक्षीभूता **खलु** स्फुटं **बुद्धी** तथा कर्मनोकर्मणा सह शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजपरमात्मवस्तुनःऐक्यबुद्धि **अप्पडिबुद्धो** अप्रतिबुद्धः स्वसंवित्तिशून्यो बहिरात्मा **हवदि** भवति **ताव** तावत्कालमिति । अत्र भेदविज्ञानमूलां शुद्धात्मानुभूतिः स्वतः स्वयंबुद्धापेक्षया परतो वा बोधितबुद्धापेक्षया ये लभंते ते पुरुषाः शुभाशुभबहिर्द्रव्येषु विद्यमानेष्वपि मुकुरुन्दवद-

---

आगे फिर पूछते है कि यह आत्मा कितने समय तक अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) रहता है ? उसके उत्तर का गाथासूत्र कहते हैं,—**[यावत्]** जब तक इस आत्मा के **[कर्मणि]** ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म भावकर्म **[वा]** और **[नोकर्मणि]** शरीर आदि नोकर्म में **[अहं कर्म नोकर्म]** मैं कर्म नोकर्म हूं **[अहकं इति च]** और ये कर्म नोकर्म मेरे हैं **[एषा खलु]** ऐसी निश्चय **[मतिः]** बुद्धि है **[तावत्]** तब तक **[अप्रतिबुद्धः]** यह आत्मा अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) **[भवति]** है ।

टीका—जैसे स्पर्श, रस, गंध और वर्ण आदि भावों में चौड़ा नीचे अवगाहरूप उदर आदि के आकार परिणत हुए पुद्गल के स्कंधों (समूह) में यह घट है और घट में स्पर्श, रस, गंध और वर्णादि भाव हैं तथा पृथु बुध्नोदर आदि के आकार परिणत पुद्गल स्कंध हैं, ऐसे वस्तु के अभेद से अनुभूति है, उसी तरह कर्म जो मोह आदि अंतरंग परिणाम और नोकर्म जो शरीर आदि बाह्य वस्तु ये सब पुद्गल के परिणाम हैं और आत्मा के तिरस्कार करने वाले हैं । उनमें ये कर्म नोकर्म 'मैं हूं' तथा मोहादिक अंतरंग और शरीरादि बहिरंग कर्म आत्मा के तिरस्कार करने वाले पुद्गल परिणाम मेरे आत्मा के हैं, इस प्रकार वस्तु के अभेद से जब तक अनुभूति है तब तक आत्मा अप्रतिबुद्ध है, अज्ञानी है । और जब किसी

कथमपि हि लभंते भेदविज्ञानमूलामचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा ।
प्रतिफलननिमग्नानंतभावस्वभावैर्मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव ॥ २१ ॥

विकारा भवंतीति भावार्थः ॥ १९ ॥ अथ शुद्धजीवे यदा रागादिरहितपरिणामस्तदा मोक्षो भवति । अजीवे देहादौ यदा रागादिपरिणामस्तदा बंधो भवतीत्याख्याति:—

जीवेव अजीवे वा संपदि समयम्हि जत्थ उवजुत्तो ।
तत्थेव बंधमोक्खो हवदि समासेण णिद्दिट्ठो ॥

जीवे वा अजीवे वा सप्रतिसमये यत्रोपयुक्तः । तत्रैव बंधः मोक्षो भवति समासेन निर्दिष्टः ॥ **जीवेव** स्वशुद्धजीवे वा **अजीवे वा** देहादौ वा **संपदिसमयह्मि** वर्त्तमानकाले **जत्थ उवजुत्तो** यत्रोपयुक्तः तन्मयत्वेनोपादेय-बुद्ध्या परिणतः **तत्थेव** तत्रैव अजीवे जीवे वा **बंधमोक्खो** अजीवे देहादौ बंधो, जीवे शुद्धात्मनि मोक्षः **हवदि** भवति **समासेण णिद्दिट्ठो** संक्षेपेण सर्वज्ञैर्निदिष्ट इति । अत्रैवं ज्ञात्वा सहजानंदैकस्वभावे निजात्मनि रतिः कर्त्तव्या । तद्विलक्षणे परद्रव्ये विरतिरित्यभिप्रायः ॥ अथाशुद्धनिश्चयेनात्मा रागादिभावकर्मणां कर्त्ता अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन द्रव्यकर्मणामित्यावेदयति:—

समय जैसे रूपी दर्पणकी स्वपर के आकार को प्रतिभास करने वाली स्वच्छता ही है तथा उष्णता और ज्वाला अग्नि की है, उसी तरह अरूपी आत्मा की अपने परके जानने वाली ज्ञातृता (ज्ञातापना) ही है और कर्म नोकर्म पुद्गल के ही हैं ऐसी अपने आप ही अथवा दूसरे के उपदेश से भेदविज्ञान कारणवाली अनुभूति उत्पन्न हो जायगी तब ही यह आत्मा प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) होगा ।

भावार्थ—यह आत्मा जब तक ऐसा जानता है कि जैसे स्पर्शआदिक पुद्गल मे हैं और पुद्गल स्पर्शादिमय है उसी तरह जीव में कर्म नोकर्म हैं और कर्म नोकर्म मय जीव है तब तक तो अज्ञानी है । और जब यह जान ले कि आत्मा तो ज्ञाता ही है और कर्म नोकर्म पुद्गल के ही है तभी यह ज्ञानी होता है । जैसे दर्पण में अग्नि की ज्वाला दीखती हो, वहां ऐसा जाने कि ज्वाला तो अग्नि में ही है, दर्पण में नहीं बैठी । जो दर्पण में दीख रही है वह दर्पण की स्वच्छता ही है । इसी तरह कर्म नोकर्म अपने आत्मा में नहीं बैठे, आत्मा के ज्ञान की स्वच्छता ऐसी है जिसमें ज्ञेयका प्रतिबिंब दीखता है । इस प्रकार कर्म नोकर्म ज्ञेय हैं, वे प्रतिभासित होते है ऐसा अनुभव आत्मा का भेदज्ञानरूप या तो स्वयमेव हो अथवा उपदेश से हो तब ही ज्ञानी होता है ।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं "**कथमपि**" इत्यादि । **अर्थ**—जो पुरुष आप से ही अथवा पर के उपदेश से किसी तरह भेदविज्ञान रूप मूलकारण वाली अविचल निश्चल अपने आत्मा की अनुभूति को प्राप्त करते हैं, वे ही पुरुष दर्पण की तरह अपने आत्मा में प्रतिबिंबित हुए अनंत भावों के स्वभावों में निरन्तर विकार रहित होते हैं, ज्ञान में जो ज्ञेयों के आकार प्रतिभासित होते हैं उनसे रागादि विकार को नहीं प्राप्त होते । १९ ।

नतु कथमयमप्रतिबुद्धो लक्ष्येत :—

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं ।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥ २० ॥
[1]आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहंपि आसि पुव्वंहि ।
होहिदि पुणोवि मज्झं एयस्स अहंपि होस्सामि ॥ २१ ॥
एयं तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो ।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥ २२ ॥ (त्रिकलम्)

अहमेतदेतदहमहमेतस्यास्मि ममैतत् ।
अन्यद्यत्परद्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रं वा ॥ २० ॥
आसीन्मम पूर्वमेतद् एतस्याहमप्यासं पूर्वं हि ।
भविष्यति पुनरपि मम एतस्याहमपि भविष्यामि ॥ २१ ॥
एतत्त्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति संमूढः ।
भूतार्थं जानन्न करोति तु तमसंमूढः ॥ २२ ॥

यथाग्निरिंधनमस्तींधनमग्निरस्त्यग्नेरिंधनमस्तींधनस्याग्निरस्त्यग्नेरिंधनं पूर्वमासीदिंधन-

---

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं ॥

यं करोति भावमात्मा कर्त्ता स भवति तस्य भावस्य ।
निश्चयतः व्यवहारात् पुद्गलकर्मणां कर्त्ता ॥

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स यं करोति रागादिभावमात्मा स तस्य भावस्य परिणामस्य कर्त्ता भवति । **णिच्छयदो** अशुद्धनिश्चयनयेन अशुद्धभावानां, शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धभावानां कर्त्तेति । भावानां परिणमनमेव कर्तृत्वं । **ववहारा** अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयात् **पोग्गलकम्माण** पुद्गलद्रव्यकर्मादीनां **कत्तारं** कर्त्तेति । कर्तारं इति कर्मपदं कर्त्तेति कथं भवतीति चेत् प्राकृते क्वापि कारकव्यभिचारो लिंगव्यभिचारश्च । अत्र रागादीनां जीवः कर्त्तेति भणितं ते च संसारकारणं ततः संसारभयभीतेन मोक्षार्थिना समस्तरागादि-

---

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि यह अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) किस तरह पहचाना जा सकता है उसके चिह्न बतलाओ, उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं :—[यः] जो पुरुष [अन्यत् यत् परद्रव्यं] अपने से अन्य जो परद्रव्य [सचित्ताचित्तमिश्रं वा] सचित्त स्त्रीपुत्रादिक, अचित्त धनधान्यादिक, मिश्र

---

१ तात्पर्यवृत्ति के अनुसार इस गाथा के द्वितीय और चतुर्थ पाद क्रमशः इस प्रकार हैं—अहमेदं चावि पुव्व कालम्हि, अहमेदं चावि होस्सामि ।

स्याग्निः पूर्वमासीदग्नेरिंधनं पुनर्भविष्यतींधनस्याग्निः पुनर्भविष्यतीतींधन एवासद्भूताग्निविकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धः कश्चिल्लक्ष्येत तथाहमेतदस्म्येतदहमस्ति ममैतदस्त्येतस्याहमस्मि ममैतत्पूर्वमासीदेतस्याहं पूर्वमासं ममैतत्पुनर्भविष्यत्येतस्याहं पुनर्भविष्यामीति परद्रव्य एवासद्भूतात्मविकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धो लक्ष्येतात्मा । नाग्निरिंधनमस्ति नेंधनमग्निरस्त्यग्निरग्निरस्तींधनमिंधनमस्ति । नाग्नेरिंधनमस्ति नेंधनस्याग्निरस्त्यग्नेरग्निरस्तींधनस्येंधनमस्ति । नाग्नेरिंधनं पूर्वमासीन्नेंधन-

---

विभावरहिते शुद्धद्रव्यगुणपर्याये स्वरूपे निजपरमात्मनि भावना कर्त्तव्येत्यभिप्रायः। एवं स्वतंत्रव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले गाथात्रयं गतं ।। अथ यथा कोप्यप्रतिबुद्धः अग्निरिंधनं भवति इंधनमग्निर्भवति अग्निरिंधनमासीत् इंधनमग्निरासीत् अग्निरिंधन भविष्यति इंधनमग्निर्भविष्यतीति वदति तथा यः कालत्रयेपि देहरागादिपरद्रव्यमात्मनि योजयति सोऽप्रतिवुद्धो बहिरात्मा मिथ्याज्ञानी भवतीति प्ररूपयति—**अहमेदं एदमहं** अहं इदं, परद्रव्य इदम् अह भवामि । **अहमेदस्सेव हि होमि मम एदं** अहमस्य सम्बन्धी भवामि मम सम्बन्धीद । **अण्णं जं परदव्वं** देहादन्यद्भिन्न पुत्रकलत्रादि यत्परद्रव्यं **सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा** सचित्ताचित्तमिश्रं वा । तच्च गृहस्थापेक्षया सचित्त स्त्र्यादि, अचित्तं सुवर्णादि, मिश्रं साभरणस्त्र्यादि । अथवा तपोधनापेक्षया सचित्तं छात्रादि, अचित्तं पिच्छकमंडलुपुस्तकादि मिश्रमुपकरणसहितछात्रादि । अथवा सचित्तं रागादि, अचित्त द्रव्यकर्म्मादि, मिश्र द्रव्यभावकर्म्मद्वयम् । अथवा विषयकषायरहितनिर्विकल्पसमाधिस्थपुरुषापेक्षया सचित्तं सिद्धपरमेष्ठिस्वरूपम्, अचित्त पुद्गलादिपंचद्रव्यरूपं, मिश्रं गुणस्थानजीवस्थानमार्गणादिपरिणतसंसारिजीवस्वरूपमिति वर्त्तमानकालापेक्षया गाथा गता । **आसी**त्यादि । **आसि मम पुव्वमेदं** आसीत् मम पूर्वमेतत् **अहमेदं चावि पुव्वकालह्मि** अहमिदं चैव पूर्वकाले **होहिदि पुणोवि मज्झं** भविष्यति पुनरपि मम **अहमेदं चावि होस्सामि** अहमिदं चैव पुनर्भविष्यामि इति भूतभाविकालापेक्षया गाथा गता । **एद**मित्यादि । **एदं** इम तु पुन. **असंभूदं** असद्भूत कालत्रयपरद्रव्यसबधिमिथ्यारूपं **आदवियप्पं** आत्मविकल्पं अशुद्धनिश्चयनयेन जीवपरिणामं **करेदि** करोति **सम्मूढो** सम्यङ्मूढः अज्ञानी बहिरात्मा । **भूदत्थं** भूतार्थं निश्चयनय **जाणंतो** जानन् सन् **ण करेदि** न करोति । **दु** पुनः कालत्रयपरद्रव्यसम्वन्धिमिथ्याविकल्पं **असंमूढो** असंमूढ सम्यग्दृष्टिरतरात्मा ज्ञानी भेदाभेदरत्नत्रयभावनारतः । किंच यथा कोप्यज्ञानी अग्निरिंधनम् इंधनमग्निः कालत्रये निश्चयेनैकातेनाभेदेन वदति तथा देहरागादिपरद्रव्यमिदानीमह भवामि पूर्वमहमासं पुनरग्रे भविष्यामीति यो

ग्रामनगरादिक—इनको ऐसा समझे कि [**अहं एतत्**] मैं यह हूँ [**एतत् अहं**] ये द्रव्य मुझ स्वरूप है [**एतस्य अहं**] मैं इनका हूँ [**एतत् मम अस्ति**] ये मेरे हैं [**एतत् मम पूर्वं आसीत्**] ये मेरे पूर्व में थे [**एतस्य अहमपि पूर्वंआसं**] इनका मैं भी पहले था [**पुनः**] तथा [**एतत् मम भविष्यति**] ये मेरे आगामी होंगे [**अहमपि एतस्य भविष्यामि**] मैं भी इनका आगामी होऊंगा [**एतत्तु असद्भूतं**] ऐसा झूठा [**आत्मविकल्पं**] आत्मविकल्प करता है वह [**संमूढः**] मूढ है [**तु**] और जो पुरुष [**भूतार्थं**] परमार्थ वस्तुस्वरूप को [**जानन्**] जानता हुआ [**तं**] ऐसा झूठा विकल्प [**न करोति**] नहीं करता है, वह [**असंमूढः**] मूढ नहीं है, ज्ञानी है ।

स्याग्निः पूर्वमासीदग्नेरग्निः पूर्वमासीदिंधनस्येंधनं पूर्वमासीन्नाग्नेरिंधनं पुनर्भविष्यति नेंधनस्याग्निः पुनर्भविष्यत्यग्नेरग्निः पुनर्भविष्यतींधनस्येंधनं पुनर्भविष्यतीति कस्यचिदग्नावेव सद्भूताग्निविकल्पवन्नाहमेतदस्मि नैतदहमस्त्यहमहमस्म्येतदेतदस्ति न ममैतदस्ति नैतस्याहमस्मि ममाहमस्म्येतस्यैतदस्ति न ममैतत्पूर्वमासीन्नैतस्याहं पूर्वमासं ममाहं पूर्वमासमेतस्यैतत्पूर्वमासीन्न ममैतत्पुनर्भविष्यति नैतस्याहं पुनर्भविष्यामि ममाहं पुनर्भविष्याम्येतस्यैतत्पुनर्भविष्यतीति स्वद्रव्य एव सद्भूतात्मविकल्पस्य प्रतिबुद्धलक्षणस्य भावात् ॥ २०।२१।२२॥

वर्तति सोऽज्ञानी बहिरात्मा तद्विपरीतो ज्ञानी सम्यग्दृष्टिरंतरात्मेति। एवमज्ञानिज्ञानिजीवलक्षणं ज्ञात्वा निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणे भेदज्ञाने स्थित्वा भावना कार्येति तामेव भावनां दृढयति। यथा कोपि राजसेवकपुरुषो राजशत्रुभिः सह संसर्गं कुर्वाणः सन् राजाराधको न भवति तथा परमात्माऽराधकपुरुषस्तत्प्रतिपक्षभूतमिथ्यात्वरागादिभिः परिणममानः परमात्माराधको न भवतीति भावार्थः। एवमप्रतिबुद्धलक्षणकथनेन चतुर्थस्थले गाथात्रयं गत ॥ २०-२१-२२॥

टीका—जैसे कोई पुरुष ईंधन और अग्नि को मिला हुआ देखकर ऐसा झूठा विकल्प करता है कि अग्नि है वह ईंधन है तथा ईंधन है वह अग्नि है, अग्नि का ईंधन पहले था ईंधन की अग्नि पहले थी, अग्नि का ईंधन आगामी होगा ईंधन की अग्नि आगामी होगी, इस तरह ईंधन में ही अग्नि का विकल्प करता है वह झूठा है। इसी से अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) पहचाना जा सकता है। उसी तरह दार्ष्टान्त है, जैसे जो कोई परद्रव्य में असत्यार्थ आत्मविकल्प करे कि मैं यह परद्रव्य हूँ और यह परद्रव्य है वह मैं हूँ, यह मेरा परद्रव्य है इस परद्रव्य का मै हूँ, मेरा यह पहले था मै इसका पहले था, मेरा यह आगामी होगा मैं इसका आगामी होऊंगा। ऐसे झूठे विकल्प से अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) पहचाना जाता है। तथा अग्नि है वह ईंधन नहीं है, ईंधन है वह अग्नि नहीं है, अग्नि है वह अग्नि ही है, ईंधन है वह ईंधन ही है, अग्नि का ईंधन नहीं है, ईंधन की अग्नि नहीं है, अग्नि की ही अग्नि है, ईंधन का ईंधन है, अग्नि का ईंधन पहले हुआ नहीं, ईंधन की अग्नि पहले हुई नहीं, अग्नि की अग्नि पहले थी, ईंधन का ईंधन पहले था। तथा अग्नि का ईंधन आगामी नहीं होगा, ईंधन की अग्नि आगामी नहीं होगी, अग्नि की अग्नि ही आगामी होगी, ईंधन का ईंधन ही आगामी होगा। इस तरह किसी के अग्नि में ही सत्यार्थ अग्नि का विकल्प जिस प्रकार हो जाता है, उसी तरह मैं यह पर द्रव्य नहीं हूँ पर द्रव्य का पर द्रव्य ही है तथा यह पर द्रव्य मुझ स्वरूप नहीं है, मैं तो मै ही हूँ पर द्रव्य है वह पर द्रव्य ही है तथा मेरा यह पर द्रव्य नहीं है, इस परद्रव्य का मैं नहीं हूँ अपना ही मैं हूँ, परद्रव्य का परद्रव्य है। तथा इस परद्रव्य का मै पहले नहीं हुआ, यह परद्रव्य मेरा पहले नहीं था, अपना मैं ही पूर्व में था, परद्रव्य का परद्रव्य पहले था। तथा यह परद्रव्य मेरा आगामी न होगा, उसका मैं आगामी न होऊंगा, मैं अपना ही आगामी होऊंगा, इस (परद्रव्य) का यह (परद्रव्य) आगामी होगा। ऐसा जो स्वद्रव्य में ही सत्यार्थ आत्म विकल्प होता है, यही प्रतिबुद्ध ज्ञानी का लक्षण है, इसी से ज्ञानी पहचाना जाता है।

भावार्थ—जो परद्रव्य में आत्मा का विकल्प करता है वह तो अज्ञानी है। और अपने आत्मा को ही अपना मानता है वह ज्ञानी है। ऐसा अग्नि ईंधन के दृष्टांत से दृढ़ किया है।

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इहकथमपि नात्मानात्मना साकमेकः किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिं ॥ २२ ॥

अथाप्रतिबुद्धबोधनाय व्यवसायः—

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥ २३ ॥
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पुग्गलदव्वी-भूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥ २४ ॥
जदि सो पुग्गलदव्वी-भूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सत्तो वुत्तुं जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ॥ २५ ॥

अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यं।
बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्तः ॥ २३ ॥
सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव उपयोगलक्षणो नित्यं।
कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्भणसि ममेदं ॥ २४ ॥
यदि स पुद्गलद्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत्।
तच्छक्तो वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलं द्रव्यं ॥ २५ ॥

अथाप्रतिबुद्धसंबोधनार्थं व्यवसायः क्रियते;—**अण्णाणेत्यादि** व्याख्यानं क्रियते। **अण्णाणमोहिदमदी** अज्ञानमोहित-मतिः **मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं** ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यं। कथंभूतं। **बद्धमबद्धं च** बद्धं संबद्धं देहरूपं।

आगे इसी अर्थ का कलश रूप काव्य कहते है—**त्यजतु** इत्यादि। **अर्थ**—हे लोक के जीवो, अनादि संसार से लेकर अब तक अनुभव किए मोह को अब तो छोड़ो और रसिक जनों को रुचने वाला उदय हुआ जो ज्ञान उसे आस्वादन करो; क्योंकि इस लोक में आत्मा है वह परद्रव्य के साथ किसी समय में प्रगट रीति से एकत्व को किसी प्रकार प्राप्त नही होता। इसलिए आत्मा एक है, वह अन्य द्रव्य के साथ एकरूप नहीं होता।

भावार्थ—आत्मा परद्रव्य से किसी प्रकार किसी काल में एकता के भाव को नहीं प्राप्त होता। इसलिए आचार्य ने ऐसी प्रेरणा की है कि अनादि से लगा हुआ जो परद्रव्य से मोह है उस एक-पनेरूप मोह को अब छोड़ो और ज्ञान का आस्वादन करो। मोह वृथा है झूठा है, दुःख का कारण है। ऐसा भेद विज्ञान बतलाया है। २०।२१।२२।

आगे अप्रतिबुद्ध के समझाने के लिये उद्यम करते हैं;—[**अज्ञानमोहितमतिः**] अज्ञान से जिसकी मति मोहित है ऐसा [**जीवः**] जीव इस तरह [**भणति**] कहता है कि [**इदं**] यह [**बद्धं च**

युगपदनेकविधस्य बंधनोपाधेः सन्निधानेन प्रधावितानामस्वभावभावानां संयोगवशाद्वि-चित्रोपाश्रयोपरक्तः स्फटिकोपल इवात्यंततिरोहितस्वभावभावतया अस्तमितसमस्तविवेकज्योति-र्महता स्वयमज्ञानेन विमोहितहृदयो भेदमकृत्वा तानेवास्वभावभावान् स्वीकुर्वाणः पुद्गलद्रव्यं ममे-दमित्यनुभवति किलाप्रतिबुद्धो जीवः। अथायमेव प्रतिबोध्यते रे दुरात्मन्, [1]आत्मपंसन्, जहीहि जहीहि परमाविवेकघस्मरसतृणाभ्यवहारित्वं। दूरनिरस्तसमस्तसंदेहविपर्यासानध्यवसायेन विश्वैक-ज्योतिषा सर्वज्ञज्ञानेन स्फुटीकृतं किल नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं। तत्कथं पुद्गलद्रव्यीभूतं येन पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवसि। यतो यदि कथंचनापि जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभूतं स्यात्।

अबद्धं च असंबद्धं देहाद्भिन्नं पुत्रकलत्रादि **तहा** तथा **जीवे** जीवद्रव्ये **बहुभावसंजुत्तो** मिथ्यात्वरागादिबहुभाव-संयुक्तः। अज्ञानी जीवो देहपुत्रकलत्रादिकं परद्रव्यं ममेदं भणतीत्यर्थः। इति प्रथमगाथा गता। अथास्य बहिरात्मनः संबो-धनं क्रियते—रे दुरात्मन् **सव्वण्हु** इत्यादि **सव्वण्हुणाणदिट्ठो** सर्वज्ञज्ञानदृष्टः **जीवो** जीवपदार्थः। कथंभूतो दृष्टः। **उवओगलक्खणो** केवलज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणः **णिच्चं** नित्यं सर्वकालं **कह** कथं **सो** स जीवः **पुग्गलदव्वी-भूदो** पुद्गलद्रव्यं जातः न कथमपि **जं** येन कारणेन **भणसि** भणसि त्वं **मज्झमिणं** ममेदं पुद्गलद्रव्यं। इति

अबद्धं] शरीरादि बद्धद्रव्य, धनधान्यादि अबद्ध परद्रव्य [**मम**] मेरा है। वह जीव [**बहुभावसंयुक्तः**] मोह राग द्वेषादि बहुत भावों से सहित है। आचार्य कहते हैं जो [**जीवः**] जीव [**सर्वज्ञज्ञानदृष्टः**] सर्वज्ञ के ज्ञान में देखा गया [**नित्यं**] नित्य [**उपयोगलक्षणः**] उपयोग लक्षण वाला है [**सः**] वह [**पुद्गलद्रव्यीभूतः**] पुद्गलद्रव्यरूप [**कथं**] कैसे हो सकता है ? [**यत्**] जो [**भणसि**] तू कहता है कि [**इदं मम**] यह पुद्गल द्रव्य मेरा है। [**यदि**] यदि [**सः**] जीवद्रव्य [**पुद्गलद्रव्यीभूतः**] पुद्गलद्रव्यरूप हो जाय तो [**इतरत्**] पुद्गलद्रव्य भी [**जीवत्वं**] जीवपने को [**आगतं**] प्राप्त हो जायगा। यदि ऐसा हो जाय [**तत्**] तो [**वक्तुं शक्तः**] तुम कह सकते हो [**यत्**] कि [**इदं पुद्गलद्रव्यं**] यह पुद्गलद्रव्य [**मम**] मेरा है (किन्तु ऐसा नहीं है)।

टीका—अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्य को "यह मेरा है" ऐसा अनुभव करता है। वह अज्ञानी अत्यंत आच्छादित हुए अपने स्वभाव से जिसकी समस्त भेदज्ञान रूप ज्योति अस्त हो गई है, महाअज्ञान से जिसका हृदय अपने आप ही विमोहित है, भेदज्ञान के विना अपना और पर का भेद नहीं करके जो अपने स्वभाव नहीं हैं ऐसे विभावों को अपने करता है। क्योंकि परभावों के सम्बन्ध से अपना स्वभाव अत्यंत छिप गया है वे परभाव एक समय में अनेक प्रकार के बन्धन की उपाधि की अतिनिकटता से प्राप्त हुए हैं। जैसे स्फटिकपाषाण में अनेक तरह के वर्ण की निकटता से अनेकरूपता दीखती है स्फटिक का निज श्वेत निर्मल भाव नहीं दीखता। उसी तरह कर्म की उपाधि से आत्मा का शुद्ध स्वभाव आच्छादित हो रहा है, वह नहीं दीखता। इसी कारण वह पुद्गलद्रव्य को अपना मानता है। ऐसे

१ आत्म-विनाशक।

पुद्गल द्रव्यश्च जीवद्रव्यीभूतं स्यात् तदैव लवणस्योदकमिव ममेदं पुद्गलद्रव्यमित्यनुभूतिः किल घटेत तत्तु न कथंचनापि स्यात्। तथाहि—यथा क्षारत्वलक्षणं लवणमुदकीभवत् द्रवत्वलक्षणमुदकं च लवणीभवत् क्षारत्वद्रवत्वसहवृत्त्यविरोधादनुभूयते, न तथा नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभवत् नित्यानुपयोगलक्षणं पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभवद् उपयोगानुपयोगयोः प्रकाशतमसोरिव सहवृत्तिविरोधादनुभूयते। तत्सर्वथा प्रसीद विबुध्यस्व, स्वद्रव्यं ममेदमित्यनुभव ॥ २३।२४।२५ ॥

द्वितीया गाथा गता। **जदि** इत्यादि—**जदि** यदि चेत् **सो** स जीवः **पुग्गलदव्वीभूदो** पुद्गलद्रव्यं जातः **जीवो** जीवः। **जीवत्तं** जीवत्वं **आगदं** आगत प्राप्तं **इदरं** इतरत् शरीरपुद्गलद्रव्यं **तो सक्का वुत्तं** ततः शक्य वक्तु **जे** अहो अथवा यस्मात्कारणात् **मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं** ममेदं पुद्गलद्रव्यमिति। नचैवं यथा वर्षासु लवणमुदकीभवति ग्रीष्मकाले जलं लवणीभवति। तथा यदि चैतन्यं विहाय जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यस्वरूपेण परिणमति पुद्गलद्रव्य च मूर्तत्वमचेतनत्वं विहाय चिद्रूपं चामूर्तत्व च भवति तदा भवदीयवचनं सत्यं भवति। रे दुरात्मन् न च तथा, प्रत्यक्षविरोधात्। ततो जीवद्रव्यं देहाद्भिन्नममूर्तं शुद्धबुद्धैकस्वभावं सिद्धमिति। एवं देहात्मनोर्भेदज्ञानं ज्ञात्वा मोहोदयोत्पन्नसमस्त-

---

अज्ञानी को समझाते है कि रे दुरात्मन्, आत्मा का घातक, तू परम अविवेक से जैसे तृणसहित सुन्दर आहार को हस्ती आदि पशु खाता है उसी तरह के खाने का स्वभाव छोड़-छोड़। जो सर्वज्ञ के ज्ञान से प्रकट किया नित्य उपयोग स्वभावरूप जीवद्रव्य वह कैसे पुद्गलरूप हो गया जिससे कि तू "यह पुद्गल मेरा है" ऐसा अनुभव करता है। कैसा है सर्वज्ञ का ज्ञान जिसने समस्त संदेह विपर्यय अनध्यवसाय दूर कर दिये हैं समस्त वस्तु के प्रकाशने को एक अद्वितीय ज्योति है। ऐसे ज्ञान से दिखलाया गया है। और कदाचित् किसी प्रकार जैसे लवण तो जलरूप तथा जल लवण रूप हो जाता है उसी प्रकार जीवद्रव्य तो पुद्गल हो जाय तथा पुद्गलद्रव्य जीवरूप हो जाय तो तेरी "पुद्गलद्रव्य मेरा है" ऐसी अनुभूति बन जाय ऐसा तो किसी तरह भी द्रव्य स्वभाव बदल नहीं सकता। यही दृष्टांत से अच्छी तरह बतलाते है जैसे क्षार स्वभाव वाला लवण तो जल रूप हुआ दीखता है और द्रवत्वलक्षण वाला जल लवण रूप हुआ देखा जाता है क्योंकि लवण का क्षारपना तथा जल का द्रवपना इन दोनों के साथ रहने में अविरोध है इसमें कोई बाधा नहीं है। उसी तरह नित्य उपयोग लक्षण वाला जीवद्रव्य तो पुद्गलद्रव्य हुआ देखने मे नहीं आता और नित्य अनुपयोग (जड) लक्षण वाला पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य रूप हुआ नहीं दीखता क्योंकि प्रकाश तथा अन्धकार इन दोनों की तरह उपयोग तथा अनुपयोग के एक साथ रहने का विरोध है, जड चेतन ये दोनों किसी समय भी एक नहीं हो सकते। इसलिए तू सब तरह से प्रसन्न हो अर्थात् अपना चित्त उज्ज्वल कर सावधान हो, अपने ही द्रव्य को अपने अनुभव रूप कर, ऐसा श्री गुरुओं का उपदेश है।

भावार्थ—यह अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्य को अपना मानता है उसको उपदेश कर सावधान किया है कि सर्वज्ञ ने ऐसा देखा है कि जड और चेतनद्रव्य ये दोनों सर्वथा पृथक् पृथक् हैं कदाचित् किसी प्रकार से भी एक रूप नहीं होते। इस कारण हे अज्ञानी, तू परद्रव्य को एक रूप से मानना छोड़ दे, ऐसा वृथा मानने से कुछ लाभ नहीं है।

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन् अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तं ।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहं ॥ २३ ॥

विकल्पजालं त्यक्त्वा निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्रे निजपरमात्मतत्त्वे भावना कर्तव्येति तात्पर्यं । इत्यप्रतिबुद्धसंबोधनार्थं पंचमस्थले गाथात्रयं गतं ॥ २३ । २४ । २५ ॥ अथ पूर्वपक्षपरिहाररूपेण गाथाष्टकं कथ्यते, तत्रैकगाथायां पूर्वपक्षः गाथाचतुष्टये निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण परिहारः । गाथात्रये निश्चयस्तुतिरूपेण परिहार इति षष्ठस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा प्रथमतस्तावत् यदि जीवशरीरयोरेकत्वं न भवति तदा तीर्थकराचार्यस्तुतिर्वृथा भवतीत्यप्रतिबुद्धशिष्यः पूर्वपक्षं करोति;— **जदि जीवो ण सरीरं** हे भगवन् यदि जीवः शरीरं न भवति **तित्थयरायरियसंथुदी चेव** तर्हि "द्वौ कुंदेंदुतुषारहारधवलावित्यादि" तीर्थंकरस्तुति "देसकुलजाइसुद्धा" इत्याचार्यस्तुतिश्च **सव्वावि हवदि मिच्छा** सर्वापि भवति मिथ्या **तेण दु आदा हवदि देहो** तेन त्वात्मा भवति देहः । इति ममैकांतिकी प्रतिपत्तिः । एवं पूर्वपक्षगाथा गता ॥ २६ ॥ हे शिष्य यदुक्तं त्वया तन्न घटते यतो निश्चयव्यवहारनयपरस्परसाध्यसाधकभावं न जानासि त्वमिति.—**ववहारणयो भासदि** व्यवहारनयो भाषते ब्रूते । किं ब्रूते । **जीवो देहो य हवदि खलु इक्को** जीवो देहश्च भवति खल्वेक. **ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो** न तु निश्चयस्याभिप्रायेण जीवो देहश्च कदाचित्काले एकार्थ. एको भवति । यथा कनककलधौतयो समावर्त्तितावस्थायां व्यवहारेणैकत्वेपि निश्चयेन भिन्नत्वं तथा जीवदेहयोरिति भावार्थ. । तत कारणात् व्यवहारनयेन देहस्तवनेनात्मस्तवनं युक्तं भवतीति नास्ति दोषः ॥ २७ ॥ तथाहि:—**इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी** इदमन्यद्भिन्नं जीवात्सकाशाद्देहं पुद्गलमय स्तुत्वा मुनिः । **मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं** पश्चाद्व्यवहारेण मन्यते संस्तुतो वंदितो मया केवली भगवानिति । यथा सुवर्णरजतयोरेकत्वे सति शुक्लं सुवर्णमिति व्यवहारो न निश्चयः तथा शुक्लरक्तोत्पलवर्ण. केवलिपुरुष इत्यादिदेहस्तवनेन व्यवहारेणात्मस्तवनं भवति न निश्चयनयेनेति तात्पर्यार्थ. ॥ २८ ॥ अथ निश्चयनयेन शरीरस्तवने केवलिस्तवनं न भवतीति दृढयतिः—**तं णिच्छये ण जुज्जदि** तत्पूर्वोक्तदेहस्तवने सति केवलिस्तवनं निश्चयेन न युज्यते । कथमिति चेत् । **ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो** यतः कारणाच्छरीरगुणा

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**अयि** इत्यादि । **अर्थ**—हे भाई, तू किसी तरह भी महान् कष्ट से अथवा मरणावस्था को प्राप्त हुआ भी तत्त्वों का कौतूहली हुआ इस शरीरादि मूर्तद्रव्य का एक मुहूर्त (४८ मिनट) अपने को पड़ौसी मानकर आत्मा का अनुभव कर, जिससे कि अपने आत्मा को विलास रूप सर्व परद्रव्यों से पृथक् देखकर इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्य के साथ एकत्व के मोह को शीघ्र ही छोड़ सके ।

भावार्थ—यदि यह आत्मा दो घड़ी पुद्गलद्रव्य से भिन्न अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करें उसमें लीन होवे और परीषह (कष्ट) आने पर भी विचलित न हो तो घातिकर्म का नाश कर केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष को प्राप्त हो जाय । आत्मानुभव का ऐसा माहात्म्य है, तब मिथ्यात्व का नाश कर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना तो सुगम है । इसलिए श्री गुरुओं ने यही प्रधानता से उपदेश दिया है ॥ २३।२४।२५ ॥

अथाहाप्रतिबुद्धः—

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव ।
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥ २६ ॥

यदि जीवो न शरीरं तीर्थकराचार्यसंस्तुतिश्चैव ।
सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः ॥ २६ ॥

यदि य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यं न भवेत्तदा—

कांत्यैव स्नपयंति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धंति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णंति रूपेण ये ।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥ २४ ॥

इत्यादिका तीर्थकराचार्य्यस्तुतिः समस्तापि मिथ्या स्यात् । ततो य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यम् । इति ममैकान्तिकी प्रतिपत्तिः ॥ २६ ॥

शुक्लकृष्णादयः केवलिनो न भवति । तर्हि कथ केवलिनः स्तवनं भवति ? **केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि** केवलिगुणान् अनन्तज्ञानादीन् स्तौति यः स तत्वं वास्तवं स्फुटं वा केवलिन स्तौति । यथा शुक्लवर्णरजत-

---

आगे अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) जीव का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए कहते है—अप्रतिबुद्ध कहता है कि **[यदि]** जो **[जीवः]** जीव है वह **[शरीरं न]** शरीर नहीं है तो **[तीर्थकराचार्यसंस्तुतिः]** तीर्थकर—आचार्यों की स्तुति करना है वह **[सर्वापि]** सब ही **[मिथ्या भवति]** मिथ्या हो जाय **[तेन तु]** इसलिए हम समझते हैं कि **[आत्मा]** आत्मा **[देहः चैव]** यह देह ही **[भवति]** है ।

टीका—जो आत्मा है वह पुद्गलद्रव्य स्वरूप यह शरीर ही है । ऐसा न हो तो तीर्थंकर आचार्यों की जो स्तुति की गई है वह सब मिथ्या हो जायगी । वह स्तुति इस तरह है । **कांत्यैव** इत्यादि । **अर्थ**—'वे तीर्थंकर सूरि (मोक्षमार्गोपदेशक) वंदने योग्य हैं जो अपने शरीर की कांति से दशों दिशाओं को स्नान कराते हैं—निर्मल करते हैं और अपने तेज से उत्कृष्ट तेज वाले सूर्यादिक के तेज को भी छिपा देते हैं । वे अपने रूप से लोकों का मन हर लेते हैं और दिव्य ध्वनि (वाणी) से भव्यों के कानों में साक्षात् सुख अमृत बरसाते है तथा एक हजार आठ लक्षणों को धारण करते हैं । इत्यादिक तीर्थकरों की स्तुति है वह सभी मिथ्या ठहरेगी । इसलिये हमारे तो यही एकांत से निश्चय है कि आत्मा है वह शरीर ही है पुद्गल द्रव्य ही है । ऐसा अप्रतिबुद्ध ने कहा । उसको आचार्य उत्तर देते हैं कि इस तरह नहीं है, तूने नयविभाग नहीं समझा है ॥ २६ ॥

नैवंनय विभागानभिज्ञोऽसि—

ववहारणयो भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ॥ २७ ॥

व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः ।
न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाप्येकार्थः ॥ २७ ॥

इह खलु परस्परावगाढावस्थायामात्मशरीरयोः समावर्तितावस्थायां कनककलधौतयो-रेकस्कंधव्यवहारवद्व्यवहारमात्रेणैवैकत्वं न पुनर्निश्चयतः । निश्चयतो ह्यात्मशरीरयोरुपयोगानुपयोगस्वभावयोः कनककलधौतयोः पीतपांडुरत्वादिस्वभावयोरिवात्यंतव्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्तेः नानात्वमेवेत्येवं हि किल नयविभागः । ततो व्यवहारनयेनैव शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमुपपन्नं ॥ २७ ॥

शब्देन सुवर्णं न भण्यते तथा शुक्लादिकेवलिशरीरस्तवनेन चिदानंदैकस्वभावं केवलिपुरुषस्तवनं निश्चयनयेन न भवतीत्यभिप्राय ॥ २६ ॥ अथ शरीरप्रभुत्वेपि सत्यात्मनः शरीरस्तवनेनात्मस्तवनं न भवति निश्चयनयेन । तत्र दृण्टातमाह यथा प्राकारोपवनखातिकादिनगरवर्णने कृतेपि नैव राज्ञो वर्णना कृताभवति तथा शुक्लादिदेहगुणे स्तूयमानेप्यनंतज्ञानादिकेवलिगुणाः स्तुता न भवंतीत्यर्थः । इति निश्चयव्यवहाररूपेण गाथाचतुष्टयं गतं ॥ ३० ॥

वह नयविभाग ऐसा है उसको गाथा द्वारा बतलाते हैं;— **[व्यवहारनयः]** व्यवहारनय तो **[भाषते]** ऐसा कहता है कि **[जीवः च देहः]** जीव और देह **[एकः खलु]** एक ही **[भवति]** है **[च]** और **[निश्चयनयस्य]** निश्चयनय का कहना है कि **[जीवः देहः तु]** जीव और देह ये दोनों तो **[कदापि]** कभी **[एकार्थः]** एक पदार्थ **[न]** नहीं हो सकते ।

टीका—जैसे इस लोक में सुवर्ण और चांदी को गला कर एक करने से एक पिंड का व्यवहार होता है, उसी तरह आत्मा के और शरीर के परस्पर एक जगह रहने की अवस्था होने से एकत्व का व्यवहार होता है । इस तरह व्यवहारमात्र से ही आत्मा और शरीर का एकत्व है परंतु निश्चय से एकत्व नहीं है; क्योंकि पीले और सफेद स्वभाव वाले सोना चांदी हैं, उनको जब निश्चय से विचारा जाय तब अत्यंत भिन्नता होने से एक पदार्थ की असिद्धि है, इसलिये अनेकरूपता ही है । उसी तरह आत्मा और शरीर उपयोग तथा अनुपयोग स्वभाव वाले हैं । उन दोनों के अत्यंत भिन्नता होने से एक पदार्थ की प्राप्ति नहीं है इसलिये अनेकता ही है । ऐसा यह प्रकट नयविभाग है । इस कारण व्यवहारनय से शरीर की स्तुति करने से ही आत्मा की स्तुति हो सकती है ।

भावार्थ—व्यवहारनय तो आत्मा और शरीर को एक कहता है और निश्चयनय भिन्न कहता है, इसलिये व्यवहारनय से शरीर के स्तवन करने से आत्मा का स्तवन माना जाता है ॥ २७ ॥

तथाहि;—

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी ।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥ २८ ॥

इममन्यं जीवाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः ।
मन्यते खलु संस्तुतो वंदितो मया केवली भगवान् ॥ २८ ॥

यथा कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्य व्यपदेशेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि कार्त्तस्वरस्य व्यवहारमात्रेणैव पांडुरं कार्त्तस्वरमित्यस्ति व्यपदेशः । तथा शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेः स्तवनेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य व्यवहारमात्रेणैव शुक्ललोहितस्तीर्थंकरकेवलिपुरुष इत्यस्ति स्तवनं । निश्चयनयेन तु शरीरस्तवेनेनात्मस्तवनमनुपपन्नमेव ॥ २८ ॥

अथानंतरं यदि देहगुणस्तवनेन निश्चयस्तुतिर्न भवति तर्हि कीदृशी भवतीति पृष्टे सति द्रव्येंद्रियभावेंद्रियपंचेंद्रियविषयान् स्वसंवेदनलक्षणभेदविज्ञानेन जित्वा योसौ शुद्धमात्मानं संचेतयते स जिन इति जितेंद्रिय इति सा चैव निश्चयस्तुतिः परिहारं ददाति । **जो इन्दिये जिणत्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं** यः कर्त्ता द्रव्येंद्रियभावेंद्रियपंचेंद्रियविषयान् जित्वा शुद्धज्ञानचेतनागुणेनाधिकं परिपूर्णं शुद्धात्मानं मनुते जानात्यनुभवति संचेतयति

यही बात आगे की गाथा में व्यक्त करते हैं;—**[जीवात् अन्यं]** जीव से भिन्न **[इमं पुद्गलमयं देहं]** इस पुद्गलमयी देह की **[स्तुत्वा]** स्तुति करके **[मुनिः]** साधु **[मन्यते खलु]** असल में ऐसा मानता है कि **[मया]** मैंने **[केवलीभगवान्]** केवली भगवान् की **[स्तुतः]** स्तुति की और **[वंदितः]** वंदना की ।

टीका—जैसे चांदी के गुण श्वेतता के नाम से सुवर्ण को भी श्वेत कहते हैं सो व्यवहार मात्र से कहते है । परमार्थ से विचारा जाय तब सुवर्ण का स्वभाव सफेद नहीं है, पीला है; उसी तरह से शुक्ल रक्तपना आदिक शरीर के गुण हैं, उसके स्तवन से तीर्थंकर केवली पुरुषों को 'शुक्ल हैं, रक्त हैं' ऐसा स्तवन में कहते हैं सो यह स्तवन व्यवहारमात्र है। परमार्थ से विचारा जाय तब शुक्लरक्तपना तीर्थंकर केवली पुरुष का स्वभाव नहीं है । इस कारण निश्चयनय से शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन नहीं बन सकता ।

प्रश्न—व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा है और शरीर जड़ है सो व्यवहार के आश्रय जड़ की स्तुति का क्या फल है । **उत्तर**—व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है निश्चय को प्रधान कर असत्यार्थ कहा है, छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) को अपना परका आत्मा साक्षात् दीखता नहीं है शरीर ही दीखता है, उसकी शांतरूप मुद्रा को देख अपने भी शांतभाव हो जाते हैं । ऐसा उपकार जान शरीर के आश्रय से भी स्तुति करता है, शांतमुद्रा देख अन्तरंग में वीतरागभाव का निश्चय होता है यह भी उपकार है ।।२८।।

तथाहि :—

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो ।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥ २६ ॥

तन्निश्चये न युज्यते न शरीरगुणा हि भवंति केवलिनः ।
केवलिगुणान् स्तौति यः स तत्त्वं केवलिनं स्तौति ॥ २६ ॥

यथा कार्त्तस्वरस्य कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्याभावान्न निश्चयतस्तद्व्यपदेशेन व्यपदेशः कार्तस्वरगुणस्य व्यपदेशेनैव कार्तस्वरस्य व्यपदेशात्, तथा तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेरभावान्न निश्चयतस्तत्स्तवनेन स्तवनं, तीर्थंकरकेवलिपुरुषगुणस्य स्तवनेनैव तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य स्तवनात् ॥ २६ ॥

कथं शरीरस्तवनेन तदधिष्ठातृत्वादात्मनो निश्चयेन स्तवनं न युज्यत इति चेत्:—

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥ ३० ॥

नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति ।
देहगुणे स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवंति ॥ ३० ॥

तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू तं पुरुषं खलु स्फुटं जितेंद्रियं भणंति ते साधवः । के ते । ये निश्चिताः निश्चयज्ञा इति । किंच ज्ञेयाः स्पर्शादिपंचेंद्रियविषयाः ज्ञायकानि स्पर्शनादिद्रव्येंद्रियाभावेंद्रियाणि

ऊपर की बात को गाथा से कहते हैं :—[तत्] वह स्तवन [निश्चये] निश्चय में [न युज्यते] ठीक नहीं है [हि] क्योंकि [शरीरगुणाः] शरीर के गुण [केवलिनः] केवली के [न भवंति] नहीं हैं । [यः] जो [केवलिगुणान्] केवली के गुणों की [स्तौति] स्तुति करता है [स] वही [तत्त्वं] परमार्थ से [केवलिनं] केवली की [स्तौति] स्तुति करता है ।

टीका—जैसे सुवर्ण में चांदी के सफेद गुण का अभाव है इसलिए निश्चय से सफेदपने के नाम से सोने का नाम नहीं बनता, सुवर्ण के गुण जो पीतपना आदि हैं उनके ही नाम से सुवर्ण का नाम होता है । उसी तरह तीर्थंकर केवली पुरुष में शरीर के शुक्ल रक्तता आदि गुणों का अभाव है, इसलिये निश्चय से शरीर के गुणों के स्तवन करने से तीर्थंकर केवली पुरुष का स्तवन नहीं होता । तीर्थंकर केवली पुरुष के गुणों के स्तवन करने से ही केवली का स्तवन होता है । २६ ।

आगे शिष्य का प्रश्न है कि आत्मा तो शरीर का अधिष्ठाता है इसलिये शरीर की स्तुति करने से आत्मा का स्तवन निश्चय से क्यों ठीक नहीं है ? ऐसे प्रश्न का उत्तर रूप गाथा दृष्टांत सहित कहते हैं :—[यथा] जैसे [नगरे] नगर का [वर्णिते] वर्णन करने पर [राज्ञः वर्णना] राजा

तथाहि—

प्राकारकवलितांवरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलं ।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालं ॥ २५ ॥

इति नगरे वर्णितेपि राज्ञः तदधिष्ठातृत्वेपि प्राकारोपवनपरिखादिमत्त्वाभावाद्वर्णनं न स्यात् ।

तथैव—

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यं ।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेंद्ररूपं परं जयति ॥ २६॥

इति शरीरे स्तूयमानेपि तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य तदधिष्ठातृत्वेपि सुस्थितसर्वांगत्वलावण्या-दिगुणाभावात्स्तवनं न स्यात् ॥ ३० ॥

तेषा योगो जीवेन सह संकर. संयोग सबन्ध. स एव दोषः तं दोषं परमसमाधिबलेन योगी जयति सा चैव प्रथमा निश्चयस्तुतिरिति भावार्थ ॥ ३१ ॥

का वर्णन [**नापि कृता**] किया नही [**भवति**] होता उसी तरह [**देहगुणे स्तूयमाने**] देह के गुणों का स्तवन होने से [**केवलिगुणाः**] केवली के गुण [**स्तुता न**] स्तवनरूप किये नहीं [**भवंति**] होते ।

इसी अर्थ का टीका में काव्य कहा गया है । **प्राकार** इत्यादि । **अर्थ**—यह नगर ऐसा है कि जिसने कोट (परकोटा) से आकाश को ग्रस लिया है अर्थात् इसका कोट बहुत ऊंचा है । बगीचों की पंक्तियों से जिसने भूमितल को निगल लिया है अर्थात् चारों ओर बागों से पृथ्वी ढक गई है । कोट के चारों तरफ खाई के घेरे से मानों पाताल को पी रहा है अर्थात् खाई बहुत गहरी है । ऐसे नगर का वर्णन करते हैं यद्यपि इसका अधिष्ठाता राजा है तो भी कोट बाग खाई आदि वाला राजा नहीं है इसलिये इससे राजा का वर्णन नही हो सकता । उसी तरह तीर्थंकर का स्तवन शरीर की स्तुति करने से नहीं हो सकता है । उसका श्लोक भी कहते हैं ।

नित्य इत्यादि । **अर्थ**—जिनेंद्र का रूप (मूर्ति) सब से उत्कृष्ट जयवंत हो, वह सदैव विकाररहित है, अच्छी तरह सुखरूप सर्वांग जिसमें स्थित है, अपूर्व है, स्वाभाविक अर्थात् जन्म से ही लेकर जिसमें लावण्य उत्पन्न है यानी सबको प्रिय लगता है, समुद्र की तरह क्षोभरहित है, चलाचल नहीं है । इस प्रकार शरीर की स्तुति कही । यद्यपि तीर्थंकर केवली पुरुष के शरीर का अधिष्ठातापना है तो भी सुस्थित सर्वांगपना लावण्यपना आत्मा का गुण नहीं है । इसलिये तीर्थंकर केवली पुरुष के इन गुणों का अभाव होने से उनकी स्तुति नहीं हो सकती ॥ ३० ॥

अब जिस तरह तीर्थंकर केवली की निश्चय स्तुति हो सकती है उसी रीति से कहते हैं उसमें

अथ निश्चयस्तुतिमाह, तत्र ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषपरिहारेण तावत्;—

जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥ ३१ ॥

यः इंद्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानं ।
तं खलु जितेंद्रियं ते भणंति ये निश्चिताः साधवः ॥ ३१ ॥

यः खलु निरवधिबंधपर्यायवशेन प्रत्यस्तमितसमस्तस्वपरविभागानि निर्मलभेदाभ्यास-कौशलोपलब्धांतःस्फुटातिसूक्ष्मचित्स्वभावावष्टंभबलेन शरीरपरिणामापन्नानि द्रव्येंद्रियाणि प्रति-विशिष्टस्वस्वविषयव्यवसायितया खंडशः आकर्षन्ति प्रतीयमानाखंडैकचिच्छक्तितया भावेंद्रियाणि ग्राह्यग्राहकलक्षणसम्बन्धप्रत्यासत्तिवशेन सह संविदा परस्परमेकीभूतानिव चिच्छक्तेः स्वयमेवानुभूय-मानासंगतया भावेंद्रियावगृह्यमाणान् स्पर्शादीनिंद्रियार्थांश्च सर्वथा स्वतः पृथक्करणेन विजित्यो-परतसमस्तज्ञेयज्ञायकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्य-मेवांतःप्रकाशमानेनानपायिना स्वतः सिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन सर्वेभ्यो द्रव्यां-तरेभ्यः । परमार्थतोतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितेन्द्रियो जिन इत्येका निश्चयस्तुतिः ॥३१॥

अथ तामेव स्तुतिं द्वितीयप्रकारेण भाव्यभावकसंकरदोषपरिहारेण कथयति । अथवा उपशमश्रेण्यपेक्षया जितमोहरूपेणाह :—**जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं** यःपुरुषः उदयागतं मोहं सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रैकाग्र्यरूपनिर्विकल्पसमाधिबलेन जित्वा शुद्धज्ञानगुणेनाधिकं परिपूर्णमात्मानं मनुते जानाति भावयति **तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति** तं साधुं जितमोहं रहितमोहं परमार्थविज्ञायका ब्रुवंति कथयंतीति । इयं

भी पहले ज्ञेय ज्ञायक के संकरदोष का परिहार करके स्तुति करते हैं;— [**यः**] जो [**इन्द्रियाणि**] इंद्रियों को [**जित्वा**] जीतकर [**ज्ञानस्वभावाधिकं**] ज्ञानस्वभाव द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक [**आत्मानं**] आत्मा को [**जानाति**] जानता है [**तं खलु**] उसको नियम से [**ये निश्चताः साधवः**] जो निश्चयनय में स्थित साधुलोक हैं [**ते**] वे [**जितेंद्रियं**] जितेंद्रिय ऐसा [**भणंति**] कहते हैं ।

टीका—जो मुनि द्रव्येंद्रिय, भावेंद्रिय तथा इन्द्रियों के विषयों के पदार्थ इन तीनों को ही अपने से पृथक् कर सब अन्य द्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करता है, वह निश्चय से जितेंद्रिय है । कैसी हैं द्रव्येंद्रियाँ ? अनादि अमर्यादरूप बंधपर्याय के वश से जिनसे समस्त स्व-पर का विभाग नष्ट हो गया है और जो शरीर परिणाम को प्राप्त हुई हैं अर्थात् आत्मा से ऐसे एक हो रही हैं कि भेद नहीं दीखता, उनको तो निर्मल भेद के अभ्यास की चतुराई से प्राप्त अन्तरंग में प्रकट अति सूक्ष्म चैतन्य स्वभाव के अवलंबन से अपने से पृथक् किया है, यही जीतना हुआ । कैसी हैं भावेंद्रियाँ ? पृथक्-पृथक् विशेषों को लिये हुए जो अपने विषय उनमें व्यापार करने के कारण जो विषयों को खंडखंड ग्रहण करती हैं अर्थात्

अथ भाव्यभावकसङ्करदोषपरिहारेण;—

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥ ३२ ॥

यो मोहं तु जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानं ।
तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका विंदन्ति ॥ ३२ ॥

यो हि नाम फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवंतमपि दूरत एव तदनुवृत्तेरात्मनो

द्वितीया स्तुतिरिति । किंच भाव्यभावकसंकरदोषपरिहारेण द्वितीया स्तुतिर्भवतीति पातनिकायां भणितं भवद्भिस्तत्कथं घटते इति भाव्यो रागादिपरिणत आत्मा, भावको रंजक उदयागतो मोहस्तयोर्भाव्यभावकयोः शुद्धजीवेन सह संकरः संयोगः संबंधः स एव दोषः । तं दोषं स्वसंवेदनज्ञानबलेन योऽसौ परिहरति सा द्वितीया स्तुतिरिति भावार्थः। एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायसूत्राण्येकादश पंचानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणामिंद्रियसूत्रेण पृथग्व्याख्यातत्वाद्व्याख्येयानि। अनेनैव प्रकारेणान्यान्याप्यसंख्येयलोकमात्रविभावपरिणामरूपाणिज्ञातव्यानि ॥ ३२ ॥

ज्ञान को खंडखंड रूप जानती हैं, उनको प्रतीति में आती हुई अखंड एक चैतन्यशक्ति से अपने से भिन्न जानती है, इनका यही जीतना हुआ । इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ कैसे हैं ? ग्राह्य ग्राहक लक्षण सम्बन्ध की निकटता के वश से अपने संवेदन (अनुभव) के साथ परस्पर मानो एक सरीखे हो गये हो ऐसे दीखते हैं, उनको अपनी चैतन्य शक्ति के अपने आप अनुभव में आता हुआ जो असगपना—एकत्व उस के द्वारा भावेंद्रिय से ग्रहण किये हुए स्पर्शादिक पदार्थों को अपने से पृथक् किया है । इनका यही जीतना हुआ । इस प्रकार इन्द्रियज्ञान के और विषयभूत पदार्थों के ज्ञेयज्ञायक का संकरनामादोष आता था, उसके दूर होने से आत्मा एकपने में टङ्कोत्कीर्ण स्थित हुआ । जैसे टांकी से उकेरी पत्थर में मूर्ति एकाकार जैसी की तैसी ठहरती है, उसी तरह ठहरा यह ऐसा कैसे मालूम हुआ ? समस्त पदार्थों के ऊपर तरता जानता हुआ भी उनरूप नहीं होता, प्रत्यक्ष उद्योतपने से नित्य ही अन्तरंग में प्रकाशमान, अविनश्वर, आपही से सिद्ध हुआ और परमार्थरूप ऐसे भगवान ज्ञानस्वभाव के द्वारा सब अन्यद्रव्यों से परमार्थरूप से जुदा जाना । क्योंकि ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्यों मे नहीं है इसलिये सबसे अधिक भिन्न ही है । ऐसे आत्मा को जानने वाला जितेंद्रिय जिन है, इस प्रकार एक निश्चय स्तुति तो यह हुई ।

भावार्थ—यहां ज्ञेय तो इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ और ज्ञायक आप आत्मा इन दोनो का विषयों की आसक्तता से अनुभव एकसा होता था, सो भेदज्ञान से भिन्नता जानी तब ज्ञेय ज्ञायक संकर दोष दूर हुआ ऐसा जानना ॥ ३१ ॥

आगे भाव्य भावक संकर दोष दूरकर स्तुति कहते हैं;—[**यः तु**] जो मुनि [**मोहं**] मोहको [**जित्वा**] जीतकर [**आत्मानं**] अपने आत्माको [**ज्ञानस्वभावाधिकं**] ज्ञानस्वभाव से अन्यद्रव्य-भावों मे अधिक [**जानाति**] जानता है [**तं साधु**] उस मुनिको [**परमार्थविज्ञायकाः**] परमार्थ के जानने वाले [**जितमोहं**] जितमोह ऐसा [**विंदंति**] जानते हैं--कहते हैं ।

भाव्यस्य व्यावर्त्तनेन हठान्मोहं न्यक्कृत्योपरतसमस्तभाव्यभावकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवांतःप्रकाशमानेनानपायिना स्वतः सिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन द्रव्यांतरस्वभावभाविभ्यः सर्वेभ्यो भावान्तरेभ्यः परमार्थतोऽतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितमोहो जिन इति द्वितीया निश्चयस्तुतिः। एवमेव च मोहपदपरिवर्त्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायसूत्राण्येकादश पञ्चानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणामिंद्रियसूत्रेण पृथग्व्याख्यातत्वाद्व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ॥ ३२ ॥

अथवा भाव्यभावकभावाभावरूपेण तृतीया निश्चयस्तुतिः कथ्यते। अथवा तामेव क्षपकश्रेण्यपेक्षया क्षीणमोहरूपेणाह — **जियमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स** पूर्वगाथाकथित क्रमेणजितमोहस्य सतो जातस्य यदा निर्विकल्पसमाधिकाले क्षीणो मोहो भवेत्। कस्य ? साधोः शुद्धात्मभावकस्य **तहिया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं** तदा तु गुप्तिसमाधिकाले स साधुः क्षीणमोहो भण्यते। कैर्निश्चयविद्भिः परमार्थज्ञायकैर्गणधरदेवादिभि। इयं तृतीया निश्चयस्तुतिरिति। भाव्यभावकभावाभावरूपेण कथं जाता स्तुतिरिति चेत्—भाव्यो

टीका—जो मुनि फल देने की सामर्थ्यसे प्रकट उदयरूप होकर भावकरूपसे प्रगट हुए मोहकर्म को और तदनुकूल परिणत आत्मा-भाव्य, को भेदज्ञान के बल से दूर ही से पृथक् कर मोह को पृथक् कर तिरस्कार करने से, जिसमें समस्त भाव्यभावक संकरदोष दूर हो गया है, उस के रूप से एकत्व होने पर टकोत्कीर्ण निश्चल एक अपने आत्मा का अनुभव करताहै, वह मोह को जीतने वाला होने से जिन कहलाता है। वह आत्मा समस्त लोक के ऊपर तैरता, प्रत्यक्ष उद्योत होने से नित्य ही अंतरंग में प्रकाशमान, अविनाशी और आपसे ही सिद्ध हुआ परमार्थरूप भगवान् ऐसा जो ज्ञानस्वभाव, उससे अन्यद्रव्यके स्वभावसे होनेवाले सब ही अन्यभावों से परमार्थ दृष्टि से भिन्न है; क्योंकि ऐसा ज्ञानस्वभाव अन्य पदार्थोंमें नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माको अनुभव करता है।

भावार्थ—ऐसे अपना आत्मा भावक जो मोह उसके अनुसार प्रवृत्ति से भाव्यरूप होकर भेदज्ञान के बलसे उसे पृथक् अनुभव करता है, वह जितमोह जिन है। इस तरह भाव्यभावक भाव के संकरदोष को दूर कर दूसरी निश्चयस्तुति है। यहां पर ऐसा आशय है कि जो श्रेणी चढ़ने पर मोह का उदय अनुभव में न रहे, अपने बलसे उपशमादिकर आत्माको अनुभव करता है, उसको जितमोह कहा है। यहां पर मोह को जीता है, उसका नाश हुआ मत जानना। इस गाथासूत्र में एक मोह का ही नाम लिया है इससे मोह के पदको बदलकर उसकी जगह राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय ये ग्यारह तो इस सूत्रद्वारा और श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ये पांच इंद्रियसूत्रकर ऐसे सोलह पद पलटने से सोलह सूत्र पृथक् पृथक् व्याख्यानरूप करने चाहिए और इसी उपदेशसे अन्य भी विचार लेने चाहिए ॥ ३२ ॥

अथ भाव्यभावकभावाभावेन :—

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥ ३३ ॥

जितमोहस्य तु यदा क्षीणो मोहो भवेत्साधोः ।
तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्भिः ॥ ३३ ॥

इह खलु पूर्वप्रक्रांतेन विधानेनात्मनो मोहं न्यक्कृत्य यथोदितज्ञानस्वभावातिरिक्तात्मसंचेतनेन जितमोहस्य सतो यदा स्वभावभावभावनासौष्ठवावष्टंभात्तत्संतानात्यंतविनाशेन पुनरप्रादुर्भावाय भावकः क्षीणो मोहः स्यात्तदा स एव भाव्यभावकभावाभावेनैकत्वे टंकोत्कीर्णपरमात्मानमवाप्तः क्षीणमोहो जिन इति तृतीया निश्चयस्तुतिः । एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ।

रागादिपरिणत आत्मा, भावको रंजक उदयागतो मोहस्तयोर्भाव्यभावकयोर्भावः स्वरूपं तस्याभावः क्षयो विनाशः सा चैव तृतीया निश्चयस्तुतिरित्यभिप्रायः । एवं रागद्वेष इत्यादि दंडको ज्ञातव्यः ॥ ३३ ॥ इति प्रथमगाथायां पूर्वपक्षस्तवनंतरं

आगे भाव्यभावकभाव के अभाव द्वारा निश्चय स्तुति कहते हैं; [जितमोहस्य तु साधोः] जिसने मोह को जीत लिया है ऐसे साधु के [यदा] जिस समय [क्षीणो मोहः] मोह क्षीण सत्ता में से नाश [भवेत्] होता है [तदा] उस समय [निश्चयविद्भिः] निश्चय के जानने वाले [खलु] निश्चय कर [सः] उस साधु को [क्षीणमोहः] क्षीण मोह ऐसे नाम से [भण्यते] कहते हैं ।

टीका—इस निश्चय स्तुति में पूर्वोक्त विधान द्वारा आत्मा से मोह का तिरस्कार कर जैसा कहा, वैसे ज्ञान स्वभाव द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा का अनुभव करने से जितमोह हुआ, उसके जिस समय अपने स्वभाव भाव की भावना का अच्छी तरह अवलम्बन करने से मोह की संतान का ऐसा अत्यंत विनाश हो जाता है कि फिर उसका उदय नहीं होता । ऐसा भावक रूप मोह जिस समय क्षीण होता है, उस समय (भावक मोह का क्षय होने पर) आत्मा के विभावरूप भाव्यभाव का भी अभाव हो जाता है । इस तरह भाव्य भावकभाव के अभाव से एकत्व होने पर टंकोत्कीर्ण (निश्चल) परमात्मा को प्राप्त हुआ 'क्षीणमोह जिन' ऐसा कहा जाता है । यह तीसरी निश्चय स्तुति है ।

भावार्थ—जिस समय साधु पहले अपने बल से उपशमभाव द्वारा मोह को जीत पीछे जिस समय अपनी बड़ी सामार्थ्य से मोह का सत्ता में से नाश कर ज्ञानस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता है, तब क्षीणमोह जिन कहा जाता है । यहां भी जैसे पूर्व कहा था, उसी तरह मोह पद को पलट कर राग,

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुस्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः ।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्मांगयोः ॥ २७ ॥

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां नयविभजनयुक्त्यात्यंतमुच्छादितायां ।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥ २८ ॥

इत्यप्रतिबुद्धोक्तिनिरासः ॥ ३३ ॥

गाथाचतुष्टये निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण परिहारस्ततश्च गाथात्रये निश्चयस्तुतिकथनरूपेण च परिहार इति पूर्वपक्षपरिहारगाथाष्टकसमुदायेन षष्ठस्थलं गतं । अथ रागादिविकल्पोपाधिरहितं स्वसंवेदनज्ञानलक्षणप्रत्याख्यानविवरणरूपेण

द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन,—ये पद रखकर सोलह सूत्र पढ़ना और व्याख्यान करना तथा इसी प्रकार उपदेश कर अन्य भी विचारना।

अब इस निश्चय व्यवहार रूप स्तुति के अर्थ के कलश रूप काव्य कहते हैं—**एकत्वं** इत्यादि। **अर्थ**—शरीर और आत्मा का व्यवहारनय से एकत्व है किन्तु निश्चयनय से एकत्व नहीं है। इसीलिए शरीर के स्तवन से आत्मा-पुरुष का स्तवन व्यवहारनय से हुआ कहा जाता है और निश्चयनय से नहीं। निश्चय से तो चैतन्य के स्तवन से ही चैतन्य का स्तवन होता है। वह चैतन्य का स्तवन तो जितेंद्रिय, जितमोह, क्षीणमोह—कहने से होता है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि जो अज्ञानी ने तीर्थकरके स्तवन का प्रश्न किया था, उसका यह नय विभाग द्वारा उत्तर दिया। उसके बल से आत्मा और शरीर का एकत्व निश्चय से नहीं है।

अब फिर इसी अर्थ के जानने से भेदज्ञान की सिद्धि होती है, ऐसा अर्थ रूप काव्य कहते हैं—**इति परिचित** इत्यादि। **अर्थ**—इस तरह जिसने वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिचय किया है, ऐसे मुनि ने आत्मा और शरीर के एकत्व को नय के विभाग की युक्ति द्वारा अत्यन्त उच्छादन किया है। ऐसा होने पर वह ज्ञान यथार्थ रूप में किस पुरुष के प्रकट नहीं होता अर्थात् अवश्य प्रगट होता ही है। वह अपने निज रस के वेग द्वारा खेंचा हुआ एक स्वरूप होकर प्रगट होता है।

भावार्थ—निश्चय व्यवहारनय के विभाग से आत्मा का और पर का अत्यन्त भेद दिखलाया है, इसको जानकर ऐसा कौन पुरुष है कि जिसके भेदज्ञान नहीं हो? होता ही है। क्योंकि ज्ञान अपने स्वरस से आप अपना स्वरूप जानता है तब अवश्य आप पृथक् ही अपने आत्मा को जानता है। यहां कोई दीर्घ संसारी ही होवे तो उसकी कुछ बात नहीं। इस प्रकार अप्रतिबुद्ध ने जो 'हमें तो यह निश्चय है कि जो देह है वही आत्मा है' ऐसा कहा था, उसका निराकरण (समाधान) किया ॥ ३३ ॥

आगे कहते हैं कि इस तरह यह अज्ञानी जीव अनादि के मोह की संतान से निरूपण किया जो

एवमयमनादिमोहसंताननिरूपितात्मशरीरैकत्वसंस्कारतयात्यंतमप्रतिबुद्धोपि प्रसभोज्जृम्भित-तत्त्वज्ञानज्योतिर्नेत्रविकारीव प्रकटोद्घाटितपटलष्टसितिप्रतिबुद्धः साक्षात् द्रष्टारं स्वं स्वयमेव हि विज्ञाय श्रद्धाय च तं चैवानुचरितुकामः स्वात्मारामस्यास्यान्यद्रव्याणां प्रत्याख्यानं किं स्यादिति पृच्छन्नित्थं वाच्यः—

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं ।
तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ।। ३४ ।।

सर्वान् भावान् यस्मात्प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा।
तस्मात्प्रत्याख्यानं ज्ञानं नियमात् ज्ञातव्यं ।। ३४ ।।

यतो हि द्रव्यांतरस्वभावभाविनोऽन्यानखिलानपि भावान् भगवज्ज्ञातृद्रव्यं स्वस्वभाव-भावाव्याप्यतया परत्वेन ज्ञात्वा प्रत्याचष्टे ततो य एव पूर्वं जानाति स एव पश्चात्प्रत्याचष्टे न पुनरन्य इत्यात्मनि निश्चित्य प्रत्याख्यानसमये प्रत्याख्येयोपाधिमात्रप्रवर्तितकर्तृत्वव्यपदेशत्वेपि परमार्थेनाव्यपदेश्यज्ञानस्वभावादप्रच्यवनात्प्रत्याख्यानं ज्ञानमेवेत्यनुभवनीयम् ।। ३४ ।।

गाथाचतुष्टयं कथ्यते । तत्र स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानमिति कथनरूपेण प्रथमगाथा प्रत्याख्यानविषये दृष्टांतरूपे द्वितीया चेति गाथाद्वयं । तदनंतरं मोहपरित्यागरूपेण प्रथमगाथा ज्ञेयपदार्थपरित्यागरूपेण द्वितीया चेति गाथाद्वयं । एवं सप्त-मस्थले समुदायपातनिका । तथाहि—तीर्थंकराचार्यस्तुतिर्निरर्थिका भवतीति पूर्वपक्षबलेन जीवदेहयोरेकत्वं कर्तुं नायातीति ज्ञात्वा शिष्य इदानीं प्रतिबुद्धः सन् हे भगवन् रागादीनां किं प्रत्याख्यानमिति पृच्छति । इति पृच्छति कोर्थ इति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति । एवं प्रश्नोत्तररूपपातनिकाप्रस्तावे सर्वत्रेति शब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः । **णाणं सव्वे भावे पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं** जानातीति व्युत्पत्त्या स्वसंवेदनज्ञानमात्मेति भण्यते तं ज्ञानं कर्तृ मिथ्यात्वरागादिविभावं परस्वरूपमिति ज्ञात्वा प्रत्याख्याति—त्यजति—निराकरोति **तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं** तस्मात्कारणात् निर्वि-कल्पस्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं नियमान्निश्चयात् मतव्यं ज्ञातव्यमनुभवनीयमिति । इदमत्र तात्पर्यं—परमसमाधिकाले

आत्मा और शरीर का एकत्व उसके संस्कार से अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था, सो अब तत्त्वज्ञान स्वरूप ज्योति के प्रकट होने से नेत्र के विकारी की तरह (जैसे किसी पुरुष के नेत्र में विकार था, तब वर्णादिक अन्यथा दीखते थे, जब विकार मिट गया तब जैसे का तैसा दीखने लगा) अच्छी तरह उघड़ गया है पटलरूप आवरण कर्म जिसका ऐसा प्रतिबुद्ध हुआ, तब साक्षात् देखने वाला अपने को अपने से ही जान श्रद्धान कर उसके आचरण करने का इच्छुक हुआ पूछता है कि इस आत्माराम के अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान (त्यागना) क्या है, उसका समाधान आचार्य करते हैं,—[**यस्मात्**] जिस कारण [**सर्वान् भावान्**] अपने सिवाय सभी पदार्थ [**परान्**] पर है [**इति ज्ञात्वा**] ऐसा जानकर [**प्रत्याख्याति**] त्यागता है [**तस्मात्**] इस कारण [**ज्ञानं**] पर है यह जानना ही [**प्रत्याख्यानं**] प्रत्याख्यान है [**नियमात्**] यह नियम से जानना । अपने ज्ञान मे त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है दूसरा कुछ नही है ।

अथ ज्ञातुः प्रत्याख्याने को दृष्टांत इत्यत आह;—

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी ॥३५॥

यथा नाम कोपि पुरुषः परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति।
तथा सर्वान् परभावान् ज्ञात्वा विमुञ्चति ज्ञानी ॥ ३५ ॥

यथा हि कश्चित्पुरुषः संभ्रांत्या रजकात्परकीयं चीवरमादायात्मीयप्रतिपत्त्या परिधाय शयानः स्वयमज्ञानी सन्नन्येन तदंचलमालंब्य बलान्नग्नीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्वार्पय

स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुद्धमात्मात्मानमनुभवति तदेवानुभवनं निश्चय प्रत्याख्यानमिति ॥ ३४ ॥ अथप्रत्याख्यानविषये दृष्टांत-माहः— **जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि** यथा नाम अहो स्फुटं वा कश्चित्पुरुषो वस्त्रा-भरणादिकं परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति **तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी** तथा तेन प्रकारेण सर्वान्

टीका—जिस कारण यह ज्ञाता द्रव्य आत्मा भगवान् है, वह अन्यद्रव्य के स्वभाव से हुए अन्य समस्त परभावों को अपने स्वभावभाव से व्याप्त न होने से पररूप जानकर त्यागता है, इस कारण जिसने पहले जाना है, वही पीछे त्याग करता है, दूसरा तो कोई त्यागने वाला नहीं है। ऐसे त्यागभाव आत्मा में ही निश्चयकर, त्याग के समय प्रत्याख्यान करने योग्य जो परभाव की उपाधिमात्र से प्रवृत्त त्याग के कर्तृत्व का नाम उसके होने पर भी परमार्थ से देखा जाय तब परभाव के त्याग के कर्तृत्व का नाम अपने को नहीं है। आप तो इस नाम से रहित है, ज्ञानस्वभाव से नहीं छूटा है, इसलिये प्रत्याख्यान ज्ञान ही है, ऐसा अनुभव करना चाहिये।

भावार्थ—आत्मा को परभाव के त्याग का कर्तृत्व है, वह नाम मात्र है। आप तो ज्ञान-स्वभाव है। परद्रव्य को पर जाना, फिर परभाव का ग्रहण नहीं किया। यही त्याग है। ऐसा जानना ही प्रत्याख्यान है। ज्ञान के सिवाय कुछ भी दूसरा भाव नहीं है ॥ ३४ ॥

आगे पूछते हैं कि ज्ञाता के प्रत्याख्यान ज्ञान ही कहा गया है इसका दृष्टांत क्या है? उसके उत्तर रूप दृष्टांत दार्ष्टान्त को गाथा द्वारा व्यक्त कर कहते हैं;—**[यथा नाम]** जैसे लोक में **[कोपि पुरुषः]** कोई पुरुष **[परद्रव्यं इति ज्ञात्वा]** पर वस्तु को ऐसा जानता है कि यह परवस्तु है तब ऐसा जान **[त्यजति]** परवस्तु को त्यागता है **[तथा]** उसी तरह **[ज्ञानी]** ज्ञानी **[सर्वान्]** सब **[परभावान्]** पर द्रव्यों के भावों को **[ज्ञात्वा]** ये परभाव हैं ऐसा जानकर **[विमुञ्चति]** उनको छोड़ता है।

टीका—जैसे कोई पुरुष धोबी के घर दूसरे का वस्त्र लाकर उसे भ्रम से अपना समझ ओढ़-कर सो गया उसने ऐसा नहीं जाना कि यह दूसरे का है। उसके पश्चात् दूसरे ने उस वस्त्र का पल्ला

परिवर्तितमेतद्वस्त्रं मामकमित्यसकृद्वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिन्हैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेतत्परकीयमिति ज्ञात्वा ज्ञानी सन्मुंचति तच्चीवरमचिरात् तथा ज्ञातापि संभ्रांत्या परकीयान्भावानादायात्मीयप्रतिपत्त्यात्मन्यध्यास्य शयानः स्वयमज्ञानी सन् गुरुणा परभावविवेकं कृत्वैकीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्वैकः खल्वयमात्मेत्यसकृच्छ्रौतं वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिन्हैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेते परभावा इति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुंचति सर्वान्परभावानचिरात् ॥ ३५ ॥

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यंतवेगादनवमपरभावत्यागदृष्टांतदृष्टिः।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥ २९ ॥

मिथ्यात्वरागादिपरभावान् पर्यायान् स्वसंवेदनज्ञानबलेन ज्ञात्वा विशेषेण त्रिशुद्धया विमुंचति त्यजति स्वसंवेदनज्ञानीति। अथ-नव भावार्थ.—यथा कश्चिद्देवदत्तः परकीयचीवरं भ्रांत्या मदीयमिति मत्वा रजकगृहादानीय परिधाय च शयान. सन् पश्चाद-

---

पकड़ खेंच कर उघाड़ के नंगा किया और कहा कि "तू शीघ्र जाग सावधान हो, मेरा वस्त्र बदले मे आ गया है, सो मेरा मुझे दे' ऐसा वारंवार बचन कहा। सो सुनता हुआ उस वस्त्र के चिह्न सब देख परीक्षा कर ऐसा जाना कि 'यह वस्त्र तो दूसरे का ही है' ऐसा जानकर ज्ञानी हुआ उस दूसरे के कपड़े को शीघ्र ही त्यागता है। उसी तरह ज्ञानी भी भ्रम से परद्रव्य के भावों को ग्रहण कर अपने जान आत्मा में एक रूप मान कर सोता है, बेखबर हुआ आप ही से अज्ञानी हो रहा है। जब श्रीगुरु इसको सावधान करें, परभाव का भेदज्ञान कराके एक आत्मभाव रूप करें और कहें कि तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह तेरा आत्मा है, वह एक ज्ञानमात्र है, अन्य सब परद्रव्य के भाव हैं' तब वारम्वार यह आगम के वाक्य सुनता हुआ समस्त अपने परके चिह्नों से अच्छी तरह परीक्षा करके ऐसा निश्चय करता है कि मैं एक ज्ञान मात्र हूँ, अन्य सब परभाव हैं। ऐसे ज्ञानी होकर सब परभावों को तत्काल छोड़ देता है।

भावार्थ—जब तक परवस्तु को भूलकर अपनी जानता है, तब तक ही ममत्व रहता है और जब यथार्थज्ञान हो जाने से पर को पराई जाने, तब दूसरे की वस्तु से ममत्व नहीं रहता यह बात प्रसिद्ध है।

अब इसी अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं। **अवतरति** इति। **अर्थ**—यह परभाव के त्याग के दृष्टांत की दृष्टि जिस तरह पुरानी न पड़े, उस तरह अत्यंतवेग से जब तक प्रवृत्ति को नही प्राप्त हो; उसके पहले ही तत्काल सकल अन्य भावों से रहित आप ही यह अनुभूति तो प्रकट हो जाती है।

भावार्थ—यह परभाव के त्याग का दृष्टांत कहा, उस पर दृष्टि पड़े, उससे पहले सब अन्य भावों से रहित अपने स्वरूप का अनुभव तो तत्काल हो ही जाता है, क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जब वस्तु को पर की जान ली, तब उसके पश्चात् ममत्व नहीं रहता ॥ ३५ ॥

आगे इस अनुभूति से परभाव का भेदज्ञान किस तरह हुआ, ऐसी आशंका कर प्रथम भावक

अथ कथमनुभूतेः परभावविवेको भूत इत्याशंक्य भावकभावविवेकप्रकारमाहः—

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥ ३६ ॥

नास्ति मम कोपि मोहो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः ॥
तं मोहनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायकाः विंदंति ॥ ३६ ॥

इह खलु फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकेन सता पुद्गलद्रव्येणाभिनिर्वर्त्यमानष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावस्य परमार्थतः परभावेन भावयितुमशक्यत्वात्कतमोपि न नाम मम मोहोस्ति किंचैतत्स्वयमेव च विश्वप्रकाशचंचुरविकस्वरानवरतप्रतापसंपदा चिच्छक्तिमात्रेण स्वभावभावेन भगवानात्मैवावबुध्यते। यत्किलाहं खल्वेकः ततः समस्तद्रव्याणां परस्परसाधारणावगाहस्य निवारयितुमशक्यत्वान्मज्जितावस्थायामपि दधिखंडावस्थायामिव परिस्फुटस्वदमानस्वादभेद[1]तया मोहं प्रति निर्ममत्वोस्मि। सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन [2]समयस्यैवमेव स्थितत्वात्। इतीत्थं भावकभावविवेको भूतः।

न्येन वस्त्रस्वामिना वस्त्रांचलमादायाच्छोद्य नग्नीक्रियमाणः सन् वस्त्रलांछनं निरीक्ष्य परकीयमिति मत्वा तद्वस्त्रं मुंचति

जो मोहकर्म के उदयरूप भाव, उनके भेदज्ञान का प्रकार कहते हैंः—[**बुध्यते**] जो ऐसा जाने कि [**मोहः मम कोपि नास्ति**] मोह मेरा कोई भी सम्बन्धी नहीं [**एकः उपयोग एव अहं**] एक उपयोग ही है वही मैं हूँ [**तं**] ऐसे जानने को [**समयस्य**] सिद्धांत के अथवा आपपर स्वरूप के [**विज्ञायकाः**] जानने वाले [**मोहनिर्ममत्वं**] मोह से निर्ममत्व [**विंदंति**] समझते हैं—कहते हैं।

टीका—मै सत्यार्थ रूप से ऐसा जानता हूँ कि यह मोह है, वह मेरा कुछ भी नहीं लगता है। यह मोह इस मेरे अनुभव में फल देने की सामर्थ्य द्वारा प्रकट होकर भावकरूप हुआ जो पुद्गलद्रव्य उसके द्वारा रचा हुआ है। सो यह मेरा नहीं है, क्योंकि मैं तो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव हूँ, यह जड़ है। सो परमार्थ से पर के भाव को दूसरे के भाव से चिंतवन नहीं कर सकते। यहाँ यह समझना कि स्वयमेव सब वस्तुओं के प्रकाश करने में चतुर विकाश रूप हुई और जिसमें निरन्तर हमेशा प्रताप सम्पदा पायी जाती है ऐसी चैतन्यशक्ति, उस मात्र स्वभावभाव द्वारा भगवान् आत्मा को ही समझना जानना कि मैं परमार्थ से एक चित्शक्तिमात्र हूँ। सब द्रव्यों के परस्पर साधारण एक क्षेत्रावगाह होने से मेरा आत्मा जड़ के साथ श्रीखण्ड की तरह एकमेक हो रहा है अर्थात् जैसे दही और शक्कर मिलाने से श्रीखण्ड बनता है, उसमें दही खांड एक से मालूम पड़ते हैं तो भी प्रगटरूप खट्टे मीठे स्वाद के भेद से पृथक पृथक जाने जाते हैं। उसी प्रकार द्रव्यों के लक्षणभेद से जड़ चेतन का स्वरूप अनुभव

---

१. स्वदमान स्वभावभेदतया इति पाठान्तरेण भाव्यं। २. समयस्यैवमेवस्थितत्वात् इति टीकमगढ प्रति पाठः।

सर्वतः[१] स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकं ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि[२] ॥ ३० ॥

एवमेव च मोहपदपरिवर्त्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुघ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्याप्यूह्यानि ॥ ३६ ॥

तथायं ज्ञानीजीवोऽप्यतिविज्ञेन निर्विण्णेन गुरुणा मिथ्यात्वरागादिविभावा एते भवदीयस्वरूपं न भवंति, एक एव त्वमिति प्रतिबोध्यमानः सन् परकीयानिति ज्ञात्वा मुंचति शुद्धात्मानुभूतिमनुभवतीति । एवं गाथाद्वयं गतं ॥ ३५ ॥ अथ कथं शुद्धात्मानुभूतिमनुभवतीति पृष्टे सति मोहादिपरित्यागप्रकारमाहः—**णत्थि मम कोवि मोहो** नास्ति न विद्यते मम शुद्धनिश्चयेन टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावस्य सतो रागादिपरभावेन कर्तृभूतेन भावयितुं रंजयितुमशक्यत्वात्कश्चिद्द्रव्यभावरूपो मोहः । **बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को** बुध्यते जानाति । स कः कर्त्ता । ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मैव । किं बुध्यते ? यतः कारणादहमेकः ततो मोहं प्रति निर्ममत्वोस्मि निर्मोहो भवामि । अथवा बुध्यते जानाति । किं जानाति । विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोग एवाहमेकः । **तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति** तं निर्मोहशुद्धात्मभावनास्वरूपं निर्ममत्वं ब्रुवंति वदंति जानंति वा । के ते । समयस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य विज्ञायकाः पुरुषा इति । किंच विशेष.

करने में पृथक पृथक प्रकट मालूम हो जाता है कि मोहकर्म के उदय का स्वाद रागादिक हैं, वे चैतन्य के निजस्वभाव के स्वाद से भिन्न ही हैं । इसलिये मोह के प्रति मैं निर्मम ही हूं, क्योंकि यह आत्मा सदा काल ही अपने एकरूपताको प्राप्त हुआ अपने स्वभावरूप समय महल में विराज रहा है । इसतरह भावकभावरूप मोह के उदय से भेदज्ञान हुआ जानना ।

भावार्थ—यह मोहकर्म जड़ पुद्गल द्रव्य है, इसका उदय कलुष (मलिन) भावरूप है सो इसका भाव भी पुद्गल का विकार है, यही भावक का भाव है । जब यह चैतन्य के उपयोग के अनुभव में आता है, तब उपयोग भी विकारी हुआ रागादिरूप मलिन दीखता है । और जब इसका भेदज्ञान होवे कि चैतन्य की शक्तिकी व्यक्ति तो ज्ञानदर्शनोपयोग मात्र है तथा यह कलुषता राग द्वेष मोहरूप है, वह कलुषता द्रव्य कर्मरूप जड़ पुद्गलद्रव्य की है । ऐसा भेदज्ञान हो जाय, तब भावकभाव जो द्रव्यकर्मरूप मोह के भाव उनसे भेदभाव अवश्य हो सकता है और आत्मा भी अपने चैतन्य के अनुभवरूप ठहरे ही, ऐसा जानना ।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**सर्वतः** इत्यादि । **अर्थ**—मैं इस लोक में अपने आपही से एक आत्मस्वरूप को अनुभव करता हूँ । जो मेरा स्वरूप सर्वांग अपने निजरसरूप चैतन्य के परिणमन से पूर्ण (भराहुआ) भाववाला है इसीकारण यह मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता अर्थात् इसका और मेरा कुछ भी नाता नहीं है । मैं तो शुद्ध चैतन्य का समूहरूप तेज पुजका निधि हूँ । इस तरह भावकभाव का अनुभव करे । इसी प्रकार गाथा में जो मोहपद है, उसे पलटकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ये सोलह पृथक पृथक सोलह गाथा सूत्रों द्वारा व्याख्यान करने और इसी उपदेश से अन्य भी विचार लेना ॥ ३६ ॥

१. असंख्येयेष्वपि प्रदेशेषु स्वरसेन ज्ञानेन निर्भरः सम्पूर्णो भावः स्वरूपं यस्य । २. महोदधि इति पाठान्तरम् ।

अथ ज्ञेयभावविवेकप्रकारमाह :—

णत्थि मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ।। ३७ ।।

न सन्ति मम धर्मादियोर्बुध्यते उपयोग एवाहमेकः ।
तं धर्मनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका विंदंति ।। ३७ ।।

अमूनि हि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतराणि स्वरसविजृम्भितानिवारितप्रसरविश्वघस्मरप्रचंडचिन्मात्रशक्तिकवलिततयात्यंतमंतर्मग्नानीवात्मनि प्रकाशमानानि टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावत्वेन तत्त्वतोंतस्तत्त्वस्य तदतिरिक्तस्वभावतया तत्त्वतो बहिस्तत्त्वरूपतां परित्यक्तुमशक्यत्वान्न नाम मम संति । किंचैतत्स्वयमेव च नित्यमेवोपयुक्तस्तत्त्वत एवैकमनाकुलमात्मानं कलयन् भगवानात्मैवावबुध्यते । यत्किलाहं खल्वेकः ततः संवेद्यसंवेदकभावमात्रोपजातेतरेतरसंवलनेपि परिस्फुटस्वदमानस्वभावभेदतया धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतराणि प्रति निर्ममत्वोस्मि । सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन समयस्यैवमेव स्थितत्वात् इतीत्थं ज्ञेयभावविवेको भूतः ।। ३७ ।।

यत्पूर्वं स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं व्याख्यात तस्यैवेदं निर्मोहत्वं विशेषव्याख्यानमिति । **एवमेव** च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनेन प्रकारेणान्यान्यप्यसंख्येयलोकमात्रप्रमितानि विभावपरिणामरूपाणि ज्ञातव्यानि ।। ३६ ।। अथ धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्था अपि

आगे ज्ञेयभाव से भेदज्ञान करने की रीति बतलाते हैं;—[**बुद्ध्यते**] ऐसा जाने कि [**धर्मादयः**] ये धर्म आदि द्रव्य [**मम न सन्ति**] मेरे कुछ भी नहीं लगते मैं ऐसा जानता हूँ कि [**एक उपयोग एव**] एक उपयोग ही है वही [**अहं**] मैं हूँ [**तं**] ऐसा जानने को [**समयस्य विज्ञायकाः**] सिद्धांत वा स्व-पर-समयरूप समय के जानने वाले [**धर्मनिर्ममत्वं**] धर्मद्रव्यसे निर्ममता [**विंदंति**] कहते हैं ।

टीका—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, अन्य जीव ये सब ही परद्रव्य हैं, वे आत्मा में प्रकाशमान हैं । वे अपने निजरस से प्रकट और निवारण नहीं किया जाय ऐसा जिसका फैलाव है तथा समस्त पदार्थों के ग्रसने का जिस का स्वभाव है ऐसी जो प्रचंड चिन्मात्रशक्ति, उससे ग्रासीभूत होने से मानों अत्यंत निमग्न हो रहे हैं, तो भी टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव रूप से परमार्थ से अंतरंग तत्त्व तो मैं हूँ और (अपने स्वरूप के अभाव द्वारा ज्ञान में आप नहीं बैठे इस कारण) वे परद्रव्य उस मेरे स्वभाव से भिन्न होने के कारण परमार्थ से बाह्य तत्त्व रूप छोड़ने को असमर्थ हैं, वे धर्म आदि मेरे संबंधी नहीं हैं । यहां ऐसा समझना कि यह आत्मा चैतन्य से आप ही उपयुक्त हुआ परमार्थ से निराकुल

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकं ।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥ ३१ ॥

मम स्वरूपं न भवंतीति प्रतिपादयति :—**णत्थि मम धम्म आदी** न संति न विद्यंते धर्मास्तिकायाविशेयपदार्था ममेति **बुज्झदि** बुध्यते ज्ञानी । तर्हि किमहं । **उवओग एव अहमिक्को** विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोग एवाहं अथवा ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादिन्यभेदेनोपयोग एवात्मा स जानाति । केन रूपेण, यतोहं टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभाव एकः ततो दधिखण्डशिखिरिणीवत् व्यवहारेणैकत्वेपि शुद्धनिश्चयनयेन मम स्वरूपं न भवतीति परद्रव्यं प्रति निर्ममत्वोस्मि **तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति** तं शुद्धात्मभावनास्वरूपं परद्रव्यनिर्ममत्वं समयस्य शुद्धात्मनो विज्ञायकाः पुरुषा ब्रुवंति कथयन्तीति । किंच इदमपि परद्रव्यनिर्ममत्वं यत्पूर्वं भणितं स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं तस्यैव विशेषव्याख्यानं ज्ञातव्यं ॥ ३७ ॥ इति गाथाद्वयं गतं । एवं गाथाचतुष्टयसमुदायेन सप्तमस्थलं समाप्तं । अथ शुद्धात्मैवोपादेय इति श्रद्धानं सम्यक्त्वं तस्मिन्नेव शुद्धात्मनि स्वसंवेदनं सम्यग्ज्ञानं तत्रैव निजात्मनि वीतरागस्वसंवेदननिश्चलरूप चारित्रमिति निश्चयरत्नत्रयपरिणतजीवस्य कीदृशं स्वरूपं भवतीत्यावेदयन्सन् जीवाधिकारमुपसंहरति:—**अहं** अनादिदेहात्मैक्यभ्रांत्याऽज्ञानेन पूर्वमप्रतिबुद्धोपि करतलविन्यस्तसुप्तविस्मृतपश्चान्निद्राविनाशस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमगुरुप्रसादेन प्रतिबुद्धो भूत्वा शुद्धात्मनि रतो यः सोहं वीतरागश्चिन्मात्रं ज्योतिः । पुनरपि कथंभूतः । **इक्को** यद्यपि व्यवहारेण नरनारकादिरूपेणानेकस्तथापि शुद्धनिश्चयेन टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वादेकः । **खलु** स्फुटं । पुनरपि किंरूपः । **सुद्धो** व्यावहारिकनवपदार्थेभ्यः शुद्धनिश्चयनयेन भिन्नः, अथवा रागादिभावेभ्यो भिन्नोहमिति शुद्धः । पुनरपि किंविशिष्टः ।

एक आत्मा का ही अभ्यास करता है सो आत्मा द्वारा भगवान आत्मा ही जाना जाता है कि मैं प्रकट निश्चय से एक ही हूँ । इसलिए ज्ञेय ज्ञायक भावमात्र से उत्पन्न जो परद्रव्यों से परस्पर मिलना उसके होने पर भी प्रकट स्वाद में आता हुआ जो स्वभाव का भेद उसपनेकर धर्म अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल अन्यजीव—उनके प्रति मैं निर्मम हूं । क्योंकि सदा काल ही अपने में एकत्व होने से पदार्थों की ऐसी ही व्यवस्था है कि अपने स्वभाव को कोई नहीं छोड़ता । ऐसे अनुभव करने से ज्ञेयभावों से भेदज्ञान हुआ कहा जाता है ।

यहां पर इसी अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं—**इति सति** इत्यादि । **अर्थ**—इस तरह पूर्वकथितरीति से भावक-भाव और ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होने से सभी अन्य भावों से जब भिन्नता हुई, तब यह उपयोग आपही अपने एक आत्मा को ही धारता हुआ, और जिनका परमार्थ प्रकट हुआ है ऐसे जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र उन रूप जिसने परिणमन किया है ऐसा होता हुआ अपने आत्मा रूपी बाग (क्रीड़ावन) में प्रवृत्ति करता है, अन्य जगह नहीं जाता ।

भावार्थ—सब परद्रव्यों से तथा उनसे उत्पन्न हुए भावों से जब भेद जाना, तब उपयोग को रमने के लिए अपना आत्मा ही रहा, दूसरा स्थान नहीं रहा । इस तरह दर्शन, ज्ञान और चारित्र से एक रूप हुआ आत्मा में ही रमण करता है । ऐसा जानना ॥ ३७ ॥

अथैवं दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतस्यास्यात्मनः कीदृक् स्वरूपसंचेतनं भवतीत्यावेदयन्नुपसंहरति;—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि ॥ ३८ ॥

अहमेकः खलु शुद्धो दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी ।
नाप्यस्ति मम किंचिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि ॥ ३८ ॥

यो हि नामानादिमोहोन्मत्ततयात्यंतमप्रतिबुद्धः सन् निर्विण्णेन[1] गुरुणानवरतं प्रतिबोध्यमानः कथंचनापि प्रतिबुध्य निजकरतलविन्यस्तविस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमेश्वरमात्मानं ज्ञात्वा श्रद्धायानुचर्य च सम्यगेकात्मारामो भूतः स खल्वहमात्मात्मप्रत्यक्षं चिन्मात्रं ज्योतिः । समस्तक्रमाक्रमप्रवर्त्तमानव्यावहारिकभावैश्चिन्मात्राकारेणाभिद्यमानत्वादेको नारकादिजीवविशेषाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणव्यावहारिकनवतत्त्वेभ्यष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभाव-

---

दंसणणाणमइओ केवलदर्शनज्ञानमयः । पुनरपि किंरूपः । सदारूवी निश्चयनयेन रूपरसगंधस्पर्शाभावात्सदाप्यमूर्तः । णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि । इत्थंभूतस्य सतः नैवास्ति ममान्यत्परमाणु-

---

आगे इस तरह दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप परिणत हुए आत्मा के स्वरूप का अनुभव कैसा होता है ? ऐसा कहते हुए आचार्य इस कथन का उपसंहार करते हैं;—जो दर्शन ज्ञान चारित्र रूप परिणत हुआ आत्मा वह ऐसा जानता है कि [अहं] मैं [एकः] एक हूं [शुद्धः] शुद्ध हूं [सदा अरूपी खलु] निश्चय कर सदा काल अरूपी हूँ [अन्यत्] अन्य परद्रव्य [परमाणुमात्रमपि] परमाणु मात्र भी [मम किंचित्] मेरा कुछ [नापि अस्ति] भी नहीं लगता है, यह निश्चय है।

टीका—सत्यार्थ रूप से ऐसा है कि यह आत्मा अनादिकाल से लेकर मोहरूपी अज्ञान से उन्मत्त होकर अत्यन्त अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) था, सो इसे अनुरागी गुरु ने अनवरत समझाया, तब किसी प्रकार बड़े भाग्य से समझा, सावधान हुआ। उस समय 'जैसे किसी के हाथ की मुट्ठी में पहले सुवर्ण रक्खा हो उसे भूलकर फिर याद कर देखे' इस न्याय से अपने परमेश्वर (सर्व सामर्थ्य के धारण करने वाले) आत्मा को भूल रहा था, सो उसे जान, श्रद्धान कर और उसी का आचरण रूप उससे तन्मय होकर अच्छी तरह आत्माराम हुआ। तब ऐसा जाना कि मैं चैतन्यमात्र ज्योति रूप आत्मा हूँ सो मैं अपने ही अनुभव से प्रत्यक्ष जानता हूँ—समस्त क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवृत्त व्यावहारिक भावों से चिन्मात्र आकार द्वारा तो भेद रूप नहीं हुआ इसलिए मैं एक हूं। तथा नर नारक आदि जीव के विशेष, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष स्वरूप जो व्यावहारिक नव तत्त्व हैं, उनसे टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव रूप भाव से अत्यन्त पृथक् होने से मैं शुद्ध हूं। चिन्मात्रता से सामान्य विशेष उपयोग को उल्लंघन करने से मैं दर्शन, ज्ञानमय हूं। जिसमें स्पर्श, रस, गंध और वर्ण निमित्त हैं, संवेदन रूप भी स्पर्श आदि रूप सदा

---

१. अनिर्विण्णेन इति पाठान्तरम्।

भावेनात्यंतविविक्तत्वाच्छुद्धः। चिन्मात्रतया[1] सामान्यविशेषोपयोगात्मकतानतिक्रमणाद्दर्शन-ज्ञानमयः स्पर्शरसगंधवर्णनिमित्तसंवेदनपरिणतत्वेपि स्पर्शादिरूपेण स्वयमपरिणमनात्परमार्थतः सदैवारूपीति प्रत्यगहं[2] स्वरूपं संचेतयमानः प्रतपामि। एवं प्रतपतश्च मम बहिर्विचित्रस्वरूपसंपदा विश्वे[3] परिस्फुरत्यपि न किंचनाप्यन्यत्परमाणुमात्रमप्यात्मीयत्वेन प्रतिभाति। यद्भावकत्वेन ज्ञेयत्वेन चैकीभूय भूयो मोहमुद्भावयति स्वरसत एवापुनःप्रादुर्भावाय समूलं मोहमुन्मूल्य महतो ज्ञानोद्योतस्य प्रस्फुरितत्वात्॥ ३८॥

मात्रमपि परद्रव्यं किमपि। यदेकत्वेन रजकत्वेन ज्ञेयत्वेन वा पुनरपि मम मोहमुत्पादयति[4]। कस्मात्? परमविशुद्धज्ञान-परिणतत्वात्॥ ३८॥

आप नहीं परिणमने से वास्तव में सदा ही अरूपी हूँ। ऐसे सबसे पृथक् स्वरूप का अनुभव करता हुआ मै प्रताप सहित हूँ। ऐसे प्रताप रूप हुए मुझ में बाह्य अनेक प्रकार स्वरूप की सम्पदा से समस्त परद्रव्य स्फुरायमान है तो भी परमाणु-मात्र द्रव्य भी मुझे आत्मीय रूप नहीं प्रतिभासित होता जिससे कि मेरे भावकरूप से तथा ज्ञेयरूप से मुझ से एक होकर फिर मोह उत्पन्न करे। क्योंकि मेरे निज रस से ही ऐसा महान् ज्ञान प्रकट हुआ है, जिसने मोह को मूल से उखाड़ कर दूर किया है, जो फिर उसका अंकुर न उपजे ऐसा नाश किया है।

भावार्थ—आत्मा अनादिकाल से लेकर मोह के उदय से अज्ञानी था, सो श्रीगुरुओं के उपदेश से और अपनी काललब्धि से (अच्छी होनहार से) ज्ञानी हुआ, अपने स्वरूप को परमार्थ से जाना कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, अरूपी हूँ, दर्शन ज्ञानमय हूँ। ऐसा जानने से मोह का समूल नाश हुआ, भावकभाव और ज्ञेयभाव उनसे भेद ज्ञान हुआ, और स्वरूपसंपदा अनुभव में आई, तब फिर मोह क्यों उत्पन्न होगा।

अब ऐसा आत्मा का अनुभव हुआ, उसकी महिमा आचार्य कह कर प्रेरणारूप श्लोक कहते हैं कि ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा मे समस्त लोक मग्न होवे :—**मज्जंतु** इत्यादि। **अर्थ**—यह ज्ञान समुद्र भगवान् आत्मा विभ्रमरूप चादर को शक्ति से डुबोकर (दूर कर) आप सर्वांग प्रकट हुआ है सो अब समस्त लोक इसके शांतरस में एक ही समय अतिशय से मग्न होवे। जो शांतरस समस्त लोक पर्यंत उछल रहा है।

भावार्थ—जैसे समुद्र की आड़ में कुछ आ जाय, तब जल नही दीखता और जब आड़ दूर हो जाय तब प्रकट दीखता हुआ लोक को प्रेरणा योग्य हो जाता है कि इस जल में सब लोक स्नान करो। उसी तरह यह आत्मा विभ्रम द्वारा आच्छादित था, तब इसका रूप नही दीखता था, जब विभ्रम दूर हुआ, तब यथार्थ स्वरूप प्रकट हुआ। अब इसके वीतरागविज्ञानरूप शान्तरस में एक काल में सब लोक मग्न हो जाओ, ऐसी आचार्य ने प्रेरणा की है। अथवा ऐसा भी अर्थ है कि जब आत्मा का अज्ञान दूर हो जाता है, तब केवल ज्ञान प्रकट होता है, और तब समस्त लोक में ठहरे हुए पदार्थ एक ही समय ज्ञान में आ कर झलकते है, उसको सब लोक देखो। इस तरह इस समय प्राभृत ग्रन्थ में पहले जीवाजीवाधिकार में टीकाकार ने **पूर्वरंगस्थल** कहा।

१. 'चिन्मात्रतायाः' इत्यपि पाठः। २. 'प्रत्यगयं' इत्यपि पाठः। ३. 'विश्वोपरि' इत्यपि पाठः। ४. 'तन्नपुनर्बन्धाय भवति' इत्यधिकः पाठः।

मज्जंतु निर्भरममी सममेव लोका आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ताः ।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिंधुः ॥ ३२ ॥

इति श्रीसमयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ पूर्वरंगः समाप्तः ।

इति समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ स्थलसप्तकेन **जो पस्सदि अप्पाण-**मित्यादि सप्तविंशतिगाथाः । तदनन्तरमुपसंहारसूत्रमेकमिति समुदायेनाष्टाविंशतिगाथाभिर्जीवाधिकारः समाप्तः । इति प्रथमरंगः ।

यहां टीकाकार का ऐसा आशय है कि इस ग्रंथ को अलंकार द्वारा नाटक रूप में वर्णन किया है सो नाटक में पहले रंगभूमि रची जाती है, वहां देखने वाला नायक तथा सभा होती है और नृत्य करने वाले होते है, वे अनेक स्वांग रचते है तथा शृङ्गारादिक आठ रस का रूप दिखलाते हैं। उस जगह शृंगार, हास्य, रौद्र, करुणा, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत—ये आठ लौकिक रस हैं। नाटक मे इनका ही अधिकार है। नवमां शान्तरस है, वह लोकोत्तर है। सो नृत्य में उसका अधिकार नहीं है। इन रसों के स्थायी भाव, सात्त्विकभाव, अनुभावविभाव, व्यभिचारीभाव और इनकी दृष्टि आदि का वर्णन रस ग्रंथो में है वहां से जान लेना। तथा सामान्यपने से रस का यह स्वरूप है कि ज्ञान में जो ज्ञेय आया उससे ज्ञान तदाकार हो जाय, उससे पुरुष का भाव लीन हो जाय अन्य ज्ञेय की इच्छा न रहे वह रस है। सो नृत्य करने वाले नृत्य में आठ रस का रूप दिखलाते हैं और इनका वर्णन जब कवीश्वर करते हैं, तब अन्य रस को अन्य रस के समान रूप भी वर्णन करते हैं तब अन्य रस का अन्य रस अंगभूत होने से तथा रसों के अन्य भाव अंग होने से रसवत् आदि अलंकारों द्वारा नृत्य के रूप से वर्णन किया जाता है। इस जगह पहले रंगभूमि स्थल कहा, वहां देखने वाला तो सम्यग्दृष्टि पुरुष है और अन्य मिथ्यादृष्टि पुरुषों की सभा है उनको दिखलाते हैं। नृत्य करने वाले जीव अजीव पदार्थ हैं और दोनों की एक रूपता कर्तृ-कर्मत्व आदि उनके स्वांग हैं। उनमें परस्पर अनेक रूप होते हैं, वे आठ रस रूप होकर परिणत होते हैं, यही नृत्य है। वहां सम्यग्दृष्टि देखने वाला जीव अजीव के भिन्न स्वरूप को जानता है, वह तो इन सब स्वांगों को कर्मकृत जानकर शान्त रस में ही मग्न है और मिथ्यादृष्टि जीव अजीव का भेद नहीं जानते, इसलिए इन स्वांगों को सच्चा जानकर इनमें लीन हो जाते हैं। उनको सम्यग्दृष्टि यथार्थ दिखलाकर, उनका भ्रम मेट कर और शान्तरस में उन्हें लीन कर सम्यग्दृष्टि बनाता है। उसकी सूचना रूप रंगभूमि के अन्त में आचार्य ने **"मज्जंतु"** इत्यादि श्लोक लिखा है। अब आगे जीव अजीव के एकत्व का स्वांग वर्णन करेंगे उसकी सूचना रूप है ऐसा आशय मालूम होता है। सो यहां तक तो रंगभूमि का वर्णन किया ॥ ३८ ॥

दोहा—नृत्यकुतूहल तत्त्व का, मरिपचि देखो धाय।
निजानंद रस कों छको, आन सबै छिटकाय।

इस प्रकार जीवाजीवाधिकार में **पूर्वरंग** समाप्त हुआ।

अथजीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः ।

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदानासंसारनिबद्धबंधनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत् ।
आत्मारामममनंतधाममहसाध्यक्षेण नित्योदितं धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत् ॥३३॥

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई ।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ॥ ३९ ॥
अवरे अज्झवसाणे-सु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं ।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति ॥ ४० ॥
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति ।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥ ४१ ॥
जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति ।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥ ४२ ॥
एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा ।
ते ण परमट्ठवाई णिच्छयवाईहिं णिद्दिट्ठा ॥ ४३ ॥ (पंचकम्)

आत्मानमजानंतो मूढास्तु परात्मवादिनः केचित् ।
जीवमध्यवसानं कर्म च तथा प्ररूपयंति ॥ ३९ ॥

अथानंतरं शृङ्गारसहितपात्रवज्जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः । तत्र स्थलत्रयेण त्रिंशद्गाथापर्यंतमजीवाधिकारः कथ्यते । तेषु प्रथमस्थले शुद्धनयेन देहरागादिपरद्रव्यं जीवस्वरूपं न भवतीति निषेधमुख्यत्वेन **अप्पाणमयाणंता** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथादशकपर्यंतं व्याख्यानं करोति । तत्र गाथादशकमध्ये परद्रव्यात्मवादे पूर्वपक्षमुख्यत्वेन

आगे जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य ये दोनों एक होकर रंगभूमि में प्रवेश करते हैं, वहां आदि में मंगल का अभिप्राय लेकर आचार्य ज्ञान की प्रशंसा करते हैं, कि जो सब वस्तुओं का जानने वाला यह ज्ञान है, वह जीव अजीव के सब स्वांगों को अच्छी प्रकार पहचानता है, ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है। इसी के अर्थरूप श्लोक कहते हैं—**जीवाजीव** इत्यादि ।

अर्थ—ज्ञान है वह मन को आनंद रूप करता हुआ प्रगट होता है। वह जीव अजीव के स्वांग को देखने वाले महान् पुरुषों को जीव अजीव का भेद देखने वाली बड़ी उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि से भिन्न द्रव्य की प्रतीति कराता है; अनादि संसार से जिसका बंधन दृढ़ बंध रहा है, ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मों के नाश से विशुद्ध हुआ है, स्फुट हुआ है, जैसे फूल की कली फूलती है, उस तरह विकाश रूप है। जिस

अपरेऽध्यवसानेषु तीव्रमंदानुभागगंजीवं ।
मन्यंते तथाऽपरे नोकर्म चापि जीव इति ॥ ४० ॥
कर्मण उदयं जीवमपरे कर्मानुभागमिच्छंति ।
तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां यः स भवति जीवः ॥ ४१ ॥
जीवकर्मोभयं द्वे अपि खलु केचिज्जीवमिच्छंति ।
अपरे संयोगेन तु कर्मणां जीवमिच्छंति ॥ ४२ ॥
एवंविधा बहुविधाः परमात्मानं वदंति दुर्मेधसः ।
ते न परमार्थवादिनः निश्चयवादिभिर्निर्दिष्टाः ॥ ४३ ॥

इह खलु तदसाधारणलक्षणाकलनात्क्लीबत्वेनात्यंतविमूढाः संतस्तात्त्विकमात्मानमजानंतो बहवो बहुधा परमप्यात्मानमिति प्रलपंति । नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसानमेव जीवस्तथा-

---

गाथापंचकं तदनंतरं परिहारमुख्यत्वेन सूत्रमेकं । अष्टविधं कर्म पुद्गलद्रव्यं भवतीति कथनमुख्यत्वेन सूत्रमेकं । ततश्च व्यवहारनयसमर्थनद्वारेण गाथात्रयं कथ्यत इति समुदायपातनिका । तद्यथा । अथ देहरागादिपरद्रव्यं निश्चयेन जीवो भवतीति पूर्वपक्षं करोति :—**अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई** आत्मानमजानंतः मूढास्तु परद्रव्यमात्मानं वदंतीत्येवंशीलाः केचन परात्मवादिनः **जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति** यथांगारात् कार्ष्ण्यं भिन्नं नास्ति तथा रागादिभ्यो भिन्नो जीवो नास्तीति रागाद्यध्यवसानं कर्म च जीवं वदंतीति । अथ **अवरे**

के रमने का क्रीड़ावन आत्मा ही है अर्थात् जिसमें अनंत ज्ञेयों (पदार्थों) के आकार आकर झलकते हैं तो भी आप अपने स्वरूप में ही रमता है, जिसका प्रकाश अनंत है, प्रत्यक्ष तेज द्वारा नित्य उदयरूप है धीर है, उदात्त है, इसीसे अनाकुल है सब इच्छाओं से रहित निराकुल है। यहां धीर, उदात्त, अनाकुल ये तीन विशेषण शांतरूप नृत्य के आभूषण जानने चाहिये। ऐसा ज्ञान विलास करता है।

भावार्थ—यह ज्ञान की महिमा कही। सो जीव अजीव एक होकर रंगभूमि में प्रवेश करते हैं, उनको यह ज्ञान ही भिन्न जानता है। जैसे कोई नृत्य में स्वांग आ जाय उसे यथार्थ जो जाने उस को स्वांग करने वाला नमस्कार कर अपना जैसा का तैसा रूप कर लेता है उसी तरह यहां भी जानना ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि पुरुषों के होता है, मिथ्यादृष्टि यह भेद नहीं जानता।

आगे जीव अजीव का एक रूप स्वांग का वर्णन करते हैं :—जो [**आत्मानं अजानंतः**] आत्मा को नहीं जानते [**परात्मवादिनः**] किन्तु परको आत्मा कहने वाले [**केचित् मूढाः तु**] कोई मोही अज्ञानी तो [**अध्यवसानं**] अध्यवसान को [**तथा च**] और कोई [**कर्म**] कर्म को [**जीवं प्ररूपयंति**] जीव कहते हैं। [**अपरे**] अन्य कोई [**अध्यवसानेषु**] अध्यवसानों में [**तीव्रमंदानुभागगं**] तीव्रमंद अनुभागगतको [**जीवं मन्यंते**] जीव मानते हैं। [**तथा**] और [**परे**] अन्य कोई [**नोकर्म अपि**

विधाध्यवसानात् अंगारस्येव कार्ष्ण्यादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । अनाद्यनंतपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतान एव जीवस्ततोरिक्तस्यान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । नवपुराणावस्थादिभावेन प्रवर्त्तमानं नोकर्मैव जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाक एव जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । सातासा-

---

अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभावगं जीवं मरणंति अपरे केचनैकातवादिन· रागाद्यध्यवसानेपु तीव्रमदतारतम्यानुभावस्वरूपं शक्तिमाहात्म्यं गच्छतीति तीव्रमंदानुभावगस्त जीवं मन्यंते । तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति

च] नोकर्मको [जीव इति] जीव मानते है [अपरे] अन्य कोई [कर्मण उदयं] कर्म के उदय को [जीवं] जीव मानते है, कोई [कर्मानुभागं] कर्म के अनुभाग को [यः] जो अनुभाग [तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां] तीव्रमंद रूप गुणों से भेद को प्राप्त होता है [सः] वह [जीवः भवति] जीव है [इच्छंति] ऐसा इष्ट करते है [केचित्] कोई [जीवकर्मोभयं] जीव और कर्म [द्वे अपि] दोनों मिले हुए को [खलु] ही [जीवं इच्छंति] जीव मानते है [तु] और [अपरे] अन्य कोई [कर्मणां संयोगेन] कर्मों के संयोग से ही [जीवं इच्छंति] जीव मानते हैं। [एवंविधाः] इस प्रकार तथा [बहुविधाः] अन्य भी वहुत प्रकार [दुर्मेधसः] दुर्बुद्धि मिथ्यादृष्टि [परं] परको [आत्मानं] आत्मा [वदंति] कहते हैं [ते न परमार्थवादिनः] वे परमार्थ (सत्यार्थ) कहने वाले नही हैं ऐसा [निश्चयवादिभिः] निश्चय (सत्यार्थ) वादियो ने [निर्दिष्टाः] कहा है।

टीका—इस जगत में आत्मा के असाधारण लक्षण न जानने के कारण असमर्थ होने से अत्यंत विमूढ हुए अज्ञानीजन परमार्थभूत आत्मा को न जानने वाले बहुत है। वे बहुत प्रकार से परको ही आत्मा इस प्रकार कहते हैं। कोई तो स्वाभाविक स्वयमेव हुये रागद्वेष से मलिन जो अध्यवसान अर्थात् आशय रूप विभाव परिणाम वही जीव है, ऐसा कहते हैं। उसका हेतु कहते है कि जैसे अंगार की कालिमा है वैसे अध्यवसान से अन्य कोई जीव दीखता नहीं। कोई कोई कहते हैं कि पूर्व पश्चात् अनादि से लेकर और आगामी अनंत काल तक अवयवरूप एक भ्रमण क्रियारूप से क्रीडा करता हुआ जो कर्म वही जीव है क्योंकि इस कर्म से भिन्न कुछ अन्य जीव देखने में नहीं आता हैं। कोई कहते है कि तीव्र मंद अनुभव से भेदरूप हुआ और जिस का अंत दूर है ऐसे रागरूप रस से भरी जो अध्यवसान की संतान (परिपाटी) वही जीव है, क्योंकि इससे अन्य कोई जुदा जीव देखने में वहीं आता। कोई कहते हैं कि नवीन और पुरानी अवस्था इत्यादि भाव से प्रवर्तमान जो नोकर्म वही जीव है, क्योंकि

तरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभव एव जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयमेव जीवः कात्स्न्र्यतः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । अर्थक्रियासमर्थःकर्मसंयोग एव जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाया इवाष्टकाष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् एवमेवंप्रकारा इतरेपि बहुप्रकारा परमात्मेति व्यपदिशंति दुर्मेधसः किंतु न ते परमार्थवादिभिः परमार्थवादिनः इति निर्दिश्यंते ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

तथैवापरे चार्वाकादयः कर्मनोकर्मरहितपरमात्मभेदविज्ञानशून्याः शरीरादिनोकर्म चापि जीवं मन्यंते । अथ— **कम्मस्सुदयं जीवं अवरे** अपरे कर्मण उदयं जीवमिच्छंति **कम्माणुभागमिच्छंति** अपरे च कर्मानुभागं लतादार्वस्थिपाषाणरूपं जीवमिच्छंति कथंभूतः स चानुभागः **तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो** तीव्रत्वमंदत्वगुणाभ्यां वर्त्तते यः स जीवो भवतीति अथ— **जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति**

इस शरीर से अन्य भिन्न कुछ जीव देखने में नहीं आता। कोई ऐसा कहते हैं कि समस्त लोक को पुण्य-पाप रूप से व्याप्त कर्म का विपाक ही जीव है, क्योंकि शुभाशुभभाव से अन्य भिन्न कोई जीव देखने में नहीं आता। कोई कहते हैं कि साता असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्र-मंदत्व गुणों से भेदरूप हुआ जो कर्म का अनुभव वही जीव है क्योंकि सुख-दुःख से अन्य भिन्न कोई जीव देखने में नहीं आता। कोई कहते हैं कि श्रीखण्ड की तरह दो रूप मिला जो आत्मा और कर्म ये दोनों मिले ही जीव है क्योंकि समस्त रूप से कर्म से भिन्न कोई जीव देखने में नही आता है। कोई कहते हैं कि कर्म के संयोग रूप अर्थक्रिया में समर्थ होता है वही जीव है क्योंकि कर्म के संयोग से अन्य कोई जीव देखने में नहीं आता जैसे आठ काठ के टुकड़े मिल कर खाट हुई, तब अर्थक्रिया में समर्थ हुई, इसी तरह यहां भी जानना ऐसा मानते हैं। इस प्रकार आठ प्रकार तो ये कहे और अन्य भी अनेक प्रकार पर को आत्मा कहते हैं वे दुर्बुद्धि हैं, उनको परमार्थ के जानने वाले सत्यार्थवादी नहीं कहते।

भावार्थ—जीव अजीव दोनों ही अनादिकाल से एक क्षेत्रावगाह संयोग रूप मिल रहे हैं और अनादि से ही पुद्गल के संयोग से जीव की विकार सहित अनेक अवस्थाएं हो रही हैं। यदि परमार्थदृष्टि से देखा जाय तब जीव तो अपने चैतन्य आदि भाव को नहीं छोड़ता और पुद्गल अपने मूर्तीक जड़त्व आदि को नहीं छोड़ता। लेकिन जो परमार्थ को नहीं जानते हैं, वे संयोग जन्य भावों को ही जीव कहते हैं। परमार्थ से जीव का स्वरूप पुद्गल से भिन्न सर्वज्ञको दीखता है तथा सर्वज्ञ की परंपरा के आगम से जाना जाता है। जिनके मत में सर्वज्ञ नहीं माना गया है, वही अपनी बुद्धि से अनेक कल्पना कर कहते हैं। उन में से वेदांती, मीमांसक, सांख्य, योग, बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, चार्वाक मतों के आशय लेकर आठ तो प्रकट हैं और अन्य भी अपनी अपनी बुद्धि से अनेक कल्पना कर कहते हैं, उन को कहां तक कहा जावे॥ ३९। ४०। ४१। ४२। ४३॥

कुतः—

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पएणा ।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति ॥ ४४ ॥

एते सर्वे भावाः पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः ।
केवलिजिनैर्भणिताः कथं ते जीव इत्युच्यंते ॥ ४४ ॥

यतः एतेऽध्यवसानादयः समस्ता एव भावा भगवद्भिर्विश्वसाक्षिभिरर्हद्भिः पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वेन प्रज्ञप्ताः संतश्चैतन्यशून्यात्पुद्गलद्रव्यादतिरिक्तत्वेन प्रज्ञाप्यमानं चैतन्यस्वभावं जीवद्रव्यं भवितुं नोत्सहंते ततो न खल्वागमयुक्तिस्वानुभवैर्बाधितपक्षत्वात् तदात्मवादिनः परमार्थवादिनः एतदेव सर्वज्ञवचनं तावदागमः। इयं तु स्वानुभवगर्भिता युक्तिः न खलु नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसानं जीवस्तथाविधाध्यवसानात्कार्तस्वरस्येव श्यामिकायाः अतिरिक्तत्वेनान्यस्य

जीवकर्मोभयं द्वे अपि जीवकर्मणी शिखिरिणीवत् खलु स्फुटं जीवमिच्छंति। **अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति** अपरे केचन अष्टकाष्ठखट्वावदष्टकर्मणां संयोगेनापि जीवमिच्छंति । कस्मात् । अष्टकर्मसंयोगादन्यस्य शुद्धजीवस्यानुपपत्तेः । अथ **एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा** एवंविधा बहुविधा बहुप्रकारा देहरागादिपरद्रव्यमात्मानं वदंति दुर्मेधसो दुर्बुद्धयः **तेण दु परप्पवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा** तेन कारणेन तु

ऐसा कहने वाले सत्यार्थवादी नहीं हैं, सो क्यों नहीं ? उसका उत्तर कहते हैं,—**[एते]** ये पूर्व कहे हुए अध्यवसान आदिक **[सर्वे भावाः]** भाव हैं वे सभी **[पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः]** पुद्गलद्रव्य के परिणमन से उत्पन्न हुए हैं ऐसा **[केवलिजिनैः]** केवली सर्वज्ञजिनदेवने **[भणिताः]** कहा है **[ते जीवः]** उनको जीव **[इति कथं उच्यंते]** ऐसा कैसे कह सकते है ? अर्थात् नहीं कह सकते ।

टीका—ये अध्यवसानादिक भाव हैं, उन सब को सब पदार्थों के साक्षात् देखने वाले भगवान् वीतराग सर्वज्ञ अरहंतदेवने पुद्गल द्रव्य के परिणाम जन्य कहा है, इस कारण वे चैतन्यभाव से शून्य पुद्गल द्रव्य से भिन्नरूप से कहे गये चैतन्यस्वभावमय जीव द्रव्य होने को समर्थ नहीं हैं इसलिए इस पक्षके निश्चय से आगम, युक्ति और स्वानुभव इन तीनों द्वारा बाधित होने से जो इन अध्यवसानादिकों को जीव कहते हैं वे परमार्थवादी सत्यार्थवादी नहीं है । उन तीन में ये जीव नहीं है, ऐसा सर्वज्ञ का वचन है वह तो आगम है । और जो स्वानुभवगर्भित युक्ति है उसे कहते हैं—जो स्वयमेव उत्पन्न हुआ ऐसा रागद्वेष से मलिन अध्यवसान है वह जीव नही है क्योंकि जैसे सुवर्ण कालिमा से पृथक् है, उसी प्रकार चित्स्वभावरूप ऐसे अध्यवसान से भिन्न जीव भेदज्ञानियों को प्रतिभासित होता है, वे प्रत्यक्ष चैतन्य भाव को पृथक् अनुभव करते हैं ॥१॥ अनाद्यनंत पूर्वापरीभूत एक संसरणक्रिया रूप क्रीडा करता हुआ कर्म है वह भी जीव नहीं है क्योंकि कर्म से पृथक् अन्य चैतन्यस्वभाव रूप जीव भेदज्ञानियों को प्राप्त है

चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खल्वनाद्यनंतपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणलक्षणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतानो जीवस्ततोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु नवपुराणावस्थादिभेदेन प्रवर्तमानं नोकर्म जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाको जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्व

पुनः देहरागादिकं परद्रव्यमात्मानं वदंतीत्येवंशीलाः परात्मवादिनो निश्चयवादिभिः सर्वज्ञैर्निर्दिष्टा इति पंचगाथाभिः पूर्वपक्षः कृतः ॥३९॥४०॥४१॥४२॥४३॥ अथ परिहारं वदति—**एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा** एते सर्वे देहरागादयः कर्मजनितपर्यायाः पुद्गलद्रव्यकर्मोदयपरिणामेन निष्पन्नाः **केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवोत्ति उच्चंति** केवलिजिनैः सर्वज्ञैः कर्मजनिता इति भणिता. कथं ते निश्चयनयेन जीवा इत्युच्यंते न कथमपि । किंच विशेषः । अंगारात् कार्ष्ण्यंवद्रागादिभ्यो भिन्नो जीवो नास्तीति यद्भणितं तदयुक्तं । कथमिति चेत् । रागादिभ्यो भिन्नः शुद्धजीवोस्तीति पक्षः परमसमाधिस्थपुरुषैः शरीररागादिभ्यो भिन्नस्य चिदानंदैकस्वभावशुद्धजीवस्योपलब्धेरिति हेतु । किट्टकालिकास्वरूपात् सुवर्णवदिति दृष्टातः । किं च अंगारदृष्टांतोपि न घटते । कथमिति चेत् । यथा सुवर्णस्य पीतत्वं, अग्नेरुष्णत्वं स्वभावस्तथांगारस्य कृष्णत्वस्वभावस्य तु पृथक्त्वं कर्तुं नायाति । रागादयस्तु विभावाः

वे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।२। तीव्र मंद अनुभव से भेदरूप हुआ दुरंत राग-रस से भरी अध्यवसान की संतान भी जीव नहीं है; क्योंकि उस संतान से अन्य पृथक् चैतन्यस्वरूप जीव भेदज्ञानियों को स्वयमेव प्राप्त है, वे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।३। नई पुरानी अवस्थादि के भेद से प्रवृत्त हुआ जो नोकर्म वह भी जीव नही हैं; क्योंकि शरीर से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों को स्वयमेव प्राप्त है, वे आप प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।४। समस्त जगत को पुण्य-पापरूप से व्याप्त कर्म का विपाक भी जीव नहीं है; क्योंकि शुभाशुभभाव से अन्य पृथक् चैयन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों को स्वयमेव प्राप्त है, वे आप प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।५। साता असाता रूप से व्याप्त समस्त तीव्रमंदता रूप गुण से भेद रूप हुआ कर्मका अनुभव भी जीव नहीं है; क्योंकि सुख-दुःख से पृथक् अन्य चैतन्यस्वभाव रूप जीव की भेद ज्ञानियों को स्वयं प्राप्ति होती है, वे आप प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।६। श्रीखंड की तरह दो स्वरूप मिले आत्मा और कर्म दोनों ही जीव नहीं हैं, क्योंकि पूर्ण रूप से कर्म से भिन्न अन्य चैतन्यस्वरूप जीव भेदज्ञानियों को स्वयं प्राप्त है, वे प्रत्यक्ष आप अनुभव करते हैं ।७। अर्थक्रिया में समर्थ कर्म का संयोग भी जीव नही है; क्योंकि 'जैसे आठ काठ के टुकड़ों रूप खाट का सोने वाला पुरुष अन्य है' उसी प्रकार कर्म संयोग से भिन्न अन्य चैतन्य स्वभाव रूप जीव की भेदज्ञानियों को स्वयं प्राप्ति है, आप वे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं । ८ । इसी प्रकार अन्य कोई दूसरे प्रकार कहें, वहां भी यही युक्ति जानना ।

भावार्थ—चैतन्य स्वभाव रूप जीव सब परभावों से भिन्न भेदज्ञानियों के अनुभव गोचर है, इस कारण अज्ञानी जिस प्रकार मानते हैं, उस प्रकार नहीं है ।

भावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभावो जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयं जीवः कात्स्न्र्यतः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खल्वर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोगो जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाशायिनः पुरुषस्येवाष्टकाष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वादिति । इह खलु पुद्गलभिन्नात्मोपलब्धिं प्रति विप्रतिपन्नः साम्नैवैवमनुशास्यः ॥ ४४ ॥

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकं ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः ॥ ३४ ॥

स्फटिकोपाधिवत् ततस्तेषां निर्विकारशुद्धात्मानुभूतिबलेन पृथक्त्वंकर्त्तुं शक्यते इति । यदप्युक्तमष्टकाष्ठसंयोगखट्वावदष्टकर्मसंयोग एव जीवस्तदप्यनुचितं अष्टकर्मसंयोगात् भिन्नः शुद्धजीवोस्तीति पक्षवचनं अष्टकाष्ठसंयोगखट्वाशायिनः पुरुषस्येव परमसमाधिस्थपुरुषैरष्टकर्मसंयोगात् पृथग्भूतस्य शुद्धबुद्धैकस्वभावजीवस्योपलब्धेरिति दृष्टांतसहितहेतुः । किंच देहात्मनोरत्यंतं भेदः इति पक्ष. भिन्नलक्षणलक्षितत्वादिति हेतु, जलानलवदिति दृष्टान्त ॥ ४४ ॥ इति परिहारगाथा गता ।

अथ चिद्रूपप्रतिभासेपि रागाद्यध्यवसानादयः कथं पुद्गलस्वभावा भवंतीति चेत्:—

अब यहां पर पुद्गल से भिन्न जो आत्मा की उपलब्धि उसको अन्यथा ग्रहण करने वाला (पुद्गल को ही आत्मा जानने वाला जो पुरुष) उसको समभाव से ही उपदेश करना चाहिए, ऐसा श्लोक कहते हैं **विरम** इत्यादि । **अर्थ**—हे भव्य, तुझे निष्प्रयोजन कोलाहल करने से क्या लाभ है, उससे तू विरक्त हो और एक चैतन्य मात्र वस्तु को एकान्त में स्वयं छः महीना अभ्यास कर निश्चय लीन होकर देख । ऐसा करने से अपने हृदय सरोवर में जिसका तेज प्रताप-प्रकाश पुद्गल से भिन्न है ऐसे आत्मा की क्या प्राप्ति नहीं हो सकेगी अर्थात् अवश्य होगी ।

भावार्थ—जो अपने स्वरूप का अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होवे, पर वस्तु की प्राप्ति तो नहीं हो सकती । अपना स्वरूप तो विद्यमान ही है परन्तु भूल रहा है सो चेत कर देखे तो पास ही है । यहां छह महीने का अभ्यास कहा सो ऐसा नहीं समझना कि इतने से ही हो जाय, इसका होना तो अन्तर्मुहूर्तमात्र में ही है परन्तु शिष्य को बहुत कठिन मालूम पड़े तब उसका निषेध है । यदि बहुत काल भी समझने में लगेगा तो छह महीने से अधिक नहीं लगेगा । इसलिए अन्य निष्प्रयोजन कोलाहल को छोड़ इसमें लगने से शीघ्र स्वरूप की प्राप्ति होगी, ऐसा उपदेश है ॥ ४४ ॥

आगे शिष्य पूछता है कि ये अध्यवसानादिक भाव तो जीव नहीं बतलाये, अन्य चैतन्य स्वभाव को जीव कहा सो ये भाव भी तो चैतन्य से ही सम्बन्ध रखने वाले मालूम होते हैं, चैतन्य के विना जड़ के तो होते नहीं, इनको पुद्गल के कैसे कहा ? ऐसा पूछने पर उत्तर रूप गाथासूत्र कहते हैं;—

कथं चिदन्वयत्वप्रतिभासेप्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावा इति चेत्:—

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति ।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥ ४५ ॥

अष्टविधमपि च कर्म सर्वं पुद्गलमयं जिना विंदंति ।
यस्य फलं तदुच्यते दुःखमिति विपच्यमानस्य ॥ ४५ ॥

अध्यवसानादिभावनिर्वर्तकमष्टविधमपि च कर्म समस्तमेव पुद्गलमयमिति किल सकलज्ञज्ञप्तिः। तस्य तु यद्विपाककाष्ठामधिरूढस्य फलत्वेनाभिलप्यते तदनाकुलत्वलक्षणसौख्याख्यात्मस्वभावविलक्षणत्वात्किल दुःखं, तदंतःपातिन एव किलाकुलत्वलक्षणा अध्यवसानादिभावाः। ततो न ते चिदन्वयत्वविभ्रमेप्यात्मस्वभावाः किंतु पुद्गलस्वभावाः ॥ ४५ ॥

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति सर्वमष्टविधमपि कर्म पुद्गलमयं भवतीति जिना वीतरागसर्वज्ञा ब्रुवंति कथयंति । कथभूतं यत्कर्म **जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खंति विपच्चमाणस्स** यस्य कर्मणः फलं तत्प्रसिद्धमुच्यते किंव्याकुलत्वस्वभावत्वाद्दुःखमिति। कथंभूतस्य कर्मणः । विशेषेण पच्यमानस्योदयागतस्य। इदमत्र तात्पर्यं । अष्टविधकर्मपुद्गलस्य कार्यमनाकुलत्वलक्षणपरमार्थसुखविलक्षणमाकुलत्वोत्पादकं दुःखं रागाद्योप्याकुलत्वोत्पादकदुःखलक्षणास्ततः कारणात्पुद्गलकार्यत्वात् शुद्धनिश्चयनयेन पौद्गलिका इति ॥ ४५ ॥ अष्टविधं कर्म पुद्गलद्रव्यमेवेति कथनरूपेण गाथा गता ।

[**अष्टविधमपि च**] आठ तरह के [**कर्म**] कर्म हैं वे [**सर्वं**] सभी [**पुद्गलमयं**] पुद्गल स्वरूप हैं ऐसा [**जिनाः**] जिन भगवान् सर्वज्ञ देव [**विंदंति**] कहते हैं। [**यस्य विपच्यमानस्य**] जिस पच कर उदय में आने वाले कर्म का [**फलं**] फल [**तत्**] प्रसिद्ध [**दुःखं**] दुःख है [**इति उच्यते**] ऐसा कहा है।

टीका—जिस कारण ये अध्यवसान आदि समस्त भावों के उत्पन्न करने वाले आठ प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म हैं, वे सभी पुद्गलमय हैं ऐसा सर्वज्ञ का वचन है। उस कर्म का उदय पराकाष्ठा को पहुँचे, ऐसा उसका फल अनाकुलता स्वरूप सुख नामक आत्मा के स्वभाव से विलक्षण आकुलतामय है इसलिए दुःख है। उस दुःख में आपड़े जो आकुलता स्वरूप अध्यवसान आदिक भाव हैं, वे भी दुःख ही हैं इसीलिए वे चैतन्य से सम्बन्ध होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं, तो भी वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, पुद्गल स्वभाव ही हैं।

भावार्थ—यह आत्मा कर्म के उदय आने पर दुःखरूप परिणमन करता है और जो दुःख रूप भाव है, वह अध्यवसान है इसलिए दुःखरूप भाव में चेतन के सम्बन्ध का भ्रम उपजता है। परमार्थ से दुःख स्वरूप भाव चेतन नहीं है, कर्मजन्य है, इस कारण जड़ ही है ॥ ४५ ॥

यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तदा कथं जीवत्वेन सूचिता इति चेत् :—

ववहारस्स [1]दरीसणमुवएसो वरिणदो जिणवरेहिं ।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥ ४६ ॥

व्यवहारस्य दर्शनमुपदेशो वर्णितो जिनवरैः ।
जीवा एते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः ॥ ४६ ॥

सर्वे एवैतेऽध्यवसानादयो भावाः जीवा इति यद्भगवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनं । व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव । तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात्त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद्भवत्येव बंधस्याभावः । तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति[2] रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः ॥ ४६ ॥

अथ यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तर्हि रागी द्वेषी मोही जीव इति कथं जीवत्वेन ग्रंथांतरे प्रतिपादिता इति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति; —

ववहारस्स दरिसणं व्यवहारनयस्य स्वरूपं दर्शितं यत्किं कृतं । **उवएसो वरिणओ जिणवरेहिं** उपदेशो वर्णितः कथितो जिनवरैः । कथंभूतः । **जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा** जीवा एते सर्वे अध्यवसानादयो भावाः परिणामा भण्यंत इति । किं च विशेषः । यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यावलंबनत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिबहिर्द्रव्यावलंबनरहितविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्वावलंबनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद्दर्शयितुमुचितो भवति । यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवंतीति मत्वा निःशंकोपमर्दनं कुर्वंति जनाः । ततश्च पुण्यरूपधर्माभाव इत्येकं दूषणं, तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहितः पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोपि न करोति ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणं । तस्माद्व्यवहारनयव्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्रायः ॥ ४६ ॥

आगे पूछता है कि ये अध्यवसानादि भाव पुद्गलस्वभाव हैं तो सर्वज्ञ के आगम में इन को जीव के भाव कैसे कहा ? उसके उत्तर का गाथासूत्र कहते हैं;—**[एते सर्वे]** ये सब **[अध्यवसानादयः भावाः]** अध्यवसानादिक भाव हैं **[जीवाः]** वे जीव हैं ऐसा **[जिनवरैः]** जिनवरदेव ने **[उपदेशः वर्णितः]** जो उपदेश दिया है वह **[व्यवहारस्य दर्शनं]** व्यवहारनय का मत है ।

टीका—ये सब अध्यवसानादिक भाव 'जीव हैं' ऐसा जो भगवान् सर्वज्ञदेव ने कहा है, वह अभूतार्थ असत्यार्थ रूप जो व्यवहारनय उस का मत है । क्योंकि व्यवहार व्यवहारी जीवों को परमार्थ का कहने वाला है । जैसे म्लेच्छ भाषा म्लेच्छों को वस्तु स्वरूप को बतलाती है, उसी तरह यह नय है । इसलिये अपरमार्थभूत होने पर भी धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिये व्यवहारनय का वर्णन होना ठीक है । यदि

---

१. दरिसणंउव इत्यपिपाठः । २. इति तमंतरेण तु । इति पूर्वपदं संयोज्यार्थो कर्तव्यः ।

अथ केन दृष्टांतेन प्रवृत्तो व्यवहार इति चेत्:—

राया हु णिग्गदो त्तिय एसो बलसमुदयस्स ग्रादेसो ।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ॥ ४७ ॥ णिच्छिदो
एमेव य ववहारो ग्रज्भवसाणादिग्रण्णभावाणं ।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ॥ ४८ ॥ (युगलं)

राजा खलु निर्गत इत्येष बलसमुदयस्यादेशः ।
व्यवहारेण तूच्यते तत्रैको निर्गतो राजा ॥ ४७ ॥

एवमेव च व्यवहारोऽध्यवसानाद्यन्यभावानां ।
जीव इति कृतः सूत्रे तत्रैको निश्चितो जीवः ॥ ४८ ॥

अथ केन दृष्टांतेन प्रवृत्तो व्यवहार इत्याख्याति—

राया हु णिग्गदो त्तियएसो बलसमुदयस्स ग्रादेसो राजा हु स्फुटं निर्गत एव बलसमुदयस्यादेशः

उस व्यवहार को न कहें और परमार्थनय जीव को शरीर से भिन्न कहता है उस का ही एकांत कथन करें तो त्रस स्थावर जीवों का घात निःशंकरूप से करना ठहरेगा । जैसे भस्म के मर्दन करने में हिंसा का ग्रभाव है, उसी प्रकार उनके मारने में भी हिंसा नहीं सिद्ध होगी किन्तु हिंसा का ग्रभाव ठहरेगा तब उन के घात होने से बंध का भी ग्रभाव ठहरेगा । उसी प्रकार रागी द्वेषी मोही जीव कर्म से बंधता है वह छुड़ाने योग्य है ऐसा कहा गया है । परमार्थ से राग द्वेष मोह से जीव को भिन्न दिखलाने पर मोक्ष के उपाय का उपदेश व्यर्थ हो जायगा, तब मोक्ष का भी ग्रभाव ठहरेगा । इसलिये व्यवहारनय कहा गया है ।

भावार्थ—परमार्थनय तो जीव को शरीर ग्रौर राग द्वेष मोह से भिन्न कहता है । यदि इसी का एकांत किया जाय, तब शरीर तथा राग, द्वेष मोह पुद्गलमय ठहरें, तब पुद्गल के घात से हिंसा नहीं हो सकती ग्रौर राग द्वेष मोह से बंध नहीं हो सकता । इस प्रकार परमार्थ से संसार मोक्ष दोनों का ग्रभाव होजाएगा । ऐसा एकांत स्वरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है । ग्रवस्तु का श्रद्धान ज्ञान ग्रौर ग्राचरण मिथ्या ग्रवस्तु रूप ही है, इस लिये व्यवहार का उपदेश न्यायप्राप्त है । इस प्रकार स्याद्वाद से दोनों नयों का विरोध मेट कर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है ॥ ४६ ॥

ग्रागे शिष्य पूछता है कि यह व्यवहारनय किस दृष्टांत से प्रवृत्त हुग्रा ? उसका उत्तर कहते हैं; जैसे **[बलसमुदायस्य]** सेना के समूह को **[राजा निर्गतः]** जैसे राजा निकला **[इत्येष खलु ग्रादेशः]** ऐसा ही ग्रादेश वह **[व्यवहारेण तु उच्यते]** व्यवहार नय से कहा जाता है । **[तत्र]** उस सेना में तो वास्तव में **[एकः]** एक **[राजा निर्गतः]** ही राजा निकला है **[एवमेव च]** इसी तरह **[ग्रध्यवसाना-द्यन्यभावानां]** इन ग्रध्यवसान ग्रादि ग्रन्य भावों को **[सूत्रे]** परमागम में **[जीव इति]** ये जीव हैं ऐसा

यथैष राजा पंच योजनान्यभिव्याप्य निष्क्रामतीत्येकस्य पंचयोजनान्यभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यवहारिणां बलसमुदाये राजेति व्यवहारः । परमार्थतस्त्वेक एव राजा । तथैष जीवः समग्रं रागग्राममभिव्याप्य प्रवर्तत इत्येकस्य समग्रं रागग्राममभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यवहारिणामध्यवसानादिष्वन्यभावेषु जीव इति व्यवहारः । परमार्थतस्त्वेक एव जीवः ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

यद्येवं तर्हि किंलक्षणोऽसावेकष्टंकोत्कीर्णः परमार्थजीव इति पृष्टः प्राह;—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥ ४९ ॥

अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दं ।
जानीहि अलिंगग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानं ॥ ४९ ॥

कथनं **ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया** बलसमूहं दृष्ट्वा पंचयोजनानि व्याप्य राजा निर्गत इति व्यवहारेणोच्यते । निश्चयनयेन तु तत्रैको राजा निर्गत इति दृष्टांतो गतः । इदानीं दार्ष्टांतमाह—**एमेव य ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाणं** एवमेव राजदृष्टांतप्रकारेणैव व्यवहारः । केषां । अध्यवसानादीनां जीवाद्भिन्नभावादीनां रागादिपर्यायाणां **जीवो त्ति कदो सुत्ते** कथंभूतो व्यवहारः । रागादयो भावाः व्यवहारेण जीव इति कृतं भणितं

[व्यवहारः कृतः] व्यवहार नय से कहा है **[तत्र निश्चितः]** निश्चय से विचारा जाय तो उन भावों में **[जीवः एकः]** जीव तो एक ही है ।

टीका—जैसे ऐसा कहते हैं कि यह राजा पांच योजन के फैलाव से निकल रहा है, वहां निश्चय से विचारा जाय तो एक राजा को पांच योजन में व्यापना असंभव है, तो भी व्यवहारी (अज्ञानी) जनों का सेना के समुदाय में राजा कहने का व्यवहार है । परमार्थ से तो राजा एक ही है, सेना राजा नहीं । उसी तरह यह जीव सब राग के स्थानों को व्याप्त कर प्रवृत्त हो रहा है परन्तु निश्चय से विचारा जाय तो एक जीव का समस्त राग के ठिकानों में फैलाव से रहना असंभव है तो भी व्यवहारी लोकों का अध्यवसानादिक अन्य भावों में 'ये जीव हैं' ऐसा व्यवहार प्रवर्तता है, परमार्थ से तो जीव एक ही है, अध्यवसान आदि भाव जीव नहीं है ॥ ४७ । ४८ ॥

आगे शिष्य पूछता है कि ये अध्यवसानादिक भाव हैं, वे जीव नहीं है तो एक टंकोत्कीर्ण परमार्थ स्वरूप जीव कैसा है उसका क्या लक्षण है? इस का उत्तर कहते हैं;—हे भव्य तू **[जीवं]** जीव को **[जानीहि]** ऐसा जान कि वह **[अरसं]** रस रहित है **[अरूपं]** रूप रहित है **[अगंधं]** गन्ध रहित है **[अव्यक्तं]** इंद्रियों के गोचर **[व्यक्त]** नहीं हैं **[चेतनागुणं]** जिसके चेतना गुण है **[अशब्दं]** शब्दरहित है **[अलिंगग्रहणं]** किसी चिह्न कर जिसका ग्रहण नहीं होता **[अनिर्दिष्टसंस्थानं]** जिसका आकार कुछ कहने में नहीं आता ।

यः खलु पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरसगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरसगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येंद्रियावष्टंभेनारसनात् स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेंद्रियावलंबेनारसनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलरसवेदनापरिणामापन्नत्वेनारसनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रसपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं रसरूपेणापरिणमनाच्चारसः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरूपगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरूपगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येंद्रियावष्टंभेनारूपणात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेंद्रियावलंबेनारूपणात्सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलरूपवेदनापरिणामापन्नत्वेनारूपणात्,

---

सूत्रे परमागमे **तत्थेको णिच्छिदो जीवो** तत्र तेषु रागादिपरिणामेषु मध्ये निश्चितो ज्ञातव्यः। कोसौ। जीवः। कथंभूतः। शुद्धनिश्चयनयेनैको भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितःशुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवपदार्थः। इति व्यवहारनयसमर्थनरूपेण गाथात्रयं गतं ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ एवमजीवाधिकारमध्ये शुद्धनिश्चयनयेन देहरागादिपरद्रव्यं जीवस्वरूपं न भवतीति कथनमुख्यतया गाथादशकेन प्रथमोंतराधिकारो व्याख्यातः। अथानंतरं वर्णरसादिपुद्गलस्वरूपरहितोऽनंतज्ञानादिगुणस्वरूपश्च शुद्धजीव एव उपादेय इति भावनामुख्यतया द्वादशगाथापर्यंतं व्याख्यानं करोति। तत्र द्वादशगाथासु मध्ये परमसामायिकभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानंदसुखसमरसीभावपरिणतशुद्धजीव एवोपादेय इति मुख्यत्वेन **अरसमरूव** इत्यादिसूत्रगाथैका। अथाभ्यंतरे रागादयो बहिरंगे वर्णादयश्च शुद्धजीवस्वरूपं न भवतीति तस्यैव

टीका—जो जीव है, वह निश्चय से पुद्गल द्रव्य से भिन्न है, उसमें रस गुण विद्यमान नहीं हैं इस कारण अरस है। १। पुद्गल द्रव्य के गुणों से भी भिन्न है इसलिए आप रसगुण नहीं होने से भी अरस कहा जाता है। २। परमार्थ से पुद्गल द्रव्य का स्वामित्व भी इसके नहीं है इसलिये द्रव्येंद्रिय के आलंबन से आप रसरूप परिणमन नहीं करता इस कारण भी अरस है। ३। अपने स्वभाव की दृष्टि से देखा जाय तो क्षायोपशमिक भाव का भी इसके अभाव है, इसलिये भावेंद्रिय के अवलंबन से भी इसके रसरूप परिणाम का अभाव है, इस कारण भी अरस है। ४। इसका संवेदन परिणाम तो एक ही है, वह सकल विषयों के विशेषों में साधारण है, उस स्वभाव से केवल एक रसवेदना परिणाम की प्राप्ति रूप नहीं है, इस कारण भी अरस है। ५। इसके समस्त ही ज्ञेयों का ज्ञान होता है; परन्तु ज्ञेय ज्ञायक के एकरूप होने का निषेध ही है इसलिये रस के ज्ञान रूप परिणमने पर भी आप रसरूप नहीं होता, इस कारण भी अरस है। ६। इस प्रकार छः प्रकार से रस के निषेध से अरस है। इसी तरह अरूप अगंध अस्पर्श अशब्द इन चारों विशेषणों का छह छह हेतुओं द्वारा निषेध किया है सो इसी कथित रीति से जान लेना। अब अनिर्दिष्ट संस्थान को कहते हैं। पुद्गल द्रव्य से रचे हुए संस्थानों (आकारों) द्वारा कहा नहीं जाता कि ऐसा आकार है। १। अपने नियत स्वभाव से अनियत संस्थानरूप अनंत शरीरों में वर्तता है, इसीलिये भी आकार कहा नहीं जाता। २। संस्थान नामकर्म का विपाक (फल) है; वह भी पुद्गल द्रव्य में ही है उसके निमित्त से भी आकार नहीं कह सकते। ३। भिन्न-भिन्न आकार

सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रूपपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं रूपरूपेणापरिणमनाच्चा-रूपः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानगंधगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमगंधगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद् द्रव्येंद्रियावष्टंभेनागंधनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेंद्रियावलंबेनागंधनात् सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलगंधवेदनापरिणामापन्नत्वेनागंधनात् सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्गंधपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं गंधरूपेणापरिणमनाच्चागंधः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानस्पर्शगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमस्पर्शगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद् द्रव्येंद्रियावष्टंभेनास्पर्शनात् स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावात् भावेन्द्रियावलंबेनास्पर्शनात्सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात् केवलस्पर्शवेदनापरिणामापन्नत्वेनास्पर्शनात् सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधात् स्पर्शपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं स्पर्शरूपेणापरिणमनाच्चास्पर्शः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानशब्दपर्यायत्वात् पुद्गलद्रव्यपर्यायेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमशब्दपर्यायत्वात् परमार्थतः

गाथासूत्रस्य विशेषविवरणार्थं **जीवस्स णत्थि वण्णो** इत्यादिसूत्रषट्कं । ततः परं त एव रागादयो वर्णादयश्च व्यवहारेण संति शुद्धनिश्चयनयेन न संतीति परस्परसापेक्षनयद्वयविवरणार्थं **ववहारेण दु** इत्यादि सूत्रमेकं । तदनंतरमेतेषां रागादीनां व्यवहारनयेनैव जीवेन सह क्षीरनीरवत्संबंधो न च निश्चयनयेनेति समर्थनरूपेण **एदेहिं य संबंधो** इत्यादि सूत्रमेकं । ततश्च तस्यैव व्यवहारनयस्य पुनरपि व्यक्त्यर्थं दृष्टांतदार्ष्टांतसमर्थनरूपेण **पंथे मुस्संतं** इत्यादि गाथात्रयं । इति द्वितीयस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा—अथ यदि निश्चयेन रागादिरूपो जीवो न भवति तर्हि कथंभूतः शुद्धजीव उपादेयस्वरूप इत्यआह:—**अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं** निश्चयनयेन रसरूपगंधस्पर्शशब्दरहितं मनोगतकामक्रोधादिविकल्पविषयरहितत्वेनाव्यक्तं सूक्ष्मं । पुनरपि किंविशिष्टं । शुद्धचेतनागुणं । पुनश्च किं रूपं । **जाणमलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं** निश्चयनयेन स्वसंवेदनज्ञानविषयत्वादलिंगग्रहणं समचतुरस्रा-

---

रूप परिणत जो समस्त वस्तु, उनके स्वरूप से तदाकार हुआ जो अपना स्वभाव रूप संवेदन की सामर्थ्य होने पर भी आप समस्त लोक के मिलने से शून्य हुई जो अपनी निर्मल ज्ञानमात्र अनुभूति उस अनुभूति से किसी भी आकार रूप नहीं है इस कारण भी अनिर्दिष्ट संस्थान है । ४ । ऐसे चार हेतुओं से संस्थान का निषेध कहा । अब अव्यक्त विशेषण को सिद्ध करते हैं—छह द्रव्य स्वरूप लोक है, वह ज्ञेय है, व्यक्त है, ऐसे व्यक्त रूप से जीव अन्य है इसलिये अव्यक्त है । १ । कषाय का समूह जो भावकभाव वह व्यक्त है उससे जीव अन्य है इस कारण भी अव्यक्त है । २ । चित्सामान्य में चैतन्य की सब व्यक्तियां अन्तर्भूत हैं इसलिये भी अव्यक्त है । ३ । क्षणिक व्यक्तिमात्र न होने से भी अव्यक्त कहना चाहिए । ४ । व्यक्त, अव्यक्त और दोनों मिले हुए मिश्र भाव इसके प्रतिभास में आते हैं तो भी केवल व्यक्त भाव ही नहीं स्पर्शता इस कारण भी अव्यक्त है । ५ । और आप ही बाह्य अभ्यंतर प्रकट अनुभूयमान है तो भी व्यक्तभाव से उदासीन (दूरवर्ती) प्रद्योतमान है इस कारण भी अव्यक्त कहा जाता है । ६ । इस

पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येन्द्रियावष्टंभेन शब्दाश्रवणात् स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेंद्रियावलंबेन शब्दाश्रवणात् सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात् केवलशब्दवेदनापरिणामापन्नत्वेन शब्दाश्रवणात् सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाच्छब्दपरिच्छेदपरिणतत्वेपि स्वयं शब्दरूपेणापरिणमनाच्चाशब्दः। द्रव्यांतरारब्धशरीरसंस्थानेनैव[1] संस्थान इति निर्देष्टुमशक्यत्वात् नियतस्वभावेनानियतसंस्थानानंतशरीरवर्तित्वात्संस्थाननामकर्मविपाकस्य पुद्गलेषु निर्दिश्यमानत्वात् प्रतिविशिष्टसंस्थानपरिणतसमस्तवस्तुतत्त्वसंवलितसहजसंवेदनशक्तित्वेपि स्वयमखिललोकसंवलनशून्योपजायमाननिर्मलानुभूतितयात्यंतमसंस्थानत्वाच्चानिर्दिष्टसंस्थानः। षट्द्रव्यात्मकलोकाद् ज्ञेयाद्व्यक्तादन्यत्वात्कषायचक्राद्भावकाद्व्यक्तादन्यत्वाच्चित्सामान्यनिमग्नसमस्तव्यक्तित्वात् क्षणिकव्यक्तिमात्राभावात् व्यक्ताव्यक्तविमिश्रप्रतिभासेपि व्यक्तास्पर्शत्वात् स्वयमेव हि बहिरंतः स्फुटमनुभूयमानत्वेपि व्यक्तोपेक्षणेन प्रद्योतमानत्वाच्चाव्यक्तः। रसरूपगंधस्पर्शशब्दसंस्थानव्यक्तत्वाभावेपि स्वसंवेदनबलेन नित्यमात्मप्रत्यक्षत्वे सत्यनुमेयमात्रत्वाभावादलिंगग्रहणः। समस्तविप्रतिपत्तिप्रमाथिना विवेचकजनसमर्पितसर्वस्वेन सकलमपि लोकालोकं कवलीकृत्यात्यंतसौहित्यमंथरेणेव सकलकालमेव मनागप्यविचलितानन्यसाधारणतया स्वभावभूतेन स्वयमनुभूयमानेन चेतनागुणेन नित्यमेवांतःप्रकाशमानत्वात् चेतनागुणश्च स खलु भगवानमलालोक इहैकष्टंकोत्कीर्णः प्रत्यग्ज्योतिर्जीवः॥ ४९ ॥

दिषट्संस्थानरहितं च यं पदार्थं तमेवंगुणविशिष्टं शुद्धजीवमुपादेयमिति हे शिष्य जानीहि। इदमत्र तात्पर्य्यं। शुद्धनिश्चयनयेन सर्वपुद्गलद्रव्यसंबंधिवर्णादिगुणशब्दादिपर्यायरहितः सर्वद्रव्येंद्रियभावेंद्रियमनोगतरागादिविकल्पाविषयो धर्माधर्माकाशकालद्रव्यशेषजीवांतरभिन्नोऽनंतज्ञानदर्शनसुखवीर्यश्च यः स एव शुद्धात्मा समस्तपदार्थसर्वदेशसर्वकालब्राह्मणक्षत्रियादिनानावर्णभेदभिन्नजनसमस्तमनोवचनकायव्यापारेषु दुर्लभः स एवापूर्वः स चैवोपादेय इति मत्वा निर्विकल्प-

---

तरह छः हेतुओं द्वारा अव्यक्त सिद्ध किया। इसी प्रकार रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्द संस्थान व्यक्तपना का अभाव स्वरूप होने पर भी स्वसंवेदन के बल से आप प्रत्यक्ष गोचर होने से अनुमेय मात्र के अभाव से अलिंग ग्रहण कहा जाता है। अपने अनुभव में आवे, ऐसे चेतना गुणकर सदा अंतरंग में प्रकाशमान है, इस कारण चेतनागुण वाला है। जो चेतनागुण समस्त विप्रतिपत्तियों का (जीव को अन्य प्रकार मानने का) निषेध करने वाला है, जिस ने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवों को सौंप दिया है, जो समस्त लोकालोक को ग्रासीभूत कर अत्यंत सुखी हो उस तरह सदा किंचित्मात्र भी चलायमान नहीं होता और अन्य द्रव्य से साधारण नहीं है इसलिये असाधारण स्वभावभूत है। ऐसे चैतन्य रूप परमार्थ स्वरूप जीव है। जिस का प्रकाश निर्मल है, ऐसा यह भगवान् इस लोक में टंकोत्कीर्ण भिन्न ज्योति स्वरूप विराजमान है।

---

१. नवं इति पाठान्तरं।

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रं ।
इममुपरि चरंतं चारु विश्वस्य साक्षात् कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतं ॥ ३५ ॥
चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयं । अतोतिरिक्ताः सर्वेपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥३६॥

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो ।
णवि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं ॥ ५० ॥
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥ ५१ ॥

निर्मोहनिरंजननिजशुद्धात्मसमाधिसंजातसुखामृतरसानुभूतिलक्षणे गिरिगुहागह्वरे स्थित्वा सर्वतात्पर्येण ध्यातव्य इति । एवं सूत्रगाथा गता ॥ ४६ ॥ अथ बहिरंगे वर्णाद्यभ्यंतरे रागादिभावाः पौद्गलिकाः शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवंतीति प्रतिपादयति:—वर्णगंधरसस्पर्शास्तु रूपशब्दवाच्याः स्पर्शरसगंधवर्णवती मूर्त्तिश्च औदारिकादिपंच शरीराणि, समचतुरस्रादिषट्संस्थानानि, वज्रर्षभनाराचादिषट्संहननानि चेति । एते वर्णादयो धर्मिणः शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न संतीति साध्यो धर्मश्चेति धर्मधर्मिसमुदायलक्षणः पक्षः, आस्था, संधा, प्रतिज्ञेति यावत् पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूते-

---

अब इसी अर्थ का कलश रूप काव्य कहकर इस के अनुभव की प्रेरणा करते है । **सकल** इत्यादि **अर्थ**—हे भव्य आत्माओ, अपने एक केवल आत्मा को आत्मा में ही अभ्यास करो—अनुभव करो । ऐसा अनुभव करो कि चिच्छक्ति से रहित अन्य सकल भावों को मूल से शीघ्र छोड़ कर और अच्छी प्रकार अपने चिच्छक्तिमात्र भाव को अवगाहन कर यह आत्मा समस्त पदार्थ समूह रूप लोक के ऊपर प्रवर्त रहा है, उसका साक्षात् अनुभव करो । जो आत्मा अनंत तथा अविनाशी है ।

भावार्थ—यह आत्मा परमार्थ से समस्त अन्य भावों से रहित चैतन्य शक्तिमात्र है, उस के अनुभव का अभ्यास करो ऐसा उपदेश है ।

आगे चिच्छक्ति से अन्य जो भाव हैं वे सब पुद्गलद्रव्य संबंधी हैं ऐसी आगे के गाथा की सूचनिका रूप काव्य कहते हैं—**चिच्छक्ति** इत्यादि । **अर्थ**—चैतन्य शक्ति से व्याप्त जिस का सर्वस्वसार है ऐसा यह जीव इतने मात्र है, इस चिच्छक्ति से शून्य जो भाव हैं वे सभी पुद्गलजन्य हैं, वे पुद्गल के ही हैं ।

ऐसे उन भावों का व्याख्यान छह गाथाओं में करते हैं;—**[जीवस्य]** जीव के **[वर्णः]** रूप **[नास्ति]** नही है **[नापि गंधः]** गंध भी नहीं है **[रसः अपि न]** रस भी नहीं है **[च]** और **[स्पर्शः अपि न]** स्पर्श भी नहीं है **[रूपं अपि न]** रूप भी नहीं है **[न शरीरं]** शरीर भी नहीं है **[संस्थानं अपि न]** संस्थान भी नहीं हैं **[संहननं न]** संहनन भी नहीं हैं । **[जीवस्य]** तथा जीव के **[रागः नास्ति]** राग भी नहीं है **[द्वेषः नापि]** द्वेष भी नहीं है **[मोहः एव]** मोह भी **[न विद्यते]** नहीं

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥ ५२ ॥
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥ ५३ ॥
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥ ५४ ॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥ ५५ ॥ (षट्कम्)

जीवस्य नास्ति वर्णो नापि गंधो नापि रसो नापि च स्पर्शः ।
नापि रूपं न शरीरं नापि संस्थानं न संहननं ॥ ५० ॥

भिन्नत्वादिति हेतुः । एवमत्र व्याख्याने पक्षहेतुरूपेणांगद्वयमनुमानं ज्ञातव्यं । अथ रागद्वेषमोहमिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपपंचप्रत्ययमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मौदारिकवैक्रियकाहारकशरीरत्रयाहारादिषट्पर्याप्तिरूपनोकर्माणि इति से तस्य जीवस्य शुद्धनिश्चयनयेन सर्वाण्येतानि न संति कस्मात्पुद्गलपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । अथ परमाणोरविभागपरिच्छेदरूपशक्तिसमूहो वर्ग इत्युच्यते । वर्गाणां समूहो वर्गणा भण्यते । वर्गणा-

---

विद्यमान है [प्रत्ययाः नो] आस्रव भी नहीं हैं [कर्म न] कर्म भी नहीं हैं [च नोकर्म अपि] और नोकर्म भी [तस्य नास्ति] उसके नहीं हैं [जीवस्य] जीव के [वर्गो नास्ति] वर्ग नहीं हैं [वर्गणा न] वर्गणा नहीं हैं [कानिचित् स्पर्धकानि] कोई स्पर्धक भी [नैव] नहीं हैं [अध्यात्मस्थानानि नो] अध्यात्मस्थान भी नहीं हैं [च] और [अनुभागस्थानानि] अनुभागस्थान भी [नैव] नहीं हैं [जीवस्य] जीव के [कानिचित् योगस्थानानि] कोई योगस्थान भी [न संति] नहीं हैं [वा] अथवा [बंधस्थानानि] बंधस्थान भी [न] नहीं हैं [च] और [उदयस्थानानि] उदय स्थान भी [नैव] नहीं हैं [कानिचित् मार्गणास्थानानि] कोई मार्गणा स्थान भी [न] नहीं हैं [जीवस्य] जीव के [स्थितिबंधस्थानानि नो] स्थिति बंध स्थान भी नहीं हैं [वा] अथवा [संक्लेशस्थानानि] संक्लेश स्थान भी [न] नहीं हैं [विशुद्धिस्थानानि] विशुद्धि स्थान भी [नैव] नहीं हैं [वा] अथवा [संयमलब्धिस्थानानि] संयमलब्धि स्थान भी [नो] नहीं हैं [च] और [जीवस्य] जीव के [जीवस्थानानि] जीवस्थान भी [नैव] नहीं हैं [वा] अथवा [गुणस्थानानि] गुण स्थान भी [न संति] नहीं हैं [येन तु] क्योंकि [एते सर्वे] ये सभी [पुद्गलद्रव्यस्य] पुद्गल द्रव्य के [परिणामाः] परिणाम हैं ।

जीवस्य नास्ति रागो नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः।
नो प्रत्यया न कर्म नोकर्म चापि तस्य नास्ति ॥ ५१ ॥

जीवस्य नास्ति वर्गो न वर्गणा नैव स्पर्द्धकानि कानिचित्।
नो अध्यात्मस्थानानि नैव चानुभागस्थानानि ॥ ५२ ॥

जीवस्य न संति कानिचिद्योगस्थानानि न बंधस्थानानि वा।
नैव चोदयस्थानानि न मार्गणास्थानानि कानिचित् ॥ ५३ ॥

नो स्थितिबंधस्थानानि जीवस्य न संक्लेशस्थानानि वा।
नैव विशुद्धिस्थानानि नो संयमलब्धिस्थानानि वा ॥ ५४ ॥

नैव च जीवस्थानानि न गुणस्थानानि वा संति जीवस्य।
येन त्वेते सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः ॥ ५५ ॥

यः कृष्णो हरितः पीतो रक्तः श्वेतो वर्णः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः सुरभिरसुरभिर्वा गंधः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्य-

---

समूहलक्षणानि स्पर्द्धकानि च कानिचिन्न संति। अथवा कर्मशक्ते क्रमेण विशेषवृद्धि. स्पर्द्धकलक्षणं। तथा चोक्तं वर्गवर्गणास्पर्द्धकानां त्रयाणां लक्षणं—

"वर्ग शक्तिसमूहोऽणोर्बहूना वर्गणोदिता।
वर्गणाना समूहस्तु स्पर्द्धकं स्पर्द्धकापहैः ॥"

शुभाशुभरागादिविकल्परूपाध्यवसानानि भण्यते तानि च न संति। लतादार्वस्थिपाषाणशक्तिरूपाणि घातिकर्मचतुष्टयानुभागस्थानानि भण्यंते। गुडखंडशर्करामृतसमानानि शुभाघातिकर्मानुभागस्थानानि भण्यंते। निंबकांजीरविषहालाहलसदृशान्यशुभाघातिकर्मानुभागस्थानानि च तान्येतानि सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न संति। कस्मात् 'पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात्। अथ वीर्यांतरायक्षयोपशमजनितमनोवचनकायवर्गणावलंबनकर्मादानहेतुभूतात्मप्रदेशपरिस्पंदलक्षणानि योगस्थानानि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरूपचतुर्विधबंधस्थानानि सुखदुःखफलानुभवरूपाण्युदयस्थानानि गत्यादिमार्गणास्थानानि च सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न संति। कस्मात् पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे

टीका—जो काला, हरा, पीला, लाल और सफेद वर्ण (रंग) हैं वे सभी जीव के नही हैं क्योंकि पुद्गल द्रव्य के परिणामनमय होने के कारण ये वर्ण अपनी अनुभूति से भिन्न है। १। सुगध, दुर्गन्ध भी जीव के नही हैं, क्योंकि ये पुद्गल परिणाममय हैं इसलिये अपनी अनुभूति से भिन्न है। २। कटुक, कषैला, तिक्त (चर्परा), खट्टा और मीठा ये सब रस भी जीव के नही हैं, क्योंकि०...। ३। चिकना, रूखा, ठंडा, गर्म, भारी, हलका, कोमल और कठोर—ये सब स्पर्श भी जीव के नही हैं क्योंकि...। ४। स्पर्शादि सामान्य परिणाममात्र रूप भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०...। ५। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर ये जीव के नहीं हैं, क्योंकि०...। ६। समचतुरस्र,

परिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः कटुकः कषायः तिक्तोऽम्लो मधुरो वा रसः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः स्निग्धो रूक्षः शीतः उष्णो गुरुर्लघुर्मृदुः कठिनो वा स्पर्शः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यत्स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्रं रूपं तन्नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यदौदारिकं वैक्रियिकमाहारकं तैजसं कार्मणं वा शरीरं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यत्समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमंडलं स्वाति कुब्जं वामनं हुंडं वा संस्थानं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्युनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यद्वज्रर्षभनाराचं वज्रनाराचं नाराचमर्द्धनाराचं कीलिका असंप्राप्तासृपाटिका वा संहननं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः प्रीतिरूपो रागः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । योऽप्रीतिरूपो द्वेषः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यस्तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो मोहः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । ये मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्ययास्ते सर्वेपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यद् ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायरूपं कर्म तत्सर्वमपि

सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । अथ—जीवेन सह कालांतरावस्थानरूपाणि स्थितिबंधस्थानानि कषायोद्रेकरूपाणि संक्लेशस्थानानि कषायमंदोदयरूपाणि विशुद्धिस्थानानि कषायक्रमहानिरूपाणि संयमलब्धिस्थानानि च सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न संति । कस्मात् ? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । अथ—जीवस्य

न्यग्रोधपरिमंडल, स्वातिक, कुब्जक, वामन और हुंडक—ये सब संस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०... । ७ । वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक और असंप्राप्तासृपाटिका सहनन ये भी जीव के नही है, क्योंकि०... । ८ । प्रीतिरूप राग भी जीव का नहीं है, क्योंकि० । ९ । अप्रीतिरूप द्वेष भी जीव का नहीं है, क्योंकि०... । १० । यथार्थ तत्त्व की अप्राप्ति रूप मोह भी जीव का नहीं है, क्योंकि०... । ११ । मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, और योगस्वरूप प्रत्यय (आस्रव) भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि. . । १२ । ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, और अन्तरायस्वरूप कर्म भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०... । १३ । छह पर्याप्तियोंसहित शरीर योग्य वस्तु रूप पुद्गलस्कंध नोकर्म भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि... । १४ । कर्म के रस की शक्ति के अविभाग प्रतिच्छेदों का समूह रूप वर्ग भी जीव का नहीं है, क्योंकि... । १५ । वर्गों का समूहरूप वर्गणा भी जीव की नहीं है, क्योंकि०... । १६ । मंद तीव्र रसरूप कर्म के समूह के विशिष्ट वर्गों की वर्गणा के स्थापनरूप स्पर्धक जीव के नहीं हैं, क्योंकि ... । १७ । स्वपर के एकत्व का अध्यास (मिथ्या आरोप) होने पर विशुद्ध चैतन्य परिणाम से भिन्न लक्षण वाले अध्यात्म स्थान भी जीव के नहीं हैं क्योंकि... । १८ । पृथक् पृथक् विशेष रूप प्रकृतियों के रस रूप जिनका लक्षण है ऐसे अनुभाग स्थान भी जीव के नहीं हैं,

नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यत्षट्पर्याप्तित्रिशरीरयोग्यवस्तुरूपं नोकर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः शक्तिसमूहलक्षणो वर्गः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । या वर्गसमूहलक्षणा वर्गणा सा सर्वापि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि मंदतीव्ररसकर्मदलविशिष्टन्यासलक्षणानि स्पर्द्धकानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि स्वपरैकत्वाध्यासे सति विशुद्धचित्परिणामातिरिक्तत्वलक्षणान्यध्यात्मस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिरसपरिणामलक्षणान्यनुभागस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि कायवाङ्मनोवर्गणापरिस्पंदलक्षणानि योगस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिपरिणामलक्षणानि बंधस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि स्वफलसंपादनसमर्थकर्मावस्थालक्षणान्युदयस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञाहारलक्षणानि मार्गणास्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिकालांतरसहत्वलक्षणानि स्थितिबंधस्थानानि

शुद्धनिश्चयनयेन 'वादरसुहमेइंदी वितिचउरिंदी असण्णिसण्णीणं । पज्जत्तापज्जत्ता एवं ते चउदसा होंति' इति गाथाकथितक्रमेण बादरैकेंद्रियादिचतुर्दशजीवस्थानानि मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानानि च सर्वाण्यपि न संति पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । कुतः इति चेत्, यतः कारणादेते वर्णादिगुणस्थानांता· परिणामा. शुद्धनिश्चय-

---

क्योंकि । १९ । काय, वचन, मनोरूप वर्गणा का चलना जिनका लक्षण है ऐसे योगस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०.... । २० । भिन्न-भिन्न विशेषों को लिये प्रकृतियों के परिणाम जिनका लक्षण है ऐसे बंधस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०.... । । २१ । अपने फल के उत्पन्न करने में समर्थ कर्म की अवस्था जिनका स्वरूप है ऐसे उदय स्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०.... । २२ । गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार जिनका स्वरूप है ऐसे मार्गणास्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि.... । २३ । भिन्न-भिन्न विशेषों को लिये प्रकृतियों का कालान्तर में साथ रहना जिनका लक्षण है ऐसे स्थितिबंध के स्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि.... । २४ । कषाय के विपाक की उत्कृष्टता जिनका लक्षण है ऐसे संक्लेशस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि .... । २५ । कषाय के विपाक की मंदता जिनका लक्षण है ऐसे विशुद्धिस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि० .... । २६ । चारित्रमोह के उदय की क्रम से निवृत्ति जिनका लक्षण है, ऐसे

तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि कषाय-विपाकोद्रेकलक्षणानि संक्लेशस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि कषायविपाकानुद्रेकलक्षणानि विशुद्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि चारित्रमोहविपाकक्रमनिवृत्ति-लक्षणानि संयमलब्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मैकेंद्रियद्वींद्रियत्रींद्रियचतुरिंद्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपंचेंद्रि-यलक्षणानि जीवस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूते-र्भिन्नत्वात् । यानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्त-संयताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणोपशमकक्षपकानिवृत्तिबादरसांपरायोपशमकक्षपकसूक्ष्मसांपरायोपशमकक्ष-पकोपशांतकषायक्षीणकषायसयोगकेवल्ययोगकेवलिलक्षणानि गुणस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् ॥५०॥५१॥५२॥५३॥५४॥५५॥

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः ।
तेनैवांतस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥ ३७ ॥

नयेन पुद्गलद्रव्यस्य पर्याया इति । अयमत्रभावार्थः—सिद्धांतादिशास्त्रेषु अशुद्धपर्यायार्थिकनयेनाभ्यंतरे रागादयो बहिरंगे शरीरवर्णापेक्षया वर्णादयोपि जीवाः इत्युक्ताः । अत्र पुनरध्यात्मशास्त्रे शुद्धनिश्चयनयेन निषिद्धा इत्युभयत्रापि नयविभाग-विवक्षया नास्ति विरोध इति वर्णाद्यभावस्य विशेषव्याख्यानरूपेण सूत्रषट्कं गतं ॥५०॥५१॥५२॥५३॥५४॥५५॥

संयमलब्धिस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०.... । २७ । पर्याप्त, अपर्याप्त, बादर, सूक्ष्म, एकेंद्रिय द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय और संज्ञी, असंज्ञी, पंचेंद्रिय जिनका लक्षण है ऐसे जीवस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०.... ।२८। मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, संयता-संयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोग केवली और अयोगकेवली, जिनका लक्षण है ऐसे सब गुणस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०.... ।२९। इस प्रकार ये सभी पुद्गल द्रव्य के परिणाममय भाव हैं वे सब जीव के नहीं हैं। जीव तो परमार्थ से चैतन्य शक्तिमात्र है ।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-**वर्णाद्या** इत्यादि । **अर्थ**—वर्णादिक अथवा राग-मोहादिक कहे हुए सभी भाव इस पुरुष (आत्मा) से भिन्न हैं, इसी कारण अंतर्दृष्टि से देखने वाले को ये सब नहीं दीखते केवल एक चैतन्यभाव स्वरूप अभेद रूप आत्मा ही दीखता है ।

भावार्थ—परमार्थनय अभेद ही है इसलिये उस दृष्टि से देखने पर भेद नहीं दीखता, उस नयकी दृष्टि में चैतन्य मात्र पुरुष (आत्मा) ही दीखता है इस कारण वे वर्णादिक तथा रागादिक पुरुष से भिन्न ही हैं। वर्ण को आदि लेकर गुणस्थानपर्यंत भावों का स्वरूप विशेषता से जानना हो तो **गोम्मटसार** आदि ग्रंथों से जान लेना ॥५०।५१।५२।५३।५४।५५॥

ननु वर्णादयो यद्यमी न संति जीवस्य तदा तंत्रांतरे कथं संतीति प्रज्ञाप्यंते इति चेत् :—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ।। ५६ ।।

व्यवहारेण त्वेते जीवस्य भवंति वर्णाद्याः ।
गुणस्थानांता भावा न तु केचिन्निश्चयनयस्य ।। ५६ ।।

इह हि व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वाज्जीवस्य पुद्गलसंयोगवशादनादिप्रसिद्धबंध-पर्यायस्य कुसुंभरक्तस्य कार्पासिकवासस इवौपाधिकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य विदधाति। निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति। ततो व्यवहारेण वर्णादयो गुणस्थानांता भावा जीवस्य संति निश्चयेन तु न संतीति युक्ता प्रज्ञप्तिः ।। ५६ ।।

अथ यदुक्तं पूर्वं सिद्धांतादौ जीवस्य वर्णादयो व्यवहारेण कथिता अत्र तु प्राभृतग्रंथे निश्चयनयेन निषिद्धा. तमेवार्थं दृढयति;—व्यवहारनयेन त्वेते जीवस्य भवति वर्णाद्या गुणस्थानांता भावाः पर्याया न तु केऽपि निश्चयनयेनेति ।। ५६ ।। एवं निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण गाथा गता । अथ कस्माज्जीवस्य निश्चयेन वर्णादयो न संतीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति;—**एदेहि य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो** एतैः वर्णादिगुणस्थानांतैः पूर्वोक्तपर्यायैः सह संबंधो यथैव क्षीरनीरसंश्लेषस्तथा मंतव्यः । न चाग्न्युष्णत्वयोरिव तादात्म्यसंबंधः । कुत इति चेत्, **ण य हुंति तस्स ताणि दु** न च भवति तस्य जीवस्य ते तु वर्णादिगुणस्थानाना भावा. पर्याया । कस्मात्, **उवओगगुणाधिगो जम्हा** यस्मा-

---

आगे शिष्य पूछता है कि वर्णादिक भाव जो कहे गये हैं वे यदि जीव के नहीं हैं तो अन्य सिद्धांत ग्रंथों में 'ये जीव के हैं' ऐसा क्यों कहा गया ? उस का उत्तर गाथा में कहते हैं,—**[एते]** ये **[वर्णाद्याः गुणस्थानांताः भावाः]** वर्ण आदि गुणस्थानपर्यंत भाव कहे गये हैं वे **[व्यवहारेण तु]** व्यवहारनय से तो **[जीवस्य भवंति]** जीव के ही होते हैं, इस लिये सूत्र में कहे हैं **[तु]** परन्तु **[निश्चयनयस्य]** निश्चयनय के मत से **[केचित् न]** इन में से कोई भी जीव के नहीं है ।

टीका—यहां पर व्यवहारनय, पर्यायाश्रित होने से पुद्गल के संयोगवश अनादि काल से प्रसिद्ध जिस की बंधपर्याय है ऐसे जीव के 'कुसुम्भ के लाल रंग में रंगे हुए रुई के वस्त्र की भांति' औपाधिक वर्णादिभावों को आलंबन कर प्रवृत्त होता है इसलिये वह व्यवहारनय दूसरे के भावों को दूसरों का कहता है । और निश्चयनय द्रव्य के आश्रय होने से केवल एक जीव के स्वाभाविक भाव को अवलंबन कर प्रवृत्त होता है, वह सब परभावों को परके कहता है, निषेध करता है, इसलिये वर्ण आदि गुणस्थानपर्यंत भाव व्यवहार नय से जीव के हैं, निश्चयनय से नहीं हैं इस प्रकार भगवान् का कथन स्याद्वाद सहित युक्तिपूर्ण है ।। ५६ ।।

कुतो जीवस्य वर्णादयो निश्चयेन न संतीति चेत् :—

एएहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो ।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥ ५७ ॥

एतैश्च संबंधो यथैव क्षीरोदकं ज्ञातव्यः ।
न च भवंति तस्य तानि तूपयोगगुणाधिको यस्मात् ॥ ५७ ॥

यथा खलु सलिलमिश्रितस्य क्षीरस्य सलिलेन सह परस्परावगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षणभूतक्षीरत्वगुणव्याप्यतया सलिलादधिकत्वेन प्रतीयमानत्वादग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्य-लक्षणसंबंधाभावान्न निश्चयेन सलिलमस्ति । तथा वर्णादिपुद्गलद्रव्यपरिणाममिश्रितस्यास्यात्मनः पुद्गलद्रव्येण सह परस्परावगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षणभूतोपयोगगुणव्याप्यतया सर्वद्रव्येभ्योऽधिकत्वेन प्रतीयमानत्वात् अग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावान्न निश्चयेन वर्णादिपुद्गलपरिणामाः जीवस्य संति ॥ ५७ ॥

दुष्णगुणेनाग्निरिव केवलज्ञानदर्शनगुणेनाधिकः परिपूर्ण इति । ननु वर्णादयो बहिरंगास्तत्र व्यवहारेण क्षीरनीरवत्-संश्लेषसंबंधो भवतु नचाभ्यंतराणां रागादीनां तत्राशुद्धनिश्चयेन भवितव्यमिति । नैवं, द्रव्यकर्मबंधापेक्षया योसौ असद्भूत-व्यवहारस्तदपेक्षया तारतम्यज्ञापनार्थं रागादीनामशुद्धनिश्चयो भण्यते । वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्चयोपि व्यवहार एवेति भावार्थः ॥ ५७ ॥

ये वर्णादिक निश्चय से जीव के क्यों नहीं हैं ? उस का कारण कहो, इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं:—**[एतैश्च संबंधः]** इन वर्णादिक भावों के साथ जीव का संबंध **[क्षीरोदकं यथैव]** जल और दूध के एक क्षेत्रावगाह रूप संबंधसदृश **[ज्ञातव्यः]** जानना **[च]** और **[तानि]** वे **[तस्य तु न भवंति]** उस जीव के नहीं हैं **[यस्मात्]** क्योंकि जीव **[उपयोगगुणाधिकः]** इन से उपयोग गुण के कारण अधिक है ।

टीका—जैसे जल से मिला हुआ दूध जल के साथ परस्पर अवगाह स्वरूप संबंध होने पर भी अपने स्वलक्षणभूत क्षीरत्व गुण में व्याप्त होने के कारण पृथक् प्रतीत होता है क्योंकि उस के और दूध के तादात्म्य स्वरूप संबंध का अभाव है । जैसे अग्नि का और उष्णता का तादात्म्यसंबंध है, उस प्रकार दूध और जल का नहीं है, इस कारण निश्चय से दूध का जल नहीं है । उसी प्रकार वर्णादिक पुद्गलद्रव्य के परिणामों से मिला हुआ आत्मा पुद्गलद्रव्य के साथ परस्पर अवगाह स्वरूप संबंध होने पर भी अपने लक्षण स्वरूप उपयोग गुण से व्याप्त होने के कारण सब द्रव्यों से भिन्न प्रतीत होता है । जैसे अग्नि का और उष्णता का तादात्म्य स्वरूप संबंध है, उस प्रकार आत्मा और वर्णादिकों का तादात्म्यसंबंध नहीं है । इस लिये निश्चयनय से वर्णादिक पुद्गल के परिणाम हैं, वे जीव के नहीं हैं ॥ ५७ ॥ यहां पुनः प्रश्न होता है कि इस प्रकार से तो व्यवहारनय और निश्चयनय का विरोध आता है अतः इनमें अविरोध

कथं तर्हि व्यवहारोऽविरोधक इति चेत् :—

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥ ५८ ॥
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ॥ ५९ ॥
गंध[1] रसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥ ६० ॥ (त्रिकलम्)

पथि मुष्यमाणं दृष्ट्वा लोका भणंति व्यवहारिणः ।
मुष्यते एष पंथा न च पंथा मुष्यते कश्चित् ॥ ५८ ॥
तथा जीवे कर्मणां नोकर्मणां च दृष्ट्वा वर्णं ।
जीवस्यैष वर्णो जिनैर्व्यवहारत उक्तः ॥ ५९ ॥
गंधरसस्पर्शरूपाणि देहः संस्थानादयो ये च ।
सर्वे व्यवहारस्य च निश्चयद्रष्टारो व्यपदिशंति ॥ ६० ॥

यथा पथि प्रस्थितं कंचित्सार्थं मुष्यमाणमवलोक्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण मुष्यत एष

अथ तर्हि कृष्णवर्णोयं धवलवर्णोयं पुरुष इति व्यवहारो विरोधं प्राप्नोतीत्येवं पूर्वपक्षे कृते सति व्यवहाराविरोधं दर्शयतीत्येका पातनिका। द्वितीया तु तस्यैव पूर्वोक्तव्यवहारस्य विरोधं लोकप्रसिद्धदृष्टांतद्वारेण परिहरति;—**पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी** पथि मार्गे मुष्यमाणं सार्थं दृष्ट्वा व्यवहारि-

---

किस तरह से कहा जा सकता है? उसका उत्तर दृष्टांत द्वारा तीन गाथाओं से कहते हैं:—**[पथि मुष्यमाणं]** जैसे मार्ग में चलते हुए को लुटा हुआ **[दृष्ट्वा]** देखकर **[व्यवहारिणः]** व्यवहारी **[लोकाः]** जन **[भणंति]** कहते हैं कि **[एष पंथा]** वह मार्ग **[मुष्यते]** लुटता है, वहां परमार्थ से विचारा जाय तो **[कश्चित् पंथाः]** कोई मार्ग **[न च मुष्यते]** नहीं लुटता, जाते हुए लोक ही लुटते हैं **[तथा]** उसी तरह **[जीवे]** जीव में **[कर्मणां नोकर्मणां च]** कर्मों का और नोकर्मों का **[वर्णं]** वर्ण **[दृष्ट्वा]** देखकर **[जीवस्य]** जीव का **[एषः वर्णः]** यह वर्ण है ऐसा **[जिनैः]** जिनदेव ने **[व्यवहारतः]** व्यवहारसे **[उक्तः]** कहा है **[एवं]** इसी प्रकार **[गंधरसस्पर्शरूपाणि]** गंध, रस और स्पर्श रूप **[देहः संस्थानादयः]** देह संस्थान आदिक **[ये च सर्वे]** सभी **[व्यवहारस्य]** व्यवहार से हैं **[निश्चयद्रष्टारः]** ऐसा निश्चयनय के देखने वाले **[व्यपदिशंति]** कहते हैं।

---

१. तात्पर्यवृत्तौ तु 'एवं रसगंध' इत्यादि टीका स्थित पाठः।

पंथा इति व्यवहारिणां व्यपदेशेपि न निश्चयतो विशिष्टाकाशदेशलक्षणः कश्चिदपि पंथा मुष्येत। तथा जीवे बंधपर्यायेणावस्थितं कर्मणो नोकर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण जीवस्यैष वर्ण इति व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेपि न निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणाधिकस्य जीवस्य कश्चिदपि वर्णोऽस्ति। एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननरागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्द्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबंधस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानजीवस्थानगुणस्थानान्यपि व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेपि निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणेनाधिकस्य जीवस्य सर्वाण्यपि न संति तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावात् ॥५८॥५९॥६०॥

लोका भणंति। किं भणंति, **मुस्सदि एसो पंथो** मुष्यत एषः प्रत्यक्षीभूतः पंथाश्चोरैः कर्तृभूतैः **ण य पंथो मुस्सदे कोई** न च विशिष्टशुद्धाकाशलक्षणः पंथा मुष्यते कश्चिदपि किन्तु पथानमाधारीकृत्य तदाधेयभूता जना मुष्यंत इति दृष्टांतगाथा गता। **तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं** तथा तेन पथि सार्थदृष्टांतेन जीवेधिकरणभूते कर्मनोकर्मणां शुक्लादिवर्णं दृष्ट्वा **जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहारदो उत्तो** जीवस्य एष वर्णो जिनैर्व्यवहारतो भणित इति दार्ष्टांतगाथा गता। **एवं रसगंधफासा संठाणादीय जे समुद्दिट्ठा** एवमनेनैव दृष्टांतदार्ष्टांतन्यायेन रसगंधस्पर्शसंस्थानसंहननरागद्वेषमोहादयो ये पूर्वगाथाषट्केन समुद्दिष्टाः **सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति** ते सर्वे व्यवहारनयस्याभिप्रायेण निश्चयज्ञा जीवस्य व्यपदिशंति कथयंतीति नास्ति व्यवहारविरोधः। इति दृष्टांतदार्ष्टांताभ्यां व्यवहारनयसमर्थनरूपेण गाथात्रयं गतं ॥५८॥ ५९ ॥६०॥

टीका—जैसे मार्ग में जाते हुए धनिक को लुटता हुआ देख कोई कहता है कि यह मार्ग लुटता है, वहां उस मार्ग में लुटने से मार्ग का लुटना उपचार से कहा जाता है, ऐसा व्यवहारी लोकों का कहना है। निश्चय से देखा जाय, मार्ग तो आकाश के विशेष प्रदेशों को कहते हैं सो वह तो लुटता नहीं है। वैसे जीव में बंधपर्याय से अवस्थित जो कर्म का और नोकर्म का वर्ण है उसे देखकर जीव में स्थित होने से उस का उपचार से जीव का यह वर्ण है, ऐसे व्यवहार से भगवान् अरहंत देव प्रज्ञापन करते हैं—प्रकट करते हैं, तो भी निश्चय से जीव नित्य ही अमूर्तस्वभाव है और उपयोग गुण के कारण अन्य द्रव्य से भिन्न है, इसलिये उस के कोई वर्ण नहीं है। इसी प्रकार गंध, रस और स्पर्श रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग-द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान, और गुणस्थान—ये सभी व्यवहार से जीव के अरहंत देवने कहे हैं तो भी निश्चय से जीव नित्य ही अमूर्त स्वभाव है—और उपयोग गुण के कारण अन्य से भिन्न है, इसलिये उसके ये सब नहीं हैं क्योंकि इन वर्णादि भावों के और जीव के तादात्म्यलक्षण संबंध का अभाव है।

कुतो जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः संबंधो नास्तीति चेत् :—

तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी ।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ॥ ६१ ॥

तत्र भवे जीवानां संसारस्थानां भवंति वर्णादयः ।
संसारप्रमुक्तानां न संति खलु वर्णादयः केचित् ॥ ६१ ॥

यत्किल सर्वास्वप्यवस्थासु यदात्मकत्वेन व्याप्तं भवति तदात्मकत्वव्याप्तिशून्यं न भवति

एवं शुद्धजीव एवोपादेय इति प्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वादशगाथाभिः द्वितीयातराधिकारो व्याख्यातः। अतः परं जीवस्य निश्चयनयेन वर्णादितादात्म्यसंबंधो नास्तीति पुनरपि दृढीकरणार्थं गाथाष्टकपर्यंतं व्याख्यानं करोति। तत्रादौ संसारिजीवस्य व्यवहारेण वर्णादितादात्म्यं भवति, मुक्तावस्थायां नास्तीति ज्ञापनार्थं **तत्थभवे** इत्यादि सूत्रमेकं। ततःपरं जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीति दुरभिनिवेशे सति जीवाभावो दूषणं प्राप्नोतीति कथनमुख्यत्वेन **जीवो चेवहि** इत्यादिगाथात्रयं। तदनंतरमेकेंद्रियादिचतुर्दशजीवसमासानां जीवेन सह शुद्धनिश्चयनयेन तादात्म्यं

भावार्थ—ये जो वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यन्त भाव कहे हैं, वे सिद्धांत में जीव के कहे हैं, सो व्यवहारनय से कहे गये हैं, निश्चयनय से ये जीव के नहीं हैं। क्योंकि जीव तो परमार्थतः उपयोग स्वरूप है। यहां ऐसा जानना कि पहले व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा है, वहां ऐसा नहीं समझना कि वह सर्वथा असत्यार्थ है कथंचित् असत्यार्थ जानना। क्योंकि जब एक द्रव्य को उसकी भिन्न-भिन्न पर्यायों से अभेद रूप असाधारण गुण मात्र को प्रधानरूप से कहा जाय, तब परस्पर द्रव्यों का निमित्तनैमित्तिक भाव, तथा निमित्त से हुए पर्याय ये सब गौण हो जाते हैं, उस एक अभेदद्रव्य की दृष्टि में उनका प्रतिभास नहीं होता। इसलिये वे सब उस द्रव्य में नहीं हैं, इस प्रकार कथंचित् निषेध किया जाता है। यदि यह कहा जाय कि ये उस द्रव्य में हैं तो व्यवहारनय से कह सकते हैं, ऐसा नयविभाग है। सो यहां शुद्ध द्रव्य की दृष्टि से कथन है इसलिये उन सभी को व्यवहारनय से जीवका कहा है ऐसा सिद्ध किया है। और निमित्तनैमित्तिकभाव की दृष्टि से देखा जाय तो कथंचित् सत्यार्थ भी कहते हैं। यदि सर्वथा असत्यार्थ ही कहें तो सब व्यवहार का लोप हो जायगा, तब परमार्थ का भी लोप हो जायगा। इसलिये जिनदेव का उपदेश स्याद्वाद रूप समझना ही सम्यग्ज्ञान है, सर्वथा एकांत करना मिथ्यात्व है ॥ ५८ । ५९ । ६० ॥

यहां प्रश्न होता है कि वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्य संबंध क्यों नहीं है? उसका उत्तर कहते हैं;—**[वर्णादयः]** वर्ण आदिक हैं वे **[संसारस्थानां जीवानां]** संसार में स्थित जीवों के **[तत्र भवे]** उस संसार में **[भवंति]** होते हैं **[संसारप्रमुक्तानां]** संसार से छूटे हुए (मुक्त हुए) जीवों के **[खलु]** निश्चय कर **[वर्णादयः केचित्]** वर्णादिक कोई भी **[न संति]** नहीं हैं। इसलिये तादात्म्य संबंध भी नहीं है।

टीका—जो निश्चय से सब अवस्थाओं में तत्स्वरूप से व्याप्त हो और उस स्वरूप की व्याप्ति से रहित न हो, उस वस्तु के साथ उन भावों का तादात्म्य संबंध है। इसलिए सब ही अवस्थाओं के

तस्य तैः सह तादात्म्यलक्षणः संबंधः स्यात्। ततः सर्वास्वप्यवस्थासु वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्च पुद्गलस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः संबंधः स्यात्। संसारावस्थायां कथंचिद्वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्चापि मोक्षावस्थायां सर्वथा वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्याभवतश्च जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो न कथंचनापि स्यात् ॥ ६१ ॥

नास्तीति कथनार्थं तथैव वर्णादितादात्म्यनिषेधार्थं च **एक्कं च दोण्णि** इत्यादिगाथात्रयं। ततश्च मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानानामपि जीवेन सह शुद्धनिश्चयनयेन तादात्म्यनिराकरणार्थं, तथैवाभ्यंतरे रागादितादात्म्यनिषेधार्थं च **मोहणकम्म** इत्यादिसूत्रमेकं। एवमष्टगाथाभिस्तृतीयस्थले समुदायपातनिका। तद्यथा—अथ कथं जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धो नास्तीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति;—**तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी** तत्र विवक्षिताविवक्षितभवे संसारस्थानां जीवानामशुद्धनयेन वर्णादयो भवंति **संसारपमुक्काणं** संसारप्रमुक्ताना **णत्थि दु वण्णादओ केई** पुद्गलस्थवर्णादितादात्म्यसम्बन्धाभावात्। केवलज्ञानादिगुणसिद्धत्वादिपर्यायैः सह यथा तादात्म्यसम्बन्धोस्ति तथा वा तादात्म्यसम्बन्धाभावादशुद्धनयेनापि न संति पुनर्वर्णादयः केपि ॥ ६१ ॥ इति वर्णादितादात्म्यनिषेधरूपेण गाथा गता। अथ जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुराग्रहे सति दोषं दर्शयति;—**जीवो चेव हि एदे सव्वे भावत्ति मण्णसे जदि हि** यथानंतज्ञानाव्याबाधसुखादिगुणा एव जीवो भवति वर्णादिगुणा एव पुद्गलस्तथा जीव एव हि स्फुटमेते वर्णादयः सर्वे भावा मनसि मन्यसे यदि चेत् **जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो हि दे कोई** तदा किं दूषणं, विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावजीवस्य जडत्वादिलक्षणाजीवस्य च तस्यैव मते कोपि विशेषो भेदो नास्ति। ततश्च जीवाभावदूषणं प्राप्नोतीति सूत्रार्थः ॥ ६२ ॥ अथ संसारावस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्यसंबंधोस्तीति दुरभिनिवेशेपि जीवाभाव एव दोष इत्युपदिशति;—**जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी** यदि चेत्संसारस्थजीवाना पुद्गलस्येव वर्णादयो गुणास्तव मतेन तवाभिप्रायेणैकांतेन भवंतीति **तम्हा संसारत्था जीवा**

वर्णादि रूप से व्याप्त हुए और वर्णादिक की व्याप्ति से शून्य न हुए पुद्गल द्रव्य का वर्णादिक भावों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। और संसार अवस्था में कथंचित् वर्णादि स्वरूप से हुए तथा वर्णादि स्वरूप की व्याप्ति से शून्य न हुए जीव का मोक्ष अवस्था में सर्वथा वर्णादि स्वरूप की व्याप्ति से शून्य होने के कारण तथा वर्णादि स्वरूप से व्याप्त न होने के कारण वर्णादि भावों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध किसी प्रकार भी नहीं है।

भावार्थ—जो वस्तु जिन भावों से सब अवस्थाओं में व्याप्त हो उस वस्तु का उन भावों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध कहा जाता है। सो वर्णादिक तो पुद्गल की सब अवस्थाओं में व्यापक है और जीव की संसार अवस्था में तो वर्णादिक किसी तरह कह सकते हैं परन्तु मोक्ष अवस्था में सर्वथा ही नहीं। इसलिए जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, ऐसा न्याय है। ६१।

आगे जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य ही है, ऐसा मिथ्या अभिप्राय करे उसमें जो दोष है

जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुरभिनिवेशे दोषश्चायं;—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावात्ति मण्णसे जदि हि।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई॥ ६२॥

जीवश्चैव ह्येते सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि।
जीवस्याजीवस्य च नास्ति विशेषस्तु ते कश्चित्॥ ६२॥

यथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभिः पुद्गलद्रव्यमनुगच्छंतः पुद्गलस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयंति। तथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभिर्जीवमनुगच्छंतो जीवस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयंतीति यस्याभिनिवेशः तस्य शेषद्रव्यासाधारणस्य वर्णाद्यात्मकत्वस्य पुद्गललक्षणस्य जीवेन स्वीकरणाज्जीवपुद्गलयोरविशेषप्रसक्तौ सत्यां पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावाद्भवत्येव जीवाभावः॥६२॥

रूवित्तमावण्णा ततः किं दूषणं, संसारस्थजीवा अमूर्तमनंतज्ञानादिचतुष्टयस्वभावलक्षणं त्यक्त्वा शुक्लकृष्णादिलक्षणं रूपित्वमापन्ना भवंति। अथ—**एवं पुग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमई** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण जीवस्य रूपित्वे सति पुद्गलद्रव्यमेव जीवः नान्यः कोपि विशुद्धचैतन्यचमत्कारमात्रस्तव लक्षणेन तवाभिप्रायेण हे मूढमते न केवलं संसारावस्थायां पुद्गल एव जीवत्वं प्राप्तः **णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो** निर्वाणमुपगतोपि

उसे अगली गाथा में कहते हैं;—[यदि हि] जो तू [इति मन्यसे] ऐसा मानेगा कि [एते भावाः] ये वर्णादिक भाव [सर्वे हि जीवा एव] सभी जीव हैं [तु ते] तो तेरे मत में [जीवस्य च अजीवस्य] जीव और अजीव का [कश्चित्] कोई [विशेषः] भेद [नास्ति] नहीं रहेगा।

टीका—जैसे वर्णादिक भाव हैं, वे अनुक्रम से प्रगट होने (उपजने) वाली और छिपने (नाश होने) वाली उन उन व्यक्तियों पर्यायों से पुद्गल द्रव्य को अन्वय रूप प्राप्त हुए पुद्गल द्रव्य के ही तादात्म्य स्वरूप को विस्तृत करते हैं, उसी प्रकार वर्णादिक भाव क्रम से भावित आविर्भावतिरोभाव वाली पर्यायों से जीव को अन्वयरूप प्राप्त हुए जीव के वर्णादिक के साथ तादात्म्य स्वरूप को विस्तारते हैं ऐसा जिसका अभिप्राय है, उसके अन्य शेष द्रव्यों से असाधारण वर्णादिस्वरूप जो पुद्गल द्रव्य का लक्षण उसको जीव का अङ्गीकार करने से जीव और पुद्गल में अविशेष का प्रसंग होगा। ऐसा होने से पुद्गल से भिन्न जीव द्रव्य का अभाव हो जायगा। तब जीव द्रव्य का ही अभाव हो जायगा।

भावार्थ—जैसे वर्णादि पुद्गल द्रव्य के साथ तादात्म्य स्वरूप हैं, उसी प्रकार जीव के साथ भी तादात्म्य स्वरूप हो जाय तो जीव पुद्गल में कुछ भी भेद न रहे, तब जीव का भी अभाव हो जायगा। यह बड़ा दोष आ जायगा॥ ६२॥

संसारावस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्यमित्यभिनिवेशेप्ययमेव दोषः—

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥ ६३ ॥
एवं पुग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो ॥ ६४ ॥ (युगलं)

अथ संसारस्थानां जीवानां तव भवंति वर्णादयः।
तस्मात्संसारस्था जीवा रूपित्वमापन्नाः ॥ ६३ ॥
एवं पुद्गलद्रव्यं जीवस्तथालक्षणेन मूढमते।
निर्वाणमुपगतोपि च जीवत्वं पुद्गलः प्राप्तः ॥ ६४ ॥

यस्य तु संसारावस्थायां जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीत्यभिनिवेशस्तस्य तदानीं स जीवो रूपित्वमवश्यमवाप्नोति। रूपित्वं च शेषद्रव्यासाधारणं कस्यचिद् द्रव्यस्य लक्षण-

---

पुद्गल एव जीवत्वं प्राप्तः नान्यः कोपि चिद्रूपः। कस्मादिति चेत्, वर्णादितादात्म्यस्य पुद्गलद्रव्यस्यैव निषेधयितुमशक्यत्वादिति भवत्येव जीवाभावः। किंच संसारावस्थायामेकांतेन वर्णादितादात्म्ये सति मोक्ष एव न घटते, कस्मादिति चेत् ? केवलज्ञानादिचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्यैव मोक्षसंज्ञा सा च जीवस्य पुद्गलत्वे सति न संभवतीति भावार्थः

आगे संसार अवस्था में ही जीव को वर्णादिक से तादात्म्य है, ऐसा अभिप्राय होने पर भी यही दोष आता है, ऐसा कहते हैं;—[अथ] अथवा [संसारस्थानां जीवानां] संसार में स्थित जीवों के [तव] तेरे मत में [वर्णादयः] वर्णादिक तादात्म्यस्वरूप [भवंति] हैं [तस्मात्] तो इसी कारण [संसारस्थाः जीवाः] संसार में स्थित जीव [रूपित्वं आपन्नाः] रूपीपने को प्राप्त हो गए। [एवं] ऐसा होने पर [पुद्गलद्रव्यं] पुद्गल द्रव्य ही [जीवः] जीव सिद्ध हुआ [तथालक्षणेन] पुद्गल के लक्षण के समान जीव का लक्षण होने से [मूढमते] हे मूढ बुद्धि [निर्वाणं] निर्वाण को [उपगतोपि च] प्राप्त हुआ [पुद्गलः] पुद्गल ही [जीवत्वं] जीवपने को [प्राप्तः] प्राप्त हुआ।

टीका—जिसके मत में संसार अवस्था में जीव का वर्णादि भावों के साथ तादात्म्य संबंध है, ऐसा अभिप्राय है, उसके संसार अवस्था के समय वह जीव रूपित्व दशा को अवश्य प्राप्त होता है। और रूपित्व किसी द्रव्य का असाधारण (अन्य द्रव्यों से पृथक् कराने वाला लक्षण है।) इसलिये रूपित्व लक्षण मात्र से जो कुछ लक्ष्यमाण है वही जीव है इस तरह रूपित्व से लक्ष्यमाण पुद्गल द्रव्य ही है। इस प्रकार पुद्गल द्रव्य ही आप जीव है अन्य कोई नहीं है। ऐसा होने पर मोक्ष अवस्था में भी पुद्गल द्रव्य ही आप जीव होता है। क्योंकि जो द्रव्य है, वह नित्य अपने लक्षण से लक्षित है, वह सभी अवस्थाओं में अविनाशस्वभाव है इसलिये अनादि निधन है, इस कारण पुद्गल ही जीव है, इससे भिन्न कोई जीव नहीं है।

मस्ति। ततो रूपित्वेन लक्ष्यमाणं यत्किंचिद्भवति स जीवो भवति। रूपित्वेन लक्ष्यमाणं पुद्गलद्रव्यमेव भवति। एवं पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति न पुनरितरः कतरोपि। तथा च सति मोक्षावस्थायामपि नित्यस्वलक्षणलक्षितस्य द्रव्यस्य सर्वास्वप्यवस्थास्वनपायित्वादनादिनिधनत्वेन पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति न पुनरितरः कतरोपि। तथा च सति तस्यापि पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावात् भवत्येव जीवाभावः। एवमेतत् स्थितं यद्वर्णादयो भावा न जीव इति ॥६३।६४॥

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥ ६५ ॥
एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाउ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पुग्गलमईहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो ॥ ६६ ॥ (युग्मम्)

एकं वा द्वे त्रीणि च चत्वारि च पंचेन्द्रियाणि जीवाः।
बादरपर्याप्तेतराः प्रकृतयो नामकर्मणः ॥ ६५ ॥
एताभिश्च निर्वृत्तानि जीवस्थानानि करणभूताभिः।
प्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिस्ताभिः कथं भण्यते जीवः ॥ ६६ ॥

निश्चयतः कर्मकरणयोरभिन्नत्वात् यद्येन क्रियते तत्तदेवेति कृत्वा यथा कनकपत्रं कनकेन

॥ ६३। ६४॥ एवं जीवस्य वर्णादितादात्म्ये सति जीवाभावदूषणद्वारेण गाथात्रयं गतं। अथैवं स्थित बादरसूक्ष्मैकेंद्रियादिसंज्ञिपंचेंद्रियपर्यंतं चतुर्दशजीवस्थानानि शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवंति तथा देहगता वर्णादयोपीत्यावेदयति;—एकद्वित्रिचतु.पंचेंद्रियसंज्ञ्यसंज्ञिबादरपर्याप्तेतराभिधानाः प्रकृतयो भवंति। कस्य संबंधिन्यो नामकर्मण इति। अथ—एताभिरमूर्तातींद्रियनिरजनपरमात्मतत्त्वविलक्षणाभिर्नामकर्मप्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिः

ऐसा होने पर पुद्गलों से भिन्न जीव द्रव्य का अभाव होने से जीव का अभाव ही सिद्ध हुआ। इसलिये यह निश्चित हुआ कि जो वर्णादिक भाव हैं, वे जीव नहीं हैं।

भावार्थ—जो कोई वर्णादि भावों से जीव को ससार अवस्था में भी तादात्म्य सम्बन्ध मानता है, उसके भी जीव का अभाव हो आता है क्योंकि वर्णादिक मूर्तिमान द्रव्य के लक्षण हैं ऐसा मूर्तिमान पुद्गल द्रव्य है यदि वर्णादिक रूप जीव माना जाय, तब जीव भी पुद्गल ही ठहरेगा। जब जीव मुक्त होगा, तब वहाँ भी पुद्गल ही ठहरेगा, तब पुद्गल से भिन्न तो जीव सिद्ध नहीं होगा। इस प्रकार जीव का अभाव सिद्ध होगा। इसलिये वर्णादिक जीव के नहीं हैं ऐसा निश्चय है ॥ ६३। ६४॥

आगे इसी अर्थ को विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं;—**[एकं वा]** एकेंद्रिय **[द्वे]** द्वीद्रिय **[त्रीणि च]** त्रीद्रिय **[चत्वारि च]** चतुरिंद्रिय **[पंचेंद्रियाणि]** पंचेंद्रिय **[जीवाः]** जीव तथा **[बादरपर्याप्तेतराः]** बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त ये जीव हैं वे **[नामकर्मणः]** नाम कर्म की **[प्रकृतयः]**

क्रियमाणं कनकमेव न त्वन्यत्। तथा जीवस्थानानि बादरसूक्ष्मैकेंद्रियद्वित्रिचतुःपंचेंद्रियपर्याप्ता-पर्याप्ताभिधानाभिः पुद्गलमयीभिः नामकर्मप्रकृतिभिः क्रियमाणानि पुद्गल एव न तु जीवः। नामकर्म-प्रकृतीनां पुद्गलमयत्वं चागमप्रसिद्धं दृश्यमानशरीराकारादिमूर्त्तकार्यानुमेयं च। एवं गंधरस-स्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननान्यपि पुद्गलमयनामकर्मप्रकृतिनिर्वृत्तत्वे सति तदव्यतिरेकाज्जी-वस्थानैरेवोक्तानि। ततो न वर्णादयो जीव इति निश्चयसिद्धान्तः ॥६५।६६ ॥

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित्तदेव तत्स्यान्न कथंचनान्यत्।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यंति रुक्मं न कथंचनासिं ॥३८॥

पूर्वोक्ताभिर्निर्वर्तितानि चतुर्दशजीवस्थानानि निश्चयनयेन कथं जीवा भवंति ? न कथमपि। तथाहि—यथा रुक्मेण करणभूतेन निर्वृत्तमसिकोशं तु रुक्ममेव भवति तथा पुद्गलमयप्रकृतिभिर्निष्पन्नानि जीवस्थानानि पुद्गलद्रव्यस्वरूपाण्येव भवंति न च जीवस्वरूपाणि। तथा तेनैव जीवस्थानदृष्टांतेन तदाश्रिता वर्णादयोपि पुद्गलस्वरूपा भवंति, न च जीव-स्वरूपा इत्यभिप्रायः। ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ अथ—ग्रंथांतरे पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मजीवाः कथ्यंते तत्कथं घटत इति पूर्वपक्षे परिहारं ददाति;—**पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव** पर्याप्तापर्याप्ता ये जीवाः कथिताः सूक्ष्मबादरा-

---

प्रकृतियां हैं **[एताभिः च]** इन प्रकृतियों से ही **[करणभूताभिः]** करण स्वरूप होकर **[जीवस्थानानि]** जीवसमास **[निर्वृत्तानि]** रचे गये हैं **[ताभिः]** उन **[पुद्गलमयीभिः]** पुद्गलमय **[प्रकृतिभिः]** प्रकृतियों से रचे हुए को **[जीवः]** जीव **[कथं]** कैसे **[भण्यते]** कह सकते हैं।

टीका—निश्चयनय से कर्म और करण में अभेदभाव है, इस न्याय से जो जिससे किया जाय वह वही है। ऐसा होने पर जैसे सुवर्ण का पत्र सुवर्ण से किया हुआ सुवर्ण ही है, अन्य तो कुछ नहीं उसी प्रकार ये जीवस्थान हैं, वे बादर, सूक्ष्म, एकेंद्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय और पंचेंद्रिय वे सब पर्याप्त अपर्याप्त हैं, वे सभी पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियां हैं, वे करण रूप हैं उनसे किये गये हैं, इसलिये पुद्गल ही हैं, वे जीव नहीं हैं। तथा नामकर्म की प्रकृतियों की पुद्गलमयता आगम में प्रसिद्ध है। और जो प्रत्यक्ष देखने में आने वाले शरीर आदि मूर्तिकभाव हैं वे पुद्गल कर्म प्रकृतियों के कार्य होने के कारण अनुमान प्रमाण से ही सिद्ध है। इसी प्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संह-नन—ये भी नामकर्म की प्रकृतियों द्वारा किए हुए हैं, इसलिए उस पुद्गल से अभेद रूप हैं इसी कारण जीवस्थान पुद्गलमय कहने चाहिए। इस कारण ये वर्णादिक जीव नहीं हैं ऐसा निश्चयनय का सिद्धान्त है।

यहां इसी अर्थ का कलशरूप काव्य है—**निर्वर्त्यते** इत्यादि। **अर्थ**—जिस वस्तु से जो पर्याय निष्पन्न होती है। वह पर्याय उस वस्तु रूप ही है कुछ अन्य वस्तु नहीं है। जैसे सोने से खड्ग का (तलवार का) म्यान बना, उसे लोक सोना ही देखते हैं, खड्ग को तो किसी तरह भी नहीं देखते।

भावार्थ—वर्णादिक पुद्गल से बने हैं वे पुद्गल ही है, जीव नहीं हैं।

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदंतु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
ततोस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यतः स विज्ञानघनस्ततोन्यः ।। ३६ ।।

शेषमन्यद्व्यवहारमात्रं;—

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ।। ६७ ।।

पर्याप्तापर्याप्ता ये सूक्ष्मा बादराश्च ये चैव ।
देहस्य जीवसंज्ञाः सूत्रे व्यवहारतः उक्ताः ।। ६७ ।।

यत्किल बादरसूक्ष्मैकेंद्रियद्वित्रिचतुःपंचेंद्रियपर्याप्तापर्याप्ता इति शरीरस्य संज्ञाः सूत्रे जीवसंज्ञात्वेनोक्ताः अप्रयोजनार्थः परप्रसिद्ध्या घृतघटवद्व्यवहारः । यथा हि कस्यचिदाजन्मप्रसिद्धैकघृतकुंभस्य तदितरकुंभानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं घृतकुंभः स मृण्मयो न घृतमय इति तत्प्रसिद्ध्या कुम्भे घृतकुम्भव्यवहारः तथास्याज्ञानिनो लोकस्यासंसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्य शुद्धजीवानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योयं वर्णादिमान् जीवः स ज्ञानमयो न वर्णादिमयः इति तत्प्रसिद्ध्या जीवे वर्णादिमद्व्यवहारः ।। ६७ ।।

यथैव ये कथिताः **देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता** पर्याप्तापर्याप्तदेहं दृष्ट्वा पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्म-विलक्षणपरमचिज्ज्योतिर्लक्षणशुद्धात्मस्वरूपात्पृथग्भूतस्य देहस्य सा जीवसंज्ञा कथिता । क्व, सूत्रे परमागमे । कस्मात्, व्यवहारादिति नास्ति दोषः । एवंजीवस्थानानि जीवस्थानाश्रिता वर्णादयश्च निश्चयेन जीवस्वरूपं न भवंतीति कथनरूपेण

अब दूसरा काव्य कहते हैं—**वर्णादि** इत्यादि । **अर्थ**—ये वर्णादिक गुणस्थानपर्यंत सभी भाव केवल एक पुद्गल की रचना हैं ऐसा तुम जानो इसलिए ये पुद्गल ही हैं आत्मा नहीं हैं । क्योंकि आत्मा तो विज्ञानघन है ज्ञान का पिण्ड है इस कारण पुद्गल से अन्य है ।। ६५ । ६६ ।।

आगे कहते हैं कि इस ज्ञान घन आत्मा के अतिरिक्त अन्य भावों को जीव कहना सो सब ही व्यवहारमात्र है;—[ये] जो [पर्याप्तापर्याप्ताः] पर्याप्त अपर्याप्त, [ये चैव] और जो [सूक्ष्माः बादराश्च] सूक्ष्म बादर आदि जितनी [देहस्य] देह की [जीवसंज्ञाः] जीव संज्ञाएं कहीं हैं वह सभी [सूत्रे] सूत्र में [व्यवहारतः] व्यवहार नय से [उक्ताः] कहीं हैं ।

टीका—निश्चय से यह जानना कि बादर, सूक्ष्म, एकेंद्रिय, द्वींद्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिंद्रिय, पंचेंद्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त ऐसे शरीर को सूत्र में जीव संज्ञा द्वारा कहा है । वहां पर की प्रसिद्धि से घृत के घड़े की तरह व्यवहार है । यह व्यवहार अप्रयोजनभूत है । उसको दृष्टांत द्वारा स्पष्ट कहते हैं—जैसे कोई पुरुष ऐसा था कि जिसने जन्म से लेकर घी का ही घड़ा देखा था, घृत से खाली भिन्न घट नहीं देखा, उसको समझाने के लिए ऐसा कहते हैं कि यह जो घृत का घट है, वह

घृतकुम्भाभिधानेपि कुम्भो घृतमयो न चेत् ।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेपि न तन्मयः ॥ ४० ॥

एतदपि स्थितमेव यद्रागादयो भावा न जीवा इति;—

मोहणकम्मस्सुदया दु वरिणया जे इमे गुणट्ठाणा ।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥ ६८ ॥

मोहनकर्मण उदयात्तु वर्णितानि यानीमानि गुणस्थानानि ।
तानि कथं भवंति जीवा यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि ॥ ६८ ॥

गाथात्रयं गतं ॥ ६७ ॥ अथ न केवलं बहिरंगवर्णादयो शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवंति अभ्यंतरमिथ्यात्वादिगुणस्थानरूपरागादयोपि न भवंतीति स्थितं;—**मोहणकम्मस्सुदया दु वरिणदा जे इमे गुणट्ठाणा** निर्मोहपरमचैतन्यप्रकाशलक्षणपरमात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतानाद्यविद्याकंदलीकंदायमानसंतानागतमोहकर्मोदयात्सकाशात् यानीमानि वर्णितानि

मिट्टीमय है, घृतमय नहीं है, ऐसे उस पुरुष के घृत के घट की प्रसिद्धि से समझाने वाला भी घृत का घट कहता है ऐसा व्यवहार है। उसी प्रकार इस अज्ञानी प्राणी के अनादि संसार से लेकर अशुद्ध जीव ही प्रसिद्ध है, शुद्ध जीव को नहीं जानता, उसको शुद्ध जीव का ज्ञान कराने के लिए ऐसा सूत्र में कहा है कि जो यह वर्णादिमान् जीव कहा जाता है, वह ज्ञानमय है, वर्णादिमय नहीं है। इस प्रकार उस अज्ञानी प्राणी के वर्णादिमान् प्रसिद्ध है। उस प्रसिद्धि से जीव में वर्णादिमान् होने का व्यवहार सूत्र में किया है।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**घृतकुंभा** । इत्यादि । **अर्थ**—यह घृत का कुंभ है, ऐसा कहने पर भी कुंभ है, वह घृतमय नहीं है मृत्तिकामय ही है, उसी प्रकार जीव वर्णादिमान् है ऐसा कहने पर भी जीव वर्णादिमान् नहीं है, ज्ञानघन ही है।

भावार्थ—जिसने पहले घट को मृत्तिका का नहीं जाना और घृत के भरे घट को लोक घृत का घट कहते हैं ऐसा सुना, वहां यही जाना कि घट घृत का ही कहा जाता है। उसको समझाने के लिए मृत्तिका का घट जानने वाला मृत्तिका का घट कह कर समझाता है। उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा को तो जिसने जाना नहीं और वर्णादिक के सम्बन्ध रूप ही जीव को जाना, उसके समझाने को सूत्र में भी कहा है कि यह वर्णादिमान् तो पुद्गल है। जीव ज्ञानघन है ऐसा जानना।

अब कहते हैं कि जैसे वर्णादिकभाव जीव नहीं हैं, उसी प्रकार यह भी सिद्ध हुआ कि रागादिक भाव भी जीव नहीं हैं;—**[यानि इमानि]** जो ये **[गुणस्थानानि]** गुणस्थान हैं वे **[मोहनकर्मणः उदयात् तु]** मोहकर्म के उदय से होते हैं ऐसे **[वर्णितानि]** सर्वज्ञ के आगम में वर्णन किये गये हैं **[तानि]** वे **[जीवाः]** जीव **[कथं]** कैसे **[भवंति]** हो सकते हैं क्योंकि **[यानि]** ये **[नित्यं]** हमेशा **[अचेतनानि]** अचेतन **[उक्तानि]** कहे हैं।

मिथ्यादृष्ट्यादीनि गुणस्थानानि हि पौद्गलिकमोहकर्मप्रकृतिविपाकपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात् कारणानुविधायीनि कार्याणीति कृत्वा यवपूर्वका यवा यवा एवेति न्यायेन पुद्गल एव न तु जीवः। गुणस्थानानां नित्यमचेतनत्वं चागमाच्चैतन्यस्वभावव्याप्तस्यात्मनोतिरिक्तत्वेन विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वाच्च प्रसाध्यं। एवं रागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्द्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबंधस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबंधस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानान्यपि पुद्गलकर्मपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात्पुद्गल एव न तु जीव इति स्वयमायातं। ततो रागादयो भावा न जीव इति सिद्धं। तर्हि को जीव इति चेत्।

कथितानि गुणस्थानानि। तथा चोक्तं "गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा" **ते कह हवंति जीवा** तानि कथं भवंति जीवा न कथमपि। कथंभूतानि, **ते णिच्चमचेदणा उत्ता** यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयेन नित्यं सर्वकालमचेतनानि। अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मापेक्षयाभ्यंतररागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। इति व्याख्यानं निश्चयव्यवहारनयविचारकाले सर्वत्र ज्ञातव्यं। एवमभ्यंतरे यथा मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानानि जीवस्वरूपं न भवंति तथा रागादयोपि शुद्धजीवस्वरूपं न भवंतीति कथनरूपेणाष्टमगाथा गता ॥ ६८ ॥ एवमष्टगाथाभिस्तृतीयांतराधिकारो व्याख्यातः। ननु रागादयो जीवस्वरूपं न भवंतीति जीवाधिकारे व्याख्यातं अस्मिन्नजीवाधिकारेपि तदेवेति पुनरुक्तमिदं। तन्न, विस्तररुचिशिष्यं प्रति नवाधिकारैः समयसार एव व्याख्यायते न पुनरन्यदिति

टीका—जो ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान हैं, वे पुद्गल रूप मोहकर्म की प्रकृति के उदय होने से होते हैं, इसलिये नित्य ही अचेतन हैं, क्योंकि जैसा कारण होता है, उसी के अनुसार कार्य होता है। जैसे जौ से जौ होते हैं, वे जौ ही है, इस न्याय से वे पुद्गल ही हैं जीव नही हैं। यहां गुणस्थानो की नित्य अचेतनता आगम से सिद्ध है और चैतन्यस्वभाव से व्याप्त आत्मा से भिन्न रूप से भेदज्ञानी पुरुषों के द्वारा स्वयं प्राप्य है, इस हेतु से सिद्ध करना। चैतन्यमात्र आत्मा के अनुभव से ये बाह्य हैं इसलिये अचेतन ही हैं। इसी प्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान ये सभी पुद्गल कर्म पूर्वक होने से नित्य अचेतन होने के कारण पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं, ऐसा स्वयं (अपने आप) सिद्ध हुआ, इसलिये रागादिक भाव जीव नहीं हैं, ऐसा भी सिद्ध हुआ।

भावार्थ—पुद्गल कर्म के उदय के निमित्त से हुए चैतन्य के विकार भी पुद्गल ही हैं क्योंकि शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि में चैतन्य अभेद रूप है और इसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान दर्शन हैं। इस कारण परनिमित्त से जो विकार होते हैं, वे चैतन्यसरीखे दीखते हैं, तो भी चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्यापक नहीं हैं। इसलिये चैतन्य शून्य (जड़) हैं इस तरह जो जड़ है वह पुद्गल है, ऐसा निश्चय हुआ।

अनाद्यनंतमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटं ।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥ ४१ ॥
वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो ।
नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः ।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा ।
व्यक्तं व्यंजितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालंब्यतां ॥ ४२ ॥
जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसंतं ।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृंभितोयं मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥ ४३ ॥

प्रतिज्ञावचनं । तत्रापि समयसारव्याख्यानमात्रापि समयसारव्याख्यानमेव । यदि पुनः समयसारं त्यक्त्वान्यद्व्याख्यायते तदा प्रतिज्ञाभंग इति नास्ति पुनरुक्तं । अथवा भावनाग्रंथे समाधिशतकपरमात्मप्रकाशादिग्रंथवद्रागिणां शृङ्गारकथावद्वा

यहां पूछते हैं कि वर्णादिक और रागादिक जीव नहीं हैं तो जीव क्या है ? उसका उत्तर रूप श्लोक कहते हैं **अनाद्य** इत्यादि । **अर्थ**—जीव है वह चैतन्य है, यह अपने आप अतिशय से चमत्कार रूप प्रकाशमान है । अनादि है, किसी समय में नया नहीं उत्पन्न हुआ, अनंत है जिसका किसी काल में विनाश नहीं है, 'अचल है, चैतन्यपने से अन्य रूप (चलाचल) कभी नहीं होता' स्वसंवेद्य है, आप ही कर जाना जाता है और प्रकट है, छिपा हुआ नहीं है ।

आगे दूसरे लक्षण के अव्याप्ति अतिव्याप्ति दूषणों को दूर करने के लिये काव्य कहते हैं—**वर्णाद्यैः** इत्यादि । **अर्थ**—यदि जीव का लक्षण अमूर्तिक कहा जाय तो अजीव पदार्थ भी दो प्रकार हैं-धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये तो वर्णादि भाव से रहित हैं और पुद्गल वर्णादि सहित है इसलिये अमूर्तिकपने को ग्रहण करके लोक जीव के यथार्थस्वरूप को नहीं देखते । इस में अतिव्याप्ति दोष आता है । वर्णादिक से रागादि का भी ग्रहण है सो रागादिक जीव का लक्षण कहा जाय तो उन की व्याप्ति पुद्गल से ही है, जीव की सब अवस्थाओं में व्याप्ति नहीं इसलिये अव्याप्ति दोष आता है । इस प्रकार भेदज्ञानी पुरुषों ने परीक्षा कर अतिव्याप्ति, अव्याप्ति दोष से रहित चेतनपना ही लक्षण कहा है वही ठीक है । उसी ने जीव का यथार्थस्वरूप प्रकट किया है । जीव तो कभी चलाचल नहीं है, सदा मौजूद है । इसलिये जगत् इसी लक्षण को अवलंबन करे, इसी से यथार्थ जीव का ग्रहण होता है ।

यदि ऐसे लक्षण से जीव प्रकट है तो भी अज्ञानी लोकों को इसका अज्ञान किस तरह रहता है ? उस को आचार्य आश्चर्य तथा खेदसहित कहते हैं—**जीवाद्** इत्यादि **अर्थ**—इस प्रकार पूर्वकथित लक्षण से जीव से अजीव भिन्न है । ज्ञानीजन उसे अपने आप प्रकट उदय हुआ अनुभव करते हैं तो भी अज्ञानी जनों के यह अमर्यादित मोह (अज्ञान) प्रकट फैलता हुआ कैसे अत्यंत नृत्य करता है ? यह हम को बड़ा अचंभा है, तथा खेद है ।

नानट्यतां तथापि—

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्धचैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥ ४४ ॥

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं[1] नाटयित्वा जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः ।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥४५॥

इति जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रांतौ ॥ ६८ ॥

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ
जीवाजीवप्ररूपकः प्रथमोऽङ्कः ॥ १ ॥

पुनरुक्तदोषो नास्ति । अथवा तत्र जीवस्य मुख्यता, अत्राजीवस्य मुख्यता । विवक्षितो मुख्य इति वचनात् । अथवा तत्र सामान्यव्याख्यानमत्र तु विस्तरेण अथवा तत्र रागादिभ्यो भिन्नो जीवो भवतीति विधिमुख्यतया व्याख्यानं, अत्र तु रागादयो जीवस्वरूपं न भवंतीति निषेधमुख्यतया व्याख्यानं । किंवत्, एकत्वान्यत्वानुप्रेक्षाप्रस्तावे विधिनिषेधव्याख्यानवदिति परिहारपंचकं ज्ञातव्यं । एवं जीवाजीवाधिकाररंगभूमौ शृङ्गारसहितपात्रवद्व्यवहारेणैकीभूतौ प्रविष्टौ निश्चयेन तु शृङ्गाररहितपात्रवत्पृथग्भूत्वा निष्क्रांताविति ।

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्याया शुद्धात्मानुभूतिलक्षणाया तात्पर्य-
वृत्तौ स्थलत्रयसमुदायेन त्रिंशद्गाथाभिर्जीवाधिकारः समाप्तः ॥ १ ॥

फिर भी इसका निषेध करते हैं कि मोह नृत्य करता है तो करे तो भी यह जीव ऐसा है—**अस्मिन्** इत्यादि । **अर्थ**—यह अनादि काल का बड़ा अविवेक रूप नृत्य है, उसमें वर्णादिमान् पुद्गल ही नृत्य करता है, अन्य कोई नहीं है । अभेदज्ञान में पुद्गल ही अनेक प्रकार दीखता है, जीव तो अनेक प्रकार नहीं है । यह जीव, रागादिक पुद्गल विकारों से विलक्षण शुद्धचैतन्य-धातुमय-मूर्ति है ।

भावार्थ—रागादि चैतन्य विकार को देख ऐसा भ्रम न करना कि ये भी चैतन्य ही हैं क्योंकि चैतन्य की सब अवस्थाओं में व्याप्त होकर रहें, तब चैतन्य के कहे जायें, सो ऐसा नहीं है, मोक्षअवस्था में इनका अभाव है । तथा इनका अनुभव भी आकुलतामय दुःखरूप है । चैतन्य का अनुभव निराकुल है, वही जीव का स्वभाव है ऐसा जानना ।

आगे भेदज्ञान की प्रवृत्तिपूर्वक यह ज्ञाता द्रव्य आप प्रकट होता है ऐसी महिमा कहकर प्रथम अधिकार को पूर्ण करते हैं । उसका कलश रूप काव्य कहते हैं **इत्थं** इत्यादि । **अर्थ**—इस प्रकार ज्ञान-रूप आरे को चलाने का बारंबार अभ्यास करना, उसको चलाकर जीव और अजीव दोनों स्पष्ट रूप से जब तक पृथक् न हुए तब तक यह ज्ञाता द्रव्य आत्मा, समस्त पदार्थों में व्याप्त होकर तथा प्रकट विकास रूप हुई चैतन्यमात्र शक्ति से अपने आप वेग के अतिशय से प्रकट होकर प्रकाशमान होता है ।

---

१. कलनाद् इति पाठान्तरम् ।

भावार्थ—जीव अजीव दोनों अनादिकाल से संयोग रूप हैं सो अज्ञान से एक सरीखे दीखते हैं। वहां भेदज्ञान के अभ्यास से जब तक प्रकट पृथक् नहीं हुए अर्थात् जीव कर्मों से छूट मोक्ष को प्राप्त न हुआ, तब तक यह ज्ञाताद्रव्य जीव अपनी ज्ञानशक्ति से समस्त वस्तुओं को जानकर अति वेग से आप प्रकट हुआ। यहां ऐसा तात्पर्य है कि सम्यग्दृष्टि होने के बाद जब तक केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता, तब तक तो सर्वज्ञ के आगम से उत्पन्न हुए श्रुतज्ञान से समस्त वस्तुओं का संक्षेप तथा विस्तार से परोक्ष ज्ञान होता है, उस ज्ञान स्वरूप आत्मा का जो अनुभव होता है, वही इसका प्रकट होना है। और जब घातिया कर्मों के नाश से केवलज्ञान प्रकट हो जाता है, तब सब वस्तुओं को साक्षात् प्रत्यक्ष जानता है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा का साक्षात् अनुभव करता है। वही इसका प्रकट होना है। इस प्रकार मोक्ष होने के पूर्व ही आत्मा प्रकाशमान होता है। यह जीव अजीव के पृथक् होने की रीति है। इस प्रकार जीव अजीव का पहला अधिकार पूर्ण हुआ। उसमें टीकाकार ने पहले रंगभूमि का स्थल जुदा कह उसके बाद यह कहा था कि नृत्य के अखाड़े में जीव अजीव दोनों एक होकर प्रवेश करते हैं। दोनों ने एकत्व का स्वांग बनाया है। उस अवसर में भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष ने अपने सम्यग्ज्ञान से दोनों को लक्षण-भेद से परीक्षा कर पृथक् जान लिये, तब स्वांग हो चुका, दोनों पृथक्-पृथक् होके अखाड़े में से बाहर आ गये। ऐसा अलंकार द्वारा वर्णन किया है।

जीव अजीव अनादि संयोग मिलै लखि मूढ़ न आतम पावैं
सम्यक् भेद-विज्ञान भये पुन भिन्न गहै निजभाव सुदावें।
श्रीगुरु के उपदेश सुनै रु भले दिन पाय अज्ञान गमावैं
ते जगमांहि महंत कहाय वसें शिव जाय सुखी नित थावें ॥ १ ॥

इति श्रीपंडितजयचंद्रकृत समयसारग्रंथ की आत्मख्याति टीका की भाषाटीका में पहला **जीवाजीवाधिकार** पूर्ण हुआ ॥ १ ॥

अथ कर्तृकर्माधिकारः ॥ २ ॥

अथ जीवाजीवावेव कर्तृकर्मवेषेण प्रविशतः ।

एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी, इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिं ।
ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यंतधीरं साक्षात्कुर्वन्निरुपधि पृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वं ॥४६॥

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णं पि ।
अण्णाणी तावदु सो कोधादिसु वट्टदे जीवो ॥६९॥
कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि ।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥७०॥ (युग्मं)

यावन्न वेत्ति विशेषांतरं त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि ।
अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्त्तते जीवः ॥ ६९ ॥
क्रोधादिषु वर्त्तमानस्य तस्य कर्मणः संचयो भवति ।
जीवस्यैवं बंधो भणितः खलु सर्वदर्शिभिः ॥ ७० ॥

यथायमात्मा तादात्म्यसिद्धसंबंधयोरात्मज्ञानयोरविशेषाद्भेदमपश्यन्नविशंकमात्मतया

अथ पूर्वोक्तजीवाधिकाररंगभूमौ जीवाजीवावेव यद्यपि शुद्धनिश्चयेन कर्तृकर्मभावरहितौ तथापि व्यवहारनयेन कर्तृकर्मवेषेण शृंगारसहितपात्रवत्प्रविशत इति दंडकान्विहायाष्टाधिकसप्ततिगाथापर्यंतं नवभिः स्थलैर्व्याख्यानं करोतीति पुण्यपापादिसप्तपदार्थपीठिकारूपेण तृतीयाधिकारे समुदायपातनिका। अथवा **जो खलु संसारत्थो जीवो** इत्यादि-

---

दोहा—कर्ताकर्मविभावकूं, मेंटि ज्ञानमय होय ।
कर्म नाशि शिव में बसे, तिन्हें नमूं मद खोय ॥ १ ॥

अब टीकाकार कहते हैं कि, जीव अजीव दोनों एक कर्ता कर्म का वेष धारण करके प्रवेश करते हैं। (जैसे दो पुरुष आपस में कोई स्वांग रच कर नृत्य के अखाड़े में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार यहां अलंकार जानना। उसमें पहले उस स्वांग को ज्ञान यथार्थ जान लेता है, उस की महिमा में काव्य कहते हैं)—**एकः** इत्यादि। **अर्थ**—ज्ञानज्योति प्रकट स्फुरायमान होती है। अज्ञानी, जीवों की ऐसी कर्ता कर्म की प्रवृत्ति है कि इस लोक में मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा तो एक कर्ता हूं और ये क्रोधादिक भाव मेरे कर्म हैं, इस प्रकार कर्ता कर्म की प्रवृत्ति को यह ज्ञानज्योति शमन करती है। जो ज्ञानज्योति उत्कृष्ट उदात्त है, किसी के आधीन नहीं है, अत्यंत धीर है अर्थात् किसी प्रकार की आकुलता नहीं है, और दूसरे की सहायता के बिना भिन्न भिन्न द्रव्यों के प्रकाशित करने का जिस का स्वभाव है इसी कारण समस्त लोकालोक को साक्षात् करती है।

ज्ञाने वर्तते तत्र वर्तमानश्च ज्ञानक्रियायाः स्वभावभूतत्वेनाप्रतिषिद्धत्वाज्जानाति तथा संयोगसिद्ध-संबंधयोरप्यात्मक्रोधाद्यास्रवयोः स्वयमज्ञानेन विशेषमजानन् यावद्भेदं न पश्यति तावदशंकमात्मतया क्रोधादौ वर्तते। तत्र वर्तमानश्च क्रोधादिक्रियाणां परभावभूतत्वात्प्रतिषिद्धत्वेपि स्वभावभूतत्वाध्यासात्क्रुध्यति रज्यते मुह्यति चेति। तदत्र योयमात्मा स्वयमज्ञानभवने ज्ञानभवनमात्रसहजोदासीनावस्थात्यागेन व्याप्रियमाणः प्रतिभाति स कर्ता। यत्तु ज्ञानभवनव्याप्रियमाणत्वेभ्यो भिन्नं क्रियमाणत्वेनांतरुत्प्लवमानं प्रतिभाति क्रोधादि तत्कर्म। एवमियमनादिरज्ञानजा कर्तृकर्म-

---

गाथात्रयेण पुण्यपापादिसप्तपदार्था जीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिवृत्ता न च शुद्धनिश्चयेन शुद्धजीवस्वरूपमिति पंचास्तिकायप्राभृते यत्पूर्वं संक्षेपेण व्याख्यातं तस्यैवेदानीं व्यक्त्यर्थं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकासमुदायकथनं तात्पर्यं कथ्यत इति द्वितीयपातनिका। प्रथमतस्तावत् **जाव ण वेदि विसेसंतरं** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथाषट्कपर्यंतं व्याख्यानं करोति। तत्र गाथाद्वयमज्ञानिजीवमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं, संज्ञानिजीवमुख्यत्वेन कथ्यत इति प्रथमस्थले समुदायपातनिका। तद्यथा—अथ क्रोधाद्यास्रवशुद्धात्मनोर्यावत्कालं भेदविज्ञानं न जानाति तावदज्ञानी भवतीत्यावेदयति;—**जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि** यावत्कालं न वेत्ति न जानाति विशेषांतरं भेदज्ञानं शुद्धात्मक्रोधाद्यास्रवस्वरूपयोर्द्वयोः **अण्णाणी ताव दु सो** तावत्कालपर्यंतमज्ञानी बहिरात्मा भवति। स जीवः। अज्ञानी सन्किं करोति। **कोधादिसु वट्टदे जीवो** यथा ज्ञानमहं इत्यभेदेन वर्तते तथा क्रोधाद्यास्रवरहितनिर्मलात्मानुभूतिलक्षणनिजशुद्धात्मस्वभावात्पृथग्भूतेषु क्रोधादिष्वपि क्रोधोहमित्यभेदेन वर्तते परिणमतीति। अथ—**कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स** उत्तमक्षमादिस्वरूपपरमात्मविलक्षणेषु क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य जीवस्य। किं फलं भवति, **कम्मस्स संचओ होदि** परमात्मप्रच्छादककर्मणः संचयः आस्रव आगमनं भवति। **जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं** तैलम्रक्षिते धूलिसमागमवदास्रवे सति ततो मलादितैलसंबंधेन मलबंधवत्प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणः स्वशुद्धात्मा-

---

भावार्थ—ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा परद्रव्य तथा परभावों के कर्ताकर्मपने के अज्ञान को दूर कर आप प्रकट प्रकाशमान होता है।

आगे कहते हैं कि यह जीव जब तक आस्रव के और आत्मा के भेद को नहीं जानता तब तक अज्ञानी हुआ आस्रवों में आप लीन होकर कर्मों का बंध करता है;—**[जीवः]** यह जीव **[यावत्]** जबतक **[आत्मास्रवयोः द्वयोः अपि तु]** आत्मा और आस्रव इन दोनों के **[विशेषांतरं]** भिन्न भिन्न लक्षण **[न वेत्ति]** नहीं जानता **[तावत्]** तब तक **[स अज्ञानी]** वह अज्ञानी हुआ **[क्रोधादिषु]** क्रोधादिक आस्रवों में **[वर्तते]** प्रवर्तता है। **[क्रोधादिषु]** क्रोधादिकों में **[वर्तमानस्य तस्य]** वर्तते हुए उसके **[कर्मणः]** कर्मों का **[संचयः भवति]** संचय होता है **[एवं]** इस प्रकार **[जीवस्य]** जीव के **[बंधः]** कर्मों का बंध **[सर्वदर्शिभिः]** सर्वज्ञदेवों ने **[भणितः खलु]** निश्चय से कहा है।

टीका—यह आत्मा अपने और ज्ञान के तादात्म्य सिद्ध सम्बन्ध होने के कारण अपने और

प्रवृत्तिः। एवमस्यात्मनः[1] स्वयमज्ञानात्कर्तृकर्मभावेन क्रोधादिषु वर्त्तमानस्य तमेव क्रोधादिवृत्ति-रूपं परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य स्वयमेवपरिणममानं पौद्गलिकं कर्म संचयमुपयाति। एवं जीव-पुद्गलयोः परस्परावगाहलक्षणसम्बन्धात्मा बंधः सिद्ध्येत्। सचानेकात्मकैकसंतानत्वेन निरस्तेतरेत-राश्रयदोषः कर्तृकर्मप्रवृत्तिनिमित्तस्याज्ञानस्य निमित्तं॥ ६९ ॥ ७० ॥

वाप्तिस्वरूपमोक्षविलक्षणो बंधो भवति। जीवस्यैवं खलु स्फुट भणितं सर्वदर्शिभि सर्वज्ञै। किं च यावत्क्रोधाद्यास्रवेभ्यो भिन्नं शुद्धात्मस्वरूपं स्वसंवेदनज्ञानबलेन न जानाति तावत्कालमज्ञानी भवति। अज्ञानी सन् अज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिं न मुंचति तस्माद्बन्धो भवति। बंधात्संसारं परिभ्रमतीत्यभिप्राय। एवमज्ञानिजीवस्वरूपकथनरूपेण गाथाद्वयं गतं॥६९॥७०॥

ज्ञान में भेद नहीं देखता; अतः ज्ञान में निःशंक होकर आत्म रूप से प्रवृत्त होना है।

वहां प्रवर्तन करने वाले के ज्ञान क्रिया रूप प्रवृत्ति स्वभावभूत है, अतः परके निमित्त से न होने के कारण उसका निषेध नहीं है। इसलिये उस ज्ञान क्रिया से जानता है। यह विभाव परिणति नहीं है। जिस प्रकार ज्ञान क्रिया रूप परिणमन करता है, उसी प्रकार सयोग सिद्ध सम्बन्ध रूप जो आत्मा और क्रोधादिक आस्रव उनमे भी अपने अज्ञान से विशेष भेद न जानता हुआ जब तक भेद नहीं देखता तब तक निःशंक होकर क्रोधादि में आत्म रूप से प्रवृत्ति करता है। वहां प्रवृत्ति करते हुए उसके जो क्रोधादि क्रिया है वह परभाव से हुई है, इसलिये वे क्रोधादि प्रतिषेध रूप है तो भी उनमे स्वभाव का अध्यास है। इस कारण आप क्रोध, राग और मोहरूप परिणमन करता है। अतः आत्मा अपने अज्ञान भाव से परि-णमन मात्र स्वभावजन्य उदासीन-ज्ञाता-दृष्टा मात्र अवस्था का त्याग कर क्रोधादि व्यापार रूप परिणमन करता हुआ प्रतिभासित होता है, इसलिये कर्मों का कर्ता है। तथा जो ज्ञान परिणमन रूप प्रवर्तने से पृथक् किये गये अंतरंग मे उत्पन्न क्रोधादिक प्रतिभासित होते है, वे उस कर्ता के कर्म है। इस प्रकार यह अनादि काल से हुई इस आत्मा की कर्ता कर्म की प्रवृत्ति है। ऐसे अपने अज्ञान भाव से कर्ता कर्म भाव कर क्रोधादिकों में वर्तमान जो यह आत्मा उसके क्रोधादिक की प्रवृत्ति रूप परिणाम को निमित्तमात्र कर अपने आप ही परिणमता हुआ पुद्गलमय कर्म का सचय करता है। इस भांति जीव के और पुद्गल के परस्पर अवगाह लक्षण सम्बन्ध स्वरूप बध सिद्ध होता है। वही बध अनेक वस्तु का एकरूप हो परम्परा से इतरेतराश्रय दोष रहित है। वही बध कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति का निमित्त जो अज्ञान उसका निमित्त कारण है।

भावार्थ—यह आत्मा जैसे अपने ज्ञान स्वभाव रूप परिणमन करता है उसी प्रकार क्रोधादि रूप भी परिणमन करता है, ज्ञान में और क्रोधादिक में जब तक भेद नहीं जानता तब तक इसके कर्ता कर्म की प्रवृत्ति है। क्रोधादि रूप परिणमन करता हुआ आप तो कर्ता है और वे क्रोधादिक इसके कर्म हैं। अनादि अज्ञान से कर्ता कर्म की प्रवृत्ति है और कर्ता कर्म की प्रवृत्ति से बध है तथा उसकी संतान

---

१. 'एवमप्यात्मनः' इत्यपिपाठः।

कदाऽस्याः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तिरिति चेत् :—

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ।। ७१ ।।

यदानेन जीवेनात्मनः आस्रवाणां च तथैव ।
ज्ञातं भवति विशेषांतरं तु तदा न बंधस्तस्य ।। ७१ ।।

इह किल स्वभावमात्रं वस्तु, स्वस्य भवनं तु स्वभावः, तेन ज्ञानस्य भवनं खल्वात्मा । क्रोधादेर्भवनं क्रोधादिः । अथ ज्ञानस्य यद्भवनं तन्न क्रोधादेरपि भवनं यतो यथा ज्ञानभवने ज्ञानं भवद्विभाव्यते न तथा क्रोधादिरपि । यत्तु क्रोधादेर्भवनं तन्न ज्ञानस्यापि भवनं यतो यथा क्रोधादि-भवने क्रोधादयो भवंतो विभाव्यंते न तथा ज्ञानमपि इत्यात्मनः क्रोधादीनां च न खल्वेकवस्तुत्वं

अथ कदा कालेऽस्याः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तिरित्येवं पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति.—**जइया** यदा श्रीधर्मलब्धिकाले **इमेण जीवेण** अनेन प्रत्यक्षीभूतेन जीवेन **अप्पणो आसवाण य तहेव णादं होदि विसेसंतरं तु** यथा शुद्धात्मनस्तथैव कामक्रोधाद्यास्रवाणां च ज्ञातं भवति विशेषांतरं भेदज्ञानं **तइया** तदा काले सम्यग्ज्ञानी भवति। सम्यग्ज्ञानी सन् किं करोति,

---

(परम्परा) अज्ञान है । अतः अनादि सतान है । इस प्रकार इसमें इतरेतराश्रय दोष भी नही है । ऐसे जब तक आत्मा क्रोधादिक कर्म का कर्ता होकर परिणमन करता है, तब तक कर्ता कर्म की प्रवृत्ति है और तभी तक कर्म का बंध होता है । ६९ । ७० ।

यहां प्रश्न होता है कि इस कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति का अभाव किस काल में होता है, उसका उत्तर कहते है :—**[यदा]** जिस समय **[अनेन जीवेन]** इस जीव को **[आत्मनः]** अपना **[तथैव च]** और **[आस्रवाणां]** आस्रवों का **[विशेषांतरं]** भिन्नलक्षण **[ज्ञातं भवति]** मालूम हो जाता है **[तदा तु]** उसी समय **[तस्य]** उसके **[बंधः न]** बंध नहीं होता ।

टीका—इस लोक में वस्तु अपने स्वभावमात्र है और अपने भाव का होना ही स्वभाव है इसलिये यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान का जो होना—परिणमना, वह आत्मा है तथा क्रोधादिक का होना—परिणमना क्रोधादिक हैं । ऐसा होने से जो ज्ञान का परिणमन है, वह क्रोधादि का परिणमन नहीं है क्योंकि जैसे ज्ञान होने पर ज्ञान ही हुआ मालूम होता है वैसे क्रोधादिक नहीं मालूम होते । जो क्रोधादिक का परिणमन है, वह ज्ञान का परिणमन नहीं है क्योंकि क्रोधादिक होने पर क्रोधादिक हुए ही प्रतीत होते हैं, ज्ञान हुआ मालूम नहीं होता । इस प्रकार क्रोधादिक और ज्ञान इन दोनों के निश्चय से एक वस्तुत्व नहीं है । अतः आत्मा और आस्रवों का भेद देखने से जिस समय भेद जानता है, उस समय इसके (आत्मा) अनादिकाल से उत्पन्न हुई पर में कर्ता कर्म की प्रवृत्ति निवृत्त हो जाती है । और उसकी निवृत्ति होने पर

इत्येवमात्मात्मास्रवयोर्विशेषदर्शनेन यदा भेदं जानाति तदास्यानादिरप्यज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्ति-निवर्तते तन्निवृत्तावज्ञाननिमित्तं पुद्गलद्रव्यकर्मबंधोपि निवर्तते। तथा सति ज्ञानमात्रादेव बंधनि-रोधः सिद्ध्येत् ॥ ७१ ॥

कथं ज्ञानमात्रादेव बंधनिरोध इति चेत्;—

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥ ७२ ॥

ज्ञात्वा आस्रवाणामशुचित्वं च विपरीतभावं च।
दुःखस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीवः ॥ ७२ ॥

जले जंबालवत्कलुषत्वेनोपलभ्यमानत्वादशुचयः खल्वास्रवाः भगवानात्मा तु नित्यमेवाति-

---

अहं कर्ता भावक्रोधादिरूपमंतरंगं मम कर्मेत्यज्ञानजां कर्तृकर्मप्रवृत्तिं मुंचति। ततः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तौ सत्यां निर्वि-कल्पसमाधौ सति **ण बंधो** न बंधो भवति **से** तस्य जीवस्येति ॥ ७१ ॥ अथ कथं ज्ञानमात्रादेव बंधनिरोध इति पूर्वपक्षे कृते परिहारं ददाति;—क्रोधाद्यास्रवाणां संबंधि कालुष्यरूपमशुचित्वं जडत्वरूपं, विपरीतभावं, व्याकुल-

---

अज्ञान के निमित्त से हुआ जो पुद्गलद्रव्य कर्म का बंध है वह भी निवृत्त हो जाता है। ऐसा होने पर ज्ञानमात्र से ही बंध का निरोध सिद्ध होता है।

भावार्थ—क्रोधादिक और ज्ञान पृथक्-पृथक् वस्तु हैं। ज्ञान में क्रोधादिक नहीं, हैं, क्रोधादिक में ज्ञान नहीं है। इस प्रकार इनका भेदज्ञान हो जाता है, तब एकत्व का अज्ञान मिट जाता है, तभी कर्म का बंध भी नहीं होता। इस प्रकार ज्ञान से ही बंध का निरोध होता है ॥ ७१ ॥

आगे पूछते हैं कि ज्ञान मात्र से ही बंध का निरोध किस प्रकार है? उसका उत्तर कहते हैं;—**[आस्रवाणां च]** आस्रवों का **[अशुचित्वं]** अशुचिपना **[च विपरीतभावं]** और विपरीतपना **[च दुःखस्य कारणानि इति]** तथा ये दुःख के कारण हैं ऐसा **[ज्ञात्वा]** जानकर **[जीवः]** यह जीव **[ततो निवृत्तिं]** उनसे निवृत्ति **[करोति]** करता है।

टीका—जैसे जल में सेवाल मलिन होने से जल को मैला दिखलाती है, उसी प्रकार ये आस्रव भी कलुषता से प्राप्यमान हैं; आप मलिन हैं, इसलिये आत्मा को भी मलिन अनुभव कराते हैं। आत्मा ज्ञानवान् है। वह सदा अति निर्मल चैतन्य भाव से उसका ज्ञापक है इस कारण अत्यंत पवित्र है, उज्ज्वल है। और आस्रव हैं वे आत्मा से भिन्न स्वभाव हैं, ज्ञेय हैं अर्थात् जड़ स्वभाव होने से पर से जानने योग्य हैं। जो जड़ होता है, वह अपने को तथा पर को नहीं जानता, उसको दूसरा ही जानता है और आत्मा सदा ही विज्ञानघनस्वभाव है इसलिये आप ज्ञाता है, ज्ञान से अनन्य स्वभाव है (आस्रवों से अन्य स्वभाव है,) अपने को पर को जानता है। आस्रव दुःख के कारण हैं इसलिये आत्मा को आकुलता के उपजाने वाले हैं और भगवान् आत्मा सदा ही निराकुल स्वभाव है; इस कारण किसी का न तो कार्य है और

निर्मलचिन्मात्रत्वेनोपलंभकत्वादत्यंतं शुचिरेव जडस्वभावत्वे सति परचेत्यत्वादन्यस्वभावाः खल्वास्रवाः भगवानात्मा तु नित्यमेव विज्ञानघनस्वभावत्वे सति स्वयं चेतकत्वादनन्यस्वभाव[1] एव। आकुलत्वोत्पादकत्वाद् दुःखस्य कारणानि खल्वास्रवाः भगवानात्मा तु नित्यमेवानाकुलत्वस्वभावेनाकार्यकारणत्वाद् दुःखस्याकारणमेव। इत्येवं विशेषदर्शनेन यदैवायमात्मास्रवयोर्भेदं जानाति तदैव क्रोधादिभ्य आस्रवेभ्यो निवर्त्तते। तेभ्योऽनिवर्त्तमानस्य पारमार्थिकतद्भेदज्ञानासिद्धेः। ततः क्रोधाद्यास्रवनिवृत्त्यविनाभाविनो ज्ञानमात्रादेवाज्ञानजस्य पौद्गलिकस्य कर्मणो बंधनिरोधः सिद्ध्येत्। किंच यदिदमात्मास्रवयोर्भेदज्ञानं तत्किमज्ञानं किं वा ज्ञानं? यद्यज्ञानं तदा तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः।

स्वलक्षणं दुःखकारणत्वं च ज्ञात्वा तथैव निजात्मनः संबंधि निर्मलात्मानुभूतिरूपं शुचित्वं सहजशुद्धाखंडकेवलज्ञानरूपं ज्ञातृत्वमनाकुलत्वलक्षणानंतसुखत्वं च ज्ञात्वा ततश्च स्वसंवेदनज्ञानानंतरं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यपरिणतिरूपे परमसामयिके स्थित्वा क्रोधाद्यास्रवाणां निवृत्ति करोति जीवः। इति ज्ञानमात्रादेव बंधनिरोधो भवति नास्ति सांख्यादिमतप्रवेशः। किं च यच्चात्मास्रवयोः सम्बन्धि भेदज्ञानं तद्रागाद्यास्रवेभ्यो निवृत्तं न वेति निवृत्तं चेत्तर्हि तस्य भेदज्ञानस्य मध्ये पानकवदभेदनयेन वीतरागचारित्रं वीतरागसम्यक्त्वं च लभ्यत इति सम्यग्ज्ञानादेव बंधनिरोधसिद्धिः। यदि रागादिभ्यो निवृत्तं न भवति तदा तत्सम्यग्भेदज्ञानमेव न भवतीति भावार्थः ॥ ७२ ॥ अथ केन भावनाप्रकारेणायमात्मा क्रोधाद्यास्रवेभ्यो निवर्त्तते इति चेत्;—**अहं** निश्चयनयेन स्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षं शुद्धचिन्मात्र-

न किसी का कारण है इसलिये दुःख का भी कारण नहीं है। इस प्रकार आत्मा और आस्रवों के तीन विशेषणों द्वारा भेद देखने से जिस समय भेद जान लिया, उसी समय वह क्रोधादिक आस्रवों से निवृत्त हो जाता है। और उन से जब तक निवृत्त नहीं होता, तब तक उस आत्मा के पारमार्थिक सच्ची भेदज्ञान की सिद्धि नहीं होती। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि क्रोधादिक आस्रवों की निवृत्ति से अविनाभावी जो ज्ञान, उसी से अज्ञान जन्य पौद्गलिक कर्मबंध का निरोध होता है। यहां यह विशेष जानना कि यह आत्मा और आस्रव का भेद है वह अज्ञान है कि ज्ञान? यदि अज्ञान है तो आस्रव से अभेद हुआ, विशेष नहीं हुआ, तथा यदि ज्ञान है तो आस्रवों में प्रवृत्ति रूप है या उनसे निवृत्ति रूप है? यदि आस्रवों में प्रवर्तता है तो ज्ञान आस्रवों से अभेद रूप अज्ञान ही है, इससे भी विशेषता नहीं हुई और जो आस्रवों से निवृत्ति रूप है तो ज्ञान से ही बंध का निरोध क्यों नहीं कह सकते? सिद्ध हुआ ही कह सकते हैं। ऐसा सिद्ध होने पर अज्ञान के अंश क्रियानय का खण्डन हुआ। तथा जो आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान है वह भी आस्रवों से निवृत्ति न हुआ तो वह ज्ञान ही नहीं है, ऐसा कहने से ज्ञान के अंश ज्ञाननय का निराकरण हुआ।

भावार्थ—आस्रव अशुचि हैं, जड़ हैं, दुःख के कारण हैं, और आत्मा पवित्र है, ज्ञाता है, सुख स्वरूप है। ऐसे दोनों को लक्षण भेद से भिन्न जानकर आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है, उसके कर्म का बंध नहीं होता क्योंकि यदि ऐसा जानने से भी निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है, अज्ञान ही है। यहाँ कोई प्रश्न करे कि अविरतसम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी प्रकृतियों का तो

१. अन्यस्वभाव एव इति पाठान्तरम्।

ज्ञानं चेत् किमास्रवेषु प्रवृत्तं किंवास्रवेभ्यो निवृत्तं ? आस्रवेषु प्रवृत्तं चेत्तदपि तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। आस्रवेभ्यो निवृत्तं चेत्तर्हि कथं न ज्ञानादेव बंधनिरोधः इति निरस्तोऽज्ञानांशः क्रियानयः। यस्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानांशो ज्ञाननयोपि निरस्तः[1] ॥ ७२ ॥

परपरणतिमुज्झत् खंडयद्भेदवादानिदमुदितमखंडं ज्ञानमुच्चंडमुच्चैः।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्तेरिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबंधः ॥ ४७ ॥

ज्योतिरहं **इक्को** अनाद्यनंतटंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वादेकः **खलु** स्फुट **शुद्धो य:** कर्तृकर्मकरणसप्रदानापादानाधिकरणषट्कारकीयविकल्पचक्ररहितत्वाच्छुद्धश्च **णिम्ममो** निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वविलक्षणमोहोदयजनितक्रोधादिकषायचक्रस्वामित्वाभावान् ममत्वरहित:। **णाणदंसणसमग्गो** प्रत्यक्षप्रतिभासमयविशुद्धज्ञानदर्शनाभ्यां समग्र परिपूर्ण:। एवं गुण-

---

आस्रव नही होता परन्तु अन्य प्रकृतियों का तो आस्रव पूर्वक बंध होता है, वह ज्ञानी है या अज्ञानी ? उसका समाधान--जो इसके प्रकृतियों का बंध होता है, वह अभिप्राय पूर्वक नही है, सम्यग्दृष्टि होने के पश्चात् परद्रव्य के स्वामित्व का अभाव है। इस कारण जब तक इसके चारित्रमोह का उदय है तब तक उसके उदय के अनुसार आस्रव-बंध होते हैं, उसका स्वामित्व नहीं है। वह अभिप्राय मे निवृत्त होना ही चाहता है इसलिए ज्ञानी ही कहा जाता है। यहां मिथ्यात्व सम्बन्धी बध ही अनत ससार का कारण है, वही प्रधानता से विवक्षित है। जो अविरतादिक से बंध होता है, वह अल्पस्थिति अनुभाग रूप है, दीर्घ संसार का कारण नही है इसलिए प्रधान नही गिना जाता। ज्ञान बंध का कारण नही है। जब तक ज्ञान में मिथ्यात्व का उदय था तब तक अज्ञान कहलाता था, मिथ्यात्व चले जाने के बाद अज्ञान नहीं, ज्ञान ही है। इसमे जो कुछ चारित्रमोह सम्बन्धी विकार है, उसका स्वामी ज्ञानी नही बनता, इसी कारण ज्ञानी के बध नही है। विकार बध रूप है, वह बंध की पद्धति मे है, ज्ञान की पद्धति में नहीं है।

इसी अर्थ का समर्थन आगे की गाथा मे होगा। यहा पर कलश रूप काव्य कहा है। **परपरणति** इत्यादि। **अर्थ**--ज्ञान प्रत्यक्ष उदय को प्राप्त हुआ है, जिसमें ज्ञेय के निमित्त से तथा क्षयोपशम के विशेष से अनेक खंड रूप आकार प्रतिभासित होते थे, उनका खण्डन करके ज्ञान मात्र आकार अनुभव में आया इसी से 'अखंड' ऐसा विशेषण कहा है। जो मतिज्ञान आदि अनेक भेद कहे जाते थे, उनको दूर करके उदय हुआ है इसी से "अखड" विशेषण है; पर के निमित्त से रागादिरूप परिणमन करता था, उस परिणति को छोड़ कर उदय हुआ है, तथा अतिशय प्रचंड है, पर के निमित्त से रागादिरूप नही परिणमन करता, वलवान् है। आचार्य कहते है कि अहो ऐसे ज्ञान में परद्रव्य के कर्ता कर्म की प्रवृत्ति का अवकाश कैसे हो सकता है तथा पौद्गलिक कर्म बध भी कैसे हो सकता है ? नहीं होता।

---

१ एकान्तेन ज्ञानमपि न बन्धनिरोधकं, एकान्तेन क्रियापि न बन्धनिरोधिका इति सिद्धं। उभाभ्यामेव मोक्षः। इति नया मंदिर धर्मपुरा प्राचीन प्रतौ टिप्पणं।

केन विधिनायमास्रवेभ्यो निवर्त्तत इति चेत्;—

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममश्रो णाणदंसणसमग्गो ।
तह्मि ठिश्रो तच्चित्तो सव्वे एए खयं णेमि ॥ ७३ ॥

अहमेकः खलु शुद्धः निर्ममतः ज्ञानदर्शनसमग्रः ।
तस्मिन् स्थितस्तच्चित्तः सर्वानेतान् क्षयं नयामि ॥ ७३ ॥

अहमयमात्मा प्रत्यक्षमक्षुण्णमनंतं चिन्मात्रं ज्योतिरनाद्यनंतनित्योदितविज्ञानघनस्वभावभावत्वादेकः । सकलकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः । पुद्गलस्वामिकस्य क्रोधादिभाववैश्वरूपस्य स्वस्य स्वामित्वेन नित्यमेवापरिणमनान्निर्ममतः । चिन्मात्रस्य महसो वस्तुस्वभावत एव सामान्यविशेषाभ्यां सकलत्वाद् ज्ञानदर्शनसमग्रः । गगनादिवत्पारमार्थिको

विशिष्टपदार्थविशेषोस्मि भवामि । **तह्मि ठिदो** तस्मिन्नुक्तलक्षणे शुद्धात्मस्वरूपे स्थितः । **तच्चित्तो** तच्चित्तः सहजानदैकलक्षणसुखसमरसीभावेन तन्मयो भूत्वा **सव्वे एदे खयं णेमि** सर्वानेतान्निरास्रवपरमात्मपदार्थपृथग्भूतांस्तान्

भावार्थ—कर्म बंध तो अज्ञान से हुए कर्ता कर्म की प्रवृत्ति से था । भेद भाव को और परपरिणति को दूर कर एकाकार ज्ञान प्रकट हुआ तब भेद रूप कारक की प्रवृत्ति मिट गई तब कैसे बंध हो सकता है ? नही हो सकता ॥ ७२ ॥

आगे शिष्य पूछता है कि आस्रवो से किस तरह निवृत्ति होती है ? उसका उत्तर रूप गाथा कहते हैं;—ज्ञानी विचारता है कि **[अहं]** मैं **[खलु एकः]** निश्चय से एक हूँ **[शुद्धः]** शुद्ध हूँ **[निर्ममतः]** ममता रहित हूँ **[ज्ञानदर्शनसमग्रः]** ज्ञान दर्शन से पूर्ण हूँ **[तस्मिन् स्थितः]** ऐसे स्वभाव में स्थित **[तच्चित्तः]** उसी चैतन्य अनुभव में लीन हुआ **[एतान्]** इन **[सर्वान्]** क्रोधादिक सब आस्रवों को **[क्षयं]** क्षय **[नयामि]** कर देता हूँ ।

टीका—यह मैं आतमा हूँ सो प्रत्यक्ष अखंड, अनंत, चैतन्यमात्र ज्योति हूँ। अनादि, अनंत, नित्य उदयरूप, विज्ञानघन स्वभाव रूप से तो एक हूँ और समस्त कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण स्वरूप जो कारकों का समूह उसकी प्रक्रिया से पार उतरा दूरवर्ती निर्मल चैतन्य अनुभूति मात्र रूप से शुद्ध हूँ । जिनका पुद्गल द्रव्य स्वामी है ऐसे जो क्रोधादि भाव, उनकी विश्वरूपता (समस्तरूपता) उसका स्वामित्व से सदा ही अपने नहीं परिणमने के कारण उनसे ममता रहित हूँ । तथा वस्तु का स्वभाव सामान्य विशेष स्वरूप है इसलिए चैतन्यमात्र तेज पुंज भी वस्तु है इस कारण सामान्यविशेष स्वरूप जो ज्ञानदर्शन उनसे पूर्ण हूँ । ऐसा आकाशादि द्रव्य की तरह परमार्थ स्वरूप वस्तु विशेष हूं । इसलिये मैं इसी आत्मस्वभाव में समस्त परद्रव्य से प्रवृत्ति की निवृत्ति करके निश्चल स्थित हुआ समस्त परद्रव्य के निमित्त से जो विशेष रूप चैतन्य में चंचल कल्लोलें होतीं

वस्तुविशेषोस्मि तदहमधुनास्मिन्नेवात्मनि निखिलपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्त्या निश्चलमवतिष्ठमानः सकलपरद्रव्यनिमित्तकविशेषचेतनचंचलकल्लोलनिरोधेनेममेव चेतयमानः स्वाज्ञानेनात्मन्युत्प्लवमानानेतान् भावानखिलानेव क्षपयामीत्यात्मनि निश्चित्य चिरसंगृहीतमुक्तपोतपात्रः समुद्रावर्त इव झगित्येवोद्वांतसमस्तविकल्पोऽकल्पितमचलितममलमात्मानमालंबमानो विज्ञानघनभूतः खल्वयमात्मास्रवेभ्यो निवर्तते ॥ ७३ ॥

कथं ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वमिति चेत्;—

जीवणिवद्धा एए अधुव अणिच्चा तहा असरणा य ।
दुक्खा दुक्खफलात्ति य णादूण णिवत्तए तेहिं ॥ ७४ ॥

जीवनिबद्धा एते अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च ।
दुःखानि दुःखफला इति च ज्ञात्वा निवर्तते तेभ्यः ॥ ७४ ॥

जतुपादपवद्वध्यघातकस्वभावत्वाज्जीवनिबद्धाः खल्वास्रवाः, न पुनरविरुद्धस्वभावत्वाभावाज्जीव एव । अपस्माररयवद्वर्द्धमानहीयमानत्वादध्रुवाः खल्वास्रवाः ध्रुवश्चिन्मात्रो जीव एव ।

कामक्रोधाद्यास्रवान् क्षयं विनाशं नयामि प्रापयामीत्यर्थः ॥ ७३ ॥ अथ यस्मिन्नेव काले स्वसंवेदनज्ञानं तस्मिन्नेव काले रागाद्यास्रवनिवृत्तिरिति समानकालत्वं दर्शयति;—**एदे जीवणिबद्धा** एते क्रोधाद्यास्रवा जीवेन सह निबद्धा संबद्धा औपाधिकाः । न पुनः निरुपाधिस्फटिकवच्छुद्धजीवस्वभावाः । **अधुव** विद्युच्चमत्कारवदध्रुवा अतीव्रक्षणिकाः । ध्रुव. शुद्धजीव एव । **अणिच्चा** शीतोष्णज्वरावेशवदध्रुवापेक्षया क्रमेण स्थिरत्वं न गच्छंतीत्यनित्या विनश्वराः नित्यश्चिच्चम-

---

थीं, उनके निरोध से इस चैतन्य स्वरूप को ही अनुभव करता हुआ अपने ही अज्ञान से आत्मा में उत्पन्न क्रोधादिक भावों को क्षय करता हूं ऐसा आत्मा में निश्चय कर तथा जैसे बहुत काल का ग्रहण किया जो जहाज था, वह जिसने छोड़ दिया है, ऐसे समुद्र के भंवर की तरह शीघ्र ही दूर किये हैं समस्त विकल्प जिसने, ऐसा निर्विकल्प, अचलित, निर्मल आत्मा को अवलंबन करता विज्ञानघन हुआ यह आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है ।

भावार्थ—शुद्धनय से ज्ञानी ने आत्मा का ऐसा निश्चय किया कि मैं एक हूं, शुद्ध हूं, परद्रव्य से निर्ममत्व हूं, ज्ञान दर्शन से पूर्ण वस्तु हूं, सो जब ऐसे अपने स्वरूप में स्थित होने से उसी का अनुभव रूप हो, तब क्रोधादिक आस्रव क्षय हो सकते हैं । जैसे समुद्र के आवर्त ने बहुत काल से जहाज को पकड़ रक्खा था, पीछे किसी काल में आवर्त पलटता है तब वह जहाज को छोड़ देता है; उसी प्रकार आत्मा आस्रवों को छोड़ देता है ॥ ७३ ॥

आगे पूछते हैं कि ज्ञान होने का और आस्रवों की निवृत्ति का समकाल किस तरह है ? उसका उत्तर रूप गाथा कहते हैं;—**[एते]** ये आस्रव **[जीवनिबद्धाः]** जीव के साथ निबद्ध हैं **[अध्रुवाः]** अध्रुव हैं **[तथा]** और **[अनित्याः]** अनित्य हैं **[च]** तथा **[अशरणाः]** अशरण हैं **[दुःखानि]** दुःखरूप

शीतदाहज्वरावेशवत् क्रमेणोज्जृंभमाणत्वादनित्याः खल्वास्रवाः, नित्यो विज्ञानघनस्वभावो जीव एव । बीज[1]निर्मोक्षक्षणक्षीयमाणदारुणस्मरसंस्कारवत् त्रातुमशक्यत्वादशरणाः खल्वास्रवाः, सशरणः स्वयं गुप्तः सहजचिच्छक्तिर्जीव एव । नित्यमेवाकुलस्वभावत्वाद् दुःखानि खल्वास्रवाः, अदुःखं नित्यमेवानाकुलस्वभावो जीव एव । आयत्यामाकुलत्वोत्पादकस्य पुद्गलपरिणामस्य हेतुत्वाद् दुःखफलाः खल्वास्रवाः अदुःखफलः सकलस्यापि पुद्गलपरिणामस्याहेतुत्वाज्जीव एव ।

त्कारमात्रशुद्धजीव एव । **तहा असरणा य** तथा तेनैव प्रकारेण तीव्रकामोद्रेकवत् त्रातु धर्तुं रक्षितुं न शक्यंत इत्यशरणाः सशरणो निर्विकारबोधस्वरूपः शुद्धजीव एव । **दुक्खा** आकुलत्वोत्पादकत्वाद् दुःखानि भवंति कामक्रोधाद्यास्रवाः अनाकुलत्वलक्षणत्वात्पारमार्थिकसुखस्वरूपः शुद्धजीव एव । **दुक्खफलाणि य** आगामिनारकादिदुःखफलकारणत्वाद् दुःखफलाः खल्वास्रवाः । वास्तवसुखफलस्वरूपशुद्धजीव एव । **णादूण णिवत्तदे तेसु** इति भेदविज्ञानानंतरमेव इत्थंभूतान्मिथ्यात्वरागाद्यास्रवान् ज्ञात्वास्रवेभ्यो यस्मिन्नेव क्षणे मेघपटलरहितादित्यवन्निवर्त्तते तस्मिन्नेव क्षणे

हैं [च] और [दुःखफलाः] जिन का फल दुःख ही है [इति ज्ञात्वा] ऐसा जान कर ज्ञानी पुरुष [तेभ्यः] उनसे [निवर्तते] निवृत्ति करता है ।

टीका—ये आस्रव लाख और वृक्ष इन दोनों की तरह बध्य घातक स्वभाव हैं। जैसे पीपल आदि के वृक्ष में लाख उत्पन्न होती है, उससे वृक्ष बंध जाता है, बाद में उसके निमित्त से वृक्ष का नाश हो जाता है। इसी प्रकार जो बध्य-घातक स्वभावरूप से जीव के साथ बंधे हैं और विरुद्ध स्वभाव वाले हैं, इस कारण जीव ही नहीं हैं, ऐसे आस्रव हैं वे मृगी के वेग की तरह बढ़ते जाते हैं, फिर घटते हैं, इस प्रकार अध्रुव हैं, जीव तो चैतन्य भावमात्र है सो ध्रुव है। वे आस्रव शीतदाहज्वर के स्वभाव की तरह क्रम से उत्पन्न होते हैं इसलिये अनित्य हैं और जीव विज्ञानघन स्वभाव है इस कारण नित्य है। वे आस्रव अशरण हैं। जैसे काम सेवन में वीर्य छूटता है, उस समय अत्यंत काम का संस्कार क्षीण हो जाता है, किसी से नहीं रोका जाता, उसी प्रकार उदयकाल आने के बाद आस्रव झड़ जाते हैं, रोके नहीं जा सकते, इसलिये अशरण हैं, और जीव अपनी स्वाभाविक चित्शक्ति रूप से आप ही रक्षा रूप है इसलिये शरण सहित है। वे आस्रव सदा ही आकुलित स्वभाव को लिये हुए हैं इसलिये दुःखरूप हैं, और जीव सदा ही निराकुल स्वभाव रूप है इस कारण सुखरूप है। आस्रव आगामी काल में आकुलता के उत्पन्न कराने वाले पुद्गल परिणाम के कारण हैं, इसलिये वे दुःखफल स्वरूप हैं और जीव समस्त पुद्गलपरिणाम का कारण नहीं हैं इसलिये दुःख फलस्वरूप नहीं है। ऐसा आस्रवों का और जीव का भेदज्ञान होने से जिसके कर्म का उदय शिथिल हो गया है और जैसे दिशा बादलों की रचना के अभाव होने से निर्मल हो जाती है उस भांति अमर्याद विस्तृत तथा स्वभावसे ही उदयवान हुई चिच्छक्ति रूप से जैसा जैसा विज्ञान घन स्वभाव होता है वैसा वैसा आस्रवों से निवृत्त होता जाता है तथा जैसा जैसा आस्रवों से निवृत्त होता जाता है वैसा वैसा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है। उतना विज्ञान घनस्वभाव होता

---

१. वीर्यमित्यर्थः

इति विकल्पानंतरमेव शिथिलितकर्मविपाको विघटितघनौघघटनो दिगाभोग इव निरर्गलप्रसरः सहजविजृम्भमाणचिच्छक्तितया यथा यथा विज्ञानघनस्वभावो भवति तथातथास्रवेभ्योनिवर्त्तते। यथायथास्रवेभ्यश्च निवर्त्तते तथा तथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति। तावद्विज्ञानघनस्वभावो भवति यावत्सम्यगास्रवेभ्यो निवर्त्तते। तावदास्रवेभ्यश्च निवर्त्तते यावत्सम्यग्विज्ञानघनस्वभावो भवतीति ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वं ॥ ७४ ॥

ज्ञानी भवतीति भेदज्ञानेन सहास्रवनिवृत्तेः समानकालत्वं सिद्धमिति। ननु पुण्यपापादिसप्तपदार्थाना पीठिकाव्याख्यानं क्रियत इति पूर्वं प्रतिज्ञा कृता भवद्भिः व्याख्यान पुन अज्ञानिसज्ञानिजीवस्वरूपमुख्यत्वेन कृत पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकाव्याख्यान कथ घटत इति। तन्न। जीवाजीवौ यदि नित्यमेकांतेनापरिणामिनौ भवतस्तदा द्वावेव पदार्थौ जीवाजीवाविति। यदि च एकांतेन परिणामिनौ तन्मयौ भवतस्तदैक एव पदार्थः। किंतु कथंचित्परिणामिनौ भवतः। कथंचित्कोर्थः ? यद्यपि जीवः शुद्धनिश्चयेन स्वरूप न त्यजति तथापि व्यवहारेण कर्मोदयवशाद्रागाद्युपाधिपरिणाम गृह्णाति। यद्यपि रागाद्युपाधिपरिणामं गृह्णाति तथापि स्वरूप न त्यजति स्फटिकवत्। तत्रैव कथंचित्परिणामित्वे सति अज्ञानी बहिरात्मा मिथ्यादृष्टिर्जीवो विषयकषायरूपाशुभोपयोगपरिणाम करोति। कदाचित्पुनश्चिदानंदैकस्वभावं शुद्धात्मानं त्यक्त्वा भोगाकांक्षानिदानस्वरूपं शुभोपयोगपरिणाम च करोति। तदा काले द्रव्यभावरूपाणा पुण्यपापास्रवबंधपदार्थानां कर्तृत्व घटते। तत्र ये भावरूपाः पुण्यपापादयस्ते जीवपरिणामाये द्रव्यरूपास्ते चाजीवपरिणामा इति। य पुनः सम्यग्दृष्टिरन्तरात्मा स ज्ञानी जीवः स मुख्यवृत्त्या निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धोपयोगबलेन निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा निर्विकल्पसमाधिरूपपरिणामपरिणति करोति तदा तेन परिणामेन सवरनिर्जरामोक्षपदार्थानां द्रव्यभावरूपाणां कर्ता भवति। कदाचित्पुनः निर्विकल्पसमाधिपरिणामाभावे सति विषयकषायवचनार्थं शुद्धात्मभावनासाधनार्थंवा [1]बहिर्बुद्ध्या ख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षानिदानबंधरहितः सन् शुद्धात्मलक्षणार्हत्सिद्धशुद्धात्माराधकप्रतिपादकसाधकाचार्योपाध्यायसाधूनां गुणस्मरणादिरूप शुभोपयोगपरिणामं च करोति। अस्मिन्नर्थे दृष्टांतमाहुः। यथा कश्चिद्देवदत्तः स्वकीयदेशातरस्थित-

---

है जितना आस्रवों से सम्यक् निवृत्त होता है। तथा उतना आस्रवों से सम्यक् निवृत्त होता है, जितना सम्यक् विज्ञान घनस्वभाव होता है। इस प्रकार ज्ञान और आस्रवकी निवृत्ति के समकालता है ॥

भावार्थ—आस्रव और आत्मा का पूर्वकथितरीति से भेद जानने के बाद जितना अंश जिस जिस प्रकार आस्रवों से निवृत्त होता है उस उस प्रकार उतना अंश विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है। जब समस्त आस्रवों से निवृत्त हो जाता है, तब संपूर्ण विज्ञान घनस्वभाव आत्मा होता है। ऐसे आस्रव की निवृत्ति का और ज्ञान के होने का एक काल जानना चाहिये। इस आस्रव का अभाव और संवरका होना गुणस्थानों की परिपाटीरूप तत्त्वार्थ सूत्र की टीका आदि सिद्धात ग्रंथों में है वहा से जान लेना, यहा सामान्य प्रकरण है इसलिये सामान्य रूप से कहा है। और यहां विज्ञानघनस्वभाव होना कहा सो जहां तक मिथ्यात्व है वहांतक तो ज्ञान को अज्ञान कहा जाता है और मिथ्यात्व जाने के बाद अज्ञान संज्ञा नहीं है, विज्ञान संज्ञा है। वह ज्ञान कर्म के क्षय तथा क्षमोपशमकी अपेक्षा से हीन अधिक होता है सो जैसी जैसी आस्रवों की निवृत्ति होती है, वैसा वैसा ज्ञान बढ़ता जाता है; उसी का विज्ञान नाम कहा जाता है। थोड़ा ज्ञान मिथ्यात्व के विना अज्ञान नहीं कहा जा सकता ॥

---

१. हेय बुद्ध्या इति पाठान्तरम्।

इत्येवं विरचय्य संप्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां,
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परं ।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं,
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ॥ ४८ ॥

स्त्रीनिमित्तं तत्समीपागतपुरुषाणां सन्मानं करोति, वार्त्तां पृच्छति, तत्स्त्रीनिमित्तं तेषा स्वीकारं स्नेहदानादिकं च करोति । तथा सम्यग्दृष्टिरपि शुद्धात्मस्वरूपोपलब्धिनिमित्त शुद्धात्माराधकप्रतिपादकाचार्योपाध्यायसाधूना गुणस्मरणं दानादिकं च स्वयं शुद्धात्माराधनारहितः सन् करोति । एवमज्ञानिसज्ञानिजीवस्वरूपव्याख्याने कृते सति पुण्यपापादिसप्तपदार्था जीव-पुद्गलसंयोगपरिणामनिवृत्ता इति पीठिकाव्याख्यानं घटते । नास्ति विरोधः । एव सज्ञानिजीवव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतं । इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थपीठिकाधिकारे गाथाषट्केन प्रथमातराधिकारो व्याख्यातः ।। ७४ ।। अतः पर यथाक्रमेणै-कादशगाथापर्यंतं पुनरपि सज्ञानीजीवस्य विशेषव्याख्यान करोति । तत्रैकादशगाथासु मध्ये जीव. कर्त्ता मृत्तिकाकलशमिवो-पादानरूपेण निश्चयेन कर्म नोकर्म च न करोतीति जानन् सन् शुद्धात्मानं स्वसंवेदनज्ञानेन जानाति यः स ज्ञानी भवतीति कथनरूपेण **'कम्मस्स य परिणामं,'** इत्यादिप्रथमगाथा । ततः पर पुण्यपापादिपरिणामान् व्यवहारेण करोति निश्चयेन न करोतीति मुख्यत्वेन सूत्रमेकं । अथ कर्मत्व स्वपरिणामत्वं सुखदुःखादिकर्मफलं चात्मा जानन्नप्युदयागतपरद्रव्यं न करोतीति प्रतिपादनरूपेण **'णवि परिणमदि'** इत्यादिगाथात्रयं । तदनंतरं पुद्गलोपि वर्णादिस्वपरिणामस्यैव कर्त्ता न च ज्ञानादिजीवपरिणामस्येति कथनरूपेण **णवि परिणमदि'** इत्यादिसूत्रमेकं । अतः परं जीवपुद्गलयोरन्योन्यनिमित्तकर्तृत्वेपि सति परस्परोपादानकर्तृत्वं नास्तीति कथनमुख्यतया **'जीवपरिणाम'** इत्यादि गाथात्रयं । तदनंतरं निश्चयेन जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्चेति प्रतिपादनरूपेण **'णिच्छयणयस्स'** इत्यादिसूत्रमेकं । ततश्च व्यवहारेण जीवः पुद्गलकर्मणां कर्त्ता भोक्ता चेति कथनरूपेण **'ववहारस्सदु'** इत्यादिसूत्रमेकं । एवं ज्ञानिजीवस्य विशेषव्याख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथाभिर्द्वितीयस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा—अथ कथमात्मा ज्ञानीभूतो लक्ष्यत इति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति;- **कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ण करेदि एदमादा जो जाणदि** यथा मृत्तिका कलशमुपादानरूपेण करोति तथा कर्मणः नोकर्मणश्च परिणामं पुद्गलेनोपादानकारणभूतेन क्रिय-माणं न करोत्यात्मेति यो जानाति **'सो हवदि णाणी'** स निश्चयशुद्धात्मानं परमसमाधिबलेन भावयन्सन् ज्ञानी भवति ॥७५॥ इति ज्ञानीभूतजीवलक्षणकथनरूपेण गाथा गता । अथ पुण्यपापादिपरिणामान् व्यवहारेण करोतीति प्ररूपयति;—

कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण ।
धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥

अब इसी अर्थ का कलश रूप तथा आगे के कथन की सूचना रूप काव्य कहते हैं । **इत्येवं** इत्यादि । **अर्थ**—इसके बाद पुराण पुरुष आत्मा जगत का साक्षीभूत, ज्ञाता, द्रष्टा आप ही ज्ञानी हुआ प्रकाशमान होता है । वह इस प्रकार है, पहले कही हुई रीति से परद्रव्य से उत्कृष्ट सब प्रकार निवृत्तिकर और विज्ञान घन स्वभावरूप केवल अपने आत्मा को निःशंक, आस्तिक्यभाव रूप स्थिरीभूत करता हुआ अज्ञान से हुई कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति के अभ्यास से हुए क्लेशों से निवृत्त हुआ प्रकाशमान होता है ।

कथमात्मा ज्ञानीभूतो लच्यत इति चेत्:—

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥ ७५ ॥

कर्मणश्च परिणामं नोकर्मणश्च तथैव परिणामं ।
न करोत्येनमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥ ७५ ॥

यः खलु मोहरागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणांतरुत्प्लवमानं कर्मणः परिणामं स्पर्शरसगंधवर्ण-शब्दबंधसंस्थानस्थौल्यसौक्ष्म्यादिरूपेण बहिरुत्प्लवमानं नोकर्मणः परिणामं च समस्तमपि पर-मार्थतः पुद्गलपरिणामपुद्गलयोरेव घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावात्पुद्गलद्रव्येण कर्त्रा स्वतंत्रव्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वात्कर्मत्वेन क्रियमाणं पुद्गलपरिणामात्मनोर्घटकुंभकारयोरिव

कर्त्ता आत्मा भणित. न च कर्ता केन स उपायेन । धर्मादीन् परिणामान् यः जानाति स भवति ज्ञानी । **कत्ता आदा भणिदो** कर्तात्मा भणितः **ण य कत्ता सो** न च कर्त्ता भवति स आत्मा **केण उवायेण** केनाप्युपायेन नयविभागेन । केन नयविभागेनेति चेत्, निश्चयेन अकर्त्ता व्यवहारेण कर्त्तेति । कान् । **धम्मादी परिणामे** पुण्यपापादिकर्मजनितोपाधिपरिणामान् **जो जाणदि सो हवदि णाणी** ख्यातिपूजालाभादिसमस्तरागादिविकल्पोपाधि-रहितसमाधौ स्थित्वा यो जानाति स ज्ञानी भवति । इति निश्चयनयव्यवहाराभ्यामकर्तृत्वकर्तृत्वकथनरूपेण गाथा गता ।

यहां पूछते हैं कि ऐसा आत्मा ज्ञानी हुआ यह कैसे पहचाना जा सकता है उसके चिह्न कहने चाहिये? उसका उत्तर रूप गाथा कहते हैं;—**[यः]** जो **[आत्मा]** जीव **[एनं]** इस **[कर्मणः परिणामं च]** कर्म के परिणाम को **[तथैव च]** उसी भांति **[नोकर्मणः परिणामं]** नोकर्म के परि-णाम को **[न करोति]** नहीं करता है परंतु **[जानाति]** जानता है **[सः]** वह **[ज्ञानी]** ज्ञानी **[भवति]** है।

टीका—निश्चय से मोह, राग, द्वेष, सुख दुःख आदि स्वरूप से अन्तरंग में उत्पन्न होने वाला कर्म का परिणाम और स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, बंध, संस्थान, स्थौल्य, सूक्ष्म आदि रूप से बाहर उत्पन्न होने वाला नोकर्म का परिणाम है। इस प्रकार ये सभी परमार्थ से पुद्गल परिणाम के और पुद्गल के ही हैं। जैसे घड़े के और मिट्टी के व्याप्य-व्यापक भाव के सद्भाव से कर्ता-कर्मपना है, उसी प्रकार वे पुद्गल द्रव्य से स्वतंत्र व्यापक कर्ता होकर किये गये हैं और वे आप अंतरंग व्याप्य रूप होकर व्याप्त हैं इस कारण पुद्गल के कर्म हैं। परंतु पुद्गल परिणाम और आत्मा का घट और कुम्हार की तरह व्याप्यव्यापक रूप नहीं है इसलिये कर्ता कर्मत्व की असिद्धि है। इसी कारण कर्म नोकर्म परि-णाम को आत्मा नहीं करता। किन्तु यह विशेषता है कि परमार्थ से पुद्गल परिणाम का ज्ञान के और पुद्गल के घट और कुम्हार की तरह व्याप्यव्यापक भाव के अभाव से कर्ता-कर्मत्व की सिद्धि न होने पर आत्म परिणाम के और आत्मा के घट मृतिका की तरह व्याप्य व्यापक भाव के सद्भाव से आत्मद्रव्य

व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ न नाम करोत्यात्मा। किंतु परमार्थतः पुद्गलपरिणामज्ञानपुद्गलयोर्घटकुंभकारवद्व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धावात्मपरिणामात्मनोर्घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावादात्मद्रव्येण कर्त्रा स्वतंत्रव्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वात्पुद्गलपरिणामज्ञानं कर्मत्वेन कुर्वन्तमात्मानं जानाति सोत्यंतविविक्तज्ञानीभूतो ज्ञानी स्यात्। न चैवं ज्ञातुः पुद्गलपरिणामो व्याप्यः पुद्गलात्मनोर्ज्ञेयज्ञायकसंबंधव्यवहारमात्रे सत्यपि पुद्गलपरिणामनिमित्तकस्य ज्ञानस्यैव ज्ञातुर्व्याप्यत्वात्॥ ७५॥

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि,
व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहो भारेण भिंदंस्तमो,
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान्॥ ४९॥

अथ पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य पुद्गलेन सह तादात्म्यसम्बन्धो नास्तीति निरूपयति;—**पुग्गलकम्मं अणेयविहं** कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्येणोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं पुद्गलकर्मानेकविधं मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं **जाणंतो वि हु**

कर्ता ने आप स्वतंत्र व्यापक होकर ज्ञान नामक कर्म किया है इसलिये वह ज्ञान आप ही आत्मा से व्याप्य रूप होकर कर्म रूप हुआ है; इसी कारण पुद्गल परिणाम के ज्ञान को कर्म रूप से कर्ता आत्मा उसे आप जानता है। ऐसा आत्मा पुद्गल परिणाम रूप कर्म नोकर्म से अत्यंत भिन्न ज्ञानी हुआ ज्ञानी ही है। कर्ता नहीं है। ऐसा होने पर ज्ञाता पुरुष के पुद्गल परिणाम व्याप्य स्वरूप नहीं हैं क्योंकि पुद्गल और आत्मा का ज्ञेयज्ञायक संबंध व्यवहार मात्र से होता हुआ भी जिसको पुद्गल परिणाम निमित्त है ऐसा पुद्गलपरिणाम का ज्ञान वही ज्ञाता के व्याप्य है। इसलिये वह ज्ञान ही ज्ञाता का कर्म है।

अब इसी अर्थ के समर्थन का कलश रूप काव्य कहते हैं। **व्याप्य** इत्यादि। **अर्थ**—व्याप्य-व्यापकता तत्स्वरूप के ही होती है अतत्स्वरूप में नहीं होती और व्याप्य-व्यापक भाव के संभव विना कर्ता कर्म की स्थिति कुछ भी नहीं है ऐसे उदार विवेक रूप और समस्त को ग्रासीभूत करने का स्वभाव जिसका है ऐसे ज्ञान स्वरूप प्रकाश के भार से अज्ञान रूप अंधकार को भेदता हुआ यह आत्मा ज्ञानी होकर उस समय कर्तृत्व से रहित हुआ भासता है।

भावार्थ—जो सब अवस्थाओं में व्याप्त हो वह तो व्यापक है और अवस्था के विशेष हैं वे व्याप्य हैं। ऐसा होने पर द्रव्य तो व्यापक है सो द्रव्य पर्याय अभेद रूप ही हैं। जो द्रव्य का आत्मा है वही पर्याय का आत्मा है ऐसा व्याप्य व्यापक भाव तत्स्वरूप में ही होता है, अतत्स्वरूप में नहीं होता। ऐसा सिद्ध होता है कि व्याप्य व्यापक भाव के विना कर्ता कर्म भाव नहीं होता, इस प्रकार जो जानता है। वह पुद्गल के और आत्मा के कर्ता कर्म भाव को नहीं करता, तभी ज्ञानी होता है। कर्ता कर्म भाव से रहित होकर ज्ञाता द्रष्टा जगत का साक्षीभूत होता है॥

पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत्;—

णवि परिणमइ ण गिह्णइ उपज्जइ ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥ ७६ ॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मानेकविधं ॥ ७६ ॥

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं पुद्गलपरिणामं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च। ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य पुद्गलकर्म जानतोपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ॥ ७६ ॥

विशिष्टभेदज्ञानेन जानन्नपि हु स्फुटं स । क कर्ता, **णाणी** सहजानंदैकस्वभावनिजशुद्धात्मरागाद्यास्रवयोर्भेदज्ञानी **णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये** तत्पूर्वोक्त परद्रव्यपर्यायरूपं कर्म निश्चयेन मृत्तिकाकलशरूपेणेव न परिणमति न तादात्म्यरूपतया गृह्णाति न च तदाकारेणोत्पद्यते । कस्मादिति चेत्, मृत्तिकाकलशयोरिव तेन पुद्गलकर्मणा सह तादात्म्यसम्बन्धाभावात् । तत एतदायाति पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य पुद्गलेन सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति ॥ ७६ ॥ अथ स्वपरिणामं सकल्पविकल्परूपं जानतो जीवस्य तत्परिणामनिमित्तेनोदयागतकर्मणा

आगे पूछते हैं कि जो जीव पुद्गल कर्म को जानता है, उसका पुद्गल के साथ कर्ता कर्म भाव है या नहीं है ? उसका उत्तर कहते है,—**[ज्ञानी]** ज्ञानी **[अनेकविधं]** अनेक प्रकार **[पुद्गलकर्म]** पुद्गल द्रव्य के पर्याय रूप कर्मों को **[जानन् अपि]** जानता है तो भी **[खलु]** निश्चय से **[परद्रव्यपर्याये]** परद्रव्य के पर्यायों मे **[नपरिणमति]** उन स्वरूप परिणमन नहीं करता **[न गृह्णाति]** ग्रहण भी नहीं करता और **[न उत्पद्यते]** उनमें उत्पन्न भी नहीं होता ।

टीका—यह ज्ञानी पुद्गल के परिणाम स्वरूप कर्म को जानता है । कर्म का स्वरूप सामान्य रूप से तीन प्रकार है—प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य । सिद्ध हुए को ग्रहण करना प्राप्य है, वस्तु की अवस्था पलटना विकाररूप होना विकार्य है, और जो अवस्था पहले तो नहीं थी फिर उत्पन्न हो उसे निर्वर्त्य कहते हैं । ऐसा कर्म का स्वरूप है । वह पुद्गल का परिणाम तीनों ही स्वरूप से पुद्गल द्रव्य के द्वारा व्याप्त होने योग्य है सो पुद्गल द्रव्य आप अन्तर्व्यापक होता हुआ आदि, मध्य और अन्त तीनों भावों में व्याप्त होकर उसको ग्रहण करता है, उस रूप परिणमन करता है, उस स्वरूप से उपजता है, इस प्रकार वह परिणाम पुद्गल द्रव्य के द्वारा ही किया गया है, ऐसे को ज्ञानी जानता है तो भी आप उसमें अन्त-

स्वपरिणामं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति, किं न भवति इति चेत्:—

णवि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ॥ ७७ ॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु स्वकपरिणाममनेकविधं ॥ ७७ ॥

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणमात्मपरिणामं कर्म आत्मना स्वयमं-

---

सह तादात्म्यसंबंधो नास्तीति दर्शयति;—**सगपरिणामं अणेयविहं** क्षायोपशमिकं संकल्प-विकल्परूपं स्वेनात्मनोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं स्वपरिणाममनेकविधं **णाणी जाणंतो वि हु** निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानी जीवः स्वपरमात्मनो

व्यापक होकर बाह्य स्थित परद्रव्य के परिणाम को आदि और मध्य अन्त में व्याप्त कर उस रूप नहीं परिणमन करता, उसको आप ग्रहण नहीं करता और उसमें उपजता भी नहीं है। जैसे मिट्टी घट रूप होती है, उसको ग्रहण करती है, और उसको उपजाती है, यह उस प्रकार नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य स्वरूप व्याप्य लक्षण परद्रव्य का परिणाम स्वरूप कर्म है उसे नहीं करता किन्तु उसे जानता हुआ जो ज्ञानी उसका पुद्गल के साथ कर्तृकर्म भाव नहीं है।

भावार्थ—पुद्गल कर्म को जीव जानता है तो भी उसका पुद्गल के साथ कर्ताकर्म भाव नहीं है क्योंकि कर्म तीन प्रकार से कहा जाता है। जिस परिणामरूप आप परिणमे, वह परिणाम—प्राप्य। आप किसी को ग्रहण करे, वह वस्तु—विकार्य। किसी को आप उत्पन्न करे वह कार्य—निर्वर्त्य। ऐसे तीनों ही तरह से जीव अपने से भिन्न पुद्गल द्रव्य रूप परमार्थ से नहीं परिणमन करता, क्योंकि आप चेतन है, पुद्गल जड़ है, चेतन जड़ रूप नहीं परिणमन करता पुद्गल को ग्रहण भी परमार्थ से नहीं करता क्योंकि पुद्गल मूर्तिक है आप अमूर्तिक है, अमूर्तिक का ग्रहण योग्य नहीं है। तथा पुद्गल को आप परमार्थ से उत्पन्न भी नहीं करता। क्योंकि चेतन जड़ को किस प्रकार उपजा सकता है? इस प्रकार पुद्गल जीव का कर्म नही है और जीव उसका कर्ता नहीं है। जीव का स्वभाव ज्ञाता है, वह आप ज्ञानरूप परिणमन करता हुआ उसको जानता है। ऐसे जाननेवाले का पर के साथ कर्ता कर्म भाव कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता ॥ ७६ ॥

आगे पूछते हैं कि अपने परिणामों को जानता हुआ जो जीव उसका पुद्गल के साथ कर्ता-कर्म भाव, है या नहीं? उसका उत्तर कहते हैं;—**[ज्ञानी]** ज्ञानी **[स्वकपरिणामं]** अपने परिणामों को **[अनेकविधं]** अनेक प्रकार **[जानन् अपि]** जानता हुआ भी **[खलु]** निश्चयसे **[परद्रव्यपर्याये]** परद्रव्य के पर्याय में **[नापि परिणमति]** न तो परिणत होता है **[न गृह्णाति]** न उसको ग्रहण करता है **[न उत्पद्यते]** और न उपजता है (इस लिये उस के साथ कर्ता कर्म भाव नहीं हैं)।

तव्द्यापिकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादि-मध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च। ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य स्वपरिणामं जानतोपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ॥ ७७ ॥

पुद्गलकर्मफलं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति, किं न भवतीति चेत्:—

णवि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं ॥ ७८ ॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मफलमनंतं ॥ ७८ ॥

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं कर्म

विशिष्टभेदज्ञानेन जानन्नपि हु स्फुटं णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये तस्य पूर्वोक्त-स्वकीयपरिणामस्य निमित्तभूतमुदयागतं पुद्गलकर्मपर्यायरूप मृत्तिकाकलशरूपेणेव शुद्धनिश्चयनयेन न परिणमति न तन्मयत्वेन गृह्णाति न तत्पर्यायेणोत्पद्यते च। कस्मात् मृत्तिकाकलशयोरिव तेन पुद्गलकर्मणा सह परस्परोपादानकारणा-भावादिति। एतावता किमुक्तं भवति स्वकीयक्षायोपशमिकपरिणामनिमित्तमुदयागत कर्म जानतोपि जीवस्य तेन सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति ॥ ७७ ॥ अथ पुद्गलकर्मफलं जानतो जीवस्य पुद्गलकर्मफलनिमित्तेन द्रव्यकर्मणा सह

टीका—जिस कारण यह ज्ञानी, प्राप्य विकार्य और निर्वर्त्य इस प्रकार जिनका लक्षण व्याप्य है ऐसे तीन प्रकार कर्म आत्मा के अपने परिणाम ही है उसे अपने आप स्वयं अंतर्व्यापक होकर आदि मध्य और अंत में व्याप्य कर उन्हीं को ग्रहण करता है उन्हीं रूप परिणामन करता है उन्ही रूप उत्पन्न होता है। इसप्रकार उसी अपने परिणाम रूप कर्म को करता है। उसको आप जानता हुआ भी बाह्य स्थित परद्रव्य के परिणाम को 'जैसे मिट्टी कलशको व्याप्त होकर करती है' उसी प्रकार, आप उस परद्रव्य के परिणाम में आदि मध्य, अंत में व्याप्त होकर न तो उसे ग्रहण करता है, न उस रूप परिणामन करता है और न उस प्रकार उपजता है। इस कारण प्राप्य विकार्य और निर्वर्त्य तीन प्रकार के व्याप्य लक्षण पर द्रव्य के परिणाम रूप कर्म को करने वाला ज्ञानी अपने परिणाम को जानता हुआ प्रवृत्त होता है। उसका पुद्गल के साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है।

आगे पूछते हैं कि पुद्गल कर्म के फल को जानते हुए जीव का पुद्गल के साथ कर्तृ कर्म भाव है या नहीं? उसका उत्तर कहते हैं;— **[ज्ञानी]** ज्ञानी **[अनंतं]** अनंत **[पुद्गलकर्मफलं]** पुद्गल कर्म के फलों को **[जानन् अपि]** जानता हुआ प्रवृत्त होता है तो भी **[खलु]** निश्चय से **[परद्रव्यपर्याये]** परद्रव्य के पर्याय में **[नापि]** नहीं **[परिणमति]** परिणमन करता है **[न गृह्णाति]** उसमें कुछ ग्रहण नहीं करता तथा **[न उत्पद्यते]** उसमें उपजता भी नहीं है। इस प्रकार उस में इस के कर्तृकर्म भाव नहीं है।

पुद्गलद्रव्येण स्वयमंतर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तद्गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमंतर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च[1]। ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं जानतोपि ज्ञानिनः पुद्गलेन[2] सह न कर्तृकर्मभावः ॥ ७८ ॥

निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति कथयति;—**पुग्गलकम्मफलमणंतं** उदयागतद्रव्यकर्मणोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं सुखदु.खरूपंशक्त्यपेक्षयानंतकर्मफल **णाणी जाणंतो वि हु** वीतरागशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसतृप्तो भेदज्ञानी निर्मलविवेकभेदज्ञानेन जानन्नपि हि स्फुटं **ण परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये** वर्त्तमान-सुखदु.खरूपं शक्त्यपेक्षानिमित्तमुदयागतं परपर्यायरूपं पुद्गलकर्मं मृत्तिकाकलशरूपेणेव शुद्धनयेन न परिणमति न तन्मयत्वेन गृह्णाति न तत्पर्यायेणोत्पद्यते च। कस्मादिति चेत्, मृत्तिकाकलशयोरिव तेन द्रव्यकर्मणा सह तादात्म्यलक्षण-संबंधाभावादिति। किं च विशेषः। यदि पुद्गलद्रव्यकर्मरूपेण न परिणमति न गृह्णाति न तदाकारेणोत्पद्यते तर्हि किं करोति ज्ञानी जीवः, मिथ्यात्वविषयकषायख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षारूपनिदानबंधशल्यादिविभावपरिणामकर्तृत्वभोक्तृत्वविकल्पशून्यं पूर्णकलशवच्चिदानंदैकस्वभावेन भरितावस्थं शुद्धात्मानं निर्विकल्पसमाधौ ध्यायतीति भावार्थः ॥ ७८ ॥ एवमात्मा निश्चयेन द्रव्यकर्मादिकं परद्रव्यं न परिणमतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं। अथ जीवपरिणामं, स्वपरिणामं, स्वपरिणामफलं च जडस्वभावत्वादजानतः पुद्गलस्य निश्चयेन जीवेन सह कर्तृकर्मभावो नास्तीति प्रति-पादयति;—**णवि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए** यथा जीवो निश्चयेनानंतसुखादिस्व-रूप त्यक्त्वा पुद्गलद्रव्यरूपेण न परिणमति न च तन्मयत्वेन गृह्णाति न तत्पर्यायरूपेणोत्पद्यते। **पुग्गलदव्वं पि तहा** तथा पुद्गलद्रव्यमपि स्वयमंतर्व्यापकं भूत्वा मृत्तिकाद्रव्यकलशरूपेणेव चिदानंदैकलक्षणजीवस्वरूपेण न परिणमति

टीका—जिस कारण प्राप्य, विकार्य, और निर्वर्त्य ऐसे जिस का लक्षण व्याप्य है ऐसा तीन प्रकार का सुखदुःखादिरूप पुद्गलकर्म का फल उसे पुद्गलद्रव्य ने अंतर्व्यापक होकर, आदि मध्य, अंत में व्याप्त होकर ग्रहण करता हुआ, उसी प्रकार परिणमन करता हुआ तथा उसी प्रकार उत्पन्न होता हुआ उसे जानता यह ज्ञानी, आप अंतर्व्यापक होकर बाह्य स्थित पर द्रव्य के परिणाम को मिट्टी और घड़े की भांति आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त कर नहीं ग्रहण करता, उस प्रकार परिणमन भी नहीं करता तथा उस प्रकार उत्पन्न भी नहीं होता? प्राप्य, विकार्य, और निर्वर्त्य रूप व्याप्य लक्षण अपने स्वभाव रूप कर्म को आप अन्तर्व्यापक होकर आदि मध्य और अन्त में व्याप्त उसी को ग्रहण करता है, उसी प्रकार परिणमता है और उसी प्रकार उत्पन्न होता है। इस कारण प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप व्याप्य लक्षण परद्रव्य के परिणाम रूप कर्म को नहीं करता सुखदुःख रूप कर्म के फल को जानता है तो भी ज्ञानी के पुद्गल के साथ कर्तृकर्म भाव नहीं है ॥ ७८ ॥

---

१. किन्तु प्राप्यंविकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणंस्वभावं कर्मस्वयमन्तर्व्यापको भूत्वाऽऽदिमध्यान्तेषुव्याप्यतमेव गृह्णाति, तथैवपरिणमति, तथैवो-त्पद्यते च इति अधिकाः पाठः, दिल्ली, नया-मन्दिर प्रतौ।

२. पुद्गलफलेन इति पाठान्तरं।

जीवपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य सह जीवेन कर्तृकर्मभावः किं भवति, किं न भवतीति चेत्:—

णवि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमइ सएहिं भावेहिं ॥ ७९ ॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
पुद्गलद्रव्यमपि तथा परिणमति स्वकैर्भावैः ॥ ७९ ॥

यतो जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाप्यजानत् पुद्गलद्रव्यं स्वयमंतर्व्यापकं भूत्वा परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यांतेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च। किंतु प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं स्वभावं कर्म स्वयमंतर्व्यापकं भूत्वादिमध्यांतेषु व्याप्य तमेव गृह्णाति तथैव परिणमति तथैवोत्पद्यते च। ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य जीवेन सह न कर्तृकर्मभावः ॥ ७९ ॥

न च जीवस्वरूपं तन्मयत्वेन गृह्णाति न च जीवपर्यायेणोत्पद्यते। तर्हि किं करोति **परिणमइ सएहिं भावेहिं** परिणमति स्वकीयैर्वर्णादिस्वभावैः परिणामैर्गुर्णधर्मैरिति। कस्मादिति चेत्, मृत्तिकाकलशयोरिव जीवेन सह तादात्म्य-

---

यहां पूछते हैं कि जीव के परिणाम को तथा अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को नहीं जानता, ऐसे पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ कर्तृकर्मभाव है या नहीं उसका उत्तर कहते हैं;—**[पुद्गलद्रव्यं अपि]** पुद्गल द्रव्य भी **[परद्रव्ये पर्याये]** पर द्रव्य के पर्याय में **[तथा]** उस प्रकार **[नापि]** नहीं **[परिणमति]** परिणमन करता है, **[न गृह्णाति]** उसको ग्रहण भी नहीं करता और **[न उत्पद्यते]** न उत्पन्न होता है क्योंकि **[स्वकैः भावैः]** अपने भावों से ही **[परिणमति]** परिणमन करता है।

टीका—जिस कारण पुद्गल द्रव्य जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को तथा अपने परिणाम के फल को न जानता हुआ वर्तता है। पर द्रव्य के परिणाम रूप कर्म को मृत्तिका कलश की तरह आप अंतर्व्यापक हो कर आदि, मध्य और अंत में व्याप्त कर नहीं ग्रहण करता उसी प्रकार परिणमन भी नहीं करता है तथा उत्पन्न भी नहीं होता है परंतु प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप व्याप्त लक्षण अपने स्वभाव रूप कर्म को अंतर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अंत में व्याप्य उसी को ग्रहण करता है, उसी प्रकार परिणत होता है तथा उसी प्रकार उपजता है। इस कारण प्राप्य विकार्य और निर्वर्त्य रूप व्याप्य लक्षण पर द्रव्य के परिणाम स्वरूप कर्म को न करता हुआ पुद्गल द्रव्य जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को तथा अपने परिणाम के फल को नहीं जानता, उसका जीव के साथ कर्तृकर्म-भाव नहीं है।

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्,
व्याप्तृव्याप्यत्वमंतः कलयितुमसहौ नित्यमत्यंतभेदात् ।
अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्,
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥ ५० ॥

लक्षणसंबंधाभावादिति ॥७९॥ एवं पुद्गलद्रव्यमपि जीवेन सह न परिणमतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथा गता । अथ यद्यपि जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति तथापि निश्चयनयेन तयोर्न कर्तृकर्मभावं इत्यावेदयति;—**जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति** यथा कुंभकारनिमित्तेन मृत्तिका घटरूपेण परिणमति तथा जीवसंबंधिमिथ्यात्वरागादिपरिणामहेतुं लब्ध्वा कर्मवर्गणायोग्यं पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमति **पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि** यथैव च घटनिमित्तेन एवं घटं करोमीति कुंभकारः परिणमति तथैवोदयागतपुद्गलकर्महेतुं लब्ध्वा जीवोपि निर्विकारचिच्चमत्कारपरिणतिमलभमानः सन् मिथ्यात्वरागादिविभावेन परिणमतीति । अथ—**णवि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो** यद्यपि परस्परनिमित्तेन परिणमति तथापि निश्चयनयेन जीवो वर्णादिपुद्गलकर्मगुणान्नकरोति । **कम्मं तहेव जीवगुणे** कर्म च तथैवानंतज्ञानादिजीवगुणान्न करोति **अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाणदोण्हंपि** यद्यप्युपादानरूपेण न करोति तथाप्यन्योन्यनिमित्तेन घटकुंभकारयोरिव परिणामं जानीहि द्वयोरपि जीवपुद्गलयोरिति । अथ—**एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण** एतेन कारणेन पूर्वसूत्रद्वयव्याख्यानरूपेण तु निर्मलात्मानुभूतिलक्षणपरिणामेन शुद्धोपादानकारणभूतेनाव्याबाधानंतसुखादिशुद्धभावानां कर्ता । तद्विलक्षणेनाशुद्धोपादानकारणभूतेन रागाद्यशुद्धभावानां कर्ता भवत्यात्मा । कथं ? यथा मृत्तिकाकलशस्येति **पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं** पुद्गलद्रव्यकर्मकृतानां

भावार्थ—यदि कोई माने कि पुद्गल जड़ है वह किसी को जानता नहीं, अतः उसका जीव के साथ कर्तृकर्म भाव हो जायगा किन्तु यह बात नहीं है। परमार्थ से परद्रव्य के साथ किसी के कर्तृकर्म भाव नहीं है।

अब इसी अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं। **ज्ञानी** इत्यादि। **अर्थ**—ज्ञानी तो अपनी और पर की दोनों की परिणति को जानता हुआ प्रवृत्त होता है तथा पुद्गल द्रव्य अपनी और पर की दोनों ही परिणतियों को नहीं जानता हुआ प्रवृत्त होता है इसलिये वे दोनों परस्पर अंतरंग व्याप्य व्यापक भाव को प्राप्त होने में असमर्थ हैं क्योंकि दोनों भिन्न द्रव्य हैं सदाकाल उनमें अत्यंत भेद है। ऐसा होने पर इनके कर्तृकर्म भाव मानना भ्रमबुद्धि है। यह जब तक इन दोनों में करोंत की तरह निर्दय होकर उसी समय भेद को उपजाकर भेदज्ञान प्रकाश वाला ज्ञान प्रकाशित नहीं होता, यह तभी तक है।

भावार्थ—भेदज्ञान होने के बाद पुद्गल और जीव के कर्तृकर्म भाव की बुद्धि नहीं रहती क्योंकि जब तक भेदज्ञान नहीं होता, तभी तक अज्ञान से कर्तृकर्म भाव की बुद्धि है।

अब कहते हैं कि जीव के परिणाम में और पुद्गल के परिणाम में परस्पर निमित्तमात्रता है

जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति तथापि न तयोः कर्तृकर्मभावइत्याह;—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥ ८० ॥
णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्णम्पि ॥ ८१ ॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥ ८२ ॥ (त्रिकलम्)

जीवपरिणामहेतुं कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमंति ।
पुद्गलकर्मनिमित्तं तथैव जीवोपि परिणमति ॥ ८० ॥
नापि करोति कर्मगुणान् जीवः कर्म तथैव जीवगुणान् ।
अन्योन्यनिमित्तेन तु परिणामं जानीहि द्वयोरपि ॥ ८१ ॥
एतेन कारणेन तु कर्ता आत्मा स्वकेन भावेन ।
पुद्गलकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानां ॥ ८२ ॥

यतो जीवपरिणामं निमित्तीकृत्य पुद्गलाः कर्मत्वेन परिणमंति पुद्गलकर्मनिमित्तीकृत्य

न तु कर्ता सर्वभावानां ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मपर्यायाणामिति । एवं जीवपु ्गलपरस्परनिमित्तकारणव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं ॥ ८० ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ अथ तत एतदायाति—जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह निश्चयनयेन कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च भवति;—**णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि** यथा यद्यपि समीरो निमित्तं भवति तथापि निश्चयनयेन पारावार एव कल्लोलान् करोति परिणमति च । एत्र यद्यपि द्रव्यकर्मोदयासद्भावसद्भावात्

तो भी उन दोनों में कर्तृकर्म तो है ही नही,—**[पुद्गलाः]** पुद्गल **[जीवपरिणामहेतुं]** जिसको जीव के परिणाम निमित्त हैं ऐसे **[कर्मत्वं]** कर्मत्व रूप **[परिणमंति]** परिणमन करते है **[तथैव]** उसी प्रकार **[जीवः अपि]** जीव भी **[पुद्गलकर्मनिमित्तं]** जिसको पुद्गल कर्मनिमित्त है ऐसे कर्मत्व रूप **[परिणमति]** परिणमन करता है। **[जीवः]** जीव **[कर्मगुणान्]** कर्म के गुणों को **[नापि]** नहीं **[करोति]** करता **[तथैव]** उसी भांति **[कर्म]** कर्म **[जीवगुणान्]** जीव के गुणों को नहीं करता। **[तु]** किंतु **[द्वयोरपि]** इन दोनों के **[अन्योन्यनिमित्तेन]** परस्पर निमित्त मात्र से **[परिणामं]** परिणाम **[जानीहि]** जानो **[एतेन कारणेन तु]** इसी कारण से **[स्वकेन भावेन]** अपने भावों से **[आत्मा]** आत्मा **[कर्ता]** कर्ता कहा जाता है **[तु]** परंतु **[पुद्गलकर्मकृतानां]** पुद्गल कर्म से किये गये **[सर्वभावानां]** सब भावों का **[कर्ता न]** कर्ता नहीं है।

जीवोपि परिणमतीति जीवपुद्गलपरिणामयोरितरेतरहेतुत्वोपन्यासेपि जीवपुद्गलयोः परस्परं व्याप्यव्यापकभावाभावाज्जीवस्य[1] पुद्गलपरिणामानां पुद्गलकर्मणोपि जीवपरिणामानां कर्तृकर्मत्वासिद्धौ निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्याप्रतिषिद्धत्वादितरेतरनिमित्तमात्रीभवनेनैव द्वयोरपि परिणामः। ततः कारणान्मृत्तिकया कलशस्येव स्वेन भावेन स्वस्य भावस्य करणाज्जीवः स्वभावस्य कर्ता कदाचित्स्यात्। मृत्तिकया वसनस्येव स्वेन भावेन परभावस्य कर्तुमशक्यत्वात्पुद्गलभावानां तु कर्ता न कदाचिदपि स्यादिति निश्चयः। ततःस्थितमेतज्जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च ॥ ८० ॥ ८१ ॥ ८२ ॥

शुद्धाशुद्धभावयोर्निमित्तं भवति तथापि निश्चयेन निर्विकारपरमस्वसंवेदनज्ञानपरिणतः केवलज्ञानादिशुद्धभावान् तथैवाशुद्धपरिणतस्तु सांसारिकसुखदुःखाद्यशुद्धभावांश्चोपादानरूपेणात्मैव करोति। अत्र परिणामानां परिणमनमेव कर्तृत्वं ज्ञातव्यमिति। न केवलं करोति **वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं** वेदयत्यनुभवति भुक्ते परिणमति पुनश्च स्वशुद्धात्मभावनोत्थसुखरूपेण शुद्धोपादानेन तदेव शुद्धात्मानमशुद्धोपादानेनाशुद्धात्मानं च। स कः कर्ता ? आत्मेति जानीहि। एवं निश्चयकर्तृत्वभोक्तृत्वव्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥ ८३ ॥ अथ लोकव्यवहारं दर्शयति;—**ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि अणेयविहं** यथा लोके यद्यपि मृत्पिड उपादानकारणं तथापि कुंभकारो घटं करोति तत्फलं च जलधारणमूल्यादिकं भुक्तं इति लोकानामनादिरूढोस्ति व्यवहारः। तथा यद्यपि कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यमुपादानकारणभूतं तथापि व्यवहारनयस्याभिप्रायेणात्मा पुद्गलकर्मानेकविधं मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं करोति **तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं** तथैव च तदेवोदयागतं पुद्गलकर्मानेकविधं इष्टानिष्टपंचेन्द्रियविषयरूपेण

टीका—जिस कारण जीव परिणाम को निमित्त मात्र करके पुद्गलकर्म भाव से परिणमन करते है और पुद्गल कर्म को निमित्त मात्र कर जीव भी परिणमन करता है। ऐसे जीव के परिणाम का तथा पुद्गल के परिणाम का परस्पर हेतुत्व का स्थापन होने पर भी जीव और पुद्गल के परस्पर व्याप्यव्यापक भाव के अभाव से जीव के तो पुद्गल परिणामों का और पुद्गल कर्म के जीव के परिणामों के कर्ता कर्म पने की असिद्धि होने पर निमित्तनैमित्तिकभावमात्र का निषेध नही है क्योंकि परस्पर निमित्तमात्र होने से ही दोनों का परिणाम है। इस कारण मृत्तिका के कलश की तरह अपने भाव द्वारा अपने भाव के करने से जीव अपने भाव का कर्ता सदा काल होता है। तथा मृत्तिका जैसे कपड़े की कर्ता नहीं है, वैसे अपने भाव द्वारा परके भावो के करने की असमर्थता से पुद्गल के भावों का तो कर्ता कभी नहीं है ऐसा निश्चय है।

भावार्थ—जीव और पुद्गल परिणामों की परस्परनिमित्तमात्रता है तो भी परस्पर कर्तृकर्म भाव नहीं है। पर के निमित्त से जो अपने भाव हुए थे, उन का कर्ता तो उसे अज्ञान दशा में कदाचित् कह भी सकते हैं, लेकिन परभाव का कर्ता कभी नहीं हो सकता ॥ ८० । ८१ । ८२ ॥

---

[1] जीव परिणामस्य इत्यर्थः।

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥ ८३ ॥

निश्चयनयस्यैवमात्मात्मानमेव हि करोति ।
वेदयते पुनस्तं चैव जानीहि आत्मा त्वात्मानं ॥ ८३ ॥

यथोत्तरंगनिस्तरंगावस्थयोः समीरसंचरणासंचरणनिमित्तयोरपि समीरपारावारयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ पारावार एव स्वयमंतर्व्यापको भूत्वादिमध्यांतेषूत्तरंगनिस्तरंगावस्थे व्याप्योत्तरंगं निस्तरंगं त्वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभाति न पुनरन्यत् । यथा स एव च भाव्यभावकभावाभावात्परभावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वादुत्तरंगं निस्तरंगं त्वात्मानमनुभवन्नात्मानमेकमेवानुभवन् प्रतिभाति न पुनरन्यत् । तथा ससंसारनिःसंसारावस्थयोः

वेदयति अनुभवति इत्यज्ञानिनां निर्विषयस्वशुद्धात्मोपलंभसंजातसुखामृतरसास्वादरहितानामनादिरूढोऽस्ति व्यवहारः ॥८४॥ एवं व्यवहारेण सुखदुःखकर्तृत्वभोक्तृत्वकथनमुख्यतया गाथा गता । इति ज्ञानिजीवस्य विशेषव्याख्यानरूपेणैकादशगाथाभि-

---

यहाँ कहते हैं कि इस हेतु से यह सिद्ध हुआ कि जीव का अपने परिणामों के ही साथ कर्तृकर्मभाव और भोक्तृभोग्यभाव है;—**[निश्चयनयस्य]** निश्चयनय का **[एवं]** यह मत है कि **[आत्मा]** आत्मा **[आत्मानं एव हि]** अपने को ही **[करोति]** करता है **[तु पुनः]** फिर **[आत्मा]** वह आत्मा **[तं चैव आत्मानं]** अपने को ही **[वेदयते]** भोगता है ऐसा तू **[जानीहि]** तू जान ।

टीका—जैसे पवन का चलना और न चलना जिनको निमित्त है, ऐसी समुद्र की तरंगों का उठना और विलय होना रूप दो अवस्था उनके पवन और समुद्र के व्याप्यव्यापकभाव के अभाव से कर्ता कर्मपने की असिद्धि होने पर समुद्र ही आप उन अवस्थाओं में अंतर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अंत में उन अवस्थाओं में व्याप्त होकर उत्तरंगनिस्तरंग रूप अपने को एक ही करता हुआ प्रतिभासित होता है, किसी दूसरे को नहीं करता है । उसी प्रकार वही समुद्र उस पवन और समुद्र के भाव्यभावक भाव के अभाव से परभाव को पर कर अनुभव करने के असामर्थ्य से उत्तरंगनिस्तरंग स्वरूप अपने को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित होता है, अन्य किसी का अनुभव नहीं करता । उसी प्रकार पुद्गल कर्म के उदय का संभव असंभव जिसको निमित्त है ऐसी जो संसार और निःसंसार दो अवस्था उनके पुद्गल कर्म और जीव के व्याप्य-व्यापक रूप के अभाव से कर्ताकर्म रूप की असिद्धि है । क्योंकि जीव आप अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्त में ससंसार निःसंसार अवस्था में व्याप्त होकर ससंसार निःसंसार रूप आत्मा को करता हुआ अपने को कर्ता प्रतिभासित करे तो अन्य को प्रतिभासित न करे । उसी प्रकार यही जीव भाव्यभावकभाव के अभाव से परभाव को पर द्वारा अनुभव करने की असामर्थ्य है इसलिये ससंसार निःसंसार रूप आत्मा एक अपने को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित हो अन्य को अनुभव करता हुआ प्रतिभासित न हो ।

पुद्गलकर्मविपाकसंभवासंभवनिमित्तयोरपि पुद्गलकर्मजीवयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वा-सिद्धौ जीव एव स्वयमंतर्व्यापको भूत्वादिमध्यांतेषु ससंसारनिःसंसारावस्थे व्याप्य ससंसारं निःसंसारं वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत् । तथायमेव च भाव्य-भावकभावाभावात् परभावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वात्ससंसारं निःसंसारं वात्मानमनुभवन्नात्मान-मेकमेवानुभवन्प्रतिभातु मा पुनरन्यत् ॥ ८३ ॥

अथ व्यवहारं दर्शयति :—

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि णेयविहं ।
तं चेवपुणो वेयइ पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥ ८४ ॥

व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधं ।
तच्चैव पुनर्वेदयते पुद्गलकर्मानेकविधं ॥ ८४ ॥

यथांतर्व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकया कलशे क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन मृत्तिकयैवा-नुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन कलशसंभवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः कलशकृततोयोपयोगजां तृप्तिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च कुलालः कलशं करोत्यनुभवति चेति लोकानामनादिरूढोऽस्ति

द्वितीयांतराधिकारो व्याख्यातः। अतः परं पञ्चविंशतिगाथापर्यंतं द्विक्रियावादिनिराकरणरूपेण व्याख्यानं करोति। तत्र चेतनाचेतनयोरेकोपादानकर्तृत्वं द्विक्रियावादित्वमुच्यते तस्य संक्षेपव्याख्यानरूपेण **जदिपुग्गलकम्ममिणं** इत्यादि गाथाद्वयं भवति। तद्विवरणद्वादशगाथासु मध्ये **पुग्गलकम्मणिमित्तं** इत्यादिगाथाक्रमेण प्रथमगाथाषट्कं स्वतंत्रं। तदनंतरमज्ञानिज्ञानिजीवकर्तृत्वाकर्तृत्वमुख्यतया **परमप्पाणंकुव्वदि** इत्यादिद्वितीयषट्कं। अतःपरं तस्यैव द्विक्रिया-वादिनः पुनरपि विशेषव्याख्यानार्थमुपसंहाररूपेणैकादशगाथा भवंति। तत्रैकादशगाथासु मध्ये व्यवहारनयमुख्यत्वेन

भावार्थ—आत्मा की ससंसार निःसंसार अवस्था परद्रव्य पुद्गलकर्म के निमित्त से है वहां, उन अवस्था रूप आप ही परिणमन करता है इसलिये अपना ही कर्ता भोक्ता है, निमित्तमात्र पुद्गल-कर्म है, उसका कर्ता भोक्ता नहीं हैं ॥ ८३ ॥

अब व्यवहार को दिखलाते हैं;—**[व्यवहारस्य तु]** व्यवहारनय का यह मत है कि **[आत्मा]** आत्मा **[नैकविधं]** अनेक प्रकार **[पुद्गलकर्म]** पुद्गल कर्मों को **[करोति]** करता है **[पुनः]** और **[तदेव]** उसी **[अनेकविधं]** अनेक प्रकार **[पुद्गलकर्म]** पुद्गल कर्म को **[वेदयते]** भोगता है।

टीका—जैसे मिट्टी घड़े को करती और भोगती है, वह अन्तर्व्याप्यव्यापक भाव से करती है तथा भाव्यभावकभाव से भोगती है तो भी बाह्य व्याप्यव्यापकभाव से कलश होने में संभव उसके अनुकूल व्यापार को अपने हस्तादिक से करने वाला तथा कलश में भरे जल के उपयोग से हुए तृप्तिभाव को भाव्यभावक भाव से अनुभव करने वाला कुम्हार इस कलश को बनाता तथा भोगता है, ऐसा लोकों का अनादि से प्रसिद्ध व्यवहार रहा है। उसी प्रकार यद्यपि पुद्गल कर्म को अन्तर्व्याप्यव्यापक भाव से

तावद्व्यवहारः, तथांतर्व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलद्रव्येण कर्मणि क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन पुद्गलद्रव्येणैवानुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेनाज्ञानात्पुद्गलकर्मसंभवानुकूलं परिणामं[1] कुर्वाणः पुद्गलकर्मविपाकसंपादितविषयसन्निधिप्रधावितां सुखदुःखपरिणतिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च जीवः पुद्गलकर्म करोत्यनुभवति चेत्यज्ञानिनामासंसारप्रसिद्धोस्ति तावद्व्यवहारः ॥ ८४ ॥

अथैनं दूषयति :—

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा ।
दो किरियावदिरित्तो पसज्जए सो जिणावमदं ॥ ८५ ॥

यदि पुद्गलकर्मेदं करोति तच्चैव वेदयते आत्मा ।
द्विक्रियाव्यतिरिक्तः प्रसजति स जिनावमतं ॥ ८५ ॥

इह खलु क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतोरित भिन्ना, परिणामोपि परिणामपरिणामिनोरभिन्नवस्तुत्वात्परिणामिनो न भिन्नस्ततो या काचन क्रिया किल

ववहारस्स दु इत्यादि गाथात्रयं। तदनंतरं निश्चयनयमुख्यतया **जो पुग्गलदव्वाणं** इत्यादिसूत्रचतुष्टय। ततश्च द्रव्यकर्मणामुपचारकर्तृत्वमुख्यत्वेन **जीवंहि हेदुभूदे** इत्यादिसूत्रचतुष्टयमिति समुदायेन पचविंशतिगाथाभिस्तृतीय-

---

पुद्गल द्रव्य करता है और भाव्यभावक भाव से पुद्गल द्रव्य ही अनुभव करता (भोगता) है तो भी बाह्य व्याप्यव्यापकभाव से अज्ञान से पुद्गल कर्म के होने के अनुकूल अपने रागादि परिणाम को करता और पुद्गल कर्म के उदय होने से उत्पन्न विषयों की समीपता होने वाली अपनी सुखदुःखरूप परिणति को भाव्यभावकभाव के अनुभव करने वाला जीव पुद्गल कर्म को करता है और भोगता है। ऐसे अज्ञानी लोकों का अनादि संसार से व्यवहार प्रसिद्ध है।

भावार्थ—पुद्गल कर्म को परमार्थ से पुद्गल द्रव्य ही करता है और पुद्गल कर्म के होने के अनुकूल अपने रागादि परिणामों को जीव करता है, उसके निमित्तनैमित्तिकभाव को देखकर अज्ञानी को यह भ्रम है कि जीव ही पुद्गल कर्म को करता है। वह अनादि अज्ञान से प्रसिद्ध व्यवहार है। जब तक जीव पुद्गल का भेदज्ञान नहीं है, तब तक दोनों की प्रवृत्ति एक सरीखी दीखती है, इस कारण जब तक भेदज्ञान न हो, तब तक ही दीखती है। श्रीगुरु भेदज्ञान करा के परमार्थ जीव का स्वरूप दिखला कर अज्ञानी के प्रतिभास को व्यवहार कहते हैं ॥८४॥

आगे इस व्यवहार को दूषण देते हैं;—**[यदि]** जो **[आत्मा]** आत्मा **[इदं]** इस **[पुद्गलकर्म]** पुद्गल कर्म को **[करोति]** करे **[च]** और **[तत् एव]** उसी को **[वेदयते]** भोगे तो **[सः]** वह **[द्विक्रियाव्यतिरिक्तः]** आत्मा दो क्रिया से अभिन्न **[प्रसजति]** ठहरे ऐसा प्रसंग आता है सो यह **[जिनावमतं]** जिनदेव का मत नहीं है।

---

१. रागादि परिणाम मित्यर्थः।

सकलापि सा क्रियावतो न भिन्नेति क्रियाकर्त्रोरव्यतिरिक्ततायां वस्तुस्थित्या प्रतपत्यां यथा व्याप्यव्यापकभावेन स्वपरिणामं करोति, भाव्यभावकभावेन तमेवानुभवति च जीवस्तथा व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलकर्मापि यदि कुर्यात् भाव्यभावकभावेन तदेवानुभवेच्च ततो यं स्वपरसमवेतक्रियाद्वयाव्यतिरिक्ततायां प्रसजंत्यां स्वपरयोः परस्परविभागप्रत्यस्तमनादनेकात्मकमेकमात्मानमनुभवन्मिथ्यादृष्टितया सर्वज्ञावमतः स्यात् ॥ ८५ ॥

स्थले समुदायपातनिका। तद्यथा—अथेदं पूर्वोक्तं कर्मकर्तृत्वभोक्तृत्वनयविभागव्याख्यानं कर्मतापन्नमनेकांतेन सम्मतमप्येकांतनयेन मन्यते। किं मन्यते भावकर्मवन्निश्चयेन द्रव्यकर्मापि करोतीति चेतनाचेतनकार्ययोरेकोपादानकर्तृत्वलक्षणं द्विक्रियावादित्वं स्यात्। तान् द्विक्रियावादिनो दूषयति;—**जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा** यदि चेत्पुद्गलकर्मोदयमुपादानरूपेण करोति तदेव च पुनरुपादानरूपेण वेदयत्यनुभवत्यात्मा **दोकिरियावादित्तं पसजदि** तदा चेतनाचेतनक्रियाद्वयस्योपादानकर्तृत्वरूपेण द्विक्रियावादित्वं प्रसजति प्राप्नोति। अथवा **दो किरियाविदिरित्तो पसजदि सो** तत्र पाठांतरे द्वाभ्यां चेतनाचेतनक्रियाभ्यामव्यतिरिक्तोऽभिन्नः प्रसजति प्राप्नोति स पुरुषः। **सम्मं जिणावमदं** तच्च व्याख्यानं जिनानां सम्यगसंमतं। यश्चेदं व्याख्यानं मन्यते स निजशुद्धात्मोपादेयरुचिरूपं निर्विकारचिच्चमत्कारमात्रलक्षणं शुद्धोपादानकारणोत्पन्नं निश्चयसम्यक्त्वमलभमानो मिथ्यादृष्टिर्भवतीति ॥ ८५ ॥ अथ कुतो द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टिर्भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरं प्रयच्छंस्तमेवार्थं प्रकारांतरेण दृढयति;—**जह्मा दु अत्त भावं पुद्गलभावं च दोवि कुव्वंति** यस्मादात्मभाव चिद्रूपं पुद्गलभावं चाचेतनं जडस्वरूपं द्वयमप्युपादानरूपेण कुर्वंति **तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति** ततस्तेन कारणेन चेतनाचेतनक्रियाद्वयवादिनः

टीका—इस लोक में जो क्रिया है वह पहले तो सभी परिणाम स्वरूप है इस कारण परिणाम ही है कुछ भिन्न वस्तु नहीं है और परिणाम तथा परिणामी द्रव्य दोनों अभिन्न वस्तु हैं भिन्न भिन्न वस्तु नहीं हैं इसलिये परिणाम परिणामी से पृथक् नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो कुछ क्रिया है वह क्रियावान् द्रव्य से पृथक् नहीं है। इस प्रकार क्रिया का और क्रियावान् की अभिन्नता है। ऐसी वस्तु की मर्यादा होने पर जैसा जीव व्याप्यव्यापक भाव से अपने परिणाम को करता है और भाव्य भावक भाव से उसी अपने परिणाम को अनुभव करता है भोगता है, उसी तरह व्याप्यव्यापकभाव से पुद्गलकर्म को भी करे तथा भाव्यभावक भाव से उसी का अनुभव करे, भोगे तो अपनी और पर की मिली दो क्रियाओं का अभेद सिद्ध हुआ। ऐसा होने पर अपने और परके भेद का अभाव हुआ। इसप्रकार अनेक द्रव्य स्वरूप एक आत्मा को अनुभव करने वाला मिथ्यादृष्टि होता है। परंतु ऐसा वस्तु स्वरूप जिनदेव ने नहीं कहा है इसलिये जिनदेव के मत के बाहर है ॥

भावार्थ—दो द्रव्यों की क्रिया भिन्न ही है। जड़ की क्रिया चेतन नहीं करता, चेतन की क्रिया जड़ नहीं करता। जो पुरुष एक द्रव्य को दो द्रव्यों की क्रियाओं का कर्ता मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि दो द्रव्यों की क्रिया एक द्रव्य से मानना यह जिनदेव का मत नहीं है ॥ ८५ ॥

कुतो द्विक्रियानुभावी मिथ्यादृष्टिरिति चेत् :—

जह्मा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति ।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति ॥ ८६ ॥

यस्मात्त्वात्मभावं पुद्गलभावं च द्वावपि कुर्वंति ।
तेन तु मिथ्यादृष्टयो द्विक्रियावादिनो भवंति ॥ ८६ ॥

यतः किलात्मपरिणामं पुद्गलपरिणामं च कुर्वंतमात्मानं मन्यंते द्विक्रियावादिनस्ततस्ते मिथ्यादृष्टय एवेति सिद्धांतः। मा चैकद्रव्येण द्रव्यद्वयपरिणामः क्रियमाणः प्रतिभातु। यथा किल कुलालः कलशसंभवानुकूलमात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति न पुनः कलशकरणाहंकारनिर्भरोपि स्वव्यापारानुरूपं मृत्तिकायाः कलशपरिणामं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तंमृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति। तथात्मापि पुद्गलकर्मपरिणामानुकूलमज्ञानादात्मपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु मा पुनः पुद्गलपरिणामकरणाहंकारनिर्भरोपि स्वपरिणामानुरूपं पुद्गलस्य परिणामं

पुरुषाः मिथ्यादृष्टयो भवंतीति। तथाहि—यथा कुंभकारः स्वकीयपरिणाममुपादानरूपेण करोति तथा घटमपि यद्युपादानरूपेण करोति तदा कुंभकारस्याचेतनत्वं घटरूपत्वं प्राप्नोति। घटस्य वा चेतनत्वंकुंभकाररूपत्वं च प्राप्नोतीति। तथा जीवोपि यद्युपादानरूपेण पुद्गलद्रव्यकर्म करोति तदा जीवस्याचेतनपुद्गलद्रव्यत्वं प्राप्नोति। पुद्गलकर्मणो वा चिद्रूपं

यहां प्रश्न उठता है कि दो क्रियाओं का अनुभव करने वाला पुरुष मिथ्यादृष्टि कैसे हो सकता है। उसका समाधान करते हैं;—[यस्मात् तु] जिस कारण [आत्मभावं] आत्मा के भाव को [च] और [पुद्गलभावं] पुद्गल के भाव को [द्वौ अपि] दोनों ही को आत्मा [कुर्वंति] करता है ऐसा कहते हैं [तेन तु] इसी कारण [द्विक्रियावादिनः] दो क्रियाओं को एक के ही कहने वाले [मिथ्यादृष्टयः] मिथ्यादृष्टि ही [भवंति] हैं।

टीका—निश्चय से जो आत्मा को आत्मा और पुद्गल के परिणामों का कर्ता मानते हैं, दोनों क्रियायें एक के ही कहने वाले हैं, वे मिथ्यादृष्टि ही हैं, ऐसा सिद्धान्त है। सो एक द्रव्य से दो परिणाम प्रतिभासित नहीं होते; जैसे कुम्हार के घड़े के होने के अनुकूल अपना व्यापार रूप हस्तादिक क्रिया, तथा इच्छा रूप परिणाम अपने से अभिन्न है तथा अपने से अभिन्नपरिणतिमात्रक्रिया से किये हुए को करता हुआ प्रतिभासित होना है और घट बनाने के अहंकार सहित है, तो भी मृत्तिका का मृत्तिका के व्यापार के अनुकूल घट परिणाम मिट्टी से अभेद रूप तथा मिट्टी से अभिन्न मृत्तिका परिणति मात्र क्रिया द्वारा किये हुए का करता नहीं मालूम होता। उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञान से पुद्गलकर्म के अनुकूल अपने से अभिन्न, अपने परिणाम अपने से अभिन्न अपनी परिणतिमात्र क्रिया से किये हुए को करता हुआ प्रति-

पुद्गलादव्यतिरिक्तं पुद्गलादव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु ॥ ८६ ॥

य: परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥ ५१ ॥
एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य ।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥ ५२ ॥

जीवत्वं प्रप्नोति । किं च । शुभाशुभं कर्म कुर्वेहमिति महाहंकाररूपं तमो मिथ्याज्ञानिनां न नश्यति । तर्हि केषां नश्यतीति चेत्, विषयसुखानुभवानंदवर्जिते वीतरागस्वसंवेदनवेद्ये भूतार्थनयेनैकत्वव्यवस्थापिते चिदानंदैकस्वभावे शुद्धपरमात्मद्रव्ये स्थितानामेव समस्तशुभाशुभपरभावशून्येन निर्विकल्पसमाधिलक्षणेन शुद्धोपयोगभावनाबलेन सज्ञानिनामेव विलयं विनाशं

भासित हो (जानो) परंतु पुद्गल परिणाम के करने के अहंकार युक्त होने पर भी पुद्गल के परिणाम के अनुकूल पुद्गल से अभिन्न जो पुद्गल परिणाम तथा पुद्गल से अभिन्न जो पुद्गल की परिणति मात्र क्रिया उससे किये हुए को करता हुआ मत प्रतिभासो (जानो) ।

भावार्थ—आत्मा अपने ही परिणाम को करता हुआ प्रतिभासित हो, पुद्गल के परिणाम को करता हुआ प्रतिभासित नहीं हो, इसी कारण आत्मा और पुद्गल इन दोनों की क्रियायें एक आत्मा की ही मानने वाले को मिथ्यादृष्टि कहा है । यदि जड़ और चेतन की एक क्रिया हो जाय, तो सर्व द्रव्य पलटने से सत् का लोप हो जाय, यह बड़ा भारी दोष हो ।

अब इसी अर्थ के समर्थन का कलशरूप काव्य कहते हैं—**यःपरिणमति** इत्यादि । **अर्थ**—जो परिणमन करता है, वह कर्ता है और जिसने परिणमन किया, उसका परिणाम कर्म है तथा परिणति क्रिया है । ये तीनों ही वस्तुत्व से भिन्न नहीं हैं ।

भावार्थ—द्रव्यदृष्टि से परिणाम और परिणामी में अभेद है तथा पर्यायदृष्टि से भेद है । वहां भेददृष्टि से तो कर्ता कर्म और क्रिया ये तीन कहे गये हैं और अभेददृष्टि से वास्तव में यह कहा गया है कि कर्ता, कर्म और क्रिया ये तीनों ही एक द्रव्य की अवस्थायें है, प्रदेश भेद रूप भिन्न वस्तु नहीं हैं ॥

फिर भी कहते हैं—**एकः** इत्यादि । **अर्थ**—वस्तु अकेली ही सदा परिणमन करती है, एक के ही सदा परिणाम होते हैं अर्थात् एक अवस्था से अन्य अवस्था होती है । तथा एक की ही परिणति क्रिया होती है । अनेक रूप हुई तो भी एक ही वस्तु है, भेद नहीं है ।

भावार्थ—एक वस्तु की अनेक पर्याय होती हैं, उनको परिणाम भी कहते हैं, अवस्था भी कहते हैं । वे संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनादिक से भिन्न-भिन्न प्रतिभास रूप हैं, तो भी एक वस्तु ही हैं, भिन्न नहीं हैं, ऐसा भेदाभेद स्वरूप ही वस्तु का स्वभाव है ।

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत ।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥ ५३ ॥
नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य ।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥ ५४ ॥
आसंसारत एव धावति परं कुर्वेहमित्युच्चकैः,
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः ।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत् ,
तत्किं ज्ञानघनस्य बंधनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥ ५५ ॥

गच्छति । तस्मिन्महाहंकारविकल्पजाले नष्टे सति पुनरपि बंधो न भवतीति ज्ञात्वा बहिर्द्रव्यविषये इदं करोमीदं न करोमीति दुराग्रहं त्यक्त्वा रागादिविकल्पजालशून्ये पूर्णकलशवच्चिदानंदैकस्वभावेन भरितावस्थे स्वकीयपरमात्मनि निरंतर भावना कर्त्तव्येति भावार्थः ॥ ८६ ॥

फिर कहते हैं—**नोभौ** इत्यादि । **अर्थ**—दो द्रव्य एक होकर परिणमन नहीं करते और दो द्रव्य का एक परिणाम भी नहीं होता तथा दो द्रव्य की एक परिणति क्रिया भी नही होती । क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं, वे अनेक ही है, एक नहीं होते ॥

भावार्थ—दो वस्तुयें सर्वथा भिन्न ही हैं, प्रदेश भेदरूप ही हैं, दोनों एक रूप होकर नहीं परिणमन करतीं, एक परिणाम को भी नही उपजातीं और एक क्रिया भी उनकी नहीं होती, ऐसा नियम है । जो दो द्रव्य एक रूप होकर परिणमन करें तो सब द्रव्यों का लोप हो जाय ॥

इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं—**नैकस्य** इत्यादि । **अर्थ** एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते, एक द्रव्य के दो कर्म नही होते और एक द्रव्य की दो क्रियायें भी नहीं होतीं क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्य रूप नही होता ।

अब कहते है कि आत्मा के अनादि से परद्रव्य के कर्ता कर्मत्व का अज्ञान है वह यदि परमार्थनय के ग्रहण से एक बार भी विलय हो जाय तो फिर कभी नहीं आ सकता—**आसंसारत** इत्यादि । **अर्थ**—इस जगत में मोही अज्ञानी जीवों का यह "मै परद्रव्य को करता हूं" ऐसा परद्रव्य के कर्तृत्व का अहंकार रूप अज्ञानांधकार अनादि संसार से लेकर चला आया है । जो कि अत्यंत दुर्निवार है, यदि परमार्थ-सत्यार्थ-शुद्ध-द्रव्यार्थिक अभेद नय के ग्रहण से वह एकबार भी नष्ट हो जाय तो यह जीव ज्ञानघन है। अतः यथार्थ ज्ञान होने के बाद ज्ञान कहां जा सकता है जब ज्ञान नहीं जा सकता, तब फिर कैसे अज्ञान से बंध हो सकता है ॥

भावार्थ—यहां ऐसा तात्पर्य है कि अज्ञान तो अनादि का ही है परंतु यदि दर्शनमोह का नाश कर एक बार यथार्थ ज्ञान होकर क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न हो जाय तो फिर मिथ्यात्व नहीं आ सकता तब उस मिथ्यात्व का बंध भी नहीं हो सकता और मिथ्यात्व गये बाद संसार-बंधन कैसे रह सकता है ?

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥ ५६ ॥

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं ।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ॥ ८७ ॥

मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानं ।
अविरतियोगो मोहः क्रोधाद्या इमे भावाः ॥ ८७ ॥

मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो हि भावाः ते तु प्रत्येकं मयूरमुकुरंदवज्जीवाजीवाभ्यां भाव्यमानत्वाज्जीवाजीवौ । तथाहि—यथा नीलकृष्णहरितपीतादयो भावाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेन मयूरेण भाव्यमानाः मयूर एव । यथा च नीलकृष्णहरितपीतादयो भावाः स्वच्छताविकारमात्रेण मुकुरंदेन भाव्यमाना मुकुरंद एव । तथा मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेनाजीवेन भाव्यमाना अजीव एव । तथैव च मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाश्चैतन्यविकारमात्रेण जीवेन भाव्यमाना जीव एव ॥ ८७ ॥

इति द्विक्रियावादिसंक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाद्वयं गतं । अथ तस्यैव विशेषव्याख्यानं करोति;—

पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं ॥

फिर भी विशेषता से कहते हैं—**आत्म** इत्यादि । **अर्थ**—आत्मा तो अपने भावों को ही करता है और परद्रव्य पर के भावों को करता है । क्योंकि अपने भाव तो अपने ही हैं तथा परभाव परके ही हैं, यह नियम है ॥ ८६ ॥

शंका:—परद्रव्य का कर्ताकर्मत्व मानने वाला मिथ्यादृष्टि है यह कहा है । वहां पर शंका होती है कि यह मिथ्यात्वादि भाव क्या वस्तु हैं ? यदि जीव के परिणाम कहे जांय तो पहले रागादि भावों को पुद्गल के परिणाम कहा था, उस कथन से यहां विरोध आता है । यदि पुद्गल का परिणाम कहे जांय तो जीव का कुछ प्रयोजन नहीं इसलिये फिर उसका फल जीव क्यों पावे ? इस शंका के दूर करने के लिये यह कहते हैं **[पुनः]** जो **[मिथ्यात्वं]** मिथ्यात्व कहा गया था वह **[द्विविधं]** दो प्रकार है **[जीवं अजीवं]** एक जीव मिथ्यात्व, एक अजीव मिथ्यात्व **[तथैव]** और उसी प्रकार **[अज्ञानं]** अज्ञान **[अविरतिः]** अविरति **[योगः]** योग **[मोहः]** मोह और **[क्रोधाद्याः]** क्रोधादि कषाय **[इमे भावाः]** ये सभी भाव जीव अजीव के भेद से दो-दो प्रकार हैं ।

टीका—मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादिक जो भाव हैं वे प्रत्येक पृथक्-पृथक् मयूर और दर्पण की भांति जीव अजीव से भावित हैं । इसलिये जीव भी हैं और अजीव भी हैं । जैसे मयूर के नीले,

काविह जीवाजीवाविति चेत् :—

पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं ।
उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छं च जीवो दु ॥ ८८ ॥

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमजीवः ।
उपयोगोऽज्ञानमविरतिर्मिथ्यात्वं च जीवस्तु ॥ ८८ ॥

यः खलु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादिरजीवस्तदमूर्त्तांच्चैतन्यपरिणामादन्यत् मूर्त्तं पुद्गलकर्म, यस्तु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादि जीवः स मूर्त्तात्पुद्गलकर्मणोऽन्यश्चैतन्य-परिणामस्य विकारः ॥ ८८ ॥

पुद्गलकर्मनिमित्तं यथात्मा करोति आत्मनः भावं । पुद्गलकर्मनिमित्तं तथा वेदयति आत्मनो भावं **पुग्गलक-म्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं** उदयागत द्रव्यकर्मनिमित्तं कृत्वा यथात्मा निर्विकारस्वसं-वित्तिपरिणामशून्यः सन्करोत्यात्मनः संबंधिनं सुखदुःखादिभावं परिणामं **पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो**

काले, हरे, पीले आदि वर्ण रूप भाव मयूर के निज स्वभाव से आये हुए मयूर ही हैं। तथा जैसे दर्पण में उन वर्णों के प्रतिबिंब दीखते हैं, वे दर्पण की स्वच्छता निर्मलता के विकार मात्र से आये हुए दर्पण ही है। मयूर की और दर्पण की अत्यंत भिन्नता है। उसी प्रकार मिथ्या दर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादिक भाव अपने अजीव के द्रव्य स्वभाव से अजीव रूप से आये हुए अजीव ही हैं तथा वे मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि भाव चैतन्य के विकार मात्र से जीव से आये हुए जीव ही हैं।

भावार्थ—कर्म के निमित्त से जीव विभाव रूप परिणमन करते हैं वे जो चेतन के विकार हैं, वे जीव ही हैं और जो पुद्गल मिथ्यात्वादिक कर्मरूप परिणमन करते हैं, वे पुद्गल के परमाणु है तथा उनका विपाक उदय रूप होकर वे स्वाद रूप होते हैं, वे मिथ्यात्वादि अजीव हैं। ऐसे मिथ्यात्वादि भाव जीव अजीव के भेद से दो प्रकार हैं। यहांपर ऐसा जानना कि जो मिथ्यात्वादि कर्म की प्रकृतियां है, वे पुद्गल द्रव्य के परमाणु हैं, उनका उदय हो तब उपयोग स्वरूप जीव के उपयोग की स्वच्छता के कारण जिसके उदय का स्वाद आये, तब उसी के आकार उपयोग हो जाता है। तब अज्ञान से उसका भेदज्ञान नहीं होता, उस स्वाद को ही अपना भाव जानता है। जब इसका भेद ज्ञान ऐसा हो जाय कि जीवभाव को जीव जानें और अजीवभाव को अजीव जानें, तभी मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान होता है ॥ ८७ ॥

यहाँ पूछते हैं कि मिथ्यात्वादिक जीव अजीव कहे हैं वे कौन हैं, उसका उत्तर कहते हैं—**[मिथ्या-त्वं]** जो मिथ्यात्व **[योगः]** योग **[अविरतिः]** अविरति **[अज्ञानं]** अज्ञान **[अजीवः]** ये अजीव हैं वे तो **[पुद्गलकर्म]** पुद्गल कर्म हैं **[च]** और जो **[अज्ञानं]** अज्ञान **[अविरतिः]** अविरति **[मिथ्यात्वं]** मिथ्यात्व **[तु जीवः]** ये जीव हैं वे **[उपयोगः]** उपयोग हैं।

मिथ्यादर्शनादिश्चैतन्यपरिणामस्य विकारः कुत इति चेत् :—

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्ण मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ॥ ८९ ॥

उपयोगस्यानादयः परिणामास्त्रयो मोहयुक्तस्य ।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्च ज्ञातव्यः ॥ ८९ ॥

उपयोगस्य हि स्वरसत एव समस्तवस्तुस्वभावभूतस्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सत्यनादिवस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारः। स तु तस्य स्फटिकस्वच्छताया इव परतोपि प्रभवन् दृष्टः। यथा हि स्फटिकस्वच्छतायाःस्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सति कदाचिन्नीलहरितपीततमालकदलीकांचनपात्रोपाश्रययुक्तत्वान्नीलो हरितः पीत इति त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टस्तथोपयोगस्यानादिमिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिस्वभाववस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टव्यः ॥ ८९ ॥

भावं तथैवोदयागतद्रव्यकर्मनिमित्तं लब्ध्वा स्वशुद्धात्मभावनोत्थवास्तवसुखास्वादमवेदयन्सन् तमेव कर्मोदयजनितस्वकीयरागादिभाव वेदयत्यनुभवति। न च द्रव्यकर्मरूपपरभावमित्यभिप्रायः। अथ चिद्रूपानात्मभावानात्मा करोति तथैवाचिद्रूपान् द्रव्यकर्मादिपरभावान् परः पुद्गलः करोतीत्याख्याति;—**मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं** मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवस्वभावमजीवस्वभावं च **तहेव अण्णाणं अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा** तथैव चाज्ञान-

---

टीका—जो निश्चय से मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि अजीव हैं, अमूर्तिक चैतन्य के परिणाम से अन्य हैं मूर्तिक हैं वे तो पुद्गल कर्म हैं और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जीव हैं वे मूर्तिक पुद्गलकर्म से अन्य हैं, चैतन्यपरिणाम के विकार हैं। ८८ ॥

प्रश्न—जीव मिथ्यात्वादि चैतन्यपरिणाम का विकार किस कारण है ? **उत्तर—[मोहयुक्तस्य]** अनादि से मोहयुक्त होने से **[उपयोगस्य]** उपयोग के **[अनादयः]** अनादि से लेकर **[त्रयः परिणामाः]** तीन परिणाम हैं वे **[मिथ्यात्वं]** मिथ्यात्व **[अज्ञानं]** अज्ञान **[च अविरतिभावः]** और अविरतिभाव ये तीन **[ज्ञातव्यः]** जानना चाहिये।

टीका—निश्चय से समस्त वस्तुओं का अपने स्वरसपरिणमन से स्वभावभूत स्वरूप परिणाम में समर्थता होने पर भी आत्मा के उपयोग के अनादि से ही अन्य वस्तुभूत मोहयुक्त होने से मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति ऐसे तीन प्रकार परिणाम के विकार हैं। ये, जैसे स्फटिकमणि की स्वच्छता में पर के डंक से परिणाम विकार हुआ देखा जाता है, उसी प्रकार हैं। जैसे स्फटिक की स्वच्छता में अपना स्वरूप उज्जवलतारूप परिणाम की सामर्थ्य होने पर भी किसी समय काला, हरा, पीला जो तमाल, केला, कंचन के पात्र समीपवर्ती आश्रय की युक्तता से नीला, हरा, पीला ऐसा तीन प्रकार परिणाम का

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारस्य कर्तृत्वं दर्शयति:—

एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥ ६० ॥

एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरंजनो भावः।
यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्ता ॥ ६० ॥

अथैवमयमनादिवस्त्वंतरभूतमोहयुक्तत्वादात्मन्युत्प्लवमानेषु मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिभावेषु परिणामविकारेषु त्रिष्वेतेषु निमित्तभूतेषु परमार्थतः शुद्धनिरंजनानादिनिधनवस्तु सर्वस्वभूतचिन्मात्रभावत्वेनैकविधोऽप्यशुद्धसांजनानेकभावत्वमापद्यमानस्त्रिविधो भूत्वा स्वयमज्ञानीभूतः

मविरतिर्योगो मोह: क्रोधादयोऽमी भावा: पर्याया जीवरूपा अजीवरूपाश्च भवंति मयूरमुकुरंदवत्। तद्यथा— यथा मयूरेण भाव्यमाना अनुभूयमानानीलपीताद्याकारविशेषा मयूरशरीराकारपरिणता मयूर एव चेतना एव तथा निर्मलात्मानुभूतिच्युतजीवेन भाव्यमाना अनुभूयमाना सुखदुःखादिविकल्पा जीव एवाशुद्धनिश्चयेन चेतना एव। यथा च मुकुरंदेन स्वच्छतारूपेण भाव्यमाना: प्रकाशमानमुखप्रतिबिंबादिविकारा मुकुरंद एव अचेतना एव तथा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्येणोपादानभूतेन क्रियमाणा ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपर्याया: पुद्गल एव अचेतना एवेति ॥ ८७ ॥ अथ कतिविधौ जीवाजीवाविति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह;—**पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं** पुद्गलकर्मरूपं मिथ्यात्वं योगोऽविरतिरज्ञानमित्यजीव:। **उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छत्त जीवो दु** उपयोगरूपो भावरूप: शुद्धात्मादितत्त्वभावविषये विपरीतपरिच्छित्तिविकारपरिणामो जीवस्याज्ञानं निर्विकारस्वसंवित्तिविपरीताव्रतपरिणामविकारोऽविरति:। विपरीताभिनिवेशोपयोगविकाररूपं शुद्धजीवादिपदार्थविषये विपरीतश्रद्धानं मिथ्यात्वमिति जीव:। जीव इति कोऽर्थ:। जीवरूपाभावप्रत्यया इति ॥ ८८ ॥ अथ शुद्धचैतन्यस्वभावजीवस्य कथं मिथ्यादर्शनादिविकारो जात इति चेत्;—**उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि** उपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा तस्य संबंधित्वेनादिसंतानापेक्षया त्रय: परिणामा ज्ञातव्या:। कथंभूतस्य तस्य। **मोहजुत्तस्स** मोहयुक्तस्य। के ते परिणामा:। **मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णादव्वो** मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्चेति ज्ञातव्य इति। तथाहि-यद्यपि शुद्धनिश्चयन-

---

विकार दीखता है, उसी प्रकार आत्मा के उपयोग के अनादि मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति स्वभावरूप अन्य वस्तुभूत मोह की युक्तता मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति ऐसे तीन प्रकार परिणाम विकार जानना ॥

भावार्थ—आत्मा के उपयोग में ये तीन प्रकार के परिणाम विकार अनादि कर्म के निमित्त से हैं, ऐसा नहीं कि पहले आत्मा शुद्ध ही था, अब यह नवीन अशुद्ध हुआ है। ऐसा हो तो सिद्धों को भी नवीन अशुद्ध होना चाहिये किन्तु ऐसा नहीं है ॥ ८९ ॥

अब आत्मा के इन तीन प्रकार के परिणाम विकारों का कर्तृत्व दिखलाते हैं;— **[एतेषु च]** मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति इन तीनों का अनादि से निमित्त होने पर **[उपयोगः]** आत्मा का उपयोग **[शुद्धः]** शुद्धनय से एक शुद्ध **[निरंजनः]** निरंजन है तोभी **[त्रिविधः भावः]** मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इस तरह तीन प्रकार परिणामवाला है। **[सः]** वह आत्मा **[यं]** इन तीनों में से जिस **[भावं]** भाव को

कर्तृत्वमुपढौकमानो विकारेण परिणम्य यं यं भावमात्मनः करोति तस्य तस्य किलोपयोगः कर्त्ता स्यात् ॥ ९० ॥

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति पुद्गलद्रव्यं स्वत एव कर्मत्वेन परिणमतीत्याह:—

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमदे तह्मि सयं पुग्गलं दव्वं ॥ ९१ ॥

यं करोति भावमात्मा कर्त्ता स भवति तस्य भावस्य ।
कर्मत्वं परिणमते तस्मिन् स्वयं पुद्गलद्रव्यं ॥ ९१ ॥

येन शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवस्तथाप्यनादिमोहनीयादिकर्मबंधवशान्मिथ्यात्वाज्ञानाविरतिरूपास्त्रयः परिणामविकाराः संभवंति । तत्र शुद्धजीवस्वरूपमुपादेयं मिथ्यात्वादिविकारपरिणामा हेया इति भावार्थः ॥ ८९ ॥ अथात्मनो मिथ्यात्वादित्रिविधपरिणामविकारस्य कर्तृत्वमुपदिशति;—**एदेसु य** एतेषु च मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेषूदयागतेषु निमित्तभूतेषु सत्सु **उवओगो** ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा **तिविहो** कृष्णनीलपीतत्रिविधोपाधिपरिणतस्फटिकवत्त्रिविधो भवति । परमार्थेन तु **सुद्धो** शुद्धो रागादिभावकर्मरहितः **णिरंजणो** निरंजनो ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मांजनरहितः । पुनश्च कथंभूतः । **भावो**

[करोति] स्वयं करता है **[तस्य]** उसी का **[सः]** वह **[कर्ता]** कर्ता **[भवति]** होता है ।

टीका—पहली गाथा मे कहे गये जो तीन प्रकार के उपयोग के परिणाम हैं वे अब पूर्वोक्त प्रकार अनादि अन्य वस्तुभूतमोहसहित होने से आत्मा में उत्पन्न हुए जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति भावरूप तीन परिणाम विकार उनके निमित्त कारण होने से, आत्मा का स्वभाव परमार्थ से देखा जाय तो शुद्ध, निरंजन, एक, अनादिनिधन वस्तु का सर्वस्वभूत चैतन्यभावरूप से एक प्रकार है, तो भी अशुद्ध सांजन अनेक भावपने को प्राप्त हुआ तीन प्रकार होकर आप अज्ञानी हुआ कर्तृत्व को प्राप्त होता हुआ विकार रूप परिणाम से जिस जिस भाव को आप करता है, उस उस भाव का उपयोग निश्चय से कर्ता होता है ।

भावार्थ—पहले कहा था कि जो परिणमन करे, वह कर्ता है सो यहां अज्ञानरूप होकर उपयोग से परिणमन करता है, वह जिस रूप परिणमन करता है, उसी का कर्ता कहा जाता है । शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से आत्मां कर्ता नहीं है । यहां उपयोग को कर्ता जानना, उपयोग और आत्मा एक ही वस्तु है, इसलिये आत्मा को ही कर्ता कहा जाता है ॥ ९० ॥

आगे आत्मा के तीन प्रकार परिणाम विकार का कर्तापना होने पर पुद्गलद्रव्य आप ही कर्मत्व रूप होकर परिणमन करता है, ऐसा कहते हैं :—**[आत्मा]** आत्मा **[यं भावं]** जिस भाव को **[करोति]** करता है **[तस्य भावस्य]** उस भाव का **[कर्ता]** कर्ता **[सः]** आप **[भवति]** होता है **[तस्मिन्]** उसके कर्ता होने पर **[पुद्गलद्रव्यं]** पुद्गलद्रव्य **[स्वयं]** अपने आप **[कर्मत्वं]** कर्मरूप **[परिणमते]** परिणमन करता है ।

आत्मा ह्यात्मना तथापरिणमनेन यं भावं किल करोति तस्यायं कर्ता स्यात्साधकवत् तस्मिन्निमित्ते सति पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते। तथाहि–यथा साधकः किल तथाविधध्यानभावेनात्मना परिणममानो ध्यानस्य कर्ता स्यात्। तस्मिंस्तु ध्यानभावे सकलसाध्य-भावानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सति साधकं कर्तारमन्तरेणापि स्वयमेव बाध्यंते विषव्याप्तयो, विडंब्यंते योषितो, ध्वंस्यंते बंधास्तथायमज्ञानादात्मा मिथ्यादर्शनादिभावेनात्मना परिणममानो मिथ्यादर्शनादिभावस्य कर्ता स्यात्। तस्मिंस्तु मिथ्यादर्शनादौ भावे स्वानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सत्यात्मानं कर्तारमंतरेणापि पुद्गलद्रव्यं मोहनीयादिकर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते ॥ ९१ ॥

भाव. पदार्थः अखडैकप्रतिभासमयज्ञानस्वभावेनैकविधोपि पूर्वोक्तमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रपरिणामविकारेण त्रिविधो भूत्वा **जं सो करेदि भावं** यं परिणाम करोति स आत्मा **उवओगो** चैतन्यानुविधायिपरिणाम उपयोगो भण्यते तल्लक्षणत्वादुपयोगरूप.। **तस्स सो कत्ता** निर्विकारस्वसवेदनज्ञानपरिणामच्युत. सन् तस्यैव मिथ्यात्वादित्रिविधविकारपरिणामस्य कर्त्ता भवति। न च द्रव्यकर्मण इति भावः ॥ ९० ॥

अथात्मनो मिथ्यात्वादित्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं स्वत एवोपादानरूपेण कर्मत्वेन परिणमतीति कथयतिः—**जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स** यं भावं मिथ्यात्वादिविकारपरिणामं शुद्धस्वभावच्युतः सन् आत्मा करोति तस्य भावस्य स कर्त्ता भवति **कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं** तस्मिन्नेव त्रिविधविकारपरिणामकर्तृत्वे सति कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्य स्वयमेवोपादानरूपेण द्रव्यकर्मत्वेन परिणमति। किंवत् गारुडादिमंत्रपरिणतपुरुषपरिणामे सति देशातरे स्वयमेव तत्पुरुषव्यापारमतरेणापि

टीका—आत्मा निश्चय से आप ही उस प्रकार परिणमन कर प्रगटरूप से जिस भाव को करता है उसी का वह कर्ता होता है मंत्र साधने वाले की तरह। तथा उस आत्मा को वैसा निमित्त होने पर पुद्गलद्रव्य कर्मभाव रूप आप ही परिणमन करता है। जैसे मंत्र साधने वाला पुरुष जिस प्रकार के ध्यानरूपभाव से स्वयं परिणमन करता है, उसी ध्यान का कर्ता होता है। और जो समस्त उस साधक के साधने योग्य वस्तु उसकी अनुकूलता से उस ध्यानभाव के निमित्तमात्र होने पर उस साधक के विना ही अन्य सर्पादिक की विष की व्याप्ति स्वयमेव मिट जाती है, स्त्रीजन विडंबना रूप हो जाती है और बंधन खुल जाते हैं। इत्यादि कार्य मंत्र के ध्यान की सामर्थ्य से हो जाते हैं। उसी प्रकार यह आत्मा अज्ञान से मिथ्यादर्शनादिभाव से परिणमन करता हुआ मिथ्यादर्शनादिभाव का कर्ता होता है, तब उस मिथ्यादर्शनादिभाव को अपने करने की अनुकूलता से निमित्तमात्र होने पर आत्मा कर्ता के विना पुद्गलद्रव्य आप ही मोहनीयादि कर्मरूप से परिणमन करता है।

भावार्थ—आत्मा जब अज्ञानरूप परिणमन करता है, तब किसी से ममत्व करता है, किसी से राग करता है, किसी से द्वेष करता है, उन भावों का आप कर्ता होता है। उसके निमित्तमात्र होने पर पुद्गलद्रव्य आप अपने भाव से कर्मरूप होकर परिणमन करता है। परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है। कर्ता दोनों अपने-अपने भाव के हैं, यह निश्चय है ॥ ९१ ॥

अज्ञानादेव कर्म प्रभवतीति तात्पर्यमाह;—

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥ ९२ ॥

परमात्मानं कुर्वन्नात्मानमपि च परं कुर्वन् सः।
अज्ञानमयो जीवः कर्मणां कारको भवति ॥ ९२ ॥

अयं किलाज्ञानेनात्मा परात्मनोः परस्परविशेषानिर्ज्ञाने सति परमात्मानं कुर्वन्नात्मानं च परं कुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूतः कर्मणां कर्ता प्रतिभाति। तथाहि—तथाविधानुभवसंपादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानुभवसंपादनसमर्थायाः शीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यंतभिन्नायास्तन्निमित्ततथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यंतभिन्नस्याज्ञानात्परस्परविशेषानिर्ज्ञाने

विषापहारबंधविध्वंसस्त्रीविडंबनादिपरिणामवत्। तथैव च मिथ्यात्वरागादिविभावविनाशकाले निश्चयरत्नत्रयरूपशुद्धोपयोगपरिणामे सति गारुडमंत्रस्यसामर्थ्येन निर्बीजविषवत् स्वयमेव नीरसीभूय पूर्वबद्धं द्रव्यकर्म जीवात्पृथग्भूत्वा निर्जरां गच्छतीति भावार्थः। एवं स्वतंत्रव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाषट्कं गतं ॥ ९१ ॥ अथ निश्चयेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानस्याभाव एवाज्ञानं भण्यते। तस्मादज्ञानादेव कर्म प्रभवतीति तात्पर्यमाह;—**परं** परद्रव्यं भावकर्मद्रव्यकर्मरूपं **अप्पाणं कुव्वदि** परद्रव्यात्मनोर्भेदज्ञानाभावादात्मानं करोति **अप्पाणं पि य परं करंतो** शुद्धात्मानं च परं करोति यः **सो अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि** स चाज्ञानमयो जीवः कर्मणां कर्ता भवति। तद्यथा—यथा कोपि पुरुषः शीतोष्णरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायास्तथाविधशीतोष्णानुभवस्य चैकत्वाभ्यासाद्भेदमजानन् शीतोहमुष्णोहमिति प्रकारेण

अज्ञान से ही कर्म होता है यह स्पष्ट करते हुए कहते हैं;—यह[जीवः]जीव[अज्ञानमयः]स्वयं अज्ञानी हुआ [परं] पर को [आत्मानं कुर्वन्] अपने करता है [च] और [आत्मानं अपि] अपने को [परं] पर के [कुर्वन्] करता है इस तरह [सः] वह [कर्मणां] कर्मों का [कारकः] कर्ता [भवति] होता है।

टीका—यह आत्मा अज्ञान से पर के और अपने विशेष का भेदज्ञान न होने से पर को तो अपने करता है, और अपने को परके करता है, इस प्रकार स्वयं अज्ञानी हुआ कर्मों का कर्ता होता है। जैसे शीत उष्ण का अनुभव कराने में समर्थ जो पुद्गल परिणाम की शीत उष्ण अवस्था है वह पुद्गल से अभिन्न होने से आत्मा से नित्य ही अत्यंत भिन्न है, वैसे उस प्रकार का अनुभव कराने में समर्थ जो रागद्वेष सुखदुःखादिरूप पुद्गल परिणाम की अवस्था वह पुद्गल की अभिन्नता के कारण आत्मा से नित्य ही अत्यन्त भिन्न है। उस निमित्त से हुए उस प्रकार के रागद्वेषादिक के अनुभव का आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से नित्य ही अत्यन्त भिन्नता है, तौ भी उस रागद्वेषादिक का और उसके अनुभव का अज्ञान से परस्पर भेदज्ञान होने से एकत्व के निश्चय से जिस प्रकार शीत उष्णरूप से आत्मा

सत्येकत्वाध्यासात् शीतोष्णरूपेणैवात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणाज्ञानात्मना परिणममानो ज्ञानस्याज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूत एषोहं रज्ये इत्यादिविधिना रागादेः कर्मणो (ज्ञानविरुद्धस्य) कर्ता प्रतिभाति ॥ ६२ ॥

ज्ञानात्तु न कर्म प्रभवतीत्याह;—

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो ॥
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारओ होदि ॥ ९३ ॥

परमात्मानमकुर्वन्नात्मानमपि च परमकुर्वन् ।
स ज्ञानमयो जीवः कर्मणामकारको भवति ॥ ९३ ॥

अयं किल ज्ञानादात्मा परात्मनोः परस्परविशेषनिर्ज्ञाने सति परमात्मानमकुर्वन्नात्मानं च परमकुर्वन्स्वयं ज्ञानमयीभूतः कर्मणामकर्ता प्रतिभाति । तथाहि—तथाविधानुभवसंपादन-

---

शीतोष्णपरिणतेः कर्ता भवति । तथा जीवोपि निजशुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नाया उदयागतपुद्गलपरिणामावस्थायास्तन्निमित्त-सुखदुःखानुभवस्य चैकत्वाध्यवसायारोपात् परद्रव्यात्मनोः समस्तरागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानाभावाद्भेदमजानन्नहं सुखी दुःखीति प्रकारेण परिणामस्कर्मणां कर्ता भवतीति भावार्थः ॥ ९२ ॥ अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानात्सकाशात्कर्म न प्रभवतीत्याह;—**परं** परं परद्रव्यं बहिर्विषये देहादिकमभ्यंतरे रागादिकं भावकर्मरूपं द्रव्यकर्मरूपं वा **अप्पाणमकुव्वी** भेदविज्ञानबलेनात्मानमकुर्वन्नात्मसम्बन्धमकुर्वन् **अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो** शुद्धद्रव्यगुणपर्यायस्वभावं निजा-

---

परिणमन करता है, उसी प्रकार रागद्वेष सुख-दुःखादिरूप भी अपने आप परिणमन करने में असमर्थ है तौ भी रागद्वेषादिक पुद्गल परिणाम की अवस्था को उसके अनुभव का निमित्त मात्र होने से अज्ञान स्वरूप रागद्वेषादिरूप परिणमन करता हुआ अपने ज्ञान की अज्ञानता को प्रकट करता आप अज्ञानी हुआ 'यह मैं रागी हूं' इत्यादि विधान कर रागादिककर्म का कर्ता प्रतिभासित होता है ।

भावार्थ—रागद्वेष सुख-दुःखादि अवस्था पुद्गलकर्म के उदय का स्वाद है, अतः यह पुद्गल कर्म से अभिन्न है, आत्मा से अत्यन्त भिन्न है । आत्मा को अज्ञान से इसका भेदज्ञान नहीं है; इसलिए ऐसा जानता है कि यह स्वाद मेरा ही है; क्योंकि ज्ञान की स्वच्छता ऐसी ही है कि रागद्वेषादि का स्वाद शीत उष्ण की तरह ज्ञान में प्रतिबिम्बित होता है तब ऐसा मालूम होता है, कि मानों ये ज्ञान ही हैं । इस कारण ऐसे अज्ञान से इस अज्ञानी जीव के इनका कर्तृत्व भी आया । क्योंकि इसके ऐसी मान्यता हुई । मैं रागी हूं, द्वेषी हूं, क्रोधी हूं मानी हूं इत्यादि । इस प्रकार वह परका कर्ता होता है ॥ ९२ ॥

अब ऐसा कहते हैं कि ज्ञान से कर्म नहीं उत्पन्न होता;—[जीवः] जो जीव [आत्मानं] अपने को [परं] पर [अकुर्वन्] नहीं करता [च] और [परं] परको [आत्मानं अपि] अपने रूप भी [अकुर्वन्] नहीं करता [स जीवः] वह जीव [ज्ञानमयः] ज्ञानमय है [कर्मणां] कर्मों का [अकारकः] करने वाला नहीं [भवति] है ।

समर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानुभवसंपादनसमर्थयाः शीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यंतमिन्नायास्तन्निमित्ततथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यंतभिन्नस्य ज्ञानात्परस्परविशेषनिर्ज्ञाने सति नानात्वविवेकाच्छीतोष्णरूपेणैवात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणाज्ञानात्मना मनागप्यपरिणममानो ज्ञानस्य ज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन् स्वयं ज्ञानमयीभूतः एषोऽहं जानाम्येव, रज्यते तु पुद्गल इत्यादिविधिना समग्रस्यापिरागादेः कर्मणो ज्ञानविरुद्धस्याकर्ता प्रतिभाति ।। ९३ ।।

त्मानं च परमकुर्वन् **सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारओ होदि** स निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानी जीवः कर्मणामकर्ता भवतीति । तथाहि—यथा कश्चित् पुरुषः शीतोष्णरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायास्तथाविधशीतोष्णानुभवस्य चात्मनः सकाशाद्भेदज्ञानात् शीतोहमुष्णोहमिति परिणतेः कर्ता न भवति । तथा जीवोपि निज शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नायाः पुद्गलपरिणामावस्थायास्तन्निमित्तसुखदुःखानुभवस्य च स्वशुद्धात्मभावनोत्थसुखानुभवभिन्नस्य भेदज्ञानाभ्यासात्परात्मनोर्भेदज्ञाने सति रागद्वेषमोहपरिणाममकुर्वाणः कर्मणां कर्ता न भवति । ततः स्थितं ज्ञानात्कर्म न प्रभवतीत्यभिप्रायः ।। ९३ ।। अथ कथमज्ञानात्कर्मं प्रभवतीति पृष्टे गाथाद्वयेन प्रत्युत्तरमाह :—**तिविहो एसुवओगो** त्रिविधस्त्रिप्रकार एष प्रत्यक्षीभूत उपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा **अस्सवियप्पं करेदि** स्वस्थ-

---

टीका—यह जीव ज्ञान से परका और अपना परस्पर भेदज्ञान होने से परको तो आप नहीं करता है और अपने को पर नहीं करता है, तब आप ज्ञानी हुआ कर्मों का अकर्ता प्रतिभासित होता है। उसी को स्पष्ट करते हैं—जैसे शीत उष्ण स्वरूप जो पुद्गलपरिणाम की अवस्था है, वह शीत उष्ण अनुभवन कराने को समर्थ है। वह पुद्गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से नित्य ही अत्यंत भिन्न है, उसी प्रकार राग-द्वेष सुख-दुःखादिरूप जो पुद्गल परिणाम की अवस्था है, वह राग-द्वेष-सुख-दुःखादिरूप अनुभव कराने में समर्थ है, ऐसी अवस्था जिसको निमित्त है और उस प्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से अत्यंत सदा ही भिन्नता के ज्ञान से परस्पर विशेष का भेदज्ञान होने पर नानात्व के विवेक से, जैसे शीत उष्ण रूप आत्मा स्वयं परिणमन में असमर्थ है, उसी प्रकार राग-द्वेष सुख-दुःखादिरूप भी स्वयं परिणमन करने में असमर्थ है। इसतरह अज्ञान स्वरूप जो राग-द्वेष-सुख-दुःखादिक उन रूपसे न परिणमन करता, ज्ञान के ज्ञानत्व को प्रकट करता, ज्ञानमय हुआ, ऐसा जानता है कि "यह मैं रागद्वेषादिक को जानता ही हूं और ये रागरूप पुद्गल हैं। इत्यादि विधान कर सर्व ही जो ज्ञान से विरुद्ध रागादिक कर्म उनका कर्ता प्रतिभासित नहीं होता ।।

भावार्थ—जब राग-द्वेष सुख-दुःख अवस्था को ज्ञान से भिन्न जाने कि 'जैसे पुद्गल की शीत उष्ण अवस्था है, उसी प्रकार रागद्वेषादिक भी हैं' ऐसा भेदज्ञान हो तब अपने को ज्ञाता जाने, रागादिरूप पुद्गल को जाने। ऐसा होने पर इनका कर्ता आत्मा नहीं होता ज्ञाता ही रहता है ।। ९३ ।।

कथमज्ञानात्कर्म प्रभवतीति चेत्:—

तिविहो एसुवश्रोगो अप्पवियप्पं करेइ कोहोहं ।
कत्ता तस्सुवश्रोगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥ ९४ ॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति क्रोधोहं ।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥ ९४ ॥

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारश्चैतन्यपरिणामः परात्मनोरविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषविरत्या च समस्तं भेदमपह्नुत्य भाव्यभावकभावापन्नयोश्चेतनाचेतनयोः सामानाधिकरण्येनानुभवनात्क्रोधोहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति । ततोयमात्मा क्रोधोहमिति भ्रांत्या सविकारेण चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सविकारचैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात् । एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभमोहरागद्वेषकर्मनोकर्म-

---

भावस्याभावादसद्विकल्पं मिथ्याविकल्पं करोति । केन रूपेण, **कोहोहं** क्रोधोहमित्यादि **कत्ता तस्सुवश्रोगस्स होदि सो** स जीवः तस्य क्रोधाद्युपयोगस्य विकल्पस्य कर्त्ता भवति । कथंभूतस्य, **अत्तभावस्स** आत्मभावस्याशुद्धनिश्चयेन जीवपरिणामस्येति । तथाहि—सामान्येनाज्ञानरूपेणैकविधोपि विशेषेण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्ररूपेण त्रिविधो भूत्वा एष उपयोग आत्मा क्रोधाद्यात्मनोर्भाव्यभावकभावापन्नयो । भाव्यभावकभावापन्नयोः कोर्थः ? भाव्यः क्रोधादिपरिणत आत्मा, भावको रंजकश्चांतरात्मभावनाविलक्षणो भावक्रोधः । इत्थंभूतयोर्द्वयोर्भेदज्ञानाभावाद्भेदमजानन्निर्विकल्पस्वरूपाद् भ्रष्टः सन् क्रोधोहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति, तस्यैव क्रोधाद्युपयोगपरिणामस्याशुद्धनिश्चयेन कर्ता भवतीति भावार्थः ।

आगे पूछते हैं कि अज्ञान से कर्म कैसे उत्पन्न होता है ? उसका उत्तर कहते हैं;— **[एषः]** यह **[त्रिविधः]** तीन प्रकार का **[उपयोगः]** उपयोग **[आत्मविकल्पं]** अपने मे विकल्प करता है, कि **[अहं क्रोधः]** मैं क्रोध स्वरूप हूं **[तस्य]** उस **[आत्मभावस्य]** अपने **[उपयोगस्य]** उपयोग भाव का **[सः]** वह **[कर्ता]** कर्ता **[भवति]** होता है ।

टीका—निश्चय से यह विकार सहित चैतन्य परिणाम सामान्यतः अज्ञान रूप है, वही मिथ्या दर्शन अज्ञान और अविरति रूप तीन प्रकार हैं । सो यह परिणाम परके और आत्मा की अभेद श्रद्धा से, अभेद ज्ञान से और अभेद रूप रति से सब भेद को छिपाकर और भाव्यभावकभाव को प्राप्त हुए जो चेतन अचेतन दोनों को समान अनुभव करने से 'मैं क्रोध हूं' ऐसा आत्मा का विकल्प उत्पन्न करता है और वह क्रोध को ही अपना जानता है । इसलिये यह आत्मा 'मैं क्रोध हूं' ऐसी भ्रांति से विकार सहित चैतन्य परिणाम से परिणमन करता हुआ, उस विकार सहित चैतन्य परिणाम रूप अपने भाव का कर्ता होता है । इस प्रकार जैसे क्रोध कहा है, उसी भांति क्रोध की जगह मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन, इन सोलह सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिये । और इसी उपदेश से अन्य भी विचार लेना चाहिये ।

मनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयान्यनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ॥ ९४ ॥

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि धम्माई ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥ ९५ ॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति धर्मादिकं ।
कर्त्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥ ९५ ॥

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारश्चैतन्यपरिणामः परस्परमविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषविरत्या च समस्तं भेदमपह्नुत्य ज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोः परात्मनोः सामानाधिकरण्येनानुभवनाद्धर्मोऽहमधर्मोऽहमाकाशमहं कालोऽहं पुद्गलोऽहं जीवांतरमहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति। ततोऽयमात्मा धर्मोऽहमधर्मोहमाकाशमहं

एवमेव च क्रोधपदपरिवर्त्तनेन मानमायालोभमोहरागद्वेषकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनेन प्रकारेणाविक्षिप्तचित्तस्वभावशुद्धात्मतत्त्वविलक्षणा असंख्येयलोकमात्रप्रमिता विभावपरिणामा ज्ञातव्या इति ।। ९४ ।। अथ;—**तिविहो एसुवओगो** सामान्येनाज्ञानरूपेणैकविधोपि विशेषेण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्ररूपेण त्रिविधः सन्नेष उपयोग आत्मा **अप्पवियप्पं करेदि धम्मादी** परद्रव्यात्मनोर्ज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोरविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषपरिणत्या च भेदज्ञानाभावाद्भेदमजानन् धर्मास्तिकायोहमित्याद्यात्मनोऽसद्विकल्पमुत्पादयति । **कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स** निर्मलात्मानुभूतिरहितस्यैव मिथ्याविकल्परूपजीवपरिणा-

---

भावार्थ—मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति ऐसे तीन प्रकार विकार सहित चैतन्य परिणाम हैं। वह अपना और परका भेद न जानकर ऐसा मानता है कि मैं क्रोधी हूं, मैं मानी हूं इत्यादि। ऐसा मानने से अपने विकार सहित चैतन्य परिणाम का यह अज्ञानी जीव कर्ता होता है और जब कर्ता हुआ, तब वे अज्ञानभाव अपने कर्म हुए। इस प्रकार अज्ञान से ही कर्म होता है ।। ९४ ।। यहां कहते हैं कि ऐसे ही यह धर्मद्रव्य आदि अन्य द्रव्यों में भी आत्मविकल्प करता है;—**[एषः]** यह **[उपयोगः]** उपयोग **[त्रिविधः]** तीन प्रकार का होने से **[धर्मादिकं]** धर्मआदिक द्रव्यरूप **[आत्मविकल्पं]** आत्म विकल्प **[करोति]** करता है—उनको अपने जानता है **[सः]** वह **[तस्य]** उस **[उपयोगस्य]** उपयोग रूप **[आत्मभावस्य]** अपने भाव का **[कर्ता]** कर्ता **[भवति]** होता है।

टीका—सामान्य से अज्ञान रूप सविकार चैतन्य परिणाम ही मिथ्यादर्शन अज्ञान अविरतिरूप तीन प्रकार का है। जब यह पर के और अपने परस्पर अविशेष दर्शन से, अविशेष ज्ञान से और अविशेष चारित्र से समस्त भेदों को लोप कर के ज्ञेयज्ञायक भाव को प्राप्त धर्मादि द्रव्यों के अपने और उनके एक समान आधार के अनुभव करने से ऐसा मानता है कि मैं धर्मद्रव्य हूँ, मैं अधर्मद्रव्य हूँ,

कालोऽहं पुद्गलोहं जीवांतरमहमिति भ्रांत्या सोपाधिना चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सोपाधिचैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात् । ततः स्थितं कर्तृत्वमूलमज्ञानं ॥ ९५ ॥

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ ।
अप्पाणं अवि य परं करेइ अण्णाणभावेण ॥ ९६ ॥

एवं पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति मंदबुद्धिस्तु ।
आत्मानमपि च परं करोति अज्ञानभावेन ॥ ९६ ॥

यत्किल क्रोधोऽहमित्यादिवद्धर्मोऽहमित्यादिवच्च परद्रव्याण्यात्मीकरोत्यात्मानमपि पर-

---

मस्याशुद्धनिश्चयेन कर्ता भवति । ननु धर्मास्तिकायोहमित्यादि कोपि न ब्रूते तत्कथं घटत इति ? अत्र परिहारः । धर्मास्तिकायोयमिति योसौ परिच्छित्तिरूपविकल्पो मनसि वर्तते सोप्युपचारेण धर्मास्तिकायो भण्यते । यथा घटाकारविकल्पपरिणतिज्ञानं घट इति । तथा तद्धर्मास्तिकायोयमित्यादिविकल्पः यदा ज्ञेयतत्त्वविचारकाले करोति जीवः तदा शुद्धात्मस्वरूपं विस्मरति तस्मिन्विकल्पे कृते सति धर्मोहमिति विकल्प उपचारेण घटत इति भावार्थः । ततः स्थितं शुद्धात्मसंवित्तेरभावरूपमज्ञानं कर्मकर्तृत्वस्य कारणं भवति ॥ ९५ ॥ **एवं** एवं पूर्वोक्तगाथाद्वयकथितप्रकारेण **पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि** क्रोधोहमित्यादिवद्धर्मास्तिकायोहमित्यादिवच्च क्रोधादिस्वकीयपरिणामरूपाणि तथैव धर्मास्तिकायादि-

---

मैं आकाश द्रव्य हूं, मैं काल द्रव्य हूं, मै पुद्गल द्रव्य हूं, मैं अन्य जीव भी हूं, ऐसे भ्रम से उपाधि सहित अपने चैतन्य परिणाम से परिणमन करता हुआ उस उपाधि सहित चैतन्य परिणमन रूप अपने भाव का कर्ता होता है ।

भावार्थ—यह आत्मा अज्ञान से धर्मादि द्रव्य में भी आपा मानता है । अतः उस अपने अज्ञानरूप चैतन्य परिणाम का स्वयं ही कर्ता होता है । यहां कोई प्रश्न करता है कि पुद्गल और अन्य जीव तो प्रवृत्ति में दीखते हैं, उनमें तो अज्ञान से आपा मानना ठीक है; परंतु धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य तो देखने में भी नही आते, उनमें आपा मानना कैसे कहा ? उसका समाधान करते हुए कहते हैं—कि धर्मादिक का भी लक्षण अनुभव में आता है । धर्म अधर्म का लक्षण गतिहेतुत्व और स्थितिहेतुत्व है, उनका गमन करना, ठहरना जिससे होता है उसमें ममत्व बुद्धि होती है । और आकाश के अवगाह रूप क्षेत्र में ममत्व होता है । तथा काल के समय मुहूर्त आदि में मरना जीना आदि कार्य होता है उसमें ममत्व बुद्धि होती है ऐसा जानना ॥ ९५ ॥

यहां इस हेतु से कर्तृत्व का मूल कारण अज्ञान ठहरा ऐसा कहते हैं;—**[एवं तु]** ऐसे पूर्वकथितरीति से **[मंदबुद्धिः]** अज्ञानी **[अज्ञानभावेन]** अज्ञानभाव से **[पराणि द्रव्याणि]** परद्रव्यो को **[आत्मानं]** अपनी **[करोति]** करता है **[अपि च]** और **[आत्मानं]** अपने को **[परं करोति]** परका करता है ।

टीका—जो प्रकट रूप से यह आत्मा मैं क्रोध हूं, मैं धर्मद्रव्य हूं इत्यादि पूर्वोक्त प्रकार से पर-

द्रव्यीकरोत्येवमात्मा, [१]तदयमशेषवस्तुसंबंधविधुरनिरवधिविशुद्धचैतन्यधातुमयोऽप्यज्ञानादेव सविकारसोपाधीकृतचैतन्यपरिणामतया तथाविधस्यात्मभावस्य कर्ता प्रतिभातीत्यात्मनो भूताविष्टध्यानाविष्टस्येव प्रतिष्ठितं कर्तृत्वमूलमज्ञानं। तथाहि—यथा खलु भूताविष्टोऽज्ञानाद्भूतात्मानावेकीकुर्वन्नमानुषोचितविशिष्टचेष्टावष्टंभनिर्भरभयंकरारंभगंभीरामानुषव्यवहारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति। तथायमात्माप्यज्ञानादेव भाव्यभावकौ परात्मानावेकीकुर्वन्नविकारानुभूतिमात्रभावकानुचितविचित्रभाव्यक्रोधादिविकारकरंबितचैतन्यपरिणामविकारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति। यथा वापरीक्षकाचार्यादेशेन मुग्धः कश्चिन्महिषध्यानाविष्टोऽज्ञानान्महिषात्मानावेकीकुर्वन्नात्मन्यभ्रंकषविषाणमहामहिषत्वाध्यासात्प्रच्युतमानुषोचितापवरकद्वारविनिस्सरणतया

ज्ञेयरूपाणि च परद्रव्याणि आत्मानं करोति। सः कः कर्ता, **मंदबुद्धीओ** मंदबुद्धिर्निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदविज्ञानरहितः **अप्पाणं अवि य परं करेदि** शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानमपि च परं स्वस्वरूपाद्भिन्नं करोति रागादिषु योजयतीत्यर्थः। केन, **अण्णाणभावेण** अज्ञानभावेनेति। तत. स्थितं क्रोधादिविषये भूताविष्टदृष्टांतेन धर्मादिज्ञेयविषये ध्यानाविष्टदृष्टांतेनेव शुद्धात्मसंवित्त्यभावरूपमज्ञानं कर्मकर्तृत्वस्य कारणं भवति। तद्यथा—यथा कोपि पुरुषो भूतादिग्रहाविष्टो भूतात्मनोर्भेदमजानन् सन्नमानुषोचितशिलास्तंभचालनादिकमद्भुतव्यापारं कुर्वन्सन् तस्य व्यापारस्य कर्ता भवति। तथा जीवोपि वीतरागपरमसामायिकपरिणतशुद्धोपयोगलक्षणभेदज्ञानाभावात्कामक्रोधादिशुद्धात्मनोर्द्वयोर्भेदमजानन् क्रोधोहं कामोहमित्यादिविकल्पं कुर्वन्सन् कर्मणः कर्ता भवति। एवं क्रोधादिविषये भूताविष्टदृष्टांतो गतः। तथैव च यथा कश्चित् महामहिषादिध्यानाविष्टो महिषाद्यात्मनोर्द्वयोर्भेदमजानन्महामहिषोहं गरुडोहं कामदेवोहमग्निरहं दुग्धधारासमानामृतराशि-

द्रव्यों को अपनी करता है और अपने को परद्रव्य रूप करता है, ऐसा यह आत्मा यद्यपि समस्त वस्तु के संबंध से रहित अमर्यादरूप शुद्ध चैतन्य धातुमय है तो भी अज्ञान से सविकार सोपाधिरूप किये अपने चैतन्य परिणाम रूप से उस प्रकार का अपने परिणाम का कर्ता प्रतिभासित होता है। इस प्रकार आत्मा के भूताविष्ट पुरुष की भांति तथा ध्यानाविष्ट पुरुष की भांति कर्तापने का मूल अज्ञान प्रतिष्ठित हुआ यही प्रकट दृष्टांत से दिखलाते हैं—जैसे कोई पुरुष भूताविष्ट हुआ (अपने शरीर में भूतप्रवेश किया हुआ) अज्ञान से भूत को और अपने को एक रूप करता हुआ जैसी मनुष्य के योग्य चेष्टा न हो, वैसी करने लगा। उसी चेष्टा का आलंबन रूप अत्यंत भयकारी आरंभ से भरा अमानुष व्यवहार से उस प्रकार चेष्टा रूप भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी अज्ञान से ही पर और आत्मा को भाव्य-भावक रूप एक करता हुआ निर्विकार अनुभूति मात्र भावक के अयोग्य अनेक प्रकार भाव्यरूप क्रोधादि विकार से मिले चैतन्य के विकार सहित परिणाम से उस प्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है। जैसे कोई भोला पुरुष अपरीक्षक आचार्य के उपदेश से भैंसे का ध्यान करने लगा वह अज्ञान से भैंसे को और अपने को एकरूप करता हुआ अपने में बादल को स्पर्श करते हुए सींग वाले महान् भैंसापने के अध्यास से मनुष्य के योग्य छोटी कुटी के द्वार से निकलने से च्युत हुआ उस प्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है। उसी प्रकार यह आत्मा भी अज्ञान से ज्ञेयज्ञायक जो पर और आत्मा

१ तदयमशेषशेषवस्तु इत्यपिपाठः।

तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति । तथायमात्माप्यज्ञानाद् ज्ञेयज्ञायकौ परात्मानावेकीकुर्वन्नात्मनि परद्रव्याध्यासान्नोइंद्रियविषयीकृतधर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतरनिरुद्धशुद्धचैतन्यधातुतया तथेंद्रियविषयीकृतरूपिपदार्थतिरोहितकेवलबोधतया मृतककलेवरमूर्छितपरमामृतविज्ञानघनतया च तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति ॥ ९६ ॥

रहमित्याद्यात्मविकल्पं कुर्वाणः सन् तस्य विकल्पस्य कर्ता भवति । तथा च जीवोपि सुखदुःखादिसमताभावनापरिणतशुद्धोपयोगलक्षणभेदज्ञानाभावाद्धर्मादिज्ञेयपदार्थानां शुद्धात्मनश्च भेदमजानन् धर्मास्तिकायोहमित्याद्यात्मविकल्पं करोति, तस्यैव विकल्पस्य कर्ता भवति । तस्मिन् विकल्पकर्तृत्वे सति द्रव्यकर्मबंधो भवतीति । एवं धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्थविषये ध्यानदृष्टान्तो गतः । हे भगवन् धर्मास्तिकायोयं जीवोयमित्यादिज्ञेयतत्त्वविचारविकल्पे क्रियमाणे यदि कर्मबंधो भवतीति तर्हि ज्ञेयतत्त्वविचारो वृथेति न कर्तव्यः । नैव वक्तव्यं । त्रिगुप्तिपरिणतनिर्विकल्पसमाधिकाले यद्यपि न कर्तव्यस्तथापि तस्य त्रिगुप्तिध्यानस्याभावे शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा आगमभाषया तु मोक्षमुपादेयं कृत्वा सरागसम्यक्त्वकाले विषयकषायवंचनार्थं कर्तव्यः । तेन तत्त्वविचारेण मुख्यवृत्त्या पुण्यबंधो भवति परंपरया निर्वाणं च भवतीति नास्ति दोषः । किंतु तत्र तत्त्वविचारकाले वीतरागस्वसंवेदनज्ञानपरिणतः शुद्धात्मा साक्षादुपादेयः कर्तव्यः इति ज्ञातव्यं । ननु वीतरागस्वसंवेदनज्ञानविचारकाले वीतरागविशेषणं किमिति क्रियते प्रचुरेण भवद्भिः, किं सरागमपि स्वसंवेदनज्ञानमस्तीति ? अत्रोत्तरं विषयसुखानुभवानंदरूपं स्वसंवेदनज्ञानं सर्वजनप्रसिद्धं सरागमप्यस्ति । शुद्धात्मसुखानुभूतिरूपं स्वसवेदनज्ञानंवीतरागमिति । इदंव्याख्यानं स्वसंवेदनज्ञानव्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यमिति भावार्थः ॥ ९६ ॥ ततः स्थितमेतत् शुद्धात्मानुभूतिलक्षणसम्यग्ज्ञानान्नश्यति कर्मकर्तृत्वं;—**एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो** एतेन पूर्वोक्तगाथात्रयव्याख्यानरूपेणाज्ञानभावेन स आत्मा कर्ता भणितः । कैंनिश्चयविद्भिर्निश्चयज्ञैः सर्वज्ञैः । तथाहि—वीतरागपरमसामायिकसंयमपरिणताभेदरत्नत्रयस्य प्रतिपक्षभूतेन पूर्वगाथात्रयव्याख्यानप्रकारेणाज्ञानभावेन यदात्मा परिणमति, तदा तस्यैव मिथ्यात्वरागादिरूपस्याज्ञानभावस्य कर्ता भवति ततश्च द्रव्यकर्मबन्धो भवति । यदा तु चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मानुभूतिपरिणामेन परिणमति तदा सम्यग्ज्ञानी भूत्वा मिथ्यात्वरागादिभावकर्मरूपस्याज्ञानभावस्य कर्ता न भवति । तत्कर्तृत्वाभावेहि द्रव्यकर्मबंधोपि न भवति । **एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं** एवं गाथापूर्वार्द्धव्याख्यानप्रकारेण मनसि

उनको एक रूप करता हुआ आत्मा में परद्रव्य के अध्यास के निश्चय से मन के विषय रूप किये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवद्रव्य उनसे रुकी जो शुद्ध चैतन्य धातु, उससे तथा इंद्रियों के विषय रूप किये जो रूपी पदार्थ उन से ढका गया जो अपना केवल (एक) ज्ञान उससे तथा मृतक शरीरमें मूर्छित हुआ परम अमृत रूप विज्ञानघन आत्मा उससे उस प्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ—यह आत्मा अज्ञान से क्रोधादिक को तो भाव्यभावकसंबंध से अपने से एक रूप मानता है और धर्मादिद्रव्य ज्ञेयरूप हैं, उनको भी अपने से एकरूप मानता है। अतः जैसा अपना भाव होता है, उसी भाव का कर्ता होता है। वहां क्रोधादिक से एक मानने का तो भूताविष्ट पुरुष का दृष्टांत है और धर्मादि अन्य द्रव्य से एकता मानने का ध्यानाविष्ट पुरुष का दृष्टांत है ॥ ९६ ॥

आगे कहते हैं कि इसी कारण से यह स्थित हुआ कि ज्ञान से कर्तृत्व का नाश होता है;—

ततः स्थितमेतद् ज्ञानान्नश्यति कर्तृत्वं;—

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो ।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं ॥ ९७ ॥

एतेन तु स कर्तात्मा निश्चयविद्भिः परिकथितः ।
एवं खलु यो जानाति स मुंचति सर्वकर्तृत्वं ॥ ९७ ॥

येनायमज्ञानात्परात्मनोरेकत्वविकल्पमात्मनः करोति तेनात्मा निश्चयतः कर्ता प्रतिभाति । यस्त्वेवं जानाति स समस्तं कर्तृत्वमुत्सृजति, ततः स खल्वकर्ता प्रतिभाति । तथाहि—इहायमात्मा किलाज्ञानीसन्नज्ञानादासंसारप्रसिद्धेन मिलितस्वादस्वादनेन मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिरनादित एव स्यात् ततः परात्मानावेकत्वेन जानाति ततः क्रोधोहमित्यादिविकल्पमात्मनः करोति ततो निर्विकल्पादकृतकादेकस्माद्विज्ञानघनात्प्रभ्रष्टो वारंवारमनेकविकल्पैः परिणमन् कर्ता प्रतिभाति । ज्ञानी तु सन् ज्ञानात्तदादिप्रसिद्ध्यता प्रत्येकस्वादस्वादनेनोन्मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिः स्यात् । ततोऽनादिनिधनानवरतस्वदमाननिखिलरसांतरविविक्तात्यंतमधुरचैतन्यैकरसोऽयमात्मा भिन्नरसाः

योसौ वस्तुस्वरूपं जानाति स सरागसम्यग्दृष्टिः सन्नशुभकर्मकर्तृत्वं मुंचति । निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा शुभाशुभसर्वकर्मकर्तृत्वं च मुचति । एवमज्ञानात्कर्म प्रभवति संज्ञानान्नश्यतीति स्थितं । इत्यज्ञानिसंज्ञानिजीवप्रति-

[एतेन तु] इस पूर्वकथित कारण से [निश्चयविद्भिः] निश्चय के जानने वाले ज्ञानियों ने [स आत्मा] वह आत्मा [कर्ता परिकथितः] कर्ता कहा है [एवं खलु] इस प्रकार [यः] जो [जानाति] जानता है [सः] वह ज्ञानी हुआ [सर्वकर्तृत्वं] सब कर्तृत्व को [मुंचति] छोड़ देता है ।

टीका—जिस कारण से यह आत्मा अज्ञान से पर के और आत्मा के एकत्व का विकल्प करता है, उस कारण से निश्चय से कर्ता प्रतिभासित होता है ऐसा जो जानता है, वह समस्त कर्तृत्व को छोड़ देता है, इस कारण वह अकर्ता प्रतिभासित होता है । यही प्रकट कहते हैं—इस जगत में यह आत्मा अज्ञानी हुआ अज्ञान से अनादि संसार से लगाकर पुद्गल कर्मका और अपने भाव के मिले हुए आस्वाद का स्वाद लेने से जिसकी अपने भिन्न अनुभव की शक्ति मुद्रित हो गई है, ऐसा अनादि काल से ही है । इस कारण पर को और अपने को एक रूप जानता है । मै क्रोध हूँ इत्यादिक विकल्प अपने में करता है, इसलिए निर्विकल्प रूप अकृत्रिम अपने विज्ञानघन स्वभाव से भ्रष्ट हुआ बारंबार अनेक विकल्पों से परिणमन करता हुआ कर्ता प्रतिभासित होता है । और जब ज्ञानी हो जाय, तब सम्यग्ज्ञान से उस सम्यग्ज्ञान को आदि लेकर प्रसिद्ध हुआ जो पुद्गल कर्म के स्वाद से अपना भिन्न स्वाद, उसके आस्वादन से जिसकी भेद के अनुभव की शक्ति उघड़ गई है, ऐसा होता है, तब ऐसा जानता है कि अनादि निधन निरंतर स्वाद में आता हुआ समस्त अन्य रस के स्वादों से विलक्षण, अत्यन्त मधुर एक चैतन्य रस स्वरूप तो यह

कषायास्तैः सह यदेकत्वविकल्पकरणं तदज्ञानादित्येवं नानात्वेन परात्मानौ जानाति। ततोऽकृतकमेकं ज्ञानमेवाहं न पुनः कृतकोऽनेकः क्रोधादिरपीति क्रोधोहमित्यादिविकल्पमात्मनो मनागपि न करोति ततः समस्तमपि कर्तृत्वमपास्यति । ततो नित्यमेवोदासीनावस्थो जानन् एवास्ते । ततो निर्विकल्पोऽकृतक एको विज्ञानघनो भूतोऽत्यंतमकर्ता प्रतिभाति ॥ ९७ ॥

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः ।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्ध्या गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालां ॥ ५७ ॥

पादनमुख्यत्वेन द्वितीयस्थले गाथाषट्कं गतं । एवं द्विक्रियावादिनिराकरणविशेषव्याख्यानरूपेण द्वादशगाथा गताः । अथ पुनरप्युपसंहाररूपेणैकादशगाथापर्यंतं द्विक्रियावादिनिराकरणविषये विशेषव्याख्यानं करोति ॥ ९७ ॥ तद्यथा—परभावानात्मा करोतीति यदव्यवहारिणो वदति स व्यामोह इत्युपदिशति:—**ववहारेण दु एवं[1] करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि** यतो यथा अन्योन्यव्यवहारेणैवं तु पुनः घटपटरथादि बहिर्द्रव्याणीहापूर्वेण करोत्यात्मा **करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि** तथाभ्यंतरेपि करणानींद्रियाणि कर्माणि च नोकर्माणि इह जगति

आत्मा है, और कषाय इससे भिन्न रस हैं, कसैले हैं, बेस्वाद हैं, उनसे युक्त एकत्व का विकल्प करना है; वह अज्ञान से है । इस प्रकार परको और आत्मा को पृथक् पृथक् नाना रूप से जानना है । इसलिए अकृत्रिम, नित्य, एक ज्ञान ही मैं हूँ और कृत्रिम, अनित्य, अनेक जो ये क्रोधादिक हैं, वे मैं नही हूँ ऐसा जाने तब 'क्रोधादिक मैं हूँ' इत्यादिक विकल्प अपने में किंचिन्मात्र भी नही करता । इस कारण समस्त ही कर्तृत्व को छोड़ता हुआ सदा ही उदासीन वीतराग अवस्था स्वरूप होकर ज्ञायक ही रहता है इसीलिए निर्विकल्प स्वरूप अकृत्रिम नित्य एक विज्ञानघन हुआ अत्यन्त अकर्ता प्रतिभासित होता है ।

भावार्थ—जो परद्रव्य के और परद्रव्य के भावो के अपने कर्तृत्व को अज्ञान जाने तब आप कर्ता क्यों बनें ? अज्ञानी रहना हो तो पर द्रव्य का कर्ता बने । इसलिए ज्ञान होने के बाद परद्रव्य का कर्तृत्व नहीं रहता ॥ ९७ ॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते है—**अज्ञान** इत्यादि । **अर्थ**—जो पुरुष आप निश्चय से ज्ञानस्वरूप हुआ भी अज्ञान से तृण सहित मिले हुये अन्नादिक सुन्दर आहार को खाने वाले हस्ती आदि तिर्यंच के समान होना है, वह शिखरिन (श्रीखण्ड) को पीकर उसके दही मीठे के मिले हुए खट्टे मीठे रस की अत्यंत इच्छा से उसके रस भेद को न जानकर दूध के लिये गाय को दोहता है ।

भावार्थ—जैसे कोई पुरुष शिखरिन को पीकर उसके स्वाद की अतिइच्छा से रस के ज्ञान विना ऐसा जानता है कि यह गाय के दूध में स्वाद है, अत. अतिलुब्ध हुआ गाय को दोहता है; उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष अपना और पर का भेद न जान कर और विषयो में स्वाद जानकर पुद्गलकर्म को अतिलुब्ध होकर ग्रहण करता है, अपने ज्ञान का और पुद्गलकर्म का स्वाद पृथक् नहीं अनुभव करता । वह पशु की भांति घास मे मिले हुए अन्न का एक स्वाद लेता है ॥ ४७ ॥

१. अत्र आदा इत्यपि पाठः ।

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावंति पातुं मृगा,
अज्ञानात्तमसि द्रवंति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरंगाब्धिवत्,
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवंत्याकुलाः ॥ ५८ ॥

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो, जानाति हंस इव वाः पयसोर्विशेषं ।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो जानीत एव हि करोति न किंचनापि ॥ ५६ ॥

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था,
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः,
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिंदती कर्तृभावं ॥ ६० ॥

विविधानि क्रोधादिद्रव्यकर्माणीहापूर्वेण विशेषेण करोमीति मन्यते, ततोस्ति व्यामोहो मूढत्वं व्यवहारिणा ॥६८॥ अथ स

पुनः कहते हैं कि ऐसे अज्ञान से पुद्गलकर्म का कर्ता होता है—**अज्ञानान्मृग** इत्यादि । **अर्थ**—ये लोक के जन निश्चय से शुद्ध एक ज्ञानमय हैं, तो भी वे अज्ञान से व्याकुल होकर परद्रव्य के कर्तारूप होते हैं। जैसे पवन से कल्लोलों सहित समुद्र होता है, उसी भांति ये विकल्पों के समूह करते हैं, इसलिये कर्ता बन रहे हैं। देखो अज्ञान से ही मृग बालू को जल जानकर पीने को दौड़ते हे और अज्ञान से ही लोक अंधकार में रस्सी में सर्प का निश्चय कर भय से भागते हैं।

भावार्थ—अज्ञान से क्या नहीं होता ? मृग तो बालू को जल जानकर पीने को दौड़ता है और खेद-खिन्न होता है, लोक अंधेरे में रस्से को सर्प मान डर कर भागते हैं, उसी प्रकार यह आत्मा, जैसे वायु से समुद्र क्षोभ रूप हो जाता है, वैसे अज्ञान से अनेक विकल्पों से क्षोभ रूप होता है। यद्यपि वह परमार्थ से शुद्ध ज्ञानघन है तो भी अज्ञान मे कर्ता होता है। ॥५८॥

फिर कहते हैं कि ज्ञान से कर्ता नहीं होता—**ज्ञानाद्** इत्यादि । **अर्थ**—जो पुरुष ज्ञान से और भेदज्ञान से पर का तथा आत्मा का विशेष भेद जानता है, वह पुरुष हंस के समान (जैसे हंस दूध जल मिले हुए को भेदकर ग्रहण करता है) चैतन्य धातु अचल को सदा आश्रय करता हुआ जानता ही है, और कुछ भी नहीं करता।

भावार्थ—जो अपना पराया भेद जानता है, वह ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं है। ॥५६॥

जो कुछ जाना जाता है, वह ज्ञान से ही जाना जाता है—**ज्ञानादेव** इत्यादि । **अर्थ**—जैसे अग्नि और जल की उष्णता और शीतलता की व्यवस्था है, वह ज्ञान से ही जानी जाती है; लवण तथा व्यंजन के स्वाद का भेद ज्ञान से ही जाना जाता है। उसी प्रकार अपने रस से विकास रूप हुआ नित्य चैतन्य धातु उसका तथा क्रोधादिक भावों का भेद भी ज्ञान से ही जाना जाता है। यह भेद कर्तृत्व के भाव को भेदरूप करता हुआ प्रकट होता है ॥६०॥

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमंजसा ।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥ ६१ ॥
आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किं ।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणां ॥ ६२ ॥

तथा हिः—

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि ।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ॥ ९८ ॥

व्यवहारेण त्वात्मा करोति घटपटरथान् द्रव्याणि ।
करणानि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि ॥ ९८ ॥

व्यवहारिणां हि यतो यथायमात्मात्मविकल्पव्यापाराभ्यां घटादिपरद्रव्यात्मकं बहिःकर्म कुर्वन् प्रतिभाति ततस्तथा क्रोधादिपरद्रव्यात्मकं च समस्तमंतःकर्मापि करोत्यविशेषादित्यस्ति व्यामोहः ॥ ९८ ॥

व्यामोहः सत्यो न भवतीति कथयति—**जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज** यदि स आत्मा

यद्यपि आत्मा कर्ता होता है तो भी वह अपने भाव का ही है—**अज्ञानं** इत्यादि । **अर्थ**—इस प्रकार अज्ञानरूप तथा ज्ञानरूप भी आत्मा को ही करता हुआ आत्मा प्रकट रूप से अपनेही भाव का कर्ता है, वह परभाव का कर्ता तो कभी नहीं है । अब आगे की गाथा की सूचनिकारूप श्लोक कहते हैं ॥६१॥ **आत्मा** इत्यादि । **अर्थ**—आत्मा ज्ञान स्वरूप है, वह स्वयं ज्ञान ही है, ज्ञान से अन्य किस को करे ? किसी को नही करता । और परभाव का कर्ता आत्मा है ऐसा मानना तथा कहना व्यवहारी जीवो का मोह (अज्ञान) है ॥ ६२ ॥

आगे यही कहते हैं कि व्यवहारी ऐसा कहते हैः—**[आत्मा]** आत्मा **[व्यवहारेण तु]** व्यवहार से **[घटपटरथान् द्रव्याणि]** घट पट रथ इन वस्तुओं को **[करोति]** करता है **[च]** और **[करणानि]** इंद्रियादिक करणपदार्थों को करता है **[च]** और **[कर्माणि]** ज्ञानावरणादिक तथा क्रोधादिक द्रव्यकर्म, भावकर्मों को करता है **[च इह]** तथा इस लोक में **[विविधानि]** अनेक प्रकार के **[नोकर्माणि]** शरीरादि नोकर्मों को करता है ।

टीका—जिस कारण व्यवहारी जीवों को यह आत्मा अपने विकल्प और व्यापार इन दोनों के घट आदि परद्रव्य स्वरूप बाह्यकर्म का करता प्रतिभासित होता है, इस कारण उसी प्रकार क्रोधादिक परद्रव्य स्वरूप समस्त अंतरंग कर्म को भी करता है । क्योंकि दोनों परद्रव्य स्वरूप हैं, इनके करने में भेद नहीं, यह व्यवहारी जीवों का अज्ञान है ।

स न सन्;—

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मग्रो होज्ज ।
जह्मा ण तम्मग्रो तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ।। ६६ ।।

यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत् ।
यस्मान्न तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता ।। ६६ ।।

यदि खल्वयमात्मा परद्रव्यात्मकं कर्म कुर्यात् तदा परिणामपरिणामिभावान्यथानुपपत्ते-र्नियमेन तन्मयः स्यात् न च द्रव्यांतरमयत्वे द्रव्योच्छेदापत्तेस्तन्मयोस्ति । ततो व्याप्यव्यापक-भावेन न तस्य कर्तास्ति ।। ६६ ।।

परद्रव्याणि नियमेनैकांतरूपेण करोति तदा तन्मयः स्यात् **जह्मा ण तम्मग्रो तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता** यस्मा-त्सहजशुद्धस्वाभाविकानतसुखादिस्वरूपं त्यक्त्वा परद्रव्येण सह तन्मयो न भवति । ततः स आत्मा तेषां परद्रव्याणामुपादान रूपेण कर्ता न भवतीत्यभिप्रायः ।। ६६ ।। अथ न केवलमुपादानरूपेण कर्ता न भवति किंतु निमित्तरूपेणापीत्युपदिशति;— **जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे** न केवलमुपादानरूपेण निमित्तरूपेणापि जीवो न करोति घटं न पटं नैव शेषद्रव्याणि । कुत इति चेत् ? नित्यं सर्वकालं कर्मकर्तृत्वानुषंगात् । कस्तर्हि करोति ? **जोगुवग्रोगा उप्पादगा य** आत्मनो विकल्पव्यापाररूपौ विनश्वरौ योगोपयोगावेव तत्रोत्पादकौ भवतः । **सो तेसिं हवदि कत्ता** सुखदुःखजीवित-मरणादिसमताभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणभेदविज्ञानाभावाद्यदा काले शुद्धबुद्धैकस्वभावात्परमात्मस्वरूपाद्भ्रष्टो

भावार्थ—परद्रव्यों का कर्ता अपने को मानना यह व्यवहार है, वह परमार्थ दृष्टि में अज्ञान है ।। ६८ ।।

यह व्यवहार का मानना परमार्थ दृष्टि में अच्छा नहीं है, सत्यार्थ नहीं है;—**[यदि]** जो **[सः]** वह आत्मा **[परद्रव्याणि]** पर द्रव्यों को **[कुर्यात्]** करे **[च]** तो **[नियमेन]** वह आत्मा उन परद्रव्यों से नियम से **[तन्मयः]** तन्मय **[भवेत्]** हो जाय **[यस्मात्]** परंतु **[तन्मयः न]** तन्मय नहीं होता **[तेन]** इसी कारण **[सः]** वह **[तेषां]** उनका **[कर्ता]** कर्ता **[न भवति]** नहीं है ।

टीका—यदि निश्चय से यह आत्मा परद्रव्य स्वरूप कर्म को करे, तो परिणाम-परिणामि-भाव की अन्यथा अप्राप्ति होने से नियम से तन्मय हो जाय, किन्तु ऐसा नहीं है । यदि ऐसे हो तो अन्य द्रव्य से अन्य द्रव्य तन्मय होने से अन्य द्रव्य का नाश हो जाय । इसलिये व्याप्यव्यापकभाव से तो उस द्रव्य का कर्ता आत्मा नहीं है ।

भावार्थ—यदि आत्मा अन्य द्रव्य का कर्ता होवे, तो पृथक्-पृथक् द्रव्य क्यों रहें, अन्य द्रव्य का नाश हो जाय यह बड़ा दोष आवे । इसलिये अन्य द्रव्य का कर्ता अन्य द्रव्य को कहना अच्छा नहीं है ।। ६६ ।।

निमित्तनैमित्तकभावेनापि न कर्तास्तिः—

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥ १०० ॥

जीवो न करोति घटं नैव पटं नैव शेषकानि द्रव्याणि ।
योगोपयोगावुत्पादकौ च तयोर्भवति कर्ता ॥ १०० ॥

यत्किल घटादि क्रोधादि वा परद्रव्यात्मकं कर्म तदयमात्मा तन्मयत्वानुषंगाद् व्याप्य-व्यापकभावेन तावन्न करोति नित्यकर्तृत्वानुषंगान्निमित्तनैमित्तकभावेनापि न तत्कुर्यात् । अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्तारौ योगोपयोगयोस्त्वात्मविकल्पव्यापारयोः कदाचिदज्ञानेन करणादात्मापि कर्तास्तु तथापि न परद्रव्यात्मककर्मकर्ता स्यात् ॥ १०० ॥

भवति तदा स जीवस्तयोर्योगोपयोगयोः कदाचित्कर्ता भवति । न सर्वदा । अत्र योगशब्देन बहिरंगहस्तादिव्यापारः उपयोगशब्देन चांतरंगविकल्पो गृह्यते । इति परंपरया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्वं स्यात् । यदि पुनः मुख्यवृत्त्या निमित्तकर्तृत्वं भवति तर्हि जीवस्य नित्यत्वात् सर्वदैव कर्मकर्तृत्वप्रसंगात् मोक्षाभावः । इति व्यवहारव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं ॥ १०० ॥

यदि कोई माने, कि व्याप्य-व्यापक भाव से तो वह कर्ता नहीं है, तो भी निमित्तनैमित्तिकभाव से तो कर्ता होगा, उसका निषेध करते हैं कि निमित्तनैमित्तिक भाव से भी कर्ता नहीं है;—[जीवः] जीव [घटं] घड़े को [न करोति] नहीं करता [एव] और [पटं] पट को भी [न] नहीं करता [शेषकाणि] शेष [द्रव्याणि] द्रव्यों को भी [नैव] नहीं करता [योगोपयोगौ च] जीव के योग और उपयोग दोनों [उत्पादकौ] घटादिक के उत्पन्न करने के निमत्त हैं [तयोः] उन दोनों योग और उपयोगों का यह जीव [कर्ता] कर्ता [भवति] है ।

टीका—जो कुछ घटादिक तथा क्रोधादिक परद्रव्य स्वरूप प्रगट कर्म देखे जाते हैं उनको यह आत्मा व्याप्यव्यापक भाव से नहीं करता । यदि ऐसे करे तो उनसे तन्मयता का प्रसंग आ जाय । तथा निमित्तनैमित्तिकभाव से भी नहीं करता क्योंकि ऐसे करे तो सदा सब अवस्थाओं में कर्तृत्व का प्रसंग आ जाय । इन कर्मों को कौन करता है, वह कहते हैं । इस आत्मा के योग और उपयोग ये दोनों अनित्य हैं, सब अवस्थाओं में व्यापक नहीं हैं । वे उन घटादिक के तथा क्रोधादि परद्रव्य स्वरूप कर्मों के निमित्तमात्र से कर्ता कहे जाते हैं । योग तो आत्मा के प्रदेशों का चलन रूप व्यापार है और उपयोग आत्मा के चैतन्य का रागादि विकार रूप परिणाम है । कदाचित् अज्ञान से इन दोनों को करने से इनका आत्मा को भी कर्ता कहा जाता है । परन्तु वह परद्रव्य स्वरूप कर्म का तो कर्ता कभी भी नहीं है ।

ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात्;—

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा ।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥ १०१ ॥

ये पुद्गलद्रव्याणां परिणामा भवंति ज्ञानावरणानि ।
न करोति तान्यात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥ १०१ ॥

ये खलु पुद्गलद्रव्याणां परिणामा गोरसव्याप्तदधिदुग्धमधुराम्लपरिणामवत्पुद्गलद्रव्यव्याप्तत्वेन भवंतो ज्ञानावरणानि भवंति तानि तटस्थगोरसाध्यक्ष इव न नाम करोति ज्ञानी किंतु यथा स गोरसाध्यक्षस्तद्दर्शनमात्मव्याप्तत्वेन प्रभवद्व्याप्य पश्यत्येव तथा पुद्गलद्रव्यपरिणाम-

---

अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता न च परभावस्येति कथयति;—**जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा** ये कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलपरिणामाः पर्याया ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपा भवंति **ण करेदि ताणि आदा** तान् पर्यायान् व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकाकलशमिवात्मा न करोति गोरसाध्यक्षवत् **जो जाणदि सो हवदि णाणी** इति यो जानाति मिथ्यात्वविषयकषायपरित्यागं कृत्वा निर्विकल्पसमाधौ स्थितः सन् स ज्ञानी भवति । न च परिज्ञानमात्रेण । इदमत्र तात्पर्यं । वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी जीवः शुद्धनयेन शुद्धोपादानरूपेण शुद्धज्ञानस्यैव कर्ता ।

भावार्थ—आत्मा के योग उपयोग, घटादि तथा क्रोधादिक के निमित्त हैं, उनको तो उनका निमित्तकर्ता कहा जा सकता है परन्तु आत्मा को उनका कर्ता नहीं कहा जा सकता । तथा आत्मा को योग उपयोग का कर्ता संसार अवस्था में अज्ञान से कहते हैं । यहां तात्पर्य ऐसा है कि, द्रव्यदृष्टि से तो कोई द्रव्य अन्य किसी द्रव्य का कर्ता नहीं है परन्तु पर्यायदृष्टि से किसी द्रव्य का पर्याय किसी समय किसी अन्य द्रव्य के पर्याय को निमित्त होता है । इस अपेक्षा से अन्य के परिणाम अन्य के परिणाम के निमित्त कर्त्ता कहे जाते हैं परन्तु परमार्थ से द्रव्य अपने परिणाम का कर्ता है, अन्य के परिणाम का अन्य द्रव्य कर्ता नहीं है ॥ १०० ॥

आगे ऐसा कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता है;—**[ये]** जो **[ज्ञानावरणानि]** ज्ञानावरणादिक **[पुद्गलद्रव्याणां]** पुद्गल द्रव्यों के **[परिणामाः]** परिणाम **[भवंति]** हैं **[तानि]** उनको **[आत्मा]** आत्मा **[न करोति]** नहीं करता **[यः]** जो **[जानाति]** जानता है **[सः]** वह **[ज्ञानी]** ज्ञानी **[भवति]** है ।

टीका—जो निश्चयनय से ज्ञानावरण रूप परिणाम हैं वे जैसे गोरस में व्याप्त दही दूध मीठा खट्टा परिणाम है वैसे पुद्गल द्रव्य से व्याप्त होने से पुद्गल द्रव्य के ही परिणाम हैं । जैसे गोरस के निकट बैठा पुरुष उसके परिणाम को देखता है, जानता है, उसी प्रकार ज्ञानी आत्मा उन पुद्गल के

निमित्तं ज्ञानमात्मव्याप्यत्वेन प्रभवद्व्याप्य जानात्येव ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात् । एवमेव च ज्ञानावरणपदपरिवर्तनेन कर्मसूत्रस्य विभागेनोपन्यासाद्दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतराय-सूत्रैः सप्तभिः सह मोहरागद्वेषक्रोधमानमायालोभनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शन-सूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ॥ १०१ ॥

किंवदिति चेत् । पीतत्वादिगुणानां सुवर्णवत् उष्णादिगुणानामग्निवत् अनंतज्ञानादिगुणानां सिद्धपरमेष्ठिवदिति । न च मिथ्यात्वरागादिरूपस्याज्ञानभावस्य कर्त्तेति शुद्धोपादानरूपेण शुद्धज्ञानादिभावानामशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादि-भावानां च तद्रूपेण परिणमन्नेव कर्तृत्वं ज्ञातव्य भोक्तृत्वं च । न च हस्तव्यापारवदीहापूर्वक घटकुंभकारवदिति । एवमेव च ज्ञानावरणपदपरिवर्तनेन दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायसंज्ञैः सप्तभि. कर्मभेदैः सह मोहरागद्वेषक्रोध-मानमायालोभनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनेन प्रकारेण शुद्धात्मानुभूति-विलक्षणा असंख्येयलोकमात्रप्रमिता अन्येपि विभावपरिणामा ज्ञातव्या ॥ १०१ ॥ अथाज्ञानी चापि रागादिस्वरूपस्या-ज्ञानभावस्यैव कर्ता न च ज्ञानावरणादिपरद्रव्यस्येति निरूपयति,—**जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता** सातासातोदयावस्थाभ्यां तीव्रमंदस्वादाभ्यां सुखदुःखरूपाभ्यां वा चिदानंदैकस्वभावेनैकस्याप्यात्मनो द्विधा भेदं कुर्वाण. सन् यं भावं शुभमशुभं वा करोत्यात्मनः स्वतंत्ररूपेण व्यापकत्वात्स तस्य भावस्य खलु स्फुटं कर्ता भवति **तं तस्स होदि कम्मं** तदेव तस्य शुभाशुभरूपं भावकर्म भवति । तेनात्मना क्रियमाणत्वात् **सो तस्स दु वेदगो अप्पा** स आत्मा तस्य तु शुभाशुभरूपस्य भावकर्मणो वेदको भोक्ता भवति स्वतंत्ररूपेण भोक्तृत्वात्, न च द्रव्यकर्मणः । किं च विशेषः । अज्ञानी जीवोऽशुद्धनिश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिभावानामेव कर्ता न च द्रव्यकर्मणः । स चाशु-द्धनिश्चयोयद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वमपासद्भूतव्यवहारापेक्षया निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव । हे भगवन्, रागादीनामशुद्धोपादानरूपेण कर्तृत्वं भणितं तदुपादानं शुद्धाशुद्धभेदेन कथं द्विधा भवतीति । तत्कथ्यते । औपाधिकमुपादानमशुद्धं, तप्तायःपिंडवत्; निरुपाधिरूपमुपादानं शुद्धं, पीतत्वादिगुणाना सुवर्णवत्; अनंतज्ञानादिगुणानां सिद्धजीववत्, उष्णत्वादिगुणानामग्निवत् । इदं व्याख्यानमुपादानकारणव्याख्यानकाले शुद्धाशुद्धोपादानरूपेण सर्वत्र स्मर-णीयमिति भावार्थः ॥ १०२ ॥ अथ न च परभावः केनाप्युपादानरूपेण कर्तुं शक्यते;—**जो जह्मि गुणो दव्वे सो अण्ण दु ण संकमदि दव्वे** यो गुणश्चेतनस्तथैवाचेतनो वा यस्मिश्चेतनाचेतने द्रव्ये अनादिसंबंधेन स्वभावत एव स्वत एव प्रवृत्तः सोऽन्यद्रव्ये तु न संक्रमत्येव सोपि **सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं** स चेतनोऽचेतनो

परिणामों का ज्ञाता द्रष्टा है, कर्ता नहीं है । तो क्या है ? जैसे गोरस के निकट बैठा हुआ पुरुष उसको देखता है, उस देखने रूप अपने परिणाम से व्याप्त हुआ उसको व्याप्त कर देखता ही है, उसी प्रकार जिसको पुद्गल परिणाम निमित्त है ऐसे अपने ज्ञान को अपने व्याप्यत्व से हुआ उसको व्याप्यकर जानता ही है । इस प्रकार ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता होता है । इसी प्रकार ज्ञानावरण पद के स्थान में कर्म सूत्र के विभाग की स्थापना से दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इनके सात सूत्रों से और उनके साथ मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन ये सोलह सूत्र व्याख्यान रूप करना । तथा इसी रीति से अन्य भी विचार लेना ॥ १०१ ॥

अज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात् :—

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता ।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥ १०२ ॥

यं भावं शुभमशुभं करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता ।
तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा ॥ १०२ ॥

इह खल्वनादेरज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेन पुद्गलकर्मविपाकदशाभ्यां मंदतीव्रस्वादाभ्यामचलितविज्ञानघनैकस्वादस्याप्यात्मनः स्वादं भिंदानः शुभमशुभं वा योयं भावमज्ञानरूपमात्मा करोति स आत्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य व्यापकत्वाद् भवति कर्ता स भावोऽपि च तदातन्मयत्वेनतस्यात्मनो व्याप्यत्वाद् भवति कर्म्म । स एव च आत्मा तदातन्मयत्वेन तस्य भावस्य भावकत्वाद्भवत्यनुभविता, स भावोपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो भाव्यत्वात् भवत्यनुभाव्यः । एवमज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात् ॥ १०२ ॥

वा गुणः कर्ता अन्यद्भिन्नं द्रव्यांतरमसंक्रांतः सन् कथं द्रव्यांतरं परिणामयेत्तत्कथं कुर्यादुपादानरूपेण न कथमपि ॥१०३॥ ततः स्थितं आत्मा पुद्गलकर्मणामकर्तेति **दव्वगुणस्य य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि** यथा कुंभकारः

आगे कहते हैं कि जो अज्ञानी है, यह भी परद्रव्य के भाव का कर्ता नहीं है:—**[आत्मा]** आत्मा **[यं]** जिस **[शुभं अशुभं]** शुभ अशुभ **[भावं]** अपने भाव को **[करोति]** करता है **[सः]** वह **[तस्य]** उस भाव का **[कर्ता]** कर्ता **[खलु]** निश्चय से होता है **[तत्]** वह भाव **[तस्य]** उसका **[कर्म]** कर्म **[भवति]** होता है **[स आत्मा तु]** वही आत्मा **[तस्य]** उस भावरूप कर्म का **[वेदकः]** भोक्ता होता है ।

टीका—इस लोक में आत्मा अनादिकाल से अज्ञान से परका और आत्मा के एकत्व का निश्चय कर तीव्र मंद स्वादरूप जो पुद्‌ल कर्म की दो दशायें, उनसे यद्यपि स्वयं अचलित विज्ञानघनरूप एक स्वादरूप है तो भी स्वाद को भेद रूप करता हुआ शुभ तथा अशुभ अज्ञान रूप भाव को करता है । वह आत्मा उस काल भाव से युक्त होने से उस भाव के व्यापकता के कारण उस भाव का कर्ता होता है । तथा वह भाव भी उस समय उस आत्मा की तन्मयता से उस आत्मा का व्याप्य होता है इसलिये उसका कर्म होता है । वही आत्मा उस समय उस भाव की तन्मयता से उस भाव का भावक होता है इसलिये उसका अनुभव करने वाला भोक्ता होता है । वह भाव भी उस समय उस आत्मा को तन्मयता से आत्मा के भावनेयोग्य होता है इस कारण अनुभवन योग्य (भोगने योग्य) होता है । इस प्रकार अज्ञानी भी परभाव का कर्ता नहीं है ।

भावार्थ—अज्ञानी भी अपने अज्ञानभावरूप शुभाशुभभावों का ही अज्ञान अवस्था में कर्ता है, परद्रव्य के भाव का कर्ता तो कभी नहीं है ॥ १०२ ॥

न च परभावः केनापि कर्तुं पार्येतः—

जो जह्मि गुणो दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥ १०३ ॥

यो यस्मिन् गुणे द्रव्ये सोन्यस्मिंस्तु न संक्रामति द्रव्ये ।
सोन्यदसंक्रांतः कथं तत्परिणामयति द्रव्यं ॥ १०३ ॥

इह किल यो यावान् कश्चिद्वस्तुविशेषो यस्मिन् यावति कस्मिंश्चिच्चिदात्मन्यचिदात्मनि वा द्रव्ये गुणे च स्वरसत एवानादित एव वृत्तः स खल्वचलितस्य वस्तुस्थितिसीम्नो भेत्तुमशक्यत्वात्तस्मिन्नेव वर्तते न पुनः द्रव्यांतरं गुणान्तरं वा संक्रामेत । द्रव्यांतरं गुणान्तरं वाऽसंक्रामंश्च कथं त्वन्यं वस्तुविशेषं परिणामयेत् । अतः परभावः केनापि न कर्तुं पार्येत ॥ १०३ ॥

कर्ता मृण्मयकलशकर्मविषये मृत्तिकाद्रव्यस्य संबंधि जडस्वरूपं वर्णादिमृत्तिका गुणस्य वा संबंधिस्वरूपमृत्तिका कलशमिव तन्मयत्वेन न करोति तथात्मापि पुद्गलमयद्रव्यकर्मविषये पुद्गलद्रव्यकर्मसंबंधि जडस्वरूपं वर्णादिपुद्गलद्रव्यगुणसंबंधिस्वरूपं वा तन्मयत्वेन न करोति **तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता** तदुभयमपि पुद्गलद्रव्यकर्मस्वरूपं वर्णादि तद्गुणं वा तन्मयत्वेनाकुर्वाणः सन् तत्र पुद्गलकर्मविषये स जीव. कथं कर्ता भवति न कथमपि । चेतनाचेतनेन परस्वरूपेण न परिणमनीत्यर्थः । अनेन किमुक्तं भवति । यथा स्फटिको निर्मलोपि जपापुष्पादिपरोपाधिना परिणमति तथा कोपि सदाशिवनामा सदा मुक्तोप्यमूर्त्तोपि परोपाधिना परिणम्य जगत करोति । तन्निरस्तं । कस्मादिति चेत् ? मूर्तस्फटिकस्य मूर्त्तेन सहोपाधिसंबंधो घटते तस्य पुन. सदा मुक्तस्यामूर्त्तस्य कथं मूर्त्तोपाधिः ? न कथमपि

आगे कहते हैं कि परभावको कोई भी नहीं कर सकता ऐसा न्याय है,—[यः] जो द्रव्य [यस्मिन्] जिस अपने [द्रव्ये] द्रव्यस्वभाव में [गुणे] तथा अपने जिस गुण मे वर्तता है [सः] वह [अन्यस्मिन् तु] अन्य [द्रव्ये] द्रव्य में तथा गुण में [न संक्रामति] संक्रमण रूप नही होता—पलटकर अन्य मे नहीं मिल जाता [सः] वह [अन्यदसंक्रांतः] अन्य में नहीं मिलता हुआ [तत् द्रव्यं] उस अन्य द्रव्य को [कथं] कैसे [परिणामयति] परिणमा सकता है, कभी नहीं परिणमा सकता ।

टीका—इस लोक में जितने वस्तु विशेष हैं, वे अपने चेतन स्वरूप तथा अचेतन स्वरूप द्रव्य में तथा अपने गुण में अपने निजरस से ही अनादि से वर्तते हैं । सो निश्चय कर अचलित जो अपनी वस्तु स्थिति की मर्यादा उसके भेदने को असमर्थ हैं, इसलिये अपने स्वभाव में ही रहते हैं । द्रव्यांतर तथा गुणांतर से संक्रमणरूप नहीं होते अर्थात् नहीं पलटते । इस प्रकार आत्मा भी अन्य द्रव्य रूप नहीं होता, तो अन्य वस्तु विशेष को कैसे परिणमन करावे, कभी नहीं परिणमन करा सकता । इसीलिये परभाव को कोई भी नहीं परिणमा सकता ।

भावार्थ—जो द्रव्यस्वभाव है, उसे कोई भी नहीं पलट सकता, यह वस्तु की मर्यादा है ॥१०३॥

अतः स्थितः खल्वात्मा पुद्गलकर्मणामकर्ता:—

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि ।
तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता ॥ १०४ ॥

द्रव्यगुणस्य चात्मा न करोति पुद्गलमये कर्मणि ।
तदुभयमकुर्वंस्तस्मिन्कथं तस्य स कर्ता ॥ १०४ ॥

यथा खलु मृण्मये कलशे कर्मणि मृद्द्रव्यमृद्गुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणांतर-संक्रमस्य वस्तुस्थित्यैव निषिद्धत्वादात्मानमात्मगुणं वा नाधत्ते स कलशकारः द्रव्यांतरसंक्रममंतरे-णान्यस्य वस्तुनः परिणामयितुमशक्यत्वात् तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानो न तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभाति । तथा पुद्गलमये ज्ञानावरणादौ कर्मणि पुद्गलद्रव्यपुद्गलगुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणांतरसंक्रमस्य विधातुमशक्यत्वादात्मद्रव्यमात्मगुणं वात्मा न खल्वाधत्ते । द्रव्यांतरसंक्रममंतरेणान्यस्य वस्तुनः परिणामयितुमशक्यत्वात्तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानः कथं नु तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभायात् । ततः स्थितः खल्वात्मा पुद्गलकर्मणामकर्ता ॥ १०४ ॥

सिद्धजीववत् । अनादिबद्धजीवस्य पुनः शक्तिरूपेण शुद्धनिश्चयेनामूर्तस्यापि व्यक्तिरूपेण व्यवहारेण मूर्तस्य मूर्तोपाधिदृष्टांतो घटत इति भावार्थः । एवं निश्चयनयमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतं ॥ १०४ ॥ अतः कारणादात्मा

इस कारण आत्मा निश्चयतः पुद्गल कर्मों का अकर्ता है यह सिद्ध हुआ:—**[आत्मा]** आत्मा **[पुद्गलमये कर्मणि]** पुद्गलमय कर्म में **[द्रव्यगुणस्य च]** द्रव्य को तथा गुण को **[न करोति]** नहीं करता **[तस्मिन्]** उसमें **[तदुभयं]** उन दोनों को **[अकुर्वन्]** नहीं करता हुआ **[तस्य]** उसका **[स कर्ता]** वह कर्ता **[कथं]** कैसे हो सकता है ?

टीका—जैसे मृत्तिकामय कलश नाम कर्म, मृत्तिका नाम द्रव्य और मृत्तिका गुण इन दोनों में अपने निजरस के द्वारा ही वर्तमान है, उसमें कुम्हार अपने द्रव्यस्वरूप को तथा अपने गुण को नहीं मिलाता । क्योंकि अन्य द्रव्य का और अन्य गुण का अन्य द्रव्य गुण रूप परिवर्तन का निषेध वस्तु की मर्यादा से रहित है । अन्य द्रव्य रूप हुए विना अन्य वस्तु को अन्य की परिणमन कराने की असमर्थता से उन द्रव्यों को तथा गुणों को अन्य में नहीं धारता हुआ परमार्थ से उस मृत्तिकामय कलश नामक कर्म का निश्चय से कुम्भकार कर्ता नहीं प्रतिभासित होता । उसी प्रकार पुद्गलमय ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गलद्रव्य और पुद्गल के गुणों में अपने रस से ही वर्तमान हैं, उनमें आत्मा अपने द्रव्यस्वभाव को और अपने गुण को निश्चय से नहीं धारण कर सकता । क्योंकि अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य में तथा अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य के गुणों में संक्रमण होने की असमर्थता है । इसी प्रकार अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य में संक्रमण के विना अन्य वस्तु को परिणमाने की असमर्थता होने से उन द्रव्य और गुण दोनों को उस अन्य में नहीं रखता हुआ आत्मा उस अन्य पुद्गल द्रव्य का कैसे कर्ता हो सकता है, कभी नहीं हो सकता । इसलिये यह निश्चय हुआ कि आत्मा पुद्गल कर्मों का अकर्ता है ॥ १०४ ॥

अतोन्यस्तूपचारः—

जीवह्मि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥ १०५॥

जीवे हेतुभूते बंधस्य तु दृष्ट्वा परिणामं।
जीवेन कृतं कर्म भण्यते उपचारमात्रेण ॥ १०५॥

इह खलु पौद्गलिककर्मणः स्वभावादनिमित्तभूतेप्यात्मन्यनादेरज्ञानात्तन्निमित्तभूतेनाज्ञानभावेन परिणमनान्निमित्तीभूते सति संपद्यमानत्वात् पौद्गलिकं कर्मात्मना कृतमिति निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपराणां परेषामस्ति विकल्पः। स तूपचार एव न तु (पुनः) परमार्थः॥ १०५॥

द्रव्यकर्म करोतीति यदभिधीयते स उपचारः—**जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं** परमोपेक्षासंयमभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणस्य भेदज्ञानस्याभावे मिथ्यात्वरागादिपरिणतिनिमित्तहेतुभूते जीवे सति मेघाडंबरचंद्रार्कपरिवेषादियोग्यकाले निमित्तभूते सति मेघेन्द्रचापादिपरिणतपुद्गलानामिव कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानां ज्ञानावरणादिरूपेण द्रव्यकर्मबन्धस्य परिणामं पर्यायं दृष्ट्वा **जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण** जीवेन कृतं कर्मेति भण्यते उपचारमात्रेणेति ॥ १०५॥ अथ तदेवोपचारकर्मकर्तृत्वं दृष्टांतदार्ष्टांताभ्यां दृढयति;—**जोधेहि कदे जुद्धे राएण कदंति जंपदे लोगो** यथा योधैः युद्धे कृते सति राज्ञा युद्धं कृतमिति जल्पति लोकः। **तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण** तथा व्यवहारनयेन कृतं भण्यते ज्ञानावरणादिकर्म जीवेनेति। ततः स्थितमेतत्। यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वान्नोत्पादयति न करोति न बध्नाति न परिणमयति न गृह्णाति च तथापि ॥ १०६॥ अनादिबंधपर्यायवशेन वीतरागस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानाभावात् रागादि-

---

आगे कहते हैं कि इसके सिवाय अन्य निमित्त नैमित्तकादि भाव हैं उनको देख कुछ अन्य प्रकार से कहना वह उपचार है:—[**जीवे**] जीव को [**हेतुभूते**] निमित्तरूप होने से [**बंधस्य तु**] कर्मबंध का [**परिणामं**] परिणाम होता है उसे [**दृष्ट्वा**] देखकर [**जीवेन**] जीव ने [**कर्म कृतं**] कर्म किये हैं यह [**उपचारेण**] उपचारमात्र से [**भण्यते**] कहा जाता है।

टीका—इस लोक में आत्मा निश्चयतः स्वभाव से पुद्गलकर्म का निमित्तभूत नहीं है, तो भी अनादि अज्ञान से उसका निमित्त रूप हुआ जो अज्ञान भाव, उसके परिणमन करने से पुद्गलकर्म का निमित्त रूप होने पर उत्पन्न जो पुद्गलकर्म, उसको आत्मा ने किया, ऐसा विकल्प होता है, वह निर्विकल्प विज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट और विकल्पों में तत्पर अज्ञानियों के होता है। यह आत्मा ने किया, ऐसा कहना उपचार है, परमार्थ नहीं है॥ १०५॥

कथं इति चेत्;—

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदंति जंपदे लोगो ।
तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ।। १०६ ।।
योधैः कृते युद्धे राज्ञा कृतमिति जल्पते लोकः ।
तथा व्यवहारेण कृतं ज्ञानावरणादि जीवेन ।। १०६ ।।

यथा युद्धपरिणामेन स्वयं परिणममानैः योधैः कृते युद्धे युद्धपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्य राज्ञो राज्ञा किल कृतं युद्धमित्युपचारो न तु परमार्थः। तथा ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयं परिणममानेन पुद्गलद्रव्येण कृते ज्ञानवरणादिकर्मणि ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्यात्मनः किलात्मना कृतं ज्ञानावरणादिकर्मेत्युपचारो न परमार्थः ।। १०६ ।।

अत एतत्स्थितं;—

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिरहदि य ।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ।। १०७ ।।
उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च ।
आत्मा पुद्गलद्रव्यं व्यवहारनयस्य वक्तव्यं ।। १०७ ।।

परिणामस्निग्धः सन्नात्मा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं कुंभकारो घटमिव द्रव्यकर्मरूपेणोत्पादयति प्रकृतिबंधं करोति बध्नाति

यह उपचार कैसे है सो दृष्टांत द्वारा कहते हैं;—[योधैः] जैसे योधाओं ने [युद्धे कृते] युद्ध किया उस जगह [लोकः] लोक [इति जल्पते] ऐसा कहते हैं कि [राज्ञा कृतं] राजा ने युद्ध किया सो यह [व्यवहारेण] व्यवहार से कहना है [तथा] उसी प्रकार [ज्ञानावरणादि] ज्ञानावरणादि कर्म [जीवेण कृतं] जीव ने किये हैं, ऐसा कहना व्यवहार से है ।

टीका—जैसे युद्ध परिणामों से स्वयं परिणमन करने वाले योद्धाओं द्वारा किए गए युद्ध को, युद्ध परिणामों से स्वयं नहीं परिणत हुए राजा को लोक कहते हैं कि युद्ध राजा ने किया। ऐसा उपचार परमार्थ नहीं है। उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मपरिणामों से स्वयं परिणमन करता जो पुद्गल द्रव्य उसके द्वारा किए गए ज्ञानावरणादि कर्म के होने पर ज्ञानावरणादि कर्म परिणामों से आप परिणमन करने वाले आत्मा के सम्बन्ध में कहते हैं कि ये ज्ञानावरणादि कर्म आत्मा ने किए हैं, ऐसा उपचार है, परमार्थ नहीं है।

भावार्थ—जैसे योद्धा युद्ध करे; वहां पर राजा ने युद्ध किया, यह उपचार से कहते हैं, वैसे ही पुद्गल कर्म जीव ने किए, ऐसा उपचार से कहा जाता है ।। १०६ ।।

इस हेतु से ऐसा निश्चय हुआ;—[आत्मा] आत्मा [पुद्गलद्रव्यं] पुद्गल द्रव्य को [उत्पा-

अयं खल्वात्मा न गृह्णाति न परिणामयति नोत्पादयति न करोति न बध्नाति व्याप्य-व्यापकभावाभावात् प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म। यत्तु व्याप्यव्यापकभा-वाभावेपि प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति परिणामयत्युत्पादयति करोति बध्नाति चात्मेति विकल्पः स किलोपचारः ॥ १०७ ॥

कथमिति चेत्:—

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥ १०८ ॥

यथा राजा व्यवहाराद्दोषगुणोत्पादक इत्यालपितः।
तथा जीवो व्यवहाराद् द्रव्यगुणोत्पादको भणितः ॥ १०८ ॥

यथा लोकस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापक-

---

परिणमयति गृह्णातीति व्यवहारनयस्याभिप्रायेणवक्तव्यं व्याख्येयमिति। अथवा उत्पादयति प्रकृतिबंधं करोति स्थितिबंधं बध्नात्यनुभागबंधं परिणमयति प्रदेशबन्धं तप्तायः पिंडो जलवत्सर्वात्मप्रदेशैर्गृह्णाति चेत्यभिप्राय. ॥ १०७ ॥

दयति] उत्पन्न करता है **[च]** और **[करोति]** करता है **[बध्नाति]** बांधता है **[परिणामयति]** परिण-माता है **[च]** तथा **[गृह्णाति]** ग्रहण करता है ऐसा **[व्यवहारनयस्य]** व्यवहारनय का **[वक्तव्यं]** वचन है।

टीका—यह आत्मा निश्चय से पुद्गलद्रव्यस्वरूप कर्म को व्याप्य-व्यापकभाव के अभाव से प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य इन तीन प्रकार के कर्मों को न ग्रहण करता, न परिणमाता है, न उपजाता है, न करता है और न बांधता है। व्याप्य-व्यापक भाव के अभाव होने पर भी प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसे तीन प्रकार के पुद्गलद्रव्य स्वरूप कर्म को यह आत्मा ग्रहण करता है, उपजाता है, करता है और बांधता है। ऐसा विकल्प होता है, यह प्रकट उपचार है।

भावार्थ—व्याप्य-व्यापक भाव के बिना कर्म का कर्ता कहना वह उपचार है ॥ १०७ ॥

यहां प्रश्न होता है कि यह उपचार किस तरह से है, उसका उत्तर दृष्टांत के द्वारा देते हैं;— **[यथा]** जैसे **[राजा]** प्रजा में राजा **[दोषगुणोत्पादकः]** दोष और गुणों का उत्पन्न करने वाला है **[इति]** ऐसा **[व्यवहारात्]** व्यवहार से **[आलपितः]** कहा है **[तथा]** उसी प्रकार **[जीवः]** जीव को भी **[व्यवहारात्]** व्यवहार से **[द्रव्यगुणोत्पातकः]** पुद्गल द्रव्य में द्रव्य गुण का उत्पादक **[भणितः]** कहा गया है।

टीका—जैसे प्रजा के व्याप्यव्यापक भाव से स्वभाव से ही उत्पन्न जो गुण और दोष उन में राजा के व्याप्य व्यापक भाव का अभाव है तो भी लोक कहते हैं कि गुण दोष का उपजाने वाला राजा है,

भावाभावेऽपि तदुत्पादको राजेत्युपचारः । तथा पुद्गलद्रव्यस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापकभावाभावेपि तदुत्पादको जीव इत्युपचारः ॥ १०८ ॥

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव, कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशंकयैव ।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय, संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्म कर्तृ ॥ ६३ ॥

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥ १०९ ॥
तेसिं पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो ।
मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥ ११० ॥
एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जह्मा ।
ते जदि करंति कम्मं णवि तेसिं वेदगो आदा ॥ १११ ॥
*१ गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा ।
तह्मा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥ ११२ ॥ (चतुष्कं)

अथैतदेव व्याख्यानं दृष्टांतदार्ष्टांताभ्यां समर्थयति;—**जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो** यथा राजा लोके व्यवहारेण सदोषिनिर्दोषिजनानां दोषगुणोत्पादको भणितः **तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो** तथा जीवोपि व्यवहारेण पुद्गलद्रव्यस्य पुण्यपापगुणयोरुत्पादको भणितः । इति व्यवहारमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं गतं । एवं द्विक्रियावादिनिराकरणोपसंहारव्याख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथा गताः ॥ १०८ ॥ ननु

ऐसा उपचार (व्यवहार) है, उसी प्रकार पुद्गल द्रव्य के व्याप्य-व्यापक भाव से स्वभाव से ही उत्पन्न गुण, दोषों में जीव के व्याप्यव्यापक भाव का अभाव है तो भी उन गुण दोषों का उपजाने वाला जीव ऐसा उपचार है ।

भावार्थ—जैसे लोक में कहते हैं कि जैसा राजा हो, वैसी ही प्रजा होती है, ऐसा कह कर गुण दोष का कर्ता राजा को कहा जाता है, उसी प्रकार पुद्गल द्रव्य के गुण दोष का कर्ता जीव को कहते हैं । जब परमार्थ दृष्टि से विचारो तो यह उपचार है ॥१०८॥

आगे पूछते हैं कि पुद्गल कर्म का कर्ता यदि जीव नहीं है तो कौन है, ऐसे प्रश्न का काव्य कहते हैं—**जीवः**—इत्यादि । **अर्थ**—यदि पुद्गल कर्म को जीव नहीं करता तो उस पुद्गल कर्म को कौन करता है ? ऐसी आशंका करके इस कर्ता-कर्म को तीव्र वेग रूप मोह (अज्ञान) के दूर करने को पुद्गल कर्म का कर्ता कहते हैं । सो हे ज्ञान के इच्छुक पुरुषो; तुम सुनो ॥ ६३ ॥

सामान्यप्रत्ययाः खलु चत्वारो भण्यंते बंधकर्त्तारः ।
मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च बोद्धव्याः ॥ १०९ ॥
तेषां पुनरपि चायं भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्पः ।
मिथ्यादृष्ट्यादिर्यावत्सयोगिनश्चरमांतम् ॥ ११० ॥
एते अचेतनाः खलु पुद्गलकर्मोदयसंभवा यस्मात् ।
ते यदि कुर्वंति कर्म नापि तेषां वेदक आत्मा ॥ १११ ॥
गुणसंज्ञितास्तु एते कर्म कुर्वंति प्रत्यया यस्मात् ।
तस्माज्जीवोऽकर्त्ता गुणाश्च कुर्वंति कर्माणि ॥ ११२ ॥

पुद्गलकर्मणः किल पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ, तद्विशेषाः मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बंधस्य

निश्चयेन द्रव्यकर्म न करोत्यात्मा बहुधा व्याख्यातं तेनैव द्विक्रियावादिनिराकरणं सिद्धं पुनरपि किमर्थं पिष्टपेषणमिति । नैवं, हेतुहेतुमद्भावव्याख्यानज्ञापनार्थमिति नास्ति दोषः । तथाहि—यत एव हेतोर्निश्चयेन द्रव्यकर्म न करोति तत एव हेतोर्द्विक्रियावादिनिराकरणं सिद्ध्यतीति हेतुमद्भावव्याख्यानं ज्ञातव्यं । इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थ-पीठिकारूपे महाधिकारमध्ये पूर्वोक्तप्रकारेण **जदि सो पुग्गलदव्वं करेज्ज** इत्यादिगाथाद्वयेन संक्षेपव्याख्यानं । ततः परं द्वादशगाथाभिस्तस्यैव विशेषव्याख्यानं ततोप्येकादशगाथाभिस्तस्यैवोपसंहाररूपेण पुनरपि विशेषविवरणमिति समुदायेन पंचविंशतिगाथाभिः द्विक्रियावादिनिषेधकनामा तृतीयोत्तराधिकारः समाप्तः । अथानतरं **सामण्णपच्चया** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण सप्तगाथापर्यंतं मूलप्रत्ययचतुष्टयस्य कर्मकर्तृत्वमुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति । तत्र सप्तकमध्ये जैनमते शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेण जीवः कर्म न करोति प्रत्यया एव कुर्वंतीति कथनरूपेण गाथाचतुष्टयं । अथवा शुद्धनिश्चयविवक्षां ये नेच्छंत्येकांतेन जीवो न करोतीति वदंति सांख्यमतानुसारिणः तान्प्रति दूषणं

अब इसके उत्तर की गाथा कहते हैं;—**[सामान्यप्रत्ययाः]** प्रत्यय अर्थात् कर्म-बंध के कारण जो आस्रव वे सामान्य से **[चत्वारः]** चार **[बंधकर्तारः]** बंध के कर्ता **[भणिताः]** कहे हैं वे **[मिथ्यात्वं]** मिथ्यात्व **[अविरमणं]** अविरमण **[च]** और **[कषाययोगौ]** कषाय योग **[बोद्धव्याः]** जाननेचाहिये **[तेषां च]** और उनका **[पुनरपि]** फिर **[अयं भेदः]** यह भेद **[त्रयोदशविकल्पः]** तेरह भेदरूप कहा गया है वह **[मिथ्यादृष्ट्यादि]** मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर **[सयोगिचरमांतः यावत्]** संयोग केवली तक है, वे तेरह गुणस्थान जानने । **[एते]** ये **[खलु]** निश्चय दृष्टि से **[अचेतनाः]** अचेतन हैं **[यस्मात्]** क्योंकि **[पुद्गलकर्मोदयसंभवाः]** पुद्गल कर्म के उदय से हुए हैं **[यदि ते]** यदि वे **[कर्म]** कर्म को **[कुर्वन्ति]** करते हैं **[तेषां वेदकः]** उनका भोक्ता **[आत्मा नापि]** आत्मा नहीं होता **[एते तु]** ये **[प्रत्ययाः]** प्रत्यय **[गुणसंज्ञिताः]** गुण नाम वाले हैं **[यस्मात्]** क्योंकि **[कर्म कुर्वंति]** ये कर्म को करते हैं **[तस्मात्]** इस कारण **[जीवः]** जीव तो **[अकर्ता]** कर्म का कर्ता नहीं है **[च]** और **[गुणाः]** ये गुण ही **[कर्माणि]** कर्मों को **[कुर्वंति]** करते हैं ।

सामान्यहेतुतया चत्वारः कर्तारः, त एव विकल्प्यमाना मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवल्यंतास्त्रयोदश कर्तारः। अथैते पुद्गलकर्मविपाकविकल्पत्वादत्यंतमचेतनाः संतस्त्रयोदश कर्तारः केवला एव यदि व्याप्यव्यापकभावेन किंचनापि पुद्गलकर्म कुर्युस्तदा कुर्युरेव किं जीवस्यात्रापतितं। अथायं तर्कः। पुद्गलमयमिथ्यात्वादीन् वेदयमानो जीवः स्वयमेव मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा पुद्गलकर्म करोति स किलाविवेको यतो न खल्वात्मा भाव्यभावकभावाभावात् पुद्गलद्रव्यमयमिथ्यात्वादिवेदकोपि

ददाति। कथमिति चेत्। यदि ते प्रत्यया एव कर्म कुर्वंति तर्हि जीवो न हि वेदकस्तेषां कर्मणामित्येकं दूषणं। अथवा तेषां मते जीव एकातेन कर्म न करोतीति द्वितीयं दूषणं। तदनंतरं शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेण न च जीवप्रत्यययोरेकत्वं जैनमताभिप्रायेणेति गाथात्रयं। अथवा पूर्वोक्तप्रकारेण ये नयविभागं नेच्छंति तान्प्रति पुनरपि दूषणं। कथमिति चेत्। जीवप्रत्यययोरेकातेनैकत्वे सति जीवाभाव इत्येकं दूषणं। एकातेन भिन्नत्वे सति संसाराभाव इति द्वितीयं दूषणमिति चतुर्थांतराधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा—निश्चयेन मिथ्यात्वादिपौद्गलिकप्रत्यया एव कर्म कुर्वंतीति प्रतिपादयतिः— **सामण्णपच्चया खलु चउरो भणंति बंधकत्तारो** निश्चयनयेनाभेदविवक्षायां पुद्गल एक एव कर्ता भेदविवक्षायां तु सामान्यप्रत्यया मूलप्रत्यया खलु स्फुटं चत्वारो बंधस्य कर्तारो भण्यंते सर्वज्ञैः उत्तरप्रत्ययाश्च पुनर्बहवो भवंति। सामान्यं कोर्थः। विवक्षाया अभावः सामान्यमिति सामान्यशब्दस्यार्थः सर्वत्र सामान्यव्याख्यानकाले ज्ञातव्य इति। **मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा** ते च मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बोद्धव्याः। अथ—**तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो** तेषां प्रत्ययानां गुणस्थानभेदेन पुनरिमो भणितो भेदस्त्रयोदशविकल्पः केन प्रकारेण **मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं** मिथ्यादृष्टिगुणस्थानादिसयोगिभट्टारकस्य चरमसमयं यावदिति। अथ **एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जह्मा** एते मिथ्यात्वादिभावप्रत्ययाः शुद्धनिश्चयेनाचेतनाः खलु स्फुटं। कस्मात् पुद्गलकर्मोदयसंभवा यस्मादिति। यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो विवक्षावशेन देवदत्तायाः पुत्रोऽयं केचन वदंति, देवदत्तस्य पुत्रोऽयमिति केचन वदंति दोषो नास्ति। तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्नाः मित्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसंबद्धाः शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः पौद्गलिकाः। परमार्थतः पुनरेकातेन न जीवरूपाः न च पुद्गलरूपाः सुधाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत्। वस्तुतस्तु सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन न संत्येवाज्ञानोद्भवाः कल्पिता इति। एतावता किमुक्तं भवति। ये केचन वदंत्येकातेन रागादयो जीवसंबंधिनः पुद्गलसंबंधिनो वा तदुभयमपि वचनं मिथ्या। कस्मादिति चेत्, पूर्वोक्तस्त्रीपुरुषदृष्टातेन संयोगोद्भवत्वात्। अथ मतं सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन कस्येति प्रच्छामो वयं सूक्ष्मशुद्धनिश्चयेनतेषामस्तित्वमेव नास्ति पूर्वमेव भणितं तिष्ठति कथमुत्तरं प्रयच्छामः इति। **ते जदि करंति कम्मं** ते प्रत्यया यदि चेत् कुर्वंति कर्म तदा कुर्युरेव जीवस्य किमायातं शुद्धनिश्चयेन सम्मतमेव 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'

टीका—निश्चय से पुद्गल कर्म का एक पुद्गल द्रव्य ही कर्ता है। उस पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार भेद सामान्यतः बंध के कर्ता हैं। वे ही मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर सयोगकेवली तक भेदरूप हुए तेरह कर्ता हैं। ये पुद्गल कर्म विपाक के भेद हैं इसलिये अत्यंत अचेतन हैं, जड़ हैं। वे अचेतन ही केवल पुद्गलकर्म के कर्ता होकर व्याप्यव्यापकभाव से कुछ पुद्गल कर्म को करे तो करें, जीव का इस में क्या आया ? कुछ भी नहीं। अथवा यहां यह तर्क है कि पुद्गलमयी मिथ्यात्वादिका

कथं पुनः पुद्गलकर्मणः कर्ता नाम । अथैतदायातं यतः पुद्गलद्रव्यमयानां चतुर्णां सामान्यप्रत्ययानां विकल्पास्त्रयोदश विशेषप्रत्यया गुणशब्दवाच्याः केवला एव कुर्वंति कर्माणि । ततः पुद्गलकर्मणामकर्ता जीवो गुणा एव तत्कर्तारस्ते तु पुद्गलद्रव्यमेव । ततः स्थितं पुद्गलकर्मणः पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ ॥१०९॥११०॥१११॥११२॥

इति वचनात् । अथ मतं । जीवो मिथ्यात्वोदयेन मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा मिथ्यात्वरागादिभावकर्म भुंक्ते यतस्ततः कर्तापि भवतीति । नैवं । **णवि तेसिं वेदगो आदा** यतः शुद्धनिश्चयेन वेदकोपि न हि तेषां कर्मणा । यदा वेदको न भवति तदा कर्त्तापि कथंभविष्यति न कथमपि इति शुद्धनिश्चयेन सम्मतमेव । अथवा ये पुनरेकांतेनाकर्त्तेति वदंति तान्प्रति दूषणं । कथमिति चेत् । यदैकांतेनाकर्ता भवति तदा यथा शुद्धनिश्चयेनाकर्ता तथा व्यवहारेणाप्यकर्ता प्राप्नोति । ततश्च सर्वथैवाकर्तृत्वे सति संसाराभाव इत्येकं दूषणं । तेषां मते वेदकोपि न भवतीति द्वितीयं च दूषणं । अथ च वेदकमात्मानं मन्यंते सांख्यास्तेषां स्वमतव्याघातदूषणं प्राप्नोतीति । अथ—**गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जह्मा** ततः स्थितं गुणस्थानसंज्ञिताः प्रत्ययाः एते कर्म कुर्वंतीति यस्मादेवं पूर्वसूत्रेण भणितं । **तह्मा जीवो कत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि** तस्मात् शुद्धनिश्चयेन तेषां कर्मणां जीव कर्ता न भवति । गुणस्थानसंज्ञिताः प्रत्यया एव कर्म कुर्वंतीति सम्मतमेव । एवं शुद्धनिश्चयेन प्रत्यया एव कर्म कुर्वंतीति व्याख्यानरूपेण गाथाचतुष्टयं गतं ॥ १०९ । ११० । १११ । ११२ ॥ अथ न च जीवप्रत्यययोरेकत्वमेकांतेनेति कथयति;—**जह जीवस्स अणण्णुवओगो** यथा जीवस्यानन्यस्तन्मयो ज्ञानदर्शनोपयोगः । कस्मात्, अनन्यवेद्यत्वात् अशक्यविवेचनत्वाच्चाग्नेरुष्णत्ववत् **कोहो वि तह जदि अणण्णो** तथा क्रोधोपि यद्यनन्यो भवत्येकांतेन । तदा किं दूषणं, **जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं** एवमभेदे सति सहजशुद्धाखंडैकज्ञानदर्शनोपयोगमयजीवस्याजीवस्य चैकत्वमापन्नमिति । अथ—**एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो** एवं पूर्वोक्तसूत्रव्याख्यानक्रमेण य एव जीवः स एव तथैवाजीवः भवति नियमान्निश्चयात् । तथा सति जीवाभावाद् दूषणं

वेदन करता हुआ जीव स्वयं ही मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गल कर्म को करता है ? उसका समाधान ऐसा है कि यह अज्ञान है क्योंकि आत्मा भाव्यभावक भाव के अभाव से मिथ्यात्वादि पुद्गल कर्मों का भोक्ता भी निश्चय से नहीं है तो पुद्गल कर्म का कर्ता कैसे हो सकता है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि पुद्गल द्रव्यमय सामान्य चार प्रत्यय, उनके विशेष भेद रूप तेरह प्रत्यय वे गुण शब्द से कहे हैं अर्थात् उनका नाम गुणस्थान है वे ही केवल कर्मों को करते हैं । इस कारण जीव पुद्गल कर्मों का अकर्ता है और वे गुण स्थान ही उनके कर्ता हैं क्योंकि वे गुण पुद्गल द्रव्यमय ही हैं । इससे पुद्गल कर्म का पुद्गल द्रव्य ही एक कर्ता है यह सिद्ध हुआ ।

भावार्थ—'अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य कर्ता नहीं होता' इस न्याय से आत्मद्रव्य पुद्गल द्रव्य कर्म का कर्ता नहीं है, बंध के कर्ता तो योगकषायादिक से उत्पन्न हुए गुणस्थान हैं । वे वास्तव में अचेतन पुद्गलमय हैं । इसलिए वे पुद्गल कर्म के कर्ता हैं, जीव को कर्ता मानना अज्ञान है ॥ १०९ । ११० । १११ । ११२ ॥

न च जीवप्रत्यययोरेकत्वं;—

जह जीवस्स अण्णणुवओगो कोहो वि तह जदि अण्णणो।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥ ११३ ॥
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥ ११४ ॥
अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥ ११५ ॥ (त्रिकलम्)

यथा जीवस्यानन्य उपयोगः क्रोधोपि तथा यद्यनन्यः।
जीवस्याजीवस्य चैवमनन्यत्वमापन्नं ॥ ११३ ॥
एवमिह यस्तु जीवः स चैव तु नियमतस्तथाजीवः।
अयमेकत्वे दोषः प्रत्ययनोकर्मकर्मणां ॥ ११४ ॥
अथ ते अन्यः क्रोधोऽन्यः उपयोगात्मको भवति चेतयिता।
यथा क्रोधस्तथा प्रत्ययाः कर्म नोकर्माप्यन्यत् ॥ ११५ ॥

यदि यथा जीवस्य तन्मयत्वाज्जीवादनन्य उपयोगस्तथा जडः क्रोधोप्यनन्य एवेति प्रति-

---

प्राप्नोति। **अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं** अयमेव च दोषो जीवाभावरूपः। कस्मिन् सति। एकान्तेन निरंजननिजानंदैकलक्षणजीवेन सहैकत्वे सति। केषां। मिथ्यात्वादिप्रत्ययनोकर्मकर्मणामिति। अथ प्राकृतलक्षणबलेन

आगे कहते हैं कि जीव और उन प्रत्ययों का एकत्व भी नहीं है,—[**यथा**] जैसे [**जीवस्य**] जीव के [**अनन्य उपयोगः**] एक रूप उपयोग है [**तथा**] उसी प्रकार [**यदि**] जो [**क्रोधोपि**] क्रोध भी [**अनन्यः**] एक रूप हो जाय तो [**एवं**] इस तरह [**जीवस्य**] जीव [**च**] और [**अजीवस्य**] अजीव के [**अनन्यत्वं**] एकत्व [**आपन्नं**] प्राप्त हुआ [**एवं च इह**] ऐसा होने से इस लोक में [**यः तु**] जो [**जीवः**] जीव है [**स एव**] वही [**नियमतः**] नियम से [**तथा**] वैसा ही [**अजीवः**] अजीव हुआ [**एकत्वे**] ऐसे दोनों के एकत्व होने में [**अयं दोषः**] यह दोष प्राप्त हुआ। [**प्रत्ययनोकर्मकर्मणां**] इसी प्रकार प्रत्यय नोकर्म-कर्मइनमें भी यही दोष जानना। [**अथ**] अथवा इस दोष के भय से [**ते**] तेरे मत में [**क्रोधः**] क्रोध [**अन्यः**]अन्य है और [**उपयोगात्मकः**] उपयोग स्वरूप [**चेतयिता**] आत्मा [**अन्यः**] अन्य [**भवति**] है और [**यथा क्रोधः**] जैसे क्रोध है [**तथा**] उसी प्रकार [**प्रत्ययाः**] प्रत्यय [**कर्म**] कर्म [**नोकर्म अपि**] और नोकर्म ये भी [**अन्यत्**] आत्मा से अन्य ही हैं ॥

टीका—जैसे जीव के साथ तन्मयता से जीव से उपयोग अनन्य (एक रूप) है, उसी प्रकार

पत्तिस्तदा चिद्रूपजडयोरनन्यत्वाज्जीवस्योपयोगमयत्ववज्जडक्रोधमयत्वापत्तिः। तथा सति तु य एव जीवः स एवाजीव इति द्रव्यांतरलुप्तिः। एवं प्रत्ययनोकर्मकर्मणामपि जीवादनन्यत्वप्रतिपत्तावयमेव दोषः। अथैतद्दोषभयादन्य एवोपयोगात्मा जीवोऽन्य एव जडस्वभावः क्रोधः इत्यभ्युपगमः तर्हि यथोपयोगात्मनो जीवादन्यो जडस्वभावः क्रोधः तथा प्रत्ययनोकर्मकर्माण्यप्यन्यान्येव जडस्वभावत्वाविशेषान्नास्ति जीवप्रत्यययोरेकत्वं ॥ ११३।११४।११५ ॥

प्रत्ययशब्दस्य ह्रस्वत्वमिति। **अह पुण अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा** अथ पुनरभिप्रायो भवतां पूर्वोक्तजीवाभावदूषणभयात् अन्यो भिन्नः क्रोधो जीवादन्यश्च विशुद्धज्ञानदर्शनमय आत्मा क्रोधात्सकाशात्। **जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्म मवि अण्णं** यथा जडः क्रोधो निर्मलचैतन्यस्वभावजीवाद्भिन्नस्तथा प्रत्ययकर्मनोकर्माण्यपि भिन्नानि शुद्धनिश्चयेन सम्मत एव। किं च, शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्याकर्तृत्वमभोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्च भिन्नत्वं च भवतीति व्याख्याने कृते सति द्वितीयपक्षे व्यवहारेण कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्चाभिन्नत्वं च लभ्यते एव। कस्मात्। निश्चयव्यवहारयोः परस्परसापेक्षत्वात्। कथमिति चेत्। यथा दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्ययं देवदत्तः इत्युक्ते वामेन न पश्यतीत्यनुक्तसिद्धमिति। ये पुनरेवं परस्परसापेक्षनयविभागं न मन्यंते सांख्यसदाशिवमतानुसारिणस्तेषां मते यथा शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवति क्रोधादिभ्यश्च भिन्नो भवति तथा व्यवहारेणापि। ततश्च क्रोधादिपरिणमनाभावे सति सिद्धानामिव कर्मबंधाभावः। कर्मबंधाभावे संसाराभावः, संसाराभावे सर्वदा मुक्तत्वं प्राप्नोति। स च प्रत्यक्षविरोधः, संसारस्य प्रत्यक्षेण दृश्यमानत्वादिति। एवं प्रत्ययजीवयोरेकांतेनैकत्वनिराकरणरूपेण गाथात्रयं गतं। अत्राह शिष्यः। शुद्धनिश्चयेनाकर्ता व्यवहारेण कर्तेति बहुधा व्याख्यातं तत्रैवं सति यथा द्रव्यकर्मणां व्यवहारेण कर्तृत्वं तथा रागादिभावकर्मणां च द्वयोर्द्रव्यभावकर्मणोरेकत्वं प्राप्नोतीति। नैवं। रागादिभावकर्मणां योसौ व्यवहारस्तस्याशुद्धनिश्चयसंज्ञा भवति द्रव्यकर्मणां भावकर्मभिः सह तारतम्यज्ञापनार्थं। कथं तारतम्यमिति चेत्। द्रव्यकर्माण्यचेतनानि भावकर्माणि च चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया अचेतनान्येव। यतः कारणादशुद्धनिश्चयोपि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। अयमत्र भावार्थः। द्रव्यकर्मणां कर्तृत्वं भोक्तृत्वं चानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण रागादिभावकर्मणां चाशुद्धनिश्चयेन। स च शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहारएवेति। एवं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारे सप्तगाथाभिः चतुर्थौतराधिकारः समाप्तः। अतः परं **जीवे ण सयं बद्धं** इत्यादि गाथामादिं कृत्वा गाथाष्टकपर्यंतं सांख्यमतानुसारि-

---

जड़ क्रोध भी अनन्य ही है, ऐसी प्रतीत हो जाय। तो चिद्रूप की और जड़ की अनन्यता से जीव के उपयोग होने की तरह जड़ क्रोधमय होने की भी प्राप्ति हुई। ऐसा होने पर जो जीव है, वही अजीव है, इस प्रकार भिन्न द्रव्य का लोप हो गया। इसी प्रकार प्रत्यय नोकर्म और कर्मों की भी जीव के साथ एकत्व की प्रतीति में यही दोष आता है। इस दोष के भय से ऐसा मानो कि उपयोग स्वरूप जीव तो अन्य है और जड़ स्वरूप क्रोध अन्य है। जैसे उपयोग स्वरूप जीव से जड़ स्वभाव क्रोध अन्य है, उसी प्रकार प्रत्यय नोकर्म और कर्म भी अन्य ही हैं, क्योंकि जैसा जड़ स्वभाव क्रोध है, उसी प्रकार प्रत्यय नोकर्म, कर्म ये भी जड़ हैं, इनमे विशेषता नहीं है। इस प्रकार जीव और प्रत्यय मे एकत्व नहीं है।

भावार्थ—मिथ्यात्वादि आस्रव तो जड़ स्वभाव हैं और जीव चेतन स्वभाव है। यदि जड़ और चेतन एक हो जायं तो बड़ा भारी दोष आवे, भिन्न द्रव्य का ही लोप हो जाय। इसलिये आस्रव और आत्मा में एकत्व नहीं है, यह निश्चयनय का सिद्धान्त है॥ ११३। ११४। ११५॥

अथ पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वं साधयति सांख्यमतानुयायिशिष्यं प्रति;—

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण ।
जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥ ११६ ॥
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥ ११७ ॥
जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा[1] ॥ ११८ ॥
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं ।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥ ११९ ॥
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चि य होदि पुग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥ १२० ॥ (पंचकम्)

जीवे न स्वयं बद्धं न स्वयं परिणमते कर्मभावेन ।
यदि पुद्गलद्रव्यमिदमपरिणामि तदा भवति ॥ ११६ ॥
कार्मणवर्गणासु चापरिणममानासु कर्मभावेन ।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥ ११७ ॥
जीवः परिणामयति पुद्गलद्रव्याणि कर्मभावेन ।
तानि स्वयमपरिणममानानि कथं नु परिणामयति चेतयिता ॥ ११८ ॥

शिष्यसंबोधनार्थं जीवपुद्गलयोरेकांतेनापरिणामित्वं निषेधयन् सन् कथंचित् परिणामित्वं स्थापयति। तत्र गाथाष्टकमध्ये पुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं। तदनंतरं जीवपरिणामित्वमुख्यत्वेन गाथापंचकमिति पंचमस्थले समुदायपातनिका ॥ ११३।११४।११५ ॥ अथ सांख्यमतानुयायिशिष्यं प्रति पुद्गलस्य कथंचित्परिणामस्वभावत्वं साधयति;—**जीवे ण सयं बद्धं** जीवे अधिकरणभूते स्वयं स्वभावेन पुद्गलद्रव्यकर्मबद्धं नास्ति। कस्मात्, सर्वदा जीवस्य शुद्धत्वात्। **ण सयं परिणमदि कम्मभावेण** न च स्वयं स्वयमेव कर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण परिणमति।

आगे सांख्यमत को मानने वाले शिष्य के प्रति पुद्गल द्रव्य में परिणाम स्वभाव होना सिद्ध करते हैं अर्थात् सांख्यमती प्रकृति पुरुष को अपरिणामी मानता उसे समझाते हैं;—**[पुद्गलद्रव्यं]** पुद्गल द्रव्य **[जीवे]** जीव में **[स्वयं]** आप **[न बद्धं]** न तो बंधा है **[न कर्मभावेन]** और न कर्म भाव से **[स्वयं]** स्वयं **[परिणमते]** परिणमन करता है **[यदि इदं तदा]** जो

१. णाणी इत्यपि पाठः।

अथ स्वयमेव हि परिणमते कर्मभावेन पुद्गलद्रव्यं ।
जीवः परिणामयति कर्म कर्मत्वमिति मिथ्या ॥ ११९ ॥
नियमात्कर्मपरिणतं कर्म चैव भवति पुद्गलद्रव्यं ।
तथा तद्ज्ञानावरणादिपरिणतं जानीत तच्चैव ॥ १२० ॥

यदि पुद्गलद्रव्यं जीवे स्वयमबद्धमत्कर्मभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा तदपरिणाम्येव स्यात् । तथा सति संसाराभावः । अथ जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयति ततो न संसाराभावः इति तर्कः ? किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन

कस्मात्, सर्वथा नित्यत्वात् । **जदि पुग्गलदव्वमिणं** एवमित्थंभूतमिदं पुद्गलद्रव्यं यदि चेद्भवतां सांख्यमतानुसारिणां **अप्परिणामी तदा होदि** ततः कारणात्तत्पुद्गलद्रव्यमपरिणाम्येव भवति । ततश्चापरिणामित्वे सति किं दूषणं भवति । अथ—कार्मणवर्गणाभिरपरिणमंतीभि कर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण तदा ससारस्याभावः प्रसजति प्राप्नोति हे शिष्य, सांख्यसमयवदिति । अथ मतं । **जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण** जीवः कर्त्ता कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्याणि ज्ञानावरणादिकर्मभावेण द्रव्यकर्मपर्यायेण हठात्परिणामयति ततः कारणात्संसाराभावदूषणं न भवतीति चेत् **ते सयमपरिणमंतं कहं तु परिणामयदि णाणी** ज्ञानी जीवः स्वयमपरिणममानः सन् तत्पुद्गलद्रव्यं

ऐसा मानो तो यह पुद्गलद्रव्य **[अपरिणामी]** अपरिणामी **[भवति]** हो जायगा **[वा]** अथवा **[कार्मणवर्गणासु]** कर्मणवर्गणा आप **[कर्मभावेन]** कर्मभाव से **[अपरिणममानासु]** नही परिणमतीं ऐसा मानिये तो **[संसारस्य]** संसार का **[अभावः]** अभाव **[प्रसजति]** ठहरेगा **[वा]** अथवा **[सांख्यसमयः]** सांख्य मत का प्रसंग आयेगा । **[जीवः]** जीव ही **[पुद्गलद्रव्याणि]** पुद्गल द्रव्यों को **[कर्मभावेन]** कर्मभावों से **[परिणामयति]** परिणमन कराता है ऐसा माना जाय तो **[तानि]** वे पुद्गलद्रव्य **[स्वयं अपरिणममानानि]** आप ही परिणमन न करते उनको **[चेतयिता]** यह चेतन जीव **[कथं नु]** कैसे **[परिणमयति]** परिणमा सकता है, यह प्रश्न हो सकता है **[अथ]** अथवा **[पुद्गलद्रव्यं]** पुद्गलद्रव्य **[स्वयमेव हि]** आप ही **[कर्मभावेन]** कर्म भाव से **[परिणमते]** परिणमता है, ऐसा माना जाय तो **[जीवः]** जीव **[कर्मत्वं]** कर्म भाव से **[कर्म]** कर्मरूप पुद्गल को **[परिणमयति]** परिणमाता है **[इति]** ऐसा कहना **[मिथ्या]** झूठ हो जाय । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि **[पुद्गलं द्रव्यं]** पुद्गल द्रव्य **[कर्मपरिणतं]** कर्मरूप परिणत हुआ **[नियमात् चैव]** नियम से ही **[कर्म]** कर्मरूप **[भवति]** होता है **[तथा]** ऐसा होने पर **[तच्चैव]** वह पुद्गल द्रव्य ही **[ज्ञानावरणादि परिणतं]** ज्ञानावरणादिरूप परिणत **[तत्]** कर्म (जानीत) जानो ।

टीका—यदि पुद्गलद्रव्य जीव में आप नहीं बंधा हुआ स्वयमेव कर्मभाव से नहीं परिणमन करता है तो पुद्गलद्रव्य अपरिणामी ही सिद्ध हो जायगा । ऐसा होने पर संसार का अभाव जायगा क्योंकि कर्मरूप हुए बिना जीव कर्मरहित ठहरता है तो संसार किसका ? और जो ऐसा तर्क करे कि

परिणामयेत् ? न तावत्तत्स्वयमपरिणममानं परेण परिणामयितुं पार्येत । न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत । न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते । ततः पुद्गलद्रव्यं परिणामस्वभावं स्वयमेवास्तु । तथा सति कलशपरिणता मृत्तिका स्वयं कलश इव जडस्वभावंज्ञानावरणादिकर्मपरिणतं तदेव स्वयं ज्ञानावरणादिकर्म स्यात् । इति सिद्धं पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वं ॥११६॥११७॥११८॥११९॥१२०॥

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥ ६४ ॥

किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा परिणामयेत् ? न तावदपरिणममानं परिणामयति न च स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । यथा जपापुष्पादिकं कर्तृ स्फटिके जनयत्युपाधि तथा काष्ठस्तंभादौ किं न जनयतीति । अथैकांतेन परिणममानं परिणामयति । तदपि न घटते । न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षंते तर्हि जीवो निमित्तकर्तारमंतरेणापि स्वयमेव कर्मरूपेण परिणमतु । तथा च सति किं दूषणं ? घटपटस्तंभादिपुद्गलानां ज्ञानावरणादिकर्मपरिणतिः स्यात् । स च प्रत्यक्षविरोधः । ततः स्थिता पुद्गलाना स्वभावभूता कथंचित्परिणामित्वशक्तिः तस्यां परिणामशक्तौ स्थितायां स पुद्गलः कर्ता । यं स्वस्य संबंधिनं ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपरिणामं पर्यायं करोति तस्य स एवोपादानकारणं कलशस्य मृत्पिंडमिव । न च जीव., स तु निमित्तकारणमेव हेयतत्त्वमिदं । तस्मात्पुद्गलाद्व्यतिरिक्तशुद्धपरमात्मभावनापरिणताऽभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन गम्यश्चिदानंदैकस्वभावो निजशुद्धात्मैव शुद्धनिश्चयेनोपादेयं भेदरत्नत्रयस्वरूपं तु उपादेयमभेदरत्नत्रयसाधकत्वाद्व्यवहारेणोपादेयमिति । एवं गाथात्रयशब्दार्थव्याख्यानेन शब्दार्थो ज्ञातव्यः । व्यवहारनिश्चयरूपेण नयार्थो ज्ञातव्यः । सांख्यं प्रति मतार्थो ज्ञातव्यः । आगमार्थस्तु प्रसिद्धः । हेयोपादानव्याख्यानरूपेण भावार्थोपि ज्ञातव्यः ।

जीव पुद्गल द्रव्य को कर्मभाव परिणमाता है, इसलिये संसार का अभाव नहीं हो सकता, उसका समाधान यह है कि पहले दो पक्ष लेकर पूछते हैं—यदि जीव पुद्गल को परिणमन कराता है वह स्वयं-अपरिणमित को परिणमित कराता है या स्वयं परिणमित को परिणमित कराता है ? यदि इनमें से पहला पक्ष लिया जाय तो स्वयं अपरिणमित को नहीं परिणमा सकता क्योंकि स्वयं अपरिणमित में परके परिणमाने की सामर्थ्य नहीं होती । स्वतः शक्ति जिसमें नहीं होती, वह परके द्वारा भी नही आ सकती। यदि स्वयं परिणमित पुद्गलद्रव्य को जीव कर्मभाव से परिणमाता है, ऐसा दूसरा पक्ष लिया जाय तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि अपने आप परिणमित हुए को अन्य परिणमाने वाले की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि वस्तु की शक्ति परकी अपेक्षा नहीं करती । इसलिये पुद्गल द्रव्य परिणाम स्वभाव स्वयमेव होवे । ऐसा होने पर जैसे कलश रूप परिणत हुई मट्टी अपने आप कलश ही है, उसी भांति जड स्वभाव ज्ञानावरण आदि कर्मरूप परिणत हुआ पुद्गल द्रव्य ही आप ज्ञानावरण आदि कर्म ही है । इस प्रकार पुद्गल द्रव्य का परिणाम स्वभाव सिद्ध हुआ ॥११६।११७।११८।११९।१२०॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं । **स्थिते** इत्यादि । **अर्थ**—इस प्रकार उक्त प्रकार से पुद्गल द्रव्य की परिणमन शक्ति स्वभावभूत निर्विघ्न सिद्ध हुई । उसके सिद्ध होने पर पुद्गल द्रव्य जिस भाव को अपने करता है, उसका वह पुद्गल द्रव्य ही कर्ता है ।

जीवस्य परिणामित्वं साधयति—

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं ।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदी ॥ १२१ ॥
अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥ १२२ ॥
पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ॥ १२३ ॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी ।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥ १२४ ॥
कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥ १२५ ॥ (पंचकम्)

न स्वयं बद्धः कर्मणि न स्वयं परिणमते क्रोधादिभिः ।
यद्येषः तव जीवोऽपरिणामी तदा भवति ॥ १२१ ॥
अपरिणममाने स्वयं जीवे क्रोधादिभिः भावैः ।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥ १२२ ॥
पुद्गलकर्म क्रोधो जीवं परिणामयति क्रोधत्वं ।
तं स्वयमपरिणममानं कथं नु परिणामयति क्रोधः ॥ १२३ ॥

इति शब्दनयमतागमभावार्थाः व्याख्यानकाले यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्याः । एवं पुद्गलपरिणामस्थापनार्थमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं ॥ ११६।११७।११८।११९।१२० ॥ सांख्यमतानुसारिशिष्यं प्रति जीवस्य कथंचित्परिणामस्वभावत्वं साधयति;—**ण सयं बद्धो कम्मे** स्वयं स्वभावेन कर्मण्यधिकरणभूते एकांतेन बद्धो नास्ति सदा मुक्तत्वात् । **ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं** न च स्वयं स्वयमेव द्रव्यकर्मोदयनिरपेक्षो भावक्रोधादिभिः परिणमति । कस्मादेकांतेनापरिणामित्वात् । **जदि एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि** यदि चेदेष जीवः प्रत्यक्षीभूतः तव मताभि-

---

भावार्थ—सब द्रव्यों का परिणाम स्वभावतः सिद्ध है, इसलिये अपने भाव का आप ही कर्ता है । अतः पुद्गल भी जिस भाव को अपने में करता है, उसका वही कर्ता है ॥ ६४ ॥

अब जीव द्रव्य की परिणामस्वभावता सिद्ध करते हैं:—सांख्य मतवाले शिष्य से आचार्य कहते हैं कि हे भाई **[तव]** तेरी बुद्धि में **[यदि]** यदि **[एष जीवः]** यह जीव **[कर्मणि]** कर्मों में **[स्वयं]**

अथ स्वयमात्मा परिणमते क्रोधभावेन एषा ते बुद्धिः ।
क्रोधः परिणामयति जीवं क्रोधत्वमिति मिथ्या ॥ १२४ ॥
क्रोधोपयुक्तः क्रोधो मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा ।
मायोपयुक्तो माया लोभोपयुक्तो भवति लोभः ॥ १२५ ॥

यदि कर्मणि स्वयमबद्धः सन् जीवः क्रोधादिभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा स किला-

---

प्रायेणेत्थंभूतः स्यात्ततः कारणादपरिणाम्येव भवति । अपरिणामित्वे सति किं दूषणं ? अथ—अपरिणममाने सति तस्मिन् जीवे स्वयं स्वयमेव भावक्रोधादिपरिणामैः तदा संसारस्याभावः प्राप्नोति । ॓शिष्य सांख्यसमयवत् । अथ मतं **पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं** पुद्गलकर्मरूपो द्रव्यक्रोध उदयागतः कर्ता जीवं कर्मतापन्नं हठात्परिणामयति भावक्रोधत्वेनेति चेत् तं **सयमपरिणमंतं कह परिणामएदि कोहत्तं** अथ किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा परिणामयेत् ? न तावत्स्वयमपरिणममानं परिणामयेत् । कस्मात् । न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यंते । न हि जपापुष्पादय कर्तारो यथा स्फटिकादिषु जनयत्युपाधि तथा काष्ठस्तंभादिष्वपि । अथैकांतेन परिणममानं वा तर्हि उदयागतद्रव्यक्रोधनिमित्तमंतरेणापि भावक्रोधादिभिः परिणमंतु । कस्मादिति चेत् । न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षंते । तथा च सति मुक्तात्मनामपि द्रव्यक्रोधादि कर्मोदयनिमित्ताभावेपि भावक्रोधादयः प्राप्नुवंति । न च तदिष्टमागमविरोधात् ।

आप तो [**बद्धः न**] बंधा नही है और [**क्रोधादिभिः**] क्रोधादि भावों से [**स्वयं**] आप [**परिणमति न**] परिणमन नहीं करता है [**तदा**] तो [**अपरिणामी**] अपरिणामी [**भवति**] वह अपरिणामी होगा ऐसा होने पर [**क्रोधादिभिः भावैः**] क्रोधादि भावों से [**जीवे**] जीव को [**स्वयं अपरिणममाने**] आप नही परिणत होने पर [**संसारस्य अभावः**] संसार का अभाव [**प्रसजति**] हो जायगा [**वा**] और [**सांख्यसमयः**] सांख्यमत का प्रसंग आवेगा । यदि कहेगा कि [**पुद्गलकर्म**] पुद्गलकर्म [**क्रोधः**] क्रोध है वह [**जीवं**] जीव को [**क्रोधत्वं**] क्रोध भावरूप [**परिणामयति**] परिणमाता है तो [**स्वयं अपरिणममानं**] आप स्वयं न परिणत हुए [**तं**] जीव को [**क्रोधः**] क्रोध [**कथं नु**] कैसे **परिणामयति**] परिणमा सकता है, ऐसा प्रश्न है । [**अथ**] अथवा [**ते एषा बुद्धिः**] तेरी ऐसी समझ है कि [**आत्मा**] आत्मा [**स्वयं**] अपने आप [**क्रोधभावेन**] क्रोध भाव से [**परिणमते**] परिणमन करता है तो [**क्रोधः**] क्रोध [**जीवं**] जीव को [**क्रोधत्वं**] क्रोधभावरूप [**परिणमयति**] परिणमाता है [**इति मिथ्या**] ऐसा कहना मिथ्या ठहरता है । इसलिये यह सिद्धांत है कि [**आत्मा**] आत्मा [**क्रोधोपयुक्तः**] क्रोध से उपयोग सहित होता है अर्थात् उपयोग क्रोधाकाररूप परिणमता है तब तो [**क्रोधः**] क्रोध ही है [**मानोपयुक्तः**] मान से उपयुक्त होता है तब [**मान एव**] मान ही है [**मायोपयुक्तः**] माया से उपयुक्त होता है तब [**माया**] माया ही है [**च**] और [**लोभोपयुक्तः**] लोभ से उपयुक्त होता तब है [**लोभः**] लोभ ही [**भवति**] है ।

टीका—जीव कर्म में स्वयं नहीं बंधा हुआ क्रोधादि भाव से आप नहीं परिणमता तो वह जीव

परिणाम्येव स्यात् । तथा सति संसाराभावः । अथ पुद्गलकर्मक्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणमयति ततो न संसाराभाव इति तर्कः । किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयेत् ? न तावत्स्वयमपरिणममानः परेण परिणामयितुं पार्येत, न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । स्वयं परिणममानस्तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत । न हि

अथ मत । **अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी** अथ पूर्वदूषणभयात्स्वयमेवात्मा द्रव्यकर्मोदयनिरपेक्षो भावक्रोधरूपेण परिणमत्येषा तव बुद्धिः हे शिष्य, **कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा** तर्हि द्रव्यक्रोधः कर्ता जीवस्य भावक्रोधत्वं परिणामयति करोति यदुक्तं पूर्वगाथाया तद्वचनं मिथ्या प्राप्नोति । ततः स्थित — घटाकारपरिणता मृत्पिंडपुद्गलाः घट इव अग्निपरिणतोऽयःपिंडोऽग्निवत् तथात्मापि क्रोधोपयोगपरिणतः क्रोधो भवति मानोपयोगपरिणतो मानो भवति मायोपयोगपरिणतो माया भवति लोभोपयोगपरिणतो लोभो भवतीति स्थिता सिद्धा जीवस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः । तस्या परिणामशक्तौ स्थितायां स जीवः कर्ता य परिणाममात्मनः करोति तस्य स एवोपादानकर्ता द्रव्यकर्मोदयस्तु निमित्तमात्रमेव । तथैव च स एव जीवो निर्विकारचिच्चमत्कारशुद्धभावेन परिणतः सन् सिद्धात्मापि भवति । किं च विशेषः—**'जाव ण वेदि विसेसंतरं'** इत्याद्यज्ञानिज्ञानिजीवयो. संक्षेपव्याख्यानरूपेण गाथाषट्कं यदुक्तं पूर्वं पुण्यपापादिसप्तपदार्थजीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिवृत्तास्ते च जीवपुद्गलयो कथंचित्परिणामित्वे सति घटंते । तस्यैव कथंचित्परिणामित्वस्य विशेषव्याख्यानमिदं । अथवा **'सामण्णपच्चया खलु चउरो'** इत्यादि गाथासप्तके यदुक्तं पूर्वं सामान्यप्रत्यया एव शुद्धनिश्चयेन कर्म कुर्वंतीति न जीव इति जैनमत । एकांतेनाकर्तृत्वे सति सांख्यानां संसाराभावदूषणं तस्यैव संसाराभावदूषणस्य विशेषदूषणमिदं । कथमिति चेत् । तत्रैकांतेन कर्तृत्वाभावे सति संसाराभावदूषणं अत्र पुनरेकांतेन परिणामित्वाभावे सति संसाराभावदूषणं । यत कारणाद्भावकर्मपरिणामित्वमेव कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च भण्यते ॥ १२१।१२२।१२३।१२४।१२५॥ इति जीवपरिणामित्वे व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथापंचकं गतं । एवं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारे जीवपुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानमुख्यत्वेनाष्टगाथाभि पंचमांतराधिकारः समाप्तः । **अथ—जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि । अण्णाणी तावदु** इत्यादि गाथाद्वये तावदज्ञानी जीवस्वरूपं पूर्वं भणितं स चाज्ञानी जीवो यदा **विसयकसायुग्गाढ** इत्याद्यशुभोपयोगेन परिणमति तदा पापास्रवबंधपदार्थानां त्रयाणां कर्ता भवति । यदा तु मिथ्यात्वकषायाणां मंदोदये सति भोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिरूपेण दानपूजादिनापरिणमति तदा पुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवतीति पूर्वं संक्षेपेण सूचित **जइया इमेण जीवेण आदासवाण दोण्हंपि । णादं होदि विसेसंतरं तु** इत्यादिगाथाचतुष्टयेनज्ञानी जीवस्वरूप च संक्षेपेण सूचितं । स च

अपरिणामी ही होता है । ऐसा होनेपर संसार का अभाव आता है । अथवा कोई ऐसा कहे कि पुद्गल कर्म क्रोधादिक ही जीव को क्रोधादिक भाव से परिणमाते हैं इसलिये संसारका अभाव नहीं हो सकता । ऐसा कहने में दो पक्ष होते हैं कि पुद्गलकर्म क्रोधादिक जीव को अपने आप अपरिणमते को परिणमाते हैं या परिणमतेको परिणमाते हैं ? प्रथम तो जो आप नही परिणमता हो, उसमें परको परिणमन कराने की असमर्थताहै क्योंकि आप में शक्ति नही, तो परमें भी नही की जासकती । तथा जो स्वयं परिणमता हो, वह अन्य परिणमाने वाले की अपेक्षा नहीं करता क्योंकि वस्तु की शक्ति परकी अपेक्षा नही करती । अन्य में अन्य कोई नवीन शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकता । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जीव स्वयमेव परिणमन स्वभाव है । ऐसा होने पर जैसे कोई मंत्रसाधक गरुड का ध्यान करता हुआ उस गरुड भावरूप

वस्तु शक्तयः परमपेक्षंते। ततो जीवः परिणामस्वभावः स्वयमेवास्तु तथा सति गरुडध्यानपरिणतः साधकः स्वयं गरुड इवाज्ञानस्वभावक्रोधादिपरिणतोपयोगः स एव स्वयं क्रोधादिः स्यादिति सिद्धं जीवस्य परिणामस्वभावत्वं ॥१२१॥१२२॥१२३॥१२४॥१२५॥

स्थितेति जीवस्य निरंतराया स्वभावभूतापरिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥६५॥

ज्ञानी जीवः शुद्धोपयोगभावपरिणतोऽभेदरत्नत्रयलक्षणेनाभेदज्ञानेन यदा परिणमति तदा निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा संवरनिर्जरामोक्षपदार्थानां त्रयाणां कर्ता भवतीत्यपि संक्षेपेण निरूपितं पूर्वं। निश्चयसम्यक्त्वस्याभावे यदा तु सरागसम्यक्त्वेन परिणमति तदा शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा परंपरया निर्वाणकारणस्य तीर्थंकरप्रकृत्यादिपुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवतीत्यपि पूर्वं निरूपितं तत्सर्वं जीवपुद्गलयोः कथंचित्परिणामित्वे सति भवतीति तत्कथंचित्परिणामित्वमपि पुण्यपापादिसप्तपदार्थाना संक्षेपसूचनार्थं पूर्वमेव सक्षेपेण निरूपितं। पुनश्च जीवपुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानकाले विशेषेण कथितं। तत्रैवं कथंचित्परिणामित्वे सिद्धे सति अज्ञानिज्ञानिजीवयोः गुणिनोः पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां संक्षेपेणसूचनार्थं संक्षेपव्याख्यानं कृतं। इदानीं पुनरज्ञानमयगुणज्ञानमयगुणयोः मुख्यत्वेन व्याख्यानं क्रियते। न च जीवाजीवगुणिमुख्यत्वेनेति। किमर्थमिति चेत्? तेषामेव पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां संक्षेपसूचनार्थमिति। तत्र **जो संगं तु मुइत्ता** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथानवकपर्यंतं व्याख्यानं करोति। तत्रादौ गाथात्रयं ज्ञानभावमुख्यत्वेन तदनंतरं गाथाषट्कं ज्ञानिजीवस्य ज्ञानमयो भावो भवत्यज्ञानिजीवस्याज्ञानमयो भावो भवतीति मुख्यत्वेन कथ्यत इति षष्ठांतराधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा—कथंचित्परिणामित्वे सिद्धे सति ज्ञानी जीवो ज्ञानमयस्य भावस्य कर्ता भवतीत्यभिप्रायं मनसि संप्रधार्येदं सूत्रत्रयं प्रतिपादयति;—

जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं।
तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति॥

यः संगं तु मुक्त्वा जानाति उपयोगमयकं शुद्धं। तं निस्संगं साधुं परमार्थविज्ञायका विदंति॥ **जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओग मप्पगं सुद्धं** यः परमसाधुर्बाह्याभ्यंतरपरिग्रहं मुक्त्वा वीतरागचारित्राविनाभूतभेदज्ञानेन जानात्यनुभवति। कं कर्मतापन्नं आत्मानं। कथंभूतं। विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावत्वादुपयोगस्तमुपयोगं ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणं। पुनरपि कथंभूतं। शुद्धं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितं। **तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति** तं साधुं

परिणत हुआ गरुड ही है; उसी भांति यह जीवात्मा अज्ञान स्वभाव क्रोधादिरूपपरिणत उपयोग रूप हुआ स्वयमेव क्रोधादिक ही होता है। इस प्रकार जीवका परिणमन स्वभाव होना सिद्ध हुआ।

भावार्थ—जीव परिणाम स्वभाव है। जब अपना उपयोग क्रोधादि रूप परिणमता है, तब आप क्रोधादि रूप ही होता है ॥१२१।१२२।१२३।१२४।१२५॥

अब इस अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं **स्थितेति**—इत्यादि। **अर्थ**—जीव के अपने स्वभाव से ही हुई परिणमन शक्ति पूर्वकथित रीति से निर्विघ्न सिद्ध हुई। उसके सिद्ध होने से यह जीव जिस भाव को अपने करता है उसीका वह कर्ता होता है ॥६५॥

तथाहि—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स ।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥१२६॥

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य कर्मणः ।
ज्ञानिनः स ज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिनः ॥१२६॥

एवमयमात्मा स्वयमेव परिणामस्वभावोपि यमेव भावमात्मनः करोति तस्यैव कर्मतामापद्यमानस्य कर्तृत्वमापद्येत । स तु ज्ञानिनः सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यंतोदितविविक्तात्मख्यातित्वात् ज्ञानमय एव स्यात् । अज्ञानिनस्तु सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंतप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वादज्ञानमय एव स्यात् ॥ १२६ ॥

निस्संग सगरहितं विंदंति जानंति ब्रुवंति कथयंति वा । के ते, परमार्थविज्ञायका गणधरदेवादय इति ।

जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥

यः मोहं तु मुक्त्वा ज्ञानस्वभावाधिकं मनुते आत्मानं । तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका विदंति ॥ **जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं** यः परमसाधुः कर्ता समस्तचेतनाचेतनशुभाशुभपरद्रव्येषु मोहमुक्त्वात्मशुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपयोगत्रयपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन मनुते जानाति । कं कर्मतापन्नं, आत्मानं । किं विशिष्टं ? निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेनाधिकं परिणतं परिपूर्णं । **तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति** तं साधुं कर्मतापन्नं जितमोहं निर्मोहं विदंति जानंति । के ते ? परमार्थविज्ञायकास्तीर्थंकरपरमदेवादय इति । एवं मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायबुद्ध्युदयशुभाशुभपरिणामश्रोत्रचक्षुर्घ्राणजिह्वास्पर्शनसंज्ञानि विंशतिसूत्राणि व्याख्येयानि । तेनैव प्रकारेण निर्मलपरमचिज्ज्योतिःपरिणतेर्विलक्षणा असंख्येयलोकमात्रविभावपरिणामा ज्ञातव्याः । अथ—

जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं ।
तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति ॥

यः धर्मं तु मुक्त्वा जानाति उपयोगमयकं शुद्धं । तं धर्मसंगमुक्तं परमार्थविज्ञायका विदंति ॥ **जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं** यः परमयोगींद्रः स्वसंवेदनज्ञाने स्थित्वा शुभोपयोगपरिणामरूपं धर्मं पुण्यसंगं

आगे इसी अर्थ को लेकर भावों का विशेषकर कर्ता कहते हैं;—**[आत्मा]** जो आत्मा **[यं भावं]** जिस भाव को **[करोति]** करता है **[सः]** वह **[तस्य कर्मणः]** उस भावरूप कर्म का **[कर्ता]** कर्ता **[भवति]** होता है । उस जगह **[ज्ञानिनः]** ज्ञानी के तो **[सः]** वह भाव **[ज्ञानमयः]** ज्ञानमय है और **[अज्ञानिनः]** अज्ञानी के **[अज्ञानमयः]** अज्ञानमय है ।

टीका—इस प्रकार पूर्वोक्तरीति से यह आत्मा स्वयमेव परिणमन स्वभाव है, तो भी

किं ज्ञानमयभावात्किमज्ञानमयाद्भवतीत्याह—

अण्णाणमत्रो भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि ।
णाणमत्रो णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि ॥ १२७ ॥

अज्ञानमयो भावोऽज्ञानिनः करोति तेन कर्माणि ।
ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात्तु कर्माणि ॥ १२७ ॥

अज्ञानिनो हि सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंतप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्मादज्ञानमय एव भावः स्यात् तस्मिंस्तु सति स्वपरयोरेकत्वाध्यासेन ज्ञानमात्रात्स्वस्मात्प्रभ्रष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां सममेकीभूय प्रवर्तिताहंकारः स्वयं किलैषोहं रज्ये रुष्यामीति रज्यते रुष्यति च

त्यक्त्वा निजशुद्धात्मपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेनाभेदज्ञानेन जानात्यनुभवति । क कर्मतापन्नं । आत्मानं । कथंभूतं, विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगपरिणत । पुनरपि कथभूतं । शुद्धं शुभाशुभसकल्पविकल्परहितं । **तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति** । त परमतपोधन निर्विकारस्वकीयशुद्धात्मोपलंभरूपनिश्चयधर्मविलक्षणभोगाकांक्षास्वरूपनिदानबंधादिपुण्यपरिग्रहरूपव्यवहारधर्मरहित विदति जानति । के ते ? परमार्थविज्ञायकाः प्रत्यक्षज्ञानिन इति । कि च, कथंचित्परिणामित्वे सति जीवः शुद्धोपयोगेन परिणमति पश्चान्मोक्षं साधयति परिणामित्वाभावे बद्धो बद्ध एव शुद्धोपयोगरूप परिणामांतरस्वरूपं न घटते ततश्च मोक्षाभाव इत्यभिप्राय । एवं शुद्धोपयोगरूपज्ञानमयपरिणामगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं ॥ तदनंतरं

जिस भाव को अपने करता है, वही भाव कर्म को प्राप्त होता है वह उसके आप कर्तृत्व होता है। वह भाव ज्ञानी का ज्ञानमय ही है क्योंकि उसको अच्छी प्रकार से स्वपर का भेद-ज्ञान हो गया है, उससे अत्यंत उदय को प्राप्त हुई सब पर-द्रव्य भावों से भिन्न आत्मा की ख्याति हो गई है। तथा वह भाव अज्ञानी के अज्ञानमय ही है, क्योंकि उसके भली भांति स्वपर के भेद ज्ञान का अभाव होने से भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यंत अस्त हो गई है।

भावार्थ—ज्ञानी के तो अपना पर का भेदज्ञान हो गया है इसलिये अपने ज्ञानमय भाव का ही कर्तृत्व है और अज्ञानी के अपना परका भेदज्ञान नही है इस कारण अज्ञानमय भाव का ही कर्तृत्व है। ॥१२६॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानमय भाव से क्या होता है और अज्ञानमय भाव से क्या होता है;—

[अज्ञानिनः] अज्ञानी का **[अज्ञानमयः]** अज्ञानमय **[भावः]** भाव है **[तेन]** इस कारण **[कर्माणि]** अज्ञानी कर्मों को **[करोति]** करता है **[तु]** और **[ज्ञानिनः]** ज्ञानी के **[ज्ञानमयः]** ज्ञानमय भाव होता है **[तस्मात्तु]** इसलिये वह ज्ञानी **[कर्माणि]** कर्मों को **[न]** नहीं **[करोति]** करता।

टीका—अज्ञानी के निश्चय से अच्छी प्रकार स्वपर का भेद ज्ञान नहीं है, इससे जिसके भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यंत अस्त हो गई है उसके कारण अज्ञानमय ही भाव होता है। उस अज्ञानमय भाव के होने पर आत्मा के और परके एकत्व का अध्यास होने से ज्ञानमात्र अपने आत्मस्वरूप से भ्रष्ट हुआ

तस्मादज्ञानमयभावादज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानं कुर्वन् करोति कर्माणि। ज्ञानिनस्तु सम्यक्स्व-परविवेकेनात्यंतोदितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्माद् ज्ञानमय एव भावः स्यात् तस्मिंस्तु सति स्वपर-योर्नानात्वविज्ञानेन ज्ञानमात्रे स्वस्मिन्सुनिविष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां पृथग्भूततया स्वरसत एव निवृत्ताहंकारः स्वयं किल केवलं जानात्येव न रज्यते न च रुष्यति तस्माद् ज्ञानमयभावाद् ज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानमकुर्वन्न करोति कर्माणि॥ १२७॥

यथा ज्ञानमयाऽज्ञानमयभावद्वयस्य कर्ता भवति तथा कथयति—**जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स** यं भावं परिणामं करोत्यात्मा स तस्यैव भावस्यैव कर्ता भवति **णाणिस्स स णाणमओ** स च भावोऽनंतज्ञानादिचतुष्टयलक्षणकार्यसमयसारस्योत्पादकत्वेन निर्विकल्पसमाधिपरिणामपरिणतकारणसमयसारलक्षणेन भेदज्ञानेन सर्वारंभपरिणतत्वाज्ज्ञानिनो जीवस्य शुद्धात्मख्यातिप्रतीतिसंवित्त्युपलब्ध्यनुभूतिरूपेण ज्ञानमय एव भवति **अण्णाणमओ अणाणिस्स** अज्ञानिनस्तु पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् शुद्धात्मानुभूतिस्वरूपाभावे सत्यज्ञानमय एव भवतीत्यर्थः॥ १२६॥ अथ किं ज्ञानमयभावात्फलं भवति किमज्ञानमयाद्भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह;—**अण्णाण-मओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि** स्वोपलब्धिभावनाविलक्षणत्वेनाज्ञानमयभावो भण्यते। कस्मात्। यस्मात्तेन भावेन परिणामेन कर्माणि करोत्यज्ञानी जीवः। **णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि** ज्ञानिनस्तु निर्विकारचिच्चमत्कारभावनावशेन ज्ञानमयो भवति तस्माद् ज्ञानमयभावात् ज्ञानी जीवः कर्माणि न करोतीति। किं च, यथा स्तोकोप्यग्निः तृणकाष्ठराशिं महांतमपि क्षणमात्रेण दहति तथा त्रिगुप्तिसमाधि-लक्षणो भेदज्ञानाग्निरंतर्मुहूर्तेनापि बहुभवसंचितं कर्मराशिं दहतीति ज्ञात्वा सर्वतात्पर्येण तत्रैव परमसमाधौ भावना कर्तव्येति भावार्थः॥ १२७॥ अथ ज्ञानमय एव भावो भवति ज्ञानिनो जीवस्य न पुनरज्ञानमयस्तथैवाज्ञानमय एव

पर द्रव्य स्वरूप राग-द्वेष के साथ एक होकर अहंकार में प्रवृत्त हुआ अज्ञानी ऐसे मानता है कि 'मैं रागी हूँ, द्वेषी हूँ' इस प्रकार रागी द्वेषी होता है। उस रागादि स्वरूप अज्ञानमय भाव से अज्ञानी हुआ पर द्रव्य स्वरूप जो राग-द्वेष उन रूप अपने को करता हुआ कर्मों को करता है। और ज्ञानी के अच्छी तरह अपना पर का भेद ज्ञान हो गया है इसलिये जिसके भिन्न आत्मा की प्रकटता—'ख्याति' अत्यंत उदय हो गई है, उस भाव के कारण ज्ञानमय ही भाव होता है। उस भाव के होने से अपना-परका भेदज्ञान होने पर ज्ञानमात्र अपने आत्मस्वरूप में ठहरा हुआ वह ज्ञानी पर द्रव्य स्वरूप राग-द्वेष की पृथक्ता जिसके अपने रस से ही पर में अहंकार निवृत्त हो गया है, ऐसा हुआ निश्चय से केवल जानता ही है, राग-द्वेष रूप नहीं होता। इसलिये ज्ञानमय भाव से ज्ञानी हुआ पर द्रव्य स्वरूप जो राग-द्वेष उन रूप आत्मा को नहीं करता, कर्मों को नहीं करता है।

भावार्थ—इस आत्मा के जो क्रोधादिक मोह की प्रकृति का उदय आता है, उसका अपने उपयोग में रागद्वेष रूप मलिन स्वाद आता है, उसके भेदज्ञान के विना अज्ञानी हुआ ऐसा मानता है कि यह राग-द्वेष-मय मलिन उपयोग ही मेरा स्वरूप है, यही मैं हूँ, ऐसे अज्ञानरूप अहंकार से हुआ वह कर्मों को बांधता है। इस प्रकार अज्ञानमय भाव से कर्म बंध होता है। और जब ऐसा जानता है कि ज्ञान मात्र शुद्ध

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेद् ज्ञानिनो न पुनरन्यः ।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोयमज्ञानिनो नान्यः ॥ ६६ ॥

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो ।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ॥ १२८ ॥
अणाणमया भावा अणाणो चेव जायए भावो ।
जम्हा तम्हा भावा अणाणमया अणाणिस्स ॥१२९॥ (युग्मम्)

ज्ञानमयाद्भावाद् ज्ञानमयश्चैव जायते भावः ।
यस्मात्तस्माज्ज्ञानिनः सर्वे भावाः खलु ज्ञानमयाः ॥ १२८ ॥
अज्ञानमयाद्भावादज्ञानश्चैव जायते भावः ।
यस्मात्तस्माद्भावादज्ञानमया अज्ञानिनः ॥ १२९ ॥

यतो ह्यज्ञानमयाद्भावाद्यः कश्चनापि भावो भवति स सर्वोप्यज्ञानमयत्वमनतिवर्तमानोऽ-

---

भवत्यज्ञानिजीवस्य न पुनर्ज्ञानमयः । किमर्थमिति चेत्:—णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो जह्मा ज्ञानमयाद् भावाद् निश्चयरत्नत्रयात्मकजीवपदार्थाद् ज्ञानमय एव जायते भावः स्वशुद्धात्मावाप्तिलक्षणो मोक्ष-

---

उपयोग तो मेरा स्वरूप है, 'वह मैं हूं' ऐसा, तथा रागद्वेष हैं वे कर्म के रस हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं। ऐसा भेद ज्ञान होवे, तभी ज्ञानी होता है, तब अपने को रागद्वेष भावरूप नहीं करता, केवल ज्ञाता ही रहता है, तब कर्म को नहीं करता ॥१२७॥

आगे अगली गाथा के अर्थ की सूचना का काव्य कहते हैं—**ज्ञानमय** इत्यादि । **अर्थ**—यहां प्रश्न रूप वचन है कि ज्ञानी के तो ज्ञानमय ही भाव होते हैं अन्य नहीं होता यह क्यों ? और अज्ञानी के अज्ञानमय ही सब भाव होते हैं अन्य नहीं यह कैसे ? ॥ ६६ ॥

इसी प्रश्न की उत्तररूप गाथा कहते हैं:—**[यस्मात्]** जिस कारण **[ज्ञानमयात् भावात् च]** ज्ञानमय भाव से **[ज्ञानमय एव]** ज्ञानमय ही **[भावः]** भाव **[जायते]** उत्पन्न होता है। **[तस्मात्]** इस कारण **[ज्ञानिनः]** ज्ञानी के **[खलु]** निश्चय से **[सर्वे भावाः]** सब भाव **[ज्ञानमयाः]** ज्ञानमय हैं। और **[यस्मात्]** जिस कारण **[अज्ञानमयात् भावात् च]** अज्ञानमय भाव से **[अज्ञान एव]** अज्ञानमय ही **[भावः]** भाव **[जायते]** होता है **[तस्मात्]** इस कारण **[अज्ञानिनः]** अज्ञानी के **[अज्ञानमयाः]** अज्ञानमय ही **[भावाः]** भाव उत्पन्न होते हैं।

टीका—जिस कारण निश्चय से अज्ञानमय भाव से जो कुछ भाव होता है, वह सभी अज्ञान रूप को उल्लंघन नहीं करता अज्ञानमय ही होता है; इसलिए अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय हैं। और

ज्ञानमय एव स्यात् ततः सर्वे एवाज्ञानमया अज्ञानिनो भावाः । यतश्च ज्ञानमयाद्भावाद्यः कश्चनापि भावो भवति स सर्वोऽपि ज्ञानमयत्वमनतिवर्तमानो ज्ञानमय एव स्यात् ततः सर्वे एव ज्ञानमया ज्ञानिनो भावाः ॥१२८॥१२९॥

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवंति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवंत्यज्ञानिनस्तु ते ॥ ६७ ॥

अथैतदेव दृष्टांतेन समर्थयते—

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा ।
अयमयया भावादो जह जायंते तु कडयादी ॥ १३० ॥
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते ।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥१३१॥(युग्मम्)

कनकमयाद्भावाज्जायंते कुंडलादयो भावाः ।
अयोमयकाद्भावाद्यथा जायंते तु कटकादयः ॥ १३० ॥
अज्ञानमयाद्भावादज्ञानिनो बहुविधा अपि जायंते ।
ज्ञानिनस्तु ज्ञानमया सर्वे भावास्तथा भवंति ॥ १३१ ॥

पर्यायो यस्मात्कारणात् **तह्मा णाणिस्स सव्वे भावा दु णाणमया** तस्मात्कारणात्स्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानिनो जीवस्य सर्वे भावाः परिणामा ज्ञानमया ज्ञानेन निर्वृत्ता भवति। तदपि कस्मात्, उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति

जिस कारण ज्ञानमयभाव से जो कुछ भाव होता है, वह सभी ज्ञानमय रूप को नहीं उल्लघन करता हुआ ज्ञानमय ही होना है इसलिये ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय है ॥ १२८ ॥ १२९ ॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते है—**ज्ञानिनो** इत्यादि । **अर्थ**—ज्ञानी के सभी भाव ज्ञान मे उत्पन्न होते हैं और अज्ञानी के सभी भाव अज्ञान से उत्पन्न होते है ॥ ६७ ॥

इस अर्थ को दृष्टांत से दृढ़ करते हैं:—**[यथा]** जैसे **[कनकमयात् भावात्]** सुवर्णमय भाव से **[कुंडलादयः भावाः]** सुवर्णमय कुंडलादिक भाव **[जायंते]** होते हैं **[तु]** और **[अयोमयात् भावात्]** लोहमय भाव से **[कटकादयः]** लोहमयी कड़े इत्यादिक भाव होते है **[तथा]** उसी प्रकार **[अज्ञानिनः]** अज्ञानी के **[अज्ञानमयात् भावात्]** अज्ञानमय भाव से **[बहुविधा अपि]** अनेक तरह के अज्ञानमय भाव **[जायंते]** होते हैं **[तु]** और **[ज्ञानिनः]** ज्ञानी के **[सर्वे]** सभी **[ज्ञानमयाः भावाः]** ज्ञानमय भाव होने से ज्ञानमयभाव **[भवंति]** होते हैं ।

यथा खलु पुद्गलस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वात्कार्याणां जांबूनदमयाद्भावाज्जांबूनदजातिमनतिवर्तमानाज्जांबूनदकुंडलादय एव भावा भवेयुर्न पुनः कालायसवलयादयः। कालायसमयाद्भावाच्च कालायसजातिमनतिवर्तमानाः कालायसवलयादय एव भवेयुर्न पुनर्जांबूनदकुंडलादयः। तथा जीवस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वादेव कार्याणां अज्ञानिनः स्वयमज्ञानमयाद्भावादज्ञानजातिमनतिवर्तमाना विविधा अप्यज्ञानमया एव भावा भवेयुर्न पुनर्ज्ञानमयाः, ज्ञानिनश्च स्वयं ज्ञानमयाद्भावाज्ज्ञानजातिमनतिवर्तमानाः सर्वे ज्ञानमया एव भावा भवेयुर्न पुनरज्ञानमयाः॥ १३० । १३१ ॥

वचनात्। न हि यवनालबीजे वपिते राजान्नशालिफलं भवतीति। तथैव च—**अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो** अज्ञानमयाद्भावाज्जीवपदार्थात् अज्ञानमय एव जायते भावः पर्यायो यस्मात्कारणात् **तह्मा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स** यतः एवं तस्मात्कारणात्सर्वे भावाः परिणामा अज्ञानमया मिथ्यात्वरागादिरूपा भवंति। कस्य, अज्ञानिनः शुद्धात्मोपलब्धिरहितस्य मिथ्यादृष्टेर्जीवस्येति ॥ १२८ ॥ १२९ ॥ अथ तदेव व्याख्यान दृष्टांतदार्ष्टांताभ्या समर्थयति.—कनकमयाद्भावात्पदार्थात् उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति कृत्वा कुंडलादयो

टीका—जैसे निश्चय से पुद्गल द्रव्य स्वयं परिणाम स्वभावी होने पर भी जैसा कारण हो, उस स्वरूप कार्य होता है। अतः सुवर्णमय भाव के कारण सुवर्ण जाति का उल्लंघन न करने वाले सुवर्णमय ही कुंडल आदिक भाव होते हैं, सुवर्ण से लोहमयी कड़ाआदिक भाव नहीं होते। और लोहमय भाव से लोह की जाति को उल्लंघन न करने वाले लोहमय कड़े आदिक भाव होते हैं, लोह से सुवर्णमय कुंडल आदिक भाव नहीं होते, उसी प्रकार जीव के स्वयं परिणामभाव रूप होने पर भी 'जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है' इस न्याय से अज्ञानी के स्वयमेव अज्ञानमय भाव से अज्ञान की जाति को नहीं उल्लंघन करने वाले अनेक प्रकार के अज्ञानमय ही भाव होते हैं, ज्ञानमय भाव नही होते, और ज्ञानी के ज्ञान की जाति को नहीं उल्लघन करने वाले सब ज्ञानमय ही भाव होते हैं, अज्ञानमय नहीं होते।

भावार्थ—जैसा कारण हो, वैसा ही कार्य होता है, इस न्याय से जैसे सुवर्ण से सुवर्णमय आभूषण होते हैं, लोह से लोहमय होते हैं, उसी प्रकार अज्ञानी के अज्ञान से अज्ञानमय भाव होते हैं और ज्ञानी के ज्ञान से ज्ञानमय ही भाव होते हैं। यहां पर ऐसा आशय समझना कि अज्ञान भाव तो क्रोधादिक हैं और ज्ञान भाव क्षमा आदिक हैं। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि के चारित्र मोह के उदय से क्रोधादिक भी प्रवर्तते हैं तो भी उनमें आत्म बुद्धि नहीं है, वह इन्हें परके निमित्त से हुई उपाधि मानता है, वह उदय देकर खिर जाते हैं, आगामी ऐसा बंध नहीं करता कि जिससे संसार का भ्रमण बढ़े। और आप उद्यमी हो के उन रूप परिणमन भी नहीं करता है; उदय की जबरदस्ती से परिणमता है इसलिए वहां भी ज्ञान में ही अपना स्वामित्व मानने से उन क्रोधादिभावों का भी अन्य ज्ञेय के समान ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं है। इस प्रकार वहां भी ज्ञानमय भाव से ज्ञान भाव ही हुआ जानना ॥१३०।१३१॥

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकां।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुतां ॥ ६८ ॥

अण्णाणस्स स उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ॥ १३२ ॥
उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥ १३३ ॥
तं जाण जोगउदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥ १३४ ॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥ १३५ ॥
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥ १३६ ॥ (पंचकम्)

भावाः पर्याया. कनकमया एव भवंति। अयोमयाल्लोहमयाद्भावात्पदार्थाद् अयोमया एव भावाः पर्यायाः कटकादयो भवंति यथा येन प्रकारणेति दृष्टांतगाथा गता। अथ दार्ष्टांतमाह **अण्णाणेति** तथा पूर्वोक्तलोहदृष्टांतेनाज्ञानमयाद्भावाज्जीवपदार्थादज्ञानिनो भावाः पर्याया बहुविधा मिथ्यात्वरागादिरूपा अज्ञानमया जायते। तथैव च पूर्वोक्तजांबूनददृष्टांतेन ज्ञानिनो जीवस्य ज्ञानमयाः सर्वे भावाः पर्याया भवंति। किं च विस्तरः। वीतरागस्वसंवेदनभेदज्ञानी जीवः य शुद्धात्मभावनारूपं परिणामं करोति स परिणामः सर्वोपि ज्ञानमयो भवति। ततश्च येन ज्ञानमयपरिणामेन संसारस्थितिं छित्वा देवेंद्रलौकांतिकाविमहर्द्धिकदेवो भूत्वा घटिकाद्वयेन मतिश्रुतावधिरूपं ज्ञानमयभावं पर्यायं लभते। ततश्च विमानपरिवारादिविभूतिं जीर्णतृणमिव गणयन्पंचमहाविदेहे गत्वा पश्यति। किं पश्यतीति चेत्, तदिदं समवसरणं त एते वीतरागसर्वज्ञास्त एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधनापरिणता गणधरदेवादयो ये पूर्वं श्रूयते परमागमे ते दृष्टाः प्रत्यक्षेणेति मत्वा, विशेषेण दृढधर्ममतिर्भूत्वा तु चतुर्थगुणस्थानयोग्यां शुद्धात्मभावनामपरित्यजन्निरंतरं धर्मध्यानेन देवलोके कालं गमयित्वा, पश्चान्मनुष्यभवे राजाधिराजमहाराजार्द्धमंडलीकमहामंडलीकबलदेवकामदेवचक्रवर्त्तितीर्थंकरपरमदेवाधिदेवपदे लब्धेपि पूर्वभववासनावासितशुद्धात्मरूप भेदभावनाबलेन मोहं न गच्छति रामपाडवादिवत्। ततश्च जिनदीक्षां गृहीत्वा सप्तर्द्धिचतुर्ज्ञानमयभावं पर्यायं लभते। तदनंतरं समस्तपुण्यपापपरिणामपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन द्वितीयशुक्लध्यानरूपेण विशिष्टभेदभावनाबलेन स्वात्मभावनोत्थसुखामृतरसेन तृप्तो भूत्वा सर्वातिशयपरिपूर्णलोकत्रयाधिपाराध्यं परमाचिंत्यविभूतिविशेषं

आगे अगली गाथा की सूचना के अर्थ श्लोक कहते हैं—**अज्ञान** इत्यादि। अज्ञानी अज्ञानमय अपने भावों की भूमिका को व्याप्त कर आगामी द्रव्य कर्म के कारण अज्ञानादिक भाव की हेतुता को प्राप्त होता है ॥ ६८ ॥

अज्ञानस्य स उदयो या जीवानामतत्वोपलब्धिः ।
मिथ्यात्वस्य तूदयो जीवस्याश्रद्दधानत्वं ॥ १३२ ॥
उदयोऽसंयमस्य तु यज्जीवानां भवेदविरमणं ।
यस्तु कलुषोपयोगो जीवानां स कषायोदयः १३३ ॥
तं जानीहि योगोदयं यो जीवानां तु चेष्टोत्साहः ।
शोभनोऽशोभनो वा कर्तव्यो विरतिभावो वा ॥१३४॥
एतेषु हेतुभूतेषु कार्मणवर्गणागतं यत्तु ।
परिणमतेऽष्टविधं ज्ञानावरणादिभावैः ॥१३५॥
तत्खलु जीवनिबद्धं कार्मणवर्गणागतं यदा ।
तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणामभावानां ॥१३६॥

अतत्त्वोपलब्धिरूपेण ज्ञाने स्वदमानो अज्ञानोदयः । मिथ्यात्वासंयमकषाययोगोदयाः

केवलज्ञानरूपं भावं पर्यायं लभन इत्यभिप्रायः । अज्ञानिजीवस्तु मिथ्यात्वरागादिमयमज्ञानभावं कृत्वा नरनारकादिरूपं भावं पर्याय लभत इति भावार्थः ॥ १३० । १३१ ॥ एवं ज्ञानमयाज्ञानमयभावकथनमुख्यत्वेन गाथाषट्कं गतं । इति

यही अर्थ पांच गाथाओं द्वारा केहते हैं;—[या] जो [जीवानां] जो जीवों के [अतत्त्वोपलब्धिः] अन्यथा स्वरूप का जानना है [सः] वह [अज्ञानस्य] अज्ञान का [उदयः] उदय है [तु] और जो [जीवस्य] जीव के [अश्रद्दधानत्वं] अतत्त्वका श्रद्धान है वह [मिथ्यात्वस्य] मिथ्यात्व का [उदयः] उदय है [यत्तु] और जो [जीवानां] जीवों के [अविरमणं] अत्याग भाव [भवेत्] है [असंयमस्य] वह असंयम का [उदयः] उदय है [तु] और [यः] जो [जीवानां] जीवों के [कलुषोपयोगः] मलिन (जानपने की स्वच्छता से रहित) उपयोग है [सः] वह [कषायोदयः] कषायका उदय है [तु यः] और जो [जीवानां] जीवों के [शोभनः] शुभरूप [वा] अथवा [अशोभनः] अशुभ रूप [चेष्टोत्साहः] मनवचन काय की चेष्टा के उत्साह का [कर्तव्यः] करने योग्य [वा] अथवा [विरतिभावः] न करने योग्य व्यापार है [तं] उसे [योगोदयं] योग का उदय [जानीहि] जानो। [एतेषु] इनको [हेतुभूतेषु] हेतुभूत होनेपर [यत्तु] जो [कर्मवर्गणागतं] कार्मणवर्गणा रूप आकर प्राप्त हुआ [ज्ञानावरणादिभावैः अष्टविधं] ज्ञानावरण आदि भावों से आठ प्रकार [परिणमते] परिणमन करता है [तत् खलु] वह निश्चय से [यदा] जब [कार्मणवर्गणा गतं] कार्मणवर्गणारूप आया हुआ [जीवनिबद्धं] जीव में बंधता है [तदा तु] उस समय [परिणामभावानां] उन अज्ञानादिक परिणाम भावों का [हेतुः] कारण [जीवः] जीव [भवति] होता है।

टीका—अयथार्थ वस्तुस्वरूप की उपलब्धि से ज्ञान में जो स्वादरूप हो वह अज्ञान का उदय है।

कर्महेतवस्तन्मयाश्चत्वारो भावाः। तत्वाश्रद्धानरूपेण ज्ञाने स्वदमानो मिथ्यात्वोदयः अविरमण रूपेण ज्ञाने स्वदमानोऽसंयमोदयः कलुषोपयोगरूपेण ज्ञाने स्वदमानः कषायोदयः शुभाशुभ प्रवृत्तिनिवृत्तिव्यापाररूपेण ज्ञाने स्वदमानो योगोदयः। अथैतेषु पौद्गलिकेषु मिथ्यात्वाद्युदयेषु हेतु-

---

पूर्वोक्तप्रकारेण पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपेण महाधिकारे कथंचित्परिणामित्वे सति ज्ञानिजीवो ज्ञानमय-भावस्य कर्ता तथैव चाज्ञानिजीवोऽज्ञानमयस्य भावस्य कर्ता भवतीति, व्याख्यानमुख्यतया गाथानवकेन षष्ठोन्तराधिकारः समाप्तः। अथ पूर्वोक्त एवाज्ञानमयभावो द्रव्यभावगतपंचप्रत्ययरूपेण पंचविधो भवति स चाज्ञानिजीवस्य शुद्धात्मैवोपादेय इत्यरोचमानस्य तमेव शुद्धात्मानं स्वसंवेदनज्ञानेनाजानतस्तमेव परमसमाधिरूपेणाभावयतश्च बंधकारणं भवतीति सप्तमांतराधिकारे समुदायपातनिका;—**मिच्छत्तस्स दु उदयं जं जीवाणं अतच्चसद्दहणं** मिथ्यात्वस्योदयो भवति जीवानामनंतज्ञानादिचतुष्टयरूपं शुद्धात्मतत्त्वमुपादेयं विहायान्यत्र यच्छ्रद्धानं रुचिरुपादेयबुद्धिः **असंजमस्स दु उदओ जं जीवाणं अविरदत्तं** असंयमस्य च स उदयो भवति जीवानामात्मसुखसंवित्त्यभावे सति विषयकषायेभ्यो यदनिवर्त्तनमिति। अथ—**अण्णाणस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी** अज्ञानस्योदयो भवति यत्किं भेदज्ञानं विहाय जीवानां विपरीतरूपेण परद्रव्यैकत्वेनोपलब्धिः प्रतीतिः **जो दु कसाउवओगो सो जीवाणं कसाउदओ** स जीवानां कषायोदयो भवति यः शांतात्मोपलब्धिलक्षणं शुद्धोपयोगं विहाय क्रोधादिकषायरूप उपयोगः परिणाम इति। अथ—**तं जाण जोगउदयं जं जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो** तं योगोदयं जानीहि त्वं हे शिष्य जीवानां मनोवचनकायवर्गणाधारेण वीर्यांतरायक्षयोपशमजनितः कर्मादानहेतुरात्मप्रदेशपरिस्पंदलक्षणः प्रयत्नरूपेण यस्तु चेष्टोत्साहो व्यापारोत्साहः **सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा** स च शुभाशुभरूपेण द्विधा भवति। तत्र व्रतादिकर्तव्यरूपः शोभनः पश्चादव्रतादिरूपो वर्जनीयः स चाशोभनः इति। अथ—**एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु** एतेषु पूर्वोक्तेषु उदयागतेषु हेतुभूतेषु यत् मिथ्यात्वादिपंचप्रत्ययेषु कार्मणवर्गणागतं परिणतं यदभिनवं नवतरं पुद्गलद्रव्यं **परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं** जीवस्यसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकपरिणतिरूपपरमसामयिकाभावे सति ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपेणाष्टविधं परिणमतीति। अथ—**तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया** तत्पूर्वोक्तसूत्रोदितं कर्मवर्गणायोग्यमभिनवं पुद्गलद्रव्यं जीवनिबद्धं जीवसंबद्धं योगवशेनागतं यदा भवति खलु स्फुटं **तइया दु होदि हेदु जीवो परिणामभावाणं** तदा काले पूर्वोक्तेषूदयागतेषु द्रव्यप्रत्ययेषु निमित्तभूतेषु सत्सु स्वकीयगुणस्थानानुसारेण जीवो हेतुः कारणं भवति केषां परिणामरूपाणां भावानां प्रत्ययानामिति। किंच, उदयागतद्रव्यप्रत्ययनिमित्तेन मिथ्यात्वरागादि भावप्रत्ययरूपेण परिणम्य जीवो नवतरकर्मबंधस्य कारणं भवतीति तात्पर्यं। अयमत्र भावार्थः;

उसके मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, योगादिक अज्ञानमय चार भाव हैं। जो कि ज्ञानावरणादि कर्म के कारण हैं। उनमें से जो तत्त्व के अश्रद्धान रूप से ज्ञान में आस्वाद का आना वह तो मिथ्यात्व का उदय है; जो अत्याग भाव से ज्ञान में आस्वाद रूप आये वह असंयमका उदय है, जो मलिन उपयोग से ज्ञान में आस्वाद रूप आये, वह कषाय का उदय है, और जो शुभाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिरूप व्यापार से ज्ञान में स्वाद रूप होता है, यह योगका उदय है। ये मिथ्यात्वादि के उदय स्वरूप चारों भाव पुद्गल के हैं, वे आगामी कर्मबंध के कारण होते हैं। उनके कारण रूप होनेपर पुद्गलद्रव्य कर्मवर्गणारूप आया

भूतेषु यत्पुद्गलद्रव्यं कर्मवर्गणागतं ज्ञानावरणादिभावैरष्टधा स्वयमेव परिणमते तत्खलु कर्मवर्गणागतं जीवनिबद्धं यदा स्यात्तदा जीवः स्वयमेवाज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेनाज्ञानमयानां तत्वाश्रद्धानादीनां स्वस्य परिणामभावानां हेतुर्भवति ॥ १३२।१३३।१३४।१३५।१३६ ॥

पुद्गलद्रव्यात्पृथग्भूत एव जीवस्य परिणामः;—

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा होंति रागादी ।
एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा ॥ १३७ ॥
एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं ।
ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ॥ १३८ ॥ (युग्मम्)

जीवस्य तु कर्मणा च सह परिणामाः खलु भवंति रागादयः ।
एवं जीवः कर्म च द्वे अपि रागादित्वमापन्ने ॥ १३७ ॥
एकस्य तु परिणामो जायते जीवस्य रागादिभिः ।
तत्कर्मोदयहेतुभिर्विना जीवस्य परिणामः ॥ १३८ ॥

उदयागतेषु द्रव्यप्रत्ययेषु यदि जीवः स्वस्वभावं मुक्त्वा रागादिरूपेण भावप्रत्ययेन परिणमतीति तदा बंधो भवतीति नैवोदयमात्रेण घोरोपसर्गेपि पांडवादिवत्, यदि पुनरुदयमात्रेण बंधो भवति तदा सर्वदैव संसारएव । कस्मादिति चेत्, संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात् । इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारेऽज्ञानिभावः पंचप्रत्ययरूपेण शुद्धात्मस्वरूपच्युतानां जीवानां बंधकारणं भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन पंचगाथाभिः सप्तमोन्तराधिकारः समाप्तः ॥ १३२।१३३।१३४।१३५।१३६ ॥ अतः परं जीवपुद्गलयोः परस्परोपादानकारणनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रयमित्यष्टमांतराधिकारे समुदायपातनिका । अथ निश्चयेन कर्मपुद्गलात्पृथग्भूत एव जीवस्य परिणाम इति प्रतिपादयति;—

हुआ ज्ञानावरण आदि भावों से अष्टप्रकार स्वयमेव परिणमता है । यह ज्ञानावरणादिक रूप कर्मवर्गणा रूप प्राप्त हुआ जब जीव में निबद्ध होता है, तब जीव स्वयमेव अपने अज्ञान भाव से पर और आत्मा के एकत्व का निश्चय कर अज्ञानमय अतत्व श्रद्धानादिक अपने परिणामस्वरूप भावों का कारण होता है ।

भावार्थ—अज्ञानभाव के भेदरूप जो मिथ्यात्व, अविरत, कषाय, योग रूप परिणाम हैं, वे पुद्गल के परिणाम हैं । वे ज्ञानावरणादि आगामी कर्मबंध के कारण हैं । और जीव उन मिथ्यात्वादिभावों के उदय होने से अपने अज्ञानभाव से अतत्वश्रद्धानादि भावों के रूप में परिणमन करता है, और उन अपने अज्ञान रूप भावों का कारण होता है ॥ १३२।१३३।१३४।१३५।१३६ ॥

इसी प्रकार जीव का परिणाम भी पुद्गल द्रव्य से पृथक् ही है—यदि ऐसा माना जाय कि **[जीवस्य]** जीव के **[परिणामाः]** परिणाम **[रागादयः]** रागादिक हैं वे **[खलु]** निश्चय से

यदि जीवस्य तन्निमित्तभूतविपच्यमानपुद्गलकर्मणा सहैव रागाद्यज्ञानपरिणामो भवतीति वितर्कः तदा जीवपुद्गलकर्मणोः सहभूतसुधाहरिद्रयोरिव द्वयोरपि रागाद्यज्ञानपरिणामापत्तिः। अथ चैकस्यैव जीवस्य भवति रागाद्यज्ञानपरिणामः ततः पुद्गलकर्मविपाकाद्धेतोः पृथग्भूतो जीवस्य परिणामः ॥ १३७।१३८ ॥

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा दु होंति रागादी यदि जीवस्योपादानकारणभूतस्य कर्मोदयेनोपादानभूतेन सह रागादिपरिणामा भवंति। **एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा** एवं द्वयोर्जीवपुद्गलयोः रागादिपरिणामानामुपादानकारणत्वे सति सुधाहरिद्रयोरिव द्वयोरागित्वं प्राप्नोति। तथा सति पुद्गलस्य चेतनत्वं प्राप्नोति स च प्रत्यक्षविरोध इति। अथ—**एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं** अथाभिप्रायो भवतां पूर्वदूषणभयादेकस्य जीवस्यैकातेनोपादानकारणस्य रागादिपरिणामो जायते **ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो** तस्मादिदं दूषणं कर्मोदयहेतुभिर्विनापि शुद्धजीवस्य रागादिपरिणामो जायते स च प्रत्यक्षविरोध आगमविरोधश्च। अथवा द्वितीयव्याख्यानं एकस्य जीवस्योपादानकारणभूतस्य कर्मोदयोपादानहेतुभिर्विना रागादिपरिणामो यदि भवति तदा सम्मतमेव। किं च द्रव्यकर्मणामनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण कर्ता जीवः रागादिभावकर्मणामशुद्धनिश्चयेन। स चाशुद्धनिश्चयः यद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वविषयभूतस्यानुपचरितासद्भूतव्यवहारस्यापेक्षया निश्चयसंज्ञां लभते, तथापि शुद्धात्मद्रव्यविषयभूतस्य शुद्धनिश्चयस्यापेक्षया वस्तुवृत्त्या व्यवहार एवेति भावार्थः ॥ १३७।१३८ ॥

अथ निश्चयेन जीवात्पृथग्भूत एव पुद्गलकर्मणः परिणाम इति निरूपयति,—**एकस्स परिणामो पुग्गलदव्वस्स**

[कर्मणा च सह] कर्म के साथ होते हैं **[एवं तु]** इस प्रकार तो **[जीवःच कर्म]** जीव और कर्म **[द्वे अपि]** ये दोनों ही **[रागादित्वं आपन्ने]** रागादि परिणाम को प्राप्त हो जांय। अतः यह सिद्ध हुआ कि **[रागादिभिः]** इन रागादिकों से **[एकस्य जीवस्य तु]** एक जीव का ही **[परिणामः]** परिणाम **[जायते]** उत्पन्न होता है **[तत्]** वह **[कर्मोदय हेतुंविना]** कर्म के उदय रूप निमित्त कारण से पृथक् **[जीवस्य परिणामः]** एक जीव का ही परिणाम है।

टीका—यदि जीव का रागादि अज्ञान परिणाम अपने निमित्तभूत उदय में आये पुद्गल कर्म के साथ ही होता है, यह तर्क किया जाय तो जीव और पुद्गल कर्म दोनो के ही हल्दी और फिटकिरी की भांति (जैसे रंग मे हल्दी और फिटकिरी साथ डालने से उन दोनों का एक रंग स्वरूप परिणाम होता है वैसे) रागादि अज्ञान परिणाम का प्रसग आ जायगा (किन्तु ऐसा इष्ट नही है)। यदि यही माना जाय कि रागादि अज्ञान परिणाम की प्राप्ति एक जीव के ही होती है तो इस हेतु से ऐसा आया कि पुद्गल कर्म का उदय जीव के रागादि अज्ञान परिणामों का कारण है, अतः उससे पृथग्भूत ही जीव का परिणाम है।

भावार्थ—पुद्गलकर्म के उदय के साथ ही जीव का परिणाम माना जाय तो जीव और कर्म इन दोनों के रागादिक की प्राप्ति आ जाय। किन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये पुद्गलकर्म का उदय जीव के अज्ञान रूप रागादि परिणामों को निमित्त है। उस निमित्त से भिन्न ही जीव का परिणाम है ॥ १३७।१३८ ॥

जीवात्पृथग्भूत एव पुद्गलद्रव्यस्य परिणामः

जइ जीवेण सहच्चिय पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो ।
एवं पुग्गलजीवा हु दोवि कम्मत्तमावण्णा ॥१३९॥
एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण ॥
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥१४०॥ युग्मम्

यदि जीवेन सह चैव पुद्गलद्रव्यस्य कर्मपरिणामः ।
एवं पुद्गलजीवौ खलु द्वावपि कर्मत्वमापन्नौ ॥१३९॥
एकस्य तु परिणामः पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेन ।
तज्जीवभावहेतुभिर्विना कर्मणः परिणामः ॥१४०॥

यदि पुद्गलद्रव्यस्य तन्निमित्तभूतरागाद्यज्ञानपरिणामपरिणतजीवेन सहैव कर्मपरिणामो भवतीति वितर्कः तदा पुद्गलद्रव्यजीवयोः सहभूतहरिद्रासुधयोरिव द्वयोरपि कर्मपरिणामापत्तिः ।

कम्मभावेण एकस्योपादानभूतस्य कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्य द्रव्यकर्मरूपेण परिणामः यत एवं **ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो** तस्मात्कारणाज्जीवगतमिथ्यात्वरागादिपरिणामोपादानहेतुभिर्विनापि द्रव्यकर्मणः परिणामः

आगे कहते हैं कि पुद्गलद्रव्य का परिणाम जीव से पृथक् ही है:—**[यदि]** यदि **[जीवेन सह चैव]** जीव के साथ ही **[पुद्गलद्रव्यस्य]** पुद्गलद्रव्य का **[कर्मपरिणामः]** कर्मरूप परिणाम होता है, ऐसा माना जाय तो **[एवं]** इस प्रकार **[पुद्गलजीवौ द्वौ अपि]** पुद्गल और जीव दोनों **[खलु]** ही **[कर्मत्वं आपन्नौ]** कर्मत्व को प्राप्त हो जायें **[तु]** तथा **[एकस्य]** एक **[पुद्गलद्रव्यस्य]** पुद्गलद्रव्य का **[कर्मभावेन]** कर्मरूप से **[परिणामः]** परिणाम होता है **[तत्]** इस लिये **[जीवभावहेतुभिः विना]** जीवभाव निमित्तकारण से पृथक् **[कर्मणः]** कर्म का **[परिणामः]** परिणाम है ।

टीका—पुद्गलद्रव्य का कर्मपरिणाम उसके निमित्तभूत रागादि अज्ञान परिणाम रूप परिणत जीव के साथ ही होता है, यदि यह तर्क किया जाय तो जैसे हल्दी और फिटकरी दोनों का साथ ही रंग का परिणाम होता है, उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य और जीव दोनों के ही कर्म परिणाम की प्राप्ति का प्रसंग आ जाय । किन्तु यह बात नहीं है । अतः यह सिद्ध होता है कि कर्म परिणाम पुद्गलद्रव्य का ही है । इस कारण जीव के रागादि स्वरूप अज्ञान परिणाम कर्म के निमित्त कारण हैं । उनसे पृथक् ही पुद्गल कर्म का परिणाम है ।

भावार्थ—यदि पुद्गलद्रव्य का कर्म परिणाम होना जीव के साथ ही माना जाय तो दोनों के ही कर्मपरिणाम का प्रसंग आ जाय । अतः जीव का अज्ञान रूप रागादि परिणाम कर्म का निमित्त है । इस कारण पुद्गलकर्म परिणाम जीव से पृथक् ही है ॥१३९॥१४०॥

अथ चैकस्यैव पुद्गलद्रव्यस्य भवति कर्मत्वपरिणामः ततो रागादिजीवाज्ञानपरिणामाद्धेतोः पृथग्भूत एव पुद्गलकर्मणः परिणामः ॥१३९॥१४०॥

ततःकिमात्मनि बद्धस्पृष्टं किमबद्धस्पृष्टं कर्मेति नयविभागेनाह—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं ।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४१॥

जीवे कर्म बद्धं स्पृष्टं चेति व्यवहारनयभणितं ।
शुद्धनयस्य तु जीवे अबद्धस्पृष्टं भवति कर्म ॥१४१॥

जीवपुद्गलकर्मणोरेकबंधपर्यायत्वेन तदात्वेव्यतिरेकाभावाज्जीवे बद्धस्पृष्टं कर्मेति व्यवहारनयपक्षः । जीवपुद्गलकर्मणोरनेकद्रव्यत्वेनात्यंतव्यतिरेकाज्जीवेऽबद्धस्पृष्टं कर्मेति निश्चयनयपक्षः ॥१४१॥

स्यात् ॥१३९।१४०॥ इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थाना पीठिकारूपे महाधिकारे जीवकर्मपुद्गलपरस्परोपादानकारणनिषेधमुख्यतया गाथात्रयेणाष्टमोन्तराधिकारः समाप्तः । अथानंतरं व्यवहारेण बद्धो निश्चयेनाबद्धो जीव इत्यादिविकल्परूपेण नयपक्षपातेन स्वीकारेण रहितं शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन पुण्यपापादिपदार्थेभ्यो भिन्नं शुद्धसमयसारं गाथाचतुष्टयेन कथयतीति नवमेंतराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा । अथ किमात्मनि बद्धस्पृष्टं किमबद्धस्पृष्टं कर्मेति प्रश्ने सति नयविभागेन परिहारमाह;—**जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं** जीवेऽधिकरणभूते बद्धसंश्लेषरूपेण क्षीरनीरवत्सबद्धं स्पृष्टं योगमात्रेण लग्नं च कर्मेति व्यवहारनयपक्षो व्यवहारनयाभिप्रायः । **सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं** शुद्धनयस्याभिप्रायेण पुनर्जीवेधिकरणभूते अबद्धं स्पृष्टं कर्म इति निश्चयव्यवहारनयद्वयविकल्परूपं शुद्धात्मस्वरूपं न भवतीति भावार्थः ॥१४१॥ अथ यस्माद्बद्धाबद्धादिविकल्परूपं नयस्वरूपमुक्तं तस्माच्छुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन बद्धाबद्धादिनयविकल्परूपो जीवो न भवतीति प्रतिपादयति;—**कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं** जीवेधिकरणभूते कर्म बद्धमबद्धं चेति योऽसौ विकल्पः स उभयोपि नय-

---

आगे पूछते है कि आत्मा मे कर्म बद्धस्पृष्ट है कि अबद्धस्पृष्ट ? उसका उत्तर नयविभाग से कहते है;—**[जीवे]** जीव मे **[कर्म]** कर्म **[बद्धं]** बद्ध है अर्थात् जीव के प्रदेशों से बंधा हुआ है **[च]** तथा **[स्पृष्टः]** स्पर्शता है **[इति]** ऐसा **[व्यवहारनयभणितं]** व्यवहारनय का वचन है **[तु]** और **[जीवे]** जीव में **[कर्म]** कर्म **[अबद्धस्पृष्टं]** अबद्धस्पृष्ट **[भवति]** है अर्थात् न बँधता है न स्पर्शता है ऐसा **[शुद्धनयस्य]** शुद्धनयका वचन है ।

टीका—जीव और पुद्गल कर्म के एक बंध पर्यायरूप से देखा जाय तो उस समय भिन्नता का अभाव है, वहां जीव में कर्म बंधते भी है, स्पर्शते भी है ऐसा कहना तो व्यवहारनय का पक्ष है और जीव तथा पुद्गल कर्म के अनेक द्रव्यत्वरूप से देखा जाय तो अत्यंत भिन्नता है, इसलिये जीव में कर्म बद्धस्पृष्ट नहीं है ऐसा कहना निश्चयनय का पक्ष है ॥१४१॥

ततः किं—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं ।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ।। १४२ ।।

कर्म बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जानीहि नयपक्षं ।
पक्षातिक्रांतः पुनर्भण्यते यः स समयसारः ।। १४२ ।।

यः किल जीवे बद्धं कर्मेति यश्च जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पः स द्वितयोपि हि नयपक्षः । य एवैनमतिक्रामति स एव सकलविकल्पातिक्रांतः स्वयं निर्विकल्पैकविज्ञानघनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसारः संभवति । तत्र यस्तावज्जीवे बद्धं कर्मेति विकल्पयति स जीवेऽबद्धं कर्मेति एकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति । यस्तु जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पयति सोपि जीवे बद्धं कर्मेत्येकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति । यः पुनर्जीवे बद्धमबद्धं च कर्मेति विकल्पयति

पक्षपातः स्वीकार इत्यर्थः **पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो** नयपक्षातिक्रांतो भण्यते यः स समयसारः शुद्धात्मा । तद्यथा—व्यवहारेण बद्धो जीव इति नयविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति निश्चयेनाबद्धो जीव

आगे कहते हैं कि ये दोनों नयपक्ष हैं उनसे क्या होता है ?— **[जीवे]** जीव में **[कर्म]** कर्म **[बद्धं]** बंधे हुए हैं अथवा **[अबद्धं]** नहीं बंधे हुए हैं **[एवं तु]** इस प्रकार तो **[नयपक्षं]** नयपक्ष **[जानीहि]** जानो **[पुनः यः]** और जो **[पक्षातिक्रांतः]** पक्ष से दूरवर्ती **[भण्यते]** कहा जाता है **[सः समयसारः]** यह समयसार है, निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्त्व है ।

टीका—जो निश्चयकर जीव में कर्म बंधे हुए हैं ऐसा कहना तथा जीव में कर्म नहीं बंधे हुए हैं ऐसा कहना ये दोनों ही विकल्प नयपक्ष हैं । जो इस नयपक्ष के विकल्प को लांघ कर वर्तता है अर्थात् छोड़ता है, वही समस्त विकल्पों से दूर रहता है । वही आप निर्विकल्प एक विज्ञानघनस्वभावरूप होकर साक्षात् समयसार हो जाता है । प्रथम तो जो जीव में कर्म बंधा है ऐसा विकल्प करता है वह 'जीव में कर्म नहीं बंधा है' ऐसा एक पक्षको छोड़ता हुआ भी विकल्प को नहीं छोड़ता । और जो जीव में कर्म नहीं बंधा है ऐसा विकल्प करता है वह 'जीव में कर्म बंधा है' ऐसे विकल्प रूप एक पक्ष को छोड़ता हुआ भी विकल्प को नहीं छोड़ता, और जो जीव में कर्म बंधा भी है तथा नहीं भी बंधा है ऐसा विकल्प करता है वह उन दोनों ही नयपक्षों को नहीं छोड़ता हुआ विकल्प को नहीं छोड़ता । इसलिये जो सभी नयपक्षों को छोड़ता है, वही समस्त विकल्पों को छोड़ता है तथा वही समयसार का अनुभव करता है ।

भावार्थ—जीव कर्मों से बंधा हुआ भी है तथा नहीं बंधा भी है, ये दोनों नयपक्ष हैं । उनमें से किसी ने तो बंध पक्ष को पकड़ा, उसने भी विकल्प ही ग्रहण किया; किसी ने अबंधपक्ष स्वीकार किया,

स तु तं द्वितयमपि पक्षमनतिक्रामन्न विकल्पमतिक्रामति। ततो य एव समस्तनयपक्षमतिक्रामति स एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति। य एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति स एव समयसारं विंदति। यद्येवं तर्हि को हि नाम नयपक्षसंन्यासभावनां न नाटयति ॥ १४२॥

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यं।
विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबंति॥ ६९ ॥
एकस्य बद्धो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव॥ ७० ॥

इति च नयविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति निश्चयव्यवहाराभ्या बद्धाबद्धजीव इति वचनविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति। कस्मादिति चेत्? श्रुतविकल्पा नया इति वचनात्। श्रुतज्ञानं च क्षायोपशमिकं क्षायोपशमस्तु ज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितत्वात्। यद्यपि व्यवहारनयेन छद्मस्थापेक्षया जीवस्वरूपं भण्यते तथापि केवलज्ञानापेक्षयाशुद्धजीव-

---

उसने भी विकल्प ही लिया और किसी ने दोनों पक्ष लिए, उसने भी पक्ष का ही विकल्प ग्रहण किया। परंतु ऐसे विकल्पों को छोड़ जो किसी भी पक्ष को नहीं पकड़ता, वही शुद्ध पदार्थ का स्वरूप जान, उस रूप समयसार शुद्ध आत्मा को पाता है। नयों का पक्ष पकड़ना राग है, सो सब नय पक्षों को छोड़ वीतराग समयसार हो जाता है॥ १४२॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो नयपक्ष के त्याग की भावना को कौन नृत्य कराता है? उसका उत्तर रूप काव्य कहते हैं—**य एव** इत्यादि। **अर्थ**—जो पुरुष नय के पक्षपात को छोड़कर अपने स्वरूप में गुप्त होकर निरंतर स्थिर होते हैं, वे ही पुरुष विकल्प के जाल से रहित शांतचित्त हुए साक्षात् अमृत को पीते हैं।

भावार्थ—जब तक कुछ पक्षपात रहता है, तब तक चित्त का क्षोभ नहीं मिटता। जब सब नयों का पक्षपात मिट जाय, तब वीतराग दशा होकर स्वरूप की श्रद्धा निर्विकल्प होती है और स्वरूप में प्रवृत्ति होती है॥ ६९॥

अब नयपक्ष को प्रकट कर कहते हैं कि जो उसको छोड़ता है, वह तत्वज्ञानी होकर स्वरूप को पाता है, ऐसे अर्थ के कलशरूप बीस काव्य कहते हैं—**एकस्य** इत्यादि। **अर्थ**—एक नय का तो ऐसा पक्ष है कि यह चिन्मात्र जीव कर्म से बंधा हुआ है और दूसरे नयका पक्ष ऐसा है कि कर्म से नहीं बंधा। इस तरह दो नयों के दो पक्ष हैं। इस तरह दोनों नयों का जिसके पक्षपात है, वह तत्त्ववेदी नहीं है और जो तत्त्ववेदी है, वह पक्षपात से रहित है, उस पुरुष का चिन्मात्र आत्मा चिन्मात्र ही है, उसमें पक्षपात से कल्पना नहीं करता है।

भावार्थ—यहां शुद्धनय को प्रधान कर कथन है। वहां जीवनाम पदार्थ को शुद्ध, नित्य अभेद, चैतन्य मात्र स्थापन कर कहते हैं कि जो इस शुद्ध नयका भी पक्षपात करेगा, वह भी उस स्वरूप के स्वाद को नहीं पावेगा। अशुद्ध पक्ष की तो क्या बात है, शुद्ध नयका भी पक्षपात करेगा तो पक्ष का

एकस्य मूढो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७१ ॥
एकस्य रक्तो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७२ ॥
एकस्य दुष्टो (द्विष्टो) न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७३ ॥
एकस्य कर्ता न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७४ ॥
एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७५॥
एकस्य जीवो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७६॥

स्वरूपं न भवति। तर्हि कथंभूतं जीवस्वरूपमिति चेत्? योसौ नयपक्षपातरहितस्वसंवेदनज्ञानी तस्याभिप्रायेण बद्धाबद्धमूढामूढादिनयविकल्परहितं चिदानंदैकस्वभावं जीवस्वरूपं भवतीति। तथा चोक्तं—

य एवमुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यं। विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबंति ॥६६॥

राग नहीं मिटेगा, तब वीतरागता नहीं होगी। इसलिये पक्षपात को छोड़ चिन्मात्रस्वरूप में लीन होने पर ही समयसार को पा सकता है। चैतन्य के परिणाम परनिमित्त से अनेक होते हैं, उन सबको गौण कर कहा गया है। इसलिये सब पक्षको छोड़ शुद्धस्वरूप का श्रद्धान कर स्वरूप में प्रवृत्तिरूप चारित्र होने से वीतराग दशा करनी योग्य है ॥७०॥

जैसे बद्ध अबद्ध पक्ष छुड़ाई थी उसी तरह अन्य पक्ष को प्रकट कहकर छुड़ाते हैं। **एकस्य** इत्यादि **अर्थ**—एक नयका यह पक्ष है कि जीव मोही है और दूसरी नयका यह पक्ष है कि मोही नहीं है। इस तरह ये दोनों ही चैतन्य में पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी है, वह पक्षपात रहित है, उसके चित् चित् ही है, मोही अमोही नहीं है ॥७१॥

एकस्य—इत्यादि। **अर्थ**—एक नयका तो ऐसा पक्ष है कि यह जीव रागी है और दूसरे नयका ऐसा पक्षपात है कि रागी नहीं है। ये दोनों ही चैतन्य में नय के पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी है, वह पक्षपातरहित है, जो चित् है, वह चित् ही है ॥७२॥

एकस्य दुष्टो इत्यादि १७ काव्यों का **अर्थ**—एक नय के तो द्वेषी है ऐसा पक्ष है और दूसरे नय के द्वेषी नहीं है। ऐसे ये चैतन्य में दोनों नयों के दो पक्षपात हैं। एक नयके कर्ता है, दूसरे नय के कर्ता नहीं है, ऐसे ये चैतन्य में दोनों नयों के दो पक्षपात हैं। एक नयके भोक्ता है, दूसरे नय के भोक्ता नहीं है। ये चैतन्य में दो नयों के दो पक्षपात हैं। एक नय के जीव है, दूसरे नय के जीव नहीं है।

एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७७॥
एकस्य हेतुर्न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७८॥
एकस्य कार्यं न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७९॥
एकस्य भावो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८०॥
एकस्य चैको न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८१॥
एकस्य [1]सांतो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८२॥
एकस्य नित्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८३॥
एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८४॥
एकस्य नाना न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८५॥
एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८६॥

एकस्य बद्धो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७०॥

ये चैतन्य में दोनों नयों के दो पक्षपात हैं। एक नयके सूक्ष्म है, दूसरे नयके सूक्ष्म नहीं है, ऐसे ये चैतन्य में दोनों नयों के दो पक्षपात हैं। एक नयके हेतु है, दूसरे नयके हेतु नहीं है, ये चैतन्य में० ॥ एक नयके कार्य है, दूसरे नयके कार्य नहीं है ये चैतन्य में० ॥ एक नयके भावरूप है दूसरे नयके अभाव रूप है ये चैतन्य में० ॥ एक नयके एक है, दूसरे नयके अनेक है ये चैतन्य में० ॥ एक नयके सांत है, दूसरे नयके अंत सहित नहीं है ये चैतन्य में० ॥ एक नयके नित्य है दूसरे नयके अनित्य है ये चैतन्य में० ॥ एक नयके वाच्य है, दूसरे नयके वचनगोचर नहीं है ये चैतन्य में० ॥ एक नयके नाना रूप है, दूसरे नयके नाना रूप नहीं है ये चैतन्य में० ॥ एक नयकेचेत्य अर्थात् जानने योग्य है, दूसरे नयके चेतने योग्य नहीं है ये चैतन्यमें० ॥

१. "शांतो" इत्यपि पाठः ।

एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८७ ॥
एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८८ ॥
एकस्य भातो न तथा परस्य चितिद्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८६ ॥
स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजालामेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षां ।
अंतर्बहिः समरसैकरसस्वभावं स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रं ॥ ६० ॥
इंद्रजालमिदमेवमुच्छलत्पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥ ६१ ॥

समयाख्यानकाले या बुद्धिर्नयद्वयात्मिका। वर्तते बुद्धतत्त्वस्य सा स्वस्थस्यनिवर्तते। हेयोपादेयतत्त्वे तु विनिश्चित्य नयद्वयात् । त्यक्त्वा हेयमुपादेयेऽवस्थानं साधुसम्मतं ॥ १४२ ॥ अथ नयपक्षातिक्रांतस्य शुद्धजीवस्य किंस्वरूपमिति पृष्टे

एक नयके दृश्य है दूसरे के देखने में नहीं आता ये चैतन्य में० ॥ एक नयके वेद्य (वेदने योग्य) है दूसरे के वेदने में नहीं आता, ये चैतन्य में० ॥ एक नयके वर्तमान प्रत्यक्ष है, दूसरे के नहीं, ये दोनों नयो के चैतन्य में दो पक्षपात हैं। इस प्रकार चैतन्य सामान्य में ये सब पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी है, वह स्वरूप को यथार्थ अनुभव करने वाला है, उसका चिन्मात्र भाव है, वह चिन्मात्र ही है, पक्षपात से रहित है।

भावार्थ—जीव के परनिमित्त से अनेक परिणाम होते हैं और इसमें साधारण अनेक धर्म हैं तो भी असाधारण धर्म चित्स्वभाव है। वही सामान्य भाव से शुद्धनय का विषय है, उसी को प्रधान कर कथन है। सो इसके साक्षात् अनुभव के लिये ऐसा कहा है कि इसमें नयों के अनेक पक्षपात उत्पन्न होते हैं। बद्ध-अबद्ध, मूढ़-अमूढ़, रागी-विरागी, द्वेषी-अद्वेषी, कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता, जीव-अजीव, सूक्ष्म-स्थूल, कारण-अकारण, कार्य-अकार्य, भाव-अभाव, एक-अनेक, शांत-अशांत, नित्य-अनित्य, वाच्य-अवाच्य, नाना-अनाना, चेत्य-अचेत्य, दृश्य-अदृश्य, वेद्य-अवेद्य, भात-अभात इत्यादि नयों के पक्षपात हैं। सो तत्त्व का अनुभव करने वाला पक्षपात नहीं करता, नयों को यथायोग्य विवक्षा से साधता है और चैतन्य को चेतनमात्र ही अनुभव करता है ॥ ७३ से ८६ ॥

इसी अर्थ को संक्षेप कर काव्य कहते हैं—**स्वेच्छा** इत्यादि। **अर्थ**—जो तत्त्व का जानने वाला पुरुष है, वह पूर्व कही हुई रीति से जिसमें बहुत विकल्पों के जाल अपने आप उठते हैं ऐसा जो बड़ा नय-पक्षरूप वन, उसको लांघ कर जिसमें वीतरागभाव ही एक रस है, ऐसे स्वभाव वाले अनुभूतिमात्र आत्मा के भावरूप अपने स्वरूप को प्राप्त होता है ॥ ६० ॥

फिर कहते हैं—**इंद्रजाल** इत्यादि। **अर्थ**—तत्त्ववेदी ऐसा अनुभव करता है कि मैं चिन्मात्र महातेज का पुंज हूं, जिसका स्फुरायमान होना ही, बहुत बड़ी पुष्ट उठती चंचल विकल्परूप जो लहरें उनसे

पक्षातिक्रांतस्य किंस्वरूपमिति चेत्—

दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरिं तु समयपडिबद्धो ।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥ १४३ ॥

द्वयोरपि नययोर्भणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः ।
न तु नयपक्षं गृह्णाति किंचिदपि नयपक्षपरिहीनः ॥ १४३ ॥

यथा खलु भगवान्केवली श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः विश्वसाक्षितया केवलं स्वरूपमेव जानाति न तु सततमुल्लसितसहजविमलसकलकेवलज्ञानतया नित्यं स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वाच्छ्रुतज्ञानभूमिकातिक्रांततया समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्कंचनापि नयपक्षं परिगृह्णाति । तथा किल यः श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः क्षयोपशमविजृम्भित-श्रुतज्ञानात्मकविकल्पप्रत्युद्गमनेपि [1]परपरिग्रहप्रतिनिवृत्तौत्सुक्यतया स्वरूपमेव केवलं जानाति न तु

सति पुनर्विशेषेण कथयति;—योसौ नयपक्षपातरहितः स्वसंवेदनज्ञानी तस्याभिप्रायेण बद्धाबद्धमूढामूढादिनयविकल्परहितं चिदानंदैकस्वभावं । **दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ** यथा भगवान् केवली निश्चयव्यवहाराभ्यां द्वाभ्यां भणितमर्थं द्रव्यपर्यायरूपं जानाति । **णवरं तु समयपरिबद्धो** तथापि नवरि केवल सहजपरमानंदैकस्वभावस्य समयस्य प्रतिबद्ध

उछलता हुआ इन नयों के प्रवर्तनरूप इन्द्रजाल, उस सब को तत्काल ही दूर करता है ।

भावार्थ—चैतन्य का अनुभव ऐसा है कि इसके होने से समस्त नयों का विकल्परूप इन्द्रजाल उसी समय विलय हो जाता है ॥ ६१ ॥

आगे पूछते हैं कि जो पक्ष से दूरवर्ती है उसका क्या स्वरूप है ? उसका उत्तर रूप गाथा कहते हैं,—जो पुरुष **[समयप्रतिबद्धः]** अपने शुद्धात्मा से प्रतिबद्ध है आत्मा को जानता है वह **[द्वयोरपि]** दोनों ही **[नययोः]** नयों के **[भणितं]** कथन को **[केवलं]** केवल **[जानाति तु]** जानता ही है **[तु]** परंतु **[नयपक्षं]** नयपक्ष को **[किंचिदपि]** कुछ भी **[न गृह्णाति]** नहीं गहण करता क्योंकि वह **[नयपक्षपरिहीनः]** नयके पक्ष से रहित है ।

टीका—जैसे केवली भगवान सर्वज्ञ वीतराग समस्त वस्तुओं के साक्षीभूत है, ज्ञाता द्रष्टा हैं । सो श्रुतज्ञान के अवयवभूत जो व्यवहार निश्चय नयके पक्षरूप दो नय उनके केवल स्वरूप को जानते ही हैं परंतु किसी भी नयके पक्ष को नहीं ग्रहण करते । क्योंकि केवली भगवान निरंतर उदय रूप स्वाभाविक निर्मल केवल ज्ञान स्वभाव है इसलिये नित्य ही स्वयमेव विज्ञान घन स्वरूप हैं । इसीलिये श्रुतज्ञान की भूमिका से अतिक्रांत होने के कारण समस्त नयपक्षों के परिग्रह से दूरवर्ती हैं । उसी प्रकार जो मति श्रुतज्ञानी है, वह भी श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहार निश्चय रूप दोनों नयों के पक्ष के स्वरूप को केवल जानता है क्योंकि इसके क्षायोपशमिक ज्ञान है, उससे उत्पन्न श्रुतज्ञान स्वरूप विकल्पों की पुनः

---

१. पर परिग्रहं प्रति, पर परिग्रह परि, इत्यपि पाठौ ।

खरतरदृष्टिगृहीतसुनिस्तुषनित्योदितचिन्मयसमयप्रतिबद्धतया तदात्वे स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वात् श्रुतज्ञानात्मकसमस्तांतर्बहिर्जल्परूपविकल्पभूमिकातिक्रांततया समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्कंचनापि नयपक्षं परिगृह्णाति स खलु निखिलविकल्पेभ्यः परतरः परमात्मा ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योतिरात्मख्यातिरूपोनुभूतिमात्रः समयसारः ॥ १४३ ॥

चित्स्वभावभर[1]भावितभावाऽभावभावपरमार्थतयैकं ।
बंधपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारं ॥ ९२ ॥

आधीनः सन् **णयपक्खपरिहीणो** सततसमुल्लसन् केवलज्ञानरूपतया श्रुताज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितविकल्पजालरूपान्नयद्वयपक्षपाताद्दूरीभूतत्वात् **ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि** न तु नयपक्षं विकल्पं किमप्यात्मरूपतया गृह्णाति तथाप गणधरदेवादिछद्मस्थजनोपि नयद्वयोक्तं वस्तुस्वरूप जानाति तथापि नवरि केवलं चिदानंदैक-

---

उत्पत्ति होने पर भी ज्ञेयों के ग्रहण करने में उत्सुकता की निवृत्ति है। इस कारण नयों के स्वरूप का ज्ञाता ही है, वह किसी भी नय पक्ष को नहीं ग्रहण करता क्योंकि तीक्ष्ण ज्ञान दृष्टि से ग्रहण किया जिसका निर्मल नित्य उदय ऐसा चैतन्य स्वरूप अपना शुद्धात्मा उससे इसके प्रतिबद्धता है, उससे उस स्वरूप का अनुभव करने के समय स्वयमेव केवली की तरह विज्ञानघन रूप हुआ है। इसी से श्रुतज्ञान स्वरूप जो समस्त अंतरंग और बाह्य अक्षर स्वरूप विकल्प, उसकी भूमिका से अतिक्रांत होने से केवली की तरह समस्त नय पक्ष के ग्रहण से दूरीभूत है। ऐसा मतिश्रुतज्ञानी भी निश्चय से समस्त विकल्पों से दूरवर्ती परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप अनुभूति मात्र समयसार है।

भावार्थ—जैसे केवली भगवान् सदा नय पक्षों के ज्ञाता और द्रष्टा हैं, वैसे श्रुतज्ञानी भी जिस समय समस्त नय पक्षों से रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भाव का अनुभव करता है, तब नय पक्ष का ज्ञाता ही है। एक नय का सर्वथा पक्ष ग्रहण करे तो मिथ्यात्व से मिला हुआ पक्ष का राग हो। तथा प्रयोजन के वश से एक नय को प्रधान कर ग्रहण करे तो मिथ्यात्व के विना चारित्र मोह के पक्ष से राग रहे और जब नय पक्ष को छोड़ वस्तु स्वरूप को केवल जानता ही हो, तब उस काल श्रुतज्ञानी भी केवली की तरह वीतराग के समान ही होता है॥ १४३॥

इस अर्थ को मन में धारण कर तत्त्व वेदी ऐसा अनुभव करता है, ऐसे अर्थ रूप कहते हैं— **चित्स्वभाव** इत्यादि। **अर्थ**—मैं तत्व का जानने वाला परमात्मा का अनुभव करता हूं। जो समयसाररूप परमात्मा, चैतन्य स्वभाव के पुंज से भावित भाव अभावस्वरूप एक भाव रूप परमार्थ रूप से एक है, परमार्थ से विधि प्रतिषेध का विकल्प जिसमें नहीं है। पहले क्या करके अनुभव करता हूं? समस्त बंध की परिपाटी को दूर करके।

भावार्थ—परद्रव्य के कर्ताकर्मभाव से बंध की परिपाटी चल रही थी, उसको पहले दूरकर समयसार का अनुभव करता हूं, जो कि अपार है अर्थात् जिसके केवल ज्ञानादि गुण का पार नहीं है॥९२॥

---

१. "भर" स्थाने "पर" इत्यपि पाठः।

पक्षातिक्रांत एव समयसार इत्यवतिष्ठते;—

सम्मद्दंसणणाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥ १४४ ॥

सम्यग्दर्शनज्ञानमेतल्लभत इति केवलं व्यपदेशं।
सर्वनयपक्षरहितो भणितो यः स समयसारः ॥ १४४ ॥

अयमेक एव केवलं सम्यग्दर्शनज्ञानव्यपदेशं किल लभते[1]। यः खल्वखिलनयपक्षाक्षुण्णतया विश्रांतसमस्तविकल्पव्यापारः स समयसारः। यतः प्रथमतः श्रुतज्ञानावष्टंभेन ज्ञानस्वभावमात्मानं निश्चित्य ततः खल्वात्मख्यातये परख्यातिहेतूनखिला एवेंद्रियानिन्द्रियबुद्धीरवधीर्य आत्माभिमुखीकृतमतिज्ञानतत्त्वः, तथा नानाविधनयपक्षालंबनेनानेकविकल्पैराकुलयंतीः श्रुतज्ञान-

स्वभावस्य समयस्य प्रतिबद्ध आधीनः सन् श्रुतज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितविकल्पजालरूपान्नयद्वयपक्षपातात् शुद्धनिश्चयेन दूरीभूतत्वान्नयपक्षपातरूपं स्वीकारं विकल्पं निर्विकल्पसमाधिकाले शुद्धात्मस्वरूपतया न गृह्णाति ॥ १४३ ॥ अथ शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन नयविकल्पस्वरूपसमस्तपक्षपातेनातिक्रांत एव समयसार इत्येव तिष्ठति **सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो** इन्द्रियानिंद्रियजनितबहिर्विषयसमस्तमतिज्ञानविकल्परहितः सन् बद्धाबद्धादिविकल्परूपनयपक्षपातरहितः[2] समयसारमनुभवन्नेव निर्विकल्पसमाधिस्थैः पुरुषैर्दृश्यते ज्ञायते च यत आत्मा ततः कारणात् **सम्मद्दंसणणाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं** नवरि केवलं सकलविमलकेवलदर्शनज्ञानरूपव्यपदेशं संज्ञां लभते। न च बद्धाबद्धादिव्यपदेशाविति। एवं निश्चयव्यवहारनयद्वयपक्षपातरहितशुद्धसमयसारव्याख्यानमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन नवमोंतराधिकारः समाप्तः। इत्यनेन प्रकारेण **जाव ण वेदि विसेसं** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा

यहां अब ऐसा नियम से सिद्ध करते हैं कि पक्ष से दूरवर्ती ही समयसार है,—**[यः]** जो **[सर्वनयपक्षरहितः]** सब नय पक्षों से रहित है **[सः]** वही **[समयसारः]** समयसार ऐसा **[भणितः]** कहा है। **[एषः]** यह समयसार ही **[केवलं]** केवल **[सम्यग्दर्शनज्ञानं]** सम्यग्दर्शन ज्ञान **[इति]** ऐसे **[व्यपदेशं]** नाम को **[लभते]** पाता है। (उसी के नाम हैं, वस्तु दो नहीं हैं)।

टीका—जो निश्चय से समस्त नय पक्ष से भेदरूप न किया जाय, ऐसे चिन्मात्र भाव से जिसमें समस्त विकल्पों के व्यापार विलय हो गए हैं ऐसा समयसार शुद्ध स्वरूप है सो यही एक केवल सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान ऐसे नाम को पाता है। ये परमार्थ से एक ही हैं, क्योंकि आत्मा, प्रथम तो श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञान स्वभाव आत्मा का निश्चय कर, पीछे निश्चय से आत्मा की प्रकट प्रसिद्धि होने के लिए आत्मा से पर पदार्थ के प्रकट होने का कारण जो इन्द्रिय और मन के द्वारा प्रवृत्ति रूप बुद्धि उसको गौण कर जिसने मतिज्ञान का स्वरूप आत्मा के सन्मुख किया है ऐसा होता है। और उसी प्रकार नाना प्रकार के नयों के पक्षों को अवलम्बन कर अनेक विकल्पों से आकुलता उत्पन्न कराने वाली श्रुतज्ञान की बुद्धि को भी गौण कर तथा श्रुतज्ञान को भी आत्म तत्व के स्वरूप में सन्मुख करता हुआ अत्यन्त

१. लभेत—इत्यपि पाठः। २. रहितं—इत्यपि पाठः।

बुद्धीरप्यवधीर्य श्रुतज्ञानतत्त्वमप्यात्माभिमुखीकुर्वन्नत्यंतमविकल्पो भूत्वा झगित्येव स्वरसत एव व्यक्तीभवंतमादिमध्यांतविमुक्तमनाकुलमेकं केवलमखिलस्यापि विश्वस्योपरि तरंतमिवाखंडप्रतिभासमयमनंतं विज्ञानघनं परमात्मानं समयसारं विंदन्नेवात्मा सम्यग्दृश्यते ज्ञायते च ततः सम्यग्दर्शनं ज्ञानं च समयसार एव ।। १४४ ।।

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना,
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयं ।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्,
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोप्ययं ।। ९३ ।।
दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो,
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात् ।

पाठक्रमेणाज्ञानिसज्ञानिजीवयो सक्षेपसूचनार्थं गाथाषट्क । तदनतरमज्ञानिसज्ञानिजीवयोर्विशेषव्याख्यानरूपेणैकादश गाथा । ततश्चेतनाचेतनकार्ययोरेकोपादानकर्तृत्वलक्षणद्विक्रियावादिनिराकरणमुख्यत्वेन गाथापचविंशति । तदनतरं

निर्विकल्परूप होकर तत्काल अपने निज रस से ही प्रकट हुआ आदि, मध्य और अन्त के भेद से रहित अनाकुल एक (केवल) समस्त पदार्थ समूहरूप लोक के ऊपर तैरता जैसा हो, उस तरह अखड प्रतिभासमय, अविनाशी, अनतविज्ञान घनस्वरूप, परमात्मारूप समयसार का ही अनुभव करता सम्यक् प्रकार देखा जाता है, श्रद्धान किया जाता है, सम्यक् प्रकार जाना जाता है । इसलिये यही सम्यग्दर्शन है, यही सम्यग्ज्ञान है, ऐसा यही समयसार है ।

भावार्थ—आत्मा को पहले आगम ज्ञान से ज्ञान स्वरूप निश्चय कर पीछे इन्द्रियबुद्धिरूप मतिज्ञान को भी ज्ञानमात्र मे ही मिलाके श्रुतज्ञान रूप नयो के विकल्प मेट श्रुत ज्ञान को भी निर्विकल्प कर एक ज्ञानमात्र अखड प्रतिभास का अनुभव करना यही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान नाम पाता है, कुछ पृथक् नही है ।। १४४ ।।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**आक्रामन्** इत्यादि । **अर्थ**—जो नयो के पक्ष विना निर्विकल्प भाव को प्राप्त हुआ निश्चय जैसा हो उस प्रकार समय (आगम, आत्मा) का सार सुशोभित होता है, जो निश्चित पुरुषो द्वारा स्वय आस्वाद्यमान है अर्थात् उन्होने अनुभव से जान लिया है वही यह भगवान्, जिसका विज्ञान ही एक रस है ऐसा पवित्र पुराण पुरुष है । इसको ज्ञान कहो अथवा दर्शन कहो अथवा कुछ अन्य नाम से कहो, जो कुछ है सो यह एक ही है, अनेक नामो से कहा जाता है ।।९३।।

अब कहते हैं कि यह आत्मा ज्ञान से च्युत हुआ था सो ज्ञान से ही आ मिलता है—**दूरं** इत्यादि । **अर्थ**—यह आत्मा अपने विज्ञानघन स्वभाव से च्युत हुआ बहुत विकल्पो के जाल के गहन वन में अत्यत

विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हरन्,
आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ।। ९४ ।।
विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलं ।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ।। ९५ ।।
यः करोति स करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलं ।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ।। ९६ ।।
ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽतः ।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ।।९७।।

प्रत्यया एव कर्म कुर्वंतीति समर्थनद्वारेण सूत्रसप्तकं । ततश्च जीवपुद्गलकथंचित्परिणामित्वस्थापनमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं । ततः परं ज्ञानमयाज्ञानमयपरिणामकथनमुख्यतया गाथानवकं । तदनंतरमज्ञानमयभावस्य मिथ्यात्वादिपंचप्रत्ययभेद-

---

भ्रमण करता था, उस भ्रमते हुए को विवेकरूप नीचे मार्ग में गमनकर जल की भांति अपने आप अपने विज्ञानघन स्वभाव से दूर से आ मिला । कैसा है वह ? जो विज्ञान के रस के ही रसीले है उनको एक विज्ञान रूप स्वरूप ही है । ऐसा आत्मा अपने आत्मस्वभाव को अपने में ही समेटता जैसे बाह्य गया था उसी तरह अपने स्वभाव में आकर प्राप्त होता है ।

भावार्थ—जैसे जल, जल के निवास में से किसी मार्ग से बाहर निकले तो वह वन में अनेक जगह भ्रमता है, फिर कोई नीचे मार्ग से जैसा का तैसा अपने जल के निवास मे आ मिलता है । उसी प्रकार आत्मा भी अनेक विकल्पों के मार्ग द्वारा स्वभाव मे च्युत हुआ भ्रमण करता कोई भेद ज्ञान रूप (विवेक) नीचे मार्ग से अपने आप अपने को खींचता हुआ अपने स्वभाव रूप विज्ञानघन में आ मिलता है ।। ९४ ।।

अब कर्ता कर्म अधिकार को पूर्ण करते हैं सो कर्ता कर्म के संक्षेप अर्थ के कलश रूप श्लोक कहते है—**विकल्पकः** इत्यादि । **अर्थ**—विकल्प करने वाला ही केवल कर्ता है और विकल्प केवल कर्म है, अन्य कुछ कर्ता कर्म नहीं है । इस कारण जो विकल्प सहित है, उसका कर्ता कर्मत्व कभी नष्ट नही होता ।

भावार्थ—जहां तक विकल्प भाव है, वहां तक कर्ता कर्मभाव है । जिस समय विकल्प का अभाव होता है उस समय कर्ता कर्मभाव का भी अभाव हो जाता है ।। ९५ ।।

अब कहते हैं कि जो करता है वह करता ही है, जो जानता है वह जानता ही है—**यः करोति**—इत्यादि । **अर्थ**—जो करता है वह केवल करता ही है और जो जानता है वह केवल जानता ही है । जो करता है, वह कुछ जानता ही नहीं है और जो जानता है, वह कुछ भी नहीं करता है ।। ९६ ।।

इसी प्रकार करने रूप क्रिया और जानने रूप क्रिया ये दोनों भिन्न हैं—**ज्ञप्तिः** इत्यादि । **अर्थ**—जानने रूप क्रिया करने रूप क्रिया के अन्दर नही प्रतिभासित होती और करने रूप क्रिया जानने रूप

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि,
द्वंद्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः ।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति,
नेंपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किं ॥९८॥

प्रतिपादनरूपेण गाथापंचकं । ततश्च जीवपुद्गलयो. परस्परोपादानकर्तृत्वनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रयं । तत परं नयपक्षपातरहितशुद्धसमयसारकथनरूपेण गाथाचतुष्टयं चेति समुदायेनाष्टाधिकसप्ततिगाथाभिर्नवभिरंतराधिकारै. ॥ १४४ ॥

क्रिया के अंतरंग में नहीं प्रतिभासित होती इसलिये ज्ञप्ति क्रिया और करोति क्रिया दोनों भिन्न हैं। इस कारण यह सिद्ध हुआ कि जो ज्ञाता है, वह कर्ता नहीं है।

भावार्थ—जिस समय ऐसा परिणमन करता है कि मैं परद्रव्य को करता हूं, उस समय तो उस परिणमन क्रिया का कर्ता ही है तथा जिस समय ऐसा परिणमन करता है कि मैं परद्रव्य को जानता हूं उस समय उस जानने क्रिया रूप ज्ञाता ही है। यहां कोई पूछे कि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के जब तक चारित्र मोह का उदय है तब तक कषायरूप परिणमन होता है, वहां कर्ता कहें या नही ? उसका समाधान—जो अविरतसम्यग्दृष्टि आदि के श्रद्धान ज्ञानमय परद्रव्य के स्वामित्वरूप कर्तृत्वका अभिप्राय नहीं है परंतु उदय की जबरदस्ती से कषाय रूप परिणमन है, उसका यह ज्ञाता है इसलिये अज्ञान सम्बन्धी कर्तृत्व इसके नहीं है परन्तु निमित्त की जबरदस्ती के परिणमन का फल कुछ होता है वह संसार का कारण नही है। जैसे वृक्ष जड़ कटने के बाद किंचित् समय तक रहता है या नही भी रहता उसी प्रकार यहां भी जानना।

अब इसी को पुष्ट करते हैं—**कर्ता** इत्यादि। **अर्थ**—कर्ता तो कर्म में निश्चय से नही है और कर्म भी कर्ता में निश्चय से नही है। इस प्रकार दोनों का ही परस्पर विशेष से निषेध किया जाय तब कर्ता कर्म की क्या स्थिति हो सकती है ? नहीं हो सकती। तब वस्तु की मर्यादा व्यक्त रूप यह सिद्ध हुई कि ज्ञाता तो सदा ज्ञान में ही है और कर्म है वह सदा कर्म में ही है। तो भी यह मोह (अज्ञान) नेपथ्य में क्यों नाचता है ? यह बड़ा खेद है। नेपथ्य अर्थात् शांत ललित उदात्त धीर इन चार आचरणों सहित जो यह तत्त्वों का नृत्य उसमें यह मोह कैसे नाचता है ? कर्ता कर्म भाव तो नेपथ्यस्वरूप नृत्य का आभूषण नहीं है इस प्रकार खेदसहित वचन आचार्य ने कहा है।

भावार्थ— कर्म तो पुद्गल है, उसका कर्ता जीव को कहा जाय तो उन दोनों में तो बड़ा भेद है, जीव तो पुद्गल में नहीं है और पुद्गल जीव में नहीं है, तब इन दोनों के कर्ता-कर्म भाव कैसे बन सकता है ? इससे जीव तो ज्ञाता है सो ज्ञाता ही है, पुद्गल का कर्ता नहीं है। और पुद्गलकर्म है, वह कर्म ही है। वहां आचार्य ने खेद के साथ कहा है कि ऐसे प्रकट भिन्न द्रव्य हैं तो भी अज्ञानी का यह मोह कैसे नाचता है ? कि 'मैं तो कर्ता हूं और यह पुद्गल मेरा कर्म है' यह बड़ा अज्ञान है ॥९८॥

अथवा नानट्यतां तथापि ।

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोपि ।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमंतस्तथोच्चैश्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यंतगंभीरमेतत् ॥९९॥

इति जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रांतौ ॥

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ
कर्तृकर्मप्ररूपको द्वितीयोऽकः ॥२॥

इति श्री**जयसेनाचार्य**कृतायां समयसारव्याख्याया शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ
पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां संबंधी पीठिकारूपस्तृतीयो महाधिकारः समाप्तः ॥२॥

फिर भी कहते हैं कि इस तरह मोह नाचे तो नाचो परंतु वस्तु का स्वरूप तो जैसा है वैसा ही रहता है—**कर्ता कर्ता** इत्यादि । **अर्थ**—यह ज्ञानज्योति अंतरंग में अतिशय से अपनी चैतन्यशक्ति के समूह के भार से अत्यंत गंभीर, जिसका थाह नहीं, इस प्रकार निश्चल व्यक्तरूप (प्रकट) हुआ तब पहले जैसे अज्ञान में आत्मा कर्ता था उस प्रकार अब कर्ता नहीं होता और इसके अज्ञान से जो पुद्गल कर्मरूप होता था, वह भी अब कर्मरूप नही होता किंतु ज्ञान तो ज्ञानरूप ही हुआ और पुद्गल पुद्गलरूप रहा, ऐसे प्रकट हुआ ।

भावार्थ—जब आत्मा ज्ञानी होता है तब ज्ञान तो ज्ञानरूप ही परिणमन करता है, पुद्गल कर्म का कर्ता नही बनता और पुद्गल पुद्गलरूप ही रहता है, कर्मरूप नहीं परिणमन करता । इस प्रकार आत्मा के यथार्थ ज्ञान होने से दोनों द्रव्यों के परिणामों में निमित्तनैमित्तक भाव नहीं होता, ऐसा सम्यग्दृष्टि के ज्ञान होता है ॥ ९९ ॥

इस प्रकार जीव और अजीव दोनों ने कर्ता कर्म के वेष मे एक होकर नृत्य के अखाड़े में प्रवेश किया था सो यथार्थ देखने वाले सम्यग्दृष्टि के ज्ञान ने दोनों पृथक् पृथक् लक्षण से दो जान लिये तब वे वेश दूरकर रंग भूमि से बाहर निकल गये । क्योंकि बहुरूपिया के वेशकी यही प्रवृत्ति है कि देखने वाला जब तक नही पहचानता तब तक चेष्टा करता रहता है और जब यथार्थ पहचान ले तब वह निजरूप प्रगट कर चेष्टा नहीं करता, वैसा ही रहता है उसी भांति यहां भी जानना ।

सवैया—जीव अनादि अज्ञान वसाय विकार उपाय वणै करता सो, ताकरि बंधन आन तणूं फल ले सुख दुःख भवाश्रमवासो । ज्ञान भये करता न वने तब बंधन होय खुलै पर पासो, आतममांहि सदा सुविलास करै सिव पाय रहे निति थासो ॥१॥" इस अधिकार की ७६ गाथा और कलसा ५५ तथा पहले अधिकार की गाथा ६८ और कलसा ४५ सब मिलकर गाथा १४४ और कलसा ९९ हुए ॥

इस प्रकार **पं० जयचंद्रजीकृत** इस समयसार ग्रंथ की आत्मख्याति नामा टीका की भाषा टीका में **कर्ता कर्म** नामा **दूसरा अधिकार पूर्ण** हुआ ॥२॥

अथ पुण्यपापाधिकारः ॥ ३ ॥

अथैकमेव कर्म द्विपात्रीभूय पुण्यपापरूपेण प्रविशति—

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो, द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन्।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं, स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥ १०० ॥

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमानादन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः शूद्रौ साक्षादथ[1] च चरतो जातिभेदभ्रमेण॥ १०१ ॥

तत्रैवं सति जीवाजीवाधिकाररंगभूमौ नृत्यानंतरं शृङ्गारपात्रयोः परस्परपृथग्भाववत् शुद्धनिश्चयेन जीवाजीवौ

दोहा—पुण्यपाप दोऊ करम, बंधरूप दुर मानि।
शुद्ध आतमा जिन लह्यो, नमूं चरन हित जानि॥

अब टीकाकार के वचन कहते हैं—कर्म एक प्रकार ही है वह पुण्य पाप दो रूपों से प्रवेश करता है। जैसे नृत्य के अखाड़े में एक ही पुरुष अपने दो रूप दिखला कर नाच करे, उसको यथार्थज्ञानी पहचाने तब एक ही जानता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का ज्ञान यथार्थ है। यद्यपि कर्म एक ही है वही पुण्यपाप भेद से दो भेदरूप नाचता है, उसको ज्ञान एक रूप पहचान लेता है उसी ज्ञान की महिमा रूप इस अधिकार के आदि में काव्य कहते हैं—**तदथ** इत्यादि। **अर्थ**—कर्ता कर्म अधिकार के बाद यह प्रत्यक्ष अनुभव गोचर सम्यग्ज्ञान रूप चन्द्रमा स्वयं उदय को प्राप्त होता है। वह ज्ञान, शुभ अशुभ के भेद से द्विरूपता को प्राप्त हुए कर्म के एकत्व को प्राप्त करता हुआ उदय होता है।

भावार्थ—अज्ञान से कर्म एक भी दो प्रकार से दीखता था, उसे ज्ञान ने एक प्रकार दिखला दिया। जिस ज्ञान ने अतिशय मोहमयी रज दूर कर दी है अर्थात् ज्ञान में मोहरूपी रज लगी हुई थी, वह दूर कर दी तब यथार्थ ज्ञान हुआ। जैसे चन्द्रमा के सामने बादल अथवा पाले का समूह आ जाय तब यथार्थ प्रकाश नही होता, आवरण दूर होनेपर यथार्थ प्रकाश होता है, उसी भांति यहां भी जानना॥१००॥

आगे पुण्यपाप के स्वरूप का दृष्टांत रूप काव्य कहते हैं—**एको दूरात्** इत्यादि। **अर्थ**—किसी शूद्री स्त्री के उदर से एक ही समय दो पुत्र पैदा हुए। उनमें से एक तो ब्राह्मण के घर पला, उसके ब्राह्मणत्व का अभिमान हुआ कि मै ब्राह्मण हूं, उस अभिमान से मद्य को दूर से ही छोड़ देता है, छूता भी नहीं है। तथा दूसरा पुत्र उस शूद्र के घर ही रहा इसलिये 'मै शूद्र हूं' ऐसा मान कर उस मदिरा से नित्य स्नान करता है, उसे शुद्ध मानता है। जब इसका परमार्थ विचारा जाय तब दोनों ही शूद्री के पुत्र हैं क्योंकि दोनों ही शूद्री के उदर से जन्मे हैं, इस कारण साक्षात् शूद्र हैं। वे जातिभेद के भ्रम से आचरण करते हैं। इसी प्रकार पुण्य पाप कर्म जानना। विभाव परिणति से उत्पन्न हुए हैं इसलिये दोनों ही बंधरूप हैं, प्रवृत्ति के भेद से दो दीखते हैं परमार्थ दृष्टि कर्म को एक ही जानती है॥ १०१॥

१. 'साक्षादपि' इत्यपि पाठः।

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥ १४५ ॥

कर्माशुभं कुशीलं शुभकर्म चापि जानीत सुशीलं ।
कथं तद् भवति सुशीलं यत्संसारं प्रवेशयति ॥ १४५ ॥

शुभाशुभजीवपरिणामनिमित्तत्वे सति कारणभेदात् शुभाशुभपुद्गलपरिणाममयत्वे सति स्वभावभेदात् शुभाशुभफलपाकत्वे सत्यनुभवभेदात् शुभाशुभमोक्षबंधमार्गाश्रितत्वे सत्याश्रयभेदात् चैकमपि कर्म किंचिच्छुभं किंचिदशुभमिति केषांचित्किल पक्षः, स तु सप्रतिपक्षः । तथाहि—

कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रान्ताविति । अथानंतरं निश्चयेनैकमपि पुद्गलकर्म व्यवहारेण द्विपदीभूतपुण्यपापरूपेण प्रविशति । **कम्ममसुहं कुसीलं** इत्यादि गाथामादिं कृत्वा क्रमेणैकोनविंशतिसूत्रपर्यंत पुण्यपापव्याख्यान करोति । तत्र यद्यपि पुण्यपापयोर्व्यवहारेण भेदोऽस्ति तथापि निश्चयेन नास्ति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रपट्कं तदनतरमध्यात्मभाषया शुद्धात्मभावनां विना आगमभाषया तु वीतरागसम्यक्त्वं विना व्रतदानादिक पुण्यबधकारणमेव न च मुक्तिकारणं । सम्यक्त्वसहितं पुनः परंपरया मुक्तिकारणं च भवति इति मुख्यतया **परमट्ठो खलु,** इत्यादिसूत्रचतुष्टयं । ततः परं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यत्वेन **जीवादीसद्दहणं,** इत्यादिगाथानवम कथयतीति पुण्यपापपदार्थाधिकारसमुदाय-पातनिका । तद्यथा—ब्राह्मण्याः पुत्रद्वयं जातं तत्रैक उपनयनवशाद्ब्राह्मणो जातः द्वितीय. पुनरुपनयनाभावाच्छूद्र इति । तथैकमपि निश्चयनयेन पुद्गलकर्म शुभाशुभजीवपरिणामनिमित्तेन व्यवहारेण द्विधा भवतीति कथयतिः—**कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं** कर्माशुभं कुत्सितं कुशीलं हेयमिति । शुभकर्म सुशीलं शोभनमुपादेयमिति केषांचिद् व्यवहारिणा पक्ष· सन् निश्चयरूपेण पक्षांतरेण बाध्यते । **किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि** निश्चयवादी ब्रूते कथं तत्पुण्यकर्म सुशीलं शोभनं भवति ? यज्जीवं संसारे प्रवेशयति । हेतुस्वभावानुभवबंधरूपाश्रयाणां निश्चयेनाभेदान् कर्मभेदो नास्तीति । तथाहि हेतुस्तावत्कथ्यते, शुभाशुभपरिणामो हेतु. । स च शुद्धनिश्चयेनाशुभत्वं प्रति

आगे शुभाशुभ कर्म के स्वभाव का वर्णन करते हैं:—**[अशुभं कर्म]** अशुभ कर्म तो **[कुशीलं]** पाप स्वभाव है **[अपि च]** और **[शुभकर्म]** शुभकर्म **[सुशीलं]** पुण्य स्वभाव है ऐसा जगत् **[जानाति]** जानता है । परन्तु परमार्थदृष्टि से कहते हैं कि **[यत्]** जो **[संसारं]** प्राणी को संसार में ही **[प्रवेशयति]** प्रवेश कराता है **[तत्]** वह कर्म **[सुशीलं]** शुभ अच्छा **[कथं]** कैसे **[भवति]** हो सकता है ?

टीका—कितने एक लोकों का ऐसा पक्ष है कि कर्म एक तो है परंतु शुभ-अशुभ के भेद से दो भेद रूप है क्योंकि शुभ और अशुभ जो जीव के परिणाम है, वे उसको निमित्त है, उस रूप से कारण के भेद से भेद है, शुभ और अशुभ पुद्गल परिणाममय होने से स्वभाव के भेद से भेद है, अथवा कर्म का जो शुभ-अशुभ फल, उसके रसास्वाद के भेद से भेद है, तथा शुभ-अशुभ मोक्ष तथा बंध के मार्ग की आश्रितता होने पर आश्रय के भेद से भेद है । इस प्रकार इन चारों हेतुओं से कोई कर्म शुभ है, कोई कर्म अशुभ है, ऐसा किसी का पक्ष है । उसका निषेध करनेवाला दूसरा पक्ष है । यही कहते हैं—जो

शुभोऽशुभो वा जीवपरिणामः केवलाज्ञानमयत्वादेकस्तदेकत्वे सति कारणाभेदात् एकं कर्म। शुभोऽशुभो वा पुद्गलपरिणामः केवलपुद्गलमयत्वादेकस्तदेकत्वे सति स्वभावाभेदादेकं कर्म। शुभोऽशुभो वा फलपाकः केवलपुद्गलमयत्वादेकस्तदेकत्वे सत्यनुभवाभेदादेकं कर्म। शुभाशुभौ मोक्षबंधमार्गौ तु प्रत्येकं केवलजीवपुद्गलमयत्वादनेकौ तदनेकत्वे सत्यपि केवलपुद्गलमयबंधमार्गाश्रितत्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म॥ १४५ ॥

एक एव द्रव्यं पुण्यपापरूपं पुद्गलद्रव्यस्वभावः। सोऽपि निश्चयेन पुद्गलद्रव्यं प्रति, एक एव तत्फलं सुखदुःखरूपं स च फलरूपानुभवः। सोप्यात्मोत्थनिर्विकारसुखानंदापेक्षया दुःखरूपेणैक एव आश्रयस्तु शुभाशुभबंधरूपः। सोऽपिबंधं प्रत्येक एव इति हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदात्। यद्यपि व्यवहारेण भेदोऽस्ति तथापि निश्चयेन शुभाशुभकर्मभेदो

शुभ अथवा अशुभ जीवका परिणाम है, वह केवल अज्ञान से एक ही है, उसके एक होने पर कारण का अभेद है इसलिये कर्म एक ही है। तथा शुभ अथवा अशुभ पुद्गल का परिणाम केवल पुद्गलमय है, इसलिये एक ही है। उसके एक होनेपर स्वभाव के अभेद से भी कर्म एक ही है। शुभ अथवा अशुभ कर्म के फल का रस केवल पुद्गलमय ही है, उसके एक होने पर आस्वाद के अभेद से भी कर्म एक ही है। शुभ अथवा अशुभ मोक्ष का और बंध का मार्ग ये दोनों पृथक् हैं, केवल जीवमय तो मोक्ष का मार्ग है और केवल पुद्गलमय बंधका मार्ग है। वे अनेक हैं, एक नहीं हैं, उनके एक न होने पर भी केवल पुद्गलमय बंधमार्ग की आश्रितता के कारण आश्रय के अभेद से कर्म एक ही है।

भावार्थ—कर्म में शुभ-अशुभ के भेद का पक्ष चार हेतुओं से कहा है, उसमें शुभका हेतु तो जीव का शुभ परिणाम है, वह अरहंतादि में भक्ति का अनुराग, जीवों में अनुकंपा परिणाम, और मंदकषाय से चित्त की उज्जवलता इत्यादि हैं। तथा अशुभ का हेतु जीव के अशुभ परिणाम; तीव्र क्रोधादिक, अशुभ लेश्या, निर्दयता, विषयासक्तता, देव गुरु आदि पूज्य पुरुषों में अविनय रूप प्रवृत्ति इत्यादिक है। इसलिये इन हेतुओं के भेद से कर्म शुभाशुभ रूप दो प्रकार के हैं। और शुभ अशुभ पुद्गल के परिणाम के भेद से स्वभाव का भेद है, शुभ द्रव्य कर्म तो सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र हैं तथा अशुभ चार घातियाकर्म, असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, अशुभ गोत्र ये हैं। इनके उदय से प्राणी को इष्ट-अनिष्ट सामग्री मिलती है, ये पुद्गल के स्वभाव हैं। इनके भेद से कर्म में स्वभाव का भेद है। शुभ अशुभ अनुभव के भेद से भेद है—शुभ का अनुभव तो सुखरूप स्वाद है और अशुभ का दुःखरूप स्वाद है। शुभाशुभ आश्रय के भेद से भेद है—शुभ का तो आश्रय मोक्षमार्ग है और अशुभ का आश्रय बंधमार्ग है। ऐसा तो भेद पक्ष है। अब इस भेद का निषेधपक्ष कहते हैं—शुभ और अशुभ दोनों जीव के परिणाम अज्ञानमय हैं इसलिये दोनों का एक अज्ञान ही कारण है इसलिये हेतु के भेद से कर्म में भेद नहीं है। शुभ-अशुभ ये दोनों पुद्गल के परिणाम हैं इसलिये पुद्गल परिणामरूप स्वभाव भी दोनों का एक ही है, इस कारण स्वभाव के अभेद से भी कर्म एक ही है। शुभाशुभ फल सुखदुःखरूप स्वाद भी पुद्गलमय ही है इसलिये स्वाद के अभेद से भी कर्म एक ही है। शुभ-अशुभ मोक्ष-बंधमार्ग कहे हैं वहां भी मोक्ष-मार्ग तो केवल जीव का ही परिणाम है और बंधमार्ग केवल एक पुद्गल का ही परि-

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदान्न हि कर्मभेदः ।
तद्बंधमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बंधहेतुः ।।१०२।।

अथोभयं कर्माविशेषेण बंधहेतुं साधयति—

सोवणियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ।।१४६।।

सौवर्णिकमपि निगलं बध्नाति कालायसमपि च यथा पुरुषं ।
बध्नात्येवं जीवं शुभमशुभं वा कृतं कर्म ।।१४६।।

शुभमशुभं च कर्माविशेषेणैव पुरुषं बध्नाति बंधत्वाविशेषात् कांचनकालायसनिगलवत् ।। १४६ ।।

नास्ति इति व्यवहारवादिना पक्षो बाध्यत एव ।।१४५।। अथोभय कर्म, अविशेषेण बंधकारण साधयति,—यथा सुवर्णनिगल लोहनिगलं च अविशेषेण पुरुषं बध्नाति तथा शुभमशुभं वा कृतं कर्म अविशेषेण जीवं बध्नातीति । किंच । भोगाकांक्षानिदानरूपेण रूपलावण्यसौभाग्यकामदेवेन्द्राहमिंद्रख्यातिपूजालाभादिनिमित्त यो व्रततपश्चरणदानपूजादिकं करोति, स पुरुषः तक्रनिमित्त रत्नविक्रयवत्, भस्मनिमित्तं रत्नराशिदहनवत्, सूत्रनिमित्तं हारचूर्णवत्, कोद्रवक्षेत्रवृत्तिनिमित्तमगुरुवनच्छेदनवत् । वृथैव व्रतादिकं नाशयति । यस्तु शुद्धात्मभावनासाधनार्थं बहिरंगव्रततपश्चरणदानपूजादिकं करोति स परंपरया मोक्षं लभते इति भावार्थः ।। १४६ ।। अथोभयकर्माविशेषेण मोक्षमार्गविषये निषेधयति;—**तम्हादु कुसीलेहि य रायं मा काहि मा व संसग्गं** तस्मात् कारणात् कुशीलैः कुत्सितैः शुभाशुभकर्मभिः सह चित्त-

णाम है, आश्रय भिन्न भिन्न हैं इसलिये बंधमार्ग के आश्रय से भी कर्म एक ही है । इस प्रकार यहां कर्म के शुभाशुभ भेद के पक्ष को गौणकर निषेध किया क्योंकि यहां अभेद पक्ष प्रधान है, अतः अभेद पक्ष से देखा जाय तो कर्म एक ही है, दो नहीं है ।।१४५।। अब इसी अर्थ को लेकर कलशरूप काव्य कहते है—**हेतु** इत्यादि । **अर्थ**—हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय इन चारों के सदा काल ही अभेद से कर्म में भेद नहीं है, इसलिये बंध के मार्ग को आश्रयकर कर्म एक ही माना है क्योंकि शुभ रूप तथा अशुभरूप दोनों ही स्वयं निश्चय से बंध के ही कारण है ।।१०२।।

आगे शुभअशुभ दोनों कर्मों को ही अभेद द्वारा बंध के कारण साधते है—**[यथा]** जैसे **[कालायसं निगलं]** लोहे की बेडी **[पुरुषं बध्नाति]** पुरुष को बांधती है **[अपि]** और **[सौवर्णिकं]** सुवर्ण की **[अपि]** भी बांधती हैं **[एवं]** इसी प्रकार **[शुभं वा अशुभं]** शुभ तथा अशुभ **[कृतं कर्म]** किया हुआ कर्म **[जीवं]** जीव को **[बध्नाति]** बांधता ही है ।

टीका—शुभ और अशुभ कर्म अभेद रूप से आत्मा को बांधते ही है क्योंकि दोनों ही बंधरूप से विशेष रहित हैं । जैसे सुवर्ण की बेड़ी और लोहे की बेडी में बंध की अपेक्षा भेद नहीं है, उसी प्रकार कर्म में भी बंध अपेक्षा भेद नही है ।। १४६ ।।

अथोभयं कर्म प्रतिषेधयति—

तह्मा दु कुसीलेहिय रायं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साधीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ।। १४७ ।।

तस्मात्तु कुशीलाभ्यां रागं मा कुरुत मा वा संसर्गं ।
स्वाधीनो हि विनाशः कुशीलसंसर्गरागेण ।। १४७ ।।

कुशीलशुभाशुभकर्मभ्यां सह रागसंसर्गौ प्रतिषिद्धौ बंधहेतुत्वात् कुशीलमनोरमामनोरम-करेणुकुट्टिनीरागसंसर्गवत् ।। १४७ ।।

अथोभयं कर्म प्रतिषेध्यं स्वयं दृष्टांतेन समर्थयते—

जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च[1] ।। १४८ ।।
एमेव कम्मपयडी सीलसहावं च कुच्छिदं णाउं ।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरया ।। १४९ ।। (युग्मम्)

यथा नाम कोऽपि पुरुषः कुत्सितशीलं जनं विज्ञाय ।
वर्जयति तेन समकं संसर्गं रागकरणं च ।। १४८ ।।
एवमेव कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं च कुत्सितं ज्ञात्वा ।
वर्जयंति परिहरंति च तत्संसर्गं स्वभावरताः ।। १४९ ।।

गतरागं मा कुरु । बहिरंगवचनकायगतसंसर्गं च मा कुरु । कस्मात् ? इति चेत् । **साधीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण** कुशीलसंसर्गरागाभ्यां स्वाधीनो नियमेन विनाशः निर्विकल्पसमाधिविघातरूपः स्वार्थभ्रंशो हि स्फुटं भवति अथवा स्वाधीनस्यात्मसुखस्य विनाश इति ।। १४७ ।। अथोभयकर्म प्रति निषेधं स्वयमेव श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवा दृष्टांतदार्ष्टांताभ्यां समर्थयंति;—यथा नाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुषः कुत्सितशीलं जनं ज्ञात्वा **वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च** तेनसमकं सह बहिरंगवचनकायगतं संसर्गं मनोगतं रागं च वर्जयतीति दृष्टांतः । **एमेव कम्मपयडी सीलसहावं हि कुच्छिदं णादुं** एवमेव पूर्वोक्तदृष्टान्त-

---

आगे शुभ अशुभ दोनों ही कर्मों का निषेध करते हैं;—**[तस्मात्]** इसलिये **[कुशीलाभ्यां]** उन दोनों कुशीलों से **[रागं]** प्रीति **[मा कुरुत]** मत करो **[वा]** अथवा **[संसर्गं च]** संबंध भी **[मा]** मत करो **[हि]** क्योंकि **[कुशीलसंसर्गरागेण]** कुशील के संसर्ग से और राग से **[स्वाधीनो विनाशः]** अपनी स्वाधीनता का विनाश होता है ।

१, 'वा' इत्यपि पाठः ।

यथा खलु कुशलः कश्चिद्वनहस्ती स्वस्य बंधाय उपसर्प्पन्तीं चटुलमुखीं मनोरमाममनोरमां वा करेणुकुट्टिनीं तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तया सह रागसंसर्गौ प्रतिषेधयति। तथा किलात्माऽरागो ज्ञानी स्वस्य बंधाय उपसर्प्पंतीं मनोरमाममनोरमां वा सर्वामपि कर्मप्रकृतिं तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तया सह रागसंसर्गौ प्रतिषेधयति ॥ १४८ । १४६ ॥

न्यायेन कर्मणः प्रकृतिर्शीलं स्वभावं कुत्सितं हेय ज्ञात्वा **वज्जंति परिहरंति य तं संसग्गं सहावरदा** इह जगति वर्जयन्ति तत्संसर्गं वचनकायाभ्या परिहरन्ति मनसा रागं च तस्य कर्मणः। के ते ? समस्तद्रव्यभावगतपुण्य-पापपरिणामपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिस्वभावरता. साधव इति दाष्टांतः ॥ १४८ । १४६ ॥ अथोभयं कर्म शुद्धनिश्चयेन केवलं बंधहेतु न केवलं बंधहेतु प्रतिषेध्यं चागमेन साधयति;—**रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो** यस्मात् कारणात् रक्तः सन् कर्माणि बध्नाति। मुच्यते जीवः कर्मजनितभावेषु विराग-

---

टीका—कुशील जो शुभ-अशुभ कर्म उनके साथ राग और संगति दोनों का निषेध किया है, क्योंकि ये दोनों ही कर्म बंध के कारण हैं। जैसे कुशील जो मन को रमाने वाली अथवा नहीं रमाने वाली हथिनीरूप कुट्टनी के साथ राग और संगति करने वाले हाथी की स्वाधीनता का विनाश हो जाता है ॥ १४७ ॥

आगे दोनों कर्मों के निषेध को आप दृष्टांत से दृढ़ करते हैं,—**[यथा नाम]** जैसे **[कोपि]** कोई **[पुरुषः]** पुरुष **[कुत्सितशीलं]** निंदितस्वभाव वाले **[जनं]** किसी पुरुष को **[विज्ञाय]** जान कर **[तेन समकं]** उसके साथ **[संसर्गं]** संगति **[च रागकरणं]** और राग करना **[वर्जयति]** छोड़ देता है **[एवमेव च]** इसी तरह ज्ञानी जीव **[कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं]** कर्म प्रकृतियों के शील स्वभाव को **[कुत्सितं ज्ञात्वा]** निन्दनीय जानकर **[वर्जयंति]** उससे राग छोड़ देते हैं **[च]** और **[तत्संसर्गं]** उसकी संगति भी **[परिहरंति]** छोड देते है पश्चात् **[स्वभावरताः]** अपने स्वभाव मे लीन हो जाते हैं।

टीका—जैसे कोई चतुर वन का हाथी अपने बंधन के लिये समीप आने वाली, चंचल मुख को लीला रूप करती मन को रमाने वाली, सुदर अथवा असुदर हथिनी रूपी कुट्टिनी को बुरी समझ उसके साथ राग तथा संसर्ग दोनों ही नहीं करता, उसी प्रकार आत्मा भी राग रहित ज्ञानी हुआ अपने बंध के कारण समीप उदय आतीं शुभरूप अथवा अशुभरूप सभी कर्म प्रकृतियों को परमार्थ से बुरी जानकर उनके साथ राग और संसर्ग नही करता।

भावार्थ—जैसे हाथी के पकड़ने को कोई हथिनी दिखलावे, तब हाथी कामांध हुआ उससे राग तथा संसर्ग कर गड्ढे में पड़ पराधीन होकर दुःख भोगता है, किन्तु (चतुर) हाथी उससे राग, संसर्ग नहीं करता, उसी प्रकार कर्म प्रकृतियों को अच्छी समझ अज्ञानी जन उनसे राग तथा संसर्ग करता है, तब बंध में पड़ संसार के दुःख भोगता है और ज्ञानी तो उनसे संसर्ग तथा राग कभी नहीं करता ॥ १४८ ॥ १४६ ॥

अथोभयं कर्मबंधहेतुं प्रतिषेध्यं चागमेन साधयति—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मा रज्ज ॥ १५० ॥

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते जीवो विरागसम्प्राप्तः ।
एष जिनोपदेशः तस्मात् कर्मसु मा रज्यस्व ॥ १५० ॥

यः खलु रक्तोऽवश्यमेव कर्म बध्नीयात् विरक्त एव मुच्येतेत्ययमागमः स सामान्येन रक्तत्वनिमित्तत्वाच्छुभमशुभमुभयंकर्माविशेषेण बंधहेतुं साधयति तदुभयमपि कर्म प्रतिषेधयति च ॥१५० ॥

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्बंधसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥ १०३ ॥

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल, प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः संत्यशरणाः ।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं, स्वयं विन्दन्त्येते परममृतं तत्र निरताः ॥१०४॥

सम्पन्नः **एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मा रज्ज** एष प्रत्यक्षीभूतो जिनोपदेशः कर्ता, किं करोति ? उभयं कर्म बंधहेतुं न केवलं बंधहेतुं प्रतिषेध्यं हेयं च कथयति तस्मात्कारणात् शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितत्वेन स्वकीयशुद्धात्मभावनोत्पन्ननिर्विकारसुखामृतरसस्वादेन तृप्तो भूत्वा शुभाशुभकर्मणि मा रज्यस्व रागं मा कुर्विति । एवं यद्यप्यनुपचरिता-

---

आगे शुभ तथा अशुभ दोनों ही कर्म बंध के कारण हैं और निषेध करने योग्य हैं यह बात आगम से साधते हैं;—**[रक्तः]** रागी **[जीवः]** जीव तो **[कर्म]** कर्मों को **[बध्नाति]** बांधता है **[विरागसंप्राप्तः]** तथा वैराग्य को प्राप्त हुआ जीव **[मुच्यते]** कर्म से छूट जाता है **[एषः]** यह **[जिनोपदेशः]** जिन भगवान का उपदेश है **[तस्मात्]** इस कारण भो भव्य जीवो तुम, **[कर्मसु]** कर्मों में **[मा रज्यस्व]** प्रीति मत करो, रागी मत होओ ।

टीका—जो रागी है, वह अवश्य कर्मों को बांधता ही है और जो विरक्त है, वही कर्मों से छूटता है, ऐसा यह आगम का वचन है । वह सामान्यतः राग के निमित्त से कर्म शुभ अशुभ ये दोनों हैं उनको अविशेष कर बंध का कारण साधा है इसलिए उन दोनों ही कर्मों का निषेध करते हैं ।।१५०।।

इसी अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं—**कर्म** इत्यादि । **अर्थ**—सर्वज्ञ देव सभी शुभ तथा अशुभ कर्मों को सामान्य से बंध का कारण कहते हैं इसीलिए सभी कर्मों का निषेध किया है । मोक्ष का कारण एक ज्ञान ही कहा है ।। १०३ ।।

अब कहते हैं कि सभी कर्म का निषेध किया है तो मुनि किसके आश्रय मुनि पद पाल सकेंगे ? उसके निर्वाह का काव्य कहते हैं—**निषिद्धे** इत्यादि । **अर्थ**—शुभ तथा अशुभ आचरण रूप सभी कर्म का निषेध करते हुए, कर्म रहित निवृत्ति अवस्था में प्रवृत्ति करते हुए मुनि अशरण नहीं हैं । यहां पर यह

अथ ज्ञानं मोक्षहेतुं साधयति—

परमट्ठो खलु समग्रो सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तह्मि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥ १५१ ॥

परमार्थः खलु समयः शुद्धो यः केवली मुनिर्ज्ञानी।
तस्मिन् स्थिताः स्वभावे मुनयः प्राप्नुवंति निर्वाणं ॥ १५१ ॥

ज्ञानं हि मोक्षहेतुः, ज्ञानस्य[1] शुभाशुभकर्मणोरबंधहेतुत्वे सति मोक्षहेतुत्वस्य तथोपपत्तेः। तत्तु सकलकर्मादिजात्यंतरविविक्तचिज्जातिमात्रः[2] परमार्थ आत्मेति यावत्, स तु युगपदेकीभावप्रवृत्तज्ञानगमनमयतया[3] समयः। सकलनयपक्षासंकीर्णैकज्ञानतया शुद्धः। केवलचिन्मात्र-

---

सद्भूतव्यवहारेण द्रव्यपुण्यपापयोर्भेदोऽस्ति अशुद्धनिश्चयेन पुनस्तद्द्वयजनितेंद्रियसुखदुःखयोर्भेदोऽस्ति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन नास्ति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाषट्कं गतं ॥ १५० ॥ अथ विशुद्धज्ञानशब्दवाच्यं परमात्मानं मोक्षकारणं कथयति;— **परमट्ठो खलु समग्रो** उत्कृष्टार्थः परमार्थः स कः ? परमात्मा अथवा धर्मार्थकाममोक्षलक्षणेषु परमार्थेषु परम उत्कृष्टो मोक्षलक्षणोर्थः परमार्थः सोऽपि स एव। अथवा मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानभेदरहितत्वेन निश्चयेनैकः परमार्थः सोऽपि परमात्मैव खलु स्फुटं **समग्रो** सम्यगयति गच्छति शुद्धगुणपर्यायान् परिणमतीति समयः। अथवा सम्यगयः

शंका करना ठीक नहीं कि वे मुनि पद किसके आश्रय पालेंगे। निवृत्ति अवस्था होनेपर इन मुनियों के ज्ञान में ज्ञान को ही आचरण करना शरण है। वे मुनि उस ज्ञान में लीन हुए परम अमृत को भोगते हैं।

भावार्थ—सब कर्म का त्याग होने से ज्ञान का बड़ा शरण है, उस ज्ञान में लीन होने से सब आकुलताओं से रहित परमानन्द का भोगना होता है। इसका स्वाद ज्ञानी ही जानता है, अज्ञानी कषायी जीव कर्म को ही सर्वस्व जान उसमे लीन होता है, वह ज्ञानानन्द का स्वाद नहीं जानता ॥ १५० ॥

आगे ज्ञान को मोक्ष का कारण सिद्ध करते हैं;—**[खलु]** निश्चय से **[परमार्थः समयः]** परमार्थ रूप जीव नाम पदार्थ का स्वरूप यह है कि **[यः]** जो **[शुद्धः]** शुद्ध है **[केवली]** केवली है **[मुनिः]** मुनि है **[ज्ञानी]** ज्ञानी है ये जिसके नाम हैं **[तस्मिन् स्वभावे]** उस स्वभाव में **[स्थिताः]** स्थित **[मुनयः]** मुनि **[निर्वाणं]** मोक्ष को **[प्राप्नुवंति]** प्राप्त होते हैं।

टीका—ज्ञान ही मोक्ष का कारण है क्योंकि अज्ञान शुभ अशुभ कर्म रूप है, वह बंध का कारण है अतः उसकी मोक्ष की हेतुता असिद्ध है। मोक्ष की हेतुता ज्ञान से ही बनती है, यह ज्ञान ही परमार्थ है, आत्मा है, क्योंकि समस्त कर्मों को आदि लेकर अन्य पदार्थों से भिन्न जात्यंतर चिज्जाति मात्र है वही परमार्थस्वरूप आत्मा है, जड़जाति से भिन्न है इसी को समय कहते हैं। समय शब्द का अर्थ पहले भी कह चुके हैं-सम् ऐसा तो उपसर्ग है। उसका अर्थ एक काल एक रूप प्रवर्तन है तथा अय ऐसे शब्द का अर्थ ज्ञान भी है, और गमन भी। दोनों क्रिया रूप एक काल से प्रवृत्त हों उसको समय कहते हैं,

---

१. "अज्ञानस्य शुभाशुभ कर्मणोः बंधहेतुत्वे सति"—इत्यपि पाठः। २. चिज्ज्योतिर्मात्रः" इति पाठोऽपि। ३. ज्ञानमयतया" इत्यपि पाठः।

वस्तुतया केवली। मननमात्रभावमात्रतया मुनिः। स्वयमेव ज्ञानतया ज्ञानी। स्वस्य ज्ञानस्य भाव मात्रतया स्वभावः स्वतश्चितो भवनमात्रतया सद्भावो वेति शब्दभेदेऽपि न च वस्तुभेदः ॥१५१॥

अथ ज्ञानं विधापयति—

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई।
तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू ॥१५२॥

परमार्थे त्वस्थितः यः करोति तपो व्रतं च धारयति।
तत्सर्वं बालतपो बालव्रतं वदन्ति सर्वज्ञाः ॥१५२॥

ज्ञानमेव मोक्षस्य कारणं विहितं परमार्थभूतज्ञानशून्यस्याज्ञानकृतयोर्व्रततपःकर्मणोः बंधहेतुत्वाद्बालव्यपदेशेन प्रतिषिद्धत्वे सति तस्यैव मोक्षहेतुत्वात् ॥१५२॥

संशयादिरहितो बोधो ज्ञानं यस्य भवति स समयः। अथवा समित्येकत्वेन परमसमरसीभावेन स्वकीयशुद्धस्वरूपे अयनं गमनं परिणमनं समयः सोऽपि स एव शुद्धो रागादिभावकर्मरहितो यः सोऽपि स एव **केवली** परद्रव्यरहितत्वेनासहायः

ऐसा प्रवर्तन जीव नाम पदार्थ का है, वही आत्मा है, उसी का शुद्ध ऐसा नाम है क्योंकि समस्त धर्म तथा धर्मी के ग्रहण करने वाले नयों के पक्षों से न मिलने वाला पृथक् ही ज्ञानत्व रूप असाधारण धर्म है, वह अन्य धर्मों से भिन्न प्रकाश रूप है, वह अन्य से नहीं मिलता। उस एक को ही शुद्ध कहते हैं, इसी को केवली कहते हैं क्योंकि एक चैतन्यमात्र वस्तुत्व इसके है; केवल शब्दका अर्थ एक है। इसी को मुनि कहते हैं क्योंकि मननमात्र अर्थात् ज्ञानमात्र भावरूप यह है, उस रूप से मुनि भी यही है और स्वयमेव ज्ञानी है ही, अतः इसको ज्ञानी भी कहते हैं। अपने ज्ञानस्वरूप के सत्तारूप प्रवर्तन के कारण स्वभाव भी इसको कहते हैं तथा अपनी चेतना का सत्ता रूप होने से सद्भाव ऐसा भी नाम है। ऐसे शब्दों के भेद से नामभेद होने पर भी वस्तुभेद नहीं है।

भावार्थ—मोक्ष का उपादान कारण आत्मा ही है सो आत्मा का परमार्थ से ज्ञान स्वभाव है। ज्ञान है वह आत्मा ही है, आत्मा है वह ज्ञान ही है, इसलिये ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहना युक्त है ॥१५१॥

जो यह मानता है कि बाह्य तपश्चरणादि करना ही ज्ञान है, उसको ज्ञान की विधि बतलाते हैं;— **[यः]** जो **[परमार्थे तु]** ज्ञानस्वरूप आत्मा में तो **[अस्थितः]** स्थिर नहीं है **[तपः करोति]** किन्तु तप करता है **[च]** तथा **[व्रतं धारयति]** व्रतों को धारण करता है **[तत्सर्वं]** उस सब तप व्रत को **[सर्वज्ञाः]** सर्वज्ञ देव **[बालतपः]** अज्ञान तप **[बालव्रतं]** अज्ञान व्रत **[विंदंति]** कहते हैं।

टीका—मोक्ष का कारण ज्ञान ही है यह विधि है क्योंकि परमार्थ भूत ज्ञान से शून्य अज्ञान से किये तप और व्रत रूप कर्म ये दोनों बंध के कारण हैं। इसलिये बाल तप, बालव्रत ऐसा नाम कहकर सर्वज्ञदेव ने इसका प्रतिषेध किया है। इस कारण पूर्वकथित ज्ञान ही मोक्ष का कारण है ॥१५२॥

अथ ज्ञानाज्ञाने मोक्षबंधहेतू नियमयति—

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठ'वाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ॥१५३॥

व्रतनियमान् धारयंतः शीलानि तथा तपश्च कुर्वंतः ।
परमार्थबाह्या ये निर्वाणं ते न विंदंति ॥ १५३ ॥

ज्ञानमेव मोक्षहेतुस्तदभावे स्वयमज्ञानभूतानामज्ञानिनामन्तर्व्रतनियमशीलतपः प्रभृतिशुभकर्मसद्भावेऽपि मोक्षाभावात् । अज्ञानमेव बंधहेतुः, तदभावे स्वयं ज्ञानभूतानां ज्ञानिनां बहिर्व्रतनियमशीलतपः प्रभृतिशुभकर्मासद्भावेऽपि मोक्षसद्भावात् ॥ १५३ ॥

केवली सोऽपि स एव **मुणी** मुनिः स एव **णाणी** विशुद्धज्ञानमस्यास्तीति ज्ञानी सोऽपि प्रत्यक्षज्ञानी सोऽपि परमार्थैव । **तह्मि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ।** तस्मिन् परमात्मस्वभावे स्थिता वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरता मुनयस्तपोधना निर्वाणं प्राप्नुवंति लभत इत्यर्थः ॥१५१॥ अथ तस्मिन्नेव परमात्मनि स्वसंवेदनज्ञानरहितानां व्रततपश्चरणादिकं पुण्यबंधकारणमेवेति प्रतिपादयति,—**परमट्ठम्मि य अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि** तस्मिन्नेव पूर्वसूत्रोक्तपरमार्थलक्षणे परमात्मस्वरूपे अस्थितो रहितो यस्तपश्चरणं करोति व्रतादिक च धारयति **तं सव्वं वालतवं वालवदं विंति सव्वह्णू**—तत्सर्वं वालतपश्चरणं वालव्रतं ब्रुवंति कथयंति । के ते ? सर्वज्ञाः ।

अब ज्ञान तो नियम से मोक्ष का हेतु है और अज्ञान बंध का हेतु है, ऐसा कहते हैं:—**[ये]** जो कोई **[व्रतनियमान्]** व्रत और नियमों को **[धारयंतः]** धारण करते हैं **[तथा]** उसी प्रकार **[शीलानि च तपः कुर्वंतः]** शील और तप को करते हैं परन्तु **[परमार्थबाह्याः]** परमार्थ भूत ज्ञान स्वरूप आत्मा से बाह्य हैं अर्थात् उसके स्वरूप का ज्ञान, श्रद्धान जिनके नहीं है **[ते]** वे **[निर्वाणं]** मोक्ष को **[न]** नहीं **[विंदंति]** पाते ।

टीका—ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है क्योंकि ज्ञान का अभाव होने से स्वयं अज्ञानरूप हुए अज्ञानियों के अंतरंग में व्रत, नियम, शील, तपोरूप शुभकर्म का सद्भाव होने पर भी मोक्ष का अभाव है । अज्ञान ही बंध का हेतु है । अज्ञान का अभाव होने पर स्वयं ज्ञानरूप हुए ज्ञानियों के बाह्य व्रत, नियम, शील, तप आदि शुभ कर्म का असद्भाव होने पर भी मोक्ष का सद्भाव है ।

भावार्थ—ज्ञान होने पर ज्ञानी के व्रत नियम शील तपोरूप शुभकर्म बाह्य में न होने पर भी मोक्ष होता है । यहां ऐसा जानना कि व्रत आदि की प्रवृत्ति शुभ कर्म है । उस प्रवृत्ति का अभाव और निवृत्ति अवस्था होने पर भी व्रत, नियम, शील, तप स्वरूप बाह्य प्रवृत्ति का अभाव है तो भी मोक्ष होता है यह नियम है ॥ १५३ ॥

---

१. तात्पर्यवृत्तौ ' तु ण तेख ते होंति अण्णाणी' इत्यपि पाठः ।

यदेतद् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं,
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ।
अतोऽन्यद्बंधस्य स्वयमपि यतो बंध इति तत्,
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितं ॥ १०५ ॥

अथ पुनरपि पुण्यकर्मपक्षपातिनः प्रतिबोधनायोपक्षिपति—

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेउं अजाणंता ॥ १५४ ॥

परमार्थबाह्या ये ते अज्ञानेन पुण्यमिच्छंति ।
संसारगमनहेतुं अपि मोक्षहेतुमजानंतः ॥ १५४ ॥

कस्मात् ? इति चेत, पुण्यपापोदयजनितसमस्तेंद्रियसुखदुःखाधिकारपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन विशिष्टभेदज्ञानेन रहितत्वात् इति ॥१५२॥ अथ स्वसंवेदनज्ञानं तथैवाज्ञानं चेति यथाक्रमेण मोक्षबंधहेतू दर्शयति;—**वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवंच कुव्वंता** त्रिगुप्तसमाधिलक्षणाद्भेदज्ञानाद् बाह्या ये ते व्रतनियमान् धारयंतः, शीलानि तपश्चरणं च कुर्वाणा अपि मोक्षं न लभंते । कस्मादिति चेत्, **परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी** येन कारणेन पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् परमार्थबाह्यास्तेन कारणेन ते भवंत्यज्ञानिनः । अज्ञानिनां तु कथं मोक्षः ? ये तु परमसमाधिलक्षणभेदज्ञानसहितास्ते तु व्रतनियमानधारयन्तोऽपि शीलानि तपश्चरणं बाह्यद्रव्यरूपमकुर्वाणा अपि मोक्षं लभंते । तदपि कस्मात्, येन कारणेन पूर्वोक्तभेदज्ञानसद्भावात् परमार्थाबाह्यास्तेन कारणेन ते च ज्ञानिनो भवंति । ज्ञानिनां तु मोक्षो भवत्येवेति । किंच विस्तरः । व्रतनियमशीलबहिरंगतपश्चरणादिकं विनापि यदि मोक्षो भवति इति तर्हि संकल्पविकल्परहितानां विषयव्यापारेऽपि पापं नास्ति, तपश्चरणाभावेऽपि मोक्षो भवतीति सांख्यशैवमतानुसारिणो वदन्तीति तेषामेव मतं सिद्धमिति । नैवं, निर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिलक्षणभेदज्ञानसहितानां मोक्षो भवतीति विशेषेण बहुधा भणितं तिष्ठति । एवंभूतभेदज्ञानकाले शुभरूपा ये मनोवचनकायव्यापाराः परंपरया मुक्तिकारणभूतास्तेऽपि न संति । ये पुनरशुभविषयकषायव्यापाररूपास्ते विशेषेण न संति । न हि चित्तस्थे रागभावे विनष्टे सति बहिरंगविषयव्यापारो दृश्यते । तंदुलस्याभ्यंतरे तुषे गते सति बहिरंगतुष इव । तदपि कस्मात् ? इति चेत् निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदज्ञानविषयकषायव्यापारयोर्द्वयोः परस्परं विरुद्धत्वात् शीतोष्णवदिति ॥ १५३ ॥ अथ वीतरागसम्यक्त्वरूपां शुद्धात्मभावनां

इसी अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं—**यदेत** इत्यादि । **अर्थ**—जो यह ज्ञान स्वरूप आत्मा ध्रुव है सो जब निश्चल अपने ज्ञान स्वरूप हुआ शोभायमान होता है, तब ही यह मोक्ष का कारण है क्योंकि आप स्वयमेव मोक्ष स्वरूप है और इसके सिवाय जो अन्य है वह बंध का कारण है क्योंकि आप स्वयमेव बंधस्वरूप है । इसलिये ज्ञान स्वरूप अपना होना ही अनुभूति है इस प्रकार निश्चय से बंधमोक्ष के हेतु का विधान किया है ॥ १०५ ॥

यदि आगे फिर भी कोई पुण्यकर्म का पक्षपात करे तो उसके समझाने के लिए गाथा कहते हैं:— **[ये]** जो जीव **[परमार्थबाह्या]** परमार्थ से बाह्य हैं परमार्थ भूत ज्ञान स्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं करते **[ते]** वे जीव **[अज्ञानेन]** अज्ञान से **[पुण्यं]** पुण्य **[इच्छंति]** चाहते हैं वह पुण्य **[संसारगमनहेतुं अपि]**

इह खलु केचिन्निखिलकर्मपक्षक्षयसंभावितात्मलाभं मोक्षमभिलषंतोऽपि तद्धेतुभूतं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वभावपरमार्थभूतज्ञानभवन[1]मात्रमैकाग्र्यलक्षणं समयसारभूतं सामायिकं प्रतिज्ञायापि दुरंतकर्मचक्रोत्तरणक्लीबतया परमार्थभूतज्ञानानुभवनमात्रसामायिकमात्मस्वभावमलभमानाः प्रतिनिवृत्तस्थूलतमसंक्लेशपरिणामकर्मतया प्रवर्तमानस्थूलतमविशुद्धपरिणामकर्माणः कर्मानुभवगुरुलाघवप्रतिपत्तिमात्रसंतुष्टचेतसः स्थूललक्ष्यतया सकलं कर्मकांडमनुन्मूलयंतः स्वयमज्ञानादशुभकर्म केवलं बंधहेतुमध्यास्य च व्रतनियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्मबंधहेतुमप्यजानंतो मोक्षहेतुमभ्युपगच्छंति ॥ १५४ ॥

विहाय तेन पुण्यमेवैकातेन मुक्तिकारणं ये वदंति तेषां प्रतिबोधनार्थं पुनरपि दूषणं ददाति—इह हि केचन सकलकर्मक्षयमोक्षमिच्छंतोऽपि निजपरमात्मभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणं परमसामायिकं पूर्वं दीक्षाकाले प्रतिज्ञायापि चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानसामर्थ्याभावात्पूर्वोक्तं परमसामायिकमलभमानाः परमार्थबाह्याः संतः संसारगमनहेतुत्वेन बंधकारणमप्यज्ञानभावेन कृत्वा पुण्यमिच्छंति । किं कुर्वंतः ? अभेदरत्नत्रयात्मकं मोक्षकारणमजानंतः । अथवा द्वितीयव्याख्यानं, बंधहेतुमपि पुण्यं मोक्षहेतुमिच्छंति । किं कुर्वन्तः ? पूर्वोक्तमभेदरत्नत्रयात्मकं परमसामायिकंमोक्षकारण-

---

संसार के गमन का कारण है तो भी वे जीव [मोक्षहेतुं] मोक्ष का कारण ज्ञानस्वरूप आत्मा को [अजानंतः] नहीं जानते । पुण्य को ही मोक्ष का कारण मानते हैं ।

टीका—इस लोक में निश्चय से कई एक जीव ऐसे हैं जो समस्त कर्म के पक्ष का नाश कर जिसमें निज स्वरूप का लाभ उत्पन्न हुआ है ऐसे मोक्ष को चाहते हैं तो भी उस मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वभाव परमार्थभूत ज्ञान के होनेमात्र एकाग्रतालक्षण समयसारभूत सामायिक चारित्र की प्रतिज्ञा लेकर भी दुरंत कर्म के समूह के पार होने की असामर्थ्य से परमार्थभूत ज्ञान के होने मात्र जो सामायिक चारित्र स्वरूप आत्मा का स्वभाव उसको न पाते हुए अतिशय स्थूल संक्लेश परिणाम स्वरूप कर्म से तो निवृत्त हुए हैं और अतिशय मोटे विशुद्ध परिणामरूप कर्म के द्वारा प्रवृत्ति करते हैं, वे कर्म के अनुभव की गुरुता और लघुता की प्राप्ति मात्र से ही संतुष्ट चित्त वाले हुए स्थूल लक्ष्यतारूप स्थूल अनुभव गोचर संक्लेशरूप कर्मकांड को तो छोड़ते हैं परंतु समस्त कर्मकांड को मूल से नहीं उखाड़ते । वे स्वयं अपने अज्ञान से केवल अशुभ कर्म को बंध का कारण मान व्रत, नियम, शील, तप आदिक शुभकर्म बंध के कारण को बंध का कारण नहीं जानते, उसको मोक्ष का कारण मानते हैं अंगीकार करते हैं ।

भावार्थ—कितने ही जीव अति संक्लेशपरिणामरूप कर्म को तो बंध का कारण जानकर छोड़ देते हैं और अतिविशुद्धता परिणाम रूप कर्म सहित बर्तते हैं । वे कर्म की अत्यल्पता को ही बंध-मोक्ष का कारण जानते हैं तथा सकल कर्मों से रहित अपने स्वरूप को मोक्ष का कारण नहीं जानते । वे अशुभ कर्म को छोड़ व्रत, नियम, शीलतपरूप शुभकर्म को ही मोक्ष का कारण मान अंगीकार करते हैं । वे व्रत आदि को पालते हुए भी अज्ञानी ही हैं, और परमार्थ को नहीं जानते ॥ १५४ ॥

---

१. 'ज्ञानभवन मात्रतया' इत्यपि पाठः ।

अथ परमार्थमोक्षहेतुं तेषां दर्शयति—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं ।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥ १५५ ॥

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं तेषामधिगमो ज्ञानं ।
रागादिपरिहरणं चरणं एष तु मोक्षपथः ॥ १५५ ॥

मोक्षहेतुः किल सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि । तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं । जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानं । रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रं । तदेवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायातम् । ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः ॥ १५५ ॥

मजानंतः संत इति । किं च निर्विकल्पसमाधिकाले व्रताव्रतस्य स्वयमेव प्रस्तावो नास्ति । अथवा निश्चयव्रतं तदेवेत्यभिप्रायः । इति वीतरागसम्यक्त्वरूपां शुद्धात्मोपादेयभावना विना व्रततपश्चरणादिकं पुण्यकारणमेव भवति तद्भावनासहितं पुनर्बहिरंगसाधकत्वेन परम्परया मुक्तिकारणं चेति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतं ॥ १५४ ॥ एवं गाथादशकेन पुण्याधिकारः समाप्तः । अथ सविकल्पत्वात्पराश्रितत्वाच्च निश्चयेन पापव्याख्यानमुख्यत्वेन, अथवा निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यत्वेन **जीवादीसद्दहण** मित्यादिसूत्रद्वयं । तदनंतरं मोक्षहेतुभूतो योऽसौ सम्यक्त्वादिजीवगुणस्तत्प्रच्छादनमुख्यत्वेन **वत्थस्स सेदभावो** इत्यादि गाथात्रयं । ततः परं पापं पुण्यं च बंधकारणमेवेतिमुख्यतया **सो सव्वणाण** इत्यादि सूत्रमेकं । ततश्च मोक्षहेतुभूतो योसौ जीवो गुणी तत्प्रच्छादनमुख्यतया **सम्मत्त** इत्यादि गाथात्रयमिति समुदायेन सूत्रनवकपर्यंतं तृतीयस्थले व्याख्यानं करोति । तद्यथा । अथ तेषामज्ञानिनां निश्चयमोक्षहेतुं दर्शयति;—**जीवा-**

यहा ऐसे जीवों को परमार्थ स्वरूप मोक्ष का कारण दिखलाते हैं;—**[जीवादिश्रद्धानं]** जीवादिक पदार्थों का श्रद्धान तो **[सम्यक्त्वं]** सम्यक्त्व है और **[तेषां अधिमगः]** उन जीवादि पदार्थों का **[अधिगमः]** अधिगम वह **[ज्ञानं]** ज्ञान है तथा **[रागादिपरिहरणं]** रागादिक का त्याग **[चरणं]** वह चारित्र है **[एष तु]** यही **[मोक्षपथः]** मोक्ष का मार्ग है ।

टीका—मोक्ष के कारण निश्चय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं । जीवादिपदार्थों के यथार्थ श्रद्धान स्वभाव से ज्ञान का परिणमन तो सम्यग्दर्शन है; जीवादिपदार्थों के ज्ञानस्वभाव से ज्ञान का होना सम्यग्ज्ञान है; तथा रागादि के त्याग स्वभाव से ज्ञान का होना सम्यक् चारित्र है । इस कारण ज्ञान ही परमार्थ रूप से मोक्ष का कारण है ।

भावार्थ—आत्मा का असाधारण स्वरूप ज्ञान ही है और इस प्रकरण में ज्ञान का ही प्रधानतः व्याख्यान है । इसलिये सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों ज्ञान के ही परिणमन हैं । इस भांति कह कर ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है । ज्ञान अभेदविवक्षा से आत्मा ही है । ऐसा कहने में कुछ विरोध नहीं है ॥ १५५ ॥

अथ परमार्थमोक्षहेतोरन्यत् कर्म प्रतिषेधयति—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति ।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ ।। १५६ ।।

मुक्त्वा निश्चयार्थं व्यवहारेण विद्वांसः प्रवर्तंते ।
परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो विहितः ।। १५६ ।।

यः खलु परमार्थमोक्षहेतोरतिरिक्तो व्रततपःप्रभृतिशुभकर्मात्मा केषांचिन्मोक्षहेतुः स सर्वोऽपि प्रतिषिद्धस्तस्य द्रव्यान्तरस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्याभवनात् । परमार्थमोक्षहेतोरेवैकद्रव्यस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्य भवनात् ।। १५६ ।।

दीसद्दहणं सम्मत्तं जीवादिनवपदार्थाना विपरीताभिनिवेशरहितत्वेन श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं **तेसिमधिगमो णाणं** तेषामेव संशयविमोहविभ्रमरहितत्वेनाधिगमो निश्चयः परिज्ञानं सम्यग्ज्ञानं **रागादीपरिहरणं चरणं** तेषामेव संबंधित्वेन रागादिपरिहारश्चारित्रं **एसो दु मोक्खपहो** इत्येव व्यवहारमोक्षमार्गः । अथवा तेषामेव भूतार्थेनाधिगतानां पदार्थानां शुद्धात्मनः सकाशात् भिन्नत्वेन सम्यगवलोकनं निश्चयसम्यक्त्वं । तेषामेव सम्यक्परिच्छित्तिरूपेण शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चय. सम्यग्ज्ञानं । तेषामेव शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चयं कृत्वा रागादिविकल्परहितत्वेन स्वशुद्धा-

---

आगे परमार्थरूप मोक्ष के कारण से भिन्न कर्म का निषेध करते हैं;—**[विद्वांसः]** पंडित जन **[निश्चयार्थं]** निश्चयनय के विषय को **[मुक्त्वा]** छोड़ **[व्यवहारेण]** व्यवहार से **[प्रवर्तंते]** प्रवृति करते हैं **[तु]** परंतु **[परमार्थं]** परमार्थभूत-आत्मस्वरूप के **[आश्रितानां]** आश्रित **[यतीनां]** यतीश्वरों के ही **[कर्मक्षयः]** कर्म का नाश **[विहितः]** कहा गया है । व्यवहार में प्रवृत्ति करने वाले का कर्मक्षय नहीं होता ।

टीका—कितनों ही ने तो ऐसा मोक्ष का कारण माना है कि परमार्थ भूत मोक्ष के कारण से रहित और व्रत तप आदिक शुभ कर्म स्वरूप से ही मोक्ष है । ऐसा मोक्ष का हेतु मानना सभी निषेध किया गया है क्योंकि ऐसा मोक्ष का कारण अन्य द्रव्य स्वभाव है । उस स्वभाव से ज्ञान का परिणमन नहीं होता । ज्ञान का परिणमन परमार्थ से शुभ अशुभ रूप नहीं है अतः परमार्थ भूत मोक्ष का कारण ही एक द्रव्य स्वभाव है; उस स्वभाव से ही ज्ञान का परिणमन का होता है ।

भावार्थ—मोक्ष आत्मा के होता है, उसका कारण भी आत्मा का स्वभाव ही होना चाहिए । जो अन्य द्रव्य का स्वभाव हो, तो उस से आत्मा के मोक्ष कैसे हो ? यह निश्चय नय का मत है । इसलिए शुभ कर्म पुद्गल द्रव्य का स्वभाव है वह आत्मा के मोक्ष का कारण नहीं है । ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, वही आत्मा के परमार्थ भूत मोक्ष का कारण है ।। १५६ ।।

वृत्तं **ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।**
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥ १०६ ॥
वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।
द्रव्यांतरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥ १०७ ॥
मोक्षहेतुतिरोधानाद्बंधत्वात्स्वयमेव च ।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥ १०८ ॥

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधानकरणं साधयति—

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णायव्वं ॥ १५७ ॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णायव्वं ॥ १५८ ॥

त्मन्यवस्थानं निश्चयचारित्रमिति निश्चयमोक्षमार्गः ॥ १५५ ॥ अथ निश्चयमोक्षमार्गहेतोः शुद्धात्मस्वरूपाद् यदन्यच्छुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपं कर्म तन्मोक्षमार्गो न भवति इति प्रतिपादयति;—**मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे** निश्चयार्थं मुक्त्वा व्यवहारविषये **ण विदुसा पवट्टंति** विद्वांसो ज्ञानिनो न प्रवर्तंते। कस्मात् ? **परमट्ठमासिदाण दु जदीण कम्मक्खओ होदि** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यपरिणतिलक्षणं निजशुद्धात्मभावनारूपं परमार्थमाश्रितानां तु यतीना कर्मक्षयो भवतीति यतः कारणादिति । एवं मोक्षमार्गकथनरूपेण गाथाद्वयं गतं ॥ १५६ ॥ अथमोक्षहेतुभूतानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणांजीवगुणानां वस्त्रस्य मलेनेव मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रतिपक्षभूतेन प्रच्छादन दर्शयति वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना सम्बन्धस्तेनाच्छन्नः। तथैव मिथ्यात्वमलेनाच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो

अब इसी अर्थ के कलश रूप दो श्लोक कहते हैं—**वृत्तं** इत्यादि । **अर्थ**—ज्ञान स्वभाव से बर्तना ही ज्ञान का होना है और वही मोक्ष का कारण है क्योंकि ज्ञान ही एक आत्मद्रव्यस्वभाव है। और कर्म स्वभाव से बर्तना ज्ञान का होना नहीं है, वह (कर्म का बर्तना) मोक्ष का कारण नहीं है क्योंकि कर्म अन्य द्रव्य स्वभाव है ।

भावार्थ—मोक्ष आत्मा के होता है इसलिए आत्मा का स्वभाव ही मोक्ष का कारण हो सकता है और क्योंकि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, अतः वही मोक्ष का कारण है । तथा कर्म अन्य (पुद्गल) द्रव्य का स्वभाव है इसलिए वह आत्मा के मोक्ष का कारण नहीं होता, यह निश्चय है ॥१०६।१०७॥

आगे अगले कथन का सूचक श्लोक कहते हैं—**मोक्षहेतु** इत्यादि—कर्म मोक्ष का कारण नहीं है; स्वयं बंध स्वरूप है; तथा मोक्ष के कारणों का आच्छादक है, अतः इन तीन हेतुओं से कर्म का निषेध किया गया है ॥ १०८ ॥

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
कसायमलोच्छरणं तह चारित्तं पि णादव्वं ॥ १५९ ॥ (त्रिकलम्)

वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।
मिथ्यात्वमलावच्छन्नं तथा सम्यक्त्वं खलु ज्ञातव्यं ॥ १५७ ॥
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।
अज्ञानमलावच्छन्नं तथा ज्ञानं भवति ज्ञातव्यं ॥ १५८ ॥
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।
कषायमलावच्छन्नं तथा चारित्रमपि ज्ञातव्यं ॥ १५९ ॥

ज्ञानस्य सम्यक्त्वं मोक्षहेतुः स्वभावः, परभावेन मिथ्यात्वनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात् तिरोधीयते परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभाव भूतश्वेतस्वभाववत् । ज्ञानस्य ज्ञानं मोक्षहेतुः

जीवस्य सम्यक्त्वगुणो नश्यतीति ज्ञातव्यं । वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना संबंधस्तेनच्छन्नः । तथैवाज्ञानमलेनोच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो जीवस्य ज्ञानगुणो नश्यतीति ज्ञातव्यं । वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना संबंधस्तेन च्छन्नः । तथा कषायकर्ममलेनोच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो जीवस्य चारित्रगुणो नश्यतीति ज्ञातव्यं । इति मोक्षहेतुभूतानां सम्यक्त्वादिगुणाना मिथ्यात्वाज्ञानकषायप्रतिपक्षैः प्रच्छादनकथन-रूपेण गाथात्रयं गतं ॥१५७।१५८।१५९॥ अथ कर्म स्वयमेव बंधरूपं कथ मोक्षकारण भवतीति कथयति;—

कर्म, मोक्ष के कारण दर्शन, ज्ञान और चारित्र का आच्छादक हैं यह बताते हैं;—**[यथा]** जैसे **[वस्त्रस्य]** वस्त्र की **[श्वेतभावः]** सफेदी **[मलमेलनासक्तः]** मल के मिलने से लिप्त हुई **[नश्यति]** नष्ट हो जाती है **[तथा]** उसी भांति **[मिथ्यात्वमलावच्छन्नं]** मिथ्यात्वमल से व्याप्त हुआ **[सम्यक्त्वं]** आत्मा का सम्यक्त्वगुण **[खलु]** निश्चय से **[ज्ञातव्यं]** आच्छादित हो रहा है ऐसा जानना चाहिए। **[यथा]** जैसे **[वस्त्रस्य श्वेतभावः]** वस्त्र की सफ़ेदी **[मलमेलनासक्तः]** मल के मेल से लिप्त हुई **[नश्यति]** नष्ट हो जाती है **[तथा]** उसी प्रकार **[अज्ञानमलावच्छन्नं]** अज्ञानमल से व्याप्त हुआ **[ज्ञानं]** आत्मा का ज्ञान भाव **[ज्ञातव्यं भवति]** आच्छादित होता है ऐसा जानना चाहिये। तथा **[यथा]** जैसे **[वस्त्रस्य श्वेतभावः]** कपड़े की सफेदी **[मलमेलनासक्तः]** मल के मिलने से व्याप्त हुई **[नश्यति]** नष्ट हो जाती है **[तथा]** उसी तरह **[कषायमलावच्छन्नं]** कषायमल से व्याप्त हुआ **[चारित्रं अपि]** आत्मा का चारित्र भाव भी **[ज्ञातव्यं]** आच्छादित हो जाता है ऐसा जानना चाहिये।

टीका—ज्ञान का सम्यक्त्व मोक्ष का कारण रूप स्वभाव है। यह सम्यक्त्व परभाव स्वरूप मिथ्यात्व कर्म मैल से व्याप्त होने से आच्छादित हो जाता है। जैसे परभावभूत मैल (रंग) सहित होने पर सफेद वस्त्र का स्वभावभूत सफेद स्वभाव आच्छादित हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान का ज्ञान मोक्ष का

स्वभावः, परभावेनाज्ञाननाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्र-स्वभावभूतश्वेतस्वभाववत् । ज्ञानस्य चारित्रं मोक्षहेतुः स्वभावः, परभावेन कषायनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत् । अतो मोक्षहेतुतिरोधानकरणात् कर्म प्रतिसिद्धं ॥१५७।१५८।१५९॥

अथ कर्मणः स्वयं बंधत्वं साधयति—

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणवच्छण्णो ।
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं ॥१६०॥

स सर्वज्ञानदर्शी कर्मरजसा निजेनावच्छन्नः ।
संसारसमापन्नो न विजानाति सर्वतः सर्वं ॥१६०॥

यतः स्वयमेव ज्ञानतया विश्वसामान्यविशेषज्ञानशीलमपि ज्ञानमनादिस्वपुरुषापराधप्रवर्त-

---

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेण उच्छण्णो—स शुद्धात्मा निश्चयेन समस्तपरिपूर्णज्ञानदर्शनस्वभावोऽपि निजकर्मरजसोच्छन्नो झंपितः सन् । **संसारसमावण्णो णवि जाणदि सव्वदो सव्वं** । संसारसमापन्नः, संसारे पतितः सन् नैव जानाति सर्वं वस्तु, सर्वतः सर्वप्रकारेण । ततो ज्ञायते कर्म कर्तृ जीवस्य स्वयमेव बंधरूपं कथं मोक्षकारणं भवतीति । एवं पापवत्पुण्यं बंधकारणमेवेति कथनरूपेण गाथा गता ॥१६०॥ अथ पूर्वं मोक्षहेतुभूताना

कारण रूप स्वभाव है । वह परभाव रूप अज्ञाननामक कर्म रूपी मल से व्याप्त होने से आच्छादित किया जाता है । जैसे परभावरूप मैल (रंग) से व्याप्त हुआ श्वेत वस्त्र का स्वभावभूत सफेदपन आच्छादित होता है । ज्ञान का चरित्र भी मोक्ष का कारण रूप स्वभाव है । वह परभाव स्वरूप कषायनाम कर्मरूपी मैल से व्याप्त होने से आच्छादित किया जाता है । जैसे परभाव स्वरूप मैल (रंग) से व्याप्त हुआ सफेद कपड़े का स्वभावभूत सफेदपन आच्छादित किया जाता है । इसलिये मोक्ष के कारण जो सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र हैं, उनका आच्छादन करने से कर्म का निषेध किया गया है ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप ज्ञान के परिणमन स्वरूप मोक्ष मार्ग के प्रतिबंधक (रोकने वाले) मिथ्यात्व अज्ञान कषायरूपी कर्म हैं । ये कर्म उस मोक्ष के कारण भावों को आच्छादित करते हैं इसलिये कर्म का निषेध है ।।१५७।१५८।१५९।।

अब कर्म स्वयमेव बंध हैं, यह सिद्ध करते हैं;—**[सः]** वह आत्मा स्वभाव से **[सर्वज्ञानदर्शी]** सबका जानने वाला और देखने वाला है तो भी **[निजेनकर्मरजसा]** अपने कर्मरूपी रज से **[अवच्छन्नः]** आच्छादित हुआ **[संसारसमापन्नः]** संसार को प्राप्त होता हुआ **[सर्वतः]** सब प्रकार से **[सर्वं]** सब वस्तु को **[न विजानाति]** नहीं जानता ।

टीका—जिस कारण यह ज्ञान रूप आत्मा स्वयमेव ज्ञान रूप होने से सब पदार्थों को सामान्य विशेषता से जानने के स्वभाव वाला है, तो भी अनादि काल से अपने पुरुषार्थ से किये हुए अपराध से

मानकर्ममलावच्छन्नत्वादेव बंधावस्थायां सर्वतः सर्वमप्यात्मानमविजानदज्ञानभावेनैवेदमेवमवतिष्ठते। ततो नियतं स्वयमेव कर्मैव बंधः। अतः स्वयं बंधत्वात्कर्म प्रतिषिद्धं ॥१६०॥

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वं दर्शयति—

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो ॥ १६१ ॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥ १६२ ॥
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥ (त्रिकलम्)

सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं मिथ्यात्वं जिनवरैः परिकथितं।
तस्योदयेन जीवोमिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यः ॥ १६१ ॥
ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं अज्ञानं जिनवरैः परिकथितं।
तस्योदयेन जीवोऽज्ञानी भवति ज्ञातव्यः ॥ १६२ ॥
चारित्रप्रतिनिबद्धः कषायो जिनवरैः परिकथितः।
तस्योदयेन जीवोऽचारित्रो भवति ज्ञातव्यः ॥ १६३ ॥

सम्यक्त्वादिजीवगुणानां मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रच्छादनं भवतीति कथितं इदानी तद्गुणाधारभूतो गुणी जीवो मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रच्छाद्यते इति प्रकटीकरोति;—सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं प्रतिकूलं मिथ्यात्वं भवतीति जिनवरैः परिकथितं तस्योदयेन

प्रवर्तमान कर्मरूप मल से आच्छादित (व्याप्त-मलिन) है। उस मलिन भाव से बंधावस्था में सब प्रकार के सब ज्ञेयाकार रूप अपने स्वरूप को नहीं जानता है और अज्ञान भाव से ही यह आप स्थित है। इस कारण यह निश्चय हुआ कि कर्म आप ही बंधस्वरूप है। इसीलिये आप बंध रूप होने से कर्म का प्रतिषेध किया गया है।

भावार्थ—यहां ज्ञान शब्द से आत्मा का ही ग्रहण किया गया है। सो यह ज्ञान स्वभाव से तो सबको देखने और जानने वाला है परंतु अनादि से आप अपराधी है, इसलिये बांधे हुए कर्मों से आच्छादित है। अतः अपने सपूर्ण रूप को नही जानता हुआ, अज्ञानरूप हुआ आप स्थित है, उसके कर्म अपने आप ही बधने है। कर्मों को आप लेकर नही बाधता, आप तो अपने अज्ञानभावरूप परिणमन करता है। तब कर्म स्वयमेव बंध रूप हो जाते हैं इसीलिए कर्मका प्रतिषेध है ॥१६०॥

आगे कर्म मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र के आच्छादक हैं, यह दिखलाते हैं— **[सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं]** सम्यक्त्व का रोकने वाला **[मिथ्यात्वं]** मिथ्यात्वकर्म है ऐसा **[जिनवरैः]** जिन-

सम्यक्त्वस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबंधकं किल मिथ्यात्वं, तत्तु स्वयं कर्मैव तदुदयादेव ज्ञानस्य मिथ्यादृष्टित्वं। ज्ञानस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबंधकं किलाज्ञानं, तत्तु स्वयं कर्मैव तदुदयादेव ज्ञानस्याज्ञानत्वं। चारित्रस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबंधकः[1] किल कषायः, स तु स्वयं कर्मैव तदुदयादेव ज्ञानस्याचारित्रत्वं। अतः स्वयं मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्कर्म प्रतिषिद्धं ॥१६१।१६२।१६३॥

जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवतीति ज्ञातव्यः। ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं प्रतिकूलमज्ञानं भवतीति जिनवरैः परिकथितं तस्योदयेन जीवश्चाज्ञानी भवतीति ज्ञातव्यः। चारित्रस्य प्रतिनिबद्धः प्रतिकूलः क्रोधादिकषायो भवतीति जिनवरैः परिकथितः तस्योदयेन जीवोऽचरित्रो भवतीति ज्ञातव्यः। एवं मोक्षहेतुभूतो योऽसौ जीवो गुणी तत्प्रच्छादनकथनमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं। इति सम्यक्त्वादिजीवगुणा मुक्तिकारणं तद्गुणपरिणतो जीवो वा मुक्तिकारणं भवति तस्माच्छुद्धजीवाद्भिन्नं शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपं, तद्व्यापारेणोपार्जितं वा शुभाशुभकर्म मोक्षकारणं न भवतीति मत्वा हेयं त्याज्यमिति

वरदेव ने **[परिकथितं]** कहा है **[तस्योदयेन]** उस मिथ्यात्व के उदय से **[जीवः]** यह जीव **[मिथ्यादृष्टिः]** मिथ्यादृष्टि हो जाता है **[इति ज्ञातव्यः]** ऐसा जानना चाहिये। **[ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं]** ज्ञान का रोकने वाला **[अज्ञानं]** अज्ञान है ऐसा **[जिनवरैः परिकथितं]** जिनवर ने कहा है **[तस्योदयेन]** उसके उदय से **[जीवः]** यह जीव **[अज्ञानी]** अज्ञानी **[भवति]** होता है **[ज्ञातव्यः]** ऐसा जानना चाहिए। **[चारित्रप्रतिनिबद्धः]** चारित्र का प्रतिबंधक **[कषायः]** कषाय है ऐसा **[जिनवरैः]** जिनेन्द्रदेव ने **[परिकथितः]** कहा है **[तस्य उदयेन]** उसके उदय से **[जीवः]** यह जीव **[अचारित्रः]** अचारित्री **[भवति]** हो जाता है **[ज्ञातव्यः]** ऐसा जानना चाहिये।

टीका—सम्यक्त्वमोक्ष का कारण है। उसके स्वभाव का रोकनेवाला मिथ्यात्व है, वह स्वयं कर्म ही है, उसके उदय से ही ज्ञान को मिथ्यादृष्टित्व है; ज्ञान भी मोक्ष का कारण है, उसके स्वभाव का रोकने वाला प्रकट अज्ञान है, वह स्वयं कर्म ही है, उसके उदय से ज्ञान को अज्ञान है; और चारित्र मोक्ष का कारण है, उसके स्वभाव का प्रतिबन्धक प्रकट कषाय है, वह स्वयं कर्म ही है, उसके उदय से ही ज्ञान के अचारित्र्य हैं। क्योंकि कर्म के, स्वयमेव मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का तिरोधायित्व है, इसी कारण कर्म का प्रतिषेध किया गया है।

भावार्थ—ज्ञान के मोक्ष का कारण रूप स्वभाव सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र हैं। इन तीनों के प्रतिपक्षी कर्म मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय ये तीन हैं इसलिये उन तीनों को प्रकट नहीं होने देते। इस कारण कर्म में मोक्ष के कारणों का तिरोधायीभाव है इसीलिये कर्म का प्रतिषेध है। अशुभ कर्म से मोक्ष की हेतुता तो क्या है, बाधकता ही प्रसिद्ध है, परन्तु शुभकर्म भी बंधरूप ही है। इस कारण यह भी कर्म सामान्य में प्रतिषेध रूप ही जानना ॥ १६१।१६२।१६३ ॥

---

१. 'प्रतिनिबंधक' इत्यपि पाठः।

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना,
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा ।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भव-
न्नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥ १०९ ॥
यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ्‌ न सा,
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ।
किंत्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय तं-
मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः॥ ११० ॥

व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथानवकं गत ॥१६१।१६२।१६३॥ द्वितीय पातनिकाभिप्रायेण पापाधिकारव्याख्यानमुख्यत्वेन गतं । अत्राह शिष्यः । **जीवादीसद्दहण**मित्यादि व्यवहाररत्नत्रयव्याख्यानं कृतं तिष्ठति कथं पापाधिकार इति । तत्र परि-

---

आगे इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**संन्यस्त** इत्यादि । **अर्थ**—मोक्ष के चाहने वालों को यह समस्त कर्म ही त्यागने योग्य है । इस तरह इस समस्त ही कर्म को छोड़ने से पुण्य पाप की तो क्या बात है, कर्म सामान्य मे दोनों ही आ जाते हैं । इस प्रकार समस्त कर्मों का त्याग होने पर ज्ञान सम्यक्त्व आदिक अपने स्वभाव रूप होने से मोक्ष का कारण हुआ कर्मरहित अवस्था से जिसका रस प्रतिबद्ध (उद्धत) है ऐसा अपने आप दौड़ आता है ।

भावार्थ—कर्म को दूर करके ज्ञान, अपने आप अपने मोक्ष के कारण स्वभावरूप हुआ प्रगट होता है, फिर उसे कौन रोक सकता है ? कोई नही ॥१०९॥

यहां आशंका उत्पन्न होती है कि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के जब तक कर्म का उदय रहता है, तब तक ज्ञान मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है तथा कर्म और ज्ञान दोनों साथ किस तरह रहते हैं ? उसके समाधान का काव्य कहते हैं—**यावत्** इत्यादि । **अर्थ**—जब तक कर्म का उदय है और ज्ञान की सम्यक् कर्म विरति नही है, तब तक कर्म और ज्ञान दोनों का समुच्चय (एकत्रीकरण) भी कहा गया है तब तक इसमें कुछ हानि भी नही । यहां पर यह विशेषता है कि इस आत्मा में कर्म के उदय की जबर्दस्ती से आत्मा के वश के विना कर्म उदय होता है वह तो बंध के ही लिये है और मोक्ष के लिये तो एक परम ज्ञान ही है । वह ज्ञान, कर्म से आप ही रहित है, कर्म के करने में अपने स्वामित्वरूप कर्तृत्व का भाव नहीं है ।

भावार्थ—जबतक कर्म का उदय है, तब तक कर्म तो अपना कार्य करता ही है और वहीं पर ज्ञान है, वह भी अपना कार्य करता है । एक ही आत्मा में ज्ञान और कर्म दोनों के इकट्ठे रहने में भी विरोध नहीं आता । जैसे मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान का परस्पर विरोध है, उस प्रकार कर्मसामान्य के और ज्ञान के विरोध नहीं है ॥ ११० ॥

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानंति ये,
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छंदमंदोद्यमाः ।
विश्वस्योपरि ते तरंति सततं ज्ञानं भवंतः स्वयं,
ये कुर्वंति न कर्म जातु न वशं यांति प्रमादस्य च ॥ १११ ॥
भेदोन्मादभ्रमरसभरान्नाटयत्पीतमोहं,
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन ।

हार:—यद्यपि व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूतत्वादुपादेयः परंपरया जीवस्य पवित्रताकारणत्वात् पवित्रस्तथापि बहिर्द्रव्यालंबनत्वेन पराधीनत्वात्पतति नश्यतीत्येकं कारणं । निर्विकल्पसमाधिरतानां व्यवहारविकल्पालंबनेन स्वरूपात्पतितं भवतीति द्वितीयं कारणं । इति निश्चयनयापेक्षया पापं । अथवा सम्यक्त्वादिविपक्षभूताना मिथ्यात्वा-

---

आगे कर्म और ज्ञान का नयविभाग दिखलाते हैं—**मग्नाः** इत्यादि । **अर्थ**—जो कोई कर्म नय के अवलम्बन में तत्पर हैं, उसके पक्षपाती हैं, वे भी डूब जाते हैं । जो ज्ञान को तो जानते नहीं और ज्ञाननय के पक्षपाती हैं वे भी डूबते है । जो क्रियाकांड को छोड़ स्वच्छन्द हो प्रमादी हुए स्वरूप में मन्द उद्यमी हैं, वे भी डूबते हैं । किन्तु जो आप निरन्तर ज्ञानरूप हुए कर्म को तो करते नहीं तथा प्रमाद के वश भी नहीं होते स्वरूप में उत्साहवान हैं, वे सब लोक के ऊपर तैरते हैं ।

भावार्थ—यहां सर्वथा एकान्त अभिप्राय का निषेध किया गया है क्योंकि सर्वथा एकान्त का अभिप्राय होना ही मिथ्यादृष्टि है । जो परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा को तो जानता नहीं है और व्यवहार दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप क्रियाकांड के आडम्बर को ही मोक्ष का कारण जान उसमें ही तत्पर रहता है, उसी का पक्षपात करता है, यह कर्मनय है । इसके पक्षपाती, ज्ञान को तो जानते नहीं हैं और इस कर्मनय में ही खेदखिन्न हैं वे संसार समुद्र में डूबते हैं । और जो परमार्थभूत आत्मस्वरूप को यथार्थ तो जानते नहीं हैं तथा मिथ्यादृष्टि सर्वथा एकांतियों के उपदेश से अथवा स्वयमेव कुछ अंतरंग में ज्ञान का स्वरूप मिथ्या कल्पना करके उसमें पक्षपात करते हैं और व्यवहारदर्शन, ज्ञान और चारित्र के क्रियाकांड को निरर्थक जान छोड़ देते हैं, ज्ञाननय के पक्षपाती भी हैं वे भी संसार समुद्र में डूबते हैं, क्योंकि बाह्य-क्रियाकांड को छोड़ स्वेच्छाचारी रहते हैं, स्वरूप में मंद उद्यमी रहते हैं । इसलिये जो पक्षपात का अभिप्राय छोड़ निरंतर ज्ञानरूप हुए कर्मकांड को छोड़ते हैं और निरंतर ज्ञानस्वरूप में 'जबतक न थंभा जाय तबतक' अशुभकर्म को छोड़ स्वरूप के साधनरूप शुभ कर्मकांड में प्रवर्तते हैं, वे कर्म का नाश कर संसार से निवृत्त होते हैं , वे ही सब लोको के ऊपर रहते हैं ॥१११॥

आगे इस पुण्यपापाधिकार को सम्पूर्ण कर ज्ञान की महिमा बताते हैं—**भेदोन्माद** इत्यादि । **अर्थ**—ज्ञानज्योति अतिशय से उदय को प्राप्त हुई सब जगह फैलती है । उस ज्योति ने लीलामात्र में उघड़ी अपनी परमकला केवल ज्ञान के साथ क्रीड़ा आरम्भ की है । यहां ऐसा अभिप्राय समझना कि जब तक सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ है, तब तक तो वह अपनी ज्ञान परमकला-केवल ज्ञान के साथ शुद्धनय के बल से

हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि,
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥ ११२ ॥
इति पुण्यपापरूपेण द्विपात्रीभूतमेकपात्रीभूय कर्म निष्क्रांतम् ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ
पुण्यपापप्ररूपकः तृतीयोऽकः ॥३॥

दीनां व्याख्यानं कृतिमिति वा पापाधिकारः । तत्रैवं सति व्यवहारनयेन पुण्यपापरूपेण द्विभेदमपि कर्म निश्चयेन भृङ्गार-रहितपात्रवत्पुद्गलरूपेणैकीभूय निष्क्रांतं ।

इति श्री**जयसेनाचार्य**कृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां **तात्पर्यवृत्तौ**
स्थलत्रयसमुदायेनैकोनविंशतिगाथाभिश्चतुर्थः पुण्यपापाधिकारः समाप्तः ॥३॥

परोक्ष क्रीड़ा करता है और जब केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब साक्षात् क्रीड़ा करता है; उस ज्योति ने अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर दिया है, ऐसी ज्ञानज्योति पूर्वोक्त शुभअशुभरूप समस्त कर्मों को अपनी शक्ति से मूल से उखाड़ करके प्रकट हुई है। उस कर्म ने मोह पी लिया है इसीलिये भ्रम के रस के भार से शुभ अशुभ के भेद रूप उन्माद को उत्पन्न करता है।

भावार्थ—ज्ञानज्योति, अपने प्रतिबंधक कर्म को जो कि भेद रूप होकर नृत्य करता था, ज्ञान को भुला देता था उस कर्म को अपनी शक्ति से नष्ट करके आप अपने सम्पूर्ण रूप सहित प्रकाशरूप हुई। यहा अभिप्राय ऐसा जानना कि कर्म सामान्य रूप से एक ही है तो भी शुभ-अशुभ दो भेदरूप स्वाग बनाकर रंगभूमि में उसने प्रवेश किया था। जब उसे ज्ञान ने यथार्थ एक जान लिया तब कर्म रंग-भूमि से निकल गया। उसके बाद ज्ञान अपनी शक्ति से यथार्थ प्रकाशरूप हुआ। इस प्रकार कर्म नृत्य के अखाड़े में पुण्यपाप रूप कर दो नृत्यकारिणी बनकर नाचता था, उसे ज्ञान ने यथार्थ जान लिया कि कर्म एक ही है, तब एकरूप होकर निकल गया ॥११२॥

सवैया—आश्रयकारणरूप सवादसु भेद विचारि गिने दोउ न्यारे,
पुण्यरु पाप शुभाशुभभावनि बधभये सुखदु.ख करारे।
ज्ञान भये दोऊ एक लखै बुध आश्रय आदि समान विचारे,
बध के कारण हैं दोऊ रूप इन्हें तजि जिनमुनि मोक्ष पधारे ॥१॥

इति श्री **पं० जयचंद्रजी** कृत इस समयसार ग्रथ की आत्मख्याति नाम टीका की भाषा-वचनिका में तीसरा **पुण्यपाप** नामक अधिकार पूर्ण हुआ ॥३॥

अथ आस्रवाधिकारः ॥ ४ ॥

अथप्रविशत्यास्रवः ।

अथ महामदनिर्भरमंथरं समररंगपरागतमास्रवं ।
अयमुदारगभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ॥ ११३ ॥

अथ प्रविशत्यास्रवः । यत्र सम्यग्भेदभावनापरिणत. कारणसमयसाररूपः संवरो नास्ति तत्रास्रवो भवतीति संवरविपक्षद्वारेण सप्तदशगाथापर्यंतमास्रवव्याख्यानं करोति । तत्र प्रथमतस्तावत्, वीतरागसम्यग्दृष्टेर्जीवस्य रागद्वेषमोहरूपा आस्रवा न संतीति संक्षेपेण संवरव्याख्यानरूपेण **मिच्छत्तं अविरमणं'** इत्यादि गाथात्रयं । तदनंतरं रागद्वेषमोहास्रवाणां पुनरपि विशेषविवरणमुख्यत्वेन **'भावो रागादिजुदो'** इत्यादि स्वतंत्रगाथात्रयं । तत. परं केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपकार्यसमयसारकारणभूतनिश्चयरत्नत्रयपरिणतस्य संज्ञानिजीवस्य रागादिभावप्रत्ययनिषेधमुख्यत्वेन **चउविह** इत्यादि गाथात्रयं । अतःपरं तस्यैव ज्ञानिनो जीवस्य मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययास्तित्वेऽपि वीतरागचारित्रभावनाबलेन रागादिभावप्रत्ययनिषेधमुख्यतया **सव्वे पुव्वणिबद्धा** इत्यादि सूत्रचतुष्टयं । तदनंतरं नवतरद्रव्यकर्मास्रवस्योदयागतद्रव्यप्रत्ययाः कारणं भवंति, तेषा च द्रव्यप्रत्ययानां जीवगतरागादिभावप्रत्ययाः कारणमिति कारणव्याख्यानमुख्यत्वेन **रागो दोसो** इत्यादि सूत्रचतुष्टयं कथयति, इति समुदायेन सप्तदशगाथाभिः पंचस्थलैः आस्रवाधिकारसमुदायपातनिका । अथ द्रव्यभावास्रवस्वरूपं कथयति, -**मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु** सण्णसण्णा इत्यत्र प्राकृत-

---

अब आस्रव का अधिकार है ।

दोहा—द्रव्यास्रवतैं भिन्न ह्वै, भावास्रव करि नास ।
भये सिद्ध परमातमा, नमूं तिनहिं सुख आस ।।

अब यहां आश्रव प्रवेश करता है । जैसा नृत्य के अखाड़े में नाचने वाला स्वांग कर प्रवेश करता है, उसी प्रकार यहां आस्रव का स्वांग है । वहां इस स्वांग को यथार्थ जानने वाला जो सम्यग्ज्ञान है, उसकी महिमारूप मंगल करते हैं—**अथ** इत्यादि । **अर्थ**—'अथ' शब्द मंगल तथा प्रारंभवाची है सो यहां से आगे कहते हैं—जो किसी से नहीं जीता जा सके ऐसा यह अनुभव गोचर धनुषधारी ज्ञानरूपी सुभट आस्रव को जीतता है । यह ज्ञानरूप सुभट अमर्याद है इसकी थाह छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) नहीं पा सकता और महान उदय वाला है । तथा आस्रव महान् मद से उन्मत्त है तथा संग्राम की भूमि में आ गया है ।

भावार्थ—यहां नृत्य के अखाड़े में आस्रव ने प्रवेश किया है । नृत्य में अनेक रसों का वर्णन होता है इसलिये रसवत् अलंकार से शांत रस में वीररस की प्रधानता से वर्णन किया है कि ज्ञान रूप धनुषधारी आस्रव को जीतता है । वह आस्रव सब जगत को जीत मदोन्मत्त हुआ संग्राम की रंगभूमि में आकर खड़ा हो गया, तब इससे भी बलवान सुभट ज्ञान उसी समय उस आस्रव को जीत लेता है अर्थात् अन्तर्मुहूर्त में कर्म का नाश करके केवल ज्ञान उत्पन्न कर देता है । ऐसी ज्ञान की सामर्थ्य है ।।११३।।

तत्रास्रवस्वरूपमभिदधाति—

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु ।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥ १६४ ॥
णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति ।
तेसिंपि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥१६५ ॥ (युगलम्)

मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च संज्ञासंज्ञास्तु ।
बहुविधभेदा जीवे तस्यैवानन्यपरिणामाः ॥ १६४ ॥
ज्ञानावरणाद्यस्य ते तु कर्मणः कारणं भवंति ।
तेषामपि भवति जीवः च रागद्वेषादिभावकरः ॥ १६५ ॥

रागद्वेषमोहा आस्रवाः इह हि जीवे स्वपरिणामनिमित्ताः, अजडत्वे सति चिदाभासाः,

---

लक्षणबलात् अकारलोपो द्रष्टव्यः। मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः, कथंभूताः, भावप्रत्ययद्रव्यप्रत्ययरूपेण संज्ञाऽसंज्ञाश्चेतनाचेतनाः। अथवा संज्ञाः, आहारभयमैथुनपरिग्रहरूपाः, असंज्ञा. ईषत्संज्ञाः, इहलोकाकांक्षापरलोकाकांक्षाकुधर्माकांक्षारूपास्तिस्रः। कथंभूताः, एते **बहुविहभेदा जीवे** । उत्तरप्रत्ययभेदेन बहुधा विविधाः, क्व ? जीवे, अधिकरणभूते। पुनरपि कथंभूताः। **तस्सेव अणण्णपरिणामा** अनन्यपरिणामाः, अभिन्नपरिणामाः तस्यैव जीवस्याशुद्धनिश्चयनयेनेति । **णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति** ते च पूर्वोक्तद्रव्यप्रत्ययाः उदयागताः संतः निश्चयचारित्राविनाभूतवीतरागसम्यक्त्वाभावे सति शुद्धात्मस्वरूपच्युतानां जीवानां ज्ञानावरणाद्यष्टविधस्य द्रव्यकर्मास्रवस्य कारणभूता भवंति। **तेसिंपि होदि जीवो रागदोसादिभावकरो** तेषां च द्रव्यप्रत्ययानां जीवः कारणं भवति। कथंभूतः ? रागद्वेषादिभावकर रागद्वेषादिभावपरिणतः। अयमत्र भावार्थः—द्रव्यप्रत्ययोदये सति शुद्धात्मस्वरूपभावनां त्यक्त्वा यदा रागादिभावेन परिण-

---

आगे आस्रव का स्वरूप कहते हैं;—**[मिथ्यात्वं अविरमणं]** मिथ्यात्व अविरति **[कषाययोगौ च]** और कषाय योग **[संज्ञासंज्ञाः तु]** ये चार आस्रव के भेद चेतना के और जड़–पुद्गल के विकार ऐसे दो दो भेद भिन्न भिन्न हैं। उनमें से जो चेतन के विकार हैं वे **[जीवे]** जीव में **[बहुविधभेदाः]** बहुत भेद लिये हुए हैं वे **[तस्यैव अनन्यपरिणामाः]** उस जीव के ही अभेदरूप परिणाम हैं और जो मिथ्यात्व आदि पुद्गल के विकार हैं **[ते तु]** वे तो **[ज्ञानावरणाद्यस्य]** ज्ञानावरण आदि **[कर्मणः]** कर्मों के बंधने के **[कारणं]** कारण **[भवंति]** हैं **[च]** और **[तेषामपि]** उन मिथ्यात्व आदि भावों को भी **[रागद्वेषादिभावकरः]** रागद्वेष आदि भावों का करने वाला **[जीवः]** जीव **[भवति]** कारण होता है।

टीका—इस जीव में रागद्वेष मोह ही आस्रव हैं। उनको अपना परिणाम निमित्त है इसीलिये वे जड़ भी नहीं हैं। ऐसा होने पर वे चिदाभास हैं, जिनमें चैतन्य का आभास है; क्योंकि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग पुद्गल के परिणाम हैं, वे ज्ञानावरण आदि पुद्गलों के आने के निमित्त हैं,

मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः पुद्गलपरिणामाः, ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मास्रवणनिमित्तत्वात्किलास्रवाः। तेषां तु तदास्रवणनिमित्तत्वनिमित्तम् अज्ञानमया आत्मपरिणामा रागद्वेषमोहाः। तत आस्रवणनिमित्तत्वनिमित्तत्वाद्रागद्वेषमोहा एवास्रवाः, ते चाज्ञानिन एव भवंतीति अर्थादेवापद्यते ॥१६४॥१६५॥

अथ ज्ञानिनस्तदभावं दर्शयति—

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो ।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो ॥१६६॥

नास्ति त्वास्रवबंधः सम्यग्दृष्टेरास्रवनिरोधः ।
संति पूर्वनिबद्धानि जानाति स तान्यबध्नन् ॥१६६॥

मति तदा बंधो भवति नैवोदयमात्रेण। यदि उदयमात्रेण बंधो भवति ? तदा सर्वदा संसार एव। कस्मात् ? इति चेत् संसारिणां सर्वदेव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्। तर्हि कर्मोदयो बंधकारणं न भवति, ? इति चेत् तन्न निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टानां मोहसहितकर्मोदयो व्यवहारेण निमित्तं भवति। निश्चयेन पुनः अशुद्धोपादानकारणं स्वकीयरागाद्यज्ञानभाव एव भवति ॥१६४।१६५॥ अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनो जीवस्य रागद्वेषमोहरूपभावास्रवाणामभावं दर्शयति;—णत्थि

उस रूप से वे प्रकट आस्रव हैं। तथा उन मिथ्यात्वादिकों को ज्ञानावरणादि कर्मों के आगमन की निमित्तता होने के कारण आत्मा के अज्ञानमय राग, द्वेष, मोह परिणाम हैं इसलिये मिथ्यात्व आदि के कर्म के आस्रव की निमित्तता की हेतुता से राग द्वेष मोह ही आस्रव हैं वे अज्ञानी के ही होते हैं ऐसा तात्पर्य से अर्थ निकलता है।

भावार्थ—ज्ञानावरणादि कर्मों के आने का कारण तो मिथ्यात्वादि कर्म के उदय रूप पुद्गल के परिणाम हैं और उन कर्मों के आने का निमित्त जीव के राग द्वेष मोह रूप परिणाम हैं, उनको चिद्विकार भी कहते हैं, वे जीव के अज्ञान अवस्था में होते हैं। सम्यग्दृष्टि के अज्ञान अवस्था होती नहीं क्योंकि मिथ्यात्व सहित ज्ञान को अज्ञान कहते हैं। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी हो गया है इसलिये वे ज्ञान अवस्था में नहीं हैं। तथा अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के चारित्रमोह के उदय से जो रागादिक होते हैं, उनका यह स्वामी नहीं है, उदयकी जबरदस्ती है, उनको वह रोग के समान समझ मेटना चाहता है। इस अपेक्षा से इन से राग नहीं है। इसलिये मिथ्यात्वसहित जो रागादिक होते हैं, वे ही अज्ञानमय राग द्वेष मोह हैं, वे सम्यग्दृष्टि के नहीं हैं ॥१६४।१६५॥

आगे ज्ञानी के उन आस्रवों का अभाव दिखलाते हैं;—**[सम्यग्दृष्टेः]** सम्यग्दृष्टि के **[आस्रवबंधः]** आस्रव बंध **[नास्ति]** नहीं है **[तु]** किंतु **[आस्रवनिरोधः]** आस्रव का निरोध है **[पूर्वनिबद्धानि]** और जो पहले के बांधे हुए **[संति]** सत्ता में मौजूद हैं **[तानि]** उनको **[अबध्नन्]** आगामी नहीं बांधता हुआ **[सः]** वह **[जानाति]** जानता ही है।

यतो हि ज्ञानिनोज्ञानमयैर्भावैरज्ञानमया भावाः परस्परविरोधिनो अवश्यमेव निरुध्यंते। ततो ऽज्ञानमयानां भावानां रागद्वेषमोहानां आस्रवभूतानां निरोधात् ज्ञानिनो भवत्येव आस्रव निरोधः। अतो ज्ञानी नास्रवनिमित्तानि पुद्गलकर्माणि बध्नाति, नित्यमेवाकर्तृत्वात्तानिनवानि न बध्नन् सदवस्थानि पूर्वबद्धानि ज्ञानस्वभावत्वात्केवलमेव जानाति ॥ १६६ ॥

इत्यादि पदखंडनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। **णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो** न भवतः, न विद्येते। कौ ? तौ आस्रवबंधौ। गाथायां पुनः समाहारद्वन्द्वसमासापेक्षया द्विवचनमप्येकवचनं कृतं। कस्यास्रवबंधौ न स्तः ? सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य। तर्हि किमस्ति ? आस्रवनिरोधलक्षणसंवरोऽस्ति **सो** स सम्यग्दृष्टिः **संते** संति विद्यमानानि **ते** तानि **पुव्वणिबद्धे** पूर्वनिबद्धानि ज्ञानावरणादि कर्माणि। अथवा प्रत्ययापेक्षया पूर्वनिबद्धान् मिथ्यात्वादिप्रत्ययान् **जाणदि** जानाति वस्तुस्वरूपेण जानाति। कि कुर्वन् सन् ? **अबंधंतो** विशिष्टभेदज्ञानबलान्नवतराण्यभिनवान्यबध्नन्—अनुपार्जयन् इति। अयमत्र भावार्थः। सरागवीतरागभेदेन द्विधा सम्यग्दृष्टिर्भवति। तत्र योऽसौ सरागसम्यग्दृष्टिः,

सोलसपणवीसणभ दसचउछक्केक्क बंधवोछिण्णा।
दुगतीसचदुरपुव्वे पणसोलसजोगिणो इक्को ॥ गो० कर्म० ९४ ॥

इत्यादि बंधत्रिभंगकथितबंधविच्छेदक्रमेण मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामबधकः। सप्ताधिकसप्ततिप्रकृतीनामल्पस्थित्यनुभागरूपाणां बधकोऽपि सन् संसारस्थितिच्छेदको भवति। तेन कारणेनाबंधक इति। तथैवा-

---

टीका—जिस कारण निश्चय से ज्ञानी के अज्ञानमय भाव हैं वे अवश्य निरोध रूप (अभाव रूप)होते है, ज्ञानमय भावों से अज्ञानमय भाव रुक जाते है और जिस कारण वे परस्पर विरोधी हैं, विरोधियों का एक जगह रहना होता नही है, इस कारण राग द्वेष मोह भाव हैं वे अज्ञानमय हैं, आस्रव स्वरूप हैं, उनके निरोध से ज्ञानी के आस्रव का निरोघ होता ही है। इसलिये ज्ञानी, आस्रव निमित्तवाले ज्ञानावरण आदि पुद्गल कर्मों को नहीं बांधता। जिस कारण सदा उन कर्मों का अकर्ता है, इस कारण कर्मों को नवीन नहीं बांधता जो पहले बंधे हुए थे वे सत्तारूप अवस्थित है, उनको केवल जानता ही है क्योंकि ज्ञानी का ज्ञान ही स्वभाव है कर्ता स्वभाव नहीं है, कर्ता होवे तो बांधे।

भावार्थ—ज्ञानी हुए वाद अज्ञान रूप राग-द्वेष मोह भावों का निरोध है, राग-द्वेष मोह का निरोध होने पर मिथ्यात्व आदि आस्रव भावों का निरोध होता है और आस्रव के निरोध से नवीन बंध का निरोध होता है। तथा जो पूर्व बंधे हुए सत्ता मे स्थित है, उनका ज्ञाता ही रहता है कर्ता नहीं होता और जब कर्ता नही हुआ तब ज्ञानी का ज्ञान ही स्वभाव है। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के चारित्र-मोह का उदय है, उसको ऐसा जानना कि यह उदय की बलवत्ता है, वह अपनी शक्ति के अनुसार उन को रोग रूप जानकर काटता ही है इसलिये हुए भी अनहुए सरीखे कहे जाते हैं, वे आगामी सामान्यसंसार के बंधरूप नही है। जो अल्पस्थिति अनुभागरूप बंध करते हैं, वे अज्ञान के पक्ष में नहीं गिने। अज्ञान के पक्ष में तो मिथ्यात्व अनंतानुबंधी के निमित्त से बंधता है, वह गिना जाता है इस प्रकार ज्ञानी के आस्रव का बंध नही गिना ॥ १६६ ॥

अथ रागद्वेषमोहानामास्रवत्वं नियमयति—

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
रायादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरिं ॥ १६७ ॥

भावो रागादियुतः जीवेन कृतस्तु बंधको भणितः।
रागादिविप्रमुक्तोऽबंधको ज्ञायको नवरि ॥ १६७ ॥

इह खलु रागद्वेषमोहसंपर्कजोऽज्ञानमय एव भावः, अयस्कांतोपलसंपर्कज इव कालायसमूचीं कर्म कर्तुमात्मानं चोदयति। तद्विवेकजस्तु ज्ञानमयः, अयस्कांतोपलविवेकज इव कालायससूचीमकर्मकरणौत्सुकमात्मानं स्वभावेनैव स्थापयति। ततो रागादिसंकीर्णोऽज्ञानमय एव कर्तृत्वे चोदकत्वाद्बंधकः। तदसंकीर्णस्तु स्वभावोद्भासकत्वात्केवलं ज्ञायक एव, न मनागपि बंधकः ॥ १६७ ॥

विरतिसम्यग्दृष्टेर्गुणस्थानादुपरि यथासंभवं सरागसम्यक्त्वपर्यंतं, अधस्तनगुणस्थानापेक्षया तारतम्येनाबंधकः। उपरिमगुणस्थानापेक्षया पुनर्बंधकः। ततश्च वीतरागसम्यक्त्वे जाते साक्षादबंधको भवति, इति मत्वा वयं सम्यग्दृष्टयः सर्वथा बंधो नास्तीति न वक्तव्यं। इति आस्रवविपक्षद्वारेण संवरस्य संक्षेपसूचनव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं ॥ १६६ ॥ अथ रागद्वेषमोहरूपभावानामास्रवत्वं निश्चिनोति;—**भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो होदि** यथा अयस्कांतोपलसंपर्कजो भावः परिणतिविशेषः, कालायससूचिं प्रेरयति तथा जीवेन कृतो रागाद्यज्ञानजो भावः परिणतिविशेषः

आगे राग द्वेष मोह इनके ही आस्रवत्व का नियम करते हैं;—**[रागादियुक्तो भावः]** जो रागादि से युक्त भाव **[जीवेन कृतः]** जीव के द्वारा किया गया हो **[तु]** वही **[बंधको भणितः]** नवीन कर्म का बंध करने वाला कहा गया है और जो **[रागादिविप्रमुक्तः]** रागादिक भावों से रहित है वह **[अबंधकः]** बंध करने वाला नहीं है **[केवलं]** केवल **[ज्ञायकः]** जानने वाला ही है।

टीका—इस आत्मा में निश्चय से जो राग द्वेष मोह के मिलाप से उत्पन्न हुआ भाव है वह अज्ञानमय ही है। जैसे चुंबक पत्थर के संबंध से उत्पन्न हुआ भाव लोहे की सुई को चलाता है, उसी प्रकार वह अज्ञान भाव आत्मा को कर्म करने के लिये प्रेरणा करता है तथा उन रागादिकों के भेद ज्ञान से उत्पन्न हुआ जो भाव है, वह ज्ञानमय है। जैसे चुंबक पाषाण के संसर्ग बिना सुई का स्वभाव चलने रूप नहीं है उसी प्रकार आत्मा को कर्म करने में अनुत्साह रूप स्वभाव से स्थापित करता है। इसलिये रागादिकों से मिला हुआ अज्ञानमय भाव ही कर्म के कर्तृत्व में प्रेरक है इस कारण नवीन बंध का करने वाला है तथा रागादिक से न मिला हुआ भाव ही अपने स्वभाव का प्रगट करने वाला है। वह केवल जानने वाला ही है, वह नवीन कर्म का किंचिन्मात्र भी बंध करने वाला नहीं है।

भावार्थ—रागादिक के मिलाप से हुआ अज्ञानमय भाव ही बंध करने वाला है और रागादिक से नहीं मिला ज्ञानमय भाव बंध का करने वाला नहीं है, यह नियम है ॥१६७॥

अथ रागाद्यसंकीर्णभावसंभवं दर्शयति—

पक्के फलह्मि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेई ॥ १६८ ॥

पक्वे फले पतिते यथा न फलं बध्यते पुनर्वृंते।
जीवस्य कर्मभावे पतिते न पुनरुदयमुपैति ॥ १६८ ॥

यथा खलु पक्वं फलं वृंतात्सकृद्विश्लिष्टं सन्न पुनर्वृंतसंबंधमुपैति तथा कर्मोदयजो भावो जीवभावात्सकृद्विश्लिष्टः सन्, न पुनर्जीवभावमुपैति। एवं ज्ञानमयो रागाद्यसंकीर्णो भावः संभवति ॥ १६८ ॥

कर्ता, शुद्धस्वभावेन सानंदमव्ययमनादिमनंतशक्तिमुद्योतिनं निरुपलेपगुणमपि जीवं शुद्धस्वभावात्प्रच्युतं कृत्वा कर्मबंधं कर्तुं प्रेरयति। **रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि** यथा चायस्कांतोपलसंपर्करहितो भावः परिणतिविशेषः कालायससूचिं न प्रेरयति तथा रागाद्यज्ञानविप्रमुक्तो भावस्त्वबंधकः सन् नवरि किंतु जीवं कर्मबंधं कर्तुं न प्रेरयति। तर्हि किं करोति ? पूर्वोक्तशुद्धस्वभावेनैव स्थापयति। ततो ज्ञायते निरुपरागचैतन्यचिच्चमत्कारमात्रपरमात्मपदार्थाद्भिन्ना रागद्वेषमोहा एव बंधकारणमिति ॥ १६७ ॥ अथ रागादिरहितशुद्धभावस्य संभवं दर्शयति;—

आगे रागादिक से न मिले ज्ञानमय भाव की संभावना दिखलाते हैं;—**[यथा]** जैसे **[फले]** वृक्ष तथा वेलि का फल **[पक्वे पतिते]** पककर गिर जाय वह **[पुनः]** फिर **[वृंते]** गुच्छे में **[न बध्यते]** नहीं बंधता, उसी तरह **[जीवस्य]** जीव में **[कर्मभावे]** पुद्गल कर्मभाव रूप **[पतिते]** पक कर झड़ जाय अर्थात् निर्जरा हो गई हो वह कर्म **[पुनः]** फिर **[उदयं]** उदय **[न उपैति]** नहीं होता।

टीका—जैसे यह प्रकट है कि पका हुआ फल गुच्छे से एक बार गिर जाय तो वह फल फिर गुच्छे से सम्बन्धित नहीं होता, उसी प्रकार कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ जीव का भाव एक बार भी जीव से पृथक् हो जाय तो फिर जीव भाव को प्राप्त नही होता। इस प्रकार रागादिक से मिला हुआ ही ज्ञानभाव संभव है।

भावार्थ—कर्म की निर्जरा होने के बाद वह कर्म फिर उदय में नहीं आता, तब ज्ञानमय ही भाव रह जाता है। इस प्रकार जब जीव का मिथ्यात्व कर्म अनंतानुबंधी सहित सत्ता में से क्षय हो जाता है तब फिर उदय में नहीं आता, तब ज्ञानी हुआ वह फिर कर्म का कर्ता नहीं होता। मिथ्यात्व के साथ रहने वाली प्रकृतियां तो बंधतीं नहीं और अन्य प्रकृति सामान्य संसार का कारण नहीं हैं। मूल से कटे हुए वृक्ष के हरे पत्ते के समान हैं, वे शीघ्र ही सूखने योग्य हैं। इस प्रकार ज्ञानी का रागादिक से न मिला हुआ ज्ञानमय भाव संभव होता है, चारित्र मोह के उदय का राग अज्ञानमय नहीं गिना जाता क्योंकि सम्यग्दृष्टि के उसका स्वामित्व नहीं है ॥१६८॥

भावो[1] रागद्वेषमोहैर्विना यो जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव ।
रुंधन् सर्वान् [2]द्रव्यकर्मास्रवौघान् एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणां ॥ ११४ ॥

अथ ज्ञानिनो द्रव्यास्रवाभावं दर्शयति;—

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स ।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेपि णाणिस्स ॥ १६१ ॥

पृथ्वीपिंडसमानाः पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययास्तस्य ।
कर्मशरीरेण तु ते बद्धाः सर्वेऽपि ज्ञानिनः ॥ १६६ ॥

ये खलु पूर्वमज्ञानेनैव बद्धा मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा द्रव्यास्रवभूताः प्रत्ययाः, ते ज्ञानिनो द्रव्यांतरभूता अचेतनपुद्गलपरिणामत्वात् पृथ्वीपिंडसमानाः । ते तु सर्वेऽपि

पक्के फलम्मिपडिदे जह ण फलं वज्झदे पुणो विंटे यथा पक्वे फले पतिते सति पुनरपि तदेव फलं वृंते न बध्यते । **जीवस्स कम्मभावे पडिदे ण पुणोदयमुवेहि** तथा तत्त्वज्ञानिनो जीवस्य सातासातोदयजनितसुखदुःखरूपकर्मभावे कर्मपर्याये पतिते गलिते निर्जीर्णे सति रागद्वेषमोहाभावात् पुनरपि तत्कर्म बंधं नायाति, नैवोदयं च । ततो

अब इस अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं—**भावो** इत्यादि । **अर्थ**—जो जीव का रागद्वेष मोह के बिना भाव होता है, वह भाव ज्ञान के द्वारा ही रचा हुआ है, यह भाव सब द्रव्यास्रवों को रोकने वाला है इसलिए सभी भावास्रवों का अभाव कहना चाहिए ।

भावार्थ—यहां सब भावास्रवों का अभाव कहा है । वह इस कारण कि संसार का कारण मिथ्यात्व ही है उस सम्बन्धी रागादिक का अभाव हुआ तो सभी भावास्रवों का अभाव हो गया समझना ॥ ११४ ॥

आगे ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव दिखलाते हैं;—**[तस्य ज्ञानिनः]** उस पूर्वोक्त ज्ञानी के **[पूर्वनिबद्धाः]** पहले अज्ञान अवस्था में बंधे हुए **[सर्वेपि]** सभी **[प्रत्ययाः]** कर्म **[पृथिवीपिंडसमानाः]** जीव के रागादि भावों के हुए बिना पृथ्वी के पिंड समान हैं जैसे मिट्टी आदि अन्य पुद्गलस्कंध हैं उसी तरह वे भी हैं **[तु]** और वे **[कर्मशरीरेण बद्धाः]** कार्मण शरीर के साथ बंधे हुए हैं ।

टीका—जो पहले अज्ञान से बांधे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग रूप द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं वे ज्ञानी के अन्य द्रव्य रूप अचेतन पुद्गल द्रव्य के परिणाम होने से पृथिवी के पिंड समान हैं । वे सभी अपने पुद्गल स्वभाव से कार्मण शरीर से ही एक होकर बंधे हैं परन्तु जीव से नहीं बंधे हैं । इस कारण ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव स्वभाव से ही सिद्ध है ।

भावार्थ—जब से आत्मा ज्ञानी हुआ, तब से ज्ञानी के भावास्रव का तो अभाव हुआ ही और द्रव्यास्रव हैं वह मिथ्यात्वादि पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं वे कार्मण शरीर से स्वयमेव बंध रहे हैं, जैसे

---

१. सम्यक्त्वपूर्वः शुद्धस्वरूपानुभवः परिणामः । २. द्रव्य कर्मणां ज्ञानावरणादीनामास्रवः प्रतिसमयं धाराप्रवाहरूपतया आत्मप्रदेशैः सहान्योन्यानुगमः तस्यौघान् ।

स्वभावत एव कार्मणशरीरेणैव संबद्धा न तु जीवेन, अतः स्वभावसिद्ध एव द्रव्यास्रवाभावो-ज्ञानिनः ॥१६९॥

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥११५॥

कथं ज्ञानी निरास्रवः ? इति चेत्—

चहुविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं।
समये समये जह्मा तेण अबंधोत्ति णाणी दु ॥१७०॥

चतुर्विधा अनेकभेदं बध्नंति ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां।
समये समये यस्मात् तेनाबंध इति ज्ञानी तु ॥१७०॥

ज्ञानी हि तावदास्रवभावभावनाभिप्रायाभावान्निरास्रव एव। यत्तु[1] तस्यापि द्रव्यप्रत्ययाः प्रतिसमयमनेकप्रकारं पुद्गलकर्म प्रतिबध्नंति तत्र ज्ञानगुणपरिणाम एव हेतुः ॥१७०॥

रागाद्यभावात् शुद्धभावः संभवति। तत एव च सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य निर्विकारस्वसंवित्तिबलेन संवरपूर्विका निर्जरा भवतीत्यर्थः ॥ १६८ ॥ अथ ज्ञानिनो नवतरद्रव्यास्रवाभावं दर्शयति;—पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स

अन्य मृत्तिका के पिंड हैं, वैसे वे भी है। भावास्रव के बिना वे आगामी कर्मबंध के कारण नहीं हैं और पुद्गलमय हैं इस कारण अमूर्तीक चैतन्यस्वरूप जीव से स्वयमेव ही भिन्न हैं, ऐसा ज्ञानी जानता है।१६९।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते है—**भावा** इत्यादि। **अर्थ**—यह ज्ञानी भावास्रव के अभाव को प्राप्त हुआ है इसलिये द्रव्यास्रव से तो स्वयमेव ही भिन्न है, क्योंकि ज्ञानी तो सदा ज्ञानमय ही (एक) भाववाला है, इस कारण निरास्रव ही है, एक ज्ञायक ही है।

भावार्थ—भावास्रव जो राग द्वेष मोह उनका तो ज्ञानी के अभाव हो गया है और द्रव्यास्रव हैं वे पुद्गल परिणाम हैं, उनसे सदा ही स्वयमेव भिन्न है, इसलिये ज्ञानी निरास्रव ही है ॥११५॥

आगे पूछते हैं कि ज्ञानी निरास्रव किस तरह है ? उसके उत्तर की गाथा कहते हैं:—**[यस्मात्]** जिस कारण **[चतुर्विधाः]** चार प्रकार के जो पूर्व कहे गये मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय, योग आस्रव हैं वे **[ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां]** दर्शन ज्ञान गुणों द्वारा **[समये समये]** समय समय **[अनेकभेदं]** अनेक भेद लिये **[बध्नंति]** कर्मों को बांधते हैं **[तेन]** इस कारण **[ज्ञानी तु]** ज्ञानी तो **[अबंध इति]** अबंधरूप ही है।

टीका—प्रथम ही ज्ञानी तो आस्रवभाव की भावना के अभिप्राय के अभाव से निरास्रव ही है और उस ज्ञानी के द्रव्यास्रव भी प्रति समय अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों को बांधता है, उसमें ज्ञानगुण का परिणमन कारण है ॥१७०॥

---

१. "ये तु" इत्यपि पाठः।

कथं ज्ञानगुणपरिणामो बंधहेतुरिति चेत्—

जह्मा दु जहराणादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि ।
अरणत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥१७१॥

यस्मात्तु जघन्यात् ज्ञानगुणात् पुनरपि परिणमते ।
अन्यत्वं ज्ञानगुणः तेन तु स बंधको भणितः ॥१७१॥

ज्ञानगुणस्य हि यावज्जघन्यो भावः, तावत् तस्यांतर्मुहूर्तविपरिणामित्वात् पुनः पुनरन्यतयास्ति परिणामः । स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बंधहेतुरेव स्यात् ॥१७१॥

पृथ्वीपिंडसमानाः अकिंचित्करा भवंति । के ते ? पूर्वनिबद्धाः मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययाः । कस्य ? तस्य वीतरागसम्यग्दृष्टेर्जीवस्य । यतो रागाद्यजनकत्वादकिंचित्करास्ततः कारणात्, नवतरद्रव्यकर्मबंधो न भवति । तर्हि पृथ्वीपिंडसमानाः संतः केन रूपेण तिष्ठंति ? **कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेपि णाणिस्स** कार्मणशरीररूपेणैव ते सर्वे बद्धास्तिष्ठंति, न च रागादिभावपरिणतजीवरूपेण । कस्य ? निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदविज्ञानिनो जीवस्येति । किंच यद्यपि द्रव्यप्रत्ययाः कार्मणशरीररूपेण मुष्टिबद्धविषवत्तिष्ठंति तथापि उदयाभावे सुखदुःखविकृतिरूपा बाधां न कुर्वंति । तेन कारणेन ज्ञानिनो जीवस्य, नवतरकर्मास्रवाभाव इति भावार्थः । एवं रागद्वेषमोहरूपास्रवाणां विशेषविवरणरूपेण स्वतंत्रगाथात्रयं गत ॥१६६॥ अथ कथं ज्ञानी निरास्रवः ? इति पृच्छतिः—**चहुविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं** चहुविह इति बहुवचने प्राकृतलक्षणबलेन ह्रस्वत्व । चतुर्विधा मूलप्रत्ययाः कर्तारः ज्ञानावरणादिभेदभिन्नमनेकविध कर्म कुर्वंति । काभ्या कृत्वा ? ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां दर्शनज्ञानगुणौ कथं बंधकारणभूतौ भवतः ? इति चेत्—अयमत्र भावः, द्रव्यप्रत्यया उदयमागताः सतः जीवस्य ज्ञानदर्शनगुणद्वयं रागाद्यज्ञानभावेन परिणमयंति, तदा रागाद्यज्ञानभावपरिणतं

आगे फिर पूछते हैं कि ज्ञानगुण का परिणाम बंध का कारण कैसे है, उसके उत्तर की गाथा कहते हैं:—**[यस्मात् तु]** जिस कारण **[ज्ञानगुणः]** ज्ञानगुण **[पुनरपि]** फिर भी **[जघन्यात् ज्ञानगुणात्]** जघन्य ज्ञानगुण से **[अन्यत्वं]** अन्य रूपसे **[परणमते]** परिणमन करता है **[तेन तु]** इसी कारण **[सः]** वह ज्ञानगुण **[बंधको भणितः]** कर्म का बंध करने वाला कहा गया है ।

टीका—जब तक ज्ञानगुण का जघन्य भाव है—क्षयोपशमरूप भाव है, तब तक अंतमुहूर्त विपरिणामी है, ज्ञानभावरूप अन्तर्मुहूर्त ही रहता है, उसके बाद अन्य प्रकार परिणमन करता है । वह यथाख्यात चारित्र अवस्था के नीचे अवश्यंभावी राग परिणाम का सद्भाव होने से बंध का कारण ही है ।

भावार्थ—क्षयोपशमज्ञान का एक ज्ञेयके ऊपर ठहरना अंतर्मुहूर्त ही होता है, पीछे अवश्य अन्य ज्ञेयको अवलंबन करता है । इस कारण स्वरूप में भी अंतमुहूर्त ही ठहरना हो सकता है । इसलिये ऐसा अनुमान है कि यथाख्यात चारित्र अवस्था के नीचे अवश्य राग परिणाम का सद्भाव है, उस राग के सद्भाव से बंध भी होता है । इसकारण ज्ञान गुणका जघन्य भाव बंधका कारण कहा गया है ॥१७१॥

एवं सति कथं ज्ञानी निरास्रवः इति चेत्—

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण ।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥१७२॥

दर्शनज्ञानचारित्रं यत्परिणमते जघन्यभावेन ।
ज्ञानी तेन तु बध्यते पुद्गलकर्मणा विविधेन ॥१७२॥

यो हि ज्ञानी स 'बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोहरूपास्रवभावाभावात् निरास्रव एव, किंतु सोऽपि यावज्ज्ञानं सर्वोत्कृष्टभावेन द्रष्टुं ज्ञातुमनचरितुं वाऽशक्तः सन् जघन्यभावेनैव ज्ञानं पश्यति जाना-

---

ज्ञानदर्शनगुणद्वयं बंधकारणं भवति । वस्तुतस्तु रागाद्यज्ञानभावेपरिणत ज्ञानदर्शनगुणद्वयं अज्ञानमेव भण्यते । तत्एव **'अणाणदंसणगुणेहि'** इति पाठान्तरं केचन पठंति । **समए समए जह्मा तेण अबंधुत्ति णाणी दु** समये समये यस्मात् प्रत्ययाः कर्तार । ज्ञानदर्शनगुणं रागाद्यज्ञानभावपरिणतं कृत्वा नवतरं कर्म कुर्वंति । तेन कारणेन भेदज्ञानी बंधको न भवति । किं तु ज्ञानदर्शनरंजकत्वेन प्रत्यया एव बंधका, इति ज्ञानिनो निरास्रवत्वं सिद्धं ॥१७०॥ अथ कथं ज्ञानगुणपरिणामो बंधहेतुरिति पुनरपि पृच्छति:—**जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि अण्णत्तं णाणगुणो** यस्मात् यथाख्यातचारित्रात्पूर्वं जघन्यो हीनः सकषायो ज्ञानगुणो भवति । तस्मात्—जघन्यत्वादेव ज्ञानगुणात् सकाशात्, अंतर्मुहूर्तानंतरं निर्विकल्पसमाधौ स्थातु न शक्नोति जीवः । ततः कारणात् अन्यत्वं सविकल्पक-पर्यायांतरं परिणमति । स कः ? कर्ता । ज्ञानगुणः । **तेण दु सो बंधगो भणिदो** तेन सविकल्पेन कषायभावेन स ज्ञानगुणो बंधको भणितः । अथवा द्वितीयव्याख्यानं । जघन्यात् कोऽर्थः, जघन्यात् मिथ्यादृष्टिज्ञानगुणात् । काललब्धि-वशेन सम्यक्त्वे प्राप्ते सति ज्ञानगुणः कर्ता मिथ्यापर्यायं त्यक्त्वा अन्यत्वं सम्यग्ज्ञानित्वं परिणमति । **तेण दु सो बंधगो**

आगे फिर पूछते हैं कि यदि ज्ञान गुण का जघन्यभाव अन्यत्व रूप परिणाम बंध का कारण है तो ज्ञानी निरास्रव है, ऐसा किस तरह से कहा ? उसके उत्तर की गाथा कहते हैं;—**[दर्शनज्ञानचारित्रं]** दर्शनज्ञानचारित्र **[यत्]** जिस कारण **[जघन्यभावेन]** जघन्य भाव से **[परिणमते]** परिणमन करते हैं **[तेन तु]** इस कारण से **[ज्ञानी]** ज्ञानी **[विविधेन]** अनेक प्रकार के **[पुद्गलकर्मणा]** पुद्गल कर्मों से **[बध्यते]** बंधता है ।

टीका—निश्चय से जो ज्ञानी है वह बुद्धि पूर्वक राग द्वेष मोहरूप आस्रव भाव के अभाव से निरास्रव ही है । वहां यह विशेषता है कि वही ज्ञानी जब तक ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट भाव से देखने को, जानने को, आचरण करने को असमर्थ है तथा जघन्य भाव से ही ज्ञान को देखता है, जानता है, आचरण करता है तब तक उस ज्ञानी के भी ज्ञान के जघन्य भाव की अन्यथा अप्राप्ति से अनुमान रूप

---

१. बुद्धिपूर्वकास्ते परिणामा ये मनोद्वारा बाह्यविषयानालंब्य प्रवर्तंते, प्रवर्तमानाश्च स्वानुभवगम्याः अनुमानेन परस्यापि गम्या भवंति । अबुद्धि-पूर्वकास्तु परिणामा इन्द्रियमनोव्यापारमंतरेण केवल मोहोदयनिमित्तास्ते तु स्वानुभवगोचरत्वादबुद्धिपूर्वका इति विशेषः ।

त्यनुचरति च तावत्तस्यापि जघन्यभावान्यथानुपपत्त्याऽनुमीयमानाबुद्धिपूर्वक[1]कलंकविपाकसद्भावात् पुद्गलकर्मबंधः स्यात् । अतस्तावज्ज्ञानं द्रष्टव्यं ज्ञातव्यमनुचरितव्यं च यावज्ज्ञानस्य यावान् पूर्णो भावस्तावान् दृष्टो ज्ञातोऽनुचरितश्च सम्यग्भवति । ततः साक्षात् ज्ञानीभतः सर्वथा निरास्रव एव स्यात् ॥१७२॥

भणिदो तेन कारणेन स ज्ञानगुणो ज्ञानगुणपरिणतजीवो वा अबंधको भणित इत्यभिप्रायः ॥ १७१ ॥ अथ यथाख्यातचारित्राधस्तादंतर्मुहूर्तानंतरं निर्विकल्पसमाधौ स्थातु न शक्यत इति भणितं पूर्वं । एवं सति कथं ज्ञानी निरास्रव इति चेत्;—**दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण** ज्ञानी तावदीहापूर्वरागादिविकल्पकरणाभावान्निरास्रव एव । किं तु सोऽपि यावत्कालं परमसमाधेरनुष्ठानाभावे सति शुद्धात्मस्वरूपं द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं वासमर्थः तावत्कालं तस्यापि सबंधि यद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रं तज्जघन्यभावेन सकषायभावेन अनीहितवृत्त्या परिणमति । **णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण** तेन करणेन स तु भेदज्ञानी स्वकीयगुणस्थानानुसारेण परंपरया मुक्तिकारणभूतेन तीर्थंकरनामकर्मप्रकृत्यादिपुद्गलरूपेण विविधपुण्यकर्मणा बध्यते । इति ज्ञात्वा ख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिविभावपरिणामपरिहारेण निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा तावत्पर्यंतं शुद्धात्मस्वरूपं द्रष्टव्यं ज्ञातव्यमनुचरितव्यं च । यावत्तस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य परिपूर्णः केवलज्ञानरूपो भावो दृष्टो ज्ञातोऽनुचरितश्च भवतीति भावार्थः । एवं ज्ञानिनो भावास्रवस्वरूपनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं ॥ १७२ ॥ अथ द्रव्यप्रत्ययेषु विद्यमानेषु कथं ज्ञानी निरास्रवः ? इति

किया गया अबुद्धिपूर्वक कर्ममलकलंक का सद्भाव है । इसलिये पुद्गल कर्म का बंध होता है इस कारण यह उपदेश है कि तभी तक ज्ञान को देखना, जानना और आचरण करना, जब तक ज्ञान का जितना पूर्ण भाव है उतना देखा, जाना, आचरण करना अच्छी तरह न हो जाय । उसके बाद साक्षात् ज्ञानी हुआ सर्वथा निरास्रव ही होता है ।

भावार्थ—ज्ञानी को निरास्रव इस तरह कहा है कि जब तक इसके क्षयोशमज्ञान है, तब तक तो बुद्धि पूर्वक अज्ञानमय राग द्वेष मोह का अभाव है इसलिये निरास्रव है और जब तक क्षयोपशमज्ञान है, तब तक दर्शन ज्ञान चारित्र जघन्य भाव से परिणमते हैं, तब तक संपूर्ण ज्ञान का देखना, जानना, आचरण होना नहीं होता । सो इस जघन्यभाव से ही ऐसा जानते हैं कि इसके अबुद्धि पूर्वक कर्म कलंक विद्यमान है, उसी से बंध भी होता है वह चारित्र मोह के उदय से है, अज्ञानमय भाव नहीं है । इसलिये ऐसा उपदेश है कि जब तक ज्ञान संपूर्ण न हो—केवल ज्ञान न प्रकट हो तब तक ज्ञान का ही ध्यान निरंतर करना, ज्ञान को ही देखना, ज्ञान को ही जानना, ज्ञान को ही आचरना । इसी मार्ग से ही चारित्र मोह का नाश होता है और केवल ज्ञान प्रकट होता है तब सब तरह से साक्षात् निरास्रव होता है । यह विवक्षा की विचित्रता है । बुद्धिपूर्वक रागादिक के अभाव की अपेक्षा तो अबुद्धिपूर्वक रागादिक होने पर भी निरास्रव कहा है और अबुद्धिपूर्वक का अभाव होने के बाद तो केवल ज्ञान ही उत्पन्न होगा, तब साक्षात् निरास्रव होगा ही ॥१७२॥

---

१. कर्म कलंक इत्यर्थः ।

संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं,
वारंवारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन्।
उच्छिदन् परिवृत्तिमेव[1] सकलां ज्ञानस्य पूर्णोभवन्-
नात्मानित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा॥ ११६॥
सर्वस्यामेव जीवंत्यां द्रव्यप्रत्ययसंततौ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः॥ ११७॥

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण॥ १७३॥
संति दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेव पुरिसस्स।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स॥ १७४॥
होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं॥ १७५॥

चेत्;—**सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स** सर्वे पूर्वनिबद्धा द्रव्यप्रत्ययाः सति तावत्सम्यग्दृष्टेः। **उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण** यद्यपि विद्यंते तथाप्युपयोगेन प्रायोग्यं तत्कालोदयप्रायोग्यकर्मतापन्नं कर्मं

अब इसी अर्थ का कलश रूप काव्य कहते है,—**संन्य** इत्यादि। **अर्थ**—यह आत्मा जब ज्ञानी होता है तब अपने बुद्धि पूर्वक सभी राग को आप निरतर दूर करता है और अबुद्धिपूर्वक राग को भी जीतने के लिये वारंवार अपनी ज्ञानानुभवन रूप शक्ति का स्पर्श करता हुआ प्रवृत्त होता है तथा ज्ञान के समस्त पलटने को दूर करता हुआ ज्ञान को स्वरूप में ठहराना पूर्ण हुआ प्रवृत्त होता है। जब ऐसा ज्ञानी होता है तब शाश्वत निरास्रव होता है।

भावार्थ—जब सब राग को हेय जाना तब उसके मेटने के लिए उद्यमी होता है अतः सदा निरास्रव ही कहना चाहिए, क्योंकि इसके आस्रव भावों की भावना के अभिप्राय का अभाव है। यहां बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक की दो सूचनाये हैं। एक तो वह कि आप तो करना नही चाहता किन्तु पर निमित्त से जबरदस्ती से हो, उसको आप जानता है तो भी उसको बुद्धि पूर्वक कहना चाहिए। और दूसरा वह कि अपने ज्ञान गोचर ही नही प्रत्यक्ष ज्ञानी जिसे जानते हैं तथा उसके अविनाभावी चिन्ह के अनुमान से उसे जानते हैं उसे अबुद्धि पूर्वक जानना॥ १२६॥

आगे पूछते हैं कि सभी द्रव्यास्रव की संतति को जीवित रखने से ज्ञानी निरास्रव किस प्रकार है? ऐसे प्रश्न का श्लोक कहते हैं—**सर्वस्या** इत्यादि। **अर्थ**—ज्ञानी के सभी द्रव्यास्रव की संतति के जीने

---

१. परिवृत्ति—इत्यपि पाठः।

एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो होदि (भणिदो) ।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥ १७६ ॥ (चतुष्कं)

सर्वे पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययाः संति सम्यग्दृष्टेः ।
उपयोगप्रायोग्यं बध्नंति कर्मभावेन ॥ १७३ ॥
संति तु निरुपभोग्यानि बाला स्त्री यथेह पुरुषस्य ।
बध्नाति तानि उपभोग्यानि तरुणी स्त्री यथा नरस्य ॥ १७४ ॥
भूत्वा निरुपभोग्यानि तथा बध्नाति यथा भवंत्युपभोग्यानि ।
सप्ताष्टविधानि भूतानि ज्ञानावरणादिभावैः ॥ १७५ ॥
एतेन कारणेन तु सम्यग्दृष्टिरबंधको भणितः ।
आस्रवभावाभावे न प्रत्यया बंधका भणिताः ॥ १७६ ॥

बध्नंति । केन कृत्वा ? भावेन रागादिपरिणामेन, नचास्तित्वमात्रेण बंधकारणं भवंतीति । **संतावि णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेव पुरिसस्स** संत्यपि विद्यमानान्यपि कर्माणि क्वचित्प्राकृते लिंगव्यभिचारोऽपि. इति वचनान्नपुंसक

मे ज्ञानी नित्य ही निरास्रव है ऐसा क्यो कहा ? ऐसी शिष्य की आशंका रूप बुद्धि है उसके उत्तर मे गाथा कहते है,—**[सम्यग्दृष्टेः]** सम्यग्दृष्टि के **[सर्वे]** सभी **[पूर्वनिबद्धाः तु]** पूर्व अज्ञान अवस्था मे बांधे **[प्रत्ययाः]** मिथ्यात्वादि आस्रव **[संति]** सत्ता रूप मौजूद है वे **[उपयोगप्रायोग्यं]** उपयोग के प्रयोग करने रूप जैसे हो वैसे **[कर्मभावेन]** उसके अनुसार कर्म भाव से **[बध्नंति]** आगामी बंध को प्राप्त होते है **[निरुपभोग्यानि]** और जो पूर्व बंधे प्रत्यय उदय विना आये भोगने के अयोग्य **[भूत्वा]** होकर स्थित है वे फिर **[तथा बध्नंति]** आगामी उस तरह बंधते है **[यथा]** जैसे **[ज्ञानावरणादि भावैः]** ज्ञानावरणादि भावों के द्वारा **[सप्ताष्टविधानि]** सात आठ प्रकार फिर **[उपभोग्यानि]** भोगने योग्य **[भवंति]** हो जायं **[तु]** और **[निरुपभोग्यानि संति]** वे पूर्व बंधे प्रत्यय सत्ता में ऐसे है **[यथा]** जैसे **[इह]** इस लोक में **[पुरुषस्य]** पुरुष के **[बालास्त्री]** बालिका स्त्री भोगने योग्य नहीं होती **[तानि]** और वे ही **[उपभोग्यानि]** भोगने योग्य होते हैं तब **[बध्नाति]** पुरुष को बांधते है **[यथा]** जैसे **[तरुणी स्त्री]** वही बाला स्त्री जवान हो जाय तब **[नरस्य]** पुरुष को बांध लेती है अर्थात् पुरुष उसके आधीन हो जाता है यही बंधना है । **[एतेन तु कारणेन]** इसी कारण से **[सम्यग्दृष्टिः]** सम्यग्दृष्टि **[अबंधकः]** अबंधक **[भणितः]** कहा गया है क्योंकि **[आस्रवभावाभावे]** आस्रवभाव जो राग-द्वेष-मोह उनका अभाव होने से **[प्रत्ययाः]** मिथ्यात्व आदि प्रत्यय सत्ता में होने पर भी **[बंधकाः]** आगामी कर्म बंध के करने वाले **[न]** नहीं **[भणिताः]** कहे गये हैं ।

यतः सदवस्थायां तदात्वपरिणीतबालस्त्रीवत् पूर्वमनुपभोग्यत्वेऽपि विपाकावस्थायां प्राप्तयौवनपूर्वपरिणीतस्त्रीवत् उपभोग्यत्वात्[1] उपयोगप्रायोग्यं पुद्गलकर्मद्रव्यप्रत्ययाः संतोऽपि कर्मोदयकार्यजीवभावसद्भावादेव बध्नंति ततो ज्ञानिनो यदि द्रव्यप्रत्ययाः पूर्वबद्धाः संति । संतु, तथापि स तु निरास्रव एव कर्मोदयकार्यस्य रागद्वेषमोहरूपस्यास्रवभावस्याभावे द्रव्यप्रत्ययानामबंधहेतुत्वात् ॥१७३।१७४।१७५।१७६॥

लिंगे पुल्लिगनिर्देशः । पुल्लिगेऽपि नपुसकलिंगनिर्देशः । कारके कारकांतरनिर्देशो भवति, इति । तानि कर्माणि उदयात्पूर्वं निरुपभोग्यानि भवंति । केन दृष्टांतेन ? बाला स्त्री यथा पुरुषस्य । **बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स** तानि कर्माणि उदयकाले उपभोग्यानि भवंति । रागादिभावेन नवतराणि च बध्नंति । कथं ? यथा तरुणी स्त्री नरस्येति ।

टीका—जैसे तत्काल की विवाहित बाल स्त्री पहले बालक अवस्था मे पुरुष के भोगने योग्य नही होती, फिर वही स्त्री जब तरुणी हो जाय, तब यौवन अवस्था मे भोगने योग्य होती है तब पुरुष भी उसके आधीन हो जाता है। उसी प्रकार पहले बांधे कर्म जब तक सत्ता अवस्था में है तब तक भोगने योग्य नही होते, फिर वे ही कर्म जब विपाक अवस्था को प्राप्त हो जाते है तब उस उदय अवस्था में भोगने योग्य हो जाते है तब जैसा आत्मा का उपयोग विकार सहित हो उसी योग्यता के अनुसार पुद्गल कर्म रूप द्रव्य प्रत्यय सत्ता रूप होने पर भी कर्म के उदयानुसार जीव के भावों के सद्भाव से ही बंध को प्राप्त होते हैं। इस कारण ज्ञानी के द्रव्यकर्मरूप प्रत्यय (आस्रव) सत्ता में मौजूद हैं तो भी वह ज्ञानी तो निरास्रव ही है, क्योंकि कर्म के उदय का कार्य जो जीव का भाव राग द्वेष मोह रूप आस्रवभाव उसके अभाव होने पर द्रव्यास्रव बंध के कारण नही है।

भावार्थ—सत्ता में मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रव विद्यमान है तो भी वे आगामी कर्म बंध के करने वाले नही हैं। क्योंकि बंध के करने वाले तो जीव के राग द्वेष मोह रूप भाव होते है अतः मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रव के उदय के और जीव के भावों के कार्य कारण भाव निमित्त नैमित्तिक रूप है। जब मिथ्यात्वादि का उदय आता है, तब जीव का राग द्वेष मोहरूप जैसा भाव हो, उस भाव के अनुसार आगामी बंध होता है। और जब सम्यग्दृष्टि हो जाता है, तब मिथ्यात्व सत्ता मे से नाश हो जाता है उस समय उसके साथ अनंतानुबंधी कषाय तथा उस संबधी अविरति, योग भाव ये भी नष्ट हो जाते है तब उस संबंधी जीव के राग-द्वेष-मोह भाव भी नहीं होते और उस मिथ्यात्व अनतानुबंधी का बंध भी आगामी नही होता। तथा मिथ्यात्व का उपशम होता है, वह सत्ता में ही रहता है तब सत्ता का द्रव्य उदय के विना बंध का कारण ही नहीं है। और जब तक अविरत सम्यग्दृष्टि आदिक गुणस्थानों की परिपाटी में चारित्र मोह के उदय संबंधी बध कहा गया है, वह यहां संसार सामान्य की अपेक्षा तो बंध में गिना नहीं है क्योंकि ज्ञानी अज्ञानी का भेद है। जब तक कर्म के उदय में कर्म का स्वामित्व रखकर परिणमन करता है तब तक ही कर्म का कर्ता कहा गया है, जब पर के निमित्त से परिणमन करे तब उसका

---

१. उपभोग इत्यपि पाठः।

विजहति नहि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः समयमनुसरंतो यद्यपि द्रव्यरूपाः ।
तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासादवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबंधः ॥११८॥
रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः । तत एव न बंधोऽस्य, ते हि बंधस्य कारणं॥११९॥

अथ तमेवार्थं दृढयति । उदयात्पूर्वं निरुपभोग्यानि भूत्वा कर्माणि स्वकीयस्वकीयगुणस्थानानुसारेण, उदयकालं प्राप्य यथा यथा भोग्यानि भवंति, तथा तथा रागादिभावेन परिणामेन आयुष्कबंधकाले अष्टविधभूतानि शेषकाले सप्तविधानि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभावेन पर्यायेण नवतराणि बध्नंति, नवास्तित्वमात्रेणेति । रागादिभावास्रवस्याभावे द्रव्यप्रत्यया अस्तित्वमात्रेण बंधकारणं न भवंति । एतेन कारणेन सम्यग्दृष्टिरबंधको भणित इति । किं च विस्तरः, मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया चतुर्थगुणस्थाने सरागसम्यग्दृष्टिः, त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामबंधकः । सप्ताधिकसप्ततिप्रकृतीनामल्पस्थित्यनुभागरूपाणां बंधकोऽपि संसारस्थितिच्छेदं करोति । तथा चोक्तं सिद्धांते "द्वादशांगावगमस्तत्तीव्रभक्तिरनिवृत्तिपरिणामः केवलिसमुद्घातश्चेति संसारस्थितिघातकरणानि भवंति" तद्यथा, तत्र द्वादशांगश्रुतविषये अवगमो ज्ञानं व्यवहारेण बहिर्विषयः । निश्चयेन तु वीतरागस्वसंवेदनलक्षणं चेति । भक्तिः पुन. सम्यक्त्वं भण्यते व्यवहारेण सरागसम्यग्दृष्टीनांपंचपरमेष्ठ्याराधनारूपा । निश्चयेन वीतरागसम्यग्दृष्टीना शुद्धात्मतत्त्वभावनारूपा चेति । न निवृत्तिरनिवृत्तिः शुद्धात्मस्वरूपादचलनं एकाग्रपरिणतिरिति । तत्रैवं सति द्वादशांगावगमो निश्चयव्यवहारज्ञानं जातं । भक्तिस्तु निश्चयव्यवहारसम्यक्त्वं जातं । अनिवृत्तिपरिणामस्तु सरागचारित्रानंतरं वीतरागचारित्रं जातमिति सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि भेदाभेदरत्नत्रयरूपेण संसारविच्छित्तिकारणानि भवंति । केषां ? छद्मस्थानामिति । केवलिनां तु भगवतां दंडकपाटप्रतरलोकपूरणरूपः केवलिसमुद्घातः संसारविच्छित्तिकारणमिति भावार्थः । एवं द्रव्यप्रत्यया विद्यमाना अपि रागादिभावास्रवाभावे सति बंधकारणं न भवंतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतं ॥१७३।१७४।१७५।१७६॥ अथ यतएव कर्मबंधहेतुभूता रागद्वेषमोहा

ज्ञाता द्रष्टा हो ज्ञानी ही है, कर्ता नहीं है । इस तरह अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि हुए बाद चारित्रमोह का उदयरूप परिणाम होने पर भी ज्ञानी ही कहा गया है । जब तक मिथ्यात्व का उदय है, तब तक उस संबंधी राग द्वेष मोह भाव रूप परिणमन से अज्ञानी कहा जाता है । ऐसे ज्ञानी अज्ञानी कहने का भेद जानना । इस प्रकार बंध अबंध का विशेष है । और शुद्धस्वरूप में लीन रहने के अभ्यास से साक्षात् संपूर्ण ज्ञानी केवल ज्ञान प्रकट होने से होता है तब सर्वथा निरास्रव हो जाता है ॥१७३।१७४।१७५।१७६॥

अब इस अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं—**विजहति** इत्यादि । **अर्थ**—यद्यपि पहले अज्ञान अवस्था में बंध रूप जो हुए थे वे द्रव्यरूप प्रत्यय (द्रव्यास्रव) सत्ता में विद्यमान हैं क्योंकि उनका उदय अपनी स्थिति के अनुसार है इसलिये जब तक उदय का समय नहीं आता तब तक सत्ता में ही द्रव्यास्रव रहते हैं वे अपनी सत्ता को नहीं छोड़ते तोभी ज्ञानी के समस्त रागद्वेष मोह के अभाव से नवीन कर्म का बंध कभी अवतार नहीं रखता ।

भावार्थ—राग द्वेष मोह भावों के विना सत्ता का द्रव्यास्रव बंध का कारण नहीं है । यहां सकल राग द्वेष मोह का अभाव बुद्धिपूर्वक जानना ॥११८॥

इसी अर्थ के दृढ़ करने के लिए गाथा की उत्थानिका में श्लोक कहते हैं;—**राग** इत्यादि ।**अर्थ**—जब ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह का होना असंभव है तब ज्ञानी के बंध नहीं है क्योंकि रागद्वेषमोह ही बंध के कारण हैं ॥११९॥

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स ।
तह्मा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ॥ १७७ ॥
हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं ।
तेसिं पि य रागादी तेसिमभावे ण वज्झंति ॥ १७८ ॥ (युग्मम्)

रागो द्वेषो मोहश्च आस्रवा न संति सम्यग्दृष्टेः ।
तस्मादास्रवभावेन विना हेतवो न प्रत्यया भवंति ॥ १७७ ॥
हेतुश्चतुर्विकल्पः अष्टविकल्पस्य कारणं भणितं ।
तेषामपि च रागादयस्तेषामभावे न बध्यंते ॥ १७८ ॥

रागद्वेषमोहा न संति सम्यग्दृष्टेः सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेः । तदभावे न तस्य द्रव्यप्रत्ययाः पुद्गलकर्महेतुत्वं बिभ्रति द्रव्यप्रत्ययानां पुद्गलकर्महेतुत्वस्य रागादिहेतुत्वात् । ततो 'हेतुहेत्वभावे हेतुमदभावस्य प्रसिद्धत्वात् ज्ञानिनो नास्ति बंधः ॥ १७७ ॥ १७८ ॥

ज्ञानिनो न संति, ततएव तस्य कर्मबंधो नास्तीति कथयति—**रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स** रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न भवंति, सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः । तथाहि, अनंतानुबंधिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनिता रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न संतीति पक्षः । कस्मात् ? इति चेत्, केवलज्ञानाद्यनंतगुणसहितपरमात्मोपादेयत्वे सति वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषट्द्रव्यपंचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य मूढत्रयादिपंचविंशतिदोषरहितस्य—"संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती । वच्छल्लं अणुकंपा गुणट्ठ सम्मत्तजुत्तस्स ।" इति गाथाकथितलक्षणस्य

आगे इसी अर्थ के समर्थन की गाथा कहते हैं:—**[रागः]** राग **[द्वेषः]** द्वेष **[च मोहः]** और मोह **[आस्रवाः]** ये आस्रव **[सम्यग्दृष्टेः]** सम्यग्दृष्टि के **[न संति]** नहीं है **[तस्मात्]** इसलिये **[आस्रवभावेन विना]** आस्रवभाव के विना **[प्रत्ययाः]** द्रव्यप्रत्यय **[हेतवः]** कर्मबंध का कारण **[न भवंति]** नहीं हैं **[चतुर्विकल्पः]** मिथ्यात्व आदि चार प्रकार का **[हेतुः]** हेतु **[अष्टविकल्पस्य]** आठ प्रकार के कर्म के बंधने का **[कारणं भणितं]** कारण कहा गया है **[च]** और **[तेषामपि]** उन चार प्रकार के हेतुओं को भी **[रागादयः]** जीव के रागादिक भाव कारण है सो सम्यग्दृष्टि के **[तेषां अभावे]** उन रागादिक भावों का अभाव होने से **[न बध्यंते]** कर्मबंध नहीं है ।

टीका—सम्यग्दृष्टि के राग द्वेष मोह नहीं है; क्योंकि राग द्वेष मोह के अभाव के विना सम्यग्दृष्टित्व नहीं बन सकता । रागद्वेषमोह के अभाव से उस सम्यग्दृष्टि के द्रव्यास्रव पुद्गल कर्म के बंधने का कारण नहीं बनते । क्योंकि द्रव्यास्रव के पुद्गल कर्म बंधने का कारणपने का कारणपना रागादिक ही है इसलिये कारण के कारण का अभाव होने से कार्य का अभाव अच्छी तरह प्रसिद्ध है । इस कारण ज्ञानी के बंध नहीं है ।

१. हेतुहेतुत्वाभावे, इत्यपि पाठः ।

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्नमैकाग्र्यमेव कलयंति सदैव ये ते।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवंतः पश्यंति बंधविधुरं समयस्य सारं ॥ १२० ॥

चतुर्थगुणस्थानवर्तिसरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः। अथवा, अनतानुबंध्यप्रत्याख्यानावरणसंज्ञाः क्रोधमानमायालोभोदयजनिता रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न संतीति पक्षः। कस्मात् ? इति चेत्; निर्विकारपरमानंदैकसुखलक्षणपरमात्मोपादेयत्वे सति षट्द्रव्यपंचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य मूढत्रयादिपचविंशतिदोषरहितस्य तदनुसारि—प्रशमसवेगानुकम्पादेवधर्मादिविषयास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणस्य पंचमगुणस्थानयोग्यदेशचारित्राविनाभाविसरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतु। अथवा अनतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभोदयजनितरागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न संतीति पक्षः। कस्मादिति चेत्, चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मोपादेयत्वे सति षट्द्रव्यपंचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य-मूढत्रयादिपचविंशतिदोषरहितस्य तदनुसारिप्रशमसवेगानुकंपादेवधर्मादिविपयास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणस्य षष्ठगुणस्थानरूपसरागचारित्राविनाभाविसरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः। अथवा अनंतानुबंध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रोधमानमायालोभतीव्रोदयजनिताः प्रमादोत्पादकाः रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न सतीति पक्षः। कस्मात् ? इति चेत्—शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मोपादेयत्वे सति तद्योग्यस्वकीयशुद्धात्मसमाधिसंजातसहजानंदैकस्वलक्षणसुखानुभूतिमात्रस्वरूपाऽप्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिवीतरागचारित्राविनाभूतवीतरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः। तथाचोक्तं—'आद्या

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि, रागद्वेषमोह के अभाव विना नहीं होता—ऐसा अविनाभाव नियम कहा है सो यहां मिथ्यात्वसम्बन्धी रागादिको का अभाव जानना उन्ही को रागादि माना गया है। सम्यग्दृष्टि होने के बाद कुछ चारित्रमोह सम्बन्धी राग रहता है सो यहां पर नही गिना वह गौण है इसलिये उन भावास्रवों के विना द्रव्यास्रव बंध के कारण नहीं हैं, कारण का कारण न हो तभी कार्य का भी अभाव हो जाता है यह प्रसिद्धि है। इसलिये सम्यग्दृष्टि ज्ञानी ही है इसके बध नही है। यहां सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहने की अपेक्षा ऐसा जानना कि प्रथम तो जिसके ज्ञान हो वही ज्ञानी कहलाता है सो सामान्य ज्ञान की अपेक्षा तो सभी जीव ज्ञानी है और सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञान की अपेक्षा ली जाय तो सम्यग्दृष्टि के सम्यग्ज्ञान है उसकी अपेक्षा ज्ञानी है तथा मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। यदि सम्पूर्ण ज्ञान की अपेक्षा ज्ञानी कहा जाय तो केवली भगवान् ज्ञानी हैं क्योंकि जब तक सर्वज्ञ न हो तव तक पांच भावों के कथन में अज्ञानभाव बारवें गुणस्थान तक सिद्धान्त में कहा है। इस तरह अनेकांत से विधिनिषेध सब अपेक्षा से निर्बाध सिद्ध होते हैं सर्वथा एकांत से कुछ भी नहीं सधता। इस तरह ज्ञानी होके बंध नहीं करता ॥१७७॥१७८॥

यह शुद्धनयका माहात्म्य है, इसलिये शुद्धनयकी महिमा कहते हैं—**अध्यास्य** इत्यादि। **अर्थ**—जो पुरुष शुद्धनयको अंगीकार कर निरन्तर एकाग्रपने का अभ्यास करते हैं वे पुरुष रागादिरहित चित्त वाले हुए बंध से रहित अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को अवलोकन करते हैं। कैसा है शुद्धनय ? कि जिसका चिह्न उज्ज्वल ज्ञान है जो कि किसी का छिपाया नहीं छिपता।

भावार्थ—यहां शुद्धनय से एकाग्र होना कहा है। सो साक्षात् शुद्धनय का होना तो केवल ज्ञान होने पर होता है और शुद्धनय, श्रुतज्ञान का अंश है इसके द्वारा शुद्धस्वरूप का श्रद्धान करना तथा ध्यान कर एकाग्र होना है। सो यह परोक्ष अनुभव है। एक देश शुद्ध की अपेक्षा व्यवहार से प्रत्यक्ष भी कहते है ॥१२०॥

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु रागादियोगमुपयांति विमुक्तबोधाः ।
ते कर्मबंधमिह बिभ्रति पूर्वबद्धद्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालं ॥ १२१ ॥

सम्यक्त्वचारित्रे द्वितीया घ्नन्त्यणुव्रतं । तृतीयाः संयमं तुर्या यथाख्यातं क्रुधादयः ॥' इति गाथापूर्वार्द्धे व्याख्यानं गतं । **तह्मा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति**—यस्माद्गाथायाः पूर्वार्धकथितक्रमेण रागद्वेषमोहा न संति तस्मात्कारणात् रागादिरूपभावास्रवेण विना अस्तित्वमात्रेण, उदयमात्रेण वा द्रव्यप्रत्ययाः सम्यग्दृष्टेर्बंधहेतवो न भवंतीति । **हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं होदि** मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपचतुर्विधो हेतुः ज्ञानावरणादिरूपस्याष्टविधस्य नवतरद्रव्यकर्मणः कारणं भवति । **तेसिं पि य रागादी** तेषामपि मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययानां उदयागताना जीवगतरागादिभावप्रत्ययाः कारणं भवंति । कस्मात् ? इति चेत् **तेसिमभावे ण बज्झंति** तेषां जीवगतरागादिभावप्रत्ययानामभावे सति द्रव्यप्रत्ययेष्वुदयागतेष्वपि वीतरागपरमसामायिकभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणभेदज्ञानस्य सद्भावे सति कर्मणा जीवा न बध्यंते यतः कारणादिति । ततः स्थितं नवतरद्रव्यकर्मास्रवस्योदयागतद्रव्यप्रत्ययाः कारणं, तेषां च जीवगता रागादिभावप्रत्ययाः कारणमिति कारणकारणव्याख्यानं ज्ञातव्यं ॥ १७७ । १७८ ॥ अथ यदुक्तं पूर्वं रागादिविकल्पोपाधिरहितं परमचैतन्यचमत्कारलक्षणनिजपरमात्मपदार्थभावनारहिताना बहिर्मुखजीवाना पूर्वबद्धप्रत्ययाः नवतरकर्म बध्नंति तमेवार्थं दृष्टांताभ्यां दृढयति,—**जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं** यथा पुरुषेण गृहीताहारः स परिणमति अनेकविधं बहुप्रकार । किं ? **मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो** मांसवसारुधिरादीन् पर्यायान् कर्मतापन्नान् परिणमति । कथंभूतः सन् ? उदराग्निसंयुक्तः इति दृष्टांतो गतः । **तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं बज्झंते कम्मं ते**—तथैव च पूर्वोक्तोदराग्निसयुक्ताहारदृष्टांतेन अज्ञानिनश्चैतन्यलक्षणजीवस्य, न च विवेकिनः । पूर्वं ये बद्धाः, मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययाः, जीवगतरागादिपरिणाममुदराग्निस्थानीयं लब्ध्वा ते बहुविकल्पं कर्म बध्नंति । **णयपरिहीणा दु ते जीवा** येषा जीवानां संबंधिनः

अब फिर कहते हैं कि जो इससे चिग जाते हैं वे कर्मों को बांधते है—**प्रच्युत्य** इत्यादि । **अर्थ**—जो पुरुष शुद्धनय से छूट फिर रागादिक के सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं वे ज्ञान को छोड़ कर्मबंध को धारण करते हैं, जिस कर्मबंध ने पूर्वबंधे द्रव्यास्रवों से अनेक प्रकार विकल्पो का जाल कर रक्खा है ।

भावार्थ—फिर शुद्ध नय से चिग जाय तो रागादिक के सम्बन्ध से द्रव्यास्रव के अनुसार अनेक भेदों को लिए कर्मों को बांधता है । नय से चिगने पर जो फिर मिथ्यात्व का उदय आ जाय तब बंध होने लगता है क्योंकि यहां मिथ्यात्व संबंधी रागादिक से बंध होने की प्रधानता की है और उपयोग की अपेक्षा गौण है । शुद्धोपयोग रूप रहने का काल थोड़ा है इसलिए उसके छूटने की अपेक्षा यहां नहीं है । ज्ञान अन्य ज्ञेयो से उपयुक्त होवे तो भी मिथ्यात्व के विना राग का अंश है वह ज्ञानी के अभिप्राय पूर्वक नहीं है इसलिए अल्पबंध संसार का कारण नहीं है । अथवा उपयोग की अपेक्षा ली जाय तो शुद्ध स्वरूप से चिगे और सम्यक्त्व से नहीं छूटे तब चारित्र मोह के राग से कुछ बंध होता है वह अज्ञान के पक्ष में नहीं गिना परन्तु बंध तो अवश्य है उसी के मेंटने को शुद्धनय से न छूटने का और शुद्धोपयोग में लीन होने का सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को उपदेश है ऐसे जानना ॥ १२१ ॥

जह पुरिसेणाहारो गहिओ परिणमइ सो अणेयविहं ।
मंसवसारुहिरादी भावे उयरग्गिसंजुत्तो ॥ १७९ ॥
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं ।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा उ ते जीवा ॥ १८० ॥ (युगलम्)

यथा पुरुषेणाहारो गृहीतः परिणमति सोऽनेकविधं ।
मांसवसारुधिरादीन् भावान् उदराग्निसंयुक्तः ॥ १७९ ॥
तथा ज्ञानिनस्तु पूर्वं बद्धा ये प्रत्यया बहुविकल्पं ।
बध्नंति कर्म ते नयपरिहीनास्तु ते जीवाः ॥ १८० ॥

यदा तु शुद्धनयात् परिहीणो भवति ज्ञानी तदा तस्य रागादिसद्भावात् पूर्वबद्धाः द्रव्यप्रत्ययाः स्वस्य [1]हेतुत्वहेतुसद्भावे हेतुमद्भावस्यानिवार्यत्वात् ज्ञानावरणादिभावैः पुद्गलकर्मबंधं परिणामयंति । न चैतदप्रसिद्धं पुरुषगृहीताहारस्योदराग्निना रसरुधिरमांसादिभावैः परिणामकरणस्य दर्शनात् ॥ १७९।१८० ॥

प्रत्ययाः कर्म बध्नंति ते जीवाः । कथ भूता ? परमसमाधिलक्षणभेदज्ञानरूपात् शुद्धनयाद् भ्रष्टाः च्युताः । अथवा

आगे इसी अर्थ के समर्थन करने को दृष्टांत दिखलाते हैं;—**[यथा]** जैसे **[पुरुषेण]** पुरुष के द्वारा **[गृहीतः]** ग्रहण किया गया **[आहारः]** आहार **[स उदराग्निसंयुक्तः]** वह उदराग्नि से युक्त हुआ **[अनेकविधं]** अनेक प्रकार **[मांसवसारुधिरादीन्]** मांस वसा रुधिर आदि **[भावान्]** भावों रूप **[परिणमति]** परिणमता है **[तथा तु ज्ञानिनः]** उसी तरह ज्ञानी के **[पूर्वं बद्धाः]** पूर्व बंधे **[ये]** जो **[प्रत्ययाः]** द्रव्यास्रव **[ते]** वे **[बहुविकल्पं]** बहुत भेदों को लिये **[कर्म]** कर्मों को **[बध्नंति]** बांधते है । **[ते]** वे **[जीवाः]** जीव **[तु नयपरिहीनाः]** शुद्धनय से छूट गये हैं ।

टीका—जिस समय ज्ञानी शुद्धनय से छूट जाता है उस समय उसके रागादि भावों के सद्भाव से पूर्व बंधे हुए द्रव्यास्रव, वे अपने हेतुत्व के हेतु का सद्भाव होने से कार्य भाव का होना अनिवार्य है अर्थात् अवश्य होते हैं इस कारण ज्ञानावरणादि भावों से पुद्गलकर्म को बंध रूप परिणमाते हैं । यह दृष्टांत से प्रसिद्ध है । जैसे पुरुष से ग्रहण किया गया आहार उदराग्नि से रस, रुधिर, मांस आदि भावों से परिणाम करने का प्रत्यक्ष दर्शन है अर्थात् देखने में आता है उस तरह दृष्टांत में भी जानना ।

भावार्थ—ज्ञानी शुद्धनय से छूटे तब रागादिभावों का सद्भाव होता है तभी रागादिरूप हुआ कर्मों को बांधता है । क्योंकि रागादिभाव द्रव्यास्रव के निमित्त होते हैं तब वे आस्रव अवश्य कर्म-बन्ध के कारण होते हैं ।

१. रागादिसद्भावे ।

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो नहि ।
नास्ति बंधस्तदत्यागात् तत्त्यागाद्बंध एव हि ॥ १२२ ॥
धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन् धृतिं,
त्याज्यः [1]शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणां ।
तत्रस्थाः [2]स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य [3]निर्यद्बहिः,
पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यंति शांतं महः ॥ १२३ ॥
रागादीनां झगिति विगमात् सर्वतोप्यास्रवाणां,
नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु संपश्यतोऽतः ।

द्वितीयव्याख्यानं, ते प्रत्यया अशुद्धनयेन जीवात् सकाशात् परिहीणा भिन्ना न च भवंति । इदमत्र तात्पर्यं, निजशुद्धात्मध्ये-

---

यहां इसी अर्थ का तात्पर्य रूप श्लोक कहते हैं—**इद** इत्यादि । **अर्थ**—यहां पहले कथन का यह तात्पर्य है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नही है क्योंकि उस शुद्धनय के ग्रहण से तो कर्म का बंध नहीं होता और उसके त्याग से कर्म का बंध होता ही है ॥ १२२ ॥ फिर उस शुद्धनय के ही ग्रहण को दृढ़ करते हुए काव्य कहते हैं—**धीरो** इत्यादि । **अर्थ**—पुण्यवान् महान पुरुषों को शुद्धनय कभी छोड़ने योग्य नहीं है । वह ज्ञान में स्थिरता को अतिशय से बांधता है । वह ज्ञान चलाचलपने से रहित और सर्व पदार्थों में विस्तार युक्त महिमा वाला है, अनादि निधन है अर्थात् जिसका आदि-अंत नहीं है । वह शुद्धनय कर्मों को मूल से नाश करने वाला है । ऐसा शुद्धनय में जो स्थित हैं वे पुरुष अपने ज्ञान की व्यक्ति विशेष को तत्काल समेंट कर कर्म के पटल से बाह्य निकलता तथा संपूर्ण ज्ञानघन का समूह स्वरूप निश्चल जो शांत रूप ज्ञानमय प्रताप का पुंज उसे अवलोकन करते (देखते) हैं ।

भावार्थ—शुद्धनय, एक ज्ञानमय तेज (प्रताप) के पुज व एक चैतन्य मात्र आत्मा को समस्त ज्ञान के विशेषों को गौणकर तथा समस्त परनिमित्त से हुए भावों को गौणकर शुद्ध नित्य अभेद (एक) रूप ग्रहण करना है । सो ऐसे शुद्ध के विषयस्वरूप अपने आत्मा को जो अनुभव कर एकाग्र हो स्थित हैं वे ही समस्त कर्मों के समूह से भिन्न केवल ज्ञानस्वरूप अमूर्तीक पुरुषाकार वीतराग ज्ञानमूर्ति स्वरूप अपने आत्मा को देखते हैं । इस शुद्धनय में अंतर्मुहूर्त ठहरने से शुक्लध्यान की प्रवृत्ति होकर केवल ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा इसका माहात्म्य है । सो इसको अवलंबन कर जब तक केवल ज्ञान न उत्पन्न हो तब तक फिर इससे छूटना नहीं ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है ॥ इस तरह आस्रव का अधिकार पूर्ण किया ॥ १२३ ॥ अब रंगभूमि में आस्रव का स्वांग प्रवेश हुआ था उसको ज्ञान ने यथार्थ जान स्वांग दूर कराया और आप प्रगट हुआ इस तरह ज्ञान की महिमा के अर्थरूप काव्य कहते हैं—**रागादीनां** इत्यादि । **अर्थ**—रागादिक आस्रवों के तत्काल (क्षणमात्र में) सब तरह दूर होने से नित्य उद्योत रूप

---

१. आत्मशुद्धत्वानुभवः । २. ज्ञानविशेषव्यक्तिसमूहः । ३. बहिरनात्मपदार्थे निगद् भ्रम्यन् ।

[1]स्फारस्फारैः [2]स्वरसविसरैः प्लावयत्सर्वभावा[3]
नालोकांतादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥ १२४ ॥

इति आस्रवो निष्क्रांतः ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ
आस्रवप्ररूपकः चतुर्थोऽकः ॥ ४ ॥

यरूपसर्वकर्मनिर्मूलनसमर्थशुद्धनयो विवेकिभिर्न त्याज्य इति । एवं कार्यकारणव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतं ॥ १७९।१८० ॥

इति **श्रीजयसेनाचार्य**कृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां **तात्पर्यवृत्तौ** सप्तदश-गाथाभिः पंचस्थलैः संवरविपक्षद्वारेण पंचमःआस्रवाधिकारः समाप्तः ॥ ४ ॥

कुछ परम वस्तु को अंतरंग में अवलोकन करने वाले पुरुष का यह ज्ञान, अति विस्तार रूप फैलता हुआ अपने निज रस के प्रवाह से सब लोक पर्यंत अन्य भावों को अंतर्मग्न करता हुआ उदय रूप प्रगट हुआ। कैसा है ज्ञान ? अचल है अर्थात् ज्यों का त्यों सब पदार्थ जिसमें सदा प्रतिभासित हैं, चले नहीं । फिर कैसा है ? जिसके बराबर दूसरा कोई नहीं है ।

भावार्थ—शुद्धनय को अवलंबन कर जो पुरुष अंगरंग में चैतन्यमात्र परवस्तु को एकाग्र अनुभव करते हैं उनके सब रागादिक आस्रव भाव दूर हो के सब पदार्थों को जानने वाला निश्चय अतुल्य केवल ज्ञान प्रगट होता है । ऐसा यह ज्ञान सब से महान् है । इस प्रकार आस्रव का स्वांग रंगभूमि में प्रवेश हुआ था उसको ज्ञान ने यथार्थ स्वरूप जान लिया तब वह निकल गया ॥ १२४ ॥

सवैया तेईसा—योग कषाय मिथ्यात्व असंयम, आस्रव द्रव्यत आगम गाये,
राग विरोध विमोह विभाव, अज्ञानमयी यह भावित जाये ।
जे मुनिराज करें इनि पाल, सुरिद्धि समाज लये सिव थाये,
काय नवाय नमूं चितलाय, कहूं जय पाय लहूं मन भाये ॥

यहां तक १८० गाथा और १२४ कलशा हुए ॥

इस प्रकार **पंडित जयचंद्रजी** कृत समयसार ग्रंथ की आत्मख्याति नाम टीका की भाषावचनिका में **आस्रव** नाम **चौथा** अधिकार पूर्ण हुआ ॥ ४ ॥

---

१. अनंतानंतैः । २. स्वरसस्य चिद्रूपतायाः विसरैः प्रसरैः । ३. सर्वभावानतीतानागतवर्तमानान् पदार्थान् प्लावयन्नात्मनि प्रतिबिंबितान् कुर्वन्

॥ अथ संवराधिकारः ॥ ५ ॥

अथ प्रविशति संवरः ।

आसंसारविरोधिसंवरजयैकांतावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजयं संपादयत्संवरं ।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक् स्वरूपे स्फुर-
ज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ॥१२५॥

अथ प्रविशति संवरः । संवराधिकारेऽपि यत्र मिथ्यात्वरागादिपरिणतबहिरात्मभावनारूप आस्रवो नास्ति तत्र संवरो भवतीत्यास्रवविपक्षद्वारेण, चतुर्दशगाथापर्यंतं वीतरागसम्यक्त्वरूपसंवरव्याख्यानं करोति । तत्रादौ भेदज्ञानात् शुद्धात्मोपलाभो भवति इति संक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन **उवओगे**—इत्यादि गाथात्रयं । तदनंतरं भेदज्ञानात्कथं शुद्धात्मोपलम्भो भवतीति प्रश्ने परिहाररूपेण **जह कणयमग्गि** इत्यादि गाथाद्वयं । ततः परं शुद्धभावनया पुनः शुद्धो भवतीति मुख्यत्वेन **शुद्धं तु वियाणंतो** इत्यादि गाथैकं । ततः परं केन प्रकारेण संवरो भवतीति पूर्वपक्षे कृते सति परिहारमुख्यतया **अप्पाणमप्पणा** इत्यादि गाथात्रयं । अथात्मा परोक्षस्तस्य ध्यानं कथं क्रियेतेति पृष्टे सति देवतारूपदृष्टांतेन परोक्षेऽपि ज्ञायत इति परिहाररूपेण **उवदेसेण** इत्यादि गाथाद्वयं । तदनंतरं अथोदयप्राप्तप्रत्ययागतानां रागाद्यध्यव-

---

अथ **संवराधिकार** ।

दोहा—"मोह राग रुष दूरिकरि, समिति गुप्ति व्रत पारि ।
संवरमय आतम कियो, नमूं ताहि मन धारि ॥"

अब रंग भूमि में संवर प्रवेश करता है । प्रथम ही टीकाकार मगल के लिये सब स्वांगों को जानने वाले सम्यग्ज्ञान की ज्योति का मंगल करते हैं—**आसंसार** इत्यादि । **अर्थ**—चैतन्यस्वरूपमय स्फुरायमान प्रकाश रूप ज्योति उदयरूप होकर फैलती है । वह ज्योति अनादि संसार से लेकर अपने विरोधी संवर को जीत कर एकांतपने से मद को प्राप्त हुए आस्रव के तिरस्कार से जिसने नित्य ही जीत पाई है ऐसे संवर को उत्पन्न कराती है । तथा परद्रव्य और परद्रव्य के निमित्त से हुए भावों से भिन्न है । वह ज्योति अपने यथार्थ स्वरूप में निश्चित है, उज्ज्वल है निर्बाध, निर्मल, देदीप्यमान प्रकाश रूप है और उसमें ज्ञान प्रवाह रूपी रस का प्राग्भार है अर्थात् अपने रस के बोझे को लिये हुए है अन्य बोझा उतारके रख दिया है ।

भावार्थ—अनादि काल से संवर आस्रव का विरोधी है उसको आस्रव ने जीत लिया था इसलिये मदसे गर्वित हुआ उसका फिर तिरस्कार कर जय को प्राप्त हुए संवर को प्राप्त करता हुआ और सब पररूपों से भिन्न होके अपने स्वरूप में निश्चल हुआ जो यह चैतन्य प्रकाश है वह अपने ज्ञान रस रूप भार को लिये हुए निर्मल उदयरूप होता है ॥१२५॥

तत्रादावेव सकलकर्मसंवरणस्य परमोपायं भेदविज्ञानमभिनंदति—

उवओए उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो ।
कोहे कोहो चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥१८१॥
अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो ।
उवओगह्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥१८२॥
एयं तु अविवरीदं णाणं जइया उ होदि जीवस्स ।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ॥१८३॥ (त्रिकलम्)

उपयोगे उपयोगः क्रोधादिषु नास्ति कोऽप्युपयोगः ।
क्रोधे क्रोधश्चैव हि उपयोगे नास्ति खलु क्रोधः ॥१८१॥
अष्टविकल्पे कर्मणि नोकर्मणि चापि नास्त्युपयोगः ।
उपयोगे च कर्म नोकर्म चापि नो अस्ति ॥१८२॥
एतत्त्वविपरीतं ज्ञानं यदा तु भवति जीवस्य ।
तदा न किंचित्करोति भावमुपयोगशुद्धात्मा ॥१८३॥

सानानामभावे सति जीवगतानां रागादिभावास्रवाणामभावो भवतीत्यादि संवरक्रमाख्यानमुख्यत्वेन **तेसिं हेदू** इत्यादि गाथात्रयं । एवं आस्रवविपक्षद्वारेण संवरव्याख्याने समुदायपातनिका । तद्यथा–प्रथमतस्तावच्छुभाशुभकर्मसंवरस्य परमोपायभूतं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानलक्षणं भेदज्ञानं निरूपयति;—**उवओगे उवओगो** ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वाद-भेदनयेनात्मैवोपयोगस्तस्मिन्नुपयोगाभिधाने शुद्धात्मन्युपयोग आत्मा तिष्ठति **कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो**

आगे संवर के प्रवेश की आदि में ही सब कर्मों के संवर होने के उत्कृष्ट उपाय भेदविज्ञान की प्रशंसा करते हैं;—**[उपयोगे]** उपयोग में **[उपयोगः]** उपयोग है **[क्रोधादिषु]** क्रोध आदिकों में **[कोऽपि उपयोगः]** कोई उपयोग **[नास्ति]** नहीं है **[च]** और **[हि]** निश्चय कर **[क्रोधे एव]** क्रोध में ही **[क्रोधः]** क्रोध है **[उपयोगे]** उपयोग में **[खलु]** निश्चय कर **[क्रोधः नास्ति]** क्रोध नहीं है, **[अष्टविकल्पे कर्मणि]** आठ प्रकार के ज्ञानावरण आदि कर्मों में **[च]** तथा **[नोकर्मणि अपि]** शरीर आदि नोकर्मों में भी **[उपयोगः नास्ति]** उपयोग नहीं है **[च]** और **[उपयोगे]** उपयोग में **[कर्म अपि च नोकर्म]** कर्म और नोकर्म भी **[नो अस्ति]** नहीं है **[यदा तु]** जिस काल में **[एतत्तु]** ऐसा **[अविपरीतं]** सत्यार्थ **[ज्ञानं]** ज्ञान **[जीवस्य]** जीव के **[भवति]** हो जाता है **[तदा]** उस काल में **[उपयोगशुद्धात्मा]** केवल उपयोग स्वरूप शुद्धात्मा **[किंचित् भावं]** उपयोग के विना अन्य कुछ भी भाव **[न करोति]** नहीं करता ।

न खल्वेकस्य द्वितीयमस्ति द्वयोर्भिन्नप्रदेशत्वेनैकसत्तानुपपत्तेस्तदसत्त्वे च तेन सहाधाराधेयसंबंधोऽपि नास्त्येव, ततः स्वरूपप्रतिष्ठत्वलक्षण एवाधाराधेयसंबंधोऽवतिष्ठते। तेन ज्ञानं जानत्तायां स्वरूपे प्रतिष्ठितं। जानत्ताया ज्ञानादपृथग्भूतत्वात् ज्ञाने एव स्यात्। क्रोधादीनि क्रुध्यत्तादौ स्वरूपे प्रतिष्ठितानि, क्रुध्यत्तादेः क्रोधादिभ्योऽपृथग्भूतत्वात्क्रोधादिष्वेव स्युः, न पुनः क्रोधादिषु कर्मणि नोकर्मणि वा ज्ञानमस्ति, न च ज्ञाने क्रोधादयः कर्म नोकर्म वा संति परस्परमत्यंतं स्वरूपवैपरीत्येन परमार्थाधाराधेयसंबंधशून्यत्वात्। न च यथा ज्ञानस्य जानत्तास्वरूपं तथा क्रुध्यत्तादिरपि, क्रोधादीनां च यथा क्रुध्यत्तादिस्वरूपं तथा जानत्तापि कथंचनापि व्यवस्थापयितुं शक्येत, जानत्तायाः क्रुध्यत्तादेश्चस्वभावभेदेनोद्भासमानत्वात् स्वभाव-

---

शुद्धनिश्चयेन क्रोधादिपरिणामेषु नास्ति कोऽप्युपयोग आत्मा **कोहे कोहो चेव हि** क्रोधे क्रोधश्चैव हि स्फुटं तिष्ठति **उवओगे णत्थि खलु कोहो** उपयोगे शुद्धात्मनि नास्ति खलु स्फुट क्रोधः ॥ **अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो** तथैव चाष्टविधज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणि, औदारिकशरीरादिनोकर्मणि चैव नास्त्युपयोगः उपयोग-शब्दवाच्यः शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मा **उवओगम्हि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि** उपयोगे शुद्धात्मनि शुद्धनिश्चयेन कर्म नोकर्म चैव नास्ति इति। **एदं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स** इदं तु चिदानंदैक-स्वभावशुद्धात्मसंवित्तिरूपं विपरीताभिनिवेशरहितं भेदज्ञान यदा भवति जीवस्य **तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा** तस्माद्भेदविज्ञानात्स्वात्मोपलंभो भवति शुद्धात्मोपलभे जाते सति किमपि मिथ्यात्वरागादिभाव न करोति

टीका—निश्चय से एक द्रव्य का दूसरा द्रव्य कुछ भी सम्बन्धी नही है क्योंकि द्रव्य भिन्न भिन्न प्रदेश रूप है इसलिए एक सत्ता की अप्राप्ति है प्रत्येक द्रव्य की सत्ता भिन्न भिन्न है और सत्ता के एक न होने से अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ आधाराधेय सम्बन्ध भी नही है। इस कारण द्रव्य का अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठा रूप आधाराधेय सम्बन्ध स्थित है इसलिए ज्ञान आधेय जानपने अपने स्वरूप आधार में प्रतिष्ठित है क्योंकि जानपना ज्ञान से अभिन्न स्वरूप है अर्थात् भिन्न प्रदेशरूप नही है इस कारण जानने क्रिया स्वरूप ज्ञान है वह ज्ञान में ही है, और क्रोधादिक हैं वे क्रोधरूप क्रिया जो क्रोधपना अपना स्वरूप उसी मे प्रतिष्ठित हैं। क्योंकि क्रोध रूप क्रिया क्रोधादिक से अभिन्न प्रदेश है इसलिए क्रोध रूप क्रिया क्रोधादि में ही होती है। तथा क्रोधादिक में अथवा कर्म नोकर्म में ज्ञान नहीं है और ज्ञान में क्रोधादिक अथवा कर्म नोकर्म नही हैं क्योंकि ज्ञान का तथा क्रोधादिक और कर्म नोकर्म का आपस में स्वरूप का अत्यन्त विपरीतपना है उनका स्वरूप एक नहीं है। इसलिए परमार्थ रूप आधाराधेय सम्बन्ध का शून्यपना है। जैसे ज्ञान का जानन क्रिया रूप जानपना स्वरूप है उस तरह क्रोध रूप क्रियापना स्वरूप नहीं है, तथा जैसे क्रोधादिक का क्रोधपना आदिक क्रियापना स्वरूप है उस तरह जानन क्रिया स्वरूप नहीं है। किसी तरह से ज्ञान को क्रोधादि क्रियारूप परिणामस्वरूप स्थापन नहीं किया जाता क्योंकि जानन क्रिया के और क्रोधरूप क्रिया के स्वभाव को भेद कर प्रकट प्रतिभासमान हैं, स्वभाव के

भेदाच्च वस्तुभेद एवेति नास्ति ज्ञानाज्ञानयोराधाराधेयत्वं । किं च यदा किलैकमेवाकाशं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा शेषद्रव्यांतराधिरोपनिरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति । तदप्रभवे चैकमाकाशमेवैकस्मिन्नाकाश एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति । एवं यदैकमेव ज्ञानं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा शेषद्रव्यान्तराधिरोप निरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति । तदप्रभवे चैकं ज्ञानमेवैकस्मिन् ज्ञान एव प्रतिष्ठितं विभावयतो नापराधाराधेयत्वं प्रतिभाति । ततो ज्ञानमेव ज्ञाने एव । क्रोधादय एव क्रोधादिष्वेवेति साधु सिद्धं भेदविज्ञानं ॥ १८१ । १८२ । १८३ ॥

न परिणमति । कथंभूतः सन् ? निर्विकारचिदानंदैकलक्षणशुद्धोपयोगेन शुद्धात्मा शुद्धस्वभावः सन्निति । यत्रैवंभूतो संवरो नास्ति तत्रास्रवो भवत्यस्मिन्नधिकारे सर्वत्र ज्ञातव्यमिति तात्पर्यं । एव पूर्वप्रकारेण भेदविज्ञानात् शुद्धात्मोपलंभो भवति । शुद्धात्मोपलंभे सति मिथ्यात्वरागादिभावं न करोति ततो नवतरकर्मसंवरो भवतीति संक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं ॥१८१॥१८२॥१८३॥ अथ कथं भेदज्ञानादेव शुद्धात्मोपलंभो भवतीति पुनरपि पृच्छतिः—**जह कणयमग्गितवियं**

भेद से ही वस्तु का भेद है यह नियम है। इसलिये ज्ञान का और अज्ञानस्वरूप क्रोधादिक का आधाराधेय भाव नहीं है। यहां दृष्टांत से विशेष कहते हैं। जैसे आकाश द्रव्य एक ही है उसको अपनी बुद्धि मे स्थापित करके आधाराधेयभाव कल्पित कीजिए तब आकाश के सिवाय अन्य द्रव्यों का तो अधिकरण रूप आरोप का निरोध हुआ इसीसे बुद्धि को भिन्न आधार की अपेक्षा नहीं रही। और जब भिन्न आधार की अपेक्षा न रही तब बुद्धि मे यही ठहरा कि आकाश एक ही है वह एक आकाश में ही प्रतिष्ठित है आकाश का आधार अन्य द्रव्य नहीं है आप अपने ही आधार है। ऐसी भावना करने वाले के अन्य का अन्य में आधाराधेय भाव नहीं प्रतिभासित होता। इसी तरह जब एक ही ज्ञान को अपनी बुद्धि में स्थापित कर आधाराधेय भाव कल्पना करें तब अवशेष अन्य द्रव्यों का अधिरोप करने का निरोध हुआ क्योंकि बुद्धि को भिन्न आधार की अपेक्षा नहीं रहती। जब भिन्न आधार की अपेक्षा ही बुद्धि में न रही तब एक ज्ञान ही ज्ञान में प्रतिष्ठित सिद्ध हुआ। ऐसी भावना करने वाले को अन्य का अन्य में आधाराधेय भाव प्रतिभासित नहीं होता। इसलिए ज्ञान तो ज्ञान में ही है और क्रोधादिक क्रोधादिक में है। इस प्रकार ज्ञान का और क्रोधादिक का तथा कर्म नोकर्म के भेद का ज्ञान अच्छी तरह सिद्ध हुआ।

भावार्थ—उपयोग तो चैतन्य का परिणमन है वह ज्ञान स्वरूप है और क्रोधादिक भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, शरीरादि नोकर्म ये सब पुद्गलद्रव्य के ही परिणाम हैं वे जड़ हैं. इनका और ज्ञान का प्रदेश भेद है, इसलिए अत्यन्त भेद है। उपयोग में तो क्रोधादिक, कर्म, नोकर्म नहीं है और क्रोधादिक, कर्म, नोकर्म में उपयोग नहीं है। इस तरह इनमें परमार्थस्वरूप आधाराधेय भाव नहीं है अपना अपना आधाराधेय भाव अपने अपने में है। इस प्रकार इनमें परस्पर परमार्थ से अत्यन्त भेद है। इस भेद को जानना ही भेदविज्ञान है यह अच्छी तरह सिद्ध होता है ॥ १८१ । १८२ । १८३ ॥

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रंतर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना संतो द्वितीयच्युताः ॥१२६॥

एवमिदं भेदविज्ञानं यदा ज्ञानस्य वैपरीत्यकणिकामप्यनासादयदविचलितमवतिष्ठते तदा शुद्धोपयोगमयात्मत्वेन ज्ञानं ज्ञानमेव केवलं सन्न किंचनापि रागद्वेषमोहरूपं भावमारचयति। ततो भेदविज्ञानाच्छुद्धात्मोपलंभः प्रभवति। शुद्धात्मोपलंभात् रागद्वेषमोहाभावलक्षणः संवरः प्रभवति।

कणयसहावं ण तं परिच्चयदि—यथा कनकं सुवर्णमग्नितप्तमपि तं कनकस्वभावं न परित्यजति। **तह कम्मोदयतविदो ण चयदि णाणी दु णाणित्तं** तेन प्रकारेण तीव्रपरीषहोपसर्गेण कर्मोदयेन संतप्तोऽपि रागद्वेषमोह-

---

अब इसी अर्थ का कलश कहते हैं—**चैद्रूप्यं** इत्यादि। **अर्थ**—यह निर्मल भेदज्ञान उदय को प्राप्त होता है इसका निश्चय करने वाले सत्पुरुषों को सम्बोधन कर कहते हैं कि हे सत्पुरुषो! तुम इस भेदज्ञान को प्राप्त करके दूसरे रागादिभावों से रहित हुए एक शुद्ध ज्ञानघन के समूह को आश्रय कर उसमें लीन होकर बहुत आनद मानो। यह ज्ञान कैसे उदय होता है? चैतन्यरूप को धारण करता ज्ञान और जड़ रूप को धारण करता हुआ राग इन दोनों का जो अज्ञानदशा में एकत्व दीखता था उसको अन्तरंग में अनुभव के अभ्यास रूप बल से अच्छी तरह विदारणकर (सब प्रकार विभाग कर) उदय होता है।

भावार्थ—ज्ञान तो चेतनास्वरूप है और रागादि पुद्गल के विकार होने से जड़ हैं सो दोनों अज्ञान से एक जड़रूप भासते है। सो जब भेदविज्ञान प्रकट हो जाता है तब ज्ञान का और रागादिक का भिन्नत्व अन्तरग अनुभव के अभ्यास से प्रकट होता है तब ऐसा जानता है कि, ज्ञान का स्वभाव तो जाननेमात्र ही है और ज्ञान में जो रागादिक की कलुषता (मलिनता) आकुलतारूप संकल्प विकल्प प्रतिभासित होते हैं ये सब पुद्गल के विकार हैं जड़ हैं। ऐसे ज्ञान और रागादिक के भेद का आस्वाद आता है। यह भेद-विज्ञान सब विभाव भावों के मेंटने का कारण होता है और आत्मा में परमसंवरभाव को प्राप्त करता है। इसलिये सत्पुरुषों से कहते हैं कि इसको पाकर रागादिकों से रहित होकर शुद्ध ज्ञानघन आत्मा का आश्रय लेकर आनंद को प्राप्त होओ ॥१२६॥

अब कहते हैं कि ऐसे यह भेदविज्ञान, जिस समय ज्ञान में रागादिविकाररूप विपरीतपने की कणिका को नहीं प्राप्त करता अविचलित होता है, उस समय वह ज्ञान शुद्धोपयोग स्वरूपपने कर ज्ञान रूप ही केवल हुआ किंचिन्मात्र भी राग द्वेष मोह भाव को प्राप्त नहीं होता। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि भेद-विज्ञान से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है और शुद्धात्मा की प्राप्ति से राग-द्वेष-मोहस्वरूप आस्रवभावों का अभावस्वरूप संवर होता है।

कथं भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलंभ ? इति चेत्—

जह कणयमग्गितवियं पि कणयहावं ण तं परिच्चयइ ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी उ णाणित्तं ॥ १८४ ॥
एवं जाणइ णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं ।
अण्णाणतमोच्छिण्णो आदसहावं अयाणंतो ॥ १८५ ॥ (युग्मं)

यथा कनकमग्नितप्तमपि कनकभावं न तं परित्यजति ।
तथा कर्मोदयतप्तो न जहाति ज्ञानी तु ज्ञानित्वं ॥ १८४ ॥
एवं जानाति ज्ञानी अज्ञानी जानाति रागमेवात्मानं ।
अज्ञानतमोऽवच्छन्नः आत्मस्वभावमजानन् ॥ १८५ ॥

यतो यस्यैव यथोदितं भेदविज्ञानमस्ति स एव तत्सद्भावाज् ज्ञानी सन्नेवं जानाति । यथा प्रचंडपावकप्रतप्तमपि सुवर्णं न सुवर्णत्वमपोहति तथा प्रचंडकर्मविपाकोपष्टब्धमपि ज्ञानं न

परिणामपरिहारपरिणतो भेदरत्नत्रयलक्षणभेदज्ञानी न त्यजति । किं तत् ?—शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं ज्ञानित्वं पांडवादिवदिति । **एवं जाणदि णाणी** एवमुक्तप्रकारेण शुद्धात्मानं जानाति । कोऽसौ ? वीतरागस्वसंवेदनलक्षण-भेदज्ञानी **अण्णाणी मुणदि रागमेवादं** अज्ञानी पुनः पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् मिथ्यात्वरागादिरूपमेवात्मानं मनुते जानाति । कथंभूतः सन् ? **अण्णाणतमोच्छण्णो** अज्ञानतमसोच्छन्नः प्रच्छादितो झंपितः । पुनरपि कथंभूतः सन् । **आदसहावं अयाणंतो** निर्विकारपरमचैतन्यचमत्कारस्वभावं शुद्धात्मानं निर्विकल्पसमाधेरभावादजानन् अननुभवन् इति ।

आगे पूछते हैं कि भेदविज्ञान से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे होती है ? इसका उत्तर गाथा में कहते हैं:—**[यथा]** जैसे **[कनकं]** सुवर्ण **[अग्नितप्तं अपि]** अग्नि से तप्त हुआ भी **[तं]** अपने **[कनकभावं]** सुवर्णपने को **[न परित्यजति]** नहीं छोड़ता **[तथा]** उसी तरह **[ज्ञानी]** ज्ञानी **[कर्मोदयतप्तस्तु]** कर्मों के उदय से तप्तायमान हुआ भी **[ज्ञानित्वं]** ज्ञानीपने के स्वभावको **[न जहाति]** नहीं छोड़ता **[एवं]** इस तरह **[ज्ञानी]** ज्ञानी **[जानाति]** जानता है । और **[अज्ञानी]** अज्ञानी **[रागमेव]** राग को ही **[आत्मानं]** आत्मा जानता है क्योंकि वह अज्ञानी **[अज्ञानतमोवच्छन्नः]** अज्ञानरूप अंधकार से व्याप्त है इसलिये **[आत्मस्वभावं]** आत्मा के स्वभाव को **[अजानन्]** नहीं जानता हुआ प्रवर्तता है ।

टीका—जिसके जैसा कहा गया है वैसा भेदविज्ञान है, वह उस भेदज्ञान के सद्भाव से ज्ञानी हुआ ऐसा जानता है । जैसे प्रचंड अग्नि से तपाया हुआ भी सुवर्ण अपने सुवर्णपने स्वभाव को नहीं छोड़ता उसी तरह तीव्र कर्म के उदय सहित हुआ भी ज्ञानी अपने ज्ञानपने को नहीं छोड़ता, क्योंकि जो

ज्ञानत्वमपोहति, कारणसहस्रेणापि स्वभावस्यापोढुमशक्यत्वात्। तदपोहेन तन्मात्रस्य वस्तुन एवोच्छेदात्। नचास्ति वस्तूच्छेदः सतो नाशासंभवात्। एवं जानंश्च कर्माक्रांतोऽपि न रज्यते न द्वेष्टि न मुह्यति किन्तु शुद्धमात्मानमेवोपलभते। यस्य तु यथोदितं भेदविज्ञानं नास्ति स तदभावादज्ञानी सन्नज्ञानतमसाच्छन्नतया चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मस्वभावमजानन् रागमेवात्मानं मन्यमानो रज्यते द्वेष्टि मुह्यति च न जातु शुद्धमात्मानमुपलभते। ततो भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलंभः ॥ १८४।१८५ ॥

एवं भेदज्ञानात्कथं शुद्धात्मोपलंभो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरकथनरूपेण गाथाद्वयं गतं ॥१८४।१८५॥ अथ कथं शुद्धात्मोपलंभात्संवर इति पुनरपि पृच्छति;—**सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो** भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितमनंतज्ञानादिगुणस्वरूपं शुद्धात्मानं निर्विकारसुखानुभूतिलक्षणेन भेदज्ञानेन विजानन्ननुभवन् ज्ञानी जीवः। एवं गुणविशिष्टं यादृशं शुद्धात्मानं ध्यायति भावयति तादृशमेव लभते। कस्मात्? इति चेत् उपादानकारणसदृशं कार्यमितिहेतोः **जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि** अशुद्धं मिथ्यात्वादिपरिणतमात्मानं जानन्ननुभवन् सन् अशुद्धं, नरनारकादिरूपमेवात्मानं लभते। स कः? अज्ञानी जीव इति। एवं शुद्धात्मोपलंभादेव कथं संवरो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरकथनरूपेण गाथा गता ॥ १८६ ॥ अथ केन प्रकारेण संवरो भवतीति पृष्टे पुनरपि विशेषेणोत्तरं ददाति;—**अप्पाणमप्पणा रुंभिदूण दो (सु) पुण्णपावजोगेसु** आत्मानं कर्मत्वापन्नं आत्मना करणभूतेन द्वयोः पुण्यपापयोगयोरधिकारभूतयोर्वर्तमानं स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुभाशुभयोगाभ्यां सकाशाद्रुन्ध्वा व्यावर्त्य। **दंसणणाणम्हि ठिदो** दर्शनज्ञाने स्थितः सन्। **इच्छाविरदो य अण्णम्हि** अन्यस्मिन् देहरागादिपरद्रव्ये सर्वत्रेच्छारहितश्चेति प्रथमगाथा गता।

जिसका स्वभाव है वह हजारों कारण मिलने पर भी अपने स्वभाव के छोड़ने को असमर्थ है। यदि स्वभाव को छोड़ दे तो उसके छोड़ने से उस स्वभावमात्र वस्तु का ही अभाव हो जाय, ऐसा वस्तु का अभाव नहीं होता है क्योंकि सत्ता का नाश होना असंभव है। ऐसा जानता हुआ ज्ञानी कर्मों से व्याप्त हुआ भी रागरूप, द्वेषरूप और मोहरूप नहीं होता। वह तो एक शुद्ध आत्मा को ही पाता है। तथा जिसके जैसा कहा गया है वैसा विज्ञान नहीं है, वह उस भेदविज्ञान के अभाव से अज्ञानी हुआ अज्ञान रूप अंधकार से आच्छादित होने के कारण चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा के स्वभाव को नहीं जानता, रागस्वरूप ही आत्मा को मानता हुआ रागी होता है, द्वेषी होता है, मोही होता है, परंतु शुद्ध आत्मा को कभी नहीं पाता। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की प्राप्ति है।

भावार्थ—भेद विज्ञान से आत्मा जब ज्ञानी होता है तब कर्म के उदय से संतप्त हुआ भी अपने ज्ञानस्वभाव से नहीं छूटता। यदि स्वभाव से छूट जाय तो वस्तु का नाश हो जाय ऐसा न्याय है। इसलिये कर्म के उदय के समय ज्ञानी, रागी, द्वेषी, मोही नहीं होता। और जिसके भेदविज्ञान नहीं है वह अज्ञानी हुआ रागी, द्वेषी, मोही होता है। इसलिये यह निश्चय हुआ कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है ॥१८४।१८५॥

कथं शुद्धात्मोपलंभादेव संवर ? इति चेत्—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥ १८६ ॥

शुद्धं तु विजानन् शुद्धं चैवात्मानं लभते जीवः ।
जानंस्त्वशुद्धमशुद्धमेवात्मानं लभते ॥ १८६ ॥

यो हि नित्यमेवाच्छिन्नधारावाहिना ज्ञानेन शुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते स ज्ञानमयात् भावात् ज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोहसंतानस्य निरोधाच्छुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति । यो हि नित्यमेवाज्ञानेनाशुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते सोऽज्ञानमयाद्भावादज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोहसंतानस्यानिरोधादशुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति । अतः शुद्धात्मोपलंभादेव संवरः ॥१८६॥

जो यः कर्ता सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा आत्मा, पुनरपि कथंभूतः । सव्वसंगमुक्को निस्संगात्मतत्त्वविलक्षणबाह्याभ्यन्तरसर्वसंगमुक्तः सन् । झायदि ध्यायति । कं, अप्पाणं निजशुद्धात्मानं । केन करणभूतेन । अप्पणो स्वशुद्धात्मना । णवि कम्मं णोकम्मं नैव कर्म नोकर्म ध्यायति, आत्मानं ध्यायन् । किं करोति । चेदा चिंतेदि एवं गुणविशिष्टश्चेतयितात्मा चिंतयति । किं ? एयत्तं "एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी

प्रश्न—शुद्ध आत्मा की प्राप्ति से ही संवर कैसे होता है ? उत्तर—[शुद्धं तु] शुद्ध आत्मा को [विजानन्] जानता हुआ [जीवः] जीव [शुद्धं चैव] शुद्ध ही [आत्मानं] आत्मा को [लभते] पाता है [तु] और [अशुद्धं आत्मानं] अशुद्ध आत्मा को [जानन्] जानता हुआ जीव [अशुद्धमेव] अशुद्ध आत्मा को ही [लभते] पाता है ।

टीका—जो पुरुष अविच्छेद रूप धारावाही ज्ञान से शुद्ध आत्मा को पाता हुआ स्थित है वह पुरुष "ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय ही भाव होते हैं" ऐसे न्यायकर आगामी कर्म के आस्रव के निमित्त जो राग, द्वेष, मोह उनकी संतान (परिपाटी) रूप उत्पत्ति के निरोध से शुद्ध आत्मा को ही पाता है । और जो जीव नित्य ही अज्ञानकर अशुद्ध आत्मा को पाता हुआ स्थित है वह जीव "अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय ही भाव होता है" ऐसे न्यायकर आगामी कर्म के आस्रवण के निमित्त जो राग-द्वेष मोह उनकी संतान रूप उत्पत्ति का निरोध न होने से अशुद्ध आत्मा को ही पाता है । इसलिये शुद्ध आत्मा की प्राप्ति से ही संवर होता है ।

भावार्थ—जो पुरुष शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है वह तो शुद्ध को ही पाता है उसके आस्रव रुक कर संवर होता है और जो अशुद्ध आत्मा को अनुभव करता है वह अशुद्ध को ही पाता है उसके आस्रव नहीं रुकते अर्थात् संवर नहीं होता ॥१८६॥

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ।
तदयमुदयदात्मारामात्मानमात्मा परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥ १२७ ॥

केन प्रकारेण संवरो भवतीति चेत्—

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दो पुण्णपावजोएसु ।
दंसणणाणह्मि ठिदो इच्छाविरओ य अण्णह्मि ॥ १८७ ॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चेयेइ[1] एयत्तं ॥ १८८ ॥
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ॥ १८९ ॥(त्रिकलम्)

आत्मानमात्मना रुन्ध्वा द्विपुण्यपापयोगयोः ।
दर्शनज्ञाने स्थितः इच्छाविरतश्चान्यस्मिन् ॥ १८७ ॥
यः सर्वसंगमुक्तो ध्यायत्यात्मानमात्मनात्मा ।
नापि कर्म नोकर्म चेतयिता चेतयत्येकत्वं ॥ १८८ ॥
आत्मानं ध्यायन् दर्शनज्ञानमयोऽनन्यमयः ।
लभतेऽचिरेणात्मानमेव स कर्मप्रविमुक्तं ॥ १८९ ॥

योगीन्द्रगोचर । बाह्याः संयोगजा भावा मत्त सर्वेऽपि सर्वथा ।" इत्याद्येकत्व इति द्वितीयगाथा गता । **सो** इत्यादि । **सो** स पूर्वसूत्रद्वयोक्त पुरुष. **अप्पाणं झायंतो** एवं पूर्वोक्तप्रकारेणात्मानं कर्मतापन्नं चितयन् निर्विकल्परूपेण

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते है—**यदि** इत्यादि । **अर्थ**—जो आत्मा किसी प्रकार (महान् भाग्य से) धारावाही ज्ञान से निश्चल शुद्ध आत्मा को प्राप्त हुआ स्थित होता है वह आत्मा उदय होते हुए आत्मा रूप क्रीड़ावन वाले अपने आत्मा को परपरिणति रूप राग, द्वेष, मोह के निरोध से शुद्ध को पाता है । इस तरह शुद्ध आत्मा की प्राप्ति से संवर होता है । यहां पर जो धारावाही ज्ञान कहा गया है उसका अर्थ यह है कि जो एक प्रवाह रूप ज्ञान हो वह धारावाही है । सो इसकी दो रीतियां हैं—एक तो मिथ्याज्ञान बीच में न आये ऐसा सम्यग्ज्ञान वह धारावाही है और दूसरा उपयोग का ज्ञेय के साथ उपयुक्त होने की अपेक्षा है । सो जहाँ तक एक ज्ञेय से उपयोग उपयुक्त होता है वहां तक धारावाही कहा जाता है । इसकी स्थिति अंतर्मुहूर्त्त ही है, बाद में विच्छेद हो जाता है । सो जहां जैसी विवक्षा हो वहां वैसा जानना । श्रेणी चढ़े तब शुद्ध आत्मा से उपयुक्त हो धारावाही होता है ॥ १२७ ॥

आगे पूछते हैं कि वह संवर किस तरह से होता है ? उसका उत्तर कहते हैं [यः] जो [आत्मा]

---

१. चितेदि इत्यपि पाठः ।

यो हि नाम रागद्वेषमोहमूले शुभाशुभयोगे प्रवर्तमानं, दृढतरभेदविज्ञानावष्टंभेन आत्मानं आत्मनैवात्यंतं रुंध्वा शुद्धदर्शनज्ञानात्मन्यात्मद्रव्ये सुष्ठु प्रतिष्ठितं कृत्वा समस्तपरद्रव्येच्छा-परिहारेण समस्तसंगविमुक्तो भूत्वा नित्यमेवातिनिष्प्रकंपः सन्, मनागपि कर्मनोकर्मणोरसंस्पर्शेन आत्मीयमात्मानमेवात्मना ध्यायन् स्वयं सहजचेतयितृत्वादेकत्वमेव चेतयते; स खल्वेकत्वचेतनेनात्यंतविविक्तं[1] चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मानं ध्यायन् शुद्धदर्शनज्ञानमयमात्मद्रव्यमवाप्तः शुद्धात्मोपलंभे सति समस्तपरद्रव्यमयत्वमतिक्रांतः सन् अचिरेणैव सकलकर्मविमुक्तमात्मानमवाप्नोति। एष संवरप्रकारः ॥ १८७।१८८।१८९ ॥

ध्यायन् सन्। **दंसणणाणमइओ** दर्शनज्ञानमयोभूत्वा। **अणण्णमणो** अनन्यमनाश्च **लहदि** लभते। कमेव **अप्पाणमेव** आत्मानमेव। कथंभूतं, **कम्मणिम्मुक्कं** भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मविमुक्तं। केन, **अचिरेण** स्तोककालेन। एवं केन प्रकारेण संवरो भवति, इति प्रश्ने सति विशेषपरिहारव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं ॥१८७।१८८।१८९ ॥ अथ-परोक्षस्यात्मनः कथं ध्यानं भवतीति[2] प्रश्ने सत्युत्तरं ददाति;—

जीव **[आत्मानं]** अपने आत्मा को **[आत्मना]** अपने से **[द्विपुण्यपापयोगयोः]** दो पुण्यपाप रूप शुभाशुभ योगों से **[रुन्ध्वा]** रोक के **[दर्शनज्ञाने]** दर्शन ज्ञान में **[स्थितः]** ठहरा हुआ **[अन्यस्मिन् इच्छाविरतः]** अन्यवस्तु में इच्छा रहित **[च]** और **[सर्वसंगमुक्तः]** सब परिग्रह से रहित हुआ **[आत्मना]** आत्मा से ही **[आत्मानं]** आत्मा को **[ध्यायति]** ध्याता है तथा **[कर्म नोकर्म]** कर्म नोकर्म को **[न अपि]** नहीं ध्याता और आप **[चेतयिता]** चेतना रूप होने से **[एकत्वं]** उस स्वरूप एकत्व को **[चिंतयति]** अनुभव करता है विचारता है **[सः]** वह जीव **[दर्शनज्ञानमयः]** दर्शनज्ञानमय हुआ **[अनन्यमयः]** अन्यमय नहीं हो के **[आत्मानं ध्यायन्]** आत्मा को ध्यान करता हुआ **[अचिरेण]** थोड़े समय में **[एव]** ही **[कर्मविप्रमुक्तं]** कर्मों से रहित **[आत्मानं]** आत्मा को **[लभते]** पाता है।

टीका—निश्चय से जो जीव राग द्वेष मोहरूप मूल वाले ऐसे शुभाशुभ योगों में प्रवर्तमान अपने आत्मा को दृढ़तर भेदविज्ञान के बल से आप से ही अत्यंत रोक कर, शुद्धज्ञान दर्शनरूप अपने आत्मद्रव्य में अच्छी तरह ठहरा कर, समस्त परद्रव्यों की इच्छारूप परिग्रह से रहित होकर नित्य ही निश्चल हुआ किंचिन्मात्र भी कर्म को नहीं स्पर्श करके अपने आत्मा को अपने से ही ध्यावता आप (स्वयं) चेतने वाला है, अपने चेतना रूप ही एकत्व को अनुभव करता है ज्ञान चेतनामय होता है, वह जीव निश्चय से एकत्व का अनुभव करने से परद्रव्य से अत्यंत भिन्न चैतन्य चमत्कारमात्र अपने आत्मा को ध्याता हुआ, शुद्ध दर्शन ज्ञानमय आत्मद्रव्य को प्राप्त होने से समस्त पर द्रव्य से पृथक् होकर थोड़े समय में ही सब कर्मों से रहित आत्मा को पाता है। यह संवर का प्रकार है।

---

१. विमक्तं इत्यपि पाठः। २. क्रियते इति पाठान्तरं।

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलंभः ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानां भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः॥१२८॥

केन क्रमेण संवरो भवतीति चेत्—

तेसिं हेऊ भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥१९०॥
हेउअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो ।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स वि णिरोहो ॥१९१॥
कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो ।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होइ ॥१९२॥ (त्रिकलम्)

तेषां हेतवः भणिताः अध्यवसानानि सर्वदर्शिभिः ।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतभावश्च योगश्च ॥१९०॥
हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिनः आस्रवनिरोधः ।
आस्रवभावेन विना जायते कर्मणोऽपि निरोधः ॥१९१॥

उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि ।
भण्णदि तहेव धिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य ॥

उपदेशेन परोक्षरूपं यथा द्रष्टा जानाति । भण्यते तथैव ध्रियते जीवो दृष्टश्च ज्ञातश्च । **उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि** यथालोके परोक्षमपि देवतारूपं परोपदेशाल्लिखितं दृष्ट्वा कश्चिद्देवदत्तो जानाति । **भण्णदि तहेव धिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य** । तथैव वचनेन भण्यते तथैव मनसि गृह्यते । कोसौ ?

भावार्थ—जो जीव पहले तो रागद्वेषमोह से मिले हुए शुभ अशुभ मन वचन काय के योगों से अपनी आत्मा को भेदज्ञान के बल से चलने न दे, पीछे शुद्ध दर्शन ज्ञानमय अपने स्वरूप में निश्चल करे और फिर सब बाह्य अभ्यन्तर के परिग्रहों से रहित होकर कर्म नोकर्म से भिन्न अपने स्वरूप में एकाग्र होके ध्यान करता हुआ स्थित होता है वह थोड़े समय में ही सब कर्मों का नाश करता है। यह संवर होने की रीति है ॥१८७।१८८।१८९॥

अब इस अर्थ का कलश कहते हैं—**निज** इत्यादि । **अर्थ**—जो पुरुष भेद-विज्ञान की शक्ति से अपने स्वरूप की महिमा में लीन हैं उनको नियम से शुद्धतत्त्व की प्राप्ति होती है और जो उस शुद्धतत्त्व की प्राप्ति होने पर निश्चल होके समस्त अन्य द्रव्यों से दूर ठहरे हुए हैं उनके अक्षय मोक्ष होता है फिर कर्म का बंध नहीं होता ॥१२८॥

कर्मणोऽभावेन च नोकर्मणामपि जायते निरोधः।
नोकर्मनिरोधेन च संसारनिरोधनं भवति ॥१६२॥

संति तावज्जीवस्य, आत्मकर्मैकत्वाध्यासमूलानि मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानि अध्यवसानानि। तानि रागद्वेषमोहलक्षणस्यास्रवभावस्य हेतवः। आस्रवभावः कर्महेतुः। कर्म-नोकर्महेतुः। नोकर्म संसारहेतुः, इति ततो नित्यमेवायमात्मा, आत्मकर्मणोरेकत्वाध्यासेन मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगमयमात्मानमध्यवस्यति। ततो रागद्वेषमोहरूपमास्रवभावं भावयति। ततः कर्म आस्रवति, ततो नोकर्म भवति, ततः संसारः प्रभवति। यदा तु आत्मकर्मणोर्भेदविज्ञानेन शुद्धं चैतन्य-चमत्कारमात्रमात्मानं उपलभते तदा मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानां अध्यवसानानां आस्रव-भावहेतूनां भवत्यभावः। तदभावे रागद्वेषमोहरूपास्रवभावस्य भवत्यभावः, तदभावेऽपि भवति कर्माभावः तदभावे नोकर्माभावः, तदभावेपि भवति संसाराभावः। इत्येष संवरक्रमः ॥१६०।१६१।१६२॥

जीवः, केन रूपेण ? मया दृष्टो ज्ञातश्चेति मनसा संप्रधारयति। तथा चोक्तं। गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरांतरं।

आगे संवर का क्रम बतलाते हैं;—[तेषां] पूर्व कहे हुए राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवों के [हेतवः] हेतु [सर्वदर्शिभिः] सर्वज्ञदेव ने [मिथ्यात्वं] मिथ्यात्व [अज्ञानं] अज्ञान [च अविरतभावः] अविरत-भाव [च योगः] और योग ये चार [अध्यवसानानि] अध्यवसान [भणिताः] कहे हैं सो [ज्ञानिनः] ज्ञानी के [हेत्वभावे] इन हेतुओं का अभाव होने से [नियमात्] नियम से [आस्रवनिरोधः] आस्रव का निरोध [जायते] होता है और [आस्रवभावेन विना] आस्रवभाव के विना [कर्मणः अपि] कर्म का भी [निरोधः] निरोध [जायते] होता है [च] और [कर्मणः अभावेन] कर्म के अभाव से [नोकर्मणां अपि] नोकर्मों का भी [निरोधः] निरोध [जायते] होता है [च] तथा [नोकर्मनिरोधेन] नोकर्म के निरोध होने से [संसारनिरोधनं] संसार का निरोध [भवति] होता है।

टीका—पहले ही जीव के आत्मा और कर्म के एकत्व के निश्चयरूप मूलकारण वाले मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योगस्वरूप अध्यवसान विद्यमान हैं; वे राग-द्वेष-मोहस्वरूप आस्रवों के कारण हैं, आस्रवभाव कर्म के कारण हैं, कर्म नोकर्म के कारण हैं और नोकर्म संसार के कारण हैं। इसलिये आत्मा नित्य ही आत्मा और कर्म के एकत्व के निश्चय से आत्मा को मिथ्यात्व अज्ञान अविरति योगमय मानता है। उस निश्चय से राग-द्वेष-मोहरूप आस्रव भावों को भाता है उससे कर्म का आस्रव होता है, कर्म से नोकर्म होता है और नोकर्म से संसार प्रगट होता है। तथा जिस समय यह आत्मा, आत्मा और कर्म के भेद ज्ञान से शुद्ध चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मा को पाता है उस समय मिथ्यात्व अज्ञान अविरति योग-स्वरूप अध्यवसान रूप आस्रवभावों के कारणों का इसके अभाव होता है, मिथ्यात्व आदि का अभाव होने से राग-द्वेष-मोहरूप आस्रव भाव का अभाव होता है, राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से नोकर्म का अभाव होता है और नोकर्म का अभाव होने से संसार का अभाव होता है। ऐसा यह संवर का अनुक्रम है।

संपद्यते संवर एष साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात् ।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यं ॥१२९॥
भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥१३०॥

जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरतरं ॥ अथ—

कोविदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं ।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं ॥

कोविदितार्थः साधुः संप्रतिकाले भणेत् रूपमिदं । प्रत्यक्षमेव दृष्टं परोक्षज्ञाने प्रवर्तमानं । अथ मतं **भणिज्ज रूवमिणं पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं** । योसौ प्रत्यक्षेणात्मानं दर्शयति तस्य पार्श्वे पृच्छामो वय । नैवं **कोविदिदच्छो साहू सम्पडिकाले भणिज्ज** कोऽविदितार्थः साधुः सम्प्रतिकाले ब्रूयात् ? न कोपि ।

भावार्थ—जीव के जब तक आत्मा और कर्म के एकत्व का आशय है—भेदविज्ञान नहीं—तब तक मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरत और योगरूप अध्यवसान विद्यमान है, उनसे राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव होता है, आस्रवभाव से कर्म बंधते है, कर्म से नोकर्म शरीरादिक प्रगट होते है और नोकर्म से संसार है । परन्तु जिस समय आत्मा और कर्म का भेदविज्ञान हो जाता है तब शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है, उसके होने से मिथ्यात्वादि अध्यवसान का अभाव होता है, अध्यवसान का अभाव होने से राग-द्वेष-मोहरूप आस्रव का अभाव होता है, आस्रव के अभाव से कर्म नही बंधता, कर्म के अभाव से नोकर्म नही प्रगट होता और नोकर्म के अभाव से संसार का अभाव होता है। ऐसा संवर का अनुक्रम है ।१९०।१९१।१९२।

अब इस सवर का कारण जो पहले ही भेदविज्ञान कहा था उसकी भावना का उपदेश करते हैं उसका कलश रूप काव्य कहते हैं—**संपद्यते** इत्यादि । **अर्थ**—जिस कारण यह सवर निश्चय से साक्षात् शुद्धात्मतत्त्व के पाने से होता है । शुद्धात्मतत्त्व का पाना आत्मा और कर्म के भेदविज्ञान से होता है अर्थात् जब कर्म और आत्मा को पृथक् जाने तब आत्मा का अनुभव करे । इस कारण भेदविज्ञान को विशेष रूप से ध्यान करना चाहिये ॥ १२९ ॥

फिर कहते हैं कि भेदविज्ञान कहां तक भावना ? **भावये** इत्यादि । **अर्थ**—इस भेदविज्ञान को निरन्तर धाराप्रवाह रूप जिसमे कि विच्छेद न पड़े इस तरह तब तक भावे जब तक कि ज्ञान परभावों से छूट कर अपने स्वरूप ज्ञान में ही ठहर जाय ।

भावार्थ—ज्ञान का ज्ञान में ठहरना दो प्रकार से होता है। एक तो मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान होना और उसके बाद मिथ्यात्व नहीं होना । दूसरा यह कि शुद्धोपयोगरूप होकर ज्ञान ठहरे, अन्य विकाररूप नहीं परिणमें । सो जब तक दोनो प्रकार न बनें तब तक निरन्तर भेदविज्ञान की भावना रखनी चाहिये ॥ १३० ॥

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

किं ब्रूयात्, न कोपि । किं तु **रूवमिणं पच्चक्खमेव दिट्ठं** इदमात्मस्वरूपं प्रत्यक्षमेव मया दृष्टं । चतुर्थकाले केवलज्ञानिवत् । अपि तु नैवं । कथंभूतमिदमात्मस्वरूपं । **परोक्खणाणे पवट्टंतं** केवलज्ञानापेक्षया परोक्षे श्रुतज्ञाने प्रवर्तमानं, इति । किंच विस्तरः । यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनरूपं भावश्रुतज्ञानं शुद्धनिश्चयनयेन परोक्षं भण्यते, तथापि इंद्रियमनोजनितसविकल्पज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षं । तेन कारणेन आत्मा स्वसंवेदनज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षो भवति, केवलज्ञानापेक्षया पुनः परोक्षोऽपि भवति । सर्वथा परोक्ष एवेति वक्तुं नायाति । किं तु चतुर्थकालेऽपि केवलिनः, किमात्मानं हस्ते गृहीत्वा दर्शयन्ति ? तेपि दिव्यध्वनिना भणित्वा गच्छति । तथापि श्रवणकाले श्रोतृणां परोक्ष एव पश्चात्परमसमाधिकाले प्रत्यक्षो भवति । तथा इदानीं कालेऽपीतिभावार्थः । एवं परोक्षस्यात्मनः कथं ध्यानं क्रियते, इति प्रश्ने परिहाररूपेण गाथाद्वयं गतं । अथ, उदयप्राप्तद्रव्यप्रत्ययस्वरूपाणां रागाद्यध्यवसानानामभावे सति जीवगतरागादिभावकर्मरूपाणामध्यवसानानां अभावो भवतीत्यादिरूपेण संवरस्य क्रमाख्यानं कथयति;—

तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं । तेषां प्रसिद्धानां जीवगतरागादिविभावकर्मरूपाणां भावास्रवाणां हेतवः कारणानि भणितानि । कानि ? उदयप्राप्तद्रव्यप्रत्ययागतानि रागाद्यध्यवसानानि । कैः, सर्वदर्शिभिः । ननु[1] अध्यवसानानि भावकर्मरूपाणि, तानि जीव गतान्येव भवति उदयप्राप्तद्रव्यप्रत्ययागतानि भावप्रत्ययानि कथं भवंतीति ? नैवं, यतः कारणात् भावकर्म द्विधा भवति । जीवगतं पुद्गलकर्मगतं च । तथाहि—भावक्रोधादिव्यक्तिरूपं जीवभावगतं भण्यते । पुद्गलपिंडशक्तिरूपं पुद्गलद्रव्यगतं । तथा चोक्तं—**पुग्गलपिंडो दव्वं कोहादी भावदव्वं तु—** इति जीवभावगतं भण्यते । **पुग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु—** इति पुद्गलद्रव्यगतं ॥ अत्र दृष्टांतो यथा-मधुरकटुकादिद्रव्यस्य भक्षणकाले जीवस्य मधुरकटुकस्वादव्यक्तिविकल्परूप जीवभावगतं, तद्व्यक्तिकारणभूतं मधुरकटुकद्रव्यगतं शक्तिरूपं पुद्गलद्रव्यगतं । एव भावकर्मस्वरूप जीवगत पुद्गलगत च द्विधेति भावकर्मव्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्य । कानि तानि, अध्यवसानानि । **मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य जोगो य** मिथ्यात्वमज्ञानमविर-

फिर भेदविज्ञान की महिमा कहते हैं—**भेद** इत्यादि । **अर्थ**—जो कोई सिद्ध हुए हैं वे इस भेदविज्ञान से ही हुए हैं और जो कर्म से बंधे हैं वे इसी भेदविज्ञान के अभाव में बंधे हुए हैं ।

भावार्थ—आत्मा और कर्म की एकता के मानने से ही संसार है वहां अनादि से जबतक भेदविज्ञान नही है तब तक कर्म से बंधता ही है । इसलिये कर्मबंध का मूल भेदविज्ञान का अभाव ही है । जो बंधे हैं वे इसीके अभाव से बंधे हैं और जो सिद्ध हुए हैं वे इस भेदविज्ञान के होने पर ही हुए हैं । इस कारण भेदविज्ञान ही मोक्ष का कारण है । यहां ऐसा भी जानना कि विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध तथा वेदांती वस्तु को अद्वैत कहते हैं वे अद्वैत की सिद्धि अनुभव से ही कहते हैं । उनका भी इस भेदविज्ञान से अद्वैत सिद्धि कहने का निषेध हुआ, क्योंकि सर्वथा वस्तु का स्वरूप अद्वैत नहीं है, परन्तु जो मानते हैं उनका भेदविज्ञान का कथन नहीं बन सकता । भेदविज्ञान का कथन तो जब वस्तु द्वैत हो तब बन सकता है । सो अब जीव अजीव दो वस्तुएं मानें और दो का संयोग मानें तब भेद-विज्ञान बने । इस कारण स्याद्वादियों के सब निर्बाध सिद्धि होती है ।१३१।

१. न तु इति पाठान्तरं ।

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलंभात् रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण ।
बिभ्रत्तोषं परमममलालोकमम्लानमेकं [1]ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत्॥१३२॥
इति संवरो निष्क्रांतः ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ
संवरप्ररूपकः पञ्चमोऽङ्कः ॥५॥

तिर्योगश्चेति प्रथमगाथा गता ॥ **हेदुअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो** पूर्वोक्तानामुदयागतद्रव्यप्रत्ययाना जीवगतभावास्रवहेतुभूतानां वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनो जीवस्य उदयागतद्रव्यकर्मरूपाणां अभावे सति नियमान्निश्चयात् रागादिरूपभावास्रवनिरोधलक्षण: संवरो जायते । **आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोहो** निरास्रवपरमात्मतत्त्वविलक्षणस्य जीवगतभावास्रवस्य भावेन स्वरूपेण विना जायते कर्मणो निरोध: रूप: संवर: । कस्य ? परमात्मतत्त्वप्रच्छादकनवतरद्रव्यकर्मण: इति द्वितीयगाथा गता ॥ **कम्मसाभावेण य णोकम्माणं च जायदि णिरोहो ।** ततश्च नवतरकर्माभावेन संवरेण शरीरादिनोकर्मणां च जायते निरोध: संवर: । **णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होदि ।** नोकर्मनिरोधेन संवरेण संसारातीतशुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतद्रव्यक्षेत्रादिपंचप्रकारसंसारनिरोधनं भवतीति तृतीयगाथा गता ॥१९०॥१९१॥१९२॥ एवं संवरक्रमाख्यानेन गाथात्रय गतं एवं पात्रवदास्रवविपक्षभूत: संवरो निष्क्रांत: ।

इति श्री**जयसेनाचार्य**कृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां
तात्पर्यवृत्तौ चतुर्दशगाथाभि: षट्स्थलै: आस्रवविपक्षद्वारेण **संवर**नामा
पञ्चमोऽधिकार: समाप्त: ॥५॥

आगे संवर का अधिकार पूर्ण हुआ अब संवर के होने से ज्ञान कैसा है ? ऐसे ज्ञान की महिमा का कलश कहते हैं—**भेदज्ञानो** इत्यादि । **अर्थ**—यह ज्ञान, ज्ञान में ही निश्चल नियमरूप उदय को प्राप्त हुआ । प्रथम तो भेदविज्ञान के उदय होने का अभ्यास हुआ, फिर भेदविज्ञान के अभ्यास से शुद्ध तत्त्व की प्राप्ति हुई, उस शुद्ध तत्त्व की प्राप्ति से राग के समूह का प्रलय हुआ, राग के समूह का प्रलय करने से आस्रव के रुकने से कर्मों का संवर हुआ तथा कर्मों का संवर होने से परम संतोष को धारण करता हुआ ज्ञान प्रगट हुआ । जिस (ज्ञान) का प्रकाश निर्मल है । क्षयोपशम के दोष से जो मलिनता थी वह अब नहीं, आप भी अम्लान है अर्थात् रागादिक से जो कलुषता थी वह अब न होने से निर्मल है । एक है, क्षयोपशम से जो भेद थे वे अब नहीं हैं और जिसका नित्य उद्योत है, क्षयोपशम ज्ञान में जो क्रम होता था वह अब नहीं है । ऐसा रंगभूमि में संवर का स्वांग प्रवेश हुआ था उसको ज्ञान ने जान लिया सो नृत्य कर वह रंगभूमि से निकल गया ॥१३२॥

---

१. यदनादिकालादारभ्याशुद्धरागादिविभावरूपेण परिणतं तदेव काललब्धिं प्राप्य शुद्धस्वरूपेण परिणतमित्यर्थः ।

सवैया तेईसा—भेदविज्ञान कला प्रगटै तब शुद्धस्वभाव लहै अपना ही,
राग-द्वेष विमोह सबहि गलि जाय इमे दुठ कर्म रुकाही ।
उज्वल ज्ञान प्रकाश करै बहु तोष धरै परमातममाही,
यों मुनिराज भली विधि धारत केवल पाय सुखी शिव जाहीं ।। १ ।।

यहां तक गाथा १९६ हुईं और कलश १३२ हुए ।

इस प्रकार **पं० जयचंद्रजी** कृत इस *समयसार ग्रंथ की आत्मख्याति नामा* टीका की भाषा वचनिका में **पांचवां संवर** अधिकार पूर्ण हुआ ।। ५ ।।

अथ निर्जराधिकारः ॥ ६ ॥

अथ प्रविशति निर्जरा—

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुंधन् स्थितः।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्छति।१३३।

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥ १९३ ॥

उपभोगमिंद्रियैः द्रव्याणामचेतनानामितरेषां ।
यत्करोति सम्यग्दृष्टिः तत्सर्वं निर्जरानिमित्तं ॥ १९३ ॥

तत्रैवं सति रंगभूमेः सकाशात् शृङ्गाररहितपात्रवत् शुद्धजीवस्वरूपेण संवरो निष्क्रांतः। अथ वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपा शुद्धोपयोगलक्षणा संवरपूर्विका **निर्जरा** प्रविशति। **उवभोजमिंदियेहिं** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा दंडकान् विहाय पाठक्रमेण पंचाशद्गाथापर्यंतं षट्स्थलैर्निर्जराव्याख्यानं करोति। तत्र द्रव्यनिर्जराभावनिर्जराज्ञानशक्ति-

---

दोहा—रागादिकक्‌ मेटिकरि, नवे बंध हति संत ।
पूर्व उदय में समरहे, नमूं निर्जरावंत ॥

अब निर्जरा प्रवेश करती है। जिस तरह नृत्य के अखाड़े में नृत्य करने वाला स्वांग वना के प्रवेश करता है उसी तरह यहां तत्त्वों का नृत्य है। वहां रगभूमि में निर्जरा के स्वांग का प्रवेश है। प्रथम ही सब स्वाग देखकर यथार्थ जानने वाला जो सम्यग्ज्ञान है, उसे टीकाकार मगलरूप जान प्रकट करते है—

रागाद्या इत्यादि। **अर्थ**—उत्कृष्ट सवर रागादिक आस्रवों के रोकने से अपनी सामर्थ्य द्वारा आगामी सब ही कर्मों को मूल में दूर ही से रोकता हुआ ठहर रहा था, अब इस संवर के होने के पहले जो कर्म बंधरूप हुआ था उसे जलाने को निर्जरारूप अग्नि फैलती है सो इस निर्जरा के प्रकट होने से ज्ञान ज्योति निरावरण होकर फिर रागादिभावों से मूर्च्छित नहीं होती।

भावार्थ—संवर होने के बाद नवीन कर्म नही बंधते और जो पहले बंधे हुए थे वे निर्जर हुए, तब ज्ञान का आवरण दूर होने से ज्ञान ऐसा हो जाता है कि फिर रागादिरूप नहीं परिणमता, सदा प्रकाशरूप ही रहता है ॥१३३॥

आगे निर्जरा का स्वरूप कहते हैं;—**[सम्यग्दृष्टिः]** सम्यग्दृष्टि जीव **[यत्]** जो **[इंद्रियैः]** इंद्रियों से **[चेतनानां]** चेतन और **[इतरेषां]** अन्य अचेतन **[द्रव्याणां]** द्रव्यों का **[उपभोगं]** उपभोग **[करोति]** करता है—उनको भोगता है **[तत् सर्वं]** वह सब ही **[निर्जरानिमित्तं]** निर्जरा के निमित्त हैं।

विरागस्योपभोगो निर्जरायै एव, रागादिभावानां सद्भावेन मिथ्यादृष्टेरचेतनान्यद्रव्योपभोगो बंधनिमित्तमेव स्यात् । स एव रागादिभावानामभावेन सम्यग्दृष्टेर्निर्जरानिमित्तमेव स्यात् । एतेन द्रव्यनिर्जरास्वरूपमावेदितं ॥ १९३ ॥

वैराग्यशक्तीनां क्रमेण व्याख्यानं करोति, इति पीठिकारूपेण प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयं । तदनंतरं ज्ञानवैराग्यशक्तेः सामान्यव्याख्यानार्थं **सेवंतोवि ण सेवदि** इत्यादि द्वितीयस्थले गाथापंचकं । ततः परं तयोरेव ज्ञानवैराग्यशक्त्योर्विशेषविवरणार्थं **परमाणुमित्तियंपि** इत्यादि तृतीयस्थले सूत्रदशकं । ततश्च मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानानामभेदरूपं परमार्थसंज्ञं मुक्तिकारणभूतं यत्परमात्मपदं, तत्पदं येन स्वसंवेदनज्ञानगुणेन लभ्यते तस्य सामान्यव्याख्यानार्थं **णाणगुणेहिं विहीणा** इत्यादि चतुर्थस्थले सूत्राष्टकं । ततः परं तस्यैव ज्ञानगुणस्य विशेषविवरणार्थं **णाणी रागप्पजहो** इत्यादि पंचमस्थले गाथाः चतुर्दश । तदनंतरं शुद्धनयमाश्रित्य चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मभावनाश्रिताना निश्चयनिश्शंकाद्यष्टगुणानां व्याख्यानार्थं **सम्मादिट्ठी जीवो** इत्यादि षष्ठस्थले सूत्रनवकं कथयति । इति षड्भिरंतराधिकारैः निर्जराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा, अथ द्रव्यनिर्जरां कथयति;—**उवभोज्जमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं जं कुणदि सम्मदिट्ठी**—सम्यग्दृष्टिः कर्ता चेतनाचेतनद्रव्याणां संबंधि यद्वस्तूपभोग्यं करोति । कैः कृत्वा ? पंचेन्द्रियविषयैः **तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं** तद्वस्तु मिथ्यादृष्टेर्जीवस्य रागद्वेषमोहानां सद्भावेन बंधकारणमपि सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य रागद्वेषमोहानामभावेन समस्तमपि निर्जरानिमित्तं भवतीति । अत्राह शिष्यः—रागद्वेषमोहाभावे सति निर्जराकारणं भणितं सम्यग्दृष्टेस्तु रागादयः संति, ततः कथं निर्जराकारणं भवतीति ? अस्मिन्पूर्वपक्षे परिहारः । अत्र ग्रंथे वस्तुवृत्त्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं, यस्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती सरागसम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्त्या ग्रहणं, तत्र तु परिहारः पूर्वमेव भणितः । कथमिति चेत् ? मिथ्यादृष्टेः सकाशादसंयतसम्यग्दृष्टेः अनंतानुबंधिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनिताः, श्रावकस्य

टीका—विरागी का उपभोग निर्जरा के लिए ही होता है और मिथ्यादृष्टि के रागादिभावों के सद्भाव से चेतन अचेतन द्रव्य का उपभोग बंध के निमित्त ही होता है । इस कथन से द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप कहा ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा गया है और ज्ञानी के राग द्वेष मोह का अभाव कहा है; इसलिए विरागी का जो इंद्रियों से भोग होता है उस भोग की सामग्री को यह सम्यग्दृष्टि ऐसा जानता है कि ये परद्रव्य हैं, मेरा इनका कुछ सम्बन्ध नहीं है लेकिन कर्म के उदय के निमित्त से इनका मेरा संयोग वियोग है वह चारित्र मोह के उदय की पीड़ा है सो बलहीन होने से जब तक सही नहीं जाती तब तक रोगी की तरह (जैसे रोगी रोग को अच्छा नहीं जानता परन्तु पीड़ा नहीं सही जाती तब तक औषधि आदि से इलाज करता है उस तरह) विषयरूप भोग उपभोग सामग्री से इलाज करता है परन्तु कर्म के उदय से तथा भोगोपभोग की सामग्री से राग द्वेष मोह नहीं है । इसलिए सम्यग्दृष्टि विरागी है । इसके भोग उपभोग निर्जरा के ही निमित्त हैं । कर्म उदय होता है वह अपना रस देकर झड़ जाता है उदय आने के बाद द्रव्य कर्म की सत्ता नहीं रहती निर्जरा ही होती है । सम्यग्दृष्टि के उस कर्म उदय से राग द्वेष मोह नहीं है, उदय में आये हुए को जानता है और फल को भी भोगता है, वह राग द्वेष

अथ भावनिर्जरास्वरूपमावेदयति—

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं वा दुक्खं वा।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि ॥ ११४ ॥

द्रव्ये उपभुज्यमाने नियमाज्जायते सुखं वा दुःखं वा।
तत्सुखदुःखमुदीर्णं वेदयते अथ निर्जरां याति ॥ १६४ ॥

उपभुज्यमाने सति हि परद्रव्ये तन्निमित्तः साताSसाताविकल्पानतिक्रमणेन वेदनायाः सुखरूपो दुःखरूपो वा नियमादेव जीवस्य भाव उदेति। स तु यदा वेद्यते तदा मिथ्यादृष्टे रागादिभावानां सद्भावेन बंधनिमित्तं भूत्वा निर्जीर्यमाणोऽप्यनिर्जीर्णः सन् बंध एव स्यात्। सम्यग्दृष्टेस्तु रागादिभावानामभावेन बंधनिमित्तमभूत्वा केवलमेव निर्जीर्यमाणो निर्जीर्णः सन्निर्जरैव स्यात् ॥१६४॥

चाऽप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभोदयजनिता रागादयो न संतीत्यादि। किं च सम्यग्दृष्टेः संवरपूर्विका निर्जरा भवति, मिथ्यादृष्टेस्तु गजस्नानवत् बंधपूर्विका भवति। तेन कारणेन मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया सम्यग्दृष्टिरबंधक इति। एवं द्रव्यनिर्जराव्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥ १६३ ॥ अथ भावनिर्जरास्वरूपमाख्याति:—**दव्वे उवभुज्जंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं च** *उदयागते द्रव्यकर्मणि जीवेनोपभुज्यमाने सति नियमात् निश्चयात् साताऽसातोदयवशेन सुखं दुःखं वा वस्तुस्वभावत*

मोह के विना भोगता है इसलिए कर्म का आस्रव नहीं होता, आस्रव के विना विरागी सम्यग्दृष्टि के आगामी बंध नहीं होता। और जब आगामी बंध नहीं हुआ तब केवल निर्जरा ही हुई। इस कारण सम्यग्दृष्टि विरागी का भोगोपभोगनिर्जरा के ही निमित्त कहा गया है। तथा पूर्वकर्मों का द्रव्यकर्म उदयआकर झड़ जाना वही द्रव्यनिर्जरा है ॥१६३॥

आगे भावनिर्जरा का स्वरूप कहते हैं:—[**द्रव्ये च उपभुज्यमाने**] परद्रव्य को भोगने से [**सुखं वा दुःखं**] सुख अथवा दुःख [**नियमात्**] नियम से [**जायते**] होता है। [**उदीर्णं**] उदय में आये हुए [**तत्सुखदुःखं**] उस सुख दुःख को [**वेदयते**] अनुभव करता है [**अथ**] फिर वह द्रव्यकर्म [**निर्जरां याति**] झड़ जाता है।

टीका—परद्रव्य को भोगते हुए जीव के सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियम से उदय होते हैं वेदना के साता तथा असाता इस तरह दो रूप हैं इन दोनों भावों का अतिक्रमण नहीं करती। इस भाव का जीव जिस समय वेदन करता है उस समय मिथ्यादृष्टि के तो रागादिभावों के होने से आगामी कर्म बंध का निमित्त होकर निर्जरा रूप हुआ भी निर्जरारूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आगामी बंध करके निर्जरा रूप हुआ इसलिये बंध ही कहना चाहिये। और सम्यग्दृष्टि के उस सुख दुःख के अनुभव से रागादिभावों का अभाव होने से आगामी बंध के निमित्त न होने से केवल निर्जरा रूप ही होता है सो निर्जरा रूप हुआ निर्जरा ही कहना चाहिये बंध नहीं कह सकते।

तद् ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुंजानोऽपि न बध्यते ॥१३४॥

अथ ज्ञानसामर्थ्यं दर्शयति—

जह विसमुवभुज्जंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव वज्झए णाणी॥ १९५॥

यथा विषमुपभुंजानो वैद्यः पुरुषो न मरणमुपयाति।
पुद्गलकर्मण उदयं तथा भुंक्ते नैव बध्यते ज्ञानी॥ १९५॥

यथा कश्चिद्विषवैद्यः परेषां मरणकारणं विषमुपभुंजानोऽपि अमोघविद्यासामर्थ्येन निरु-

---

एव जायते तावत्। **तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि** निरुपरागस्वसंवित्तिभावनोत्पन्नपारमार्थिकसुखाद्भिन्नं तत्सुखं दुःखं वा समुदीर्णं सत् सम्यग्दृष्टिर्जीवो रागद्वेषौ न कुर्वन् हेयबुद्ध्या वेदयति। न च तन्मयो भूत्वा, अहं सुखी दुःखीत्याद्यहमिति प्रत्ययेनानुभवति। **अथ णिज्जरं जादि** अथ अहो ततः कारणान्निर्जरां याति स्वस्थभावेन निर्जराया निमित्तं भवति। मिथ्यादृष्टेः पुनः उपादेयबुद्ध्या, सुख्यहं दुःख्यहमिति प्रत्ययेन बंधकारणं भवति। किं च, यथा कोऽपि तस्करो यद्यपि मरणं नेच्छति तथापि तलवरेण गृहीतः सन् मरणमनुभवति। तथा सम्यग्दृष्टिः यद्यप्यात्मोत्थसुखमुपादेयं च जानाति, विषयसुखं च हेयं जानाति। तथापि चारित्रमोहोदयतलवरेण गृहीतः सन् तदनुभवति, तेन कारणेन निर्जरानिमित्तं स्यात्। इति भावनिर्जराव्याख्यानं गतं॥ १९४॥ अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानसामर्थ्यं दर्शयति:—**जह विसमुवभुज्जंता**

भावार्थ—कर्म का उदय आने पर सुख दुःख भाव नियम से उत्पन्न होते हैं उनको अनुभव करते हुए मिथ्यादृष्टि के तो रागादिक के निमित्त से आगामी कर्म का बंध करके निर्जरा होती है इसलिये निर्जरा किस काम की, बंध ही किया गया। और सम्यग्दृष्टि के उस अनुभव से रागादिकभाव नहीं होते इसलिये आगामी बंध भी नहीं होता। केवल निर्जरा ही हुई ॥१९४॥

इसके अर्थ की आगे के कथन की सूचना का कलश कहते हैं—**तज्ज्ञान** इत्यादि। **अर्थ**—जो कर्म को भोगता हुआ भी कर्म से नहीं बंधता यह आश्चर्यरूप सामर्थ्य ज्ञान की है अथवा विराग की ही है। अज्ञानी को तो आश्चर्य को उत्पन्न करती है और ज्ञानी यथार्थ जानता है ॥१३४॥

आगे ज्ञान की सामर्थ्य दिखलाते हैं;—**[यथा]** जैसे **[वैद्यः]** वैद्य **[विषं उपभुंजानः]** विष को भोगता हुआ भी **[मरणं]** मरण को **[न उपयाति]** नहीं प्राप्त होता **[तथा]** उसी तरह **[ज्ञानी]** ज्ञानी **[पुद्गलकर्मणः]** पुद्गल कर्म के **[उदयं]** उदय को **[भुंक्ते]** भोगता है तो भी **[नैव बध्यते]** बंधता नहीं है।

टीका—जैसे कोई वैद्य, दूसरे के मरण का कारण विष को भोगता हुआ भी सफल मंत्र तंत्र औषध आदिक विद्या की सामर्थ्य से विष की मारणशक्ति को रोक कर उससे मरण को प्राप्त नहीं

द्धतच्छक्तित्वान्न म्रियते, तथा अज्ञानिनां रागादिभावसद्भावेन बंधकारणं पुद्गलकर्मोदयमुपभुंजानोऽपि अमोघज्ञानसामर्थ्यात् रागादिभावानामभावे सति निरुद्धतच्छक्तित्वात् न बध्यते ज्ञानी ॥१९५॥

अथ वैराग्यसामर्थ्यं दर्शयति—

जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो ।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण वज्झदि तहेव ॥ १९६ ॥

यथा मद्यं पिबन् अरतिभावेन माद्यति न पुरुषः ।
द्रव्योपभोगे अरतो ज्ञान्यपि न बध्यते तथैव ॥१९६॥

यथा कश्चित्पुरुषो मैरेयं प्रति प्रवृत्ततीव्रारतिभावः सन् मैरेयं पिबन्नपि तीव्रारतिभावसाम-

---

विज्जापुरिसा ण मरणमुवयंति यथा विषमुपभुजाना संतो गारुडविद्यापुरुषा, अमोघमन्त्रसामर्थ्यात् नैव मरणमुपयांति । **पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव वज्झदे णाणी** तथा परमतत्त्वज्ञानी शुभाशुभकर्मफल भुक्ते तथापि निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदज्ञानामोघमन्त्रबलान्नैव बध्यते कर्मणेति ज्ञानशक्तिव्याख्यानं गत ॥१९५॥ अथ संसारशरीरभोगविषये वैराग्यसामर्थ्यं दर्शयति;—**जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो** यथा कश्चित् पुरुषो व्याधिप्रतीकारनिमित्तं मद्यमध्ये मद्यप्रतिपक्षभूतमौषधं निक्षिप्य मद्यं पिबन्नपि रतेरभावान्न मा[द्य]ति । **दव्वुवभोगे अरदो णाणीवि ण वज्झदि तहेव** तथा परमात्मतत्त्वज्ञानी पचेंद्रियविषयभूताशनपानादिद्रव्यो-

---

होता, उसी तरह अज्ञानी को रागादिभावों के सद्भाव से बंध का कारण ऐसे पुद्गल कर्म के उदय को भोगता हुआ भी ज्ञानी ज्ञान की अमोघ सामर्थ्य से रागादिभावो के अभाव से कर्म के उदय की आगामी बंध करने वाली शक्ति को रोक देता है इसलिये आगामी कर्मों से नहीं बंधता ।

भावार्थ—जैसे वैद्य अपनी विद्या की सामर्थ्य से विष की मारने रूप शक्ति का अभाव करता है उस विष को खाने पर भी उससे नहीं मरता, उसी तरह ज्ञानी के ज्ञान की सामर्थ्य कर्म के उदय की बंध करने रूप शक्ति को रोक देती है । इसलिये उसके कर्म का उदय भोगने मे आता है तौ भी आगामी बंध नहीं करता । यह सम्यग्ज्ञान की सामर्थ्य है ॥१९५॥

आगे वैराग्य की सामर्थ्य दिखलाते है,—**[यथा]** जैसे **[पुरुषः]** कोई पुरुष **[मद्यं]** मदिरा को **[अरतिभावेन]** विना प्रीति से **[पिबन्]** पीता हुआ **[न माद्यति]** मतवाला नहीं होता **[तथैव]** उसी तरह **[ज्ञानी अपि]** ज्ञानी भी **[द्रव्योपभोगे]** द्रव्य के उपभोग में **[अरतः]** तीव्ररागरहित हुआ **[न बध्यते]** कर्मों से नहीं बंधता ।

टीका—जैसे कोई पुरुष मदिरा में तीव्र अरतिभाव से मदिरा (शराब) को पीता हुआ भी तीव्र अरतिभाव के कारण मतवाला नहीं होता, उसी तरह ज्ञानी भी रागादिभावों के अभाव से

ध्यान्न माद्यति तथा रागादिभावानामभावेन सर्वद्रव्योपभोगं प्रति प्रवृत्ततीव्रविरागभावः सन् विषयानुपभुंजानोऽपि तीव्रविरागभावसामर्थ्यान्न बध्यते ज्ञानी ॥१९६॥

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना ।
ज्ञानवैभवविरागताबलात् सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥१३५॥

अथैतदेव दर्शयति—

सेवंतोवि ण सेवइ असेवमाणोवि सेवगो कोई ।
पगरणचेट्ठा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होई ॥ ११७ ॥

सेवमानोऽपि न सेवते असेवमानोऽपि सेवकः कश्चित् ।
प्रकरणचेष्टा कस्यापि न च प्राकरण इति स भवति ॥१९७॥

पभोगे सत्यपि यावता यावतांशेन निर्विकारस्वसंवित्तिशून्यबहिरात्मजीवापेक्षया रागभावं न करोति, तावता तावतांशेन कर्मणा न बध्यते। यदा तु हर्षविषादादिरूपसमस्तविकल्पजालरहितपरमयोगलक्षणभेदज्ञानबलेन सर्वथा वीतरागो भवति। तदा सर्वथा न बध्यते इति वैराग्यशक्तिव्याख्यानं गतं। एवं यथाक्रमेण द्रव्यनिर्जराभावनिर्जराज्ञानशक्तिवैराग्य-शक्तिप्रतिपादनरूपेण निर्जराधिकारे तात्पर्यव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतं ॥१९६॥ अथैतदेव वैराग्यशक्तिस्वरूपं

सब द्रव्यों को भोगने में तीव्र विरागभाव के कारण विषयों को भोगता हुआ भी तीव्र विरागभाव की सामर्थ्य से कर्मों से नहीं बंधता ॥१९६॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**नाश्नुते** इत्यादि। **अर्थ**—यह पुरुष, विषयों को सेवता हुआ भी विषय सेवने के निजफल को नहीं पाता सो ज्ञान के विभव के तथा विरागता के बल से विषयों का सेवने वाला होने पर भी सेवने वाला नहीं कहा जाता।

भावार्थ—ज्ञान और विरागता की ऐसी अचिंत्य सामर्थ्य है कि इंद्रियों से विषयों को सेवन करने पर भी उनका सेवने वाला नहीं कहा जाता। क्योंकि विषय सेवन का सामान्य निजफल संसार है। ज्ञानी वैरागी के मिथ्यात्व का अभाव होने से संसार का भ्रमणरूप फल नहीं होता ॥१३५॥

आगे इसी अर्थ को दृष्टांत द्वारा दिखलाते हैं;—**[कश्चित्]** कोई तो **[सेवमानोपि]** विषयों को सेवता हुआ भी **[न सेवते]** नहीं सेवन करता है और **[असेवमानोपि]** कोई नहीं सेवन करता हुआ भी **[सेवकः]** सेवने वाला कहा जाता है **[कस्यापि]** जैसे किसी पुरुष के **[प्रकरणचेष्टा अपि]** किसी कार्य के करने की चेष्टा तो है अर्थात् उस प्रकरण की सब क्रियाओं को करता है तौ भी किसीका कराया हुआ करता है **[सः]** वह **[प्राकरणः]** कार्य करने वाला स्वामी है **[इति न च भवति]** ऐसा नहीं कहा जाता।

यथा कश्चित् प्रकरणे व्याप्रियमाणोपि प्रकरणस्वामित्वाभावात् न प्राकरणिकः, अपरस्तु तत्राव्याप्रियमाणोऽपि तत्स्वामित्वात्प्राकरणिकः। तथा सम्यग्दृष्टिः पूर्वसञ्चितकर्मोदयसंपन्नान् विषयान् सेवमानोऽपि रागादिभावानामभावेन विषयसेवनफलस्वामित्वाभावादसेवक एव। मिथ्यादृष्टिस्तु विषयानसेवमानोऽपि रागादिभावानां सद्भावेन विषयसेवनफलस्वामित्वात्सेवक एव ॥१९७॥

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं[1] स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माद् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥१३६॥

विवृणोति;—**सेवंतोवि ण सेवदि असेवमाणोवि सेवगो कोवि** निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानी जीवः स्वकीयगुणस्थानयोग्याशनपानादिपंचेंद्रियभोगं सेवन्नपि सेवको न भवति। अन्य. पुनरज्ञानी कश्चिद् रागादिसद्भावादसेवन्नपि सेवको भवति। अमुमेवार्थं दृष्टांतेन दृढयति। **पगरणचेट्ठा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होदि** यथा कस्यापि पर-

---

टीका—जैसे कोई पुरुष किसी कार्य की प्रकरण क्रिया मे व्यापार रूप होकर उस संबंधी सब क्रियाओं को करता है तौ भी उस कार्य का स्वामी कोई दूसरा ही है उसका कराया करता है। इसलिये प्रकरण के स्वामीपन के अभाव से करने वाला नही है। तथा दूसरा कोई पुरुष उस प्रकरण में व्यापार रूप होकर उस कार्य संबंधी क्रिया को नही भी करता है तौभी उस कार्य के स्वामीपन से उस प्रकरण का करने वाला कहा जाता है। उसी तरह सम्यग्दृष्टि भी पूर्व संचित कर्मों के उदय से प्राप्त हुए इंद्रियों के विषयों को सेवता है तौभी रागादिक भावों के अभाव से विषय सेवन के फलके स्वामीपन का अभाव होने से सेवने वाला नहीं कहा जाता। और मिथ्यादृष्टि, विषयों को नही सेवता हुआ भी रागादिभावों के सद्भाव से विषय सेवने के फल के स्वामीपने से विषयों का सेवने वाला ही कहा जाता है।

भावार्थ—जैसे कोई व्यापारी स्वय कार्य न करके नौकरके द्वारा दुकान का कार्य कराता है। वह स्वयं कार्य न करता हुआ भी स्वामित्व के कारण दुकान संबधी हानि-लाभ का जिम्मेदार है। नौकर स्वामित्व के अभाव में व्यापार करता हुआ भी उसके हानि-लाभ का जिम्मेदार नही है। यहां दुकानदार के स्थान पर मिथ्यादृष्टि जानो और नौकर के स्थान पर सम्यग्दृष्टि को जानो ॥१९७॥

अब इसी अर्थ का समर्थन रूप सम्यग्दृष्टि के भावों की प्रवृत्ति का कलश कहते हैं—**सम्य** इत्यादि। **अर्थ**—सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति होती है। क्योंकि यह सम्यग्दृष्टि अपने वस्तुपना यथार्थस्वरूप का अभ्यास करने को अपने स्वरूप का ग्रहण और परके त्याग की विधिकर "यह तो अपना स्वरूप है और यह परद्रव्य का है मेरा नहीं" दोनों का भेद परमार्थ से जानकर अपने स्वरूप में ठहरता है और परद्रव्य से सब तरह राग का योग छोडता है। सो यह रीति ज्ञान वैराग्य की शक्ति के बिना नहीं होती।१३६।

१. सम्यग्दृष्टिरित्यर्थः।

सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरावेवं तावज्जानाति—

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं ।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥१९८॥

उदयविपाको विविधः कर्मणां वर्णितो जिनवरैः ।
न तु ते मम स्वभावाः ज्ञायकभावस्त्वहमेकः ॥१९८॥

ये कर्मोदयविपाकप्रभवा विविधा भावा न ते मम स्वभावाः । एष टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावोऽहं ॥१९८॥

सम्यग्दृष्टिर्विशेषेण तु स्वपरावेवं तावज्जानाति—

पुग्गलकम्मं [1]रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को ॥१९९॥

पुद्गलकर्म रागस्तस्य विपाकोदयो भवति एषः ।
नत्वेष मम भावः ज्ञायकभावः खल्वहमेकः ॥१९९॥

अस्ति किल रागो नाम पुद्गलकर्म, तदुदयविपाकप्रभवोयं रागरूपो भावः, न पुनर्मम

गृहादागतस्य विवाहादिप्रकरणचेष्टा तावदस्ति, तथापि विवाहादिप्रकरणस्वामित्वाभावात् प्राकरणिको न भवति । अन्यः पुनः प्रकरणस्वामी नृत्यगीतादिप्रकरणव्यापारमकुर्वाणोऽपि प्रकरणरागसद्भावात् प्राकरणिको भवति । तथा परमतत्त्वज्ञानी सेवमानोप्यसेवको भवति । अज्ञानी जीवो रागादिसद्भावादसेवकोऽपि सेवकइति ॥१९७॥ अथ सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरस्वभावमनेकप्रकारेण जानाति;—उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं उदय-

---

आगे इस के समर्थन में गाथा कहते हैं, सम्यग्दृष्टि प्रथम ही अपने को और परको सामान्य से तो ऐसे जानता है;—[कर्मणां] कर्मों के [उदयविपाकः] उदय का रस [जिनवरैः] जिनेश्वर देवने [विविधः] अनेक तरह का [वर्णितः] कहा है [ते] वे कर्मविपाक से हुए भाव [मम स्वभावाः] मेरा स्वभाव [न तु] नहीं हैं [अहं तु] मैं तो [एकः] एक [ज्ञायकभावः] ज्ञायकस्वभावस्वरूप हूं।

टीका—जो कर्म के उदय के रस से उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के भाव हैं वे मेरा स्वभाव नहीं है मैं तो प्रत्यक्ष अनुभवगोचर टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव हूं ॥१९८॥

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि अपने को और पर को विशेषकर इस तरह जानता है;—[एषः] यह [रागः] राग [पुद्गलकर्म] पुद्गल कर्म है [तस्य] उसके [विपाकोदयः] विपाक का उदय [भवति] है जो मेरे अनुभव में रागरूप प्रीतिरूप आस्वाद होता है सो [एषः] यह [मम भावः] मेरा भाव [न] नहीं है, क्योंकि [खलु] निश्चय कर [अहं तु] मैं तो [एकः] एक [ज्ञायकभावः] ज्ञायकभावस्वरूप हूं।

---

१. तात्पर्यवृत्तौ तु अस्य स्थाने 'कोहो' इत्यपि पाठः ।

स्वभावः। एष टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावोहं। एवमेव च रागपदपरिवर्तनेन द्वेषमोहक्रोधमानमाया-लोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि, अनया दिशा अन्यान्यप्यूह्यानि। एवं च सम्यग्दृष्टिः स्वं जानन् रागं मुंचंश्च नियमाज्ज्ञानवैराग्य[1]संपन्नो भवति ॥१९९॥

विपाको विविधो नानाप्रकारः कर्मणा सबंधी वर्णितः कथितः, जिनवरैः **ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को** ते कर्मोदयप्रकारा कर्मभेदा मम स्वभावा न भवति इति। कस्मात्? इति चेत्, टंकोत्कीर्णपरमानंदज्ञायकैक-स्वभावोऽह यतः कारणात् सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरस्वरूपावेव जानाति इति भणितं। कथं सामान्यं? इति चेत् क्रोधोहं मानोहमित्यादि विवक्षा नास्तीति। तदपि कथमिति चेत् "विवक्षाया अभाव. सामान्यमिति वचनात्।" एव भेदभावनारूपेण ज्ञानवैराग्ययोः सामान्यव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथापंचकं गतं ॥१९८॥ इत ऊर्ध्व गाथादशकपर्यंतं पुनरपि ज्ञानवैराग्यशक्त्योर्विशेषविवरणं करोति। अथ सम्यग्दृष्टिः स्वपरस्वरूपमेवं विशेषेण जानाति;—**पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदयो हवदि एसो** पुद्गलकर्मरूपो योऽसौ द्रव्यक्रोधो जीवे पूर्वबद्धस्तिष्ठति तस्य विशिष्टपाको विपाकः फलरूप उदयो भवति। स कः? शांतात्मतस्वात्पृथग्भूत एष अक्षमारूपो भाव क्रोध **ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमिक्को** न चैष मम भावः। कस्मात्? इति चेत्, टकोत्कीर्णपरमानदज्ञायकैकभा-वोऽहं यतः। किं च—पुद्गलकर्मरूपः क्रोधःक्वास्ते? भावरूप एव दृश्यते इति? नैवं। पुद्गलपिण्डरूपो द्रव्यक्रोध-स्तदुदयजनितो यश्चाक्षमारूप. स भावक्रोधः। इति व्याख्यानं पूर्वमेव कृत तिष्ठति। कथं? इति चेत् **पुग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु** इत्यादि। एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभरागद्वेषमोहकर्मनोकर्ममनोवचनकाय-श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसंज्ञानि षोडशसूत्राणि व्याख्येयानि। तेनैव प्रकारेणान्यान्यपि, असंख्येयलोकमात्रप्रमितानि विभावपरिणामस्थानानि वर्जनीयानीति ॥१९९॥ अथ कथ तव स्वरूपं न भवतीति पृष्टे सति भेदभावनारूपेणोत्तरं ददाति;—

कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो।
परदव्वाणुवओगो ण दु देहो हवदि अण्णाणी॥

टीका—निश्चय से रागनामा पुद्गलकर्म है उस पुद्गलकर्म के उदय के विपाक से उत्पन्न यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर रागरूप भाव है वह मेरा स्वभाव नही है, मैं तो टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप हूं। इस गाथा में परभाव को विशेष राग कहा है, उसी तरह राग की जगह पद पलटने से द्वेष, मोह, क्रोध, मान माया, लोभ, कर्म नोकर्म, मन, वचन, काय श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन ये पद रखकर सोलह सूत्रों का व्याख्यान करना। और इसी उपदेश से अन्य को भी विचार लेना। इस तरह सम्यग्दृष्टि अपने को जानता हुआ राग को छोड़ता नियम से ज्ञान, वैराग्य सम्पन्न होता है ॥१९९॥

---

१. वैराग्याभ्यां इत्यपि पाठः।

एवं सम्मद्दिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणयसहावं।
उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं वियाणंतो ॥२००॥

एवं सम्यग्दृष्टिः आत्मानं जानाति ज्ञायकस्वभावं
उदयं कर्मविपाकं च मुंचति तत्त्वं विजानन् ॥२००॥

एवं सम्यग्दृष्टिः सामान्येन विशेषेण च परस्वभावेभ्यो भावेभ्यो सर्वेभ्योऽपि विविच्य टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावमात्मनस्तत्त्वं विजानाति। तथा तत्त्वं विजानंश्च स्वपरभावोपादानापोहननिष्पाद्यं स्वस्य वस्तुत्वं प्रथयन् कर्मोदयविपाकप्रभवान भावान् सर्वानपि मुञ्चति। ततोऽयं नियमात् ज्ञानवैराग्याभ्यां संपन्नो भवति ॥२००॥

कथमेष तव न भवति विविधः कर्मोदयफलविपाकः। परद्रव्याणामुपयोगो न तु देहो भवति अज्ञानी। **कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो** कथमेष विविधकर्मोदयफलविपाकस्तवस्वरूप न भवतीति केनापि पृष्टः तत्रोत्तरं ददाति **परदव्वाणुवओगो** निर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणस्वशुद्धात्मद्रव्यात्पृथग्भूतानि परद्रव्याणि यानि कर्माणि जीवे लग्नानि तिष्ठन्ति तेषामुपयोग उदयोयं, औपाधिकस्फटिकस्य परोपाधिवत्। न केवलं भावक्रोधादि मम स्वरूपं न भवति, इति **ण दु देहो हवदि अण्णाणी** देहोऽपि मम स्वरूपं न भवति हु स्फुटं। कस्मादिति चेत्, अज्ञानी जडस्वरूपो यतः कारणात्, अहं पुनः अनंतज्ञानादिगुणस्वरूप इति। अथ सम्यग्दृष्टिः स्वस्वभावं जानन् रागादींश्च मुंचन् नियमाज्ज्ञानवैराग्यसंपन्नो भवति इति कथयति;—**एवं सम्माइट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दृष्टिर्जीवः आत्मानं जानाति। कथंभूतं? टंकोत्कीर्णपरमानंदज्ञायकैकस्वभावं।

आगे इसी अर्थ को सूचित करने वाली गाथा कहते हैं;—[**एवं**] इस तरह [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**आत्मानं**] अपने को [**ज्ञायकस्वभावं**] ज्ञायक स्वभाव [**जानाति**] जानता है [**च**] और [**तत्त्वं**] वस्तु के यथार्थ स्वरूप को [**विजानन्**] जानता हुआ [**उदयं**] कर्म के उदय को [**कर्मविपाकं**] कर्म का विपाक जान उसे [**मुञ्चति**] छोड़ता है।

टीका—इस तरह सम्यग्दृष्टि, सामान्य तथा विशेष सभी परभावों से भिन्न होकर टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभावरूप आत्मा के तत्त्व को अच्छी तरह जानता है और उस प्रकार तत्त्व को अच्छी तरह जानता हुआ स्वभाव का ग्रहण और परभाव का त्यागकर उत्पन्न हुए अपने वस्तुपने को फैलाता हुआ कर्म के उदय के विपाक से उत्पन्न हुए जो भाव उन सब को छोड़ता है। इसलिये यह सम्यग्दृष्टि नियम से ज्ञान वैराग्य से सम्पन्न होता है। यह सिद्ध हुआ।

भावार्थ—जब अपने को तो ज्ञायक भावस्वरूप—सुखमय जाने और कर्म के उदय से हुए भावों को आकुलता रूप—दुःखमय जाने तब ज्ञानरूप रहना तथा परभावों से विरागता ये दोनों होते ही हैं। यह बात प्रगट अनुभवगोचर है, यही सम्यग्दृष्टि का चिन्ह है ॥२००॥

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बंधो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरंतु।
आलंबंतां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात्संति सम्यक्त्वरिक्ताः॥१३७॥

उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं वियाणंतो उदय पुनर्मम स्वरूप न भवति कर्मविपाकोयमिति मत्वा मुचति। किं कुर्वन् सन् ? नित्यानंदैकस्वभावं परमात्मतत्त्व त्रिगुप्तिसमाधौ स्थित्वा जानन्निति॥२००॥ तद्यथा। रागी सम्यग्दृष्टिर्न

आगे कहते हैं कि ऐसा न हो और परद्रव्यों से आसक्तता रूप रागी हो तब वृथा ही सम्यग्दृष्टि-पने का अभिमान करता है **सम्यग्दृष्टि** इत्यादि। **अर्थ**—जो परद्रव्य मे रागद्वेष मोह से संयुक्त हैं और अपने को ऐसा मानते हैं कि मै सम्यग्दृष्टि हूं मेरे कदाचित कर्म का बंध नहीं होता; क्योंकि शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि के बंध होना नहीं कहा है। ऐसा मानकर जिनका मुख गर्वसहित ऊंचा हुआ है तथा हर्ष सहित रोमांचरूप हुआ है वे जीव महाव्रतादि आचरण करे तथा वचन विहार आहार की क्रिया मे यत्न से प्रवर्तने की उत्कृष्टता को भी अवलंबन करे तो भी पापी मिथ्यादृष्टि ही है, क्योंकि आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित हैं। इसलिये सम्यक्त्व से शून्य है।

भावार्थ—जो अपने को सम्यग्दृष्टि माने और परद्रव्य से राग हो तो उसके सम्यक्त्व कैसा ? व्रतसमिति पालें तौभी आप परके ज्ञान के विना पापी ही हैं, तथा अपने बंध नही होना मानकर स्वच्छंद प्रवर्ते तो कैसा सम्यग्दृष्टि ? क्योंकि चारित्रमोह के राग से जबतक यथाख्यात चारित्र न हो तब तक बंध तो होता ही है। जब तक राग रहता है तब तक सम्यग्दृष्टि अपनी निंदा (गर्हा) करता ही रहता है, ज्ञान होने मात्र से तो बंध से छूटना नहीं होता, ज्ञान होने के बाद उसी मे लीनरूप शुद्धोपयोगरूप चारित्र से बंधन कटता है। इसलिये राग होनेपर बध का न होना मानकर स्वच्छंद होना तो मिथ्यादृष्टि ही है। यहां कोई पूछे कि व्रतसमिति तो शुभकार्य है उनको पालने पर भी पापी क्यों कहा ? उसका समाधान—सिद्धांत में मिथ्यात्व को ही पाप कहा है जहा तक मिथ्यात्व रहता है वहा तक शुभ अशुभ सभी क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थ से पाप ही कहा है और व्यवहारनय की प्रधानता में व्यवहारी जीवों को अशुभ से छुड़ाकर शुभ में लगाने को किसी तरह पुण्य भी कहा है। स्याद्वादमत में कोई विरोध नहीं है। फिर कोई पूछे कि परद्रव्य से जब तक राग रहे तब तक मिथ्यादृष्टि कहा है सो इस को हम नहीं समझे क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के चारित्रमोह के उदय से रागादिभाव होते हैं उसके सम्यक्त्व किस तरह कहा है ? उसका समाधान—यहां मिथ्यात्व सहित अनंतानुबंधी का राग प्रधान करके कहा है, क्योंकि अपने और परके ज्ञान श्रद्धान के विना परद्रव्य में तथा उसके निमित्त से हुए भावों में आत्मबुद्धि हो तथा प्रीति अप्रीति हो तब समझना कि इसके भेदज्ञान नहीं हुआ। मुनिपद लेकर व्रतसमिति भी पालता है वहां पर जीवों की रक्षा तथा शरीर संबंधी यत्न से प्रवर्तना, अपने शुभ भाव होना इत्यादि परद्रव्य संबंधी भावों से अपना मोक्ष होना माने और पर जीवों का घात होना अयत्नाचाररूप प्रवर्तना अपना अशुभभाव होना इत्यादि परद्रव्यों की क्रिया से ही अपने में बंध माने तबतक जानना कि

कथं रागी न भवति सम्यग्दृष्टिरिति चेत्—

परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स।
णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि ॥२०१॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥२०२॥ (युग्मम्)

परमाणुमात्रमपि खलु रागादीनां तु विद्यते यस्य।
नापि स जानात्यात्मानं तु सर्वागमधरोऽपि ॥२०१॥
आत्मानमजानन् अनात्मानं चापि सोऽजानन्।
कथं भवति सम्यग्दृष्टिर्जीवाजीवावजानन् ॥२०२॥

भवतीति कथयति;—**परमाणुमित्तयंपि य रागादीणं तु विज्जदे जस्स** परमाणुमात्रमपि रागादीनातु विद्यते यस्य हृदये हु स्फुटं **णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि** स तु परमात्मतत्त्वज्ञानाभावात् शुद्धबुद्धैकस्व-

इसके अपना और परका ज्ञान नहीं हुआ, क्योंकि बंधमोक्ष तो अपने भावों से था परद्रव्य तो निमित्तमात्र था उसमें विपर्यय माना, इसलिये परद्रव्य से ही भला बुरा मान रागद्वेष करता है तबतक सम्यग्दृष्टि नहीं है। और जब तक चारित्रमोह के रागादिक रहते हैं उनको तथा उनसे प्रेरित परद्रव्य संबंधी शुभाशुभ क्रिया में प्रवृत्तियों को ऐसा मानता है कि यह कर्म का जोर है इससे निवृत्त होने से ही मेरा भला है, उनको रोग के समान जानता है, पीड़ा सही नहीं जाती तब उनका इलाज करने रूप प्रवर्तता है तो भी इसके उनसे राग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो रोग माने उसके राग कैसा? उसके मेंटने का ही उपाय करता है सो मेंटना भी अपने ही ज्ञान परिणामरूप परिणमन से मानता है। इस तरह परमार्थ अध्यात्मदृष्टि से यहां व्याख्यान जानना। मिथ्यात्व के विना चारित्र मोह संबंधी उदय के परिणाम को यहां राग नहीं कहा, इसलिये सम्यग्दृष्टि के ज्ञान वैराग्यशक्ति का अवश्य होना कहा है। मिथ्यात्वसहित राग को ही राग कहा गया है वह सम्यग्दृष्टि के नहीं हैं और जिसके मिथ्यात्वसहित राग है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। उस भेद को सम्यग्दृष्टि ही जानता है। मिथ्यादृष्टि का अध्यात्मशास्त्र में प्रथम तो प्रवेश ही नहीं है और जो प्रवेश करे तो उलटा समझता है, व्यवहार को सर्वथा छोड़ भ्रष्ट हो जाता है, अथवा निश्चय को अच्छी तरह नहीं जानकर व्यवहार से ही मोक्ष मानता है परमार्थ तत्त्व में मूढ है। इसलिये यथार्थ स्याद्वादनय द्वारा सत्यार्थ समझने से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है ॥१३७॥

आगे पूछते हैं कि सम्यग्दृष्टि रागी किस तरह नहीं होता? उसका उत्तर कहते है;–**[खलु]** निश्चय करके **[यस्य]** जिस जीव के **[रागादीनां]** रागादिकों का **[परमाणुमात्रमपि]** लेशमात्र (अंशमात्र) भी **[तु विद्यते]** मौजूद है तो **[सः]** वह जीव **[सर्वागमधरोपि]** सब शास्त्रों को पढा हुआ होने पर भी **[आत्मानं तु]** आत्मा को **[नापि]** नहीं **[जानाति]** जानता **[च]** और **[आत्मानं]**

यस्य रागादीनामज्ञानमयानां भावानां लेशतोऽपि विद्यते सद्भावः, भवतु स श्रुतकेवलि-कल्पोऽपि' तथापि 'ज्ञानमयभावानामभावेन न जानात्यात्मानं। यस्त्वात्मानं न जानाति सोऽनात्मानमपि न जानाति स्वरूपपररूपसत्ताऽसत्ताभ्यामेकस्य वस्तुनो निश्चीयमानत्वात्। ततो य आत्मानात्मानौ न जानाति स जीवाजीवौ न जानाति। यस्तु जीवाजीवौ न जानाति स सम्यग्दृष्टिरेव न भवति। ततो रागी ज्ञानाभावान्न भवति सम्यग्दृष्टिः ॥२०१।२०२॥

भावं परमात्मानं न जानाति, नानुभवति। कथंभूतोऽपि? सर्वागमधरोऽपि सिद्धांतसिंधुपारगोऽपि। **अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चेव सो अयाणंतो** स्वसंवेदनज्ञानबलेन सहजानंदैकस्वभावं शुद्धात्मानमजानन्, तथैवाभावयंश्च शुद्धात्मनो भिन्नं रागादिरूपमनात्मानं चाजानन् **कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो** स पुरुषो जीवाजीवस्वरूप-

---

आत्मा को **[अजानन्]** नहीं जानता हुआ **[अनात्मानं अपि]** पर को भी **[अजानन्]** नहीं जानता है **[जीवाजीवौ]** इस तरह जो जीव और अजीव दोनों पदार्थों को भी **[अजानन्]** नहीं जानता **[सः]** वह **[सम्यग्दृष्टिः]** सम्यग्दृष्टि **[कथं भवति]** कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता।

टीका—जिस जीव के लेश मात्र भी अज्ञानमय रागादिकभाव हैं वह जीव श्रुतकेवली के समान भी हो तो भी ज्ञानमय भाव के अभाव के कारण आत्मा को नहीं जानता। और अपने आत्मा को नहीं जानता है वह अनात्मा (पर) को भी नहीं जानता। क्योंकि अपना और परका स्वरूप का सत्त्व तथा असत्त्व दोनों एक ही वस्तु के निश्चय में आ जाते हैं। इसलिये ऐसा है कि जो आत्मा और अनात्मा दोनों को नहीं जानता है वह जीव अजीव वस्तु को ही नहीं जानता, तथा जो जीव अजीव को नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। इसलिये रागी है वह ज्ञान के अभाव से सम्यग्दृष्टि नहीं है।

भावार्थ—यहां रागी कहने से अज्ञानमय रागद्वेष मोह भाव लिये गये हैं। उसमें भी अज्ञानमय कहने से मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी से हुए रागादिक समझना, मिथ्यात्व के विना चारित्रमोह के उदय का राग नहीं लेना। क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के चारित्रमोह के उदय संबंधी राग है वह ज्ञान सहित है उसको रोग के समान जानता है उस राग के साथ राग नहीं है कर्मोदय से जो राग हुआ है उसको मेंटना चाहता है। और जो राग का लेशमात्र भी इसके नहीं कहा सो ज्ञानी के अशुभ राग तो अत्यंत गौण है परन्तु शुभ राग होता है उस शुभ राग को अच्छा समझ लेशमात्र भी उस राग से राग करे तो सर्वशास्त्र भी पढ़ लिये हैं मुनि भी हो व्यवहारचारित्र भी पाले तो भी ऐसा समझना चाहिये कि इसने अपने आत्मा का परमार्थस्वरूप नहीं जाना कर्मोदयजनितभाव को ही अच्छा समझा है उसी से अपना मोक्ष होना मान रक्खा है। ऐसे मानने से अज्ञानी ही है। अपने और पर के परमार्थरूप को नहीं जाना तब जानना चाहिये कि जीव अजीव पदार्थ का भी परमार्थरूप नहीं जाना और जब जीव अजीव को ही नहीं जाना तब कैसा सम्यग्दृष्टि ? ऐसा जानना ॥२०१।२०२॥

---

१. सदृशोऽपि—इत्यपि पाठः। २. ज्ञानमयस्य भावस्य इत्यपि पाठः।

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः-
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥१३८॥

मजानन् सन् कथं भवति सम्यग्दृष्टिः ? न कथमपीति। किंच—रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति भणितं भवद्भिः। तर्हि चतुर्थपंचमगुणस्थानवर्तिनः, तीर्थंकर-कुमार-भरत-सगर-राम-पाडवादयः सम्यग्दृष्टयो न भवंति ?, इति। तन्न, मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनां बंधाभावात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवंति। कथं इति चेत्,चतुर्थगुणस्थानवर्तिनां जीवानां अनंतानुबंधिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनितानां पाषाणरेखादिसमानानां रागादीनामभावात्। पंचमगुणस्थानवर्तिनां पुनर्जीवानां, अप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभोदयजनितानां भूमिरेखादिसमानानां रागादीनामभावात्, इति पूर्वमेव भणितमास्ते। अत्र तु ग्रंथे पचमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्या ग्रहणं, सरागसम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टिव्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यं ॥२०१।२०२॥ अथ किं तत् परमात्म-

---

अब इस अर्थ का कलश कहते हैं— **आ संसारा** इत्यादि। **अर्थ**—श्रीगुरु संसारी भव्यजीव को संबोधन करते हैं कि हे अंधे प्राणियो ! जो रागी पुरुष हैं वे अनादि संसार से लेकर जिस पद में सोते हैं उस पद को तुम अपद समझो, यह तुमारा स्थान नहीं है। यहां दोबार कहने से अति करुणाभाव सूचित होता है। फिर कहते हैं कि तुम्हारा ठिकाना यह है यह है जहां चैतन्य धातु शुद्ध है शुद्ध है अपने स्वाभाविक रस के समूह से स्थायीभावपने को प्राप्त है। यहां पर दो शुद्ध पद हैं वे द्रव्य और भाव दोनों की शुद्धता के लिये हैं। सो सब अन्य द्रव्यों से भिन्नता वह तो द्रव्य शुद्धता है और परके निमित्त से हुए अपने भाव उनसे रहितभाव शुद्ध कहे जाते हैं सो इस तरफ आओ इस तरफ आओ यहां निवास करो।

भावार्थ—ये प्राणी अनादि संसार से लेकर रागादिक को अच्छा जानकर उनको ही अपना स्वभाव मानकर उन्हीं में निश्चित हैं उनको श्री गुरुदयालु होकर संबोधन करते हैं कि हे अंधे प्राणियो ! तुम जिस पद में सोते हो वह तुमारा पद नहीं है तुमारा पद तो चैतन्य स्वरूपमय है उसको प्राप्त होओ ऐसे सावधान करते हैं। जैसे कोई महंत पुरुष मद पीकर मलिन जगह में सोता हो उसको कोई आकर जगावे और कहे कि तेरी जगह तो सुवर्णमय धातु की अतिदृढ़ शुद्ध सुवर्ण से रची और बाह्य कजौड़े से रहित शुद्ध ऐसी है। सो हम बतलाते हैं वहां आओ वहां ही शयनादिक आनंद रूप हो। उसी तरह श्री गुरु ने उपदेश से सावधान किया है कि बाह्य तो अन्यद्रव्यों से मिलाप नहीं और अंतरंग विकार नहीं ऐसे शुद्धचैतन्यरूप अपने भाव का आश्रय करो। दो दो वार कहने से अतिकरुणा अनुराग सूचित होता है ॥१३८॥

आगे पूछते हैं कि वह पद कहां है ? उसका उत्तर कहते हैं;–[आत्मनि] आत्मा में [अपदानि]

किन्नाम तत्पदं ? इत्याह—

आदह्मि दव्वभावे [1]अपदे मोत्तूण गिराह तह णियदं ।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण ॥२०३॥

आत्मनि द्रव्यभावानपदानि मुक्त्वा गृहाण तथा नियतं ।
स्थिरमेकमिमं भावमुपलभ्यमानं स्वभावेन ॥२०३॥

इह खलु भगवत्यात्मनि बहूनां द्रव्यभावानां मध्ये ये किल अतत्स्वभावेनोपलभ्यमानाः, अनियतत्वावस्थाः, अनेके, क्षणिकाः, व्यभिचारिणो भावाः ते सर्वेऽपि स्वयमस्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुम[2]शक्यत्वादपदभूताः। यस्तु तत्स्वभावेनोपलभ्यमानो नियतत्वावस्थः, एकः, नित्यः, अव्यभिचारी भावः, स एक एव स्वयं स्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुं [3]शक्यत्वात् पदभूतः। ततः सर्वानेवास्थायिभावान् मुक्त्वा स्थायिभावभूतं, परमार्थरसतया स्वदमानं ज्ञानमेकमेवेदं स्वाद्यं ॥२०३॥

पदमिति पृच्छति;—**आदह्मि दव्वभावे अथिरे मोत्तूण** आत्मद्रव्येऽधिकरणभूते, द्रव्यकर्माणि भावकर्माणि च यानि तिष्ठंति तानि विनश्वराणि, इति विज्ञाय मुक्त्वा **गिराह** हे भव्य गृहाण स्वीकुरु। कं ? कर्मतापन्नं **तव**

पर निमित्त से हुए अपद रूप [**द्रव्यभावान्**] द्रव्य भावरूप सभी भावों को [**मुक्त्वा**] छोड़कर [**नियतं**] निश्चित [**स्थिरं**] स्थिर [**एकं**] एक [**स्वभावेन**] स्वभाव से ही [**उपलभ्यमानं**] ग्रहण होने योग्य [**इमं**] इस प्रत्यक्ष अनुभवगोचर [**भावं**] चैतन्य मात्र भाव को हे भव्य ! तू [**तथागृहाण**] जैसा है वैसा ग्रहण कर। वही अपना पद है।

टीका—निश्चय से इस भगवान् आत्मा में द्रव्यभावरूप बहुत भाव दीखते है। उनमें कोई तो उस आत्मा के स्वभाव से रहित है वे अनिश्चित अवस्था रूप हैं, अनेक हैं क्षणिक हैं, व्यभिचारी है, ऐसे भाव हैं, वे सभी अस्थायी है जिनका ठहरने का स्वभाव नहीं है, इसलिये ठहरने वाले आत्मा के ठहरने का स्थान होने के योग्य नही है। इस कारण वे अपदस्वरूप हैं और जो भाव आत्मस्वभाव से तो ग्रहण में आता है तथा सदा निश्चित रहता है, एक है, नित्य है अव्यभिचारी है ऐसा एक चैतन्यमात्र ज्ञान भाव है। सो आप स्थायी भावस्वरूप है सदा विद्यमान पाया जाता है, वह ही स्थित होनेवाले आत्मा का ठहरने का स्थान होने योग्य है। इसलिये यह भाव पदभूत है। इस कारण सभी अस्थायी भावों को छोड़कर स्थायीभूत परमार्थरसरूप से स्वाद में आता हुआ यह ज्ञान है वही एक आस्वादन करने योग्य है।

---

१. तात्पर्यवृत्तौ, 'अथिरे मोत्तूण' इति पाठः। २. अशक्तत्वाद्। ३. शक्तत्वात् इति पाठौस्तः।

एकमेव हि तत्स्वाद्यं 'विपदामपदं पदं ।
अपदान्येव[2] भासंते पदान्यन्यानि यत्पुरः[3] ॥१३९॥
एकं ज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वंद्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन् ।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं[4]
सामान्यं कलयत्किलैष सकलं ज्ञानं नयत्यकेतां ॥१४०॥

णियदं थिरमेगमिमं भावं उपलब्भंतं सहावेण भावं आत्मपदार्थं। कथंभूतं ? तव संबंधि स्वरूपं। नियतं निश्चितं। पुनरपि कथंभूत ? थिरं स्थिरं, अविनश्वरं। एकं, असहायं। इमं प्रत्यक्षीभूतं। पुनरपि किंविशिष्ट ? उपलभ्य-

---

भावार्थ—पूर्व वर्णादिक गुणस्थानांत भाव कहे थे वे सभी आत्मा में अनियत, अनेक, क्षणिक, व्यभिचारी ऐसे भाव हैं वे आत्मा के पद नहीं हैं। और यह जो स्वसंवेदनस्वरूप ज्ञान है वह नियत है, एक है, नित्य है, अव्यभिचारी है, स्थायीभाव है। वह आत्मा का पद है सो ज्ञानियों के यही एक स्वाद लेने योग्य है ॥२०३॥

अब इस अर्थ का कलश कहते हैं—**एकमेव** इत्यादि। **अर्थ**—वही एक पद आस्वादने योग्य है जो आपदाओं का पद नहीं है अर्थात् जिस पद में कोई भी आपदा प्रवेश नहीं कर सकती। जिसके आगे अन्य सभी पद अपद प्रतिभासित होते हैं।

भावार्थ—एक ज्ञान ही आत्मा का पद है इसमें कुछ भी आपदा नहीं है इसके आगे अन्य सभी पद आपदा स्वरूप (आकुलतामय) अपद भासते हैं ॥१३९॥

फिर कहते हैं कि आत्मा, ज्ञान का अनुभव इस तरह करता है—**एकं ज्ञायक** इत्यादि। **अर्थ**—यह आत्मा, ज्ञान के विशेषों के उदय को गौण करता हुआ सामान्यमात्र ज्ञान को अभ्यास करता सब ज्ञान को एकभाव स्वरूप प्राप्त करता है, एक ज्ञायकमात्र भाव से भरे हुए ज्ञान के महास्वाद को लेता है, मिले हुए वर्णादिक रागादिक तथा क्षायोपशमरूप ज्ञान के भेदरूप स्वाद उसके लेने को असमर्थ है अर्थात् ज्ञान में ही एकाग्र हो जाता है तब दूसरा स्वाद नहीं आता, अपनी वस्तु की प्रवृत्ति को जानता है आस्वाद करता है क्योंकि वह आत्मा के अनुभव (आस्वाद) के प्रभाव से विवश है अर्थात् उसी स्वाद के आधीन है वहां से चिग नहीं सकता, अद्वितीय स्वाद लेता हुआ बाहर क्यों आये ?

भावार्थ—इस एक स्वरूप ज्ञान के रसीले स्वाद के सामने अन्य रस फीके हैं। ज्ञान के विशेष ज्ञेय के निमित्त से होते हैं। सो जब ज्ञान सामान्य का स्वाद लिया जाता है तब सब ज्ञान के भेद भी गौण हो जाते हैं एक ज्ञान ही ज्ञेय रूप हो जाता है। यहां कोई पूछे कि छद्मस्थ को पूर्ण रूप केवलज्ञान का स्वाद कैसे आता है ? उसका उत्तर पहले शुद्धनय के कथन में दे दिया था ॥१४०॥

---

१. विपदां चातुर्गतिक दुःखानां। २. अपदानि अस्वभावभूतानि चातुर्गतिकपर्याया वा रागद्वेष सुखदुःखावस्था भेदा वा। ३. स्थैर्यादिधर्मान्वितस्य चैतन्यस्य पुरस्तात्। ४. गौणी कुर्वत्।

तथाहि—

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं ।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ॥२०४॥

आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च तद्भवत्येकमेव पदं ।
स एष परमार्थो यं लब्ध्वा निर्वृतिं याति ॥२०४॥

आत्मा किल परमार्थः तत्तु ज्ञानं, आत्मा च एक एव पदार्थः, ततो ज्ञानमप्येकमेव पदं, यदेतत्तु ज्ञानं नामैकं पदं स एष परमार्थः साक्षान्मोक्षोपायः । न चाभिनिबोधिकादयो भेदा इदमेकपदमिह भिंदंति । किं तु तेऽपीदमेवैकं पदमभिनंदंति । तथाहि-यथात्र सवितुर्घनपटलावगुंठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतः प्रकाशनातिशयभेदा न तस्य प्रकाशस्वभावं भिंदंति । तथाऽऽत्मनः कर्मपटलोदयावगुंठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतो ज्ञानातिशयभेदा न

मानमनुभूयमान । केन कृत्वा ? परमात्ममुखसंवित्तिरूपस्वसंवेदनज्ञानस्वभावेनेति ॥२०३॥ अथ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानाभेदरूप परमार्थसंज्ञं मोक्षकारणभूतं यत्परमात्मपदं तत्समस्तहर्षविषादादिविकल्पजालरहित परमयोगाभ्यासादेवात्मानुभवति, इति प्रतिपादयति, —**आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं** मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञान

आगे कहते है कि कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से ज्ञान मे भेद है जब ज्ञान का स्वरूप विचारा जाय तो ज्ञान एक ही है,—**[आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च]** मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान **[तत् एकमेव पदं भवति]** ये ज्ञान के भेद है वे ज्ञानपद को ही प्राप्त हैं, सभी एक ज्ञान नाम से कहे जाते हैं **[स एषः परमार्थः]** सो यह शुद्धनय का विषयस्वरूप ज्ञान सामान्य है इसलिये यही शुद्धनय है **[यं लब्ध्वा]** जिसको पाकर आत्मा **[निर्वृतिं]** मोक्ष पद को **[याति]** प्राप्त होता है ।

टीका—निश्चय से आत्मा परम पदार्थ है, वह आत्मा पूर्व कथित ज्ञान ही है, वह आत्मा एक ही पदार्थ है इसलिये ज्ञान भी एक पद को ही प्राप्त है, यह ज्ञाननामा एक पद है वह परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष का उपाय है । मतिज्ञानादिक जो ज्ञान के भेद है वे उस ज्ञाननामा एक पद को भेदरूप नही करते, इकट्ठा करते हैं अर्थात् एक ज्ञाननामा पद को ही वृद्धि रूप प्रगट कर प्रकाशित करते हैं । यही कहते हैं—जैसे इस लोक में बादलों से संकोच रूप आच्छादित सूर्य का उस बादल के दूर होने के अनुसार से प्रगटपना होता है तिसके प्रगट होने के व प्रकाश के हीनाधिक भेद हैं वे उसके प्रकाशरूप सामान्य स्वभाव को नहीं भेदते, उसी प्रकार कर्मसमूहों के उदयकर संकोच रूप आच्छादित आत्मा उस कर्म के क्षयोपशम के अनुसार प्रगटपने को प्राप्त हुए ज्ञान के हीनाधिक भेद हैं वे आत्मा के सामान्य ज्ञानस्वभाव को नहीं भेदते, किंतु प्रकाशरूप प्रगट ही करते हैं । इसलिये जिसमें समस्त भेद दूर हो गये हैं ऐसे आत्मा के स्वभावभूत एक ज्ञान को ही आलंबन करना चाहिये । उस ज्ञान के आलंबन से ही

तस्य ज्ञानस्वभावं भिंद्युः। किं तु प्रत्युततमभिनंदेयुः। ततो निरस्तसमस्तभेदमात्मस्वभावभूतं ज्ञानमेवैकमालम्ब्यं। तदालंबनादेव भवति पदप्राप्तिः, नश्यति भ्रांतिः, भवत्यात्मलाभः, सिद्ध्यत्यनात्मपरिहारः, न कर्म मूर्छति, न रागद्वेषमोहा उत्प्लवंते, न पुनः कर्म आस्रवति, न पुनः कर्म बध्यते, प्राग्बद्धं कर्मोपभुक्तं निर्जीर्यते, कृत्स्नकर्माभावात् साक्षान्मोक्षो भवति ॥ २०४ ॥

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलंति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमंडलरसप्राग्भारमत्ता इव ।
[1]यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोप्यनेकी भवन्
व[2]ल्गत्यु[3]त्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥१४१॥

भेदरूपं यत्तन्निश्चयेन, एकमेव पदं परं, किं तु यथादित्यस्य मेघावरणतारतम्यवशेन प्रकाशभेदा भवंति, तथा मतिज्ञानावरणादिभेदकर्मवशेन मतिश्रुतज्ञानादिभेदभिन्नं जातं **सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि** स एष लोकप्रसिद्धः पंचज्ञानाभेदरूपः परमार्थः यं परमार्थं लब्ध्वा जीवो निर्वृतिं याति लभत इत्यर्थः। एवं ज्ञानशक्तिवैराग्यशक्तिविशेषविवरणरूपेण सूत्रदशकं गतं ॥ २०४ ॥ अत ऊर्ध्वं गाथाष्टकपर्यंतं तस्यैव परमात्मपदस्य प्रकाशको योसौ ज्ञानगुणः,

---

निज पद की प्राप्ति होती है, उसी से भ्रम का नाश होता है, उसी से आत्मा का लाभ होता है और अनात्मा के परिहार की सिद्धि होती है। ऐसा होने पर कर्म के उदय की मूर्छा नहीं होती, रागद्वेष मोह नहीं उत्पन्न होते, रागद्वेष मोह के बिना फिर कर्म का आस्रव नहीं होता, आस्रव न होने से फिर कर्म बंध नहीं होता, पहले जो कर्म बांधे थे वे भोगने के बाद निर्जरा को प्राप्त होते हैं। सब कर्मों का अभाव होकर साक्षात् मोक्ष होता है। ऐसा ज्ञान के आलम्बन का माहात्म्य है।

भावार्थ—ज्ञान में भेद कर्मों के क्षयोपशम के अनुसार होते हैं वे कुछ ज्ञानसामान्य को अज्ञान रूप नही करते उल्टे ज्ञान को ही प्रगट करते हैं। इसलिए भेदों को गौणकर एक ज्ञानसामान्य का आलम्बन करके आत्मा का ध्यान करना। इसी से सब सिद्धि होती है ॥२०४॥

अब इस अर्थ का कलश कहते हैं—**अच्छाच्छाः** इत्यादि। **अर्थ**—आत्मा की जो यह संवेदन की व्यक्ति है अर्थात् अनुभव में आये हुए ज्ञान के भेद हैं वे निर्मल से निर्मल अपने आप उछलते हैं—प्रगट अनुभव में आते हैं। वे भेद समस्त पदार्थों के समूहरूप रस के पीने के बहुत बोझे से मानों मतवाले हो गये हैं। यह भगवान् चैतन्यरूप समुद्र उठती हुई लहरों से अभिन्न रस हुआ एक है तो भी अनेक रूप हुआ दोलायमान प्रवर्तता है, जिसकी निधि अद्भुत है ऐसा है।

भावार्थ—जैसे बहुत रत्नों से भरा समुद्र एक जल से भरा है तो भी उसमें निर्मल छोटी बड़ी अनेक लहरें उठती हैं वे सब एक जल रूप ही हैं उसी तरह यह आत्मा ज्ञानसमुद्र है सो एक ही है इसमें अनेक गुण हैं और कर्म के निमित्त से ज्ञान के अनेकभेद अपने आप व्यक्ति रूप होकर प्रगट होते हैं वे व्यक्तियां एक ज्ञान रूप ही जाननी, खंड खंड रूप नहीं अनुभव करनी ॥१४१॥

---

१. यावंतः पर्यायास्तेभ्योऽभिन्नसत्ताकः। २. परिणमति। ३. अनादितो मत्याद्यनेकभेदैः।

किंच—

क्लिश्यंतां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यंतां च परे[1] महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरं ।
साक्षान्मोक्ष इदं [2]निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं [3]ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमंते न हि ॥ १४२ ॥

णाणगुणेण विहीणा एयं तु पयं बहूवि ण लहंति ।
तं गिराह [4]णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥ २०५ ॥

ज्ञानगुणेन विहीना एतत्तु पदं बहवोऽपि न लभंते ।
तद्गृहाण नियतमेतद् यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षं ॥ २०५ ॥

यतो हि सकलेनापि कर्मणा कर्मणि ज्ञानस्याप्रकाशनात् ज्ञानस्यानुपलंभः । केवलेन ज्ञानेनैव ज्ञान एव ज्ञानस्य प्रकाशनाद् ज्ञानस्योपलंभः । ततो बहवोऽपि बहुनापि कर्मणा ज्ञानशून्या

तस्य सामान्यविवरणं करोति । तद्यथा । अथ मत्यादिपंचज्ञानाभेदरूप साक्षान्मोक्षकारणभूतं यत्परमात्मपदं, तत्पदं शुद्धात्मानुभूतिशून्यं व्रततपश्चरणादिकायक्लेशं कुर्वाणा अपि स्वसंवेदनज्ञानगुणेन विना न लभंत इति कथयति;—**णाणगुणेहिं विहीणा एदं तु पदं बहूवि ण लहंति** निर्विकारपरमात्मतत्त्वोपलब्धिलक्षणज्ञानगुणेन विहीनाः रहिताः

अब फिर भी विशेषता से कहते हैं—**क्लिश्यंतां** इत्यादि । **अर्थ**—कोई जीव, दुःख से किये जाने वाले और मोक्ष से परान्मुख कर्मों से स्वयमेव (जिनाज्ञा बिना) क्लेश करें और कोई मोक्ष के सन्मुख, कथंचित् जिनाज्ञा में कहे गये ऐसे महाव्रत तथा तप के भार से बहुत काल तक भग्न (पीड़ित) हुए कर्मोकर क्लेश करे उन कर्मों से तो मोक्ष होती नही । इसलिये यह ज्ञान ही साक्षात् मोक्षस्वरूप है और निरामय पद है अर्थात् जिसमें कुछ रोगादिक क्लेश नहीं हैं तथा अपने से ही आप वेदने योग्य है । ऐसा ज्ञान तो ज्ञान गुण के विना किसी तरह के कष्ट से प्राप्त नही हो सकता ॥१४२॥

आगे इसी का उपदेश करते हैं;—हे भव्य **[यदि]** जो तू **[कर्मपरिमोक्षं]** कर्म का सब तरफ से मोक्ष करना **[इच्छसि]** चाहता है **[तु]** तो **[तत् एतत् नियतं]** उस निश्चित ज्ञान को **[गृहाण]** ग्रहणकर । क्योंकि **[ज्ञानगुणेन विहीनाः]** ज्ञान गुणकर रहित **[बहवः अपि]** बहुत पुरुष बहुत प्रकार के कर्म करते हैं तो भी **[एतत् पदं]** इस ज्ञानस्वरूप पद को **[न लभंते]** नहीं प्राप्त होते ।

टीका—जिस कारण सभी कर्मों में ज्ञान का प्रकाशना नहीं है इस कारण ज्ञान का पाना कर्म से नहीं होता, केवल एक ज्ञान द्वारा ही ज्ञान में ज्ञानका प्रकाशन है इसलिए ज्ञान से ही ज्ञान का

---

१. शुद्धस्वरूपानुभवभ्रष्टाः । २. सांसारिकक्लेशरहितं । ३. शुद्धस्वरूपानुभवशक्तिमन्तरेण । ४. सुपदमिति तात्पर्यवृत्तौ पाठः ।

नेदमुपलभंते। इदमनुपलभमानाश्च न कर्मभिर्विप्रमुच्यंते ततः कर्ममोक्षार्थिना केवलज्ञानावष्टंभेन नियतमेवेदमेकं पदमुपलंभनीयं ॥२०५॥

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सततं जगत् ॥१४३॥

किञ्च—

एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥ २०६ ॥

एतस्मिन् रतो नित्यं संतुष्टो भव नित्यमेतस्मिन्।
एतेन भव तृप्तो भविष्यति तवोत्तमं सौख्यं॥ २०६ ॥

पुरुषाः बहवोऽपि शुद्धात्मोपादेयसंवित्तिरहितं दुर्धरकायक्लेशादितपश्चरणं कुर्वाणा अपि मत्यादिपंचज्ञानाभेदरूपं साक्षान्मोक्षकारणं स्वसंवेद्यं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणमिदं पदं न लभंते। **तं गिण्ह सुपदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं**

पाना होता है इस कारण ज्ञानशून्य बहुत से प्राणी अनेक प्रकार के कर्मों के करने पर भी इस ज्ञान के पद को नहीं प्राप्त करते और इस पद के न पाने से ही कर्मों से नहीं छूटते। इसलिये जो कर्मों को मोचन करना चाहता है उसको तो केवल एक ज्ञान के अवलंबन द्वारा निश्चित इसी एक पद को प्राप्त करना चाहिये।

भावार्थ—ज्ञान से ही मोक्ष होता है कर्म से नहीं। इसलिये मोक्षार्थी को ज्ञान का ही ध्यान करना चाहिये यह उपदेश है ॥२०५॥

अब इस अर्थ का कलश कहते हैं—**पदमिदं** इत्यादि। **अर्थ**—यह ज्ञानमय पद कर्म करने से तो दुष्प्राप्य है और स्वाभाविक ज्ञान की कला से सुलभ है यह प्रकट निश्चय से जाने। इसलिये अपने निज ज्ञान की कला के बल से इस ज्ञान के अभ्यास करने को सब जगत् अभ्यास का यत्न करो।

भावार्थ—समस्त कर्मों से छुड़ा कर ज्ञान के अभ्यास करने का उपदेश किया है। और ज्ञान की कला कहने से ऐसा सूचित होता है कि जब तक पूर्णकला प्रकट न हो तब तक जो ज्ञान है वह हीन कलास्वरूप है मतिज्ञानादिरूप है। उस ज्ञान की कला के अभ्यास से पूर्णकला केवल ज्ञानस्वरूप कला प्रकट होती है ॥१४३॥

आगे फिर इसी उपदेश को प्रकट कर कहते हैं:—हे भव्य जीव! तू **[एतस्मिन्]** इस ज्ञान में **[नित्यं]** सदाकाल **[रतः भव]** रुचि से लीन हो और **[एतस्मिन्]** इसी में **[नित्यं]** हमेशा **[संतुष्टः भव]** संतुष्ट हो अन्य कोई कल्याणकारी नहीं है और **[एतेन]** इसी से **[तृप्तः भव]** तृप्त हो अन्य कुछ इच्छा न रहे; ऐसा अनुभव करने से **[तव]** तेरे **[उत्तमं सुखं]** उत्तम सुख **[भविष्यति]** होगा।

एतावानेव सत्य आत्मा यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्र एव नित्यमेव रतिमुपैहि। एतावत्येव सत्याशीः, यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव संतोषमुपैहि। एतावदेव सत्यमनुभवनीयं यावदेव ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव तृप्तिमुपैहि। अथैवं तव तन्नित्यमेवात्मरतस्य, आत्मसंतुष्टस्य, आत्मतृप्तस्य च वाचामगोचरं सौख्यं भविष्यति। तत्तु तत्क्षण एव त्वमेव स्वयमेव द्रक्ष्यसि मा[1] अन्यान् प्राक्षीः॥ २०६॥

अचिंत्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिंतामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण?॥ १४४॥

हे भव्य तत्पदं गृहाण यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षमिति॥ २०५॥ अथात्मसुखे संतोषं दर्शयति। **एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि एदेण होहि तित्तो** हे भव्य पंचेंद्रियसुखनिवृत्तिं कृत्वा निर्विकल्पयोगबलेन स्वाभाविकपरमात्मसुखे रतो भव, संतुष्टो भव, तृप्तो भव नित्य सर्वकालं **तो होहदि उत्तमं सुक्खं** ततस्तस्मादात्मसुखानुभवनात् तवोत्तममक्षयं मोक्षसुखं भविष्यति॥२०६॥ अथ ज्ञानी परद्रव्यं न गृह्णातीति भेदभावना प्रतिपादयति;—**को णाम**

टीका—हे भव्य, इतने मात्र ही सत्य परमार्थस्वरूप आत्मा है जितना यह ज्ञान है। ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र आत्मा में ही निरंतर प्रीति को प्राप्त हो। इतना मात्र ही सत्यार्थ कल्याण है, जितना यह ज्ञान है ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र आत्मा से नित्य ही संतोष को प्राप्त हो इतना ही सत्यार्थ अनुभव करने योग्य है। जितना यह ज्ञान है ऐसा निश्चय कर ज्ञानमात्र ही आत्माकर नित्य तृप्ति को प्राप्त हो। इस प्रकार नित्य ही आत्मा में रत, आत्मा में संतुष्ट, आत्मा में तृप्ति होने से वचनातीत नित्य उत्तम सुख होगा, उस सुख को उसी समय स्वयमेव ही देखेगा। दूसरे से मत पूछ, यह सुख अपने अनुभवगोचर ही है दूसरे से क्यों पूछता है।

भावार्थ—ज्ञानमात्र आत्मा में लीन होना, इसी से संतुष्ट रहना और इसी से तृप्त होना यह परम ध्यान है। इसी से वर्तमान में आनंदरूप होता है और उसके बाद ही संपूर्ण ज्ञानानंदस्वरूप केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस सुख को ऐसा पूर्वोक्त करने वाला ही जानता है अन्य का इसमें प्रवेश नहीं है॥ २०६॥

अब ज्ञानी की महिमा का कलश कहते हैं—**अचिंत्य** इत्यादि। **अर्थ**—जिस कारण यह चैतन्यमात्र चिंतामणि वाला ऐसा ज्ञानी, स्वयमेव आप देव है। जिसमें ऐसी शक्ति है जो किसी के विचार में नहीं आ सकती। ऐसे ज्ञानी के सब प्रयोजन सिद्ध हैं, ज्ञानी को अन्य परिग्रह का क्या लाभ है?

भावार्थ—यह ज्ञानमूर्ति आत्मा अनंत शक्ति का धारक वांछित कार्य की सिद्धि करने वाला आप ही देव है इसलिये सब प्रयोजनों के सिद्धपनेकर ज्ञानी के अन्य परिग्रह के सेवन करने से क्या साध्य है? कुछ भी नहीं, यह निश्चयनय का उपदेश है।॥१४४॥

---

१. "माऽति प्राक्षीः" इत्यपि पाठः।

कुतो ज्ञानी न परं गृह्णातीति चेत्—

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं ।
अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो ॥२०७॥

को नाम भणेद् बुधः परद्रव्यं ममेदं भवति द्रव्यं ।
आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन् ॥२०७॥

यतो हि ज्ञानी, यो हि यस्य स्वो भावः स तस्य [1]स्वः । स तस्य स्वामीति खरतरतत्त्वदृष्ट्यवष्टंभाद् आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियमेन विजानाति । ततो न ममेदं स्वं नाहमस्य स्वामी इति परद्रव्यं न परिगृह्णाति ॥२०७॥

अतोऽहमपि न तत् परिगृह्णामि—

मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज ।
णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ ॥२०८॥

मम परिग्रहो यदि ततोऽहमजीवतां तु गच्छेयं ।
ज्ञातैवाहं यस्मात्तस्मान्न परिग्रहो मम ॥२०८॥

भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इदं हवदि दव्वं परद्रव्यं मम भवतीति नाम स्फुटमहो वा को ब्रूयात् ? बुधो ज्ञानी, न कोपि । किं कुर्वन् ? **अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो** चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मानमेव,

---

आगे पूछते हैं कि ज्ञानी परद्रव्य को क्यों नहीं ग्रहण करता ? उसका उत्तर कहते हैं;—[**कः नाम बुधः**] ऐसा कौन ज्ञानी पंडित है ? जो [**इदं परद्रव्यं**] यह परद्रव्य [**मम द्रव्यं**] मेरा द्रव्य [**भवति**] है [**भणेत्**] ऐसा कहे, ज्ञानी पंडित [**आत्मानं तु**] अपने आत्मा को ही [**नियतं**] नियम से [**आत्मनः परिग्रहं**] अपना परिग्रह [**विजानन्**] जानता हुआ प्रवर्तता है ।

टीका—जो ज्ञानी है वह नियम से ऐसा जानता है कि जो जिसका निजभाव है वही उसका स्व है, और उसी स्वभाव रूप द्रव्य का वह स्वामी है । ऐसे सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टि के अवलंबन से आत्मा का परिग्रह अपना आत्मस्वभाव ही है ऐसा जानता है । इस कारण परद्रव्य को ऐसा जानता है कि यह मेरा स्व नहीं, मैं इसका स्वामी नहीं । इसलिये परद्रव्य को ग्रहण नहीं करता ।

भावार्थ—लोक में समझदार मनुष्य परकी वस्तु को अपनी नहीं जानता हुआ उसको ग्रहण नहीं करता उसी तरह परमार्थ ज्ञानी अपने स्वभाव को ही अपना धन जानता है परके भाव को अपना नहीं जानता; ऐसा ज्ञानी परका ग्रहण सेवन नहीं करता ॥२०७॥

आगे इसी अर्थ को युक्ति से दृढ़ करते हैं;—ज्ञानी ऐसा जानता है कि [**यदि**] जो [**मम**]

---

१. 'स्वं' इत्यपि पाठः ।

यदि परद्रव्यमजीवमहं परिगृह्णीयां तदावश्यमेवाजीवो ममासौ स्वः स्यात्। अहमप्यवश्यमेवाजीवस्यामुष्य स्वामी स्यां। अजीवस्य तु यः स्वामी, स किलाजीव एव। एवमवशेनापि ममाजीवत्वमापद्येत। मम तु एको ज्ञायक एव भावः यः स्वः, अस्यैवाहं स्वामी, ततो माभून्ममाजीवत्वं ज्ञातैवाहं भविष्यामि न परद्रव्यं परिगृह्णामि, अयं च मे निश्चयः ॥२०८॥

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जह्मा तह्मा गच्छदु तहवि हु ण परिग्गहो मज्झ ॥२०९॥

छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां वाथवा यातु विप्रलयं।
यस्मात्तस्माद् गच्छतु तथापि खलु न परिग्रहो मम ॥२०९॥

आत्मनः परिग्रह विजानन् नियतं निश्चितमिति ॥२०७॥ अथ मिथ्यात्वरागादिरूपमपध्यानं मम परिग्रहो न भवतीति पुनरपि भेदज्ञानशक्तिं वैराग्यशक्तिं च प्रकटयति;—**मज्झं परिग्गहो जदि तदो अहमजीविदं तु गच्छेज्ज** सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनस्वभावस्य मम यदि मिथ्यात्वरागादिकपरद्रव्यं परिग्रहो भवति ततोऽहमजीवत्वं जडत्वं गच्छामि। न चाहं अजीवो भवामि। **णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ** परमात्मज्ञानपदमेवाहं यस्मात्ततः परद्रव्यं मम परिग्रहो न भवतीत्यर्थः ॥२०८॥ अथायं च मे निश्चयः देहरागादिपरद्रव्यं मम परिग्रहो न भवतीति भेदज्ञानं

मेरा परद्रव्य **[परिग्रहः]** परिग्रह हो **[ततः]** तो **[अहं]** मैं भी **[अजीवतां]** अजीवत्व को **[गच्छेयं]** प्राप्त हो जाउं **[यस्मात्]** जिस कारण **[अहं तु]** मै तो **[ज्ञाता एव]** ज्ञाता ही हूं **[तस्माद्]** इस कारण **[मम]** मेरे **[परिग्रहः]** कुछ भी परिग्रह **[न]** नही है।

टीका—यदि मै अजीव परद्रव्य को ग्रहण करू तो अजीव मेरा स्व अवश्य हो जाय और मैं भी उस अजीव का अवश्य स्वामी ठहरू। क्योंकि यह न्याय है कि अजीव का स्वामी निश्चय से अजीव ही होता है इस तरह मेरे भी अजीवपना अवश्य आ जावे। इसलिये मेरा तो एक ज्ञायकभाव ही स्व है, उसी का मैं स्वामी हूं। इस कारण मेरे अजीवपना न हो, मैं तो ज्ञाता ही होऊंगा परद्रव्य को नहीं ग्रहण करूगा यह मेरा निश्चय है।

भावार्थ—निश्चयनय का यह सिद्धांत है कि जीव का भाव तो जीव ही है उसी से जीवका स्व स्वामीसंबंध है। और अजीव के भाव अजीव ही हैं उन्ही के साथ अजीव का स्वस्वामी संबंध है। इसलिए यदि जीव के अजीव का परिग्रह माना जाए तो जीव अजीवपने को प्राप्त हो जाय। अतः परमार्थ से जीव के अजीव का परिग्रह मानना मिथ्याबुद्धि है। ज्ञानी के यह मिथ्याबुद्धि नहीं होती। ज्ञानी तो इस तरह मानता है कि परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है मै तो ज्ञाता हूं ॥२०८॥

आगे कहते हैं कि ऐसा मानने वाले ज्ञानी के परद्रव्य के विगड़ने, सुधरने में दोनों में समता है;—ज्ञानी ऐसा विचारता है कि परद्रव्य **[छिद्यतां वा]** छिद जाओ **[भिद्यतां वा]** अथवा भिद जाओ **[नीयतां वा]** अथवा कोई ले जाओ **[अथवा]** या **[विप्रलयं यातु]** नष्ट हो जाओ **[यस्मात् तस्मात्]**

छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां वा विप्रलयं यातु वा यतस्ततो गच्छतु वा तथापि न परद्रव्यं परिगृह्णामि । यतो न परद्रव्यं मम स्वं नाहं परद्रव्यस्य स्वामी । परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वं, परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वामी । अहमेव मम स्वं अहमेव मम स्वामीति जानामि ॥२०९॥

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुं ।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद् भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ॥१४५॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं ।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होई ॥२१०॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति धर्मं ।
अपरिग्रहस्तु धर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥२१०॥

निरूपयति;—**छिज्जदु वा भिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं** छिद्यतां वा द्विधा भवतु, भिद्यतां वा छिद्रीभवतु, नीयतां वा केनचित् । अथवा विप्रलयं विनाशं गच्छतु, एवमेव **जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ** अन्यस्मात् यस्मात् तस्मात् कारणाद्वा गच्छतु तथापि शरीरं मम परिग्रहो न भवति । कस्मात् ? इति चेत् टंकोत्कीर्ण-परमानंदज्ञायकैकस्वभावोहं, यतः कारणात् । अयं च मे निश्चयः ॥२०९॥ अथ विशेषपरिग्रहत्यागरूपेण तमेव ज्ञानगुणं विवृणोति;—**अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं** अपरिग्रहो भणितः । कोसौ ?

जिस तिस तरह से **[गच्छतु]** चली जाओ **[तथापि]** तो भी **[खलु]** निश्चय से **[मम]** मेरा **[परिग्रहः न]** परद्रव्य परिग्रह नहीं है ।

टीका—परद्रव्य छिदो, वा भिदो, वा कोई लेओ, वा नष्ट हो जाओ, वा जिस तिस कारण से चली जाओ तो भी मैं परद्रव्य को परिग्रहण नहीं करता, क्योंकि परद्रव्य मेरा स्व नहीं है और न मैं उसका स्वामी हूं । मैं अपना ही स्वामी हूं ऐसा जानता हूं ।

भावार्थ—ज्ञानी के परद्रव्य के विगड़ने सुधरने का हर्ष और विषाद नहीं है ॥२०९॥

अब इस अर्थ का कलश कहते हैं;—**इत्थं** इत्यादि । **अर्थ**—इस प्रकार सामान्य से सभी परिग्रह को छोड़कर अपने और परके अविवेक का जो कारण अज्ञान उसको छोड़ने का जिसका मन है ऐसा यह ज्ञानी उस परिग्रह को विशेषकर भिन्न-भिन्न छोड़ने को फिर प्रवृत्त होता है ।

भावार्थ—स्व और परको एकरूप जानने का हेतु अज्ञान है इसी अज्ञान से परद्रव्य का परिग्रहण है । इसलिये ज्ञानी के पहली गाथा में परिग्रह का सामान्यकर त्याग करना कहा गया है ॥१४५॥

अब कहते हैं कि ज्ञानी के धर्म का भी परिग्रह नहीं है;—**[ज्ञानी]** ज्ञानी **[अपरिग्रहः]** परिग्रह से रहित है **[अनिच्छः]** इसलिये परिग्रह की इच्छा से रहित है **[भणितः]** ऐसा कहा है इसी कारण **[धर्मं च]** धर्म को **[न इच्छति]** नहीं चाहता **[तेन]** इसीलिये **[धर्मस्य अपरिग्रहः]** धर्म का परिग्रह नहीं है **[सः]** वह ज्ञानी **[ज्ञायकः भवति तु]** धर्म का ज्ञायक ही है ।

इच्छा परिग्रहः तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । इच्छात्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति । ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति, ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावाद् धर्मं नेच्छति । तेन ज्ञानिनो धर्मपरिग्रहो नास्ति । ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावाद् धर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात् ॥२१०॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं ।
अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२११॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यधर्मं ।
अपरिग्रहोऽधर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥२११॥

इच्छा परिग्रहः, तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति, इच्छात्वज्ञानमयो भावः । अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति । ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य

अनिच्छः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येष्विच्छा वाछा मोहो नास्ति । तेन कारणेन स्वसंवेदनज्ञानी शुद्धोपयोगरूपं निश्चयधर्मं विहाय शुभोपयोगरूपं धर्मं पुण्यं नेच्छति **अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि** ततः कारणात्पुण्यरूपधर्मस्यापरिग्रहः सन् पुण्यमिद मम स्वरूपं न भवतीति ज्ञात्वा तद्रूपेणापरिणमन् अतन्मयो भवन् दर्पणे बिम्बस्येव ज्ञायक एव भवति ॥२१०॥ **अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अहम्मं** अपरिग्रहो भणितः । स कः ? अनिच्छः—तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येषु इच्छा कांक्षा नास्ति । तेन कारणेन तत्त्वज्ञानी विषयकषायरूपमधर्मं पापं नेच्छति । **अपरिग्गहो अधम्मस्स जाणगो तेण सो होदि** तत एव कारणात्—विषयकषायरूपस्याधर्मस्याऽपरिग्रहः सन् पापमिदं मम स्वरूपं न भवतीति ज्ञात्वा तद्रूपेणापरिणमन् दर्पणे बिम्बस्येव ज्ञायक एव भवति । एवमेव च, अधर्मपदपरिवर्तनेन रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकाय-

---

टीका—इच्छा है वही परिग्रह है जिसके इच्छा नहीं उसके परिग्रह भी नही और जो इच्छा है वह अज्ञानमय भाव है वह भाव ज्ञानी के नही है, ज्ञानी के तो ज्ञानमय ही भाव है । इसलिये ज्ञानी अज्ञानमय भावरूप इच्छा के अभाव से धर्म को नहीं चाहता इस कारण ज्ञानी के धर्म परिग्रह नहीं है ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव से धर्म का केवल ज्ञाता ही यह ज्ञानी है ॥२१०॥

आगे इसी प्रकार ज्ञानी के अधर्म का परिग्रह नही है **[ज्ञानी]** ज्ञानी **[अनिच्छः]** इच्छारहित है इसलिये **[अपरिग्रहः]** परिग्रह रहित **[भणितः]** कहा है इसीसे **[अधर्मं न इच्छति]** अधर्म की इच्छा नहीं करता **[सः]** वह ज्ञानी **[अधर्मस्य]** अधर्म का **[अपरिग्रहः]** परिग्रह नहीं रखता **[तेन]** इसलिये वह **[ज्ञायकः भवति च]** उस अधर्म का ज्ञायक ही है ।

टीका—इच्छा है वह परिग्रह है जिसके इच्छा नहीं है उसके परिग्रह नहीं है । और इच्छा है वह अज्ञानमय भाव है वह भाव ज्ञानी के नहीं है । ज्ञानी के तो ज्ञानमय ही भाव है इसलिये ज्ञानी अज्ञानमय भावरूप इच्छा के अभाव से अधर्म की इच्छा नहीं करता इस कारण ज्ञानी के अधर्म का

भावस्य इच्छाया अभावादधर्मं नेच्छति तेन ज्ञानिनोऽधर्मपरिग्रहो नास्ति, ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादधर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात्। एवमेव चाधर्मपदपरिवर्तमेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनया दिशाऽन्यान्यप्यूह्यानि ॥२११॥

अपरिग्गहो अणिच्छो [1]भणिदो णाणी य णिच्छदे असणं।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१२॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति अशनं।
अपरिग्रहस्त्वशनस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥२१२॥

इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छात्वज्ञानमयो भावः। अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति। ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोस्ति। ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य

श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसंज्ञानि सप्तदशसूत्राणि व्याख्येयानि। तेनैव प्रकारेण शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितानंतज्ञानादिगुणस्वरूपशुद्धात्मनः प्रतिपक्षभूतानि शेषाण्यप्यसंख्येयलोकप्रमितानि विभावपरिणामस्थानानि वर्जनीयानि ॥२११॥

धम्मच्छि अधम्मच्छी आयासं सुत्तमंगपुव्वेसु।
संगं च तहा णेयं देवमणुअत्तिरियणेरइयं ॥

अपरिग्रहो भणितः। कोऽसौ? अनिच्छः तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येषु इच्छा आकांक्षा नास्ति। तेन कारणेन परमतत्त्वज्ञानी चिदानंदैकस्वभावं शुद्धात्मानं विहाय धर्माधर्माकाशांगपूर्वगतश्रुतबाह्याभ्यंतरपरिग्रहदेव-

---

परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय जो एक ज्ञायकभाव उसके सद्भाव से यह ज्ञानी अधर्म का केवल ज्ञायक ही है। इसी प्रकार गाथा में अधर्म पद के पलटने से अधर्म की जगह राग द्वेष क्रोध मान माया लोभ कर्म नोकर्म मन वचन काय श्रोत्र चक्षु घ्राण रसन स्पर्शन—ये सोलह पद रख सोलह गाथा सूत्रोंकर व्याख्यान करना। और इसी उपदेश से अन्य भी विचार लेना ॥२११॥

आगे ज्ञानी के आहार करना भी परिग्रह नहीं है;—[अनिच्छः अपरिग्रहः] इच्छा रहित हो वही परिग्रह रहित है [भणितः] ऐसा कहा है [च] और [ज्ञानी] ज्ञानी [अशनं] भोजन को [न इच्छति] नहीं चाहता इसलिये [अशनस्य] ज्ञानी के भोजन का [अपरिग्रहः] परिग्रह नहीं है [तेन] इस कारण [सः] वह ज्ञानी [ज्ञायकः तु] अशन का ज्ञायक ही [भवति] है।

टीका—इच्छा है वही परिग्रह है जिसके इच्छा नहीं है उसके परिग्रह भी नहीं। और इच्छा है वह अज्ञानमय भाव है सो ज्ञानी के अज्ञानमय भाव नहीं है। ज्ञानी के तो ज्ञानमय ही भाव है इसलिये ज्ञानी अज्ञानमय भावरूप इच्छा के अभाव से भोजन को नहीं चाहता इस कारण ज्ञानी के अशन का परिग्रह नहीं है ज्ञानमय जो एक ज्ञायक भाव उसके सद्भाव से यह ज्ञानी केवल अशन का ज्ञायक ही है।

१. तात्पर्यवृत्तौ—'भणिदो असणं तु णिच्छदे णाणी' इति पाठः।

भावस्य इच्छाया अभावादशनं नेच्छति तेन ज्ञानिनोऽशनपरिग्रहो नास्ति ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादशनस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात् ॥२१२॥

अपरिग्गहो अणिच्छो [1]भणिदो णाणीय णिच्छदे पाणं ।
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१३॥

अपरिग्रहो अनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति पानं ।
अपरिग्रहस्तु पानस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥२१३॥

इच्छा परिग्रहः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । इच्छात्वज्ञानमयो भावः । अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति । ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति । ततो ज्ञान्यज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावात् पानं नेच्छति । तेन ज्ञानिनः पानपरिग्रहो नास्ति । ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायक भावस्य भावात् केवलं पानकस्य ज्ञायक एवायं स्यात् ॥२१३॥

मनुष्यतिर्यङ्नारकादिविभावपर्यायान्नेच्छति इति ज्ञेयं ज्ञातव्यं । ततः कारणात्तद्विषये निष्परिग्रहो भूत्वा तद्रूपेणापरिणमन् सन् दर्पणे बिम्बस्येव ज्ञायक एव भवति । अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो असणं च णिच्छदे णाणी

भावार्थ—ज्ञानी के आहार की भी इच्छा नहीं है इस कारण ज्ञानी के आहार करना भी परिग्रह नहीं है। प्रश्न—आहार तो मुनि भी करते हैं उनके इच्छा है या नहीं ? समाधान—असातावेदनीय कर्म के उदय से तो जठराग्नि क्षुधा उपजती है, वीर्यांतराय के उदय से उसकी वेदना सही नहीं जाती और चारित्रमोह के उदय से ग्रहण करने की इच्छा उत्पन्न होती है सो इस इच्छा को कर्म के उदय का कार्य जानता है उस इच्छा को रोग के समान जान मेंटना चाहता है। अनुरागरूप इच्छा नहीं है अर्थात् ऐसी इच्छा नहीं होती कि मेरी यह इच्छा सदा रहे इसलिये अज्ञानमय इच्छा का अभाव है परजन्य इच्छा का स्वामीपना ज्ञानी के नहीं है इसलिये ज्ञानी इच्छा का भी ज्ञायक ही है। ऐसा शुद्ध नय को प्रधान कर कथन जानना ॥२१२॥

पान का परिग्रह भी ज्ञानी के नहीं है;—[अनिच्छः] इच्छा रहित है वह [अपरिग्रहः] परिग्रहरहित [भणितः] कहा गया है [च] और [ज्ञानी] ज्ञानी [पानं] जल आदि पीने की [न इच्छति] इच्छा नहीं रखता [तेन] इस कारण [पानस्य] पान का [अपरिग्रहः] परिग्रह ज्ञानी के नहीं है इसलिये [सः] वह ज्ञानी [ज्ञायकः तु] पान का ज्ञायक ही [भवति] है।

टीका—इच्छा है वह अज्ञानमय भाव है, ज्ञानी के अज्ञानमय भाव नहीं है। ज्ञानी के तो ज्ञानमय ही भाव है इसलिये ज्ञानी अज्ञानमय भाव जो इच्छा उसके अभाव से पान की इच्छा नहीं करता इसलिए ज्ञानी के पान का परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय जो एक ज्ञायक भाव उसके सद्भाव से यह ज्ञानी पान का केवल ज्ञायक ही है। भावार्थ—आहार के समान जानना ॥२१३॥

---

१. 'तात्पर्यवृत्तौ—भणिदो पाणं च णिच्छदे णाणी' इति पाठः।

[1]एमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी ।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ ।।२१४।।

एवमादिकांस्तु विविधान् सर्वान् भावांश्च नेच्छति ज्ञानी ।
ज्ञायकभावो नियतः निरालंबस्तु सर्वत्र ।।२१४।।

एवमादयोऽन्येऽपि बहुप्रकाराः परद्रव्यस्य ये स्वभावास्तान् सर्वानेव नेच्छति ज्ञानी तेन ज्ञानिनः सर्वेषामपि परद्रव्यभावानां परिग्रहो नास्ति इति सिद्धं ज्ञानिनोऽत्यंतनिष्परिग्रहत्वं । अथैवमयमशेषभावांतरपरिग्रहशून्यत्वादुद्वांतसमस्ताज्ञानः सर्वत्राप्यत्यंतनिरालंबो भूत्वा प्रतिनियतटंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावः सन् साक्षाद्विज्ञानघनमात्मानमनुभवति ।। २१४ ।।

अपरिग्रहो भणितः । स कः ? अनिच्छ. । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येषु इच्छा मूर्च्छा ममत्वं नास्ति । इच्छास्वज्ञानमयो भावः स च ज्ञानिनो न संभवति । **अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि** तत एव कारणात् आत्मसुखे तृप्तो भूत्वा अशनविषये निष्परिग्रहः सन् दर्पणे बिम्बस्येव अशनाद्याहारस्य वस्तुनो वस्तुरूपेण ज्ञायक एव भवति । न च रागरूपेण ग्राहक इति ।।२१२।। **अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो पाणं तु णिच्छदे णाणी** अपरिग्रहो भणितः । कोसौ ? अनिच्छः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येष्वाकांक्षा तृष्णा मोह इच्छा नास्ति । इच्छात्वज्ञानमयो भावः स च ज्ञानिनो न संभवति **अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि** ततः कारणात् स्वाभाविकपरमानंदसुखे तृप्तो भूत्वा विविधपानकविषय निष्परिग्रहः सन् दर्पणे बिम्बस्येव वस्तुनो वस्तुस्वरूपेण ज्ञायक

आगे कहते हैं कि इसी प्रकार अनेक प्रकार के परजन्य भाव को भी ज्ञानी नहीं चाहता;—**[एवमादिकान् तु]** इस प्रकार को आदि लेकर **[विविधान्]** अनेक प्रकार के **[सर्वान् भावान्]** सब भावों को **[ज्ञानी]** ज्ञानी **[न इच्छति]** नहीं चाहता । क्योंकि **[नियतः]** नियम से **[ज्ञायकभावः]** आप ज्ञायक भाव है इसलिये **[सर्वत्र निरालंबः तु]** सबमें निरालंब है ।

टीका—इसी पूर्वोक्त प्रकार को आदि लेकर अन्य भी बहुत प्रकार पर द्रव्य के जो स्वभाव हैं उन सबकी ही ज्ञानी इच्छा नहीं करता, इस कारण ज्ञानी के सभी पर द्रव्यों के भावों का परिग्रह नहीं है । इस तरह ज्ञानी का अत्यन्त निष्परिग्रहपना सिद्ध हुआ । इस प्रकार यह ज्ञानी समस्त अन्य भावों के परिग्रह के शून्यत्व से जिसने समस्त अज्ञान उगल दिया है ऐसा हुआ सर्वत्र अति निरालंबन स्वरूप होकर केवल एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायकभाव हुआ साक्षात् विज्ञानघन आत्मा को अनुभव करता है ।

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रकार आदि लेकर सभी अन्य भावों का ज्ञानी के परिग्रह नहीं है क्योंकि जब सभी पर भावों को हेय जाने, तब उनकी प्राप्ति की इच्छा नहीं होती । उदय में आये हुए को अनासक्त हुआ भोगता है । संसार देहभोगों से रागरूप इच्छा के विना परिग्रह का अभाव कहा गया है ।।२१४।।

---

१. एवमादिए दु' इत्यपि पाठः । इच्चादि इति तात्पर्यवृत्तौ पाठः ।

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकाज्ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः ।
तद्भवत्वथ च रागवियोगान्नूनमेति न परिग्रहभावं ॥ १४६ ॥

उप्पण्णोदयभोगो विओगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं ।
कंखामणागयस्स य उदयस्स ण कुव्वए णाणी ॥ २१५ ॥

उत्पन्नोदयभोगो वियोगबुद्ध्या तस्य स नित्यं ।
कांक्षामनागतस्य चोदयस्य न करोति ज्ञानी ॥ २१५ ॥

एव भवति, नच रागरूपेण ग्राहक इति । तथा चोक्त—ण बलाउसाहरणट्ठ ण सरीरस्स य चयट्ठतेजट्ठ । णाणट्ठ सजमट्ठ झाणट्ठ चेव भुजति ॥१॥ अक्खामक्खणिमित्त इसिणो भुजति पाणधारणणिमित्त । पाणा धम्मणिमित्त धम्म हि चरति मोक्खट्ठ ॥२॥" २१३॥अथ परिग्रहत्यागव्याख्यानमुपसहरति,—**इच्चादिएदु विविहे सव्वे भावेय णिच्छदे णाणी** इत्यादिकान् पुण्यपापाशनपानादिबहिर्भावान् सर्वान् सर्वतः परमात्मतत्त्वज्ञानी नेच्छति । अनिच्छन् स कथभूतो भवति ? **जाणगभावो णियदो णीरालंबो य सव्वत्थ** टकोत्कीर्णपरमानदज्ञायकैकस्वभाव एव भवति नियतो निश्चित । पुनश्च कथभूतो भवति ? जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायै कृतकारितानुमितैश्च बाह्याभ्यतर-परिग्रहरूपे चेतनाचेतनपरद्रव्ये सर्वत्र निरालबोऽपि, अनतज्ञानादिगुणस्वरूपे स्वस्वभावे पूर्णकलश इव सालबन एव 'तिष्ठतीति भावार्थ ॥ २१४ ॥ अथ ज्ञानी वर्तमानभाविभोगेषु वाछा न करोतीति कथयति,—**उप्पण्णो-दयभोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं** उत्पन्नोदयभोगे वियोगबुद्धिश्च हेयबुद्धिर्भवति 'तस्य तस्मिन् भोगविषये 'षष्ठीसप्तम्योरभेद इति वचनात्' कोसौ निरीहवृत्तिर्भवति ? स्वसवेदनज्ञानी नित्य सर्वकाल **कंखामणागदस्स य**

अब उसी अर्थ का कलश है—**पूर्वबद्ध** इत्यादि । **अर्थ**—ज्ञानी के पूर्व बधे अपने कर्म के उदय से जो उपभोग होता है सो होवे परतु राग के अभाव मे निश्चय से वह उपभोग परिग्रहभाव को प्राप्त नही होता ।

भावार्थ—पूर्वबद्ध कर्मों का उदय आने पर उपभोग की सामग्री प्राप्त होती है उसको यदि अज्ञानमयरागभाव से भोगे तब तो वह परिग्रह भाव को प्राप्त होवे, परन्तु ज्ञानी के अज्ञानमय राग भाव नही है उदय आया है उसे भोगता है । यह जानता है कि पूर्व बाधा था वही उदय आ गया, पीछा छूटा, आगामी वाछा नही करता हू । इस प्रकार उनसे रागरूप इच्छा नही है तब वे परिग्रह भी नही हैं ॥ १४६ ॥

आगे ज्ञानी के तीन कालगत परिग्रह नही है ऐसा कहते हैं,—[**उत्पन्नोदयभोगः**] उत्पन्न हुआ वर्तमान काल के उदय का भोग [**तस्य**] उस ज्ञानी के [**नित्यं**] हमेशा [**स**] वह [**वियोगबुद्ध्या**] वियोग की बुद्धिकर वर्तता है इसलिए परिग्रह नही है [**च**] और [**अनागतस्य उदयस्य**] आगामी काल मे होने वाले उदय की [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**कांक्षां**] वाछा [**न करोति**] नही करता इसलिए परिग्रह नही है । तथा अतीत काल का बीत ही चुका सो यह विना कहा सामर्थ्य से ही जानना कि इसके परिग्रह नही है । गये हुए की वाछा ज्ञानी के कैसे हो ?

कर्मोदयोपभोगस्तावदतीतः प्रत्युत्पन्नोऽनागतो वा स्यात्। तत्रातीतस्तावदतीतत्वादेव सन् परिग्रहभावं बिभर्ति। अनागतस्तु आकांक्ष्यमाण एव परिग्रहभावं बिभृयात्। प्रत्युत्पन्नस्तु स किल रागबुद्ध्या प्रवर्तमान एव तथा स्यात्। नच प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनो रागबुद्ध्या प्रवर्तमानो दृष्टो ज्ञानिनोऽज्ञानमयभावस्य रागबुद्धेरभावात्। वियोगबुद्ध्यैव केवलं प्रवर्तमानस्तु स किल न परिग्रहः स्यात्। ततः प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत्। अनागतस्तु स किल ज्ञानिनो न कांक्षित एव, ज्ञानिनोऽज्ञानमयभावस्याकांक्षाया अभावात्। ततोऽनागतोऽपि कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत् ॥ २१५ ॥

उदयस्स ण कुव्वदे णाणी स एव ज्ञानी, अनागतस्य निदानबंधरूपभाविभोगोदयस्याकाक्षां न करोति। किं च विशेषः। य एव भोगोपभोगादिचेतनाचेतनसमस्तपरद्रव्यनिरालंबनो भावः परिणामः स एव स्वसंवेदनज्ञानगुणो भण्यते। तेन ज्ञानगुणावलबनेन य एव पुरुष. ख्याति-पूजा-लाभभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिविभावरहितः सन् जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमितैश्च विषयसुखानंदवासनावासितं चित्तं मुक्त्वा शुद्धात्मभावनोत्थवीतरागपरमानन्दसुखेन वासितं रंजितं मूर्छितं परिणत तन्मयं तृप्तं रतं संतुष्टं चित्तं कृत्वा वर्तते स एव मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानाभेदरूपं परमार्थशब्दाभिधेयं साक्षान्मोक्षकारणभूतं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं परमागमभाषया वीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानस्वरूपं स्वसंवेद्यशुद्धात्मपदं परमसमरसीभावेन अनुभवति न चान्यः। यादृशं परमात्मपदमनुभवति तादृशं परमात्मपदस्वरूपं मोक्षं

टीका—कर्म के उदय का उपभोग तीन प्रकार है—अतीत, वर्तमान और आगामी काल का। उनमें से अतीत काल का तो उपभोग वीत चुकने के कारण ज्ञानी अतीत काल के परिग्रह भाव को धारण नहीं करता; अनागत काल के उपभोग को यदि वांछा करे तब परग्रिहभाव को धारे सो ज्ञानी के आगामी वांछा नहीं है इसलिये परिग्रहभाव को नही धारता, जिस कर्म को ज्ञानी अपना अहित जानता है उसके उदय के भोग की आगामी वांछा कैसे कर सकता है ? और वर्तमान का उपभोग यदि रागबुद्धि से प्रवर्तमान हो तब परिग्रहभाव को धारे सो ज्ञानी के वर्तमान का उपभोग रागबुद्धिकर प्रवर्तमान नहीं दीखता, क्योंकि ज्ञानी के अज्ञानमयभाव रागबुद्धि का अभाव है। केवल विराग बुद्धिकर ही प्रवर्तमान होना परिग्रह नहीं है क्योंकि ज्ञानी की ऐसी बुद्धि है कि जिसका संयोग हुआ उसका वियोग अवश्य होगा इसलिये विनाशीक से प्रीति नहीं करनी। इस कारण वर्तमान कर्म के उदय का उपभोग है वह ज्ञानी के परिग्रह नहीं है और आगामी कर्म के उदय को न चाहने वाले ज्ञानी के अनागत उपभोग परिग्रह नहीं है क्योंकि ज्ञानी के अज्ञानभाव रूप वांछा का अभाव है इसलिये अनागत कर्म के उदय का उपभोग भी ज्ञानी के परिग्रह नहीं है ॥

भावार्थ—अतीत उपभोग तो बीत ही चुका, अनागत की वांछा नहीं और वर्तमान में राग नहीं है, जब उपभोग को हेय जाने तो उसमें राग किस तरह हो सकता है। इसलिये ज्ञानी के तीनों ही काल के कर्म के उदय का उपभोग परिग्रह नहीं है। जो वर्तमान में उपभोग के कारण मिलाता है सो पीड़ा न सह सकने के कारण रोगी की भांति उसका इलाज करता है यह निर्बलता का दोष है ॥२१५॥

कुतोऽनागतमुदयं ज्ञानी नाकांक्षतीति चेत्—

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उहयं ।
तं जाणगो दु णाणी उभयंपि ण कंखइ कयावि ॥ २१६ ॥

यो वेदयते वेद्यते समये समये विनश्यत्युभयं ।
तज्ज्ञायकस्तु ज्ञानी, उभयमपि न कांक्षति कदाचित् ॥२१६ ॥

ज्ञानी हि तावद् ध्रुवत्वात् स्वभावभावस्य टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावो नित्यो भवति, यौ तु वेद्यवेदकभावौ तौ तूत्पन्नप्रध्वंसित्वाद्विभावभावानां क्षणिकौ भवतः। तत्र यो भावः कांक्षमाणं वेद्य भावं वेदयते स यावद्भवति तावत्कांक्षमाणो वेद्यो भावो विनश्यति। तस्मिन् विनष्टे वेदको भावः किं वेदयते ? यदि कांक्षमाणवेद्यभावपृष्ठभाविनमन्यं भावं वेदयते। तदा तद्भवनात्पूर्वं

लभते। कस्म त् ? इति चेत्, उपादानकारणसदृशं कार्यं भवति यतः कारणाद् इति। एवं स्वसंवेदनज्ञानगुण विना मत्यादिपंचज्ञानविकल्परहितमखंडपरमात्मपद न लभ्यते इति संक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं गतं ॥ २१५ ॥ अथ भाविनं भागं ज्ञानी न कांक्षतीति कथयतिः—**जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उहयं** योसौ रागादिविकल्प. कर्ता वेदयत्यनुभवति यस्तु सातोदयः कर्मतापन्नं वेद्यते तेन रागादिविकल्पेन, अनुभूयते। तदुभयमपि अर्थपर्यायापेक्षया समयं समयं प्रति विनश्वरं **तं जाणगो दु णाणी उभयंपि ण कंखदि कयावि** तदुभयमपि वेद्यवेदकरूपं वर्तमानं भाविनं च विनश्वरं जानन् सन् तत्त्वज्ञानी नाकांक्षति न वांछति कदाचिदपि ॥ २१६ ॥ अथ तथैवापध्यानरूपाणि निष्प्रयोजनबंधनिमित्तानि शरीरविषये भोगनिमित्तानि च रागाद्यध्यवसानानि परमात्मतत्त्ववेदी न वांछति, इति प्रतिपादयति;—**बंधुवभोगणिमित्तं अज्झवसाणोदयेसु णाणिस्स णेव उप्पज्जदे रागो** स्वसंवेदनज्ञानिनो जीवस्य

आगे पूछते हैं कि ज्ञानी अनागत कर्मोदय उपभोग की क्यों वांछा नहीं करता ? उसका उत्तर कहते हैं;—**[यः]** जो **[वेदयते]** अनुभव करने वाला भाव अर्थात् वेदकभाव और जो **[वेद्यते]** अनुभव करने योग्य भाव अर्थात् वेद्यभाव **[उभयं]** इस तरह वेदक और वेद्य ये दोनों भाव आत्मा के होते हैं सो क्रम से होते हैं एक समय में नहीं होते। ये दोनों ही **[समये समये]** समय समय में **[विनश्यति]** नष्ट हो जाते हैं। आत्मा उन दोनों भावों में नित्य है **[तत्]** इसलिये **[ज्ञानी]** ज्ञानी **[ज्ञायकः तु]** दोनों भावों का ज्ञायक ही है **[उभयमपि]** इन दोनों भावों को **[कदापि]** कदाचित् भी **[न कांक्षति]** नहीं चाहता।

टीका—ज्ञानी तो अपने स्वभाव के ध्रुवत्व के कारण टंकोत्कीर्ण एक ज्ञानस्वरूप नित्य है और जो वेदने वाला तथा वेदने योग्य ऐसे दो वेदक तथा वेद्यभाव हैं वे उत्पत्ति तथा विनाशस्वरूप हैं क्योंकि विभाव भाव हैं उनके क्षणिकपना है इसलिये दोनों भाव विनाशीक (क्षणिक) हैं वहां ऐसा विचार होता है कि वेदकभाव आगामी वांछा में लेने योग्य वेद्य भाव को अनुभव करे। यह जब तक उपजे तब

स विनश्यति कस्तं वेदयते ? यदि वेदकभावपृष्ठभावी भावोन्यस्तं वेदयते तदा तद्भवनात्पूर्वं स वेद्यो विनश्यति। किं स वेदयते ? इति कांक्ष्यमाणभाववेदनानवस्था। तां च विजानन् ज्ञानी न किंचिदेव कांक्षति ॥२१६॥

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्वेद्यते न खलु कांक्षितमेव।
तेन कांक्षति न किंचन विद्वान् सर्वतोप्यतिविरक्तिमुपैति ॥ १४७ ॥

रागाद्युदयरूपेषु, अध्यवसानेषु बंधनिमित्तं भोगनिमित्तं वा नैवोत्पद्यते रागः। कथंभूतेष्वध्यवसानेषु ? **संसारदेहविसएसु** निष्प्रयोजनबंधनिमित्तेषु संसारविषयेषु भोगनिमित्तेषु देहविषयेषु वा। इदमत्र तात्पर्यं भोगनिमित्तं स्तोकमेव पापं करोत्ययं जीवः। निष्प्रयोजनापध्यानेन बहुतरं करोति शालिमत्स्यवत्। तथा चोक्तमपध्यानलक्षणं—बंधबंधच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥१॥ इति अपध्यानेन कर्म बध्नाति तदप्युक्तमास्ते—

तक वेद्यभाव नष्ट हो जाय (विनस जाय) उसके विनाश होनेपर वेदकभाव किसका अनुभव करे ? तथा जो यहां ऐसे कहा जाय कि वांछा में आता जो वेद्यभाव उसके बाद होने वाला जो अन्य वेद्यभाव उसको वेदन करता है तो उसके होने के पहले ही वह वेदकभाव नष्ट हो जाता है तब उस वेद्यभाव को कौन वेद सकता है ? । फिर कहते हैं कि वेदकभाव के बाद होने वाला जो अन्य वेदकभाव वह उस वेद्यभाव को वेदेगा तो उस वेद्यकभाव के होने के पहले वह वेद्यभाव नष्ट हो जाय तब वह वेदकभाव कौन से भाव को वेदे ? ऐसा कांक्षमाणभाव अर्थात् वेदना की वांछा में आता हुआ भाव उसकी अनवस्था है कहां ठहराव नहीं। उस अवस्था को जानता हुआ ज्ञानी कुछ भी आकांक्षा नहीं करता।

भावार्थ—वेदकभाव और वेद्यभाव इन दोनों में काल भेद है। जब वेदकभाव होता है तब वेद्यभाव नहीं होता और जब वेद्यभाव होता है तब वेदकभाव नहीं होता। जब वेदकभाव आता है तब वेद्यभाव नष्ट हो जाता है और जब वेद्यभाव आता है तब वेदकभाव नष्ट हो जाता है। इसलिये ज्ञानी दोनों को विनाशीक जान आप जानने वाला ही रहता है ॥२१६॥

यहां प्रश्न—आत्मा तो नित्य है उसे दोनों भावों का वेदने वाला क्यों नहीं कहते ? उसका समाधान—वेद्य वेदकभाव तो विभाव भाव हैं आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, सो जिसकी वांछा की ऐसा वेद्यभाव जब तक वेदकभाव आया तब तक नष्ट हो गया। मनोवांछित होता नहीं है तब वांछा करना अज्ञान है।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**वेद्य** इत्यादि। **अर्थ**—वेद्यवेदकभाव कर्म के निमित्त से होते हैं इसलिये वे स्वभाव नहीं विभाव हैं, चलायमान हैं, समय समय में विनसते हैं; इसलिये वांछितभाव नहीं वेदा जाता। इसी कारण ज्ञानी कुछ भी आगामी भोगों की वांछा नहीं करता सभी से वैराग्य भाव को प्राप्त है।

भावार्थ—अनुभवगोचर जो वेद्यवेदक विभाव उनके काल भेद हैं इसलिये मिलाप नहीं—विधि मिलती नहीं तब आगामी बहुत काल सम्बन्धी की वांछा ज्ञानी क्यों करे ॥ १४७ ॥

तथाहि—

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स ।
संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो ॥२१७॥

बंधोपभोगनिमित्तेषु, अध्यवसानोदयेषु ज्ञानिनः ।
संसारदेहविषयेषु नैवोत्पद्यते रागः ॥ २१७ ॥

इह खल्वध्यवसानोदयाः कतरेऽपि संसारविषयाः, कतरेपि शरीरविषयाः । तत्र यतरे संसारविषयाः ततरेबंधनिमित्ताः । यतरे शरीरविषयास्ततरे तूपभोगनिमित्ताः । यतरे बंधनिमित्तास्ततरे रागद्वेषमोहाद्याः । यतरे तूपभोगनिमित्तास्ततरे सुखदुःखाद्याः । अथामीषु सर्वेष्वपि ज्ञानिनो नास्ति रागः । नानाद्रव्यस्वभावत्वेन टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावस्य तस्य तत्प्रतिषेधात् ॥२१७॥

संकल्पकल्पतरुसंश्रयणास्त्वदीयं चेतो निमज्जति मनोरथसागरेऽस्मिन् ।
तत्रार्थतस्तव चकास्ति न किंचनापि पक्ष. परं भवसि कल्मषसंश्रयस्य ॥१॥
दौर्विध्यदग्धमनसोंऽतरुपात्तभुक्तेश्चित्तं यथोल्लसति ते स्फुरितान्तरंगं ।
धाम्नि स्फुरेद्यदि तथा परमात्मसंज्ञे कौतुस्कुती तव भवेद्विफला प्रसूतिः ॥२॥

आचारशास्त्रे भणितं—कंखदि कलुसिदभूदो दु कामभोगेहिं मुच्छिदो संतो ।
णय भुजंतो भोगे बंधदि भावेण कम्माणि ॥१॥

इति ज्ञात्वा, अपध्यानं त्यक्त्वा च शुद्धात्मस्वरूपे स्थातव्यमिति भावार्थः ॥२१७॥ अथानंतरं तस्यैव ज्ञानगुणस्य चतुर्दशगाथापर्यंतं पुनरपि विशेषव्याख्यानं करोति । तद्यथा–ज्ञानी सर्वद्रव्येषु वीतरागत्वात्कर्मणा न लिप्यते सरागत्वादज्ञानी

ऐसे सभी उपभोगों से ज्ञानी के वैराग्य है यह कहते हैं—[**बंधोपभोगनिमित्तेषु**] बंध और उपभोग के निमित्त जो [**अध्यवसानोदयेषु**] अध्यवसान के उदय हैं वे [**संसारदेहविषयेषु**] संसारविषयक और देह विषयक हैं उनमें [**ज्ञानिनः**] ज्ञानी के [**रागः**] राग [**नैव उत्पद्यते**] नहीं उत्पन्न होता ।

टीका—इस लोक में निश्चय से अध्यवसान के उदय कितने ही तो संसार के विषय हैं और कितने ही शरीर के विषय हैं । उनमें से जितने संसार के विषय हैं उतने तो बंध के निमित्त हैं और जितने शरीर के विषय हैं उतने उपभोग के निमित्त हैं । वहां जितने बंध के निमित्त हैं उतने तो रागद्वेष मोह आदिक हैं और जितने उपभोग के निमित्त हैं उतने सुखदुःखादिक हैं । इन सब में ही ज्ञानी के राग नहीं है क्योंकि अध्यवसान नाना द्रव्यों का स्वभाव है इसलिए एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाव वाले ज्ञानी के उनका प्रतिषेध है ।

भावार्थ—संसार देहभोग संबंधी रागद्वेष मोह सुख दुःखादिक अध्यवसान के उदय हैं वे नाना द्रव्य अर्थात् पुद्गल तथा जीवद्रव्य संयोगरूप हुए उनके स्वभाव हैं, ज्ञानी का एक ज्ञायकस्वभाव है इसलिये ज्ञानी के उनका प्रतिषेध है इस कारण ज्ञानी के उनमें प्रीति नहीं है । परद्रव्य परभाव संसार में भ्रमण के कारण हैं उनसे प्रीति करे तो किस काम का ?॥२१७॥

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं [1]कर्म रागरसरिक्ततयैति ।
रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे [2]स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह ॥ १४८ ॥
ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात् सर्वरागरसवर्जनशीलः ।
लिप्यते सकलकर्मभिरेष कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥ १४९ ॥

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं ॥२१८॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं ॥२१९॥ (युग्मम्)

ज्ञानी रागप्रहायः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः ।
नो लिप्यते रजसा तु कर्दममध्ये यथा कनकं ॥ २१८ ॥
अज्ञानी पुना रक्तः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः ।
लिप्यते कर्मरजसा तु कर्दममध्ये यथा लोहं ॥२१९॥

लिप्यते, इति प्रतिपादयति;—हर्षविषादादिविकल्पोपाधिरहितः स्वसंवेदनज्ञानी सर्वद्रव्येषु रागादिपरित्यागशीलो यतः कारणात्, ततः कर्दममध्यगतं कनकमिव कर्मरजसा न लिप्यते इति । अज्ञानी पुनः स्वसंवेदनज्ञानाभावात् सर्वपचेंद्रियविषयादिपरद्रव्ये रक्तः कांक्षितो मूर्छितो मोहितो भवति यतः कारणात्, ततः कर्दममध्यलोहमिव कर्मरजसा बध्यते इति ॥ २१८ ॥ २१९ ॥

इसी अर्थ का कलश रूप तथा अगले कथन की सूचनिका के श्लोक कहते हैं—**ज्ञानिनो** इत्यादि। **अर्थ**—ज्ञानी परिग्रहभावों से रहित है, रागरूपी रस से भी रहित है उसका कर्म परिग्रहभाव को नहीं प्राप्त होता । जैसे लोध फिटकरी से कसायला नहीं किया गया जो वस्त्र उसमें रंग का लगना अंगीकार न हुआ बाहर ही लोटता है वस्त्र में प्रवेश नहीं करता ।

भावार्थ—जैसे लोध फिटकरी लगाये विना वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता उसी तरह ज्ञानी के राग भाव के बिना कर्म के उदय का भोग नहीं है इसलिये वह परिग्रहपने को नही प्राप्त होता ॥१४८॥

फिर कहते हैं—**ज्ञानवान्** इत्यादि । **अर्थ**—ज्ञानी निजरस से ही सब रागरस के त्यागरूप स्वभाव वाला है इस कारण कर्म के मध्यमें पड़ा हुआ भी सब कर्मो से लिप्त नही होता ॥१४९॥

आगे इसी अर्थ का व्याख्यान गाथा में करते हैं;—**[ज्ञानी]** ज्ञानी **[सर्वद्रव्येषु]** सब द्रव्यों में **[रागप्रहायकः]** राग का छोड़ने वाला है वह **[कर्ममध्यगतः]** कर्म के मध्य में प्राप्त हुआ हो **[तु]** तौभी **[रजसा]** कर्मरूपी रज से **[नो लिप्यते]** लिप्त नहीं होता **[यथा]** जैसे **[कर्दममध्ये]** कीचड़ में

---

१. कर्म—विषयोपभोगलक्षणाक्रिया, राग आत्मनो रंजकपरिणामः स एव रसस्तद्रिक्ततया तद्भिन्नतया । २. स्वीकृता संयोगपरिणामपरिणता ।

यथा खलु कनकं कर्दममध्यगतमपि कर्दमेन न लिप्यते तदलेपस्वभावत्वात्। तथा किल ज्ञानी कर्ममध्यगतोऽपि कर्मणा न लिप्येत सर्वपरद्रव्यकृतरागत्यागशीलत्वे सति तदलेपस्वभावत्वात् ज्ञान्येव[1]। यथा लोहं कर्दममध्यगतं सत्कर्दमेन लिप्यते तल्लेपस्वभावत्वात् तथा किलाज्ञानी कर्ममध्यगतः सन् कर्मणा लिप्येत सर्वपरद्रव्यकृतरागोपादानशीलत्वे सति तल्लेपस्वभावत्वात् ॥ २१८ ॥ २१९ ॥

याद्दक् ताद्दगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
कर्तुं नैष कथंचनापि हि परैरन्याद्दशःशक्यते।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेत् ज्ञानं भवत्संततं
ज्ञानिन् भुंक्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बंधस्तव ॥ १५० ॥

अथ सकलकर्मनिर्जरा नास्ति कथं मोक्षो भविष्यतीति प्रश्ने परिहारमाह;—

णागफणीए मूलं णाइणितोएण गब्भणागेण।

पड़ा हुआ [कनकं] सोना [तु पुनः] और [अज्ञानी] अज्ञानी [सर्वद्रव्येषु] सब द्रव्यों मे [रक्तः] रागी है इसलिये [कर्ममध्यगतः] कर्म के मध्य को प्राप्त हुआ [कर्मरजसा] कर्मरज से [लिप्यते] लिप्त होता है [यथा] जैसे [कर्दममध्ये] कीच में पड़े हुए [लोहं] लोहे को काई लग जाती है वैसे।

टीका—जैसे निश्चय से सुवर्ण कीचड़ के बीच में पड़ा हुआ है तौभी कीचड़ से लिप्त नहीं होता क्योंकि सुवर्ण का स्वभाव कर्दम के लेप न लगने स्वरूप ही है; उसी प्रकार प्रकटपने से ज्ञानी कर्म के बीच में पड़ा है तौभी कर्म से लिप्त नहीं होता क्योंकि ज्ञानी सब परद्रव्यगतराग के त्याग के स्वभावपने के होने से कर्म से अलिप्तस्वभावी है। और जैसे लोहा कर्दम के मध्य पड़ा हुआ कर्दम से लिप्त हो जाता है क्योंकि लोहे का स्वभाव कर्दम से लिप्त होने रूप ही है; उसी तरह अज्ञानी प्रकटपने कर्म के बीच पड़ा हुआ कर्म से लिप्त होता है क्योंकि अज्ञानी सब परद्रव्यों में किये गये राग का उपादान स्वभाव होने से कर्म में लिप्त होने के स्वभाव वाला है।

भावार्थ—जैसे कीचड़ में पड़े हुए सुवर्ण के काई नही लगती, और लोहे के काई लग जाती है उसी प्रकार ज्ञानी कर्म के मध्यगत है तौभी वह कर्म में नही बंधता। और अज्ञानी कर्म से बंधता है। यह ज्ञान अज्ञान की महिमा है ॥२१८।२१९॥

अब इस अर्थ का तथा अगले कथन की सूचनिका का कलश कहते हैं—**याद्दक्** इत्यादि। **अर्थ**—इस लोक में जिस वस्तु का जैसा स्वभाव है उसका वैसा ही स्वाधीनपना है यह निश्चय है सो उस स्वभाव को अन्य कोई अन्य सरीखा करना चाहे तो कभी नहीं कर सकता इस न्याय से ज्ञान निरंतर ज्ञानस्वरूप ही होता है ज्ञान का अज्ञान कभी नहीं होता यह निश्चय है। इसलिये हे ज्ञानी! तू कर्मोदय जनित उपभोग को भोग, तेरे परके अपराध से उत्पन्न हुआ ऐसा लोक में बंध नहीं है।

---

१. पाठोऽयममयावधि प्रकाशितेषु केषुचिदपि संस्करणेषु न लभ्यते।

भुंजंतस्सवि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दव्वे ।
संखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्णगा काउं।। २२० ।।
तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे ।
भुंजंतस्सवि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं ।। २२१ ।।
जइया स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ।। २२२ ।।
जह[1] संखो पोग्गलदो जइया सुक्कत्तणं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ।।
तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तयं पजहिऊण ।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ।। २२३ ।।

णागं होइ सुवण्णं धम्मंतं भच्छवाएण ।।

नागफण्या मूलं नागिनीतोयेन गर्भनागेन । नागं भवति सुवर्णं धम्यमानं भस्त्रावायुना । नागफणी नामौषधी तस्या मूलं । नागिनी हस्तिनी तस्यास्तोयं मूत्रं । गर्भनागं सिंदूरद्रव्यं । नागं सीसकं । अनेन प्रकारेण पुण्योदये सति सुवर्णं भवति न च पुण्याभावे । कथंभूतः सन् ? भस्त्रया धम्यमानमिति दृष्टांतगाथा गता । अथ दार्ष्टांतमाह;—

कम्मं हवेइ किट्टं रागादी कालिया अह विभाओ ।
सम्मत्तणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि ।।

कर्म भवति किट्टं रागादयः कालिका अथ विभावाः । सम्यक्त्वज्ञानदर्शनचारित्रं परमौषधमिति विजानीहि । द्रव्यकर्म किट्टसंज्ञं भवति रागादिविभावपरिणामाः कालिकासंज्ञा ज्ञातव्याः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं भेदाभेदरूपं परमौषधं जानीहि इति ।

[2]झाणं हवेइ अग्गी तवयरणं भत्तली समक्खादो ।
जीवो हवेइ लोहं धमियव्वो परमजोईहिं ।।

भावार्थ—वस्तु स्वभाव मेंटने को कोई समर्थ नहीं है इसलिये ज्ञान हुए बाद उसे अज्ञान करने को कोई समर्थ नहीं है यह निश्चयनय है । इसलिये ज्ञानी को कहा गया है कि तेरे परके किये अपराध से बंध नहीं है तू उपभोग को भोग । उपभोगों के भोगने की शंका मतकर । शंका करेगा तो परद्रव्य से बुरा होना ऐसा मानने का प्रसंग आयेगा । इस तरह परद्रव्य से अपना बुरा होना मानने की शंका मेंटी है । ऐसा मत समझो कि भोग भोगने की प्रेरणा कर स्वच्छन्द किया है । स्वेच्छाचारी होना अज्ञानभाव है ।।१५०।।

---

१. आत्मख्यातिवृत्तौ, नेयं गाथा । २. एषा गाथा नात्मख्यातौ ।

भुंजानस्यापि विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि ।
शंखस्य श्वेतभावो नापि शक्यते कृष्णकः कर्तुं ॥ २२० ॥
तथा ज्ञानिनोऽपि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि ।
भुंजानस्यापि ज्ञानं न शक्यमज्ञानतां नेतुं ॥ २२१ ॥
यदा स एव शंखः श्वेतस्वभावं तकं प्रहाय ।
गच्छेन कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात् ॥ २२२ ॥
यथा शंखः पौद्गलिकः यदा शुक्लत्वं प्रहाय ।
गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात् ॥
तथा ज्ञान्यपि खलु यदा ज्ञानस्वभावं तकं प्रहाय ।
अज्ञानेन परिणतस्तदा अज्ञानतां गच्छेत् ॥ २२३ ॥

यथा खलु शंखस्य परद्रव्यमुपभुंजानस्यापि न परेण श्वेतभावः कृष्णीकर्तुं शक्येत परस्य परभावत्वनिमित्तत्वानुपपत्तेः । तथा किल ज्ञानिनः परद्रव्यमुपभुंजानस्यापि न परेण ज्ञानमज्ञानं

ध्यानं भवत्यग्निः तपश्चरणं भस्त्रा समाख्यातं । जीवो भवति लोहं धमितव्यः परमयोगिभिः । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपं ध्यानमग्निर्भवति । द्वादशविधतपश्चरणं भस्त्रा ज्ञातव्या । आसन्नभव्यजीवो लोहं भवति । स च भव्यजीवः पूर्वोक्तसम्यक्त्वाद्यौषधध्यानाग्निभ्या[1] संयोगं कृत्वा द्वादशविधतपश्चरणभस्त्रया परमयोगिभिः

आगे इसी अर्थ को दृष्टांत द्वारा दृढ़ करते हैं—जैसे शंख [विविधानि] अनेक प्रकार के [सचित्ताचित्तमिश्रितानि] सचित्त अचित्त और मिश्रित [द्रव्याणि] द्रव्यों को [भुंजानस्यापि] भक्षण करता है तो भी [शंखस्य] उस शंख का [श्वेतभावः] सफेदपना [कृष्णकः कर्तुं] काला करने को [नापि शक्यते] कोई भी समर्थ नहीं [तथा] उसी तरह [विविधानि] अनेक प्रकार के [सचित्ताचित्तमिश्रितानि] सचित्त अचित्त और मिश्रित [द्रव्याणि] द्रव्यों को [भुंजानस्यापि] भोगने वाले [ज्ञानिनः] ज्ञानी के [ज्ञानं अपि] ज्ञान के भी [अज्ञानतां नेतुं न शक्यं] अज्ञानपना करने की किसी की भी सामर्थ्य नहीं है । और जैसे [स एव शंखः] वही शंख [यदा] जिस समय [तकं श्वेतस्वभावं] अपने उस श्वेतस्वभाव को [प्रहाय] छोड़कर [कृष्णभावं] कृष्णभाव को [गच्छेत्] प्राप्त होता है [तदा] तब [शुक्लत्वं] सफेदपन को [प्रजह्यात्] छोड़ देता है [तथा] उसी तरह [ज्ञानी अपि] ज्ञानी भी [खलु यदा] निश्चय से जब [तकं ज्ञानस्वभावं] अपने उस ज्ञान स्वभाव को [प्रहाय] छोड़कर [अज्ञानेन परिणतः] अज्ञान रूप परिणमन करता है [तदा] उस समय [अज्ञानतां] अज्ञानपने को [गच्छेत्] प्राप्त होता है ।

टीका—जैसे शंख परद्रव्य को भक्षण करता रहता है तो भी कोई उसका श्वेतपन काले

१. ध्यानाग्न्यभ्यासादित्यपि पाठः ।

कर्तुं शक्येत परस्य परभावत्वनिमित्तत्वानुपपत्तेः। ततो ज्ञानिनः परापराधनिमित्तो नास्ति बंधः। यथा च यदा स एव शंखः परद्रव्यमुपभुंजानोऽनुपभुंजानो वा श्वेतभावं प्रहाय स्वयमेव कृष्णभावेन परिणमते तदास्य श्वेतभावः स्वयंकृतः कृष्णभावः स्यात्। तथा यदा स एव ज्ञानी परद्रव्यमुपभुंजानोऽनुपभुंजानो वा ज्ञानं प्रहाय स्वयमेवाज्ञानेन परिणमेत तदास्य ज्ञानं स्वयंकृतमज्ञानं स्यात्। ततो [1]ज्ञानिनः स्वापराधनिमित्तो बंधः॥ २२०। २२१। २२२। २२३॥

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किंचित्तथाप्युच्यते
भुंक्ष्वे हंत न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः।
बंधः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बंधमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवं ॥१५१॥

धमितव्यो ध्यातव्यः। इत्यनेन प्रकारेण यथा सुवर्णं भवति तथा मोक्षो भवतीति संदेहो न कर्तव्यो भट्टचार्वाकमतानुसारिभिरिति। अथ ज्ञानिनः शंखदृष्टांतेन बंधाभावं दर्शयति;—यथा सजीवस्य संखस्य श्वेतभावः कृष्णीकर्तुं न शक्यते। किं कुर्वाणस्यापि? भुंजानस्यापि। कानि? कर्मतापन्नानि सचित्ताचित्तमिश्राणि विविधद्रव्याणीति

स्वरूप नहीं कर सकता क्योंकि परमें परभाव स्वरूप करने का निमित्तपना नहीं है। उसी तरह परद्रव्य को भोगते हुए ज्ञानी के ज्ञान को कोई दूसरा अज्ञानरूप नहीं कर सकता क्योंकि दूसरे में परभावस्वरूप करने का निमित्तपना नहीं है इस लिये ज्ञानी के परकृत अपराध के निमित्त से बंध नहीं है। और जिस समय वही शंख परद्रव्य को भोगता हो अथवा न भोगता हो परन्तु अपने श्वेतपने को छोड़ आप ही कृष्णभाव स्वरूप परिणमता है उस समय उस शंख का श्वेतभाव अपने द्वारा ही किये कृष्णभाव स्वरूप होता है, उसी तरह वही ज्ञानी परद्रव्य को भोगता हो अथवा न भोगता हो परन्तु जिस समय अपने ज्ञान को छोड़ आप ही अज्ञान से परिणमन करे उस समय इसका ज्ञान अपना ही किया निश्चय से अज्ञान रूप होता है। इसलिये ज्ञानी के परका किया बंध नहीं है आप ही अज्ञानी होय तब अपने अपराध के निमित्त से बंध होता है।

भावार्थ—जैसे शंख सफेद है वह परको भक्षण से तो काला होता नहीं जब आप ही कालिमा रूप परिणमे तब काला होता है उसी प्रकार ज्ञानी उपभोग करता हुआ भी अज्ञानी नहीं होता जब आप ही अज्ञान रूप परिणमन करें तब अज्ञानी होता है तभी बंध करता है ॥२२०।२२१।२२२।२२३॥

इसका कलशरूप काव्य कहते हैं—**ज्ञानिन्** इत्यादि। **अर्थ**—हे ज्ञानी! तुझ को कुछ भी कर्म कभी करना योग्य नहीं है तो भी तू कहता है कि परद्रव्य मेरा तो कदाचित् भी नहीं है और मैं भोगता हूं। तो आचार्य कहते हैं यह बड़ा खेद है, जो तेरा नहीं उसको तू भोगता है तो तू खोटा खाने वाला है। हे भाई जो तू कहे कि परद्रव्य के उपभोग से बंध नहीं होता इसलिये भोगता हूं उस जगह क्या तुझे भोगने की इच्छा है? तू ज्ञान रूप हुआ अपने स्वरूप में निवास करे तो बंध नहीं है और जो भोगने की इच्छा करेगा तो तू आप अपराधी हुआ, अपने अपराध से नियम से बंध को प्राप्त होगा।

---

१. ततो ज्ञानिनो अस्ति बंधस्तदा स्वापराध निमित्त एवेति भावः। ज्ञानिनः इति शब्दानंतरं यदि शब्दोऽपि प्राचीनप्रतिषु केषुचिद् वर्तते।

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः ।
ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः ॥१५२॥

व्यतिरेकदृष्टांतगाथा गता । तथा तेनैव प्रकारेण ज्ञानिनो जीवस्य वीतरागस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानं, रागत्वमज्ञानत्वं नेतुं न शक्यते । कस्मात् ? स्वभावस्यान्यथाकर्तुमशक्यत्वात् । किं कुर्वाणस्यापि ? भुंजानस्यापि । कानि ? स्वकीयगुणस्थानावस्थायोग्यानि सचित्ताचित्तमिश्राणि विविधद्रव्याणि । ततः कारणात् चिरंतनबद्धकर्मनिर्जरैव भवति । नवतरस्य च संवर इति व्यतिरेकदार्ष्टांतगाथा गता । अन्वयव्यतिरेकशब्देन सर्वत्र विधिनिषेधौ ज्ञातव्यौ इति । यथा यदा स एव पूर्वोक्तः सजीवशंखः कृष्णपरद्रव्यलेपवशात्, अंतरंगस्वकीयोपादानपरिणामाधीनः सन् श्वेतस्वभावत्वं विहाय कृष्णभावं गच्छेत् तदा शुक्लत्वं त्यजति । इत्यन्वयदृष्टांतगाथा गता । तथैव च यथा निर्जीवशंखः कृष्णपरद्रव्यलेपवशात् अंतरंगोपादानपरिणामाधीनः सन् श्वेतस्वभावत्वं विहाय कृष्णभावं गच्छेत् तदा शुक्लत्वं त्यजति । इति निर्जीवशंखनिमित्तं द्वितीयान्वयदृष्टांतगाथा गता । तथा तेनैव प्रकारेण ज्ञानी जीवोऽपि हि स्फुटं स्वकीयप्रज्ञापराधेन वीतरागज्ञानस्वभावत्वं विहाय मिथ्यात्वरागाद्यज्ञानभावेन परिणतो भवति तदा स्वस्वभावच्युतः सन्नज्ञानत्वं गच्छेत् । तस्य संवरपूर्विका निर्जरा नास्तीति भावार्थः—इत्यन्वयदार्ष्टांतगाथा गता ॥२२०।२२१।२२२।२२३॥

अथ सरागपरिणामेन बंधः, तथैव वीतरागपरिणामेन मोक्षो भवतीति दृष्टांतदार्ष्टांताभ्यां समर्थयति;—यथा कश्चित्पुरुषः, वृत्तिनिमित्तं राजानं सेवते ततः सोऽपि राजा तस्मै सेवकाय ददाति, कान् ? विविधसुखोत्पादकान् भोगान् इत्यज्ञानिजीवविषयेऽन्वयदृष्टांतगाथा गता । एवमेवाज्ञानी जीवपुरुषः शुद्धात्मोत्थसुखात्प्रच्युतः सन्नुदयागतं कर्मरजः सेवते विषयसुखनिमित्तं ततः सोऽपि पूर्वोपार्जितपुण्यकर्म राजा ददाति, कान् ? विषयसुखोत्पादकान् भोगाकांक्षारूपान्

भावार्थ—ज्ञानी को कर्म तो करना ही उचित नहीं और जो पर द्रव्य जानकर भी उसे भोगे तो यह योग्य नहीं । पर द्रव्य के भोगने वाले को तो लोक में चोर अन्यायी कहते हैं । जो उपभोग से बंध नहीं कहा है वह ऐसे है कि ज्ञानी बिना इच्छा पर की बरजोरी से उदय में आये को भोगे उसके बंध नहीं कहा और जो आप इच्छा से भोगेगा तो आप अपराधी हुआ, तब बंध क्यों न होगा ?॥१५१॥

इसी अर्थ के दृढ़ करने को काव्य कहते हैं—**कर्तारं** इत्यादि । **अर्थ**—कर्म अपने करने वाले कर्ता को अपने फल के साथ जबरदस्ती से तो नहीं लगता कि मेरे फल को तू भोग । कर्मफल का इच्छुक ही कर्म को करता हुआ उस कर्म का फल पाता है । इसलिये ज्ञान रूप हुआ, तथा जिसकी राग की रचना कर्म में दूर हो गई है ऐसा मुनि कर्म को करता हुआ भी कर्म से नहीं बंधता । क्योंकि उसका स्वभाव उस कर्म के फल का परित्याग रूप ही है ।

भावार्थ—कर्म तो कर्ता को जबरदस्ती से अपने फल के साथ जोड़ता नहीं परंतु जो कर्म को कर्ता हुआ उसके फल की इच्छा करता है वही उसका फल पाता है । इस कारण जो ज्ञानी ज्ञानरूप हुआ कर्म के करने में राग न करे तथा उसके फल की आगामी इच्छा न करे वह मुनि कर्मों से नहीं बंधता ॥१५२॥

पुरिसो जह कोवि इह वित्तिणिमित्तं तु सेवए रायं ।
तो सोवि देदि राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२४॥
एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं ।
तो सोवि देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२५॥
जह पुण सो चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं ।
तो सो ण देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२६॥
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवए ण कम्मरयं ।
तो सो ण देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२७॥ (चतुष्कम्)

पुरुषो यथा कोपीह वृत्तिनिमित्तं तु सेवते राजानं ।
तत्सोऽपि ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२२४॥
एवमेव जीवपुरुषः कर्मरजः सेवते सुखनिमित्तं ।
तत्तदपि ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२२५॥
यथा पुनः स एव पुरुषो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानं ।
तत्सोऽपि न ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२२६॥
एवमेव सम्यग्दृष्टिर्विषयार्थं सेवते न कर्मरजः ।
तत्तन्न ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२२७॥

शुद्धात्मभावानां विनाशकान् रागादिपरिणामान् इति । अथवा द्वितीयव्याख्यानं—कोऽपि जीवोऽभि नवपुण्यकर्मनिमित्तं भोगाऽकांक्षानिदानरूपेण शुभकर्मानुष्ठानं करोति सोऽपि पापानुबंधिपुण्यराजा कालांतरे भोगान्

आगे इस अर्थ को दृष्टांत से दृढ़ करते हैं:—[**यथा**] जैसे [**इह**] इस लोक में [**कोपि पुरुषः**] कोई पुरुष [**वृत्तिनिमित्तं तु**] आजीविका के लिये [**राजानं**] राजा को [**सेवते**] सेवे [**तत्**] तो [**स राजापि**] वह राजा भी उसको [**सुखोत्पादकान्**] सुख के उपजाने वाले [**विविधान्**] अनेक प्रकार के [**भोगान्**] भोगों को [**ददाति**] देता है [**एवमेव**] इसी तरह [**जीवपुरुषः**] जीवनामा पुरुष [**सुखनिमित्तं**] सुख के लिये [**कर्मरजः**] कर्म रूपी रज को [**सेवते**] सेवन करता है [**तत्**] तो [**तत्कर्म अपि**] वह कर्म भी उसे [**सुखोत्पादकान्**] सुख के उपजाने वाले [**विविधान् भोगान्**] अनेक प्रकार के भोगों को [**ददाति**] देता है [**पुनः**] और [**यथा**] जैसे [**स एव पुरुषः**] वही पुरुष [**वृत्तिनिमित्तं**] आजीविका के लिये [**राजानं**] राजा को [**न सेवते**]

यथा कश्चित्पुरुषः फलार्थं राजानं सेवते ततः स राजा तस्य फलं ददाति। तथा जीवः फलार्थं कर्म सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं ददाति। यथा च स एव पुरुषः फलार्थं राजानं न सेवते ततः स राजा तस्य फलं न ददाति। तथा सम्यग्दृष्टिः फलार्थं कर्म न सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं न ददातीति तात्पर्यं ॥२२४।२२५।२२६।२२७॥

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किंचिदपि तत्कर्मावशेनापतेत्।
तस्मिन्नापतिते त्वकंपपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ॥१५३॥
सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमंते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।

ददाति। तेऽपि निदानबंधेन प्राप्ता भोगा रावणादिवन्नारकादिदुःखपरंपरां प्रापयन्तीति भावार्थः। एवमज्ञानिजीवं प्रत्यन्वयदृष्टांतगाथा गता। यथा स चैव पूर्वोक्तपुरुषो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानं। ततः सोऽपि राजा तस्मै न ददाति, कान्? विविधान् सुखोत्पादकान् भोगान् इति ज्ञानिजीवविषये व्यतिरेकदृष्टांतगाथा गता। एवमेव च सम्यग्दृष्टिर्जीवः

नहीं सेवे [तत्] तो [स राजा अपि] वह राजा भी उसे [सुखोत्पादकान्] सुख के उपजाने वाले [विविधान्] अनेक प्रकार के [भोगान्] भोगों को [न ददाति] नही देता है [एवमेव] इसी तरह [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [विषयार्थं] विषयों के लिये [कर्मरजः] कर्म रूपी रज को [न सेवते] नहीं सेवता [तत्] तो [तत्कर्म अपि] वह कर्म भी उसे [सुखोत्पादकान्] सुख के उपजाने वाले [विविधान् भोगान्] अनेक प्रकार के भोगों को [न ददाति] नहीं देता।

टीका—जैसे कोई पुरुष फलके लिये राजा की सेवा करे तो राजा उसे फल देता है उसी तरह जीव भी फल के लिये कर्मों का सेवन करे तो वह कर्म उसे फल देता है। और जैसे वही पुरुष फल के लिये राजा की सेवा न करे तो राजा भी उसको फल नहीं देता उसी तरह सम्यग्दृष्टि फल के लिये कर्म को नहीं सेवे तो वह कर्म भी उसको फल नही देता ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ—फल की वांछा से कर्म करे तो उसका फल पाता है वांछा के विना कर्म करे तो उसका फल नहीं पा सकता ॥२२४।२२५।२२६।२२७॥

अब ऐसी आशंका को कि जिसको फल की इच्छा नहीं है, वह कर्म क्यों करे दूर करने को काव्य कहते हैं—त्यक्तं इत्यादि। **अर्थ**—हम ऐसी प्रतीति नही करते कि जिसने कर्म का फल छोड़ दिया हो वह कर्म करता है परंतु यहां इतना विशेष है कि ज्ञानी के भी किसी कारण से कुछ कर्म इसके वश विना आ पड़ते हैं उनके आनेपर भी यह ज्ञानी निश्चल परमज्ञानस्वभाव में ठहरता कुछ कर्म करता है या नहीं करता यह कौन जाने?

भावार्थ—ज्ञानी के परवश कर्म आपड़े हैं उनके होने पर भी ज्ञानी ज्ञान से चलायमान नहीं

सर्वमेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं
जानंतः स्वमबध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवंते न हि ॥१५४॥

पूर्वोपार्जितमुदयागतं कर्मरज· शुद्धात्मभावनोत्थवीतरागसुखानंदात्प्रच्युतो भूत्वा विषयसुखार्थं, उपादेयबुद्ध्या न सेवते ततस्तदपि कर्म न ददाति, कान् ? विविधविषयसुखोत्पादकान् भोगाकांक्षारूपान् शुद्धात्मभावनाविनाशकान् रागादिपरिणामानिति । अथवा द्वितीयव्याख्यानं—कोऽपि सम्यग्दृष्टिर्जीवो निर्विकल्पसमाधेरभावात्, अशक्यानुष्ठानेन विषयकषायवंचनार्थं यद्यपि व्रतशीलदानपूजादिशुभकर्मानुष्ठानं करोति तथापि भोगाकांक्षारूपनिदानबंधेन तत्पुण्यकर्मानुष्ठानं न सेवते । तदपि पुण्यानुबंधिपुण्यकर्म भवांतरे तीर्थंकर-चक्रवर्ती—बलदेवाद्यभ्युदयरूपेणोदयागतमपि पूर्वभवभावितभेदविज्ञानवासनाबलेन शुद्धात्मभावनाविनाशकान् विषयसुखोत्पादकान् भोगाकांक्षानिदानरूपान् रागादिपरिणामान्न ददाति, भरतेश्वरादीनामिव । इति संज्ञानिजीवं प्रति व्यतिरेकदार्ष्टांतगाथा गता । एवं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानाभेदरूपं परमार्थशब्दवाच्यं साक्षान्मोक्षकारणभूतं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं स्वसंवेद्यं संवरपूर्विकाया निर्जराया उपादानकारणं पूर्वं यद्व्याख्यातं परमात्मपदं, तत्पदं येन निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणभेदविज्ञानगुणेन विना न लभ्यते तस्यैव भेदविज्ञानगुणस्य पुनरपि विशेषव्याख्यानरूपेण चतुर्दशसूत्राणि गतानि ॥२२४।२२५।२२६।२२७॥ इत ऊर्ध्वं निश्शंकाद्यष्टगुणकथनं गाथानवकपर्यंतं व्याख्यानं करोति । तत्र तावत् प्रथमगाथायां निजपरमात्मपदार्थभावनोत्पन्नसुखामृतरसास्वादतृप्ताः संतः सम्यग्दृष्टयो घोरोपसर्गेऽपि सप्तभयरहितत्वेन निर्विकारस्वानुभवस्वरूपं स्वस्वभावं न त्यजन्तीति कथयति;—**सम्मादिट्ठी**

होता, उस अवस्था में यह ज्ञानी कर्म करता है कि नहीं यह नहीं मालूम होता यह बात कौन जान सकता है, ज्ञानी की बात ज्ञानी ही जानता है अज्ञानी की सामर्थ्य ज्ञानी के परिणाम को जानने की नहीं है। यहां पर ऐसा जानना कि ज्ञानी कहने से अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर ऊपरके सभी ज्ञानी हैं। उनमें से अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत तथा आहार विहार करने वाले मुनियों की बाह्यक्रिया प्रवर्तती है तो भी अंतरंग मिथ्यात्व के अभाव से तथा यथासंभव कषाय के अभाव से वे क्रियायें उज्ज्वल हैं। इसलिये उनका उजलापन को वे ही जानते हैं मिथ्यादृष्टि उनका उजलापन को नहीं जानता। मिथ्यादृष्टि तो बहिरात्मा है बाहर से ही भला बुरा मानता है, अंतरात्मा की गति मिथ्यादृष्टि क्या जान सकता है ?॥१५३॥

आगे इसी अर्थ के समर्थन रूप कहते हैं कि ज्ञानी के निःशंकित नामा गुण होता है उसी की सूचना रूप काव्य कहते हैं—**सम्यग्दृष्टय:** इत्यादि । **अर्थ**—यह साहस एक सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है क्योंकि जिस भय से तीन लोक चलायमान हो गये हैं ऐसे वज्रपात के पड़ने पर भी वे अपने ज्ञान से चलायमान नहीं होते। वे स्वभाव से ही निर्भयपना होने के कारण सब शंकाओं को छोड़कर अपने आत्मा को ऐसा जानते हैं कि इस आत्मा का ज्ञानरूपी शरीर किसी से भी बाधित नहीं हो सकता ऐसा जानते हुए आप ज्ञान में प्रवृत्त होते हैं उससे च्युत नहीं होते।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि निःशंकित गुणसहित होता है सो ऐसे वज्रपात के पड़ने पर भी (जिसके भय से तीन लोक के जीव मार्ग छोड़ देते हैं) वह अपने स्वरूप को निर्बाध ज्ञानशरीररूप मानता हुआ ज्ञान से चलायमान नहीं होता, ऐसी शंका नहीं रखता कि इस वज्रपात से मेरा विनाश हो जायगा। पर्याय का विनाश होवे तो ठीक ही है क्योंकि उसका विनाशीक स्वभाव ही है ॥१५४॥

सम्मद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका ॥२२८॥

सम्यग्दृष्टयो जीवा निश्शंका भवंति निर्भयास्तेन ।
सप्तभयविप्रमुक्ता यस्मात्तस्मात्तु निश्शंकाः ॥२२८॥

येन नित्यमेव सम्यग्दृष्टयः सकलकर्मफलनिरभिलाषाः संतः, अत्यंतं कर्मनिरपेक्षतया वर्तंते तेन नूनमेते अत्यंतनिश्शंकदारुणाध्यवसायाः संतोऽत्यंतनिर्भयाः संभाव्यंते ॥२२८॥

लोकः शाश्वत एक एष [1]सकलव्यक्तो विविक्तात्मनः
चिल्लोकं[2] स्वयमेव केवलमयं यं लोकयत्येककः ।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो
निश्शंकं सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५५॥

जीवा णिस्संका होंति सम्यग्दृष्टयो जीवाः शुद्धबुद्धैकस्वभावनिर्दोषपरमात्माराधनं कुर्वाणाः संतो निश्शंका भवंति

आगे इसी अर्थ को गाथा से कहते हैं;—**[सम्यग्दृष्टयः जीवाः]** सम्यग्दृष्टि जीव **[निःशंका भवंति]** निःशंक होते हैं **[तेन]** इसीलिये **[निर्भयाः]** निर्भय हैं **[यस्मात्]** क्योंकि **[सप्तभयविप्रमुक्ताः]** सप्तभय से रहित हैं **[तस्मात्]** इसीलिये **[निःशंकाः]** निःशंक हैं ।

टीका—जिस कारण सम्यग्दृष्टि नित्य ही सब कर्मों के फल की अभिलाषा से रहित हुए कर्म से सर्वथा निरपेक्ष हुए प्रवर्तन करते हैं इस कारण अत्यंत निःशंक दारुण (तीव्र) निश्चयरूप दृढ़ आशयरूप हुए अत्यंत निर्भय हैं ऐसी संभावना की जाती है ॥२२८॥

अब सप्तभय के कलशरूप काव्य कहते हैं उनमें इसलोक तथा परलोक के दो भयों का काव्य—**लोक** इत्यादि । **अर्थ**— जो यह भिन्न आत्मा का चैतन्यस्वरूप लोक है वह शाश्वत है एक है, सब जीवों के प्रगट है इसको यह ज्ञानी आत्मा ही स्वयमेव एकाकी (केवल) अवलोकन करता है । उस अवस्था में ज्ञानी ऐसा विचारता है कि यह चैतन्यलोक तेरा है और इससे जो अन्य लोक है वह परलोक है तेरा नहीं । ऐसा विचारते हुए उस ज्ञानी के इसलोक तथा परलोक का भय कैसे हो सकता है ? नहीं होता । इस कारण ज्ञानी निःशंक हुआ हमेशा अपने को स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप अनुभवता है ।

भावार्थ—इस भव में लोकों का डर रहता है कि ये लोग न मालूम मेरा क्या बिगाड़ करेंगे ऐसा तो इस लोक का भय है, और परभव में न मालूम क्या होगा ऐसा भय रहना वह परलोक का भय है । सो ज्ञानी ऐसा जानता है कि मेरा लोक तो चैतन्यस्वरूपमात्र एक नित्य है यह सबमें प्रगट है । इस लोक के सिवाय जो अन्य है वह परलोक है । सो मेरा लोक तो किसी का बिगाड़ा हुआ नहीं बिगड़ता । ऐसे विचारता हुआ ज्ञानी अपने को स्वाभाविक ज्ञानरूप अनुभवे तो उसके इस लोक का भय किस तरह हो सकता है कभी नहीं होता ॥१५५॥

---

१. सकलं कालं व्यक्तः प्रकटः सकलव्यक्त इत्यर्थः । २ एषोऽयं लोकः केवलमयं चिल्लोकं लोकयतीत्यर्थः ।

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः ।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५६॥
यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः ।
अस्यात्राणमतो न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५७॥

यस्मात् कारणात् । **णिब्भया तेण** तेन कारणेन निर्भया भवति **सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा** यस्मादेव कारणाद् इहलोक परलोक-अत्राण-अगुप्ति-मरण-वेदना-आकस्मिकसंज्ञितसप्तभयविप्रमुक्ता भवंति **तह्मा दु णिस्संका** तस्मादेव कारणात् घोरपरीषहोपसर्गे प्राप्तेपि निश्शंकाः शुद्धात्मस्वरूपे निष्कंपाः संतः शुद्धात्मभावनोत्थवीतरागसुखानंदतृप्ताश्च परमात्म-

---

अब वेदना के भय का काव्य कहते हैं—**एषैकेव** इत्यादि । **अर्थ**—ज्ञानी पुरुषों के यही एक वेदना है कि निराकुल होकर अपना एक ज्ञानस्वरूप आप अपने ज्ञानभाव से ही वेदा जाता है और आप ही वेदनेवाला ऐसा अभेद स्वरूप वेद्यवेदक भाव के बलसे निरंतर निश्चल वेदा जाता है—अनुभव किया जाता है परंतु अन्य से हुई वेदना ज्ञानी के नहीं है । इसलिये उस ज्ञानी के उस वेदना का भय कैसे हो सकता है ? नहीं होता । इस कारण ज्ञानी निःशंक हुआ अपने स्वाभाविक ज्ञानभाव का सदा (निरंतर) अनुभव करता है ।

भावार्थ—वेदना नाम सुखदुःख के भोगने का है ज्ञानी के एक अपना ज्ञानमात्रस्वरूप का भोगना ही है । वह अन्य से. आई हुई को वेदना ही नहीं जानता इसलिये अन्य द्वारा आगत वेदना का भय नहीं है । इसकारण सदा निर्भय हुआ ज्ञानका अनुभव करता है ॥१५६॥

अब अरक्षा के भय का काव्य कहते हैं—**यत्** इत्यादि । **अर्थ**—ज्ञानी ऐसा विचारता है कि सत्स्वरूप वस्तु है वह नाशको प्राप्त नहीं होती ऐसी नियम से वस्तु की मर्यादा है । ज्ञान भी आप सत्स्वरूप वस्तु है उसकी निश्चय से दूसरे से रक्षा कैसी ? इसलिये उस ज्ञान का अरक्षा करने वाला कुछ भी नहीं है इसकारण ज्ञानी के अरक्षा का भय कैसे हो सकता है ? ज्ञानी तो अपने स्वाभाविक ज्ञान-स्वरूप को निःशंक हुआ सदा आप अनुभव करता है ।

भावार्थ—ज्ञानी ऐसा जानता है कि सत्ता का कभी नाश नहीं होता, ज्ञान आप सत्तास्वरूप है इसलिये ज्ञान स्वयं ही रक्षित है । ज्ञानी के अरक्षा का भय नहीं । वह तो निःशंक हुआ अपने स्वाभाविक ज्ञान का सदा अनुभव करता है ॥१५७॥

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न य-
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः ।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५८॥

प्राणोच्छेदमुदाहरंति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नो छिद्यते जातुचित् ।
तस्यातो मरणं न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१५९॥

स्वरूपान्न प्रच्यवंते पांडवादिवत् ॥ २२८ ॥ अथानंतरं वीतरागसम्यग्दृष्टेर्निश्शंकाद्यष्टगुणाः नवतरबंधं निवारयंति ततः कारणाद्बंधो नास्ति किं तु संवरपूर्विका निर्जरैव भवतीति प्रतिपादयति;—**जो चत्तारिवि पाए छिंददि ते कम्म-मोहबाधकरे** यः कर्ता मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणान् संसारवृक्षस्य मूलभूतान् निष्कर्मात्मतत्त्वविलक्षणत्वेन

अब अगुप्तिभय का काव्य कहते हैं—**स्वं रूपं** इत्यादि । **अर्थ**—ज्ञानी विचारता है कि वस्तु का निजरूप ही वस्तु की परम गुप्ति है, उसमें अन्य कोई प्रवेश नहीं कर सकता । यहां ज्ञान भी पुरुष का स्वरूप है । वह अकृत्रिम है इसलिये ज्ञानी के कुछ भी अगुप्त नही है ज्ञानी के अगुप्ति का भय नहीं है । इसी कारण ज्ञानी निःशंक हुआ निरंतर आप स्वाभाविक अपने ज्ञानभाव का सदा अनुभव करता है ।

भावार्थ—जिसमें किसी का प्रवेश नहीं ऐसे गढ़ दुर्गादिक का नाम गुप्ति है उसमें यह प्राणी निर्भय होकर रहता है । और जो गुप्त प्रदेश न हो, खुला हुआ हो, उसको अगुप्ति कहते हैं वहां बैठने से जीव को भय उत्पन्न होता है । ज्ञानी ऐसा समझता है कि जो वस्तु का निज स्वरूप है उसमें परमार्थ से दूसरी वस्तु का प्रवेश नहीं है यही परमगुप्ति है । पुरुष का स्वरूप ज्ञान है उसमें किसी का प्रवेश नहीं है । इसलिये ज्ञानी को भय कैसे हो सकता है ? ज्ञानी अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप को निःशंक होकर निरंतर अनुभव करता है ॥१५८॥

अब मरणभय का काव्य कहते हैं—**प्राणो** इत्यादि । **अर्थ**—प्राणों का उच्छेद होना उसे मरण कहते हैं सो आत्मा का प्राण निश्चयज्ञान है, वह स्वयमेव शाश्वत है इसका कभी उच्छेद नहीं हो सकता, इस कारण आत्मा का मरण नहीं होता । ऐसा विचारने से ज्ञानी के मरण का भय कैसे हो ? इसलिये ज्ञानी निःशंक हुआ निरंतर अपने स्वाभाविक ज्ञानभाव का आप सदा अनुभव करता है ।

भावार्थ—इंद्रियादिक प्राणों के विनाश को मरण कहते हैं, आत्मा के इंद्रियादिक प्राण परमार्थ स्वरूप नहीं हैं निश्चय से उसके ज्ञान प्राण हैं वह अविनाशी है इसलिये आत्मा के मरण नहीं । इस कारण ज्ञानी को मरण का भय नहीं है । ज्ञानी अपने ज्ञानस्वरूप को निःशंक हुआ निरंतर आप अनुभव करता है ॥१५९॥

एकं ज्ञानमनाद्यनंतमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः ।
तन्नाकस्मिकमत्र किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ॥१६०॥
टंकोत्कीर्णस्व[1]रसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नंति लक्ष्माणि कर्म ।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बंधः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥ १६१ ॥

कर्मकरान् निर्मोहात्मद्रव्यपृथक्त्वेन मोहकरान् अव्याबाधसुखादिगुणलक्षणपरमात्मपदार्थभिन्नत्वेन वा बाधाकरांस्तान् आगमप्रसिद्धांश्चतुरः पादान् शुद्धात्मभावनाविषये निश्शंको भूत्वा स्वसंवेदनज्ञानखड्गेन छिनत्ति **सो णिस्संको चेदा**

अब आकस्मिक भय का काव्य कहते हैं—**एकं** इत्यादि । **अर्थ**—ज्ञान एक है, अनादि है, अनंत है, अचल है, ऐसा आप से ही सिद्ध है सो जब तक है तब तक सदा वही है, इसमें दूसरे का उदय नहीं है इसलिए ऐसा कुछ भी नहीं है जो इसमें अकस्मात् नया उत्पन्न हो। ऐसा विचारने से उस अकस्मात् होने का भय कैसे हो सकता है। ज्ञानी निःशंक हुआ निरंतर अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वभाव का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ—अकस्मात् भयानक पदार्थ से प्राणी को जो भय उत्पन्न होता हैं वह आकस्मिक भय है। सो आत्मा का ज्ञान अविनाशी, अनादि, अनन्त, अचल, एक है, इसमें दूसरे का प्रवेश नहीं है नवीन अकस्मात् कुछ नहीं होता। ऐसा ज्ञानी अपने को जानता है उसके अकस्मात् भय कैसे हो ? इसलिये ज्ञानी अपने ज्ञानभाव का निःशंक निरंतर अनुभव करता है इस प्रकार सात भय ज्ञानी के नहीं हैं। यहां प्रश्न—अविरत सम्यग्दृष्टि आदिक को भी ज्ञानी कहते हैं उसके भय प्रकृतिका उदय है उसके निमित्त से भय भी देखा जाता है सो ज्ञानी निर्भय कैसे है ? उसका समाधान—जो भय प्रकृति के उदय के निमित्त से भय उत्पन्न होता है उसकी पीड़ा नहीं सही जाती, क्योंकि अंतराय के प्रबल उदय से वह निर्बल है। इसलिये उस भय का इलाज भी करता है परंतु ऐसा भय नहीं है कि जिससे स्वरूप के ज्ञान श्रद्धान से डिग जाय। तथा जो भय उत्पन्न होता है वह मोह कर्म की भयनामा प्रकृति के उदय का दोष है उसका आप स्वामी होकर कर्ता नहीं बनता ज्ञाता ही रहता है ॥१६०॥

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि के निःशंकितादि चिन्ह कर्म की निर्जरा करते हैं शंकादिक से किया बंध नहीं होता उसकी सूचनिका का काव्य कहते हैं—**टंकोत्कीर्ण** इत्यादि । **अर्थ**—सम्यग्दृष्टि के निःशंकित आदि चिह्न सब कर्मों का हनन करते हैं—निर्जरा करते हैं। इस कारण फिर भी इसका

---

१. स्वरसः स्वभावः स्वपरावबोधरावत्युपेतत्वं तेन चितं व्याप्तमित्यर्थः ।

जो चत्तारिवि पाए छिंददि ते [1]कम्मबंधमोहकरे ।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २२९ ॥

यश्चतुरोपि पादान् छिनत्ति तान् कर्मबंधमोहकरान् ।
स निश्शंकश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २२९ ॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः, टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन कर्मबंधशंकाकरमिथ्यात्वादिभावाभावान्निश्शंकः, ततोऽस्य शंकाकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥ २२९ ॥

सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो स चेतयिता आत्मा सम्यग्दृष्टिर्निश्शंको मंतव्यः तस्य तु शुद्धात्मभावनाविषये शंकाकृतो नास्ति बंधः, किंतु पूर्वबद्धकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति ॥२२९॥ **जो ण करेदि दु कंखं कम्मफले तहय सव्वधम्मेसु** यः कर्ता शुद्धात्मभावनासंजातपरमानंदसुखे तृप्तो भूत्वा कांक्षा वांछां न करोति । केषु ? पंचेंद्रियविषयसुखभूतेषु कर्मफलेषु तथैव च समस्तवस्तुधर्मेषु स्वभावेषु अथवा विषयसुखकारणभूतेषु नानाप्रकारपुण्यरूपधर्मेषु अथवा इहलोकपरलोकाकांक्षा समस्तपरसमयप्रणीतकुधर्मेषु च । **सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स चेतयिता आत्मा सम्यग्दृष्टिः

उदय होने से नवीन कर्म का कुछ भी बंध नहीं होता जिस कर्म का पहले बंध हुआ था उसके उदय को भोगते हुए उसके नियम से निर्जरा ही होती है । सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्णवत् एक स्वभावरूप जो अपना निज रस उससे परिपूर्ण हुए ज्ञान के सर्वस्व का भोगने वाला है—आस्वादक है ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि पहले बांधी हुई भयादि प्रकृतियों के उदय को भोगता हे तौ भी उसके निःशंकितादि गुण प्रवर्तते हैं वे पूर्वकर्मों की निर्जरा करते हैं । और शंकादिकर किया बंध नहीं होता ॥ १६१ ॥

आगे इस कथन को गाथा में कहते हैं उसमें भी पहले निशंकित अंग का स्वरूप कहते हैं;—**[यः]** जो **[चेतयिता]** आत्मा **[कर्मबंधमोहकरान्]** कर्मबंध के कारण मोह के करने वाले **[तान् चतुरोपि पादान्]** मिथ्यात्वादिभावरूप चारों पादों को **[निःशंकः]** निःशंक हुआ **[छिनत्ति]** काटता है **[सः]** वह आत्मा **[सम्यग्दृष्टिः]** निःशंक सम्यग्दृष्टि **[ज्ञातव्यः]** जानना चाहिये ।

टीका—जिस कारण सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमय है उस भाव से कर्मबंध के कारण शंका को करने वाले ऐसे मिथ्यात्व अविरति कषाय योग इन चारों भावों का इसके अभाव है इस कारण निःशंक है । इसलिये इसके शंकाकृत बंध नहीं है ? निर्जरा ही है ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि के जो कर्म का उदय आता है उसका आप स्वामीपने के अभाव से कर्ता नहीं होता इसलिये भय प्रकृति के उदय आने पर भी शंका के अभाव से स्वरूप से भ्रष्ट नहीं होता निःशंक रहता है । इसलिये इसके शंकाकृत बंध नहीं होता, कर्म रस देकर क्षय हो जाता है ॥ २२९ ॥

---

१. तात्पर्यवृत्तौ "मोहबाधकरे" पाठः ।

जो[1] दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु ।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २३० ॥

यस्तु न करोति कांक्षां कर्मफलेषु तथा सर्वधर्मेषु ।
स निष्कांक्षश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥ २३० ॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः, टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि कर्मफलेषु सर्वेषु वस्तुधर्मेषु च कांक्षाभावान्निष्कांक्षस्ततोऽस्य कांक्षाकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥२३०॥

जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३१॥

यो न करोति जुगुप्सां चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणां ।
स खलु निर्विचिकित्सः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३१॥

संसारसुखे निष्कांक्षितो मंतव्यः । तस्य विषयसुखकांक्षाकृतो नास्ति बंधः किंतु पूर्वसंचितकर्मणो निर्जरैव भवति ॥२३०॥
जो ण करेदि दुगुंछं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं यश्चेतयिता आत्मा परमात्मतत्त्वभावनाबलेन जुगुप्सां निंदां दोषं

आगे निःकांक्षित गुण की गाथा कहते हैं;—**[यः चेतयिता]** जो आत्मा **[कर्मफलेषु]** कर्मों के फलों में **[तथा]** तथा **[सर्वधर्मेषु]** सब धर्मों में **[कांक्षां]** वांछा **[न तु]** नहीं **[करोति]** करता है **[सः]** वह आत्मा **[निष्कांक्षः सम्यग्दृष्टिः]** निःकांक्ष सम्यग्दृष्टि **[ज्ञातव्यः]** जानना ।

टीका—जिस कारण सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावपने से सब ही कर्मों के फलों में तथा सभी वस्तु के धर्मों में वांछा के अभाव से निष्कांक्ष है, निर्वांछक हैं, इसलिये इसके कांक्षा (इच्छा) से किया हुआ बंध नहीं है निर्जरा ही है ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि के कर्मफल में तथा सब धर्मों में अर्थात् काच सोना आदि, निन्दा प्रशंसा आदि के वचनरूप पुद्गल के परिणमन अथवा अन्यमतियोंकर माने हुए अनेक प्रकार सर्वथा एकांतरूप व्यवहार धर्म के भेदों में वांछा नहीं है । इसलिये इसके वांछा से होने वाला बंध नहीं है । वर्तमान की पीड़ा सही नहीं जाती उसके मेंटने के इलाज की वांछा चारित्रमोह के उदय से है । यह उसका आप कर्ता नहीं होता कर्म का उदय जानकर उसका ज्ञाता है । इस कारण वांछाकृत बंध नहीं है ॥२३०॥

अब निर्विचिकित्सा गुण की गाथा कहते हैं;**[यः चेतयिता]** जो जीव **[सर्वेषामेव]** सभी **[धर्माणां]** वस्तु के धर्मों में **[जुगुप्सां]** ग्लानि **[न करोति]** नहीं करता **[सः]** वह जीव **[खलु]** निश्चय कर **[निर्विचिकित्सः]** विचिकित्सा दोषरहित **[सम्यग्दृष्टिः]** सम्यग्दृष्टि **[ज्ञातव्यः]** जानना ।

टीका—जिस कारण सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावपने से सभी वस्तुधर्मों में

---

१. 'जो ण करेदि दु कंखं' पाठोयं तात्पर्यवृत्तौ ।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि वस्तुधर्मेषु जुगुप्साऽभावान्निर्विचिकित्सः ततोऽस्य विचिकित्साकृतो नास्ति बंधः किंतु निर्जरैव ॥२३१॥

जो हवइ असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठि[1] सव्वभावेसु।
सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३२॥

यो भवति असंमूढः चेतयिता सद्दृष्टिः सर्वभावेषु ।
स खलु अमूढदृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३२॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः, टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि भावेषु मोहाभावादमूढदृष्टिः ततोऽस्य मूढदृष्टिकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥२३२॥

द्वेषं विचिकित्सान्न करोति, केषां संबंधित्वेन ? सर्वेषामेव वस्तुधर्माणां स्वभावानां, दुर्गंधादिविषये वा **सो खलु णिव्विदिगिंछो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टिः निर्विचिकित्सः खलु स्फुटं मंतव्यो ज्ञातव्यः तस्य च परद्रव्यद्वेषनिमित्तो नास्ति बंधः, किं तु पूर्वसंचितकर्मणो निर्जरैव भवति ॥२३१॥ **जो हवदि असंमूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु** यश्चेतयिता आत्मा स्वकीयशुद्धात्मनि श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपेण निश्चयरत्नत्रयलक्षणभावनाबलेन शुभाशुभकर्मजनित परिणामरूपे बहिर्विषये सर्वथाऽसंमूढो भवति **सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स खलु

जुगुप्सा के अभाव से निर्विचिकित्स (ग्लानि रहित) है इसी कारण इसके विचिकित्सा से किया गया बंध नहीं है । निर्जरा ही होती है ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि वस्तु के धर्म जो क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि भाव तथा विष्ठा आदि मलिन द्रव्यों में ग्लानि नहीं करता । जुगुप्सानामा कर्म प्रकृति का उदय आता है तब उसका आप कर्ता नहीं होता है ! इसलिये इसे जुगुप्सा से किया गया बंध नही है । प्रकृति रस (फल) देकर छूट जाती है इस कारण निर्जरा ही है ॥२३१॥

आगे अमूढ़दृष्टि अंग की गाथा कहते हैं—[**यः**] जो जीव [**सर्वभावेषु**] सब भावों में [**असंमूढः**] मूढ नहीं होता [**सद्दृष्टिः**] यथार्थदृष्टि रखता है [**स चेतयिता**] वह ज्ञानी जीव [**खलु**] निश्चय कर [**अमूढदृष्टिः**] अमूढ़दृष्टि [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**ज्ञातव्यः**] जानना ।

टीका—निश्चय से सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावपने से सब भावों में मोह के अभाव से अमूढदृष्टि है इसलिये इसके मूढदृष्टि से किया गया बंध नहीं है निर्जरा ही है ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि सब पदार्थों का स्वरूप यथार्थ जानता है, उन पर रागद्वेष मोह के अभाव से अयथार्थ दृष्टि नहीं पड़ती और जो चारित्रमोह के उदय से इष्टानिष्ट भाव उत्पन्न होते हैं उनको उदय की बलवत्ता जान उन भावों का कर्ता नही होता इसलिये मूढदृष्टि से किया बंध नहीं है, निर्जरा ही है । प्रकृति रस देकर क्षीण हो जाती है सो निर्जरा ही हुई ॥२३२॥

---

१. 'सम्मदिट्ठि' इत्यपि पाठः ।

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं ।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३३॥

यः सिद्धभक्तियुक्तः उपगूहनकस्तु सर्वधर्माणां ।
स उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३३॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन समस्तात्मशक्तीनामुपबृंहणादुपबृंहकः, ततोऽस्य जीवस्य शक्तिदौर्बल्यकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥२३३॥

स्फुटं सम्यग्दृष्टिरमूढदृष्टिर्मन्तव्यो ज्ञातव्यः । तस्य च बहिर्विषये मूढताकृतो नास्ति बंधः परसमयमूढताकृतो वा, किंतु पूर्वबद्धकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति ॥२३२॥ **जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं** शुद्धात्मभावनारूपपारमार्थिकसिद्धभक्तियुक्तः मिथ्यात्वरागादिविभावधर्माणामुपगूहकः प्रच्छादको विनाशकः । **सो उवगूहणगारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टिः उपगूहनकारी मंतव्यो ज्ञातव्यः । तस्य चानुपगूहनकृतो नास्ति बंधः किं तु पूर्वसंचितकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति ॥२३३॥ **उम्मग्गं गच्छंतं सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं** यः कर्ता मिथ्यात्वरागादिरूपमुन्मार्गं गच्छंतं संतमात्मानं परमयोगाभ्यासबलेन शिवमार्गे स्वशुद्धात्मभावनारूपे निश्चयमोक्षमार्गे निश्चलं स्थापयति **सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टिः स्थितिकरणयुक्तो मंतव्यो ज्ञातव्यः । तस्य चास्थितिकरणकृतो नास्ति बंधः किं तु पूर्वबद्धकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति ॥२३४॥ **जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हे साधूण मोक्खमग्गम्मि** यः कर्ता मोक्षमार्गे स्थित्वा वत्सलत्वं

अब उपगूहन गुण की गाथा कहते हैं;—**[यः]** जो जीव **[सिद्धभक्तियुक्तः]** सिद्धों की भक्ति से युक्त हो **[तु]** और **[सर्वधर्माणां]** अन्य वस्तु के सब धर्मों का **[उपगूहनकः]** गोपने वाला हो **[सः]** वह **[उपगूहनकारी]** उपगूहन धारी **[सम्यग्दृष्टिः]** सम्यग्दृष्टि **[ज्ञातव्यः]** जानना चाहिये ।

टीका—सम्यग्दृष्टि निश्चय से टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावपने से आत्मा की सब शक्ति बढ़ाने से उपबृंहक होता है इसलिये इसके जीवशक्ति के दुर्बलपने कर किया बंध नहीं है निर्जरा ही है ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि उपगूहनगुणयुक्त है । उपगूहन का अर्थ छिपाने का है । निश्चयनय को प्रधान कर ऐसा कहा है कि जो अपना उपयोग सिद्ध भक्ति में लगाये वह सब धर्मों का उपगूहक हो । सो जब सिद्ध भक्ति में उपयोग लगाया तब अन्य धर्म पर दृष्टि ही नहीं रही, तब सभी धर्म छिप गए । दूसरा उपबृंहण इस तरह है कि जब अपना उपयोग सिद्धों के स्वरूप में लगाया तब अपने आत्मा की सब शक्ति बढ़ा ली आत्मा पुष्ट हुआ । दुर्बलता से बंध होता था वह नहीं होता तब निर्जरा ही होती है । और जब तक अंतराय का उदय है तब तक निर्बलता है परंतु इसके अभिप्राय में निर्बलता नहीं है कर्म के उदय को जीतने का अपनी शक्ति के अनुसार महान् उद्यम होता है ॥२३३॥

उम्मग्गं गच्छंतं [1]सगंपि मग्गे ठवेदि जो चेदा ।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३४॥

उन्मार्गं गच्छंतं स्वकमपि मार्गे स्थापयति यश्चेतयिता ।
स स्थितिकरणयुक्तः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३४॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन मार्गात्प्रच्युतस्यात्मनो मार्गे एव स्थितिकरणात् स्थितिकारी ततोऽस्य मार्गच्यवनकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥२३४॥

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्मि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३५॥

यः करोति वत्सलत्वं त्रयाणां साधूनां मोक्षमार्गे ।
स वात्सल्यभावयुतः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३५॥

भक्ति करोति, केषां ? त्रयाणां स्वकीयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां, कथंभूतानां ? साधूनां मोक्षमार्गे साधकानां अथवा व्यवहारेण तदाधारभूतसाधूनां **सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टि. वात्सल्यभावयुक्तो मंतव्यो ज्ञातव्यः ।

आगे स्थितीकरण गुण की गाथा कहते हैं;—**[यः]** जो जीव **[उन्मार्गं गच्छंतं]** उन्मार्ग चलते हुए **[स्वकं अपि]** अपनी आत्मा को भी **[मार्गे]** मार्ग में **[स्थापयति]** स्थापन करता है **[सः चेतयिता]** वह ज्ञानी **[स्थितिकरणयुक्तः]** स्थितिकरणगुणसहित **[सम्यग्दृष्टिः]** सम्यग्दृष्टि **[ज्ञातव्यः]** जानना ।

टीका—सम्यग्दृष्टि निश्चय से टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमय है इसलिये जो अपना आत्मा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूप मोक्ष के मार्ग से छूट जाय तो उसे उसी मार्ग में स्थापन करे वह स्थिति-कारी है । इसलिये मार्ग से छूटनेपर किया गया इसके बंध नहीं है निर्जरा ही है ।

भावार्थ—जो अपना आत्मा अपने स्वरूपमय मोक्ष मार्ग से चिग जाय उसे उसी मार्ग में स्थापन करे वह स्थितीकरणगुणयुक्त है । उसके मार्ग से छूट जाने का बंध नहीं होता उदय आये हुए कर्म रस देकर खिर जाते हैं इसलिये निर्जरा ही है ॥२३४॥

आगे वात्सल्य गुण की गाथा कहते हैं;—**[यः]** जो जीव **[मोक्षमार्गे]** मोक्ष मार्ग में स्थित **[त्रयाणां साधूनां]** आचार्य उपाध्याय साधु पद सहित आत्मा में अथवा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र में **[वत्सलत्वं]** वात्सल्यभाव **[करोति]** करता है **[सः]** वह **[वत्सलभावयुतः]** वत्सलभावसहित **[सम्यग्दृष्टिः]** सम्यग्दृष्टि **[ज्ञातव्यः]** जानना ।

---

१. 'सिवमग्गेति' तात्पर्यवृत्तौ पाठः ।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां स्वस्माद्भेदबुद्ध्या सम्यग्दर्शनान्मार्गवत्सलः, ततोऽस्य मार्गानुपलंभकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥२३५॥

विज्जारहमारूढो [1]मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा ।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेव्वो ॥२३६॥

विद्यारथमारूढः मनोरथपथेषु भ्रमति यश्चेतयिता ।
स जिनज्ञानप्रभावी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३६॥

तस्य चावात्सल्यभावकृतो नास्ति बंधः किं तु पूर्वसंचितकर्मणो निर्जरैव भवति ॥२३५॥ **विज्जारहमारूढो मणोरहरएसु हणदि जो चेदा** यश्चेतयिता आत्मा स्वशुद्धात्मतत्त्वोपलब्धिस्वरूपविद्यारथमारूढः सन् ख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिविभावपरिणामरूपान् द्रव्यक्षेत्रादिपंचप्रकारसंसारदु:खकारणान् शत्रून् मनोरथरयान् वेगांश्चित्तकल्लोलान् स्वस्वभावसारथिबलेन दृढतरध्यानखड्गेन हंति । **सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टिर्जिनज्ञानप्रभावी मंतव्यो ज्ञातव्यः । तस्य चाप्रभावनाकृतो नास्ति बंधः किं तु पूर्वसंचितकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति । एवं संवरपूर्विकाया भावनिर्जराया उपादानकारणभूतानां शुद्धात्मभावनारूपाणां शुद्धनयमाश्रित्य निश्शंकाद्यष्टगुणानां व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथानवकं गतं । इदं तु निश्शंकाद्यष्टगुणव्याख्यानं निश्चयनयमुख्यत्वेन व्याख्यातं । निश्चयरत्नत्रयसाधके व्यवहाररत्नत्रयेऽपि स्थितस्य सरागसम्यग्दृष्टेरप्यंजनचौरादिकथारूपेण व्यवहारनयेन यथासंभवं योजनीयं । निश्चयं व्याख्याय पुनरपि किमर्थं व्यवहारनयव्याख्यानं ? इति चेन्नैवं । अग्निसुवर्णपाषाणयोरिव निश्चयव्यवहारनययोः परस्परसाध्यसाधकभावदर्शनार्थमिति । तथाचोक्तं—जइजिणमंइ पउंजह ता मा ववहारणिच्छए मुचह । एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं, इति । किं च—संवरपूर्विका पूर्वनिर्जरा या व्याख्याता सा

टीका—निश्चय से सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावपने से सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को अपने से अभेद बुद्धि कर अच्छी तरह देखता है इसलिये मोक्ष मार्ग का वत्सल है अतिप्रीतियुक्त है। इसलिये इसके मार्ग की अप्राप्ति कर किया गया कर्म का बंध नहीं है निर्जरा ही है।

भावार्थ—वत्सलपना नाम प्रीतिभाव का है इसलिये जो मोक्षमार्गरूप अपने स्वरूप में अनुराग युक्त हो उसके मार्ग की अप्राप्ति कर किया कर्म का बंध नहीं होता कर्म रस (फल) देकर खिर जाता है इसलिए निर्जरा ही है ॥२३५॥

आगे प्रभावना गुण की गाथा कहते हैं;—**[यः]** जो जीव **[विद्यारथं आरूढः]** विद्यारूपी रथ में चढ़ा **[मनोरथपथेषु]** मनरूपी रथ के चलने के मार्ग में **[भ्रमति]** भ्रमण करता है **[सः चेतयिता]** वह ज्ञानी **[जिनज्ञानप्रभावी]** जिनेश्वर के ज्ञान की प्रभावना करने वाला **[सम्यग्दृष्टिः]** सम्यग्दृष्टि **[ज्ञातव्यः]** जानना।

---

१. "मणोरहरएसु हणदि जो चेदा" पाठोयं तात्पर्यवृत्तौ ।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन ज्ञानस्य समस्तशक्तिप्रबोधेन प्रभावजननात्प्रभावनाकरः ततोस्य ज्ञानप्रभावनाऽप्रकर्षकृतो नास्ति बंधः किं तु निर्जरैव ॥२३६॥

सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपे मुख्यवृत्त्या निश्चयरत्नत्रये सति भवति, स च निश्चयरत्नत्रयलाभो, वीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानरूपे शुभाशुभबहिर्द्रव्यनिरालंबने निर्विकल्पसमाधौ सति भवति, स च समाधिरतीव दुर्लभः। कस्मात् ? इति चेद्, एकेंद्रियविकलेंद्रियपंचेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलरूपेंद्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्कवरबुद्धि-

---

टीका—निश्चय से सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावपने से ज्ञान की समस्त शक्ति के फैलानेपर प्रभाव के उपजाने से प्रभावना करनेवाला है इसलिये इसके ज्ञान की प्रभावना का बढ़ाना नहीं है उसपर किया बध नहीं होता निर्जरा ही होती है।

भावार्थ—प्रभावना नाम उद्योत करना, प्रगट करना इत्यादिक का है जो अपने ज्ञान को निरंतर अभ्यास से प्रगट करता है, बढ़ाता है उसके प्रभावना अंग होता है, अप्रभावनाकृत कर्म का बंध नहीं है। कर्म रस देकर खिर जाता है इस कारण निर्जरा ही है। यहां गाथा में ऐसा कहा है कि जो विद्यारूपी रथ में आत्मा को स्थापन करके भ्रमण करता है वह ज्ञान की प्रभावनायुक्त सम्यग्दृष्टि है। यह निश्चय प्रभावना है। जैसे व्यवहार में जिनबिंब को रथ में स्थापन कर नगर वन आदि मे विहार कराके प्रभावना की जाती है उसी तरह यहां भी जानना। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के निःशंकित आदिक आठ गुण कर्म की निर्जरा के कारण कहे गये हैं। इसी तरह अन्य भी सम्यक्त्व के गुण निर्जरा के कारण जानना। यहा पर निश्चयनय की प्रधानता से कथन है इसलिये आत्मा के ही परिणाम निःशकारूप आदिक से कहे है। उसका सारांश ऐसा है कि जो सम्यग्दृष्टि आत्मा अपने ज्ञान श्रद्धान में निःशंक हो भय के निमित्त से स्वरूप से नहीं चिगता अथवा संदेहयुक्त न हो उसके निःशंकित गुण कहना चाहिये १, जो कर्म के फलकी वांछा न करे तथा अन्य वस्तु के धर्मों की वांछा न करे उसके निःकांक्षित गुण होता है २, जो वस्तु के धर्मों में ग्लानि न करे उसके निर्विचिकित्सा गुण होता है ३, जो स्वरूप में मूढ न हो, यथार्थ जाने उसके अमूढदृष्टि गुण होता है ४, जो आत्मा को स्वरूप से चिगते हुए को स्थापन करे उसके स्थितिकरण गुण होता है ५, जो आत्मा को शुद्ध स्वरूप में लगाये आत्मा की शक्ति बढ़ाये अन्य धर्मों को गौण करे उसके उपगूहन गुण होता है ६, जो अपने स्वरूप में विशेष अनुराग रखे, उसके वात्सल्य गुण होता है ७, जो आत्मा के ज्ञानगुण को प्रकाशरूप प्रगट करे उसके प्रभावनागुण होता है ८,। इन सब गुणों के प्रतिपक्षी दोषों द्वारा कर्मका बंध होता था उसको नहीं होने देता और इनके होने से चारित्रमोह के उदयरूप शंकादि प्रवर्त हों तो उनकी निर्जरा ही होती है बंध नही होता। बंध तो मिथ्यात्व सहित ही प्रधानता से कहा है। जो चारित्रमोह के उदय से सम्यग्दृष्टि के सिद्धांत में गुणस्थानों की परिपाटी में बंध कहा है वह भी निर्जरारूप ही जानना क्योंकि सम्यग्दृष्टि के जैसे मिथ्यात्व के उदय में बांधा हुआ कर्म खिरता है वैसे ही नवीन बंधा हुआ भी खिरता है इसके इस कर्म के स्वामीपने का अभाव है इसलिये आगामी बंध रूप नहीं है निर्जरारूप ही है जैसे कोई पुरुष पराया द्रव्य उधार लाये उससे उसको ममता बुद्धि नही है वर्तमान में उस द्रव्य से कुछ कार्य कर लेना हो वह करके

रुन्धन् बंधं नवमिति निजैः संगतोऽष्टाभिरंगैः
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन ।

सद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसंयमविषयसुखव्यावर्तनक्रोधादिकषायनिवर्तनतपोभावनासमाधिमरणानि परम्परादुर्लभानि यतः। तदपि कस्मात् ? तत्प्रतिपक्षभूतानां मिथ्यात्वविषयकषायख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिविभावपरिणामानां प्रबलत्वात् इति दुर्लभपरंपरां ज्ञात्वा सर्वतात्पर्येण समाधौ प्रमादो न कर्तव्यः। तदप्युक्तं—इत्यतिदुर्लभरूपां

कर्ज देने वाले को नियत समय पर दे देता है यदि अपने घर में भी पड़ा रहे तो भी उससे ममत्व नहीं है इसलिये उस पुरुष को उस द्रव्य का बंधन नहीं है दूसरे को देने सरीखा ही है। उसी तरह ज्ञानी कर्म द्रव्य को जानता है उससे ममत्व नहीं है सो मौजूद होने पर भी निर्जरा समान ही है ऐसा जानना। तथा ये निःशंकित आदिक आठ गुण व्यवहारनयकर व्यवहार मोक्ष मार्ग पर लगा लेना। जिन वचन में संदेह नहीं करना भय आने पर व्यवहार दर्शन ज्ञान चारित्र से नहीं चिगना वह निःशंकित गुण है १, संसार देह भोग की तथा परमत की वांछा से व्यवहार मोक्ष मार्ग से नहीं चिगना वह निष्कांक्षित गुण है २, अपवित्र दुर्गंधादि वस्तु के निमित्त से व्यवहार मोक्ष मार्ग की प्रवृत्ति में ग्लानि न करना वह निर्विचिकित्सा गुण है ३, देव शास्त्र गुरु लोक की प्रवृत्ति अन्यमतादि के तत्त्वार्थ के स्वरूप में मूढ़ता नहीं रखना यथार्थ जान प्रवर्तन करना अमूढ़ दृष्टि है ४, धर्मात्मा में कर्म के उदय से दोष हो जाय उसे गौण कर व्यवहार मोक्ष मार्ग की प्रवृत्ति को बढ़ाना उपगूहन अथवा उपबृंहणगुण है ५, व्यवहार मोक्ष मार्ग से चिगते हुए को स्थिर करना वह स्थितीकरण है ६, व्यवहार मोक्ष मार्ग में प्रवर्तने वाले से विशेष अनुराग (प्रीति) होना वात्सल्य है ७, और व्यवहार मोक्ष मार्ग का अनेक उपायों से उद्योत करना प्रभावना है ८, ये व्यवहार नय को प्रधान करके कहे गये हैं, निश्चय प्रधान कथन में इनकी गौणता है। सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाणदृष्टि में दोनों ही प्रधान हैं, स्याद्वाद मत में कुछ विरोध नहीं है ॥ १६२ ॥

अब निर्जरा अधिकार पूर्ण हुआ। निर्जरा के स्वरूप को यथार्थ जानने वाले तथा कर्म का नवीन बंध रोककर निर्जरा करने वाले सम्यग्दृष्टि की महिमा कहते हैं—**रुन्धन्** इत्यादि । **अर्थ**—सम्यग्दृष्टि जीव आप स्वयमेव अपने निज रस में मस्त हुआ आदि मध्य अन्तर रहित सर्वव्यापक एक प्रवाहरूप धारावाही ज्ञानरूप होकर आकाश का मध्यरूप जो अति निर्मल रंगभूमि उसमें अवगाहन (प्रवेश) कर नृत्य करता है। वह नवीन बंध को तो पूर्वोक्तरीति से रोकता है और जो पहले बांधा था उसको अपने अष्ट अंगों सहित निर्जरा के प्रगट होने से नाश कर डालता है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि के शंकादिक से किया नवीन बंध तो होता ही नहीं और आठ अंगों सहित होने से निर्जरा का उदय है उससे पूर्व बंध का नाश होता है। इसलिए वह एक प्रवाह रूप ज्ञानरूपी रस को आप पीकर मद पीने वाले की तरह (जैसे कोई मद पीकर मग्न हुआ नृत्य के अखाड़ें में नृत्य करे वैसे) निर्मल आकाशरूप रंगभूमि में नृत्य करता है। यहां कोई प्रश्न करे कि—सम्यग्दृष्टि के निर्जरा होना तो कहते आ रहे हैं बंध होना नहीं कहा परन्तु गुण स्थानों की परिपाटी में सिद्धान्त में अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर बंध कहा गया है तथा घाति कर्मों का कार्य आत्मा के गुणों का घात करना है सो दर्शनज्ञान सुख वीर्य इन गुणों का घात भी विद्यमान है। वहां चारित्र मोह का उदय नवीन

सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यांतमुक्तं
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरंगं विगाह्य ॥ १६२ ॥

इति निर्जरा निष्क्रांता ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ **निर्जरा** प्ररूपकः षष्ठोऽकः ॥ ६ ॥

बोधि लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात् । संसृतिभीमारण्ये भ्रमति वराको नरः सुचिरं इति । तत्रैवं सति शृङ्गाररहितपात्रवत् शांतरसरूपेण निर्जरा निष्क्रांता ॥ २३६ ॥

इति **श्रीजयसेनाचार्यकृतायां** समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां **तात्पर्यवृत्तौ** गाथाचतुष्टयं पीठिकारूपेण, गाथापंचकं ज्ञानवैराग्यशक्त्योः सामान्यविवरणरूपेण, गाथादशकं तयोरेव विशेषविवरणरूपेण, गाथाष्टकं ज्ञानगुणस्य सामान्यविवरणरूपेण, गाथाचतुर्दश तस्यैव विशेषविवरणरूपेण, गाथानवकं निश्शंकाद्यष्टगुणकथनरूपेण चेति समुदायेन पंचाशद्गाथाभिः षड्भिरंतराधिकारैः सप्तमो **निर्जराधिकारः** समाप्तः ॥ ६ ॥

बंध भी करता है । यदि मोह के उदय में भी बंध न मानो तो मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व अनंतानुबंधी का उदय होने पर भी बंध का न होना क्यों नहीं माना जाय ? उसका समाधान—बंध होने में मुख्य मिथ्यात्व अनंतानुबंधी का उदय ही है । सम्यग्दृष्टि के उनके उदय का अभाव है । और चारित्र मोह के उदय से यद्यपि सुख गुण का घात है तथा अल्पस्थिति अनुभाग लिए मिथ्यात्व अनंतानुबंधी के बिना और उसके साथ रहने वाली अन्य प्रकृतियों के बिना घातिया तथा अघातिया कर्मों की प्रकृतियों का बंध भी होता है तौ भी जैसा मिथ्यात्व अनंतानुबंधी सहित होता है वैसा नहीं होता। अनंत संसार का कारण तो मिथ्यात्व अनंतानुबंधी हैं उनका अभाव होने के पश्चात् उनका बंध नहीं होता। जब आत्मा ज्ञानी हुआ तब अन्य बंध की गिनती कौन करे ? वृक्ष की जड़ कटने के बाद हरे पत्ते रहने की क्या अवधि ? इसलिये इस अध्यात्मशास्त्र में सामान्यपने से ज्ञानी अज्ञानी होने का ही प्रधान कथन है । ज्ञानी हुए पश्चात् शेष कर्म सहज ही मिट जायेंगे । जैसे कोई दरिद्री पुरुष झोंपड़ी में रहता था उसको भाग्योदय से धन से पूर्ण बड़े महल की प्राप्ति हुई । उस महल में बहुत दिन का कूड़ा (मैला) भरा हुआ था । इस पुरुष ने जब आकर प्रवेश किया उसी दिन यह तो महल का धनी बन गया । अब कूड़ा झारना रह गया है वह क्रम से अपने बल के अनुसार से झाड़ता है । जब सब झड़ जायगा तब उज्ज्वल हो जायगा तभी परमानंद भोगेगा, ऐसा जानना ॥२३६॥

सवैया—सम्यक्वंत महंत सदा समभाव रहै दुःख संकट आये,
कर्मनवीन बंधै न तवै अर पूरव बंध झडै बिन भाये ।
पूरण अंग सुदर्शनरूप धरै नित ज्ञान वढै निज पाये,
यों शिवमारग साधि निरंतर आनंद रूप निजातम थाये ॥ १ ॥

इस प्रकार श्री पं० जयचंद्र कृत समयसार आत्मख्याति **निर्जरा** अधिकार पूर्ण हुआ ॥ ६ ॥

अथ बंधाधिकारः ॥ ७ ॥

अथ प्रविशति बंधः ।

रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडंतं रसभारनिर्भरमहानाट्येन बंधं [2]धुनत् ।
आनंदामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटयद्
धीरोदारमनाकुलं निरुपधिज्ञानं समुन्मज्जति ॥१६३॥

जह णाम कोवि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि ।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेइ सत्थेहिं वायामं ॥ २३७ ॥
छिंददि भिंददि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥ २३८ ॥

अथ प्रविशति बंधः । तत्र **जह णाम कोवि पुरिसो** इत्यादि गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण षट्पंचाशद्गाथापर्यंतं व्याख्यानं करोति । तासु षट्पंचाशद्गाथासु मध्ये प्रथमतस्तावद् बंधस्वरूपसूचनमुख्यत्वेन गाथादशकं । तदनंतरं निश्चयेन हिंसाहिंसाव्रताव्रतद्वयस्य लक्षणकथनरूपेण **जो मण्णदि हिंसामि** इत्यादि गाथासप्तकं । ततः परं

अथ बंधाधिकार ।

दोहा—रागादिकतें कर्मको, बंध जानि मुनिराय ।
तजैं तिनहिं समभावकरि, नमूं सदा तिन पांय ॥

अब बंध तत्त्व प्रवेश करता है । जिस प्रकार नृत्य के अखाड़े में कोई स्वांग धरकर प्रवेश कराता है उसी प्रकार रंगभूमि में बंधतत्त्व का स्वांग प्रवेश करता है ।

प्रथम ही सब तत्त्वों को यथार्थ जानने वाला सम्यग्ज्ञान बंध को दूर करता हुआ प्रकट होता है उस अर्थ का मंगलरूप काव्य कहते हैं—**रागोद्गार** । इत्यादि । **अर्थ**—जो बंध राग के उद्गाररूप महारस (मदिरा) से समस्त जगत को प्रमत्त (मतवाला) करके रसपूर्ण महान् नाटक करता हुआ क्रीड़ा करता है । ज्ञान उस बंध को दूर करता हुआ उदय को प्राप्त होता है । वह ज्ञान सदाकाल आनन्दरूपी अमृत का भोजन करने वाला है । अपनी सहज अवस्था—जाननरूप क्रिया को करता हुआ नाट्य कराता है । वह ज्ञान धीर है, उदार है, अनाकुल है और निरुपाधि है ।

भावार्थ—बंधतत्त्व रंगभूमि में प्रवेश करता है उसको ज्ञान उड़ाके आप प्रकट हो नृत्य करेगा उसकी महिमा इस काव्य में प्रकट की है । ऐसा अनंत ज्ञानस्वरूप आत्मा सदा प्रकट रहो ॥ १६३ ॥

---

१. रागशब्द उपलक्षणं तेन द्वेषमोहादीनामपि ग्रहणं तस्य उद्गार आधिक्यं स एव महारस उन्मादकरसः तेन रागोद्गारमहारसेन ।
२. वेपयत् ।

उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किं पच्चयगो दुरयवंधो ॥ २३९ ॥
जो सो दु णेहभावो तह्मि णरे तेण तस्स रयवंधो ।
णिच्छयदो विरणेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥ २४० ॥
एवं मिच्छादिट्ठी वट्टन्तो वहुविहासु चिट्ठासु ।
रायाई उवओगे कुव्वंतो लिप्पइ रयेण ॥२४१॥ (पंचकम्)

यथा नाम कोऽपि पुरुषः स्नेहाभ्यक्तस्तु रेणुबहुले ।
स्थाने स्थित्वा च करोति शस्त्रैर्व्यायामं ॥२३७॥
छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिंडीः ।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातं ॥२३८॥
उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः ।
निश्चयतश्चिंत्यतां किंप्रत्ययिकस्तु तस्य रजोबंधः ॥२३९॥

बहिरंगद्रव्यहिंसा भवतु मा भवतु, निश्चयेन हिंसाध्यवसाय एव हिंसेति प्रतिपादनरूपेण **जो मरदि** इत्यादि गाथाषट्कं । अथानंतरं निश्चयरत्नत्रयलक्षणं यद् भेदविज्ञानं तस्माद्विलक्षणानि यानि व्रताव्रतानि तद्व्याख्यानमुख्यत्वेन **एवमलिए** इत्यादि सूत्रभूतगाथाद्वयं । तदनंतरं तस्यैव भावपुण्यपापरूपव्रताव्रतस्य शुभाशुभबंधकारणभूतस्य परिणामव्याख्यानमुख्यत्वेन **वत्थुं पडुच्च** इत्यादि गाथात्रयोदश । एवं समुदायेन पंचदश । तदनंतरं निश्चये स्थित्वा व्यवहारो निषेध्यत इति कथनरूपेण **ववहारणओ** इत्यादि सूत्रषट्कं । अतः परं रागद्वेषरहितज्ञानिनां प्राशुकान्नपानाद्याहारो बंधकारणं न भवति इति पिंडशुद्धिव्याख्यानरूपेण **आधाकम्मादीया** इत्यादि सूत्रचतुष्टयं । तदनंतरं क्रोधादिकषायाः कर्मबंधनिमित्तं भवंति तेषां च चेतनाचेतनबहिर्द्रव्यं निमित्तं भवतीति प्रतिपादनरूपेण **जह फलिहमणि विसुद्धो** इत्यादि सूत्रपंचकं । तदनंतरमप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च बंधकारणं भवति न पुनः शुद्धात्मेति व्याख्यानमुख्यत्वेन **अप्पडिकमणं**

आगे बंध तत्त्व का स्वरूप विचारते हैं। वहां प्रथम बंध के कारण को प्रकट करते हैं;—

[यथा नाम] जैसे **[कोपि पुरुषः]** कोई पुरुष **[स्नेहाभ्यक्तः तु]** अपनी देह में तैलादि लगाकर **[रेणुबहुले]** बहुत धूली वाली **[स्थाने]** जगह में **[स्थित्वा च]** स्थित होकर **[शस्त्रैः व्यायामं]** हथियारों से व्यायाम **[करोति]** करता है वहां **[तालीतलकदलीवंशपिंडीः]** ताड़ वृक्ष केले का वृक्ष तथा बांस के पिंड इत्यादिकों को **[छिनत्ति]** छेदता है **[च भिनत्ति]** भेदता है **[तथा]** और **[सचित्ताचित्तानां]** सचित्त व अचित्त **[द्रव्याणां]** द्रव्यों का **[उपघातं]** उपघात **[करोति]** करता है। इस प्रकार **[नानाविधैः करणैः]** नाना प्रकार के करणों से **[उपघातं कुर्वतः]** उपघात करने वाले **[तस्य]**

यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबंधः ।
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥२४०॥
एवं मिथ्यादृष्टिर्वर्तमानो बहुविधासु चेष्टासु ।
रागादीनुपयोगे कुर्वाणो लिप्यते रजसा ॥२४१॥

इह खलु यथा कश्चित् पुरुषः स्नेहाभ्यक्तः स्वभावत एव रजोबहुलायां भूमौ स्थितः शस्त्रव्यायामकर्म कुर्वाणः, अनेकप्रकारकरणैः सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् रजसा बध्यते । तस्य कतमो बंधहेतुः ? न तावत्स्वभावत एव रजोबहुला भूमिः, स्नेहानभ्यक्तानामपि तत्रस्थानां तत्प्रसंगात् । न शस्त्रव्यायामकर्म, स्नेहानभ्यक्तानामपि तस्मात् तत्प्रसंगात् । नानेकप्रकारकरणानि, स्नेहानभि-

---

इत्यादि गाथात्रयं चेति समुदायेन षट्पंचाशद्गाथाभिरष्टांतराधिकारैः बंधाधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा—बहिरात्मजीवसंबंधिनो बंधकारणभूतस्य शृङ्गाररसहितपात्रस्थानीयस्य मिथ्याज्ञानस्य नाटकरूपेण प्रविशत. सतः शांतरसपरिणतं वीतरागसम्यक्त्वाविनाभूतं भेदज्ञानं प्रतिषेधं करोतीति उपदिशति;—**जह णाम कोवि पुरुसो** इत्यादि व्याख्यान क्रियते—यथानाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुषः स्नेहाभ्यक्तः सन् रजोबहुलस्थाने स्थित्वा शस्त्रैर्व्यायाममभ्यासं श्रमं करोति इति प्रथमगाथा गता । छिनत्ति भिनत्ति च तथा । कान् ? तालतमालकदलीवंशाशोकसंज्ञान् वृक्षविशेषान् तत्संबंधिसचित्ताचित्तद्रव्याणामुपघातं च करोति इति द्वितीयगाथा गता । उपघातं कुर्वाणस्य तस्य नानाविधैर्वैशाखस्थानादिकरणविशेषैर्निश्चयतश्चित्यतां विचार्यतां किं प्रत्ययकः किंनिमित्तकः तस्य रजोबंधः ? इतिपूर्वपक्षरूपेण गाथात्रयं गतं । अत्रोत्तरं—यः स्नेहभावस्तस्मिन्नरे स पूर्वोक्तस्तैलाभ्यंगरूपः तेन तस्य रजोबंध इति निश्चयतो विज्ञेयं न कायादिव्यापारचेष्टाभिः शेषाभिरित्युत्तरगाथा । एवं सूत्रचतुष्टयेन प्रश्नोत्तररूपेण दृष्टांतो गतः । अथ दार्ष्टान्तिमाह—**एवं मिच्छादिट्ठी वट्टन्तो बहु-**

उस पुरुष के **[खलु निश्चयतः]** निश्चय से **[चिंत्यतां]** विचारो कि **[रजोबंधः तु]** रज का बंध **[किंप्रत्ययिकः]** किस कारण से हुआ है ? **[यः तु]** जो **[तस्मिन् नरे]** उस मनुष्य में **[सस्नेहभावः]** तेल आदि का सचिक्कण भाव है **[तेन]** उससे **[तस्य रजोबंधः]** उसके रज का बंध लगता है **[निश्चयतः विज्ञेयं]** यह निश्चय से जानना । **[शेषाभिः कायचेष्टाभिः]** शेष काय की चेष्टाओं से **[न]** रज का बंध नहीं है **[एवं]** इस प्रकार **[मिथ्यादृष्टिः]** मिथ्यादृष्टि जीव **[बहुविधासु चेष्टासु]** बहुत प्रकार की चेष्टाओं में **[वर्तमानः]** वर्तमान है वह **[उपयोगे]** अपने उपयोग में **[रागादीन् कुर्वाणः]** रागादि भावों को करता हुआ **[रजसा]** कर्मरूप रज से **[लिप्यते]** लिप्त होता है बंधता है ।

टीका—इस लोक में निश्चय से जैसे कोई पुरुष स्नेह (तैल) आदिक से मर्दनयुक्त हुआ स्वभाव से ही बहुत रज वाली भूमि में स्थित हुआ शस्त्रों का अभ्यास करता हुआ अनेक प्रकार के कारणों से सचित्त अचित्त वस्तुओं को काटता हुआ उस भूमि की रजसे लिप्त होता है । उसका विचार किया जाय कि बंध का कारण इनमें कौन है ? वहां प्रथम तो स्वभाव से ही जिसमें बहुत रज है ऐसी भूमि रज के बंध का कारण नहीं है । यदि भूमि ही कारण हो तो जिनके तैल आदिक नहीं लगा और

व्यक्तानामपि तैस्तत्प्रसंगात्। न सचित्ताचित्तवस्तूपघातः, स्नेहानभिव्यक्तानामपि तस्मिंस्तत्प्रसंगात्। ततो न्यायबलेनैवैतदायातं यत्तस्मिन् पुरुषे स्नेहाभ्यंगकरणं स बंधहेतुः। एवं मिथ्यादृष्टिरात्मनि रागादीन् कुर्वाणः स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके कायवाङ्मनःकर्म कुर्वाणोऽनेकप्रकारकरणैः सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् कर्मरजसा बध्यते। तस्य कतमो बंधहेतुः ? न तावत्स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुलो लोकः, सिद्धानामपि तत्रस्थानां तत्प्रसंगात्। न कायवाङ्मनःकर्म, यथाख्यातसंयतानामपि तत्प्रसंगात्। नानेकप्रकारकरणानि, केवलज्ञानिनामपि तत्प्रसंगात्। न सचित्ताचित्तवस्तूपघातः समितितत्पराणामपि तत्प्रसंगात्। ततो न्यायबलेनैतदेवायातं यदुपयोगे रागादिकरणं स बंधहेतुः ॥२३७।२३८।२३९।२४०।२४१॥

विहासु चेट्ठासु एवं पूर्वोक्तदृष्टांतेन मिथ्यादृष्टिर्जीवः विविधासु कायादिव्यापारचेष्टासु वर्तमानः **रागादी उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रयेण** शुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामभावात् मिथ्यात्वरागाद्युपयोगान् परिणामान् कुर्वाणः सन् कर्मरजसा लिप्यते बध्यत इत्यर्थः। एवं यथा तैलम्रक्षितस्य रजोबंधो भवति तथा मिथ्यात्वरागादिपरिणतस्य जीवस्य कर्मबंधो भवति इति बंधकारणतात्पर्यकथनरूपेण सूत्रपंचकं गतं ॥२३७।२३८।२३९। २४०।२४१॥ अथ गाथापंचकेन वीतरागसम्यग्दृष्टेर्बंधाभावं दर्शयति;—यथा स एव पूर्वोक्तो नरः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते

भूमि पर ठहरते हैं उनके भी रज का बंध लगना चाहिये शस्त्रों का अभ्यास करना भी उस रज के बंध लगने को कारण नहीं है। यदि शस्त्रों का अभ्यास बंधने का कारण हो तो जिनके तैल आदि नहीं लगा उनके भी उस शस्त्राभ्यास के करने से रज का बंध लग जाय और भी अनेक प्रकार के करण उस रज के बंधने को कारण नहीं है यदि ऐसा हो तो जिनके तेल आदि नहीं लगा उनके भी उन करणों द्वारा रज का बंध लगना चहिये। तथा सचित्त अचित्त वस्तुओं का उपघात भी उस रजके लगने को कारण नहीं है यदि ऐसा हो तो जिनके तेल आदि नहीं लगा उनके भी सचित्त अचित्त का घात करने से रजका बंध लगना चाहिये। इसलिये न्याय के बल से यह सिद्ध हुआ कि उस पुरुष में जो तेल आदि सचिक्कन का मर्दन करना है वही बंध का कारण है। ऐसे ही मिथ्यादृष्टि जीव अपने आत्मा में राग आदि भावों को करता हुआ स्वभाव से ही कर्म के योग्य जो पुद्गल उनसे भरे हुए लोक में काय वचन मन की क्रिया को करता हुआ अनेक प्रकार के करणों द्वारा सचित्त अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ कर्मरूप रजसे बंधता है। वहां विचारा जाय कि बंध का कारण कौन है ? वहां प्रथम तो स्वभाव से ही कर्म योग्य पुद्गलों से बहुत भरा हुआ लोक बंध का कारण नहीं है, यदि उनसे बंध हो तो लोक में सिद्धों को भी बंध का प्रसंग आयेगा। काय वचन मन की क्रियास्वरूप योग भी बंध के कारण नहीं हैं, यदि उनसे बंध हो तो मन वचन काय की क्रिया वाले यथाख्यात संयमियों के भी बंध का प्रसंग प्राप्त होगा। अनेक प्रकार के करण भी बंध के कारण नहीं हैं, यदि उनसे बंध हो तो केवल ज्ञानियों के भी उन करणों के कारण बंध का प्रसंग आयेगा। तथा सचित्त-अचित्त वस्तुओं का उपघात भी बंध का कारण नहीं है, यदि उनसे बंध हो तो जो

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा न
नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत् ।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बंधहेतुर्नृणां ॥१६४॥

सति धूलिबहुलस्थाने स्थित्वा शस्त्रैर्व्यायाममभ्यासं श्रमं करोतीति प्रथमगाथा गता। छिनत्ति भिनत्ति च तथा, कान् ? तालतमालकदलीवंशपिंडीसंज्ञान् वृक्षविशेषान्। तत्संबंधिसचित्ताचित्तद्रव्याणामुपघातं च करोति इति द्वितीयगाथा गता। उपघातं कुर्वाणस्य तस्य नानाविधैर्बेशावस्थानादिकरणविशेषैः, निश्चयतश्चिंत्यतां विचार्यतां किंप्रत्ययकः किंनिमित्तकः तस्य रजोबंधो न भवति। एवं प्रश्नरूपेण गाथात्रयं गतं। अत्रोत्तरं—यः स्नेहभावस्तस्मिन्नरे स पूर्वोक्तस्तैलाभ्यंगरूपः तेन स तस्य रजोबंधः, इति निश्चयतो विज्ञेयं। न कायादिव्यापारचेष्टाभिः शेषाभिः, तदभावात् तस्य बंधो नास्तीत्यभिप्रायः, इत्युत्तरगाथा गता। एवं सूत्रचतुष्टयेन प्रश्नोत्तररूपेण दृष्टांतो गतः। अथ दार्ष्टान्तमाह;— **एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु** एवं पूर्वोक्तदृष्टांतेन सम्यग्दृष्टिर्जीवः विविधयोगेषु नाना प्रकारमनोवचनकायव्यापारेषु वर्तमानः। **अकरंतो उवओगे रागादी** निर्मलात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां

साधु समिति में तत्पर हैं यत्नरूप प्रवृत्ति करते हैं उनके भी सचित्त अचित्त के घात से बंध का प्रसंग आयेगा। इसलिये न्याय के बल से यही सिद्ध हुआ कि उपयोग में रागादिक का करना बंध का कारण है।

भावार्थ—यहां निश्चयनय प्रधान करके कथन है। जहां निर्बाध हेतु से सिद्धि हो वही निश्चय है। बंधका कारण विचारने से यह निर्बाध सिद्ध हुआ कि मिथ्यादृष्टि पुरुष राग द्वेष मोह भावों को अपने उपयोग में करता है इसलिये ये रागादिक ही बंध के कारण हैं। तथा अन्य जो कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा लोक, मन वचन काय के योग, अनेक करण और चेतन अचेतन का घात ये बंध के कारण नहीं हैं। यदि इनसे बंध हो तो सिद्धों के, यथाख्यात चारित्र वालों के, केवल ज्ञानियों के तथा समितिरूप प्रवंतने वाले मुनियों के बंध का प्रसंग आजायगा; परंतु उनके बंध नहीं होता। इसलिये यह हेतु व्यभिचारी हुआ, इसलिये बंध का कारण रागादिक ही हैं यह निश्चय है। यहां समितिरूप प्रवर्तने वाले मुनिका नाम तो कहा और अविरत देशविरत का नाम ही न लिया। सो इनके बाह्यसमितिरूप प्रवृत्ति नहीं है इसलिये चारित्रमोह संबंधी किंचित् बंध होता है इस कारण सर्वथा बंध के अभाव की अपेक्षा में इनका नाम नहीं लिया, अंतरंग अपेक्षा ये भी निर्बंध ही जानने ॥२३७।२३८।२३९।२४०।२४१॥

आगे इस अर्थ का कलश कहते हैं—**न कर्म** इत्यादि। **अर्थ**—कर्म बंध का कारण कर्मयोग्य पुद्गलों से बहुत भरा लोक नहीं है, चलने स्वरूप काय वचन मन की क्रियारूप योग भी कारण नहीं हैं, अनेक प्रकार के करण भी कारण नहीं है और चेतन अचेतन का घात भी कारण नहीं है। परंतु आत्मा जब रागादिभावों के साथ एकता को प्राप्त होता है सो ही एक पुरुषों के बंध का कारण हैं।

भावार्थ—यहां निश्चय से एक रागादिक को ही बंधका कारण कहा है ॥१६४॥

जह पुण सो चेव णरो णेहे सव्वह्मि अवणिये संते ।
रेणुबहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहिं वायामं ॥२४२॥
छिंददि भिंददि य यहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥२४३॥
उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतिज्जहु किंपच्चयगो ण रयबंधो ॥२४४॥
जो सो अणेहभावो तह्मि णरे तेण तस्सऽरयबंधो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥२४५॥
एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु ।
अकरंतो उवओगे रागाइ ण लिप्पइ रयेण ॥२४६॥(पंचकम्)

यथा पुनः स चैव नरः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति ।
रेणबहुले स्थाने करोति शस्त्रैर्व्यायामं ॥२४२॥
छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिंडीः ।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातं ॥२४३॥

सद्भावात् रागाद्युपयोगान् परिणामानकुर्वाणः सन् णेव बज्झदि रयेण कर्मरजसा न बध्यते। एवं तैलम्रक्षणाभावे

आगे सम्यग्दृष्टि, उपयोग में रागादिकों को नहीं करता अर्थात् उपयोग के और रागादिक के आपस में भेद जान रागादिक का स्वामी नहीं होता इसलिये उसके पूर्वोक्त चेष्टा से बंध नहीं होता ऐसा कहते हैं,—[यथा] जैसे [पुनः स चैव] फिर वही [नरः] मनुष्य [सर्वस्मिन् स्नेहे अपनीते] तैलादिक सब चिकनी बस्तु को दूर करके [रेणुबहुले] बहुत रजवाले [स्थाने] स्थान में [शस्त्रैः व्यायामं करोति] शस्त्रों का अभ्यास करता है, [तालीतलकदलीवंशपिंडीः] तालवृक्ष की जड़ को केले के वृक्षको तथा वांस के बिड़े को [छिनत्ति च भिनत्ति] छेदन भेदन करता है [तथा] और [सचित्ताचित्तानां] सचित्त अचित्त [द्रव्याणां] द्रव्यों का [उपघातं करोति] उपघात करता हैं। [उपघातं कुर्वतः तस्य] वहां उपघात करने वाले उसके [नानाविधैः करणैः] नानाप्रकार के करणों से [निश्चयतः] निश्चय से [विज्ञेयं] जानना कि [रजोबंधः] रज का बंध [किंप्रत्ययिको न] किस कारण से नहीं होता [तस्मिन् नरे] उस पुरुष के [यः] जो [स स्नेहभावः] चिकनता है [तेन] उससे [तस्य] उसके [रजोबंधः] रज का बंधना [निश्चयतः] निश्चय से [विज्ञेयं] जानना चाहिये [शेषाभिः कायचेष्टाभिः] शेष काय

उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः
निश्चयतश्चिंत्यतां किंप्रत्ययिको न रजोबंधः ॥२४४॥
यः सोऽस्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्यारजोबंधः ।
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥२४५॥
एवं सम्यग्दृष्टिर्वर्तमानो बहुविधेषु योगेषु ।
अकुर्वन्नुपयोगे रागादीन् न लिप्यते रजसा ॥२४६॥

यथा स एव पुरुषः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति तस्यामेव स्वभावत एव रजोबहुलायां भूमौ तदेव शस्त्रव्यायामकर्म कुर्वाणस्तैरेवानेकप्रकारकरणैस्तान्येव सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् रजसा न बध्यते स्नेहाभ्यंगस्य बंधहेतोरभावात् । तथा सम्यग्दृष्टिः, आत्मनि रागादीनकुर्वाणः सन् तस्मिन्नेव स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके तदेव कायवाङ्मनःकर्म कुर्वाणः, तैरेवानेकप्रकारकरणैः, तान्येव सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् कर्मरजसा न बध्यते रागयोगस्य बंधहेतोरभावात् ॥ २४२। २४३। २४४। २४५। २४६ ॥

यथा रजोबंधो न भवति तथा वीतरागसम्यग्दृष्टेर्जीवस्य रागाद्यभावाद् बंधो न भवति, इति बंधाभावकारणतात्पर्यकथनरूपेण गाथापंचकं गतं । किं च यथात्र पातनिकायां भणितं, संज्ञानिजीवस्य शांतरसे स्वामित्वमज्ञानिनस्तु शृङ्गाराद्यष्टरसानां स्वामित्वं, तथाध्यात्मविषये नाटकावतारप्रस्तावे नवरसानां स्वामित्वं ज्ञातव्यं । इति सूत्रदशकसमुदायेन प्रथमस्थलं गतं ॥२४२। २४३। २४४। २४५। २४६ ॥ अथ वीतरागस्वस्वभावं मुक्त्वा हिंस्यहिंसकभावेन परिणमनमज्ञानिजीव-

का भी चेष्टाओं से [न] रज का बंध नहीं होता [एवं] इस प्रकार [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [बहुविधेषु] बहुत तरह के [योगेषु] योगों में [वर्तमानः] वर्तमान है वह [उपयोगे] उपयोग में [रागादीन्] रागादिकों को [अकुर्वन्] नहीं करता इसलिये [रजसा] कर्म रज से [न लिप्यते] लिप्त नहीं होता

टीका—जैसे वही पुरुष तैलादिक की सब चिकनाई को दूर करके स्वभाव से ही बहुत रज वाली भूमि में उन्हीं शस्त्रों से अभ्यास करता हुआ उन्हीं अनेक तरह के करणों से उन्हीं सचित्त अचित्त वस्तुओं को तोड़ता हुआ रज से लिप्त नहीं होता क्योंकि इसके बंध का हेतु चिकनाई के लेप का अभाव है उसी तरह सम्यग्दृष्टि आत्मा में रागादिक को नहीं करता स्वभाव से ही कर्मयोग्य पुद्गलों से भरे उसी लोक में उसी काय वचन मन की क्रिया को करता हुआ उन्हीं अनेक प्रकार के करणों से उन्हीं सचित्त अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ कर्मरूप रज से नहीं बंधता। क्योंकि इसके बंध का कारण राग के योग का अभाव है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त सब संबंध होने पर भी राग के संबंध का अभाव है इसलिये कर्मबंध नहीं होता। इसका समर्थन पहले कह आये हैं ॥२४२।२४३।२४४।२४५।२४६॥

लोकः कर्म ततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन् करणानि संतु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत् ।
रागादीनुपयोगभूमिमनयन्[1] ज्ञानं भवन्[2] केवलं
बंधं नैव कुतोप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा [3]ध्रुवम् ॥ १६५ ॥
तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः ।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥ १६६ ॥

लक्षणं । तद्विपरीतं संज्ञानिलक्षणमिति प्रज्ञापयति;—**जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं**

अब इस अर्थ का कलश कहते हैं—**लोकः कर्म** इत्यादि । **अर्थ**—इस कारण कर्मों कर भरा हुआ लोक हो, मन वचन काय के चलनस्वरूप योग भी रहो, पूर्वोक्त करण भी होवें, और पूर्वकथित चैतन्य अचैतन्य का घात करना रहो परन्तु यह सम्यग्दृष्टि रागादिकों को उपयोग भूमि में नहीं करता केवल एक ज्ञानरूप होता है इसलिये पूर्वोक्त किसी भी कारण से बंध को प्राप्त नहीं होता यह निश्चल सम्यग्दृष्टि है । अहो देखो ! यह सम्यग्दर्शन की अद्भुत महिमा है ।

भावार्थ—यहां सम्यग्दृष्टि का अद्भुत माहात्म्य कहा है लोक, योग, करण चेतन अचेतन का घात—ये बंध के कारण नहीं कहे हैं । यहां ऐसा मत समझना कि परजीव की हिंसा से बंध नहीं कहा इसलिये स्वच्छन्द होकर हिंसा करनी । यहां तो अबुद्धिपूर्वक कभी परजीव का घात भी हो जाता है उससे बंध नहीं होता । और जहां पर बुद्धिपूर्वक जीव मारने के भाव होंगे वहां तो अपने उपयोग से रागादिक का सद्भाव आयेगा वहां हिंसा से बंध होगा ही । जिस जगह जीव को जिवाने का अभिप्राय है उसको भी निश्चयनय में मिथ्यात्व कहते हैं तो मारने का अभिप्राय मिथ्यात्व होगा ही । इसलिये कथन को नय विभाग से यथार्थ समझ श्रद्धान करना । सर्वथा एकांत मानना तो मिथ्यात्व है ॥ १६५ ॥

अब इसी अर्थ के दृढ़ करने को व्यवहारनय की प्रवृत्ति करने के लिए काव्य कहते हैं—**तथापि** इत्यादि । **अर्थ**—तथापि अर्थात् लोक आदि कारणों से बंध नहीं कहा और रागादिक से ही बंध कहा है तो भी ज्ञानियों को अमर्याद होकर स्वच्छंद प्रवर्तन करना योग्य नहीं कहा, क्योंकि निरर्गल (स्वच्छंद) प्रवर्तना ही बंध का ठिकाना है ज्ञानियों के बिना वांछा कार्य होता है वह बंध का कारण नहीं कहा क्योंकि जानता भी है और कर्म को करता भी है ये दोनों क्रियायें निश्चय से विरोध रूप ही हैं ।

भावार्थ—पहले काव्य में लोक आदि बंध के कारण नहीं कहे उस जगह ऐसा नहीं समझना कि बाह्य व्यवहार प्रवृत्ति बंध के कारणों में सर्वथा ही निषेध की गई है । ज्ञानियों की जो अबुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति होती है वहां बंध नहीं कहा । इसलिए ज्ञानियों को स्वच्छंद प्रवर्तना तो कहा ही नहीं है, अमर्याद

---

१. 'अनयत्' इत्यपिपाठः । २. 'भवत्' इत्यपिपाठः । ३. 'ध्रुवः' इत्यपिपाठः ।

जानाति यः स न करोति करोति यस्तु जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहुर्मिथ्यादृशः स नियतं स हि (च) बंधहेतुः ॥१६७॥

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २४७ ॥

यो मन्यते हिनस्मि च हिंस्ये च परैः सत्त्वः ।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥ २४७ ॥

परजीवानहं हिनस्मि परजीवैर्हिंस्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः। यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात्सम्यग्दृष्टिः ॥ २४७ ॥

सो मूढो अण्णाणी यो मन्यते जीवानहं हिनस्मि परैः सत्त्वैरहं हिंस्ये इति च योसौ परिणामः स निश्चितमज्ञानः स

प्रवर्तन करना तो बंध का ही ठिकाना है। जानने में और करने में परस्पर विरोध है। ज्ञाता रहेगा तब तो बंध न होगा यदि कर्ता होगा तो अवश्य बंध होगा ॥ १६६ ॥

अब कहते हैं कि जो जानता है वह करता नहीं है और जो करता है वह जानता नहीं है। जो करना है कि वह कर्म का राग है वही अज्ञान है और अज्ञान ही बंध का कारण है। ऐसा काव्य कहते हैं—**जानाति** इत्यादि। **अर्थ**—जो जानता है वह कर्ता नहीं है और जो करता है वह जानता नहीं है। जो करना है वह निश्चय से कर्म राग है जो राग है उसे मुनि अज्ञानमय अध्यवसाय कहते हैं। यही अध्यवसाय नियम से बंध का कारण है ॥ १६७ ॥

अब मिथ्यादृष्टि के आशय को गाथा में कहते हैं;—**[यः]** जो पुरुष **[मन्यते]** ऐसा मानता है कि **[हिनस्मि]** मैं पर जीव को मारता हूं **[च]** और **[परैः सत्त्वैः]** परजीवों द्वारा मैं **[हिंस्ये]** मारा जाता हूं **[स]** वह पुरुष **[मूढः]** मोही है **[अज्ञानी]** अज्ञानी है **[तु अतः]** और जो इससे **[विपरीतः]** विपरीत **[ज्ञानी]** है वह ज्ञानी है।

टीका—मैं परजीवों को मारता हूं और परजीवों द्वारा मैं मारा जा रहा हूं ऐसा आशय निश्चय से अज्ञान है। ऐसा जिसके अध्यवसाय है वह अज्ञानी है इस अज्ञानीपने से ही मिथ्यादृष्टि है। और जिसके ऐसा आशयरूप अज्ञान नहीं है वह ज्ञानीपने से सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ—जिस जीव के ऐसा आशय है कि परजीव को मैं मारता हूं और पर जीव मुझे मारते हैं वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है और जिसके यह आशय नहीं है वह ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है। निश्चयनय से कर्ता का स्वरूप यह है कि आप स्वाधीन जिस भावरूप परिणमे उसको उस भाव का कर्ता कहते हैं, परमार्थ से कोई किसी का मरण नहीं कर सकता। जो पर द्वारा परका मरण मानता है वह अज्ञानी है। निमित्तनैमित्तिक भाव से कर्ता कहना व्यवहारनय का वचन है उसे यथार्थ मानना सम्यग्ज्ञान है ॥ २४७ ॥

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानं ? इति चेत्—

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसिं ॥ २४८ ॥
[1]आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं न हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेहिं ॥ २४९ ॥ (युग्मम्)

आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं ।
आयुर्न हरसि त्वं कथं त्वया मरणं कृतं तेषां ॥ २४८ ॥
आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं ।
आयुर्न हरंति तव कथं ते मरणं कृतं तैः ॥ २४९ ॥

मरणं हि तावज्जीवानां स्वायुःकर्मक्षयेणैव तदभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात् स्वायुःकर्म च नान्येनान्यस्य हर्तुं शक्यं तस्य स्वोपभोगेनैव क्षीयमाणत्वात्। ततो न कथंचनापि, अन्योऽन्यस्य मरणं कुर्यात्। ततो हिनस्मि हिंस्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं ॥ २४८॥ २४९ ॥

एव बंधहेतुः, स परिणामो यस्यास्ति स चाज्ञानी । णाणी एत्तो दु विवरीदो एतस्माद्विपरीतो यो जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखशत्रुमित्रनिंदाप्रशंसादिविकल्पविषये रागद्वेषरहितशुद्धात्मभावनासंजातपरमानन्दसुखास्वादरूपे वा भेदज्ञाने

आगे पूछते है कि यह अध्यवसान क्यों है ? उसका उत्तररूप गाथा कहते हैं:—[जीवानां] जीवों के [मरणं] मरण है वह [आयुःक्षयेण] आयुकर्मके क्षय से होता है ऐसा [जिनवरैः] जिनेश्वर देव ने [प्रज्ञप्तम्] कहा है सो हे भाई तू मानता है कि मैं परजीव को मारता हूँ यह अज्ञान है क्योंकि [तेषां] उन परजीवों का [आयुः] आयुकर्म [त्वं न हरसि] तू नही हरता [त्वया] तो तूने [मरणं] उनका मरण [कथं कृतं] कैसे किया ? । तथा [जीवानां] जीवों का [मरणं] मरण [आयुःक्षयेण] आयु कर्म के क्षय से होता है ऐसा [जिनवरैः] जिनेश्वरदेव ने [प्रज्ञप्तं] कहा है परतु हे भाई तू ऐसा मानता है कि मैं परजीवों से मारा जाता हूँ यह मानना तेरा अज्ञान है क्योंकि परजीव [तव] तेरा [आयुः] आयु कर्म [न हरंति] नही हरते इसलिये [तैः] उन्होंने [ते मरणं] तेरा मरण [कथं कृतं] कैसे किया ।

टीका—निश्चय से जीव के मरण अपने आयु कर्म के क्षय से ही होता है, यदि आयु का क्षय न हो तो कोई उसके मारने को समर्थ नहीं हो सकता, अपना आयु कर्म अन्य द्वारा नहीं हरा जा सकता, आयु कर्म तो अपने उपभोग से ही क्षय को प्राप्त होता है इसलिये अन्य अन्य का मरण किसी प्रकार भी नही कर सकता । इसलिए जो ऐसा मानता है (अभिप्राय करता है) कि मैं परजीव को मारता हूं तथा परजीव मुझे मारते हैं ऐसा अध्यवसाय निश्चय से अज्ञान है ।

---

१. तात्पर्यवृत्तौ नेयं गाथा, आत्मख्यातावेव तत एव नैतस्यास्तात्पर्यवृत्तिटीका ।

जीवनाध्यवसायस्य तद्विपक्षस्य का वार्ता ? इति चेत्—

'जो मरणदि जीवेमि य जीविज्जामि यः परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अरणाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २५० ॥

यो मन्यते जीवयामि च जीव्ये चापरैः सत्त्वैः ।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥ २५० ॥

परजीवानहं जीवयामि परजीवैर्जीव्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः । यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात् सम्यग्दृष्टिः ॥ २५० ॥

रतः स ज्ञानीत्यर्थः ॥ २४७ ॥ अथ कथमयमध्यवसायः पुनरज्ञान ? इति चेत्.—**आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं** आयुःक्षयेण मरण जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं कथित । **आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं** तेषामायुःकर्म च न हरसि त्व तस्यायुषः स्वोपभोगेनैव क्षीयमाणत्वात् कथ ते त्वया तेषा मरण कृत-

---

भावार्थ—जो जीव की मान्यता हो परन्तु उस रूप कार्य न हो वही अज्ञान है । अपना मरण भी पर द्वारा किया हुआ नही होता और आप द्वारा पर का मरण नही होता, परन्तु जो यह प्राणी ऐसा मानता है यही अज्ञान है । यह कथन निश्चय की प्रधानता मे कहा है । तथा निमित्तनैमित्तिक भाव से जो पर्याय का उत्पाद और व्यय हो उसे जन्म मरण कहते है । वहां जिसके निमित्त से ऐसा हो उसे कहते हैं कि इसने इसको मारा । यह कहना व्यवहार है । यहां ऐसा नही समझना कि व्यवहार का सर्वथा निषेध है । जो निश्चय को नहीं जानते उनके अज्ञान मेंटने को कहा है इसको जानने के वाद दोनों नयों के अविरोध को जान यथायोग्य नय मानना ॥ २४८ ॥ २४९ ॥

फिर पूछते हैं कि मरण के अध्यवसाय को जो अज्ञान कहा वह तो जान लिया परन्तु उस मरण का प्रतिपक्षी जो जीने का अध्यवसाय उसकी क्या वात है । इसका उत्तर कहते है,—**[यः]** जो जीव **[मन्यते]** ऐसा मानता है कि **[जीवयामि]** मै परजीवों को जीवित करता हूं **[च]** और **[परैः सत्त्वैः च]** परजीव भी मुझे **[जीव्ये]** जीवित करते हैं **[स मूढः]** वह मूढ है **[अज्ञानी]** अज्ञानी है **[तु]** परन्तु **[ज्ञानी]** ज्ञानी **[अतः]** इससे **[विपरीतः]** विपरीत है, ऐसा नही मानता ।

टीका—परजीवों को मैं जिलाता हूँ और परजीव मुझे जिलाते है ऐसा आशय निश्चय से अज्ञान है जिसके यह आशय हो वह जीव अज्ञानीपन से मिथ्यादृष्टि है और जिसके ऐसा अध्यवसाय नहीं है वह ज्ञानीपने से सम्यग्दृष्टि है ।

भावार्थ—जो ऐसा मानता है कि मुझे पर जीव जिलाते हैं और मैं परजीव को जिलाता हूँ यह अज्ञान है । जिसके यह अज्ञान है वह मिथ्यादृष्टि है, ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है ॥२५०॥

---

१. इयमपि गाथा तात्पर्यवृत्तौ नास्ति ।

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत् ?—

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीवियं कयं तेसिं ॥२५१॥
'आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीवियं कयं तेहिं ॥२५२॥ (युग्मम्)

आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः ।
आयुश्च न ददासि त्वं कथं त्वया जीवितं कृतं तेषां ॥२५१॥
आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणंति सर्वज्ञाः ।
आयुश्च न ददाति तुभ्यं कथं नु ते जीवितं कृतं तैः ॥२५२॥

जीवितं हि तावज्जीवानां स्वायुःकर्मोदयेनैव, तदभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात् । आयुःकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं तस्य स्वपरिणामेनैव उपार्ज्यमाणत्वात् । ततो न कथंचनापि अन्योऽन्यस्य जीवितं कुर्यात् । अतो जीवयामि जीव्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं ॥२५१।२५२॥

मिति ॥२४८।२४९।२५०॥ आउउदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू आयुरुदयेन जीवति जीव

आगे पूछते हैं कि यह जिलाने का अध्यवसाय अज्ञान क्यों है ? उसका उत्तर कहते हैं;—[जीवः] जीव [आयुरुदयेन] अपनी आयु के उदय से [जीवति] जीता है [एवं] ऐसा [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञ देव [भणंति] कहते हैं सो हे भाई [त्वं] तू [आयुः च] पर जीव को आयु कर्म [न ददासि] नहीं देता तो [त्वया] तूने [तेषां] उन पर जीवों का [जीवितं] जीवित [कथं कृतं] कैसे किया ? [च] और [जीवः] जीव [आयुरुदयेन] आपने आयु कर्म के उदय से [जीवति] जीता है [एवं] ऐसा [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञ देव [भणंति] कहते हैं सो हे भाई पर जीव [तव आयुः] तुझे आयु कर्म [न ददाति] नहीं देता [नु] तो [तैः] उन्होंने [तव जीवितं] तेरा जीवन [कथं कृतं] कैसे किया ?

टीका—जीवों का जीवित रहना अपने आयु कर्म के उदय से ही है । जो आयु के उदय का अभाव हो तो उसका जीवित होना अशक्य है । तथा अपना आयुकर्म कोई दूसरे को नहीं दे सकता उस आयु कर्म का अपने परिणामों से ही उपजना है इसलिये दूसरा दूसरे का जीवन किसी तरह भी नहीं कर सकता । इस कारण मैं पर को जिलाता हूं तथा पर मुझे जिलाते हैं ऐसा अध्यवसाय निश्चय से अज्ञान है ।

भावार्थ—जैसा पहले मरण के अध्यवसाय में कहा था वैसा जानना ॥२५१।२५२॥

१. इयमपि न आत्मख्यातावेव ।

दुःखसुखकरणाध्यवसायस्यापि एषैव गतिः —

जो अप्पणा दु मण्णदि दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५३॥

य आत्मना तु मन्यते दुःखितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति ।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥२५३॥

परजीवानहं दुःखितान् सुखितांश्च करोमि । परजीवैर्दुःखितः सुखितश्च क्रियेहं, इत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं । स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः । यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात् सम्यग्दृष्टिः ॥२५३॥

एवं भणंति सर्वज्ञाः । **आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं** आयुःकर्म च न ददासि त्वं तेषां जीवानां तस्यायुषः स्वकीयशुभाशुभपरिणामेनैव उपार्ज्यमाणत्वात्, कथं त्वया जीवितं कृतं ? न कथमपि । किं च ज्ञानिना पुरुषेण स्वसंवित्तिलक्षणत्रिगुप्तिगुप्तसमाधौ स्थातव्यं तावत् । तदभावे चाशक्यानुष्ठानेन प्रमादेन अस्य मरणं करोमि, अस्य जीवितं करोमि, इति यदा विकल्पो भवति तदा मनसि चिंतयति अस्य शुभाशुभकर्मोदये सति, अहं निमित्तमात्रमेव जातः इति मत्वा मनसि रागद्वेषरूपोऽहंकारो न कर्तव्य इति भावार्थः ॥२५१।२५२॥ अथ दुःखसुखमपि निश्चयेन स्वकर्मोदयवशाद् भवति, इत्युपदिशति;— **जो अप्पणो दु मण्णदि दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति** यः कर्ता आत्मनः संबंधित्वेन मन्यते । किं ? दुःखितसुखितान् सत्त्वान् करोम्यहं । **सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो** यश्चाहमिति परिणामो निश्चितमज्ञानः स एव बंधकारणं स परिणामो यस्यास्ति स अज्ञानी बहिरात्मा एतस्माद्विपरीतः परमोपेक्षासंयमभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणे भेदज्ञाने स्थितो ज्ञानीति ॥२५३॥ अथ परस्य सुखदुःखं करोमीत्यध्यवसायकः कथमज्ञानी जातः ? इति चेत्;—**कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता** यदि चेत् कर्मोदयनिमित्तं सर्वे सत्त्वा जीवाः सुखितदुःखिता भवंति ? **कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा**

आगे कहते हैं कि दुःखसुख करने के अध्यवसाय की भी ऐसी ही रीति है;—**[यः]** जो जीव **[इति मन्यते तु]** ऐसा मानता है कि मैं **[आत्मना]** अपने कर **[सत्त्वान्]** पर जीवों को **[दुःखितसुखितान्]** दुःखी सुखी **[करोमि]** करता हूं **[स मूढः]** वह जीव मोही है **[अज्ञानी]** अज्ञानी है **[तु]** और **[ज्ञानी]** ज्ञानी **[अतः]** इससे **[विपरीतः]** उलटा मानता है ।

टीका—पर जीवों को मैं दुःखी करता हूं, सुखी करता हूं, और पर जीव मुझे सुखी दुःखी करते हैं ऐसा अध्यवसाय निश्चय से अज्ञान है । जिसके ऐसा अज्ञान है वह अज्ञानीपने से मिथ्यादृष्टि है तथा जिसके यह अज्ञान नहीं है वह ज्ञानीपने से सम्यग्दृष्टि है ।

भावार्थ—जिसकी ऐसी मान्यता है कि मैं परजीव को सुखी दुःखी करता हूं और मुझे परजीव सुखी दुःखी करते हैं यह मानना अज्ञान है । जिसके यह है वह अज्ञानी है तथा जिसके यह नहीं है वह ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है ॥२५३॥

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत्—

'कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कहं कया ते ॥२५४॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंदि जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं ॥२५५॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं॥२५६॥(त्रिकलम्)

कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे ।
कर्म च न ददासि त्वं दुःखितसुखिताः कथं कृतास्ते ॥२५४॥
कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे ।
कर्म च न ददति तव कृतोसि कथं दुःखितस्तैः ॥२५५॥
कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवंति यदि सर्वे ।
कर्म च न ददति तव कथं त्वं सुखितः कृतस्तैः ॥२५६॥

कहं कदा ते तर्हि शुभाशुभं कर्म च न ददासि त्वं कथं ते जीवास्त्वया सुखितदुःखिताः कृताः ? न कथमपि ? **कम्मणिमित्तं सव्वे दुःखिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता** यदि चेत्कर्मोदयनिमित्तं सर्वे जीवाः सुखितदुःखिता भवंति **कम्मं च ण देसि तुमं कह तं सुहिदो कदो तेहिं** तर्हि शुभाशुभ कर्म च न ददासि त्वं न प्रयच्छसि तेभ्यः कथं त्वं

आगे पूछते हैं कि यह अध्यवसाय अज्ञान कैसे है ? उसका उत्तर कहते हैं;—**[सर्वे जीवाः]** सब जीव **[कर्मोदयेन]** अपने कर्म के उदय से **[दुःखितसुखिताः]** दुःखी सुखी **[भवंति]** होते हैं **[यदि]** जो ऐसा है तो हे भाई **[त्वं]** तू उन जीवों को **[कर्म च]** कर्म तो **[न ददासि]** नहीं देता परंतु तूने **[ते]** वे **[दुःखितसुखिताः]** दुःखी सुखी **[कथं कृताः]** कैसे किये ? **[सर्वे जीवाः]** सब जीव **[कर्मोदयेन]** अपने कर्म के उदय से **[दुःखितसुखिताः]** दुःखी सुखी **[भवंति]** होते हैं **[यदि]** जो ऐसे हैं तो हे भाई वे जीव **[तव]** तुझको **[कर्म च]** कर्म तो **[न ददति]** नहीं देते **[तैः]** उन्होंने **[दुःखितः कथं]** दुःखी तू कैसे **[कृतोसि]** किया **[च]** तथा **[सर्वे जीवाः]** सभी जीव **[कर्मोदयेन]** अपने कर्म के उदय से **[दुःखितसुखिताः]** दुःखी सुखी **[यदि]** जो **[भवंति]** होते है सो हे भाई ऐसा है तो वे जीव **[कर्म च]** कर्मों को **[तव]** तुझे **[न ददति]** दे नहीं सकते तो **[तैः]** उन्होंने **[त्वं सुखितः]** तुझ को सुखी **[कथं कृतः]** कैसे किया ।

---

१. तात्पर्यवृत्तौ "कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिद सुहिदा हवंति जदि सत्ता" इति पाठः ।

सुखदुःखे हि तावज्जीवानां स्वकर्मोदयेनैव तदभावे तयोर्भवितुमशक्यत्वात्। स्वकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं तस्य स्वपरिणामेनैवोपार्ज्यमाणत्वात्। ततो न कथंचनापि अन्योन्यस्य सुखदुःखे कुर्यात्। अतः सुखितदुःखितान् करोमि, सुखितदुःखितश्च क्रिये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं ॥२५४।२५५।२५६॥

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीयकर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यं।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य कुर्यात् पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यं ॥१६८॥
अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य पश्यंति ये मरणजीवितदुःखसौख्यं।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवंति ॥ १६९ ॥

सुखीकृतस्तैः ? न कथमपि। **कम्मोदयेण जीवा दुःखिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे** यदि चेत् कर्मोदयेन सर्वे जीवा दुःखितसुखिता भवंति **कम्मं च ण देसि तुमं कह तं दुहिदो कदो तेहिं** तर्हि शुभाशुभं कर्म च न ददासि त्वं न

टीका—सुखदुःख तो जीवों के अपने कर्म के उदय से ही होते हैं इसलिये कर्म के उदय का अभाव होने से उन सुखदुःखों के उदय होने का असमर्थपना है। तथा अन्य पुरुष अपना कर्म अन्य को नहीं दे सकता, वह कर्म अपने अपने परिणामों से ही उत्पन्न होता है इस कारण एक दूसरे को सुख दुःख किसी तरह भी नहीं दे सकता। जिसके ऐसा अध्यवसाय है "कि मैं परजीवों को सुखी दुःखी करता हूं और परजीवों से मैं सुखीदुःखी किया जाता हूं" यह अध्यवसाय निश्चय से अज्ञान है।

भावार्थ—जैसा आशय हो वैसा कार्य न हो तो ऐसा आशय अज्ञान है। सब जीव अपने अपने कर्म के उदय से सुखी दुःखी होते हैं। जो एसा माने कि मैं पर को सुखी दुःखी करता हूं और पर मुझे सुखी दुःखी करते हैं यह मानना निश्चयनय से अज्ञान है। तथा निमित्तनैमित्तिक भाव के आश्रय से सुखदुःख का करने वाला कहना वह व्यवहार है सो निश्चय की दृष्टि में गौण है ॥ २५४।२५५।२५६ ॥

अब इस अर्थ का कलश कहते हैं—**सर्वं** इत्यादि। **अर्थ**—इस लोकमें जीवों के जो जीवन मरण दुःख सुख हैं वे सभी सदाकाल नियम से अपने अपने कर्म के उदय से होते हैं। ऐसा होनेपर पुरुष परके जीवन मरण दुःख सुख को करता है यह मानना अज्ञान है ॥१६८॥

फिर इसी अर्थ को दृढ करते हुए आगे का काव्य कहते हैं—**अज्ञान** इत्यादि। **अर्थ**—ऐसा पूर्वकथित मानना अज्ञान है उसको प्राप्त हुए जो पुरुष परसे परका जीवन, मरण, दुःख-सुख होना मानते हैं वे पुरुष "मैं इन कर्मों को करता हूं" ऐसे अहंकार रूप रस से कर्मों के करने के इच्छुक होते हैं, कर्म करने की मारने जिलाने की सुखी दुःखी करने की वांछा करते हैं, वे नियम से मिथ्यादृष्टि हैं और अपने से ही अपना घात करने वाले होते हैं।

भावार्थ—जो परको मारने जिलाने तथा सुख दुःख करने का अभिप्राय करते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं। वे अपने स्वरूप से च्युत हुए रागी द्वेषी मोही होके आप अपना घात करते है इसलिए हिंसक हैं।१६९।

जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो ।
तह्मा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥ २५७ ॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो [1]सोवि य कम्मोदयेण चेव खलु ।
तह्मा ण मरिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥ २५८॥ (युगलम्)

यो म्रियते यश्च दुःखितो जायते कर्मोदयेन स सर्वः ।
तस्मात्तु मारितस्ते दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या ॥ २५७ ॥
यो न म्रियते न च दुःखितः सोपि च कर्मोदयेन चैव खलु ।
तस्मान्न मारितो नो दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या ॥ २५८ ॥

प्रयच्छसि तेभ्यः कथं त्वं दुःखीकृतस्तैः ? न कथमपि। किं च तत्त्वज्ञानी जीवस्तावत् 'अन्यस्मै परजीवाय सुखदुःखे ददामि, इति विकल्पं न करोति। यदा पुनर्निर्विकल्पसमाधेरभावे सति प्रमादेन सुखदुःखं करोमीति विकल्पो भवति तदा मनसि चिंतयति—अस्य जीवस्यांतरंगपुण्यपापोदयो जातः अहं पुनर्निमित्तमात्रमेव, इति ज्ञात्वा मनसि हर्षविषादपरिणामेन गर्वं न करोति इति। एवं परजीवानां जीवितमरणं सुखदुःखं करोमीति व्याख्यान-मुख्यतया गाथासप्तकेन द्वितीयस्थलं गतं ॥ २५४। २५५। २५६॥ अथ परो जनः परस्य निश्चयेन जीवितमरणसुखदुःखं करोतीति योसौ मन्यते स बहिरात्मेति प्रतिपादयति,—**जो मरदि जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो** यो म्रियते यश्च दुःखितो भवति स सर्वोऽपि कर्मोदयेन जायते **तह्मा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा** तस्मात्कारणात् मया मारितो दुःखीकृतश्चेति तवाभिप्रायोयं न खलु मिथ्या ? किंतु मिथ्यैव। **जो ण मरदि ण य दुहिदो सोवि य कम्मोदयेण खलु जीवो** यो न म्रियते यश्च दुःखितो न भवति। कोऽसौ ? जीवः खलु स्फुट स सर्वोऽपि कर्मोदयेनैव **तह्मा ण मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा** तस्मात् कारणात् न मारितो मया न दुःखीकृतश्चेति तवाभिप्रायोयं न खलु मिथ्या ? अपि तु मिथ्यैव। अनेन पद्यानेन स्वस्वभावाच्च्युतो भूत्वा कर्मैव बध्नातीति भावार्थः ॥२५७।२५८॥ अथ स एव पूर्वसूत्रद्वयोक्तो मिथ्याज्ञानभावो मिथ्यादृष्टेर्बन्धकारणं भवतीति कथयति;—

आगे इसी अर्थ को गाथा मे कहते है;—**[यः म्रियते]** जो मरता है **[च यः दुःखितो जायते]** और जो दुःखी होता है **[सः]** वह **[सर्वः]** सब **[कर्मोदयेन]** कर्म के उदय से होता है **[तस्मात् तु]** इसलिए **[ते]** तेरा **[मारितः च दुःखितः इति]** "मै मारा मै दुःखी किया गया" ऐसा अभिप्राय **[खलु न मिथ्या]** क्या मिथ्या नही है ? तथा **[यः न म्रियते]** जो नही मरता **[च न दुःखितः]** और न दुःखी होता **[सोपि च]** वह भी **[कर्मोदयेन चैव खलु]** कर्म के उदय से ही होता है **[तस्मात्]** इसलिये तेरा यह अभिप्राय **[न मारितः नो दुःखितश्च इति]** "कि मै मारा नही गया और न दुःखी किया" ऐसा भी अभिप्राय **[खलु मिथ्या न]** क्या मिथ्या नहीं है ? मिथ्या ही है।

---

१. सोवि य कम्मोदयेण खलु जीवो पाठोऽयं तात्पर्यवृत्तौ ।

यो हि म्रियते जीवति वा दुःखितो भवति सुखितो भवति च स खलु कर्मोदयेनैव तदभावे तस्य तथा भवितुमशक्यत्वात्[1]। ततः मयायं मारितः, अयं जीवितः, अयं दुःखितः कृतः, अयं सुखितः कृतः इति पश्यन् मिथ्यादृष्टिः ॥२५७। २५८॥

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बंधहेतुर्विपर्ययात् ।
य एवाध्यवसायोयमज्ञानात्मास्य दृश्यते ॥ १७० ॥

एसा दु जा मई दे दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
एसा दे मूढमई सुहासुहं बंधए कम्मं ॥ २५९ ॥

एषा तु या मतिस्ते दुःखितसुखितान् करोमि सत्वानिति ।
एषा ते मूढमतिः शुभाशुभं बध्नाति कर्म ॥ २५९ ॥

परजीवानहं हिनस्मि न हिनस्मि दुःखयामि सुखयामि इति य एवायमज्ञानमयोऽध्यवसायो मिथ्यादृष्टेः स एव स्वयं रागादिरूपत्वात्तस्य शुभाशुभबंधहेतुः ॥ २५९ ॥

एसा दु जा मदी दे दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति एषा या मतिस्ते तव दुःखितसुखितान् करोम्यहं सत्वान् एसा

टीका—निश्चय से जो मरता है, जीता है, दुःखी होता है तथा सुखी होता है वह अपने कर्म के उदय से होता है। उस कर्म के उदय का अभाव होने से उस जीव के उसी तरह मरण जीवन सुख दुःख नहीं हो सकता। इसलिए "यह मैं मारा गया, यह मैं जिवाया, यह मैं दुःखी किया, यह मै सुखी किया" ऐसा मानता हुआ जीव मिथ्यादृष्टि है।

भावार्थ—कोई किसी का मारा मरता नहीं, जिवाया जीता नहीं, सुखी दुःखी किया सुखी दुःखी होता नहीं इसलिए मारने जिवाने आदि का जो अभिप्राय करता है वह तो मिथ्यादृष्टि ही होता है यह निश्चय का वचन है। यहां व्यवहारनय गौण है ॥२५७।२५८॥

इसका कलशरूप श्लोक कहते हैं—**मिथ्यादृष्टेः** इत्यादि। **अर्थ**—मिथ्यादृष्टि का जो यह अध्यवसाय है वह प्रत्यक्ष अज्ञानरूप दीखता है वही अभिप्राय मिथ्या विपर्ययस्वरूप है इसलिए बंध का कारण है।

भावार्थ—झूठा अभिप्राय ही मिथ्यात्व है वही बंध का कारण है ऐसा जानना ॥१७०॥

आगे यही अध्यवसाय बंध का कारण है ऐसा गाथा में कहते हैं;—हे आत्मन् **[ते तु]** तेरी **[एषा या इति मतिः]** जो यह बुद्धि है कि मैं **[सत्त्वान्]** जीवों को **[दुःखितसुखितान्]** सुखी दुःखी **[करोमि]** करता हूं **[एषा ते]** यह तेरी **[मूढमतिः]** मूढबुद्धि ही **[शुभाशुभं कर्म]** शुभअशुभ कर्मो को **[बध्नाति]** बांधती है।

टीका—परजीवों को मैं मारता हूं, दुःखी करता हूं, सुखी करता हूं ऐसा जो यह अज्ञानमय अध्यवसाय है वह मिथ्यादृष्टि के होता है। वही स्वयं रागादिरूपपने से उसके शुभाशुभ बंध का कारण है।

---

१. 'अशक्यत्वात्' इत्यपि पाठः।

अथाध्यवसायं बंधहेतुत्वेनावधारयति—

दुक्खिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥ २६० ॥
मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥ २६१ ॥ (युग्मम्)

दुःखितसुखितान् सत्वान् करोमि यदेवमध्यवसितं ते ।
तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य वा बंधकं भवति ॥ २६० ॥
मारयामि जीवयामि च सत्वान् यदेवमध्यवसितं ते ।
तत्पापबंधकं वा पुण्यस्य वा बंधकं भवति ॥ २६१ ॥

य एवायं मिथ्यादृष्टेरज्ञानजन्मा रागमयोऽध्यवसायः स एव बंधहेतुः, इत्यवधारणीयं न च पुण्यपापत्वेन द्वित्वाद्बंधस्य तद्धेत्वंतरमन्वेष्टव्यं । एकेनैवानेनाध्यवसायेन दुःखयामि, मारयामि इति, सुखयामि, जीवयामीति च द्विधा शुभाशुभाहंकाररसनिर्भरतया द्वयोरपि पुण्यपापयोर्बंधहेतुत्वस्याविरोधात् ॥ २६० ॥ २६१ ॥

दे मूढमदी सुहासुहं बंधदे कम्मं सैषा भवदीया मतिः हे मूढमते स्वस्वभावच्युतस्य शुभाशुभं कर्म बध्नाति न किमप्यन्यत्कार्यमस्ति इति ॥ २५६ ॥ अथ निश्चयेन रागाद्यध्यवसानमेव बंधहेतुर्भवति इति प्रतिपादनरूपेण तमेवार्थं

भावार्थ—मिथ्या अध्यवसाय बंध का कारण है ॥ २५६ ॥

आगे मिथ्या अध्यवसाय को बंध का कारण नियम से कहते हैं;—हे आत्मन् [ते यदेवं अध्यवसितं] तेरा जो यह अभिप्राय है कि मैं [सत्वान्] जीवों को [दुःखितसुखितान्] दुःखी सुखी [करोमि] करता हूँ [तत्] वह ही अभिप्राय [पापबंधकं वा] पाप का बंधक है [वा पुण्यस्य बंधकं] तथा पुण्य का बंधक [भवति] है। [वा] अथवा मै [सत्वान्] जीवों को [मारयामि] मारता हूँ [जीवयामि] अथवा जिवाता हूँ [यदेवं ते अध्यवसितं] जो ऐसा तेरा अभिप्राय है [तत्] वह भी [पापबंधकं वा] पाप का बंधक है [वा पुण्यस्य बंधकं] अथवा पुण्य का बंधक [भवति] है।

टीका—अज्ञान से उत्पन्न रागमय अध्यवसाय मिथ्यादृष्टि के बंध का कारण है ऐसा निश्चय जानना। बंध पुण्य पाप के भेद से दो भेद वाला है सो इसके दो भेद होने से कारण का भेद नहीं विचारना कि पुण्य बंध का कारण तो अन्य है और पापबंध का कारण दूसरा ही है, इस एक ही अध्यवसाय से "मैं दुःखी करता हूँ मारता हूँ तथा सुखी करता हूँ जिवाता हूँ" ऐसे दो भेदों को शुभ अशुभ अहंकार रस से पूर्ण होने से पुण्य पाप दोनों ही बंध के कारण है अर्थात् एक ही अध्यवसाय से पुण्यपाप दोनों का बंध होता है।

एवं हि हिंसाध्यवसाय एव हिंसेत्यायातं—

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ २६२ ॥

अध्यवसितेन बंधः सत्त्वान् मारयतु मा वा मारयतु ।
एष बंधसमासो जीवानां निश्चयनयस्य ॥२६२॥

परजीवानां स्वकर्मोदयवैचित्र्यवशेन प्राणव्यपरोपः कदाचिद् भवतु, कदाचिन्मा भवतु । य एव हिनस्मीत्यहंकाररसनिर्भरो हिंसायामध्यवसायः स एव निश्चयतस्तस्य बंधहेतुः, निश्चयेन परभावस्य प्राणव्यपरोपस्य परेण कर्तुमशक्यत्वात् ॥२६२॥

वृक्ष्यति;—दुःखितसुखितान् सत्त्वान् करोम्यहं कर्ता यदेवमध्यवसित रागाद्यध्यवसानं ते तव शुद्धात्मभावनाच्युतस्य सतः पापस्य वा पुण्यस्य वा बंधकारणं भवति न चान्यत् किमपि दुःखादिकं कर्तुमायाति । कस्मात् ? इति चेत्, तस्य सुखदुःख-परिणामस्य जीवस्य स्वोपार्जितशुभाशुभकर्माधीनत्वात् इति । मारयामि जीवयामि सत्त्वान् यदेवमध्यवसितं ते तव शुद्धात्मश्रद्धानज्ञानानुष्ठानशून्यस्य सतः पापस्य वा पुण्यस्य वा तदेव बंधकं भवति न चान्यत् किमपि कर्तुमायाति । कस्मात् ? इति चेत्, तस्य परजीवस्य जीवितमरणादेः स्वोपार्जितकर्मोदयाधीनत्वात् इति ॥ २६० ॥ २६१ ॥ अथैवं

भावार्थ—यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बंध का कारण है; उसमें शुभ अध्यवसाय तो जिवाना सुखी करना ऐसा है तथा मारना दुःखी करना यह अशुभ अध्यवसाय है। सो अहंकाररूप मिथ्याभाव दोनों में ही है इसलिये ऐसा न जानना कि शुभ का कारण तो अन्य है और अशुभ का कारण दूसरा ही है। अज्ञानपने से दोनों अध्यवसाय एक ही हैं ॥ २६० ॥ २६१ ॥

आगे कहते हैं कि ऐसा होने पर अर्थात् अध्यवसाय को ही बंध का कारण होने से जो यह हिंसा का अध्यवसाय है वही हिंसा है [निश्चयनयस्य] निश्चयनय का यह पक्ष है कि [सत्त्वान्] जीवों को [मारयतु] मारो [वा मा मारयतु] अथवा मत मारो [जीवानां] यह जीवों के [बंधः] कर्मबंध [अध्यवसितेन] अध्यवसायकर ही होता है [एषः बंधसमासः] यह बंध का संक्षेप है।

टीका—पर जीवों के प्राणों का वियोग अपने कर्म के उदय की विचित्रता से है। वह कभी होवे अथवा न होवे परंतु "यह मैं मारता हूं" ऐसा अहंकाररस से भरा हुआ हिंसा का अध्यवसाय (अभिप्राय) ही निश्चय से उस अभिप्रायवाले बंध का कारण है। क्योंकि निश्चनय के पक्ष में पर का भाव जो प्राणों का वियोग करना वह दूसरे से नहीं किया जा सकता।

भावार्थ—निश्चयनय से दूसरे के प्राणों का वियोग करना दूसरे द्वारा नहीं किया जा सकता। उसके कर्म के उदय की विचित्रता से कदाचित् होता है कभी नहीं भी होता। इसलिये जो ऐसा अहंकार करता है "कि मैं पर जीव को मारता हूं" वह अहंकाररूप अध्यवसाय अज्ञानमय है। वही हिंसा है; क्योंकि अपने विशुद्ध चैतन्य प्राण का घात है। तथा वही बंध का कारण है यह निश्चयनय का मत है। यहां व्यवहारनय को गौणकर कहा जानना वह कथंचित् जानना, सर्वथा एकांत पक्ष मिथ्यात्व है ॥२६२॥

अथाध्यवसायं पापपुण्ययोर्बंधहेतुत्वेन दर्शयति—

एवमलिये अदत्ते अबंभचेरे[1] परिग्गहे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु वज्झए पावं ॥२६३॥
तहवि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पुण्णं ॥२६४॥ (युग्मम्)

एवमलीकेऽदत्तेऽब्रह्मचर्ये परिग्रहे चैव।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पापं ॥२६३॥
तथापि च सत्ये दत्ते ब्रह्मणि अपरिग्रहत्वे चैव।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पुण्यं ॥२६४॥

एवमयमज्ञानात् यो यथा हिंसायां विधीयतेऽध्यवसायः, तथा असत्यादत्ताब्रह्मपरिग्रहेषु यश्च विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पापबंधहेतुः। यस्तु अहिंसायां यथा विधीयते अध्यवसायः, तथा यश्च सत्यदत्तब्रह्मापरिग्रहेषु विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पुण्यबंधहेतुः ॥२६३।२६४॥

निश्चयनयेन हिंसाध्यवसाय एव हिंसेत्यायातं विचार्यमाणः;—अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेहि मा व मारेहि
अध्यवसितेन परिणामेन बंधो भवति, सत्वान् मारय मा वा मारय एसो बंधसमासो एष प्रत्यक्षीभूतो बंधसमासः

आगे यह जैसे हिंसा का अध्यवसाय कहा है उसी तरह उसी को अन्य कार्यों में भी पुण्य पाप के बंध का कारणपने से प्रत्यक्ष दिखलाते हैं;—[एवं] पहले हिंसा का अध्यवसाय कहा था उसी प्रकार [अलीके] असत्य [अदत्ते] चोरी [अब्रह्मचर्ये] स्त्री का संसर्ग [परिग्रहे] धन धान्यादिक इनमें [यत् अध्यवसानं] जो अध्यवसान [क्रियते] किया जाता है [तेन तु] उससे तो [पापं बध्यते] पाप का बंध होता है [अपि च] और [तथा] उसी तरह [सत्ये] सत्य में [दत्ते] दिया हुआ लेने में [ब्रह्मणि] ब्रह्मचर्य में [च अपरिग्रहत्वे एव] और अपरिग्रह में [यत्] जो [अध्यवसानं] अध्यवसान [क्रियते] किया जाता है [तेन तु] उससे [पुण्यं बध्यते] पुण्य का बंध होता है।

टीका—पूर्व कथित रीति से अज्ञान से जैसे हिंसा में अध्यवसाय किया जाता है उसी प्रकार अदत्त, अब्रह्म, परिग्रह इनमें जो अध्यवसाय किया जाय वह सभी केवल पापबंध का ही कारण है। तथा जैसे अहिंसा में अध्यवसाय किया जाता है उसी तरह सत्य दत्त, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इनमें भी अध्यवसाय किया जाय वह सभी पुण्यबंध का ही कारण है।

भावार्थ—जैसा हिंसा में अध्यवसाय पापबंध का कारण कहा है, उसी तरह असत्य अदत्त अब्रह्म परिग्रह इनमें भी अध्यवसाय पाप बंध का कारण है। तथा जैसे अहिंसा में अध्यवसाय

---

१. 'अबंभचारे' इत्यपि पाठः प्राचीनप्रतौ।

न च बाह्यवस्तु द्वितीयोऽपि बंधहेतुरिति [1]शंक्यं—

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं ।
ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ।।२६५।।

वस्तु प्रतीत्य यत्पुनरध्यवसानं तु भवति जीवानां ।
न च वस्तुतस्तु बंधोऽध्यवसानेन बंधोस्ति ।।२६५।।

अध्यवसानमेव बंधहेतुर्न तु बाह्यवस्तु तस्य बंधहेतोरध्यवसानस्य हेतुत्वेनैव चरितार्थत्वात्। तर्हि किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेधः ? अध्यवसानप्रतिषेधार्थः। अध्यवसानस्य हि बाह्यवस्तु आश्रयभूतं। न हि बाह्यवस्त्वनाश्रित्य अध्यवसानमात्मानं लभते। यदि बाह्यवस्त्वनाश्रित्यापि अध्यवसानं जायेत तदा यथा वीरसूसुतस्याश्रयभूतस्य सद्भावे वीरसूसूनुं हिनस्मीत्यध्यवसायो जायते, तथा

बंधसंक्षेपः। तद्विपरीतेन निरुपाधिचिदानंदैकलक्षणनिर्विकल्पसमाधिना मोक्षो भवतीति मोक्षसमासः। केषां ? **जीवाणं णिच्छयणयस्स** जीवानां निश्चयनयस्येति। एवं जीवितमरणसुखदु.खानि परेषां करोमीत्यध्यवसाय एव बंधकारणं, प्राणव्यपरोपणादिव्यापारो भवतु मा भवतु। एवं सर्वं ज्ञात्वा रागाद्यपध्यानं त्यजनीयमिति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्केन तृतीयस्थलं गतं ।।२६२।। अथ हिंसाध्यवसानं पूर्वमुक्तं तावत् इदानीं पुनः असत्याद्यव्रताध्यवसानैः पापं सत्याद्यध्यवसानैश्च पुण्यबंधो भवतीत्याख्याति;—एवमसत्ये चौर्येऽब्रह्मणि परिग्रहे चैव यत्क्रियतेऽध्यवसानं तेन पापं बध्यते इति प्रथमगाथा गता। यस्चाचौर्ये सत्ये ब्रह्मचर्ये तथैवापरिग्रहत्वे यत्क्रियतेऽध्यवसानं तेन पुण्यं बध्यते इति व्रताव्रतविषये पुण्यपाप-बंधरूपेण सूत्रभूतगाथाद्वयं गतं ।।२६३।२६४।। अतः परमिदमेव सूत्रद्वयं परिणाममुख्यत्वेन त्रयोदशगाथाभिर्विवृणोति।

पुण्यबंध का कारण है उसी तरह सत्य दत्त ब्रह्मचर्य अपरिग्रहपना इनमें भी पुण्यबंध का कारण है। इस प्रकार पांच पापों का अभिप्राय तो पापबंध करता है और पांच व्रतरूप एक देश वा सर्व देश का अभिप्राय पुण्य बंध करता है ।।२६३।२६४।।

आगे कहते हैं कि बाह्य वस्तु बंधका कारण नहीं है। एक अध्यवसाय ही बंधका कारण है;— **[जीवानां तु]** जीवों के **[यत् पुनरध्यवसानं]** जो अध्यवसान है वह **[वस्तु]** वस्तु को **[प्रतीत्य]** अवलंबन करके **[भवति]** होता है। **[तु वस्तुतः]** तथा वस्तु से **[बंधः न च]** बंध नहीं है **[अध्यवसानेन]** अध्यवसान से ही **[बंधः अस्ति]** बंध है।

टीका—अध्यवसान ही बंध का कारण है, बाह्य वस्तु बंध का कारण नहीं है। क्योंकि बंध का कारण जो अध्यवसान उसके कारणपने से ही बाह्य वस्तु को चरितार्थपना है। बाह्य वस्तु तो अध्यवसान का ही कारण है, बंधका कारण नहीं है। यहां पूछते हैं कि यदि बाह्य वस्तु बंध का कारण नहीं है तो उसका निषेध किस लिये किया जाता है ? कि बाह्य वस्तु का प्रसंग मत करो, त्याग करो। उसका समाधान कहते हैं—अध्यवसान के निषेध के लिये बाह्य वस्तु का त्याग कराया जाता है, क्योंकि बाह्य

---

१. "शक्यं वक्तुम्" इत्यपि पाठः।

वंध्यासुतस्याश्रयभूतस्यासद्भावेऽपि वंध्यासुतं हिनस्मीत्यध्यवसायो जायेत। न च जायते। ततो निराश्रयं नास्त्यध्यवसानमिति प्रतिनियमः। तत एव चाध्यवसानाश्रयभूतस्य बाह्यवस्तुनोऽत्यंतप्रतिषेधः, हेतुप्रतिषेधेनैव हेतुमत्प्रतिषेधात्। न च बंधहेतुहेतुत्वे सत्यपि बाह्यं वस्तु बंधहेतुः स्यात् ईर्यासमिति परिणतयतींद्रपदव्यापाद्यमानवेगापतत्कालचोदितकुलिंगवत् बाह्यवस्तुनो बंधहेतुहेतोरप्यबंधहेतुत्वेन बंधहेतुत्वस्यानैकांतिकत्वात्। अतो न बाह्यवस्तु जीवस्यातद्भावो बंधहेतुः। अध्यवसानमेव तस्य तद्भावो बंधहेतुः ॥२६५॥

तद्यथा, बाह्यं वस्तु रागादिपरिणामकारणं परिणामस्तु बंधकारणमित्यावेदयति;—**वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं** बाह्यवस्तु चेतनाचेतनं पंचेंद्रियविषयभूतं प्रतीत्य आश्रित्य जीवानां तत्प्रसिद्धं रागाद्यध्यवसानं भवति **ण हि वत्थुदो दु बंधो** न हि वस्तुनः सकाशाद्बंधो भवति। तर्हि केन बंधः? **अज्झवसाणेण बंधोत्थि** वीतरागपरमात्मतत्त्वभिन्नेन रागाद्यध्यवसानेन बंधो भवति। वस्तुनः सकाशाद्बंधो कथं न भवतीति चेत्, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यभिचारात्। तथाहि—बाह्यवस्तुनि सति नियमेन बंधो भवतीति अन्वयो नास्ति, तदभावे बंधो न भवतीति व्यतिरेकोऽपि नास्ति। तर्हि किमर्थं बाह्यवस्तुत्यागः? इति चेत्, रागाद्यध्यवसानानां परिहारार्थं। अयमत्र भावार्थः। बाह्ये पंचेंद्रियविषयभूते वस्तुनि सति अज्ञानभावात् रागाद्यध्यवसानं भवति, तस्मादध्यवसानाद्बंधो भवतीति पारंपर्येण वस्तु बंधकारणं भवति न च साक्षात्। अध्यवसानं पुनर्निश्चयेन बंधकारणमिति ॥२६५॥ एवं बंधहेतुत्वेन निर्धारित-

---

वस्तु अध्यवसान का आश्रयभूत है बाह्य वस्तु के आश्रय विना अध्यवसान अपने स्वरूप को नहीं पाता। यदि बाह्य वस्तु का आश्रय न लेकर भी अध्यवसान उत्पन्न हो तो जैसे सुभट की माता के पुत्र सुभट का सद्भाव होने से उसका आश्रय लेकर किसी के अध्यवसान होता है कि मैं सुभट की माता के पुत्र को मारता हूँ उसी प्रकार बांझ के पुत्र का असद्भाव होनेपर भी ऐसा अध्यवसान होना चाहिये "मैं बंध्या सुत को मारता हूँ" सो तो ऐसा अध्यवसान उत्पन्न नहीं होता। जब बंध्या का पुत्र ही नहीं है तो मारने का अध्यवसान कैसे हो सकता है? इसलिये यह नियम है कि बाह्यवस्तु के विना अध्यवसान उत्पन्न नहीं होता; इसीकारण अध्यवसान का आश्रयभूत जो बाह्यवस्तु उसका अत्यंत निषेध है। इसलिये कारण के प्रतिषेध से ही कार्य का भी प्रतिषेध होता है यह न्याय है। बाह्यवस्तु अध्यवसान का हेतु है। इस कारण उसके निषेध से अध्यवसान का निषेध होता है परंतु बाह्य वस्तु के बंध का हेतु अध्यवसान को हेतुपना होने पर बाह्य वस्तु बंधका हेतु नहीं है, इसमें व्यभिचार है। क्योंकि जैसे कोई मुनींद्र ईर्यासमितिरूप प्रवर्त रहा है उसके चरण से हना गया जो काल का प्रेरा अतिवेग से शीघ्र आकर पड़ा कोई उड़ता हुआ जीव उसके मर जाने से मुनीश्वर को हिंसा नहीं लगती, उसी प्रकार अन्य वस्तु भी बंध के कारण माने गये हैं, वे अबध के भी कारण हैं। इसलिये बाह्य वस्तु को बंध का कारणपना मानने में अनैकांतिक हेत्वाभासपना (व्यभिचार) आता है क्योंकि निश्चय से बाह्य वस्तु में बंधका कारणपना निर्बाध सिद्ध नहीं होता। जीव के बाह्य वस्तु अतद्भावरूप है वह बंध का कारण नहीं है तद्भावस्वरूप अध्यवसान ही बंध का कारण है।

एवं बंधहेतुत्वेन निर्धारितस्याध्यवसानस्य स्वार्थक्रियाकारित्वाभावेन मिथ्यात्वं दर्शयति—

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि ।
जा एसा मूढमई णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ॥ २६६ ॥

दुःखितसुखितान् जीवान् करोमि बन्धयामि तथा विमोचयामि।
या एषा मूढमतिः निरर्थिका सा खलु ते मिथ्या ॥ २६६ ॥

परान् जीवान् दुःखयामि सुखयामीत्यादि बंधयामि विमोचयामीत्यादि वा यदेतदध्यवसानं तत्सर्वमपि परभावस्य परस्मिन्नव्याप्रियमाणत्वेन स्वार्थक्रियाकारित्वाभावात् खकुसुमं लुनामीत्यध्यवसानवन्मिथ्यारूपं केवलमात्मनोऽनर्थायैव ॥ २६६ ॥

स्वाध्यवसानस्य स्वार्थक्रियाकारित्वाभावेन मिथ्यात्वमसत्यत्वं दर्शयति;—**दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधामि तह विमोचेमि** दुःखितसुखितान् जीवान् करोमि, बंधयामि, तथा विमोचयामि **जा एसा तुज्झ मदी णिरत्थया**

भावार्थ—बंध का कारण निश्चयनय से अध्यवसान ही है। बाह्य वस्तुएं अध्यवसान का आलंबन (सहायक) हैं, उनकी सहायता से अध्यवसान उत्पन्न होता है इसलिये अध्यवसान का कारण कहीं जाती हैं। बाह्य वस्तु के बिना निराश्रय अध्यवसान उत्पन्न नहीं होता। इसी से बाह्य वस्तु का त्याग कराया गया है। यदि बंध का कारण बाह्य वस्तु ही कहो तो इसमें व्यभिचार आता है। व्यभिचार उसे कहते हैं कि कारण किसी जगह दीखे, किसी जगह नहीं दीखे। उसका दृष्टांत ऐसे है जैसे कोई मुनि ईर्या समिति से यत्न कर गमन करता था उस समय उसके पैरों के नीचे कोई उड़ता जीव आ पड़ा फिर मर गया तो उसकी हिंसा मुनीश्वर को नहीं लगती। सो यहां बाह्य दृष्टि से देखा जाय तो हिंसा हुई परन्तु मुनि के हिंसा का अध्यवसान नहीं है, इसलिए बंध का कारण नहीं है। उसी तरह अन्य भी बाह्य वस्तु जानना। बाह्य वस्तु के बिना निराश्रय अध्यवसाय नहीं होता इसलिये उसका निषेध ही है ॥ २६५ ॥

इस प्रकार बंध के कारण से निश्चय किया गया अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया का करने वाला न होने से मिथ्या है। अब यह दिखलाते हैं कि जिसके अर्थक्रियाकारीपना नहीं है वही मिथ्या है—हे भाई **[ते या एषा मूढमतिः]** तेरी जो ऐसी मूढ बुद्धि है कि मैं **[जीवान्]** जीवों को **[दुःखितसुखितान्]** दुःखी सुखी **[करोमि]** करता हूं **[बंधयामि]** बंधाता हूं **[तथा]** और **[विमोचयामि]** छुड़ाता हूं **[सा]** वह मोहस्वरूप बुद्धि **[निरर्थिका]** निरर्थक है सत्यार्थ नहीं है इसलिए **[खलु]** निश्चय से **[मिथ्या]** मिथ्या है।

टीका—परजीवों को दुःखी करता हूं, सुखी करता हूं इत्यादि, तथा बंधाता हूं, छुड़ाता हूं इत्यादि, जो यह अध्यवसान है वह सभी मिथ्या हैं, क्योंकि परभाव का परमें व्यापार न होने से स्वार्थ क्रियाकारीपन नहीं है, परभाव परमें प्रवेश नहीं करता। जैसे कोई कहे ऐसा अध्यवसान करे कि मैं

कुतो नाध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि ? इति चेत्—

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करोसि¹ तुमं ॥ २६७ ॥

अध्यवसाननिमित्तं जीवा बध्यंते कर्मणा यदि हि।
मुच्यंते मोक्षमार्गे स्थिताश्च तत् किं करोषि त्वं ॥ २६७ ॥

यत्किल बंधयामि मोचयामीत्यध्यवसानं तस्य हि स्वार्थक्रिया यद्बंधनं मोचनं जीवानां। जीवस्तु अस्याध्यवसायस्य सद्भावेऽपि सरागवीतरागयोः स्वपरिणामयोः अभावान्न बध्यते न मुच्यते। सरागवीतरागयोः स्वपरिणामयोः सद्भावात्तस्याध्यवसायस्याभावेऽपि बध्यते मुच्यते च, ततः परत्राकिंचित्करत्वान्नेदमध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि ततश्च मिथ्यैवेति भावः ॥२६७॥

सा दु दे मिच्छा या एषा तव मतिः सा निरर्थिका निष्प्रयोजना दु स्फुटं। दे अहो ततः कारणात् मिथ्या वितथा व्यलीका भवति। कस्मात् ? इति चेत्, भवदीयाध्यवसाने सत्यपि परजीवानां सातासातोदयाभावात् सुखदुःखाभावः स्वकीयाशुद्धशुद्धाध्यवसानाभावात् बंधो मोक्षाभावश्चेति ॥ २६६ ॥ अथ कस्मादध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि न भवतीति

आकाश के फूल को तोड़ता हूं वह झूठा है, मात्र अपने अनर्थ के लिए ही है, परका कुछ भी करने वाला नहीं है।

भावार्थ—जिसका विषय नहीं है वह निरर्थक है। जीव परको दुःखी-सुखी आदि करने की बुद्धि करता है किन्तु परजीव इसके किये दुःखी सुखी नहीं होते तब ऐसी बुद्धि निरर्थक होने से मिथ्या है॥ २६६ ॥

आगे फिर पूछते हैं कि यह अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया का करने वाला किस तरह नहीं है ? उसका उत्तर कहते हैं;—हे भाई [यदि हि] जो [जीवाः] जीव [अध्यवसाननिमित्तं] अध्यवसान के निमित्त से [कर्मणा] कर्म से [बध्यंते] बंधते हैं [च] और [मोक्षमार्गे] मोक्ष मार्ग में [स्थिताः] ठहरे हुए [मुच्यंते] कर्म से छूटते हैं जब ऐसा है [तत्] तो [त्वं किं करोषि] तू क्या करेगा ? तेरा तो बांधने छोड़ने का अभिप्राय विफल हुआ।

टीका—'मैं निश्चयतः बंधाता हूं छुड़ाता हूं' ऐसा जो अध्यवसान उसकी अर्थक्रिया जीवों का बांधना छोड़ना है। सो जीव तो इस अध्यवसाय के मौजूद होने पर भी अपने सरागवीतरागपरिणाम के अभाव से न बंधते हैं न छूटते हैं। और अपने सरागवीतरागपरिणाम के सद्भाव से तेरे अध्यवसाय का अभाव होने पर भी बंधते हैं तथा छूटते हैं, इसलिये पर में अकिंचित्कर होने से यह अध्यवसान कुछ भी करने वाला नहीं है। इस कारण यह अध्यवसान स्वार्थ क्रियाकारी न होने से मिथ्या ही है ऐसा भाव है।

---

१. 'करेसि' इत्यपि पाठः।

अनेनाध्यवसानेन निष्फलेन विमोहितः ।
तत्किंचनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ॥१७१॥

सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरयिए ।
देवमणुये य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं ॥२६८॥
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोयलोयं च ।
सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥२६९॥ (युगलम्)

सर्वान् करोति जीवोऽध्यवसानेन तिर्यङ्नैरयिकान् ।
देवमनुजांश्च सर्वान् पुण्यं पापं च नैकविधं ॥ २६८ ॥
धर्माधर्मं च तथा जीवाजीवौ अलोकलोकं च ।
सर्वान् करोति जीवः अध्यवसानेन आत्मानं ॥ २६९ ॥

चेत्;—अज्झवसाणणिमित्तं जीवा वज्झंति कम्मणा जदि हि मिथ्यात्वरागादिस्वकीयाध्यवसाननिमित्तं कृत्वा ते जीवा निश्चयेन कर्मणा वध्यन्ते इति चेत् मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ते शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूप-

---

भावार्थ—जो हेतु कुछ भी न करे उसे अकिंचित्कर कहते हैं। सो यह बांधने छोड़ने का अध्यवसान पर में कुछ भी नहीं करता। क्योंकि इसके न होने पर भी जीव अपने सराग वीतराग परिणामों द्वारा बंध मोक्ष को प्राप्त होता है और इसके होने पर भी जीव अपने सरागवीतरागपरिणाम के अभाव होने से बंध मोक्ष को नहीं प्राप्त होता। इसलिये अध्यवसान पर में अकिंचित्कर है इस कारण स्वार्थक्रियाकारी नहीं, मिथ्या है ॥२६७॥

अब इस अर्थ का कलशरूप तथा आगे के कथन की सूचनिकारूप श्लोक कहते हैं—**अनेना** इत्यादि। **अर्थ**—आत्मा इस निष्फल (निरर्थक) अध्यवसान से मोहित हुआ अपने को अनेकरूप करता है, ऐसा जगत में कोई पदार्थ नहीं है जिस रूप अपने को नहीं करे।

भावार्थ—यह आत्मा मिथ्या अभिप्राय से भूला हुआ चतुर्गति संसार में जितनी अवस्थायें हैं, जितने पदार्थ हैं उन सब स्वरूप आपको हुआ मानता है। अपने शुद्धस्वरूप को नहीं पहिचानता ॥१७१॥

आगे इस अर्थ को प्रगटरूप गाथा में कहते हैं;—[**जीवः**] जीव [**अध्यवसानेन**] अध्यवसान से [**तिर्यङ्नैरयिकान् सर्वान्**] सब तिर्यंच नारक [**च देवमनुजान्**] देव मनुष्य [**सर्वान्**] सभी पर्यायों को अपने [**करोति**] करता है [**च**] और [**नैकविधं पुण्यं पापं**] अनेक प्रकार के पुण्य पापों को अपने करता है [**तथा च**] तथा [**धर्माधर्मं**] धर्म अधर्म [**जीवाजीवौ**] जीव अजीव [**च**] और [**अलोकलोकं**] अलोक लोक [**सर्वान्**] इन सभी को [**जीवः**] जीव [**अध्यवसानेन**] अध्यवसान से [**आत्मानं**] आत्म स्वरूप [**करोति**] करता है।

यथायमेवं क्रियागर्भहिंसाध्यवसानेन हिंसकम् इतराध्यवसानैरितरं च आत्मात्मानं कुर्यात्, तथा विपच्यमाननारकाध्यवसानेन नारकं, विपच्यमानतिर्यगध्यवसानेन तिर्यंचं, विपच्यमानमनुष्याध्यवसानेन मनुष्यं, विपच्यमानदेवाध्यवसानेन देवं, विपच्यमानसुखादिपुण्याध्यवसानेन पुण्यं, विपच्यमानदुःखादिपापाध्यवसानेन पापमात्मानं कुर्यात्। तथैव च ज्ञायमानधर्माध्यवसानेन धर्मं, ज्ञायमानाधर्माध्यवसानेनाधर्मं; ज्ञायमानजीवान्तराध्यवसानेन जीवान्तरं, ज्ञायमानपुद्गलाध्यवसानेन पुद्गलं, ज्ञायमान लोकाकाशाध्यवसानेन लोकाकाशं ज्ञायमानालोकाकाशाध्यवसायेनालोकाकाशमात्मानं कुर्यात् ॥ २६८ ॥ २६९ ॥

निश्चयरत्नत्रयलक्षणे मोक्षमार्गे स्थिताः पुनर्मुच्यंते यदि चेत्ते जीवाः **किं करोसि तुमं** तर्हि किं करोषि त्वं हे दुरात्मन् न किमपीति, त्वदीयाध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि न भवति ।। अथ दुःखिता जीवाः स्वकीयपापोदयेन भवंति न च भवदीयपरिणामेनेति;—**कायेण** इत्यादि स्वकीयपापोदयेन जीवा दुःखिता भवंति यदि चेत् ? तेषां जीवानां स्वकीयपापकर्मोदयाभावे भवतो किमपि कर्तुं नायाति इति हेतोः मनोवचनकायैः शस्त्रैश्च जीवान् दुःखितान् करोमि इति रे दुरात्मन् त्वदीया मतिर्मिथ्या । वरं किं तु स्वस्वभावच्युतो भूत्वा त्वं पापमेव बध्नासि इति । अथ सुखिता अपि निश्चयेन स्वकीयशुभकर्मोदये सति भवंतीति कथयति—

कायेण[1] दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ।।

टीका—जैसे यह आत्मा पूर्वोक्त क्रिया वाले हिंसा के अध्यवसान से अपने को हिंसक करता है, और अहिंसा के अध्यवसान से अहिंसक करता है, तथा अन्य अध्यवसान से अन्य बहुत प्रकार करता है; उसी प्रकार उदय में आया जो नारक का अध्यवसान उससे अपने को नारकी करता है, उदय में आया जो तिर्यंच का अध्यवसान उससे अपने को तिर्यंच करता है, उदय में आया जो मनुष्य का अध्यवसान उससे अपने को मनुष्य करता है उदय में आया जो देव का अध्यवसान उससे अपने को देव करता है, उदय में आया जो सुख आदि पुण्य का अध्यवसान उससे पुण्यरूप अपने को करता है, उदयमें आया जो दुःखादि पाप का अध्यवसान उससे अपने को पापरूप करता है। उसी प्रकार जानने में आया जो धर्म उसके अध्यवसान से अपने को धर्मरूप करता है, जाने हुए अधर्म के अध्यवसान से अपने को अधर्मरूप करता है; जाने हुए अन्य जीव के अध्यवसान से अपने को अन्य जीवरूप करता है, जाने हुए पुद्गल के अध्यवसान से अपने को पुद्गलरूप करता है, जाने हुए लोकाकाश के अध्यवसान से अपने को लोकाकाशरूप करता है, जाने हुए अलोकाकाश के अध्यवसान से अपने को अलोकाकाशरूप करता है। इस तरह अध्यवसान से अपने को सब स्वरूप करता है।

भावार्थ—यह अध्यवसान अज्ञानरूप है इसलिये अपना परमार्थरूप नहीं जानता। आत्मा आपको अनेक अवस्थारूप करता है उनमें आपा मान प्रवर्तता है ॥ २६८॥२६९ ॥

---

१. इत आरभ्य गाथापंचकं मोक्षमार्गात्मख्यातौ ततो नास्त्यस्य गाथा पंचकस्यात्मख्यातिः ।

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वं ।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥ १७२ ॥

वायाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
मणसाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
सच्छेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
कायेण च वाया वा मणेण सुहिदे करेमि सत्तेति ।
एवंपि हवदि मिच्छा सुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥

कायेन दुःखयामि सत्त्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि । सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिताः कर्मणा यदि सत्त्वाः । वाचा दुःखयामि सत्त्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि । सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिताः कर्मणा यदि सत्त्वाः । मनसा दुःखयामि सत्त्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि । सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिताः कर्मणा यदि सत्त्वाः ॥ शस्त्रेण दुःखयामि सत्त्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि । सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिताः कर्मणा यदि सत्त्वाः ॥ कायेन च वाचा वा मनसा सुखितान् करोमि सत्त्वानिति । एवमपि भवति मिथ्या सुखिनः कर्मणा यदि सत्त्वाः । स्वकीयकर्मोदयेन जीवा यदि चेत् सुखिता भवंति । न च त्वदीयपरिणामेन तर्हि मनोवचनकायैर्जीवान् सुखितानहं करोमि इति भवदीया मतिर्मिथ्या । एवं तवाध्यवसानं स्वार्थकं न भवति । परं किं तु निश्चरागपरमचिज्ज्योतिःस्वभावे स्वशुद्धात्मतत्त्वमश्रद्दधानः, तथैवाजानन् अभावयंश्च तेन शुभपरिणामेन पुण्यमेव बध्नाति इत्यर्थः ॥२६७॥ अथ स्वस्वभावप्रतिपक्षभूतेन च रागाद्यध्यवसानेन मोहितः सन्नयं जीवः समस्तमपि परद्रव्यमात्मनि नियोजयति इत्युपदिशति;—उदयागतनरकगत्यादिकर्मवशेन नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवपापपुण्यरूपान् कर्मजनितभावान् आत्मानं करोति आत्मनः संबंधात्करोति । निर्विकारपरमात्मतत्त्वज्ञानाद् भ्रष्टः सन् नारकोऽहमित्यादिरूपेण, उदयागतकर्मजनितविभावपरिणामान् आत्मनि योजयतीत्यर्थः । धर्माधर्मास्तिकायजीवाजीवलोकालोकज्ञेयपदार्थान् अध्यवसानेन तत्परिच्छित्तिविकल्पेनात्मानं करोति, आत्मनः संबंधात् करोतीत्यभिप्रायः । किं च, यथा घटाकारपरिणतं ज्ञानं घट इत्युपचारेणोच्यते तथा धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्थविषये धर्मोऽयमित्यादि योऽसौ परिच्छित्तिरूपो विकल्पः सोऽप्युपचारेण धर्मास्तिकायादिर्भण्यते । कथं ? इति चेत्, धर्मास्तिकायादिविषयत्वात् । स्वस्वभावच्युतो भूत्वा यदा

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं तथा अगले कथन की सूचना करते हैं—**विश्वात्** इत्यादि । **अर्थ**—यह आत्मा सब द्रव्यों से भिन्न है तो भी जिस अध्यवसायके प्रभाव से अपने को समस्तस्वरूप करता है वह अध्यवसाय कैसा है ? कि जिसका मूल मोह है । ऐसा अध्यवसाय जिनके नहीं है वे मुनि हैं ॥॥१७२॥

एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥ २७० ॥

एतानि न संति येषामध्यवसानान्येवमादीनि ।
तेऽशुभेन शुभेन वा कर्मणा मुनयो न लिप्यंते ॥

एतानि किल यानि त्रिविधा[1]न्यध्यवसानानि समस्तान्यपि तानि शुभाशुभकर्मबंधनिमित्तानि, स्वयमज्ञानादिरूपत्वात् । तथाहि, यदिदं हिनस्मीत्याद्यध्यवसानं तदज्ञानमयत्वेन आत्मनः सदहेतुकज्ञप्त्येकक्रियस्य रागद्वेषविपाकमयीनां हननादिक्रियाणां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माऽज्ञानादस्ति तावदज्ञानं विविक्तात्माऽदर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं, विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रं । यत्पुनरेष धर्मो ज्ञायत इत्याद्यध्यवसानं तदपिज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञानैकरूपस्य ज्ञेयमयानां धर्मादिरूपाणां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानादस्ति तावदज्ञानं विविक्तात्मा-

---

धर्मास्तिकायोयमित्यादिविकल्पं करोति तदा तस्मिन् विकल्पे कृते सति धर्मास्तिकायादिरप्युपचारेण कृतो भवति इति ॥ २६८ ॥ २६९ ॥ अथ निश्चयेन परद्रव्याद्भिन्नोऽपि यस्य मोहस्य प्रभावात् आत्मान परद्रव्ये योजयति स मोहो येषा नास्ति त एव तपोधना इति प्रकाशयति;—**एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि** एतान्येवमादीनि पूर्वोक्तानि शुभाशुभाध्यवसानानि कर्मबंधनिमित्तभूतानि न सति येषा ते **असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पंति** त एव मुनीश्वराः शुभाशुभकर्मणा न लिप्यंते । किं च विस्तरः, शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपं निश्चयरत्नत्रयलक्षणं भेदविज्ञानं यदा न भवति तदाहं जीवान् हिनस्मीत्यादि हिसाध्यवसान नारकोहमित्यादि कर्मोदयाध्यवसान, धर्मास्तिकायोयमित्यादि ज्ञेयपदार्थाध्यवसानं च निर्विकल्पशुद्धात्मन सकाशाद्भिन्नं न

आगे कहते हैं कि यह अध्यवसाय जिनके नहीं है वे मुनि कर्म से नही लिप्त होते;—**[एतानि]** ये पूर्वोक्त अध्यवसाय तथा **[एवमादीनि]** इस तरह के अन्य भी **[अध्यवसानानि]** अध्यवसान **[येषां]** जिनके **[न संति]** नही हैं **[ते मुनयः]** वे मुनिराज **[अशुभेन]** अशुभ **[वा]** अथवा **[शुभेन कर्मणा]** शुभकर्म से **[न लिप्यंते]** नही लिप्त होते ।

टीका—ये पूर्वोक्त अध्यवसान तीन प्रकार के हैं अज्ञान, अदर्शन और अचारित्र । ये सभी शुभ अशुभ कर्मबंध के निमित्त हैं क्योंकि ये आप (स्वयं) अज्ञानादिरूप हैं । किस तरह हैं सो कहते हैं— जो यह मैं परजीव को मारता हूं इत्यादिक अध्यवसान है वह अज्ञानादिरूप है क्योंकि आत्मा तो ज्ञायक है उस ज्ञायकपने से ज्ञप्तिक्रियामात्र ही है, इसलिये सद्रूप द्रव्यदृष्टि से किसी से उत्पन्न नहीं ऐसा नित्यरूप जानने मात्र ही क्रियावाला है । हनना घातना आदि क्रिया हैं वे राग द्वेष के उदय से हैं । इस प्रकार आत्मा और घातनेआदि क्रिया के भेद को न जानने से आत्मा को भिन्न नहीं

---

१. अज्ञानादर्शनाचारित्रसंज्ञकानि ।

दर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रं। ततो बंधनिमित्तान्येवैतानि समस्तान्यध्यवसानानि। येषामेवैतानि न विद्यंते त एव मुनिकुंजराः। केचन सदहेतुकज्ञप्त्यैकक्रियं सदहेतुकज्ञायकैकभावं सदहेतुकज्ञानैकरूपं च विविक्तात्मानं जानंतः सम्यक्पश्यंतोऽनुचरंतश्च स्वच्छस्वच्छंदोद्यदमंदांतर्ज्योतिषोऽत्यंतमज्ञानादिरूपत्वाभावात् शुभेनाशुभेन वा कर्मणा खलु न लिप्येरन् ॥२७०॥

जानातीति। तदजानन् हिंसाध्यवसानविकल्पेन सहात्मानमभेदेन श्रद्दधाति जानाति अनुचरति च, ततो मिथ्यादृष्टिर्भवति मिथ्याज्ञानी भवति मिथ्याचारित्री भवति। ततः कर्मबन्धः स्यात्। यदापुन पूर्वोक्तभेदविज्ञानं भवति तदा सम्यग्दृष्टिर्भवति सम्यग्ज्ञानी भवति सम्यक्चारित्री भवति ततः कर्मबंधो न भवतीति भावार्थ ॥२७०॥ कियंतं कालं परभावानात्मनि योजयतीति चेत्,—

जा[1] संकप्पवियप्पो ता कम्मं कुणदि असुहसुहजणयं।
अप्पसरूवा रिद्धी जाव ण हियए परिप्फुरइ ॥

जाना इसलिये मै परजीव का घात करता हूं ऐसा अध्यवसान मिथ्याज्ञान है। इसी प्रकार भिन्न आत्मा का श्रद्धान न होने से अध्यवसान मिथ्यादर्शन है। इसी प्रकार भिन्न आत्मा के अनाचरण से मिथ्याचारित्र है। यह धर्म द्रव्य मुझसे जाना जाता है ऐसा अध्यवसाय भी अज्ञानादि रूप ही है आत्मा तो ज्ञानमय होने से ज्ञानमात्र ही है क्योंकि सद्रूप द्रव्यदृष्टि से अहेतुक (जिसका कोई कारण नहीं ऐसा) ज्ञानमात्र ही एकरूप वाला है। धर्मादिकरूप ज्ञेयमय है। ऐसे ज्ञानज्ञेय का विशेष न जानने से भिन्न आत्मा के अज्ञान से मैं धर्म को जानता हूं ऐसा भी अज्ञानरूप अध्यवसान है। भिन्न आत्मा के न देखने से श्रद्धान न होने से यह अध्यवसान मिथ्यादर्शन है, और भिन्न आत्मा के अनाचरण से यह अध्यवसान अचारित्र है इसलिये ये सभी अध्यवसान बंध के निमित्त हैं। जिनके ये अध्यवसान विद्यमान नहीं हैं वे ही मुनियों में प्रधान हैं, उन्हीं को मुनिकुंजर कहते हैं, ऐसे कोई २ विरले है। वे सब अन्य द्रव्यभावों से भिन्न आत्मा सत्तारूप द्रव्यदृष्टि से किसी से उत्पन्न नहीं हुआ इसलिये अहेतुक एक ज्ञायक भाव स्वरूप और सत्ता अहेतुक एक ज्ञानरूप ऐसे आत्मा को जानते हैं, उसी का सम्यक् (भले प्रकार) श्रद्धान करते हैं और उसी का आचरण करते है। वे मुनि निर्मल स्वच्छंद स्वाधीन प्रवृत्तिरूप उदय को प्राप्त अमंद प्रकाश रूप अंतरंग ज्योतिःस्वरूप हैं। इसी कारण अज्ञान आदि के अत्यंत अभाव से शुभ तथा अशुभ कर्म से नहीं लिप्त होते।

भावार्थ—यह अध्यवसान कि "मैं पर को मारता हूं" तथा "मैं परद्रव्य को जानता हूं" तब तक प्रवर्तता है जब तक आत्मा के रागादिक के तथा आत्मा के ज्ञेयरूप अन्यद्रव्य के भेद न जाने। वह भेद ज्ञान के विना मिथ्याज्ञानरूप है, मिथ्यादर्शनरूप है तथा मिथ्याचारित्ररूप है। ऐसे तीन प्रकार प्रवर्तता है। जिनके यह नहीं है वे मुनिकुंजर हैं, वे ही आत्मा को सम्यक् जानते हैं सम्यक् श्रद्धान करते

१. नेयमात्मख्यातौ गाथा नात आत्मख्यातिव्याख्यैतस्याः।

किमेतदध्यवसानं नामेति चेत्—

बुद्धी-ववसाओवि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं ।
एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥२७१॥

बुद्धिर्व्यवसायोऽपि च अध्यवसानं मतिश्च विज्ञानं ।
एकार्थमेव सर्वं चित्तं भावश्च परिणामः ॥२७१॥

स्वपरयोरविवेके सति जीवस्याध्यवसितिमात्रमध्यवसानं । तदेव च बोधनमात्रत्वाद्बुद्धिः । व्यवसानमात्रत्वाद् व्यवसायः । मननमात्रत्वान्मतिः । विज्ञप्तिमात्रत्वाद्विज्ञानं । चेतनमात्रत्वाच्चित्तं । चितो भवनमात्रत्वाद् भावः । चितः परिणमनमात्रत्वात् परिणामः ॥२७१॥

यावत्संकल्पविकल्पो तावत्कर्म करोत्यशुभशुभजनकं । आत्मस्वरूपा ऋद्धिः यावत् न हृदये परिस्फुरति । यावत्कालं बहिर्विषये देहपुत्रकलत्रादो ममेतिरूपं संकल्पं करोति अभ्यंतरे हर्षविषादरूपं विकल्पं च करोति तावत्कालमनंतज्ञानादिसमृद्धिरूपमात्मानं हृदये न जानाति । यावत्कालमित्थंभूत आत्मा हृदये न परिस्फुरति, तावत्कालं शुभाशुभजनकं कर्म करोतीत्यर्थः । अथाध्यवसानस्य नाममालामाह;—बोधनं बुद्धिः, व्यवसनं व्यवसायः, अध्यवसनमध्यवसायः, मननं पर्यालोचनं मतिश्च, विज्ञायते अनेनेति विज्ञानं, चितनं चित्तं, भवनं भावः, परिणमनं परिणामः, इति शब्दभेदेऽपि नार्थभेदः–किं तु सर्वोऽपि समभिरूढनयापेक्षयाऽध्यवसानार्थ एव । कथं ? इति चेत्, यथेंद्रः शक्रः पुरंदर इति । एवं व्रतैः पुण्यं, अव्रतैः पापमिति कथनेन सूत्रद्वयं पूर्वमेव व्याख्यातं तस्यैव सूत्रद्वयस्य विशेषविवरणार्थं बाह्यं वस्तु रागाद्यध्यवसानकारणं रागाद्यध्यवसानं तु बंधकारणमिति

हैं सम्यक् आचरण करते हैं । इसलिये अज्ञान के अभाव से सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप हुए कर्मों से लिप्त नहीं होते ॥२७०॥

आगे पूछते हैं कि जिसे कई बार कहते आ रहे हैं वह अध्यवसान क्या है ? इसका स्वरूप अच्छी तरह समझने में नहीं आया, ऐसा पूछने पर अध्यवसान का स्वरूप दिखलाते हैं;—**[बुद्धिः]** बुद्धि **[व्यवसायः]** व्यवसाय **[अपि च]** और **[अध्यवसानं]** अध्यवसान **[च]** और **[मतिः]** मति **[विज्ञानं]** विज्ञान **[चित्तं]** चित्त **[भावः]** भाव **[च]** और **[परिणामः]** परिणाम **[सर्वं]** ये सब **[एकार्थमेव]** एकार्थ ही हैं नाम भेद है इनका अर्थ भिन्न नहीं है ।

टीका—स्व और परका भेद ज्ञान न होने से जो जीव की निश्चिति होना वह अध्यवसान है । वही बोधन मात्र पने से बुद्धि है, निश्चयमात्र पने से व्यवसाय है, जानने मात्रपने से मति है, विज्ञप्ति मात्रपने से विज्ञान है, चेतन मात्रपन से चित्त है, चेतन के भवन मात्रपन से भाव है और परिणमन मात्रपन से परिणाम है । ये सब ही एकार्थ हैं ।

भावार्थ—ये जो बुद्धि आदि आठ नाम कहे हैं वे सभी चेतन आत्मा के परिणाम हैं । जब तक स्व और परका भेद ज्ञान न हो तब तक परमें और अपने में जो एकत्व के निश्चय रूप बुद्धि आदिक होते हैं वे ही अध्यवसान नाम से कहे जाते हैं ॥२७१॥

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनैः
तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः ।
सम्यक् निश्चयमेकमेव तदमी निष्कंपमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नंति संतोधृतिं ॥१७३॥

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण ।
[1]णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥२७२॥

एवं व्यवहारनयः प्रतिषिद्धो जानीहि निश्चयनयेन ।
निश्चयनयाश्रिताः पुनः मुनयः प्राप्नुवंति निर्वाणं ॥२७२॥

कथनमुख्यत्वेन त्रयोदश गाथा गताः, इति समुदायेन पंचदशसूत्रैश्चतुर्थस्थलं समाप्तं ॥ २७१ ॥ अतः परमभेदरत्नत्रयात्मक-निर्विकल्पसमाधिरूपेण निश्चयनयेन विकल्पात्मकव्यवहारनयो हि बाध्यत इति कथनमुख्यत्वेन गाथाषट्कपर्यंतं व्याख्यानं करोति;—**एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण परद्रव्याश्रितत्वाद् व्यवहारनयः प्रतिषिद्ध इति जानीहि। केन कर्तृभूतेन ? शुद्धात्मद्रव्याश्रितनिश्चयनयेन। कस्मात् ? **णिच्छयणयसल्लीणा मुणिणो पावंति णिव्वाणं** निश्चयनयमालीना आश्रिताः स्थिताः संतो मुनयो निर्वाणं लभंते यतः कारणादिति। किं च यद्यपि प्राथमिकापेक्षया प्रारम्भप्रस्तावे सविकल्पावस्थायां निश्चयसाधकत्वाद् व्यवहारनयः सप्रयोजनस्तथापि विशुद्ध-ज्ञानदर्शनलक्षणे शुद्धात्मनि स्थितानां निष्प्रयोजन इति भावार्थः। कथं निष्प्रयोजनः ? इति चेत्, कर्मभिरमुच्यमानेना

आगे अगले कथन की सूचनिका के अर्थ काव्य कहते है—जो अध्यवसान त्यागने योग्य कहा है वहां ऐसी संभावना है कि व्यवहार का त्याग कराया है निश्चय का ग्रहण कराया है—**सर्वत्र** इत्यादि। **अर्थ**—सभी वस्तुओं में जो अध्यवसान है उन्हें जिनेन्द्र भगवान ने सभी को त्यागने योग्य कहा है सो आचार्य कहते हैं कि हम ऐसा मानते हैं कि परके आश्रय से प्रवर्तने वाला सभी व्यवहार छुड़ाया है। इसलिए हम उपदेश करते हैं कि जो सत्पुरुष हैं वे सम्यक् प्रकार एक निश्चय को ही जिस तरह हो सके उस तरह निश्चल अंगीकार करके शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप अपनी आत्मस्वरूप महिमा में स्थिरता क्यों नहीं धारण करते।

भावार्थ—जिनेश्वरदेव ने अन्य पदार्थों में जो आत्मबुद्धिरूप अध्यवसान छुड़ाया है सो ऐसा समझना चाहिए कि पराश्रित सभी व्यवहार छुड़ाया है। इस कारण शुद्धज्ञानस्वरूप अपने आत्मा में स्थिरता रखो ऐसा शुद्ध निश्चय के ग्रहण का उपदेश है। आचार्य ने आश्चर्य भी किया है कि जब भगवान ने अध्यवसान को छुड़ाया है तो सत्पुरुष इसको छोड़कर अपने में स्थिर क्यों नहीं होते ? ॥ १७३ ॥

आगे इसी अर्थ को गाथा में कहते हैं;—**[एवं]** पूर्वकथित रीति से **[व्यवहारनयः]** अध्यवसान रूप व्यवहारनय है वह **[निश्चयनयेन]** निश्चयनय से **[प्रतिषिद्धः]** निषेध रूप **[जानीहि]** जानो **[पुनः]**

---

१. णिच्छयणयसल्लीणा पाठोयं तात्पर्यवृत्तौ।

आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः। तत्रैवं निश्चयनयेन पराश्रितं समस्तमध्यवसानं बंधहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव किल प्रतिषिद्धः, तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात्। प्रतिषेध्य एवं चायं, आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमानत्वात्, पराश्रितव्यवहारनयस्यैकांतेनामुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रीयमाणत्वाच्च ॥२७२॥

कथमभव्येनाश्रीयते व्यवहारनयः? इति चेत्—

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं।
कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥२७३॥

व्रतसमितिगुप्तयः शीलतपो जिनवरैः प्रज्ञप्तं।
कुर्वन्नप्यभव्योऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिस्तु ॥२७३॥

भव्येनाप्याश्रीयमाणत्वात् ॥२७२॥ वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं व्रतसमितिगुप्तिशीलतप-

---

जो [मुनयः] मुनिराज [निश्चयनयाश्रिताः] निश्चय के आश्रित हैं वे [निर्वाणं] मोक्ष को [प्राप्नुवंति] पाते हैं।

टीका—निश्चयनय आत्मा के आश्रित है और व्यवहारनय पर के आश्रित। यहां निश्चयनय से पराश्रित समस्त अध्यवसान (पर और अपने को एक मानना) मुमुक्षुओं को बंध का कारण होने से उस (अध्यवसान) का निषेध करने से वास्तव में व्यवहारनय का ही निषेध कराया है; क्योंकि अध्यवसान और व्यवहारनय दोनों ही पराश्रित हैं। इसलिए व्यवहारनय निषेध करने योग्य है; क्योंकि आत्माश्रित निश्चयनय का आश्रय लेने वाले ही मुक्त होते हैं। पराश्रित व्यवहारनय का आश्रय तो एकांततः कभी मुक्त न होने वाला अभव्य भी करता है।

भावार्थ—आत्मा के जो परके निमित्त से अनेक भाव होते हैं वे सब व्यवहारनय के विषय हैं। इसलिए व्यवहारनय तो पराश्रित है और जो एक अपना स्वाभाविक भाव है वह निश्चय का विषय है। इसलिये निश्चयनय आत्माश्रित है। अध्यवसान भी व्यवहारनय का ही विषय है। इसलिये जो अध्यवसान का त्याग है वह व्यवहारनय का ही त्याग है। सो निश्चयनय को प्रधान कर व्यवहारनय के त्याग का उपदेश है। जो निश्चय के आश्रय प्रवर्तते हैं वे तो कर्म से छूटते हैं और जो एकांत से व्यवहारनय के ही आश्रय प्रवर्त रहे हैं वे कर्म से कभी नहीं छूटते ॥२७२॥

आगे पूछते हैं कि अभव्य जीव व्यवहारनय को कैसे आश्रय करता है? ऐसा पूछने पर उत्तर कहते हैं;—[व्रतसमितिगुप्तयः] व्रत समिति गुप्ति [शीलतपः] शील तप [जिनवरैः] जिनेश्वर देव ने [प्रज्ञप्तं] कहे हैं उनको [कुर्वन्नपि] करता हुआ भी [अभव्यः] अभव्य जीव [अज्ञानी मिथ्यादृष्टिः तु] अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है।

शीलतपःपरिपूर्णं त्रिगुप्तिपंचसमितिपरिकलितमहिंसादिपंचमहाव्रतरूपं व्यवहारचारित्रमभव्योऽपि कुर्यात् तथापि स निश्चारित्रोऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिरेव निश्चयचारित्रहेतुभूतज्ञानश्रद्धानशून्यत्वात् ॥२७३॥

तस्यैकादशांगज्ञानमस्ति ? इति चेत्—

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ॥२७४॥

मोक्षमश्रद्दधानोऽभव्यसत्त्वस्तु योऽधीयीत।
पाठो न करोति गुणमश्रद्दधानस्य ज्ञानं तु ॥२७४॥

श्चरणादिकं जिनवरैः प्रज्ञप्तं कथितं **कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठीओ** मंदमिथ्यात्वमंदकषायोदये सति कुर्वन्नप्यभव्यो जीवस्त्वज्ञानी भवति मिथ्यादृष्टिश्च भवति। कस्मात् ? इति चेत्, मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयाभावात् शुद्धात्मोपादेयश्रद्धानाभावात् इति ॥२७३॥ अथ तस्यैकादशांगश्रुतज्ञानमस्ति कथमज्ञानी ? इति चेत्:— **मोक्खं असद्दहंतो अभविय सत्तो दु जो अधीयेज्ज** मोक्षमश्रद्दधानः सन्नभव्यजीवो यद्यपि ख्यातिपूजालाभार्थमेकादशांगश्रुताध्ययनं कुर्यात् **पाठो ण करेदि गुणं** तथापि तस्य शास्त्रपाठः शुद्धात्मपरिज्ञानरूपं गुणं न करोति। किं कुर्वतस्तस्य ? **असद्दहंतस्स णाणं तु** अश्रद्दधतोऽरोचमानस्य। किं ? ज्ञानं। कोऽर्थः ? शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण निर्विकल्पसमाधिना प्राप्यं गम्यं शुद्धात्मस्वरूपमिति। कस्मान्न श्रद्धत्ते ? दर्शनचारित्रमोहनीयोपशमक्षयोपशमक्षयाभावात्। तदपि कस्मात् ? अभव्यत्वादिति भावार्थः ॥२७४॥ अथ तस्य पुण्यरूपधर्मादिश्रद्धानमस्तीति चेत्;—

टीका—शील तप से परिपूर्ण तीन गुप्ति पांच समिति से संयुक्त, अहिंसादिक पांच महाव्रत रूप ऐसा व्यवहार चारित्र को अभव्य भी करता (पालता) है, तो भी वह अभव्य चारित्र से रहित ही है अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है क्योंकि उसके निश्चय चारित्र का कारण स्वरूप का ज्ञान और श्रद्धान नहीं है।

भावार्थ—अभव्य जीव महाव्रत समिति गुप्त रूप व्यवहार पाले तौ भी निश्चय सम्यक् ज्ञान श्रद्धान के बिना वह सम्यक् चारित्र नाम नहीं पाता। इसलिये वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही रहता है ॥२७३॥

आगे शिष्य कहता है कि उसके तो ग्यारह अंगतक का ज्ञान होता है उसे अज्ञानी क्यों कहा ? उसका उत्तर कहते हैं;—**[यः अभव्यसत्त्वः]** जो अभव्य जीव **[अधीयीत]** शास्त्र का पाठ भी पढ़ता है **[तु]** परंतु **[मोक्षं]** मोक्ष तत्त्व का **[अश्रद्दधानः]** श्रद्धान नहीं करता **[तु]** तो **[ज्ञानं अश्रद्दधानस्य]** ज्ञान का श्रद्धान नहीं करने वाले उस अभव्य का **[पाठः]** शास्त्र पढ़ना **[गुणं न करोति]** लाभ नहीं करता।

मोक्षं हि न तावदभव्यः श्रद्धत्ते शुद्धज्ञानमयात्मज्ञानशून्यत्वात् ततो ज्ञानमपि नासौ श्रद्धत्ते, ज्ञानमश्रद्दधानश्चाचाराद्येकादशांगं श्रुतमधीयानोऽपि श्रुताध्ययनगुणाभावान्न ज्ञानी स्यात् स किल गुणः श्रुताध्ययनस्य यद्विविक्तवस्तुभूतज्ञानमयात्मज्ञानं तच्च विविक्तवस्तुभूतं ज्ञानमश्रद्दधानस्या-भव्यस्य श्रुताध्ययनेन न विधातुं शक्येत ततस्तस्य तद्गुणाभावः, ततश्च ज्ञानश्रद्धानाभावात् सोऽज्ञानीति प्रतिनियतः ॥२७४॥

तस्य धर्मश्रद्धानमस्तीति चेत्—

सद्दहदि य पत्तियदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥ २७५ ॥

श्रद्दधाति च प्रत्येति च रोचयति च तथा पुनश्च स्पृशति ।
धर्मं भोगनिमित्तं न तु स कर्मक्षयनिमित्तं ॥ २७५ ॥

अभव्यो हि नित्यकर्मकर्मफलचेतनारूपं वस्तु श्रद्धत्ते, नित्यज्ञानचेतनामात्रं न तु श्रद्धत्ते

सद्दहदि य श्रद्धते च पत्तेदि य ज्ञानरूपेण प्रत्येति च प्रतीतिं परिच्छित्तिं करोति रोचेदि य विशेषश्रद्धानरूपेण रोचते च तह पुणोवि फासेदिय तथा पुनः स्पृशति च अनुष्ठानरूपेण । कं ? धम्मं भोगणिमित्तं अहमिंद्रादि

टीका—अभव्य जीव प्रथम तो निश्चय से मोक्ष का ही श्रद्धान नहीं करता क्योंकि शुद्ध ज्ञानमय आत्मा का ज्ञान ही अभव्य के नहीं है, इसलिये अभव्य जीव ज्ञान को भी श्रद्धानरूप नहीं करता । और ज्ञान का श्रद्धान न करने वाला अभव्य आचारांग को आदि लेकर ग्यारह अंगरूप श्रुत को पढ़ता हुआ भी शास्त्र पढने के फल के अभाव से ज्ञानी नहीं होता । शास्त्र पढ़ने का यह गुण है कि भिन्न वस्तुभूत ज्ञानमय आत्मा का ज्ञान हो । सो उस भिन्न वस्तुभूत ज्ञान को नहीं श्रद्धान करने वाला अभव्य शास्त्र के पढ़ने से आत्मज्ञान करने को समर्थ नहीं होता । इसलिये उसके शास्त्र पढ़ने का जो भिन्न आत्मा का जानना, वह नहीं है इसलिये सच्चे ज्ञान श्रद्धान के अभाव से वह अभव्य अज्ञानी ही है यह नियम है ।

भावार्थ—अभव्य जीव ग्यारह अंग पढ़े तो भी उसके शुद्ध आत्मा का ज्ञान श्रद्धान नहीं होता इसलिये उसके शास्त्र का पढ़ना गुणकारी नहीं हुआ । इस कारण वह अज्ञानी ही है ।।२७४।।

आगे शिष्य फिर कहता है कि उस अभव्य के धर्म का तो श्रद्धान होता है वह कैसे निषेध करते हो ? उसका उत्तर कहते है;—[सः] वह अभव्य जीव [धर्मं] धर्म को [श्रद्दधाति च] श्रद्धान करता है [प्रत्येति च] प्रतीति करता है [रोचयति च] रुचि करता है [पुनश्च] और [स्पृशति] स्पर्शता है वह [भोगनिमित्तं] संसार भोग के निमित्त जो धर्म है उसी को श्रद्धान आदि करता है [तु] परन्तु [कर्मक्षयनिमित्तं] कर्मक्षय होने का निमित्तरूप धर्म का [न] श्रद्धान आदि नहीं करता ।

टीका—अभव्य जीव नित्य ही कर्म और कर्मफलचेतनारूप वस्तु की श्रद्धा करता है परन्तु

निस्यमेव भेदविज्ञानानर्हत्वात् । ततः स कर्ममोक्षनिमित्तं ज्ञानमात्रं भूतार्थं धर्मं न श्रद्धत्ते । भोगनिमित्तं शुभकर्ममात्रमभूतार्थमेव श्रद्धत्ते । तत एवासौ अभूतार्थधर्मश्रद्धानप्रत्ययनरोचनस्पर्शनैरुपरितनग्रैवेयकभोगमात्रमास्कंदेन्न पुनः कदाचनापि विमुच्यते, ततोऽस्य भूतार्थधर्मश्रद्धानाभावात् श्रद्धानमपि नास्ति । एवं सति तु निश्चयनयस्य व्यवहारनयप्रतिषेधो युज्यत एव ॥ २७५ ॥

पदवीकारणत्वादिति मत्वा भोगाकांक्षारूपेण पुण्यरूपं धर्मं **ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं** नच कर्मक्षयनिमित्तं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं निश्चयधर्ममिति ॥ २७५ ॥ अथ कीदृशौ तौ प्रतिषेध्यप्रतिषेधकौ व्यवहारनिश्चयनयाविति चेत्;—**आयारादी णाणं** आचारसूत्रकृतमित्यादि एकादशांगशब्दशास्त्रं ज्ञानस्याश्रयत्वात्कारणत्वाद् व्यवहारेण ज्ञानं भवति । **जीवादी दंसणं च विण्णेयं** जीवादिनवपदार्थः श्रद्धानविषयः सम्यक्त्वाश्रयत्वान्निमित्तत्वाद् व्यवहारेण सम्यक्त्वं भवति । **छज्जीवाणं रक्खा भणदि चरित्तं तु ववहारो** षट्जीवनिकायरक्षा चारित्राश्रयत्वात् हेतुत्वाद् व्यवहारेण चारित्रं भवति । एवं पराश्रितत्वेन व्यवहारमोक्षमार्गः प्रोक्त इति । **आदा खु मज्झ णाणे** स्वशुद्धात्मा ज्ञानस्याश्रयत्वान्निमित्तत्वान्निश्चयनयेन मम सम्यग्ज्ञानं भवति । **आदा मे दंसणे** शुद्धात्मा सम्यग्दर्शनस्याश्रयत्वात् कारणत्वात् निश्चयेन सम्यग्दर्शनं भवति **चरित्ते य** शुद्धात्मा चारित्रस्याश्रयत्वाद्धेतुत्वात् निश्चयेन सम्यक्चारित्रं भवति **आदा पच्चक्खाणे** शुद्धात्मा रागादिपरित्यागलक्षणस्यप्रत्याख्यानस्याश्रयत्वात्कारणत्वात् निश्चयेन प्रत्याख्यानं भवति । **आदा मे संवरे** शुद्धात्मा स्वरूपोपलब्धिबलेन हर्षविषादादिनिरोधलक्षणसंवरस्याश्रयत्वान्निश्चयेन संवरो

नित्य ज्ञान चेतनामात्र वस्तु का श्रद्धान नहीं करता क्योंकि अभव्य जीव नित्य ही आप परके भेदज्ञान के योग्य नहीं है । इसलिये वह अभव्य ज्ञानमात्र सत्यार्थ धर्म जो कि कर्मक्षय का निमित्त है उसको श्रद्धान नहीं करता, परन्तु शुभ कर्ममात्र असत्यार्थ धर्म जो भोगों का निमित्त है उसको श्रद्धान करता है । इसीलिये यह अभव्य अभूतार्थ धर्म का श्रद्धान, प्रतीति, रुचि, स्पर्शन इनकर ऊपर के ग्रैवेयकतक के भोगमात्रों को पाता है परन्तु कर्म से कभी नहीं छूटता । इसलिये इसके सत्यार्थ धर्म के श्रद्धान का अभाव होने से सच्चा श्रद्धान भी नहीं है । ऐसा होनेपर निश्चयनय में व्यवहारनय का निषेध युक्त ही है ।

भावार्थ—अभव्य जीव कर्मफलचेतना को जानता है परन्तु ज्ञानचेतना को नहीं जानता क्योंकि इसके भेदज्ञान होने की योग्यता नहीं है; इस कारण इसके शुद्ध आत्मीक धर्म का श्रद्धान नहीं है । शुभ कर्म को ही धर्म समझ कर श्रद्धान करता है, उसका फल ग्रैवेयकतक के भोग पाता है परन्तु कर्म का क्षय नहीं होता । इसलिये इसके सत्यार्थ धर्म का भी श्रद्धान नहीं कहा जा सकता, इसी से निश्चयनय में व्यवहारनय का निषेध है । यहां इतना और जानना कि यह हेतुवादरूप अनुभवप्रधानग्रंथ है इसलिये भव्य अभव्य का अनुभव की अपेक्षा निर्णय है, तथा यही अहेतुवाद आगम से मिलाओ तब अभव्य के सूक्ष्म केवली गम्य ऐसा ही व्यवहारनय की पक्ष का आशय रह जाता है । वह छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) के अनुभवगोचर नहीं होता, सर्वज्ञदेव जानते हैं । उसके केवल व्यवहार की पक्ष से सर्वथा एकांत रूप मिथ्यात्व रहता है अभव्य का यह आशय सर्वथा नहीं मिटता इसलिये अभव्य ही है ॥२७५॥

कीदृशौ प्रतिषेध्यप्रतिषेधकौ व्यवहारनिश्चयनयाविति चेत्—

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं ।
[1]छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरित्तं तु ववहारो ॥ २७६ ॥
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च ।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥ २७७ ॥ (युगलम्)

आचारादि ज्ञानं जीवादि दर्शनं च विज्ञेयं ।
षड्जीवनिकां च तथा भणति चरित्रं तु व्यवहारः ॥२७६॥
आत्मा खलु मम ज्ञानमात्मा मे दर्शनं चरित्रं च ।
आत्मा प्रत्याख्यानं आत्मा मे संवरो योगः ॥२७७॥

आचारादिशब्दश्रुतं ज्ञानस्याश्रयत्वात् ज्ञानं, जीवादयो नवपदार्था दर्शनस्याश्रयत्वा-

---

भवति **जोगो** शुद्धात्मा शुभाशुभचिंतानिरोधलक्षणपरमध्यानशब्दवाच्ययोगस्याश्रयत्वाद्धेतुत्वात् परमयोगो भवतीति । शुद्धात्माश्रितत्वेन निश्चयमोक्षमार्गो ज्ञातव्यः। एवं व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गस्वरूपं कथितं। तत्र निश्चयः प्रतिषेधको भवति, व्यवहारस्तु प्रतिषेध्य इति। कस्मादिति चेत्, निश्चयमोक्षमार्गे स्थितानां नियमेन मोक्षो भवति, व्यवहारमोक्षमार्गे स्थितानां तु भवति न भवति च। कथं भवति न भवति ? इति चेत्, यदि मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयात्स-काशाच्छुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा वर्तते तदा मोक्षो भवति। यदि पुनः सप्तप्रकृत्युपशमाद्यभावे शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा न वर्तते तदा मोक्षो न भवति। तदपि कस्मात् ? सप्तप्रकृत्युपशमाद्यभावे सति अनंतज्ञानादिगुणस्वरूपमात्मानमुपादेयं कृत्वा न वर्तते न श्रद्धत्ते यतः कारणात्। यस्तु तादृशमात्मानमुपादेयं कृत्वा श्रद्धत्ते तस्य सप्तप्रकृत्युपशमादिकं विद्यते स तु भव्यो भवति। यस्य पुनः पूर्वोक्तशुद्धात्मस्वरूपमुपादेयं नास्ति तस्य सप्तप्रकृत्युपशमादिकं न विद्यते इति ज्ञातव्यं

आगे पूछते हैं कि निश्चयनय तो व्यवहार का प्रतिषेधक कहा है और निश्चयनय के व्यवहारनय प्रतिषेधने योग्य कहा सो ये दोनों ही किस तरह हैं ? ऐसा पूछने पर निश्चय व्यवहार का स्वरूप कहते हैं—**[आचारादि ज्ञानं]** आचारांग आदि शास्त्र तो ज्ञान हैं **[च]** तथा **[जीवादि दर्शनं]** जीवादि तत्त्व हैं वे दर्शन **[विज्ञेयं]** जानना **[च]** और **[षड्जीवनिकायं]** छह काय के जीवों की रक्षा **[चारित्रं]** चारित्र है **[तथा तु]** इस तरह तो **[व्यवहारः भणति]** व्यवहारनय कहता है **[खलु]** और निश्चयकर **[मम आत्मा ज्ञानं]** मेरा आत्मा ही ज्ञान है **[मे आत्मा]** मेरा आत्मा ही **[दर्शनं चारित्रं च]** दर्शन और चारित्र है **[आत्मा]** मेरा आत्मा ही **[प्रत्याख्यानं]** प्रत्याख्यान है **[मे आत्मा]** मेरा आत्मा ही **[संवरः योगः]** संवर और योग (समाधि ध्यान) है। ऐसे निश्चयनय कहता है।

टीका—आचारांग को आदि लेकर जो शब्दश्रुत है वह ज्ञान है क्योंकि वह ज्ञान का आश्रय

---

१. तात्पर्यवृत्तौ छज्जीवाणं रक्खा इति पाठः।

दर्शनं, षड्जीवनिकायरक्षाचारित्रस्याश्रयत्वात् चारित्रं, इति व्यवहारः। शुद्ध आत्मा ज्ञानाश्रयत्वाद् ज्ञानं, शुद्ध आत्मा दर्शनाश्रयत्वाद्दर्शनं, शुद्ध आत्मा चारित्राश्रयत्वाच्चारित्रमिति निश्चयः। तत्राचारादीनां ज्ञानाश्रयत्वस्यानैकांतिकत्वाद् व्यवहारनयः प्रतिषेध्यः। निश्चयनयस्तु शुद्धस्यात्मनो ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यैकांतिकत्वात् तत्प्रतिषेधकः। तथाहि—नाचारादिशब्दश्रुतं, एकांतेन ज्ञानस्याश्रयः तत्सद्भावेप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन ज्ञानस्याभावात्। न जीवादयः पदार्था दर्शनस्याश्रयाः, तत्सद्भावेप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन दर्शनस्याभावात्। न च षड्जीवनिकायः चारित्रस्याश्रयस्तत्सद्भावेप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन चारित्रस्याभावात्। शुद्ध आत्मैव ज्ञानस्याश्रयः, आचारादिशब्दश्रुतसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव ज्ञानस्य सद्भावात्। शुद्ध आत्मैव दर्शनस्याश्रयः, जीवादिपदार्थसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव दर्शनस्य सद्भावात्। शुद्ध आत्मैव चारित्रस्याश्रयः षड्जीवनिकायसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव चारित्रस्य सद्भावात्॥ २७६। २७७॥

मिथ्यादृष्टिरसौ। तेन कारणेनाभव्यजीवस्य मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमादिकं कदाचिदपि न संभवति इति भावार्थः। किं च, निर्विकल्पसमाधिरूपे निश्चये स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्यः, किं तु तस्यां त्रिगुप्तावस्थायां व्यवहारः स्वयमेव

है। जीव को आदि लेकर नव पदार्थ हैं वे दर्शन हैं क्योंकि ये दर्शन के आश्रय हैं। छः जीवों की रक्षा चारित्र है क्योंकि यह चारित्र का आश्रय है। इस तरह से तो व्यवहारनय के वचन हैं। शुद्ध आत्मा ज्ञान है क्योंकि ज्ञान का आश्रय आत्मा ही है। शुद्ध आत्मा ही दर्शन है क्योंकि दर्शन का आश्रय आत्मा ही है। शुद्ध आत्मा ही चारित्र है क्योंकि चारित्र का आश्रय आत्मा ही है। ऐसे निश्चयनय के वचन हैं। आचारांग आदिक को ज्ञानादिक के आश्रयपने का व्यभिचार है, आचारांग आदिक तो हों परन्तु ज्ञान आदिक नहीं भी हों इसलिये व्यवहारनय प्रतिषेध करने योग्य है निश्चयनय में शुद्ध आत्मा के साथ ज्ञानादिक के आश्रयत्व का ऐकांतिकपना है। जहां शुद्ध आत्मा है वहां ही ज्ञान दर्शन चारित्र हैं इसलिये व्यवहारनय का निषेध करने वाला है। यही हेतु से कहते हैं—आचारादि शब्दश्रुत एकांत से ज्ञान का आश्रय नहीं है क्योंकि आचारांगादिक का अभव्य जीव के सद्भाव होने पर भी शुद्ध आत्मा का अभाव होने से ज्ञान का अभाव है। जीव आदि नौ पदार्थ दर्शन का आश्रय नहीं हैं क्योंकि अभव्य के उनका सद्भाव होने पर भी शुद्धात्मा का अभाव होने से दर्शन का भी अभाव है। छहकाय के जीवों की रक्षा चारित्र का आश्रय नहीं है क्योंकि उसके मौजूद होने पर भी अभव्य के शुद्धात्मा का अभाव होने से चारित्र का अभाव है। शुद्ध आत्मा ही ज्ञान का आश्रय है क्योंकि आचारांगादि शब्दश्रुत का सद्भाव होने पर या असद्भाव होने पर शुद्ध आत्मा के सद्भाव से ही ज्ञान का सद्भाव है। शुद्ध आत्मा ही दर्शन का आश्रय है क्योंकि जीवादि पदार्थों का सद्भाव होने वा न होने पर भी शुद्ध आत्मा के सद्भाव से ही दर्शन का सद्भाव है। शुद्ध आत्मा ही चारित्र का आश्रय है क्योंकि छहकाय के जीवों की रक्षा का सद्भाव होने तथा असद्भाव होने पर भी शुद्धात्मा के सद्भाव से ही चारित्र का सद्भाव है।

भावार्थ—आचारांगादि शब्द श्रुत का जानना, जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना तथा छह-

रागादयो बंधनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः ।
आत्मा परो वा किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ॥ १७४ ॥

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥ २७८ ॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥ २७९ ॥ (युगलम्)

यथा स्फटिकमणिः शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः ।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रक्तादिभिर्द्रव्यैः ॥ २७८ ॥
एवं ज्ञानी शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः ।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रागादिभिर्दोषैः ॥ २७९ ॥

यथा खलु केवलः स्फटिकोपलः परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन

नास्तीति तात्पर्यार्थः । एवं निश्चयनयेन व्यवहारः प्रतिषिद्ध इति कथनरूपेण षट्सूत्रैः पंचमं स्थलं गतं ॥२७६।२७७॥ अथ रागादयः किल कर्मबंधकारणं भणिताः, तेषां पुनः किं कारणं ? इति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह;—यथा स्फटिकमणिर्विशुद्धो बहिरुपाधिं विना स्वयं रागादिभावेन न परिणमति पश्चात् स एव रज्यते, कैः ? जपापुष्पादिबहिर्भूतान्यद्रव्यैरिति दृष्टांतो गतः । एवमनेन दृष्टांतेन ज्ञानी शुद्धो भवन् स्वयं निरुपाधिचिच्चमत्कारस्वभावेन कृत्वा जपापुष्पस्थानीयकर्मोदयरूपपरोपाधिं विना

काय के जीवों की रक्षा इन सब के होने पर भी अभव्य के ज्ञान दर्शन चारित्र नहीं होते इसलिये व्यवहार नय प्रतिषेध्य है । तथा शुद्धात्मा के होनेपर ज्ञान दर्शन चारित्र होते ही हैं इस कारण निश्चयनय इस व्यवहार का प्रतिषेधक है; इसलिये शुद्धनय उपादेय कहा है ॥२७६।२७७॥

आगे अगले कथन की सूचनिका का काव्य कहते हैं—**रागादयो** इत्यादि । **अर्थ**—यहां शिष्य फिर पूछताहै कि रागादिक हैं वे तो बंध के कारण कहे और वे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा से भिन्न कहे हैं वहां पर उनके होने में आत्मा निमित्त कारण है या कोई अन्य ? ॥१७४॥

ऐसे प्रेरे हुए आचार्य इसका उत्तर दृष्टांतपूर्वक कहते हैं;—**[यथा]** जैसे **[स्फटिकमणिः]** स्फटिकमणि **[शुद्धः]** आप शुद्ध है वह **[रागाद्यैः]** ललाई आदि रंगस्वरूप **[स्वयं न परिणमते]** आप तो नहीं परणमती **[तु]** परन्तु **[सः]** वह **[अन्यैः रक्तादिभिः द्रव्यैः]** दूसरे लाल काले आदि द्रव्यों से **[रज्यते]** ललाई आदि रंग स्वरूप परणमती है **[एवं]** इसी प्रकार **[ज्ञानी]** ज्ञानी **[शुद्धः]** आप शुद्ध है **[सः]** वह **[रागाद्यैः]** रागादि भावों से **[स्वयं न परिणमते]** आप तो नहीं परिणमता **[तु]** परन्तु **[अन्यैः रागादिभिः दोषैः]** अन्य रागादि दोषों से **[रज्यते]** रागादिरूप किया जाता है ।

टीका—जैसे वास्तव में केवल (अकेला) स्फटिक पाषाण आप परिणाम स्वभावरूप होने पर

रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते, परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणम्यते। तथा केवलः किलात्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमते परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणम्येत, इति तावद्वस्तुस्वभावः ॥ २७८। २७९ ॥

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककांतः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥ १७५ ॥
इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ॥ १७६ ॥

रागादिविभावैर्न परिणमति पश्चात्सहजस्वच्छभावच्युतः सन् स एव रज्यते। कैः ? अन्यैः कर्मोदयनिमित्तै रागादिदोषैः

भी अपने शुद्ध स्वभावपने से तो रागादि निमित्त के अभाव से रागादिकों से आप नहीं परिणमता, आप ही अपने रागादि परिणाम होने का निमित्त नहीं है, परन्तु परद्रव्य स्वयं रागादिभाव को प्राप्त होने से स्फटिक के रागादिक का निमित्तभूत है, उससे शुद्ध स्वभाव से च्युत (रहित) हुआ ही रागादि रंग रूप परिणमता है, उसी तरह अकेला आत्मा परिणमन स्वभावरूप होने पर भी अपने शुद्ध स्वभावपने से रागादि निमित्तपने के अभाव से आप ही रागादिभावों से नहीं परिणमता, अपने आपही रागादि परिणाम का निमित्त नहीं है परन्तु परद्रव्य स्वयं रागादिभाव को प्राप्त होने से आत्मा के रागादिक का निमित्तभूत है उससे शुद्धस्वभाव से च्युत हुआ ही रागादिक से परिणमता है। ऐसा ही वस्तुका स्वभाव है।

भावार्थ—आत्मा एकाकी तो शुद्ध ही है परन्तु परिणाम स्वभाव है, जिस तरह का परका निमित्त मिले वैसा ही परिणमता है। इसलिये रागादिक रूप परद्रव्य के निमित्त से परिणमता है। यहां स्फटिकमणि का दृष्टांत है—कि, स्फटिकमणि आप तो केवल एकाकार शुद्ध ही है परन्तु जब परद्रव्य की ललाई आदिका डंक लगे तब ललाई आदि रूप परिणमती है। ऐसा यह वस्तुका ही स्वभाव है।२७८।२७९।

अब इस अर्थ का कलश कहते हैं—**न जातु** इत्यादि। **अर्थ**—आत्मा अपने रागादिक के निमित्त-भाव को कभी नहीं प्राप्त होता। उस आत्मा में रागादिक होने का निमित्त परद्रव्य का सम्बन्ध ही है। यहां सूर्यकांतमणि का दृष्टांत है—जैसे सूर्यकांतमणि आप अग्निरूप नहीं परणमती उसमें सूर्य का बिंब अग्निरूप होने को निमित्त है वैसे जानना। यह वस्तु का स्वभाव उदय को प्राप्त है किसी का किया हुआ नहीं है ॥१७५॥

आगे कहते हैं कि ऐसे वस्तु के स्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी रागादिक को अपने नहीं करता ऐसी सूचनिका का श्लोक कहते हैं—**इति वस्तु** इत्यादि। **अर्थ**—इस तरह अपने वस्तुस्वभाव को ज्ञानी जानता है इस कारण वह ज्ञानी रागादिक को अपने में नहीं करता इसलिये रागादिक का कर्ता नहीं है ॥१७६॥

ण य रायदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं ॥२८०॥

नापि रागद्वेषमोहं करोति ज्ञानी कषायभावं वा ।
[1]स्वयमात्मनो न स तेन कारकस्तेषां भावानां ॥२८०॥

यथोक्तं वस्तुस्वभावं जानन् ज्ञानी शुद्धस्वभावादेव न प्रच्यवते, ततो रागद्वेषमोहादिभावैः स्वयं न परिणमते न परेणापि परिणम्यते, ततष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावो ज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानामकर्तैवेति [2]नियमः ॥२८०॥

"इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः ।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ॥१७७॥

परिणामैरिति, तेन ज्ञायते, कर्मोदयजनिता रागादयो न तु ज्ञानिजीवजनिता इति दार्ष्टांतो गतः ॥२७८।२७९॥ एवं चिदानंदैकलक्षणं स्वस्वभावं जानन् ज्ञानी रागादीन्न करोति ततो नवतररागाद्युत्पत्तिकारणभूतकर्मणां कर्ता न भवतीति कथयति;—**णवि रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा** ज्ञानी न करोति । कान् ? रागादिदोषरहितशुद्धात्मस्वभावात्पृथग्भूतान् रागद्वेषमोहान् क्रोधादिकषायभावं वा । कथं न करोति ? **सयं** स्वयं शुद्धात्मभावेन कर्मोदयसहकारिकारणं विना । कस्य संबंधित्वेन ? **अप्पणो** आत्मनः **ण सो तेण कारगो तेसिं भावाणं** तेन कार-

आगे ऐसा ही गाथा में कहते हैं;—**[ज्ञानी]** ज्ञानी **[स्वयमेव]** आप ही **[आत्मनः]** अपने **[रागद्वेषमोहं]** राग द्वेष मोह **[वा कषायभावं]** तथा कषाय भाव **[न च करोति]** नहीं करता **[तेन]** इस कारण **[सः]** वह ज्ञानी **[तेषां भावानां]** उन भावों का **[कारकः न]** कर्ता नहीं है ।

टीका—जैसा वस्तु का स्वभाव कहा गया है वैसा जानता हुआ ज्ञानी अपने शुद्ध स्वभावसे नहीं छूटता, इसलिये राग-द्वेष-मोह आदि भावों से अपने आप नहीं परिणमता और दूसरे से भी नहीं परिणमाया जाता । इस कारण टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव स्वरूप ज्ञानी राग-द्वेष-मोह आदि भावों का अकर्ता ही है ऐसा नियम है ।

भावार्थ—जब ज्ञानी हुआ तब वस्तु का ऐसा स्वभाव जाना कि आप तो आत्मा शुद्ध है द्रव्य-दृष्टि से अपरिणमन स्वरूप है पर्याय दृष्टि से परद्रव्य के निमित्त से रागादि रूप परिणमता है सो अब आप ज्ञानी हुआ उन भावों का कर्ता नहीं होता, उदय में आये हुए फलों का ज्ञाता ही है ॥२८०॥

आगे कहते हैं कि अज्ञानी ऐसा वस्तु का स्वभाव नहीं जानता इसलिये रागादिभावों का कर्ता होता है इसकी सूचना का श्लोक कहा है—**इति वस्तु** इत्यादि । **अर्थ**—अज्ञानी ऐसे अपने वस्तु स्वभाव को नहीं जानता इसलिये वह अज्ञानी रागादिक भावों को अपने करता है, इस कारण उन (रागादिकों) का करने वाला (करता) होता है ॥१७७॥

१. "स्वयमेवात्मनः" इति लिखितप्रतिषु पाठः । २. 'प्रतिनियमः' इत्यपि पाठांतरं ।

रायह्मि य दोसह्मि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदि पुणोवि ॥२८१॥

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः।
तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति पुनरपि ॥२८१॥

यथोक्तं वस्तुस्वभावमजानंस्त्वज्ञानी शुद्धस्वभावादासंसारं प्रच्युत एव। ततः कर्मविपाकप्रभवै रागद्वेषमोहादिभावैः परिणममानोऽज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानां कर्ता भवन् बध्यत एवेति प्रतिनियमः ॥२८१॥

णेन स तत्त्वज्ञानी तेषां रागादिभावानां कर्ता न भवतीति ॥२८०॥ अज्ञानी जीवः शुद्धस्वभावमात्मानमजानन् रागादीन् करोति ततः स भाविरागादिजनकनवतरकर्मणां कर्ता भवतीत्युपदिशति;—**रागह्मि य दोसह्मि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा** रागद्वेषकषायरूपे द्रव्यकर्मण्युदयागते सति स्वस्वभावच्युतस्य तदुदयनिमित्तेन ये जीवगतरागादिभावाः परिणामा भवंति। **तेहिं दु परिणममाणो रागादी बंधदि पुणोवि** तैः कृत्वा रागादिरहमित्यभेदेनाहमिति प्रत्ययेन कृत्वा परिणमन् सन् पुनरपि भाविरागादिपरिणामोत्पादकानि द्रव्यकर्माणि बध्नाति ततस्तेषां रागादीनामज्ञानी जीवः कर्ता भवतीति ॥२८१॥ तमेवार्थं दृढयति;—पूर्वगाथायामहं रागादीत्यभेदेन परिणमन् सन् तानि रागादिभावोत्पादकानि नवतरद्रव्यकर्माणि बध्नातीत्युक्तं। अत्र तु शुद्धात्मभावनारहितत्वेन मदीयो रागः इति संबंधेन परिणमन् सन् तानि नवतरद्रव्यकर्माणि बध्नाति, इति विशेषः? किं च विस्तरः—यत्र मोहरागद्वेषा व्याख्यायंते तत्र मोहशब्देन दर्शनमोहः मिथ्यात्वादिजनक इति ज्ञातव्यं, रागद्वेषशब्देन तु क्रोधादिकषायोत्पादकश्चारित्रमोहो ज्ञातव्यः। अत्राह शिष्यः—मोहशब्देन तु मिथ्यात्वादिजनको दर्शनमोहो भवतु दोषो नास्ति रागद्वेषशब्देन चारित्रमोह इति कथं भण्यते? इति पूर्वपक्षे परिहारं ददाति—कषायवेदनीयाभिधानचारित्रमोहमध्ये क्रोधमानौ द्वेषांगौ द्वेषोत्पादकत्वात्, मायालोभौ रागांगौ रागजनकत्वात्, नोकषायवेदनीयसंज्ञचारित्रमोहमध्ये स्त्रीपुन्नपुंसकवेदत्रयहास्यरतयः पंचनोकषायाः रागांगा रागोत्पादकत्वात्, अरतिशोकभयजुगुप्सासंज्ञा-

---

अब इस अर्थ की गाथा कहते हैं;—**[रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव]** रागद्वेष और कषाय कर्म इनके होने पर **[ये भावाः]** जो भाव होते है **[तैस्तु]** उनसे **[परिणममानः]** परिणमता हुआ अज्ञानी **[रागादीन्]** रागादिकों को **[पुनरपि]** बार-बार **[बध्नाति]** बांधता है।

टीका—जैसा वस्तु का स्वभाव कहा गया है वैसे स्वभाव को नहीं जानता हुआ अज्ञानी अपने शुद्ध स्वभाव से अनादि संसार से लेकर च्युत हुआ ही है इस कारण कर्म के उदय से हुए जो राग-द्वेष-मोहादिक भाव हैं उनसे परिणमता अज्ञानी राग-द्वेष-मोहादिक भावों का कर्ता हुआ कर्मों से बंधता ही है, ऐसा नियम है।

भावार्थ—अज्ञानी वस्तु का यथार्थस्वभाव तो जानता नहीं है परंतु कर्म के उदय से जैसा भाव हो उसको अपना समझ परिणमता है तब उन भावों का कर्ता हुआ आगामी बार-बार कर्म बांधता है यह नियम है ॥२८१॥

ततः स्थितमेतत्—

रायह्मि य दोसह्मि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
तेहिं[1] दु परिणमंतो रायाई बंधदे चेदा ॥ २८२ ॥

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः ।
तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति चेतयिता ॥ २८२ ॥

य इमे किलाज्ञानिनः पुद्गलकर्मनिमित्ता रागद्वेषमोहादिपरिणामास्त एव भूयो रागद्वेष-मोहादिपरिणामनिमित्तस्य पुद्गलकर्मणो बंधहेतुरिति ॥ २८२ ॥

कथमात्मा रागादीनामकारकः ? इति चेत्—

अपडिक्कमणं दुविहं अपच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं ।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ॥२८३ ॥
अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे तहा अपच्चक्खाणं ।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चेया ॥ २८४ ॥
जावं अपडिक्कमणं अपच्चक्खाणं च दव्वभावाणं ।
कुव्वइ आदा तावं कत्ता सो होइ णायव्वो ॥ २८५ ॥ (त्रिकलम्)

अप्रतिक्रमणं द्विविधमप्रत्याख्यानं तथैव विज्ञेयं ।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥२८३॥

इचत्वारो द्वेषांगा द्वेषोत्पादकत्वात् इत्यनेनाभिप्रायेण मोहशब्देन दर्शनमोहो मिथ्यात्वं भण्यते रागद्वेषशब्देन पुनश्चारित्रमोह इति सर्वत्र ज्ञातव्यं । एवं कर्मबंधकारणं रागादयः, रागादीना च कारणं निश्चयेन कर्मोदयो, न च ज्ञानी जीव इति व्याख्यान-मुख्यत्वेन सप्तमस्थले गाथापंचकं गतं ॥२८२॥ अथ कथं सम्यग्ज्ञानी जीवो रागादीनामकारक इति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह;—

इस हेतु से जो बात सिद्ध हुई उसकी गाथा कहते हैं;—[रागे च द्वेषे च] राग द्वेष [कर्मसु चैव] और कषाय कर्मों के होने पर [ये भावाः] जो भाव होते हैं [तैस्तु] उनसे [परिणममानः] परिणमता हुआ [चेतयिता] आत्मा [रागादीन्] रागादिकों को [बध्नाति] बांधता है ।

टीका—वास्तव में जो ये पुद्गल कर्म के निमित्त से हुए अज्ञानी के राग-द्वेष-मोह आदि भाव हैं अज्ञानी उनको करता हुआ कर्मों से बंधता ही है । ऐसे परिणाम ही फिर राग द्वेष मोह आदि परिणाम का निमित्त जो पुद्गलकर्म उसके बंध के कारण होते हैं ।

भावार्थ—अज्ञानी के जो कर्म के निमित्त से राग-द्वेष-मोह आदिक परिणाम होते हैं वे फिर आगामी कर्मबंध के कारण होते हैं ॥ २८२ ॥

१. तात्पर्यवृत्तौ 'ते मम दु' इत्येव पाठः ।

अप्रतिक्रमणं द्विविधं द्रव्ये भावे तथाऽप्रत्याख्यानं ।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥२८४॥
यावदप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च द्रव्यभावयोः ।
करोत्यात्मा तावत्कर्ता स भवति ज्ञातव्यः ॥२८५॥

आत्मात्मना रागादीनामकारक एव, अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्वैविध्योपदेशान्यथानुपपत्तेः। यः खलु अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्रव्यभावभेदेन द्विविधोपदेशः स द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावं प्रथयन्नकर्तृत्वमात्मनो ज्ञापयति। तत एतत् स्थितं, परद्रव्यं निमित्तं, नैमित्तिका

अपडिक्कमणं दुविहं अपच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं पूर्वानुभूतविषयानुभवरागादिस्मरणरूपमप्रतिक्रमणं द्विविधं, भाविरागादिविषयाकांक्षारूपमप्रत्याख्यानमपि तथैव द्विविधं विज्ञेयं **एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा** एतेनोपदेशेन परमागमेन ज्ञायते। किं ज्ञायते ? चेतयितात्मा हि द्विप्रकाराप्रतिक्रमणेन द्विप्रकाराप्रत्याख्यानेन च रहितत्वात् कर्मणामकर्ता भवतीति। **अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे अपच्चक्खाणंपि** द्रव्यभावरूपेणाप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च द्विविधं भवति **एदेणुवदेसेण दु अकारगो, वण्णिदो चेदा** तदेव बन्धकारणमित्युपदेश आगमः तेनोपदेशेन ज्ञायते, किं ज्ञायते ? द्रव्यभावरूपेणाप्रत्याख्यानेनाप्रतिक्रमणेन च परिणतः शुद्धात्मभावनाच्युतो योऽसावज्ञानी जीवः स कर्मणां कारकः। तद्विपरीतोज्ञानी चेतयिता पुनरकारक इति। तमेवार्थं दृढयति—**जाव ण पच्चक्खाणं** यावत्कालं द्रव्यभावरूपं, निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणं प्रत्याख्यानं नास्ति **अपडिक्कमणं तु दव्वभावाणं कुव्वदि** यावत्कालं द्रव्यभावरूपमप्रतिक्रमणं च करोति **आदा तावदु कत्ता सो होदि णादव्वो** तावत्कालं परमसमाधेरभावात्

आगे फिर पूछते हैं कि यदि अज्ञानी के रागादिक फिर कर्मबंध के कारण हैं, तो आत्मा रागादिकों का अकारक कैसे है ? उसका समाधान कहते हैं;—**[अप्रतिक्रमणं]** अप्रतिक्रमण **[द्विविधं]** दो प्रकार का **[विज्ञेयं]** जानना **[तथैव]** उसी तरह **[अप्रत्याख्यानं]** अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार जानना **[एतेनोपदेशेन च]** इस उपदेश से **[चेतयिता]** आत्मा **[अकारकः भणितः]** अकारक कहा है। **[अप्रतिक्रमणं]** अप्रतिक्रमण **[द्विविधं]** दो प्रकार है **[द्रव्ये भावे]** एक तो द्रव्य में दूसरा भाव में **[तथा अप्रत्याख्यानं]** उसी तरह अप्रत्याख्यान भी दो तरह का है एक द्रव्य में दूसरा भाव में **[एतेन उपदेशेन च]** इस उपदेश से **[चेतयिता]** आत्मा **[अकारकः वर्णितः]** अकारक कहा है। **[यावत्]** जब तक **[आत्मा]** आत्मा **[द्रव्यभावयोः]** द्रव्य और भाव में **[अप्रतिक्रमणं च अप्रत्याख्यानं]** अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान **[करोति]** करता है **[तावत्]** तब तक **[सः]** वह आत्मा **[कर्ता भवति]** कर्ता होता है **[ज्ञातव्यः]** ऐसा जानना।

टीका—आत्मा स्वतः रागादि भावों का अकारक ही है, क्योंकि आप ही कारक हो तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान दो भेद–द्रव्य भेद और भाव भेद इन दोनों भेदों के उपदेश की अप्राप्ति आती है। अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान जो वास्तव में दो प्रकार का उपदेश है वह उपदेश द्रव्य और भाव

आत्मनो रागादिभावाः। यद्येवं नेष्येत तदा द्रव्याप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोः कर्तृत्वनिमित्तत्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात्। तदनर्थकत्वे त्वेकस्यैवात्मनो रागादिभावनिमित्तत्वापत्तौ नित्यकर्तृत्वानुषंगान्मोक्षाभावः प्रसजेच्च। ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु। तथासति तु रागादीनामकारक एवात्मा, तथापि यावन्निमित्तभूतं द्रव्यं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च तावन्नैमित्तिकभूतं भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च, यावत्तु भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे तावत्तत्कर्तैव स्यात्। यदैव निमित्तभूतं द्रव्यं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदैव नैमित्तिकभूतं भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च। यदा तु भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदा साक्षादकर्तैव स्यात् ॥२८३।२८४।२८५॥

स चाज्ञानी जीवः कर्मणां कारको भवतीति ज्ञातव्यः। किं चाप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च कर्मणां कर्तृ, न च ज्ञानी जीवः। यदि जीवः कर्ता भवति ? तदा सर्वदैव कर्तृत्वमेव। कस्मात् ? इति चेत्, जीवस्य सदैव विद्यमानत्वात् इति। अप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं पुनरनित्यं रागादिविकल्परूपं, तच्च स्वस्थभावच्युतानां भवति न सर्वदैव। तेन किं सिद्धं ?

के निमित्त नैमित्तिक भाव को बतलाता हुआ आत्मा के अकर्तापन को बतलाता है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि परद्रव्य तो निमित्त है और आत्मा के रागादिक भाव नैमित्तिक है। यदि ऐसा न माना जाय तो जो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान इन दोनो के कर्तृत्व के निमित्तपने का उपदेश वह व्यर्थ ही हो जायगा। और उपदेश के व्यर्थ होने पर एक आत्मा के ही रागादिक भाव के निमित्तपने की प्राप्ति होनेपर सदा कर्तापन का प्रसंग आयेगा, उससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। इसलिये आत्मा के रागादि भावों का परद्रव्य ही निमित्त है। ऐसा होनेपर आत्मा रागादिभावों का अकारक ही है यह सिद्ध हुआ। तो भी जब तक रागादिक का निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान न करे तबतक नैमित्तिकभूतरागादिभावों का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान नही होता। और जबतक इन भावों का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान न हो तबतक रागादिभावों का कर्ता ही है। जिस समय रागादिभावों का निमित्त भूतद्रव्यों का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान करता है, उसी समय नैमित्तिकभूत रागादिभावों का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान होता है। तथा जिस समय इन भावों का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान हुआ उस समय साक्षात् अकर्ता ही है।

भावार्थ—प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान का द्रव्यभाव के भेद से दो तरह का उपदेश है। यहां शुद्धनय को प्रधान करके कथन है, इसलिये निषेध का यहां प्रधानतः वर्णन है। जो अतीत काल में परद्रव्य का ग्रहण किया उसको अब अच्छा समझे उसका संस्कार रहे, ममत्व रहे वह तो द्रव्य अप्रतिक्रमण है और उस परद्रव्य के ग्रहण के निमित्त से रागादिक भाव जो हुए थे उनको वर्तमान में अच्छा समझे, उनसे ममत्वसंस्कार रहे, वह भाव अप्रतिक्रमण है। तथा आगामी काल में परद्रव्य की वांछा से ममत्व रखे वह द्रव्य अप्रत्याख्यान है और उसके निमित्त से आगामी काल में होने वाले रागादि भावों की वांछा रखना, ममत्व रखना वह भाव अप्रत्याख्यान है। यह द्रव्य अप्रतिक्रमण और भाव अप्रतिक्रमण, द्रव्य

द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावोदाहरणं चैतत्—

आधाकम्माईया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कह ते कुव्वइ णाणी परदव्वगुणा उ जे णिच्चं ॥२८६॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम होइ कयं जं णिच्चमचेयणं उत्तं ॥२८७॥ (युग्मम्)

अधःकर्माद्याः पुद्गलद्रव्यस्य य इमे दोषाः।
कथं तान् करोति ज्ञानी परद्रव्यगुणास्तु ये नित्यं ॥२८६॥
अधःकर्मोद्देशिकं च पुद्गलमयमिदं द्रव्यं।
कथं तन्मम भवति कृतं यन्नित्यमचेतनमुक्तं ॥२८७॥

यदा स्वस्वभावच्युतः सन् अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानाभ्यां परिणमति तदा कर्मणां कारको भवति। स्वस्वभावे पुनरकारकः इति भावार्थः। एवमज्ञानिजीवपरिणतिरूपमप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च बंधकारणं न च ज्ञानी जीवः इति व्याख्यानमुख्यत्वेनाष्टमस्थले गाथात्रयं गतं। अथ निर्विकल्पसमाधिरूपनिश्चयप्रतिक्रमणनिश्चयप्रत्याख्यानरहितानां जीवानां योऽसौ बंधो भणितः स च हेयस्याशेषस्य नरकादिदुःखस्य कारणत्वाद्धेयः। तस्य बंधस्य विनाशार्थं विशेषभावनामाह— सहजशुद्धज्ञानानंदैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोहं, उदासीनोहं, निरंजननिजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चय-

---

अप्रत्यख्यान और भाव अप्रत्याख्यान ऐसे दो प्रकार का उपदेश है वह द्रव्यभाव के निमित्तनैमित्तिक भाव को जनाता है। परद्रव्य तो निमित्त है और रागादिक भाव नैमित्तिक हैं। सो जबतक निमित्तभूत परद्रव्य का अप्रतिक्रमण और अप्रत्यख्यान इस आत्मा के है तब तक तो रागादिभावों का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान है और जब तक रागादिभावों का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान है तबतक रागादि भावों का कर्ता ही है। तथा जिस समय निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान करे; उस समय नैमित्तिक रागादि भावों का भी प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान हो जाता है; और जब रागादिभावों का प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान हो जाय तब साक्षात् अकर्ता ही है। इस प्रकार आत्मा स्वयमेव तो रागादि भावों का अकर्ता ही है ॥२८३।२८४।२८५॥

आगे द्रव्य और भाव की निमित्त-नैमित्तिकता का उदाहरण देते हैं;—[अधः कर्माद्याः ये इमे] अधःकर्म को आदि लेकर जो ये [पुद्गलद्रव्यस्यदोषाः] पुद्गल द्रव्य के दोष हैं [तान्] उनको [ज्ञानी] ज्ञानी [कथं करोति] कैसे करे? [तु] क्योंकि [ये] ये [नित्यं] सदा ही [परद्रव्यगुणाः] पुद्गल द्रव्य के गुण हैं [च] और [इदं] यह [अधःकर्मोद्देशिकं] अधःकर्म और उद्देशिक [पुद्गलमयं द्रव्यं] पुद्गलमय द्रव्य हैं उनको यह ज्ञानी जानता है कि [यत्] जो [नित्यं] सदा [अचेतनं उक्तं] अचेतन कहे हैं [तत्] वे [मम] मेरे [कृतं] किये [कथं भवति] कैसे हो सकते हैं?

'यथाधःकर्मनिष्पन्नमुद्देशनिष्पन्नं च पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतमप्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधकं भावं न प्रत्याचष्टे तथा समस्तमपि परद्रव्यमप्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तकं भावं न प्रत्याचष्टे। यथा चाधःकर्मादीन् पुद्गलद्रव्यदोषान्न नाम करोत्यात्मा परद्रव्यपरिणामत्वे सति आत्म कार्यत्वाभावात्। ततोऽधःकर्मोद्देशिकं च पुद्गलद्रव्यं न मम कार्यं, नित्यमचेतनत्वे सति मत्कार्यत्वाभावात् इति तत्त्वज्ञानपूर्वकं पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतं प्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बंधसाधकं भावं प्रत्याचष्टे तथा समस्तमपि परद्रव्यं प्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तं भावं प्रत्याचष्टे। एवं द्रव्यभावयोरस्ति निमित्तनैमित्तिकभावः ॥ २८६ ॥ २८७ ॥

रत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजानंदरूपसुखानुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनज्ञानेन संवेद्यो गम्यः प्राप्यो भरितावस्थोऽहं, राग-द्वेष- मोह-क्रोध-मान-माया-लोभ—पंचेंद्रियविषयव्यापार, मनोवचनकायव्यापार—भावकर्म—द्रव्यकर्म—नोकर्म—ख्याति-पूजा- लाभ-दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानमायामिथ्याशल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहित.। शून्योऽहं जगत्त्रये कालत्रयेपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयेन, तथा सर्वे जीवाः इति निरंतरं भावना कर्तव्या ॥२८३।२८४।२८५॥ अथाहारविषये सरसविरसमानापमानादिचिंतारूपरागद्वेषकरणाभावादाहारग्रहणकृतो ज्ञानिनां बधो नास्ति, इति कथयति;—

आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कहमणुमण्णदि अण्णेण कीरमाणा परस्स गुणा॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम कारविदं जं णिच्चमचेदणं वुत्तं॥

अधःकर्माद्याः पुद्गलद्रव्यस्य ये इमे दोषाः। कथमनुमन्यते अन्येन क्रियमाणाः परस्य गुणाः। स्वयं पाकेनो-

---

टीका—जैसे अधःकर्म से और उद्देश से उत्पन्न (आहार आदिक) पुद्गल द्रव्य हैं। वे भावों को निमित्तभूत हैं। जैसा भक्षण करे वैसा भाव होता है। ऐसे द्रव्य को अप्रत्याख्यानरूप करता (त्याग न करता) जो मुनि वह उस द्रव्य के नैमित्तिकभूत और बंध के साधक ऐसे भावों को भी त्याग नहीं करता, उसी प्रकार जो समस्त पर द्रव्य को त्याग नहीं करता है वह उसके निमित्त से हुए भावों को भी त्याग नहीं करता। जैसे अधःकर्म आदिक पुद्गल द्रव्यों के दोषों को आत्मा नहीं करता, क्योंकि ये दोष पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं। ऐसा होने पर आत्मा के इनके कार्यत्व का अभाव है। इस कारण ज्ञानी ऐसा जानता है कि जो अधःकर्म उद्देशिक पुद्गल द्रव्य हैं वे मेरे कार्य नहीं हैं; क्योंकि ये नित्य ही अचेतन होने से मेरे कार्यत्व का इनके अभाव हैं। ऐसे तत्त्व ज्ञानपूर्वक निमित्तभूत पुद्गल द्रव्य को त्यागता हुआ मुनि बंध के साधक नैमित्तिकभूत भाव को भी त्यागता है; उसी तरह समस्त पर द्रव्य को त्याग करता हुआ उस परद्रव्य के निमित्त से हुए भावों को भी त्यागता है। इस प्रकार द्रव्य और भाव इन दोनों का आपस में निमित्तनैमित्तिक भाव है।

---

१. या मुंचदि तेण कम्मबंधेण पाठोयं तात्पर्यवृत्तौ।

**इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्तन्मूलं बहुभावसंततिमिमामुद्धर्तुकामः समं ।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं येनोन्मूलितबंध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥१७८॥**

त्पन्न आहार अधःकर्मशब्देनोच्यते तत्प्रभृतिव्याख्यानं करोति—अधःकर्माद्या ये इमे दोषाः, कथंभूताः ? शुद्धात्मनः सकाशात्परस्याभिन्नस्याहाररूपपुद्गलद्रव्यस्य गुणाः । पुनरपि कथंभूताः ? तस्यैवाहारपुद्गलस्य पचनपाचनादिक्रियारूपाः तान्निश्चयेन कथं करोतीति ज्ञानीति प्रथमगाथार्थः। अनुमोदयति वा कथमिति द्वितीयगाथार्थः । परेण गृहस्थेन क्रियमाणान्, न कथमपि । कस्मात् निर्विकल्पसमाधौ सति आहारविषये मनोवचनकायकृतकारितानुमननाभावात् इत्याधःकर्मव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयं गतं ॥२८६॥ आहारग्रहणात्पूर्वं तस्य पात्रस्य निमित्तं यत्किमप्यशनपानादिकं कृतं तदौपदेशिकं भण्यते, तेनौपदेशिकेन सह तदेवाध.कर्म पुनरपि गाथाद्वयेन कथ्यते—अधःकर्मौपदेशिकं च पुद्गलमयमेतद्द्रव्यं । कथं तन्मम कारितं यन्नित्यमचेतनमुक्तं । यदिदमाहारकपुद्गलद्रव्यमधःकर्मरूपमौपदेशिकं च चेतनशुद्धात्मद्रव्यपृथक्त्वेन नित्यमेवाचेतनं भणितं तत्कथं मया कृतं भवति कारितं वा कथं भवति ? न कथमपि । कस्माद्धेतोः ? निश्चयरत्नत्रयलक्षणभेदज्ञाने सति आहारविषये मनोवचनकायकृतकारितानुमननाभावात् । इत्यौपदेशिकव्याख्यानमुख्यत्वेन च गाथाद्वयं गतं । अयमत्राभिप्रायः । पश्चात्पूर्वं संप्रतिकाले वा योग्याहारादिविषये मनोवचनकायकृतकारितानुमतरूपैर्नवभिर्विकल्पैः शुद्धास्तेषां परकृताहारादिविषये बंधो नास्ति । यदि पुनः परकीयपरिणामेन बंधो भवति तर्हि क्वापि काले निर्वाणं नास्ति । तथा

भावार्थ—यह द्रव्य और भावका निमित्तनैमित्तिकपना उदाहरण से पुष्ट किया है । लौकिक जन कहते हैं कि "जैसा अन्न खाय वैसी ही बुद्धि हो जाती है" उसी तरह शास्त्र में उदाहरण है—कि, जो पाप कर्म से आहार उत्पन्न हो उसे **अधःकर्म** निष्पन्न कहते है । जो आहार किसी के निमित्त से बना हुआ हो उसे **उद्देशिक** कहते हैं । इन दोनों प्रकार के आहार का जो पुरुष सेवन करे उसके वैसे ही भाव होते हैं इस तरह द्रव्य और भाव का निमित्तनैमित्तिक संबध है, उसी तरह समस्त द्रव्यों का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध जानना । ऐसा होने पर जो परद्रव्य को ग्रहण करता है, उसके रागादिभाव भी होते हैं उनका कर्ता भी होता है तब कर्म का बंध भी करता है । और जब ज्ञानी हो जाता है तब किसी के ग्रहण करने का राग नहीं, रागादिरूप परिणमन भी नही, तब आगामी कर्मबंध भी नहीं होता । इस तरह ज्ञानी परद्रव्य का कर्ता नहीं है ॥१८६।१८७॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कह कर परद्रव्य के त्याग का उपदेश करते हैं—**इत्यालोच्य** इत्यादि । **अर्थ**—जो पुरुष इस तरह परद्रव्य का और अपने भाव का निमित्तनैमित्तिकपना विचार कर उस समस्त परद्रव्य को अपने पराक्रम से त्याग कर तथा परद्रव्य जिसका मूल है ऐसे बहुत भावों की परिपाटी को दूर से युगपत् उखाड़ फेंकने का इच्छुक अतिशय से बहने वाला प्रवाहरूप धारावाही पूर्ण एक संवेदनयुक्त जो अपना आत्मा उसे प्राप्त होता है । जिससे कि जिसने कर्मबंधन मूल से उखाड़ दिये हैं, ऐसा भगवान् यह आत्मा आप में ही स्फुरायमान (प्रकट) होता है ।

भावार्थ—परद्रव्य और अपने भाव का निमित्तनैमित्तिकभाव जान कर समस्त परद्रव्य का त्याग करे तब समस्त रागादिभावों की संतती कट जाती है, उस समय आत्मा अपना ही अनुभव करता हुआ कर्म के बंधन को काट कर आप में ही प्रकाशरूप प्रकट होता है । हितेच्छु ऐसा ही करें ॥१७८॥

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां कार्यं बंधं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य ।
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ॥१७९॥

इति बंधो निष्क्रांतः ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ बंध—
प्ररूपकः सप्तमोऽङ्कः ॥ ७ ॥

चोक्तं । णवकोडिकम्मसुद्धो पच्छा पुरदो य संपदियकाले । परसुहदुक्खणिमित्त वज्झदि जदि णत्थि णिव्वाणं ॥ एवं ज्ञानिनामाहारग्रहणकृतो बंधो नास्तीति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयेन षष्ठस्थलं गतं ॥ २८७ ॥

इति **श्रीजयसेनाचार्य**कृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां **तात्पर्यवृत्तौ** पूर्वोक्तक्रमेण **जह णाम कोवि पुरिसो** इत्यादि मिथ्यादृष्टिसद्दृष्टिव्याख्यानरूपेण गाथादशकं, निश्चयहिंसाकथनरूपेण गाथासप्तकं, निश्चयेन रागादिविकल्प एव हिंसेति कथनरूपेण सूत्रषट्कं, अव्रतव्रतानि पापपुण्यबंधकारणानीत्यादिकथनेन गाथापंचदश, निश्चयनयेन स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्य इति मुख्यत्वेन गाथाषट्कं, पिंडशुद्धिमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं। निश्चयनयेन रागादयः कर्मोदयजनिता इति कथनमुख्यत्वेन सूत्रपचकं, निश्चयनयेनाप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च बंधकारणमिति प्रतिपादनरूपेण गाथात्रयमित्येवं समुदायेन षट्पंचाशद्गाथाभिरष्टभिरंतराधिकारैः अष्टमो **बंधाधिकारः** समाप्तः ॥ ७ ॥

अब बंध का अधिकार पूर्ण किया । उसके अंत मंगलरूप ज्ञान की महिमा का कलश कहते हैं—**रागादि** इत्यादि । **अर्थ**—बंध के कारणरूप रागादि के उदय को निर्दयतापूर्वक (प्रखर पुरुषार्थ से) विदारण करती हुई, उस रागादि के कार्यरूप (ज्ञानावरणादि) अनेक प्रकार के बंध को अब तत्काल ही दूर करके, यह ज्ञान ज्योति, कि जिसने अज्ञानरूपी अंधकार का नाश किया है—भली भांति ऐसी सज्जित है, कि उसके विस्तार को अन्य कोई आवृत नहीं कर सकता ।

भावार्थ—जब ज्ञान प्रकट होता है तब रागादिक नहीं रहते, उनका कार्य बंध भी नहीं रहता तब फिर इसको आवरण करने वाला कोई नहीं रहता, सदाकाल प्रकाश रूप ही रहती है ॥२८६।२८८॥

इस तरह रंग भूमि में बंध के स्वांगने प्रवेश किया था सो जब ज्ञान ज्योति प्रकट हुई तब बंध स्वांग को दूर कर निकल गया । यहां तक गाथा २८७ और कलश १७९ हुए ।

सवैया तेईसा—जो नर कोय परै रजमांहि सच्चिक्कण अंग लगै वह गाढै,
त्यों मतिहीन जु रागविरोध लिये विचरे तब बंधन वाढै ।
पाय समै उपदेश यथारथ रागविरोध तजै निज चाटै ।
नांहि बंधै तब कर्मसमूह जु आप गहै पर भावनि काटै ॥ १ ॥

इस प्रकार श्री पं० जयचंद्र कृत समयसार नामा ग्रंथ की आत्मख्यातिनामक टोका की भाषावचनिका में बंध नामा सातवां अधिकार पूर्ण हुआ ॥ ७ ॥

अथ मोक्षाधिकारः ॥ ८ ॥

अथ प्रविशति मोक्षः ।

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बंधपुरुषौ नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलंभैकनियतं ।
इदानीमुन्मज्जत् सहजपरमानंदसरसं परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते ॥१८०॥

जह णाम कोवि पुरिसो बंधणयह्मि चिरकालपडिवद्धो ।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणए तस्स ॥२८८॥
जइ णवि कुणइ च्छेदं ण मुच्चए तेण बंधणवसो सं ।
कालेण उ वहुएणवि ण सो णरो पावइ विमोक्खं ॥२८९॥

तत्रैवं सति पात्रस्थानीयशुद्धात्मनः सकाशात्पृथग्भूत्वा शृंगारस्थानीयबंधो निष्क्रांतः । **अथ प्रविशति मोक्षः–जह णाम कोवि पुरिसो** इत्यादि गाथामादिं कृत्वा यथाक्रमेण द्वाविंशतिगाथापर्यंतं मोक्षपदार्थव्याख्यानं करोति–

अथ **मोक्षाधिकार** ।

दोहा—"कर्मबंध सब काटिके, पहुँचे मोक्ष सुथान ।
नमूं सिद्ध परमातमा, करूं ध्यान अमलान ॥"

जिस प्रकार नृत्य के अखाडे में स्वांग प्रवेश करता है उसी प्रकार अब मोक्ष तत्त्व प्रवेश करता है । वहां ज्ञान सब स्वांग के जानने वाला है इसलिये मोक्ष अधिकार के आदि में सम्यग्ज्ञान की महिमारूप मंगल करते हैं—**द्विधाकृत्य** इत्यादि । **अर्थ**—अब बंध पदार्थ के पश्चात् पूर्ण ज्ञान प्रज्ञारूप करोंत से बंध और पुरुष को पृथक् करके पुरुष को साक्षात् मोक्ष में प्राप्त कराता हुआ जयवंत प्रवर्त रहा है । वह पुरुष अपने स्वरूप के साक्षात् अनुभव से निश्चित है । ज्ञान अपने स्वाभाविक परम आनन्द से सरस (रस भरा) है, उत्कृष्ट है और जिसने करने योग्य समस्त कार्य कर लिये हैं अब कुछ करना नहीं रहा ।

भावार्थ—ज्ञान बंध और पुरुष को पृथक् कर के पुरुष को मोक्ष प्राप्त कराता हुआ अपना संपूर्ण स्वरूप प्रगट करके जयवंत प्रवर्त रहा है इसका सर्वोत्कृष्टपना कहना यही मंगल वचन है ॥१८०॥

आगे कहते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती है ? उस जगह प्रथम तो ऐसा कहते हैं, कि जो बंध का छेद नहीं करते और बंध का स्वरूप ही जानकर संतुष्ट हैं वे मोक्ष नहीं पाते;—[**नाम**] अहो देखो [**यथा**] जैसे [**कश्चित् पुरुषः**] कोई पुरुष [**बंधनके**] बंधन में [**चिरकालप्रतिबद्धः**] बहुत काल का बंधा हुआ [**तस्य**] उस बंधन के [**तीव्रमंदस्वभावं**] तीव्र मंद स्वभाव को [**च**] और [**कालं**] काल को [**विजानाति**] जानता है कि इतने काल का बंध है । [**यदि**] जो उस बंधन को आप [**नापि छेदं**

इय कम्मबंधणाणं पएसठिइपयडिमेवमणुभागं ।
जाणंतोवि ण मुच्चइ मुच्चइ सो चेव जइ सुद्धो॥२९०॥(त्रिकलम्)

यथा नाम कश्चित्पुरुषो बंधनके चिरकालप्रतिबद्धः ।
तीव्रमंदस्वभावं कालं च विजानाति तस्य ॥२८८॥
यदि नापि करोति छेदं न मुच्यते तेन बंधनवशः सन् ।
कालेन तु बहुकेनापि न स नरः प्राप्नोति विमोक्षं ॥२८९॥
इति कर्मबंधनानां प्रदेशस्थितिप्रकृतिमेवमनुभागं ।
जानन्नपि न मुच्यते मुच्यते स चैव यदि शुद्धः ॥२९०॥

तत्रादौ मोक्षपदार्थस्य संक्षेपव्याख्यानरूपेण गाथासप्तकं, तदनंतरं मोक्षकारणभूतभेदविज्ञानसंक्षेपसूचनार्थं **बंधाणं च सहावं** इत्यादि सूत्रचतुष्टयं, अत: परं तस्यैव भेदज्ञानस्य विशेषविवरणार्थं **पण्णाए घेत्तव्वो** इत्यादि सूत्रपंचकं, तदनंतरं वीतरागचारित्रसहितस्य द्रव्यप्रतिक्रमणादिकं विषकुंभ: सरागचारित्रस्यामृतकुंभ इति युक्तिसूचनमुख्यत्वेन **तेयादी अवराहे** इत्यादि सूत्रषट्कं कथयतीति द्वाविंशतिगाथाभि: स्थलचतुष्टये मोक्षाधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा-विशिष्टभेदज्ञानावष्टंभेन बंधात्मनो: पृथक्करणं मोक्ष इति प्रतिपादयति,—**जह णाम** इत्यादि । यथा कश्चित्पुरुष: बंधनके चिरकालबद्धस्तिष्ठति तस्य बंधस्य तीव्रमंदस्वभावं जानाति दिवसमासादिकालं च विजानाति इति प्रथमगाथा गता । जानन्नपि यदि बंधच्छेदं न करोति तदा न मुच्यते तेन कर्मबंधविशेषेणामुच्यमान: सन् पुरुषो बहुतरकालेऽपि मोक्षं न लभते इति गाथाद्वयेन दृष्टांतो गत: । अथ **इय कम्मबंधणाणं पदेसपयडिट्ठिदीय अणुभागं जाणंतोवि ण मुंचदि** एवं ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नकर्मबंधनानां प्रदेशं प्रकृतिस्थिती, अनुभागं च जानन्नपि कर्मणा न मुच्यते । **मुंचदि सव्वे जदि विसुद्धो** यदा मिथ्यात्वरागादिरहितो भवति तदाऽनंतज्ञानादिगुणात्मकपरमात्मस्वरूपे स्थित: सर्वान्कर्मबंधान् मुंचति । अथवा पाठांतरं **मुंचदि सव्वे जदि स बंधे** मुच्यते कर्मणा यदि किं, सिस्यति छिनत्ति । कान् ? सर्वबंधान् । अनेन व्याख्यानेन ये प्रकृत्यादिबंधपरिज्ञानमात्रेण संतुष्टास्ते प्रतिबोध्यते । कथं ? इति चेत्, बंधपरिज्ञानमात्रेण स्वरूपोपलब्धिरूपवीतरागचारित्ररहितानां स्वर्गादिसुखनिमित्तभूत: पुण्यबंधो भवति न च मोक्ष इति दार्ष्टांतगाथा गता । एतेन व्याख्यानेन कर्मबंधप्रपंचरचनाविषये चिंतामात्रपरिज्ञानेन संतुष्टा निराक्रियते ॥२८८।२८९॥

करोति] नहीं काटता है **[तेन बंधनवशः सन्]** तो उस बंधन के वश हुआ ही रहता है उससे छूटता नहीं है ऐसा **[स नरः]** वह पुरुष **[बहुकेनापि]** बहुत **[कालेन अपि]** काल में भी **[विमोक्षं न प्राप्नोति]** उस बंध से छूटने रूप मोक्ष को प्राप्त नहीं करता **[इति]** उसी प्रकार जो पुरुष **[कर्मबंधनानां]** कर्म के बंधनों के **[प्रदेशस्थितिप्रकृति अनुभागं]** प्रदेश स्थिति प्रकृति और अनुभाग ये भेद हैं **[एवं जानन्नपि]** ऐसा जानता है तो भी वह **[न मुच्यते]** कर्म से नहीं छूटता **[यदि शुद्धः]** जो स्वयं रागादिक को दूर करके शुद्ध हो **[स एव च]** वही **[मुच्यते]** मोक्ष पाता है ।

आत्मबंधयोर्द्विधाकरणं मोक्षः । बंधस्वरूपज्ञानमात्रं तद्धेतुरित्येके तदसत्, न कर्मबद्धस्य बंधस्वरूपज्ञानमात्रं मोक्षहेतुरहेतुत्वात् निगडादिबद्धस्य बंधस्वरूपज्ञानमात्रवत् । एतेन कर्मबंधप्रपंचरचनापरिज्ञानमात्रसंतुष्टा उत्थाप्यंते ॥२८८।२८९।२९०॥

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावइ विमोक्खं ।
तह बंधे चिंतंतो जीवोवि ण पावइ विमोक्खं ॥२९१॥

यथा बंधान् चिंतयन् बंधनबद्धो न प्राप्नोति विमोक्षं ।
तथा बंधांश्चिंतयन् जीवोऽपि न प्राप्नोति विमोक्षं ॥२९१॥

२९०॥ **जह वंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं** यथा कश्चित्पुरुषो बंधनबद्धो बधं चिंतयमानो मोक्षं न लभते **तह बंधं चिंतंतो जीवोवि ण पावदि विमोक्खं** तथा जीवोऽपि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबंधांश्चिंतयमानः स्वशुद्धात्मावाप्तिलक्षणं मोक्षं न लभते । किं च समस्तशुभाशुभबहिर्द्रव्यालंबनरहितचिदानंदैकशुद्धात्मावलंबनस्वरूपवीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानरहितो जीवः, बंधप्रपंचरचनाचिंतारूपसरागधर्मध्यानशुभोपयोगेन स्वर्गादिसुखकारणपुण्यबंध लभते न च मोक्षमिति भावार्थः ॥२९१॥ अथ कस्तर्हि मोक्षहेतुरिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति;—**जह बंधे मुत्तूण य बंधणबद्धो य पावदि विमोक्खं तह बंधे मुत्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं** यथा बंधनबद्धः कश्चित्पुरुषो रज्जुबंधं शृङ्खलाबंधं काष्ठनिगलबंधं वा कमपि बंधं छित्त्वा कमपि भित्त्वा कमपि मुक्त्वा स्वकीयविज्ञानपौरुषबलेन मोक्षं प्राप्नोति । तथा जीवोऽपि वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानखड्गेन बंधं छित्त्वा द्विधा कृत्वा, भित्त्वा विदार्य,

---

टीका—आत्मा और बंध का पृथक् करना मोक्ष है। वहां कोई ऐसा कहते हैं कि बंध का स्वरूप जानना ही मोक्ष का कारण है। ऐसा कहना असत्य है, कर्म से बंधे पुरुष के बंध के स्वरूप का ज्ञानमात्र ही मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि यह जानना ही कर्म से छूटने का हेतु नहीं है। जिस प्रकार बेड़ी आदि से बंधे हुए पुरुष के बेड़ी आदि बंधन के स्वरूप का जानना ही बेड़ी आदि कटने का कारण नहीं होता उसी तरह कर्म के बंध का स्वरूप जानने मात्र से ही कर्मबंध से नहीं छूटता। इस कथन से कर्म के बंधके विस्तार की रचना के (अनेक प्रकार होने के) जानने मात्र से ही जो कोई अन्यमती आदि मोक्ष मानते हैं वे उसके ज्ञानमात्र में ही संतुष्ट हैं उनका खंडन किया है।

भावार्थ—जो अन्यमती ऐसा मानते हैं कि बंधका स्वरूप जानने से मोक्ष है उनके कहने का इस कथन से निराकरण जानना। जानने मात्र से ही बंध नहीं कटता, बंध तो काटने से ही कटता है ॥२८८।२८९।२९०॥

आगे कहते हैं कि बंधकी चिंता करने से भी बंध नहीं कटता;—[यथा] जैसे कोई [बंधनबद्धः] बंधन से बंधा हुआ पुरुष [बंधान् चितयन्] उन बंधों को विचारता हुआ [विमोक्षं] मोक्ष को [न प्राप्नोति] नहीं पाता [तथा] उसी तरह [बंधान् चिंतयन्] कर्मबंध की चिंता करता हुआ [जीवोपि] जीव भी [विमोक्षं] मोक्ष को [न प्राप्नोति] नहीं पाता।

बंधचिंताप्रबंधो मोक्षहेतुरित्यन्ये तदप्यसत्, न कर्मबद्धस्य बंधचिंताप्रबंधो मोक्षहेतुरहेतुत्वात् निगडादिबद्धस्य बंधचिंताप्रबंधवत् । एतेन कर्मबंधविषयचिंताप्रबंधात्मकविशुद्धधर्मध्यानांधबुद्धयो बोध्यंते ॥२९१॥

कस्तर्हि मोक्षहेतुः ? इति चेत्—

जह बंधे छित्तूण य बंधणबद्धो उ पावइ विमोक्खं ।
तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावइ विमोक्खं ॥२९२॥

यथा बंधांश्छित्त्वा च बंधनबद्धस्तु प्राप्नोति विमोक्षं ।
तथा बंधांश्छित्त्वा च जीवः संप्राप्नोति विमोक्षं ॥ २९२ ॥

कर्मबद्धस्य[1] बंधच्छेदो मोक्षहेतुः, हेतुत्वात् निगडादिबद्धस्य बंधच्छेदवत् । एतेन उभयेऽपि पूर्वे आत्मबंधयोर्द्विधाकरणे व्यापार्यंते ॥ २९२ ॥

मुक्त्वा छोटयित्वा च निजशुद्धात्मोपलंभस्वरूपं मोक्षं प्राप्नोतीति । अत्राह शिष्यः—प्राभृतग्रंथे यन्निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानं भण्यते तन्न घटते । कस्मात् ? इति चेत् तदुच्यते--सत्तावलोकनरूपं चक्षुरादिदर्शनं यथा जैनमते निर्विकल्पं कथ्यते तथा

टीका—कोई अन्यमती ऐसा मानते हैं कि बंध की चिंता का प्रबंध मोक्ष का कारण है, यह मानना भी असत्य है । कर्मबंधन से बंधे हुए पुरुष के उस बंध की चिंता का प्रबंध कि यह बंध कैसे छूटेगा वह भी बंध के अभावरूप मोक्ष का कारण नहीं है; क्योंकि यह चिंता का प्रबंध बंध से छूटने का हेतु नहीं है । जैसे बेड़ी (सांकल) से बंधा हुआ पुरुष उस बंधकी चिंता ही करे, छूटने का उपाय न करे तो वह उस बेड़ी आदि के बंधन से नहीं छूटता, उसी प्रकार कर्मबंध की चिंता के प्रबंध से मोक्ष नहीं है । इस कथन से कर्मबंध में चिंताप्रबंधस्वरूप विशुद्ध धर्मध्यान से जिनकी बुद्धि अंधी है उनको समझाया है ।

भावार्थ—कर्मबंध की चिन्ता में मोक्ष नहीं होता । धर्मध्यान रूप शुभपरिणाम है । जो केवल शुभपरिणाम से ही मोक्ष मानते हैं, उनको उपदेश है कि शुभपरिणाम से मोक्ष नहीं होता ॥२९१॥

आगे पूछते हैं कि यदि बंध के स्वरूप के ज्ञान से भी मोक्ष नहीं होता और उसका सोच करने से भी मोक्ष नहीं होता तो मोक्ष का कारण क्या है ? ऐसा पूछने पर मोक्ष होने का उपाय कहते हैं;—

[यथा च] जैसे **[बंधनबद्धः]** बंधन से बंधा पुरुष **[बंधान् छित्त्वा तु]** बंधको छेदकर **[विमोक्षं]** मोक्षको **[प्राप्नोति]** प्राप्त करता है **[तथा च]** उसी तरह **[बंधान् छित्त्वा]** कर्म के बंधन को छेदकर **[जीवः]** जीव **[विमोक्षं प्राप्नोति]** मोक्ष को प्राप्त करता है ।

टीका—कर्म के बंधन को छेदन करना मोक्ष का कारण है, जिस प्रकार बेड़ी सांकल आदि से बंधे हुए पुरुष के सांकल का बंध काटना ही छूटने का कारण है उसी प्रकार इस कथन से पहले कहे गये जो दो प्रकार के पुरुष 'एक तो बंध का स्वरूप जानने वाला और एक बंध की चिंता करने वाला' उन दोनों को आत्मा और बंध के पृथक् पृथक् करने में प्रेरणा कराई गई है ॥ २९२ ॥

1. 'बंधस्य' इति पाठो हस्तलिखितप्रतिष्वपि प्रतिषु ।

किमयमेव मोक्षहेतुः ? इतिचेत्—

बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च ।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणई ॥ २९३ ॥

बंधानां च स्वभावं विज्ञायात्मनः स्वभावं च ।
बंधेषु यो विरज्यते स कर्मविमोक्षणं करोति ॥ २९३ ॥

य एव निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्रमात्मस्वभावं तद्विकारकारकं बंधानां च स्वभावं विज्ञाय बंधेभ्यो विरमति स एव सकलकर्ममोक्षं कुर्यात् । एतेनात्मबंधयोर्द्विधाकरणस्य मोक्षहेतुत्वं नियम्यते ॥ २९३ ॥

केनात्मबंधौ द्विधा क्रियेते ? इतिचेत्—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
पण्णाछेदणएण उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥ २९४ ॥

जीवो बंधश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्यां ।
प्रज्ञाछेदकेन तु छिन्नौ नानात्वमापन्नौ ॥ २९४ ॥

बौद्धमते ज्ञानं निर्विकल्पं भण्यते परंतु तन्निर्विकल्पमपि विकल्पजनकं भवति । जैनमते तु विकल्पस्योत्पादकं भवत्येवं न किंतु स्वरूपेणैव सविकल्पमिति तथैव स्वपरप्रकाशकं चेति । तत्र परिहारः—कथंचित्सविकल्पमपि च कथंचिन्निर्विकल्पं

कर्म बंधन का ही छेदना मोक्ष का कारण कहा गया, क्या यही मोक्ष का कारण है ? ऐसा पूछने पर उत्तर कहते हैं;—[बंधानां च स्वभावं] बंधों का स्वभाव [च] और [आत्मनः स्वभावं] आत्मा का स्वभाव [विज्ञाय] जानकर [यः] जो पुरुष [बंधेषु] बंधों से [विरज्यते] विरक्त होता है [सः] वह पुरुष [कर्मविमोक्षणं करोति] कर्मों से मुक्त होता है ।

टीका—जो पुरुष निश्चय से निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा का स्वभाव और उस आत्मा के विकार को करने वाले बंधों के स्वभाव इन दोनों के भेदों को जानकर उन बंधों से विरक्त होता है वही पुरुष समस्त कर्मों से मुक्त होता है । इस कथन से आत्मा और बंध के पृथक् पृथक् करने को मोक्ष के कारण का नियम बतलाया है । दोनों का पृथक् पृथक् करना ही मोक्ष का कारण है ऐसा नियम से कहा गया है ॥ २९३ ॥

आगे फिर पूछते हैं कि आत्मा और बंध ये दोनों किस प्रकार पृथक् करने ? ऐसा पूछने पर उत्तर कहते हैं;—[जीवः च बंधः] जीव और बंध ये दोनों [नियताभ्यां] निश्चित [स्वलक्षणाभ्यां] अपने अपने लक्षणों से [प्रज्ञाछेदकेन] बुद्धिरूपी छैनी से [तथा] इस तरह [छिद्येते] छेदने चाहिए [तु] कि जिस तरह [छिन्नौ] छेदे हुए [नानात्वं] नानापन को [आपन्नौ] प्राप्त हो जायं ।

आत्मबंधयोर्द्विधाकरणे कार्ये कर्तुरात्मनः करणमीमांसायां निश्चयतः स्वतो भिन्नकरणासंभवात् भगवती प्रज्ञैव छेदनात्मकं करणं। तया हि तौ छिन्नौ नानात्वमवश्यमापद्येते[1] ततः प्रज्ञयैवात्मबंधयोर्द्विधाकरणं। ननु कथमात्मबंधौ चेत्यचेतकभावेनात्यंतप्रत्यासत्तेरेकीभूतौ भेदविज्ञानाभावादेकचेतकवद्व्यवह्रियमाणौ प्रज्ञया छेत्तुं शक्येते? नियतस्वलक्षणसूक्ष्मांतःसंधिसावधाननिपातनादिति बुध्येमहि। आत्मनो हि समस्तशेषद्रव्यासाधारणत्वाच्चैतन्यं स्वलक्षणं तत्तु प्रवर्तमानं यद्यदभिव्याप्य प्रवर्तते निवर्तमानं च यद्यदुपादाय निवर्तते तत्तत्समस्तमपि सहप्रवृत्तं क्रमप्रवृत्तं वा पर्यायजातमात्मेति लक्षणीयं तदेकलक्षणलक्ष्यत्वात्, समस्तसहक्रमप्रवृत्तानंतपर्यायाविनाभावित्वाच्चैतन्यस्य चिन्मात्र एवात्मा निश्चेतव्यः, इति यावत्। बंधस्य तु आत्मद्रव्यासाधारणा

च। तद्यथा—यथा विषयानंदरूपं सरागस्वसंवेदनज्ञानं सरागसंवित्तिविकल्परूपेण सविकल्पमपि शेषानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते। तथापि स्वशुद्धात्मसंवित्तिरूपं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमपि स्वसंवित्त्याकारैकविकल्पेन सविकल्पमपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते। यत एवेहापूर्वस्वसंवित्त्याकारांतर्मुखप्रतिभासेऽपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पा अपि संति तत एव कारणात् स्वपरप्रकाशकं च सिद्धं इदं निर्विकल्पसविकल्पस्य तथैव स्वपरप्रकाशकस्य च ज्ञानस्य च व्याख्यानं यथागमाध्यात्मतर्कशास्त्रानुसारेण विशेषेण व्याख्यायते तदा महान् विस्तारो भवति स चाध्यात्मशास्त्रत्वान्न कृतः। एवं मोक्षपदार्थसंक्षेपसूचनार्थं प्रथमस्थले गाथासप्तकं गतं॥ २९२॥ अथ किमयमेव मोक्षमार्गः? इति चेत्;—**बंधाणं च सहावं वियाणिदुं** भावबंधानां मिथ्यात्वरागादीनां स्वभावं ज्ञात्वा कथं ज्ञात्वा?। मिथ्यात्वस्वभावो हेयोपादेयतत्त्वविषये विपरीताभिनिवेशो भण्यते रागादीनां च स्वभावः पंचेंद्रियविषयेष्विष्टानिष्टपरिणाम इति। न केवलं बंधस्वभावं ज्ञात्वा **अप्पणो सहावं च** अनंतज्ञानादिस्वरूपं शुद्धात्मनः स्वभावं च ज्ञात्वा **बंधेसु जो ण रज्जदि** द्रव्यबंधहेतुभूतेषु मिथ्यात्वरागादिभावबंधेषु निर्विकल्पसमाधिबलेन यो न रज्यते **सो कम्मविमोक्खणं कुणदि** स कर्मविमोक्षणं करोति॥२९३॥ अथ केन कृत्वात्मबंधौ द्विधा भवतः? इति चेत्;—**जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं** यथा जीवस्तथा बंधश्चेतौ द्वौ छिद्येते पृथक् क्रियेते। काभ्यां कृत्वा? स्वलक्षणरूपाभ्यां निजकाभ्यां **पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा** प्रज्ञाछेदनैकलक्षणेन भेदज्ञानेन छिन्नौ संतौ नानात्व-

टीका—आत्मा और बंध का भिन्न भिन्न करना रूप जो कार्य उसमें करने वाला करता आत्मा है। यदि उसके करण का विचार किया जाय, तो निश्चयनय से आत्मा से पृथक् करण तो असंभव है; इसलिये भगवती प्रज्ञा (ज्ञानस्वरूप बुद्धि) ही छेदनस्वरूप करण है। उस प्रज्ञा से ही वे दोनों—आत्मा और बंध, छेदे हुए नानापने को अवश्य प्राप्त होते हैं, अर्थात् पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। इसलिये प्रज्ञा से ही आत्मा और बंध का पृथक्-पृथक् करना है। यहां प्रश्न है कि आत्मा और बंध ये दोनों तो चेत्यचेतक भाव से अत्यंत निकटता के कारण एकसरीखे हो रहे हैं। आत्मा तो चेतक है और बंध चेत्य है सो दोनों एकरूप हुए अनुभव में आते हैं। प्रश्न—भेदविज्ञान के अभाव से एक चेतकरूप ही जो व्यवहार में प्रवर्तते देखे जाते हैं वे प्रज्ञा से कैसे छेदे जा सकते हैं? आचार्य उसका समाधान करते हैं—हम ऐसा

१—अवश्यमेवापद्येते इति पाठो मुद्रितप्रतिषु।

रागादयः स्वलक्षणं । न च रागादय आत्मद्रव्यसाधारणतां[1] बिभ्राणाः प्रतिभासंते नित्यमेव चैतन्यचमत्कारादतिरिक्तत्वेन प्रतिभासमानत्वात्। न च यावदेव समस्तस्वपर्यायव्यापि चैतन्यं प्रतिभाति तावंत एव रागादयः प्रतिभांति । रागादीनंतरेणापि चैतन्यस्यात्मलाभसंभावनात् । यत्तु रागादीनां चैतन्येन सहैवोत्प्लवनं तच्चेत्यचेतकभावप्रत्यासत्तेरेव नैकद्रव्यत्वात्, चेत्यमानस्तु रागादिरात्मनः प्रदीप्यमानो घटादिः प्रदीपस्य प्रदीपकतामिव चेतकतामेव प्रथयेन्न पुना रागादीनां, एवमपि तयोरत्यंतप्रत्यासत्त्या भेदसंभावनाभावादनादिरस्त्येकत्वव्यामोहः स तु प्रज्ञयैव छिद्यत एव ।। २९४ ।।

मापन्नौ इति । तथाहि—जीवस्य लक्षणं शुद्धचैतन्यं भण्यते, बंधस्य लक्षणं मिथ्यात्वरागादिकं, ताभ्यां पृथक् कृतौ । केन ? करणभूतेन प्रज्ञाछेदनकेन, शुद्धात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानरूपा प्रज्ञैव छेत्रैव छुरिका तया एवेत्यर्थः । छिन्नौ संतौ नानात्व-

जानते हैं कि आत्मा और बंध के निश्चित स्वलक्षण की सूक्ष्म जो अंतरंग की संधि है, उसमें इस प्रज्ञा छैनी को सावधान होके पटकने से दोनों आत्मा और बंध पृथक्-पृथक् हो जाते हैं । वहां आत्मा का तो निजलक्षण निश्चय से समस्त अन्यद्रव्यों से असाधारण—जो अन्य में न पाया जाय ऐसा चैतन्यस्वलक्षण है। यह चैतन्यस्वलक्षण प्रवर्तता हुआ जिस जिस पर्याय को व्याप्त कर प्रवर्तता है तथा निवर्तता हुआ जिस जिस पर्याय को ग्रहण कर निवृत्त होता है वह वह समस्त सहवर्ती और क्रमवर्ती पर्यायों का समूह ही आत्मा है ऐसा देखने योग्य है । यह लक्षण समस्त गुणपर्यायों में व्यापक है, इस कारण सभी गुणपर्यायों का समुदाय आत्मा है । ऐसा इस लक्षण से जानना, क्योंकि आत्मा उसी एक लक्षण से लक्ष्य है । तथा चैतन्य के समस्त सहवर्ती व क्रमवर्ती जो अनंत पर्याय हैं उसी का अविनाभावी संबंध है इसलिये आत्मा चिन्मात्र ही है ऐसा निश्चय करना । इस प्रकार दूसरा व्याख्यान है । और बंध का स्वलक्षण आत्मद्रव्य से असाधारण रागादिक है, क्योंकि ये रागादिक आत्मद्रव्य से साधारणपन को धारण करते हुए प्रतिभासित नहीं होते वे सदा ही चैतन्य चमत्कार से भिन्न प्रतिभासित होते हैं । जितना अपने समस्त पर्यायों में व्यापने स्वरूप चैतन्य प्रतिभासित होता है, उतने रागादिक प्रतिभासित नहीं होते । रागादिक के विना भी चैतन्य का आत्मलाभ (स्वरूप पाना) की संभावना है । जो रागादिक का चैतन्य के साथ ही उत्पन्न होना दीखता है वह इस ज्ञेयज्ञायक भाव के प्रति निकट होने से दीखता है, एक द्रव्यपने से नहीं है । वहां ज्ञेयरूप ज्ञान में आते हुए जो रागादिक हैं, वे आत्मा के ज्ञायकपने को ही विस्तारते हैं, रागादिकपने को नहीं विस्तारते, जैसे दीपक के घटादिक प्रकाशने योग्य होते प्रदीपकपने को ही विस्तारते हैं, घटादिकपन को नहीं विस्तारते, उस तरह जानना । ऐसा होने पर भी आत्मा और बंध दोनों के अत्यंत निकटपने से भेद की संभावना का अभाव है अर्थात् भेद नहीं दीखता । इसलिये इस अज्ञानी के अनादिकाल से एकत्व का भ्रम है । ऐसा भ्रम प्रज्ञा से ही छेदा जाता है ।

भावार्थ—आत्मा और बंध दोनों को लक्षणभेद से पहचान कर बुद्धिरूपी छैनी से छेद पृथक्-पृथक् करना, क्योंकि आत्मा तो अमूर्तीक है और बंध सूक्ष्म पुद्गलपरमाणुओं का स्कंध है इसलिये ये

१. 'असाधारणतां' केषुचित् प्रतिषु पाठः ।

प्रज्ञा छेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तःसंधिबंधे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य ।
आत्मानं मग्नमंतःस्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बंधं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥१८१॥

मापन्नौ ॥२९४॥ आत्मबंधयोर्द्विधाकरणे किं साध्यं ? इति चेत्—**जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं** जीवबंधौ द्वौ पूर्वोक्ताभ्यां स्वलक्षणाभ्यां निजकाभ्यां छिद्येते पूर्ववत् । ततश्छेदानंतरं किं साध्यं ? **बंधो छेदेदव्वो** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकभेदज्ञानछुरिकया मिथ्यात्वरागादिरूपो बंधश्छेत्तव्यः शुद्धात्मनः सकाशात्पृथक्कर्तव्यः । **सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो** वीतरागसहजपरमानंदलक्षणः सुखसमरसीभावेन शुद्धात्मा च गृहीतव्य इत्यभिप्रायः ॥२९५॥ इदमेवात्मबंधयोर्द्विधाकरणे प्रयोजनं यद्बंध-

---

दोनों पृथक् छद्मस्थ के ज्ञान में नहीं आते । एक स्कंध दीखता है, इसलिये अनादि अज्ञान है । सो श्रीगुरुओं का उपदेश पाकर इन दोनों का लक्षण न्यारा-न्यारा ही अनुभव कर जानना कि, चैतन्यमात्र तो आत्मा का लक्षण है और रागादिक बंध का लक्षण है । ये दोनों भी ज्ञेयज्ञायकभाव की अतिनिकटता से एकसे हो रहे दीखते हैं, सो तीक्ष्णबुद्धिरूपी छैनी इनके भेद (पृथक्-पृथक्) करने का जो शस्त्र है उसको इनकी सूक्ष्म संधि को देख सावधान (निष्प्रमाद) होके पटकना । उसके पड़ते ही दोनों अलग-अलग दीखने लगते हैं । तब आत्मा को ज्ञानभाव में ही रखना और बंध को अज्ञानभाव में रखना । इस तरह दोनों को भिन्न करना ॥२९४॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**प्रज्ञा** इत्यादि । **अर्थ**—आत्मा और बंध के पृथक् करने को यह प्रज्ञा तीक्ष्ण छैनी है । जो चतुरपुरुष हैं वे सावधान (प्रमादरहित) हुए, आत्मा और कर्म इन दोनों का सूक्ष्म मध्य का संधी का बंधन उसमें किसी प्रकार यत्न से उस छैनी को ऐसा पटकते हैं कि वहां पड़ी हुई यह छैनी शीघ्र ही सब तरह से भिन्न कर देती है । वह आत्मा को तो अंतरंग में स्थिर और स्पष्ट प्रकाशरूप देदीप्यमान तेज वाले चैतन्य के प्रवाह में मग्न करती है तथा बंध को अज्ञानभाव में नियम से निश्चल कर देती है । अर्थात् आत्मा और बंध को भिन्न कर देती है ।

भावार्थ—यहां पर आत्मा और बंध का भिन्न-भिन्न करना रूप कार्य है उसका कर्ता आत्मा है । उसमें भी करण के विना कर्ता किससे कार्य करे ? इसलिये करण भी चाहिये । निश्चयनय से तो कर्ता से पृथक् करण होता नहीं है । इसलिये आत्मा से अभिन्न यह बुद्धि ही इस कार्य में करण है । आत्मा के अनादि बंध ज्ञानावरणादि कर्म हैं उनका कार्य भावबंध तो रागादिक हैं और नोकर्म शरीरादिक हैं । सो बुद्धिकर आत्मा को शरीर से, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म से तथा रागादिक भावकर्म से भिन्न एक चैतन्य भावमात्र अनुभव से ज्ञान में ही लीन रखना, भिन्न करना है । इसी से सब कर्मों का नाश हो जाने से सिद्धपद को प्राप्त हो जाता है ऐसा जानना ॥१८१॥

आत्मबंधौ द्विधा कृत्वा किं कर्तव्यं ? इति चेत्—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
बंधो छेएदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो ॥२९५॥

जीवो बंधश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्यां ।
बंधश्छेत्तव्यः शुद्ध आत्मा च गृहीतव्यः ॥२९५॥

आत्मबंधौ हि तावन्नियतस्वलक्षणविज्ञानेन सर्वथैव छेत्तव्यौ, ततो रागादिलक्षणः समस्त एव बंधो निर्मोक्तव्यः, उपयोगलक्षणः शुद्ध आत्मैव गृहीतव्यः ॥२९५॥

एतदेव किलात्मबंधयोर्द्विधाकरणस्य प्रयोजनं यद्बंधत्यागेन शुद्धात्मोपादानं—

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा ।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णाएव घित्तव्वो ॥२९६॥

कथं स गृह्यते आत्मा प्रज्ञया स तु गृह्यते आत्मा ।
यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः ॥२९६॥

परिहारेण शुद्धात्मोपादानमित्युपदिशति;—**कह सो घिप्पदि अप्पा** कथं स गृह्यते आत्मा 'दृष्टिविषयो न भवत्य-मूर्तत्वात्', इति प्रश्नः ? **पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा** प्रज्ञया भेदज्ञानेन गृह्यते, इत्युत्तरं । कथं ? इति चेत्

आगे फिर पूछते हैं कि आत्मा और बंध को द्विधा करके क्या करना ? ऐसा पूछने पर उत्तर कहते हैं;—[**जीवः**] जीव [**च**] और [**बंधः**] बंध इन दोनों को [**नियताभ्यां**] निश्चित [**स्वलक्षणाभ्यां**] अपने-अपने लक्षणों से [**तथा**] इस तरह [**छिद्येते**] भिन्न करना कि [**बंधः छेत्तव्यः**] बंध तो छिदकर भिन्न हो जाय [**च**] और [**आत्मा गृहीतव्यः**] आत्मा ग्रहण किया जाय ।

टीका—आत्मा और बंध इन दोनों को पहले तो अपने-अपने निश्चित लक्षण के ज्ञान से सब तरह ही भिन्न करना, पीछे रागादिक लक्षण वाले सभी बंध को तो छोड़ना तथा उपयोग लक्षण वाले अकेले शुद्ध आत्मा को ही ग्रहण करना । यही निश्चय से आत्मा और बंध के द्विधा करने का प्रयोजन है कि बंध का त्याग कर शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना ।

भावार्थ—शिष्य ने पूछा था कि आत्मा और बंध को द्विधाकर के क्या करना ? उसका उत्तर यह दिया कि बंध का तो त्याग करना और शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना ॥२९५॥

आगे पूछते हैं कि आत्मा और बंध को प्रज्ञा से तो भिन्न किया परंतु आत्मा को ग्रहण किससे किया जाय ? उसके प्रश्नोत्तर की गाथा कहते हैं;—शिष्य पूछता है कि [**स आत्मा**] वह शुद्धात्मा [**कथं**] कैसे [**गृह्यते**] ग्रहण किया जा सकता है? आचार्य उत्तर कहते हैं कि [**स तु**] वह शुद्धात्मा

ननु केन शुद्धोयमात्मा गृहीतव्यः ? प्रज्ञयैव शुद्धोयमात्मा गृहीतव्यः, शुद्धस्यात्मनः स्वयमात्मानं गृह्णतो विभजत इव प्रज्ञैककरणत्वात् । अतो यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः ॥२९६॥

कथमयमात्मा प्रज्ञया गृहीतव्यः ? इति चेत्;—

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९७॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोऽहं तु निश्चयतः ।
अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥२९७॥

यो हि नियतस्वलक्षणावलंबिन्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता सोऽयमहं । ये त्वमी अवशिष्टा अन्यस्वलक्षणलक्ष्या व्यवह्रियमाणा भावाः, ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमनायांतोऽत्यंतं मत्तो भिन्नाः । ततोऽहमेव मयैव मह्यमेव मत्त एव मय्येव मामेव गृह्णामि ।

जह पण्णाए विभत्तो यथा पूर्वसूत्रे प्रज्ञया विभक्तः रागादिभ्यः पृथक्कृतः **तह पण्णाएव घित्तव्वो** तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः । ननु केन शुद्धोऽयमात्मा गृहीतव्यः ? प्रज्ञयैव शुद्धोयमात्मा गृहीतव्य. शुद्धस्यात्मनः स्वयमात्मानं गृह्णतोऽपि विभजत इव प्रज्ञैककरणत्वात् । अतो यथा प्रज्ञया प्रविभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्य. ॥२९६॥ कथमात्मा प्रज्ञया गृहीतव्य

[प्रज्ञया] प्रज्ञा से ही **[गृह्यते]** ग्रहण किया जाता है । **[तथा]** जिस तरह पहले **[प्रज्ञया]** प्रज्ञा से **[विभक्तः]** भिन्न किया था **[तथा]** उसी तरह **[प्रज्ञयैव]** प्रज्ञा से ही **[गृहीतव्यः]** ग्रहण करना ।

टीका—शिष्य का प्रश्न है कि यह शुद्ध आत्मा किस तरह ग्रहण करना ? उसका गुरु उत्तर देते हैं कि यह शुद्धात्मा प्रज्ञा से ही ग्रहण करना, आप स्वयं शुद्ध आत्मा को ग्रहण करता जो शुद्ध आत्मा उसके पहले जैसे भिन्न करता के प्रज्ञा ही एक करण था उसी प्रकार ग्रहण कर्ता के भी वही प्रज्ञा एक करण है भिन्न करण नहीं है । इसलिये जैसे पहले प्रज्ञा से भिन्न किया था वैसे प्रज्ञा से ही ग्रहण करना ।

भावार्थ—भिन्न करने में और ग्रहण करने में पृथक् करण नहीं है इसलिये प्रज्ञा से ही तो भिन्न किया और प्रज्ञा से ही ग्रहण करना चाहिये ॥२९६॥

आगे फिर पूछते हैं कि आत्मा को प्रज्ञा के द्वारा किस तरह ग्रहण करना चाहिए ? उसका उत्तर कहते हैं;— **[यः चेतयिता]** जो चेतन स्वरूप आत्मा है **[निश्चयतः]** निश्चय से **[सः तु]** वह **[अहं]** मैं हूं इस तरह **[प्रज्ञया]** प्रज्ञा द्वारा **[गृहीतव्यः]** ग्रहण करने योग्य है **[अवशेषाः]** और अवशेष **[ये भावाः]** जो भाव हैं **[ते]** वे **[मम पराः]** मुझ से पर हैं **[इति ज्ञातव्याः]** इस प्रकार जानना चाहिये

टीका—निश्चय से जो निश्चित निजलक्षण को अवलंबन करने वाली प्रज्ञा है उसके द्वारा चैतन्य स्वरूप आत्मा को भिन्न किया था, कि वही यह मैं हूं और जो ये अवशेष अन्य अपने लक्षण से

यत्किल गृह्णामि तच्चेतनैकक्रियत्वादात्मनश्चेतये एव, चेतयमान एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानायैव चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमाने एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये। अथवा न चेतये, न चेतयमानश्चेतये, न चेतयमानेन चेतये, न चेतयमानाय चेतये, न चेतयमानाच्चेतये, न चेतयमाने चेतये, न चेतयमानं चेतये। किंतु सर्वविशुद्धचिन्मात्रो भावोऽस्मि ॥२९७॥

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते।
चिन्मुद्रांकितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहं।
भिद्यंते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि।
भिद्यंतां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥१८२॥

इति चेत्;—प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोहं तु निश्चयतः अवशेषा ये भावास्ते मम परे इति ज्ञातव्याः। यो हि निश्चयतः स्वलक्षणावलंबिन्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता सोऽयमहं, ये त्वमी अवशिष्टा अन्ये स्वलक्षणलक्ष्या व्यवहि-

---

पहचानने योग्य व्यवहाररूप भाव हैं, वे सभी आत्मा का व्यापक जो चेतकपन उसके व्याप्यपने में नही आते। वे मुझसे अत्यंत भिन्न हैं। इसलिये मैं ही, अपने द्वारा ही, अपने ही लिये, अपने से ही, अपने में ही, अपने को ही ग्रहण करता हूं। जो मैं निश्चयतः ग्रहण करता वह आत्मा की चेतना ही एक क्रिया है। उस क्रिया से चेतता ही हूं, चेतता हुआ ही चेतता हूं, चेतते हुए से ही चेतता हूं, चेतते हुए के लिये ही चेतता हूं, चेतते हुए से ही चेतता हूं, चेतते हुए में ही चेतता हूं, चेतते हुए को ही चेतता हूं। अथवा न तो चेतता हूं, न चेतता हुआ चेतता हूं, न चेतते हुए से चेतता हूं, न चेतते हुए के लिये चेतता हूं, न चेतते हुए से चेतता हूं, न चेतते हुए में चेतता हूं, न चेतते हुए को चेतता हूं। तो कैसा हूं ? सर्व विशुद्ध चैतन्यमात्र भाव हूं।

भावार्थ—जिस प्रज्ञा द्वारा आत्मा को बंध से भिन्न किया था उसी से यह चैतन्यस्वरूप आत्मा मैं हूं, अन्य अवशेष भाव मुझसे भिन्न हैं; यहां अभिन्न छह कारको से मैं, मुझको, मुझकर, मेरे लिये, मुझ से अपने में ग्रहण करता हूं। वह ग्रहण करना चेतन की चित्स्वरूप क्रिया ही है उससे चेतता हूं—जानता हूं, अनुभवता हूं इस तरह लगाना। फिर इन कारकों के भेद का भी निषेध किया। कि, मैं शुद्ध चैतन्यमात्र भाव हूं, सो एक अभेद हूं, द्रव्यदृष्टि से कर्ता कर्म आदि षट्कारक का भी भेद मुझ में नहीं है। इस तरह बुद्धि के द्वारा आत्मा को ग्रहण करना ॥ २९७ ॥

अब इस अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं;—**भित्त्वा** इत्यादि। **अर्थ**—ज्ञानी कहता है कि जो भेदने को समर्थ है उस सब को निजलक्षण के बल से भेदकर चैतन्य चिन्ह से चिन्हित, विभाग रहित महिमावाला मैं शुद्ध चैतन्य ही हूं। यदि कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, अधिकरण ये छह कारक और सत्त्व, असत्त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व आदिक धर्म व ज्ञान, दर्शन आदिक गुण ये भेदरूप हों तो हों परंतु विशुद्ध समस्त विभावों से रहित एक तथा सब गुणपर्यायों में व्यापक ऐसे चैतन्य भाव में तो कुछ भेद नहीं है।

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयओ ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९८॥
पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥२९९॥ (युग्मम्)

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो द्रष्टा सोऽहं तु निश्चयतः ।
अवशेषा ये भावास्ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥२९८॥
प्रज्ञया गृहीतव्यो यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयतः ।
अवशेषा ये भावास्ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥२९९॥

चेतनाया दर्शनज्ञानविकल्पानतिक्रमणाच्चेतयितृत्वमिव द्रष्टृत्वं ज्ञातृत्वं चात्मनः स्व-

---

यमाणा भावास्ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमनायांतोऽत्यंतं मत्तो भिन्नास्ततोऽहमेव मयैव मह्यमेव मत्त एव मय्येव मामेव गृह्णामि, यत् किल गृह्णामि तच्चेतनैकक्रियत्वादात्मनश्चेतये एव, चेतयमान एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानायैव चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमान एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये । अथवा न चेतये, न चेतयमानश्चेतये, न चेतयमानेन चेतये, न चेतयमानाय चेतये, न चेतयमानाच्चेतये, न चेतयमाने चेतये, न चेतयमानं चेतये, किं तु सर्वविशुद्धचिन्मात्रो भावोऽस्मि । भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तु हि यच्छक्यते चिन्मुद्रांकितनिर्विभाग-महिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहं । भिद्यंते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि भिद्यंतां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥२९७॥ प्रज्ञया गृहीतव्यो यो द्रष्टा सोहं तु निश्चयतः, अवशेषा मे भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः । प्रज्ञया

भावार्थ—इस चैतन्यभाव से अन्य, अपने स्वलक्षण से भेदे गये, कारकभेद धर्मभेद और गुणभेद हैं तो रहें, शुद्ध चैतन्यमात्र में कुछ भी भेद नहीं हैं। शुद्धनय से आत्मा को ऐसा अभेदरूप ग्रहण करना ॥१८२॥

आगे कहते हैं कि शुद्ध चैतन्यमात्र तो ग्रहण कराया, परंतु सामान्य चेतना दर्शन ज्ञान सामान्यमय है इसलिये अनुभव में दर्शन ज्ञान स्वरूप आत्मा का ऐसा अनुभव करना;—**[प्रज्ञया गृहीतव्यः]** प्रज्ञा से इस प्रकार ग्रहण करना कि **[यो द्रष्टा]** जो देखने वाला है **[स तु]** वह तो **[निश्चयतः]** निश्चय से **[अहं]** मैं हूं **[अवशेषा ये भावाः]** अवशेष जो भाव हैं **[ते मम पराः]** वे मुझ से पर हैं **[इति ज्ञातव्याः]** ऐसा जानना, तथा **[प्रज्ञया गृहीतव्यः]** प्रज्ञा से ही ग्रहण करना कि **[यो ज्ञाता]** जो जानने वाला है **[स तु]** वह तो **[निश्चयतः]** निश्चय से **[अहं]** मैं हूं **[अवशेषा ये भावाः]** अवशेष जो भाव हैं **[ते]** वे **[मम पराः]** मुझ से पर हैं **[इति ज्ञातव्याः]** ऐसा जानना ।

टीका—चेतना में दर्शन ज्ञान के भेद का उल्लंघन नहीं है । इस कारण चेतकत्व की तरह दर्शकपना व ज्ञातापना आत्मा का निज लक्षण ही है । इसलिये ऐसा अनुभव करना कि मैं देखने वाला आत्मा को ग्रहण

लक्षणमेव । ततोऽहं द्रष्टारमात्मानं गृह्णामि यत्किल गृह्णामि तत्पश्याम्येव, पश्यन्नेव पश्यामि, पश्यतैव पश्यामि, पश्यते एव पश्यामि, पश्यत एव पश्यामि, पश्यत्येव पश्यामि, पश्यंतमेव पश्यामि । अथवा—न पश्यामि, न पश्यन् पश्यामि, न पश्यता पश्यामि, न पश्यते पश्यामि, न पश्यतः पश्यामि, न पश्यति पश्यामि, न पश्यंतं पश्यामि । किंतु सर्वविशुद्धो दृङ्मात्रो भावोऽस्मि । अपि च—ज्ञातारमात्मानं गृह्णामि यत्किल गृह्णामि तज्जानाम्येव, जानन्नेव जानामि, जानतैव जानामि, जानते एव जानामि, जानत एव जानामि, जानत्येव जानामि, जानंतमेव जानामि । अथवा—न जानामि, न जानन् जानामि, न जानता जानामि, न जानते जानामि, न जानतो जानामि, न जानति जानामि न जानंतं जानामि । किंतु सर्वविशुद्धो ज्ञप्तिमात्रो भावोऽस्मि । ननु कथं चेतना दर्शनज्ञानविकल्पौ नातिक्रामति येन चेतयिता द्रष्टा ज्ञाता च स्यात् ? उच्यते—चेतना

गृहीतव्यो यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयतः, अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः चेतनाया दर्शनज्ञानविकल्पानतिक्रमणाच्चेतयितृत्वमेव द्रष्टृत्वं ज्ञातृत्वं चात्मनः स्वलक्षणमेव । ततोहं द्रष्टारमात्मानं गृह्णामि । यत्किल गृह्णामि तत्पश्याम्येव, पश्यन्नेव पश्यामि, पश्यतैव पश्यामि, पश्यते एव पश्यामि, पश्यत एव पश्यामि, पश्यत्येव पश्यामि, पश्यंतमेव पश्यामि । अथवा—न पश्यामि, न पश्यन् पश्यामि, न पश्यता पश्यामि, न पश्यते पश्यामि, न पश्यतः पश्यामि, न पश्यति पश्यामि, न पश्यंतं पश्यामि । किं तु सर्वविशुद्धो दृङ्मात्रो भावोऽस्मि । अपि च ज्ञातारमात्मानं गृह्णामि यत्किल गृह्णामि तज्जानाम्येव, जानन्नेव जानामि, जानतैव जानामि, जानते एव जानामि, जानत एव जानामि, जानत्येव जानामि, जानंतमेव जानामि । अथवा न जानामि, न जानन् जानामि, न जानतैव जानामि, न जानते जानामि, न जानतो जानामि, न जानति जानामि, न जानंतं जानामि । किं तु सर्वविशुद्धो ज्ञप्तिमात्रो भावोऽस्मि । ननु कथं चेतना दर्शनज्ञानविकल्पौ नातिक्रामति येन चेतयिता द्रष्टा ज्ञाता च स्यात् ? उच्यते-चेतना तावत्प्रतिभासरूपा सा तु सर्वेषामेव वस्तूनां सामान्यविशेषात्मकत्वाद् द्वैरूप्यं नातिक्रामति । ये तु तस्या द्वे रूपे ते दर्शनज्ञाने, ततः सा ते नातिक्रामति । यद्यतिक्रामति ? सामान्यविशेषातिक्रांतत्वाच्चेतनैव न भवति । तदभावे द्वौ दोषौ स्वगुणोच्छेदाच्चेतनस्याचेतनतापत्तिः, व्यापकाभावे व्याप्यस्य चेतनस्याभावो वा । ततस्तद्दोषभयाद्दर्शनज्ञानात्मिकैव चेतनाभ्युपगंतव्या ।

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत् तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत् ।
तत्त्यागे जड़ता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापकादात्मा चांतमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित् ।

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषां
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥

निश्चयतः अवशेषा ये रागादिभावा विभावपरिणामास्ते चिदानंदैकभावस्य ममापेक्षया परा इति ज्ञातव्याः ।

करता हूं, जो निश्चय से ग्रहण करता हूं सो देखता ही हूं, देखता हुआ ही देखता हूं, देखते हुए के द्वारा ही देखता हूं, देखते हुए के लिये ही देखता हूं, देखते हुए से ही देखता हूं, देखते हुए में ही देखता हूं और देखते हुए को ही देखता हूं । अथवा नहीं देखता, न देखते हुए को देखता हूं, न देखतेकर देखता हूं, न देखते के लिये देखता हूं, न देखते से देखता हूं, न देखते में देखता हूं, न देखते को देखता हूं । तो कैसा हूं ? सर्व विशुद्ध एक दर्शनमात्र भाव मैं हूं । इस प्रकार तो दर्शन पर कर्ता कर्म करण संप्रदान अपादान अधिकरण लगा कर फिर उनका निषेध करके एक दर्शनमात्र भाव स्वरूप आत्मा को अनुभव रूप करना । तथा उसी

तावत्प्रतिभासरूपा सा तु सर्वेषामेव वस्तूनां सामान्यविशेषात्मकत्वात् द्वैरूप्यं नातिक्रामति । ये तु तस्या द्वे रूपे ते दर्शनज्ञाने, ततः सा ते नातिक्रामति । यद्यतिक्रामति ? सामान्यविशेषातिक्रांतत्वाच्चेतनैव न भवति । तदभावे द्वौ दोषौ—स्वगुणोच्छेदाच्चेतनस्याचेतनतापत्तिः, व्यापकाभावे व्याप्यस्य चेतनस्याभावो वा । ततस्तद्दोषभयाद्दर्शनज्ञानात्मिकैव चेतनाभ्युपगंतव्या ॥२९८।२९९॥

अत्राह शिष्यः—चेतनाया ज्ञानदर्शनभेदौ न स्तः, एकैव चेतना ततो ज्ञाता द्रष्टेति द्विधात्मा कथं घटते इति ? अत्र पूर्वपक्षे परिहारः—सामान्यग्राहकं दर्शनं, विशेषग्राहकं ज्ञानं । सामान्यविशेषात्मकं च वस्तु । सामान्यविशेषात्मकत्वाभावे चेतनाया अभावः स्यात् । चेतनाया अभावे सति आत्मनो जडत्वं, चेतनालक्षणस्य विशेषगुणस्याभावे सत्यभावो वा भवति । नचात्मनो जडत्वं दृश्यते, नचाभावः ? प्रत्यक्षविरोधात् ? ततः स्थितं यद्यप्यभेदनयेनैकरूपा चेतना तथापि सामान्यविशेषविषयभेदेन दर्शनज्ञानरूपा भवतीत्यभिप्रायः ॥ २९८ ॥ २९९ ॥ अथ शुद्धबुद्धैकस्वभावस्य परमात्मनः शुद्धचिद्रूप एक एव

तरह ज्ञान पर भी लगाना । मैं जानने वाली आत्मा को ग्रहण करता हूँ, जो ग्रहण करता हूँ सो निश्चय से जानता ही हूँ; जानता हुआ ही जानता हूं, जानते हुए से ही जानता हूं; जानते हुए के लिये ही जानता हूं, जानते हुए से ही जानता हूं; जानते हुए में ही जानता हूं; जानते हुए को ही जानता हूं । अथवा नहीं जानता, न जानते हुए को जानता हूँ; न जानते हुए के द्वारा जानता हूं, न जानते के लिये जानता हूँ, न जानते हुए से जानता हूँ, न जानते में जानता हुँ न जानते को जानता हूँ । तो कैसा हूँ ? सर्व विशुद्ध एक जाननक्रियामात्र भाव में हूँ । इस तरह ज्ञान पर छह कारक भेदरूप लगा के फिर अभेदरूप करने को कारक भेद का निषेध कर ज्ञानमात्र अपना अनुभव करना ।

भावार्थ—पहले तो सामान्य चेतना का अनुभव कराया । पहले आत्मा को ज्ञान द्वारा ग्रहण करना कहा था सो चेतना का अनुभव करना ही ग्रहण करना है कुछ अन्य वस्तु का ग्रहण करना नहीं है । तथा अनुभव करना, अनुभव करने वाला, जिससे अनुभव किया जाय इत्यादि छह कारक भेदरूप कहकर अभेद विवक्षा में कारक भेद का निषेध करके एक शुद्ध चेतना मात्र ही कहा था । अब यहां चेतना सामान्य है, वह दर्शन ज्ञान विशेष को उलंघन नहीं करता, इसलिये द्रष्टा और ज्ञाता का अनुभव कराया । वहां भी छहकारकरूप भेद अनुभव कर पीछे अभेद अनुभव अपेक्षा कारक भेद दूर कर द्रष्टा ज्ञातामात्र का अनुभव कराया है । यहां शिष्य पूछता है कि चेतना दर्शन ज्ञान भेद को कैसे उलंघन नहीं करती कि जिससे आत्मा द्रष्टा ज्ञाता हो जाता है । उसका उत्तर कहते हैं—प्रथम तो चेतना प्रतिभासरूप है, ऐसी चेतना दोरूपपने को उलंघन नहीं करती क्योंकि सभी वस्तु का सामान्यविशेषरूप स्वरूप है । सो चेतना भी वस्तु है, वह सामान्य विशेषरूप को कैसे उलंघन करे । उसके दो रूप हैं वे दर्शन, ज्ञान हैं । इसलिये वह चेतना दर्शन ज्ञान इन दोनों को उलंघन नहीं करती । यदि इन दो स्वरूपों को लांघे तो सामान्य विशेषरूप के उलंघनेपने से चेतना ही नहीं होतो । उस चेतना के अभाव से दो दोष आते हैं—एक तो अपने गुण का उच्छेद होने से चेतन के अचेतनपन की प्राप्ति आती है और दूसरे, व्यापक चेतन का अभाव होने से व्याप्य जो चेतन आत्मा उसका अभाव होता है । इस कारण इन दोषों के भय से चेतना दर्शनज्ञानस्वरूप ही अंगीकार करनी ॥२९८।२९९॥

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद्दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत् ।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चांतमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित् ॥ १८३ ॥
एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषां ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥ १८४ ॥

भावः न च रागादय इत्याख्याति;—**को णाम भणिज्ज बुहो** को ब्रूयात् बुधो ज्ञानी विवेकी नाम स्फुटमहो वा न कोऽपि । किं ब्रूयात् । **मज्झमिणंतिय वयणं** ममेति वचनं किं कृत्वा ? पूर्वं **णादुं** निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानेन ज्ञात्वा । कान् ? **सव्वे परोदये भावे** सर्वान् मिथ्यात्वरागादिभावान् विभावपरिणामान् । कथंभूतान् ? परोदयान् शुद्धात्मन. सकाशात् परेण कर्मोदयेन जनितान् । किं कुर्वन् सन् ? **जाणंतो अप्पयं सुद्धं** जानन् परमसमरसीभावेना-नुभवन्, कं ? आत्मानं । कथंभूतं ? शुद्धं, भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितं । केन कृत्वा जानन् ? शुद्धात्मभावनापरिणता-भेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेनेति । एवं विशेषभेदभावनाव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले सूत्रपंचकं गतं ॥ ३०० ॥ अथ मिथ्यात्वरागादिपरभावस्वीकारेण बध्यते वीतरागपरमचैतन्यलक्षणस्वस्वभावस्वीकारेण मुच्यते जीव इति प्रकाशयति—

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**अद्वैता** इत्यादि । **अर्थ**—जगत में निश्चय से चेतना अद्वैत है, तो भी जो दर्शन ज्ञानरूप को छोड़े तो सामान्य विशेषरूप के अभाव से वह चेतना अपने अस्तित्व को छोड़ दे, और जब चेतना अपने अस्तित्व को छोड़ दे तो चेतन के जड़पना हो जाय । तथा व्याप्य आत्मा व्यापक चेतना के बिना अन्त को प्राप्त हो जाय अर्थात् आत्मा का नाश हो जाय । इसलिए चेतना नियम से दर्शन ज्ञानस्वरूप ही है ।

भावार्थ—वस्तु का स्वरूप सामान्य विशेषरूप है । चेतना भी वस्तु है वह दर्शन ज्ञान विशेष को यदि छोड़ दे तो वस्तुपने का नाश हो जाय तब चेतना का अभाव होने से चेतन के जड़पना आ जायेगा । चेतना आत्मा की सब अवस्थाओं में पाई जाती है, इसलिए व्यापक है । आत्मा चेतना ही है इस कारण चेतना का व्याप्य है सो व्यापक के अभाव से व्याप्य जो चेतन आत्मा उसका अभाव होता है । इसलिये चेतना दर्शनज्ञानस्वरूप ही माननी चाहिए । यहां पर तात्पर्य ऐसा है कि सांख्यमती आदि कई मतवाले सामान्य चेतना को ही मानकर एकांत करते हैं, उनके निषेध करने को 'वस्तु का स्वरूप सामान्य विशेषरूप है सो चेतना को भी सामान्य विशेषरूप अंगीकार करना' ऐसा जतलाया है ॥१८३॥

आगे कहते हैं कि चेतना का तो चिन्मय ही एकभाव है अन्य परभाव हैं सो चिन्मयभाव तो उपादेय है और परभाव हेय हैं यह सूचना आगे के कथन की है उसका श्लोक कहते हैं—**एक** इत्यादि । **अर्थ**—चैतन्य का तो एक चिन्मय ही भाव है । दूसरे भाव हैं वे प्रगट रीति से परके भाव हैं । इसलिए एक चिन्मयभाव ही ग्रहण करने योग्य है और जो परभाव हैं वे सभी त्यागने योग्य हैं ॥१८४॥

को णाम भणिज्ज बुहो णाउं सव्वे [1]पराइए भावे।
मज्झमिणंति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥ ३०० ॥

को नाम भणेद् बुधो ज्ञात्वा सर्वान् परकीयान् भावान्।
ममेदमिति च वचनं जानन्नात्मानं शुद्धं ॥ ३०० ॥

यो हि परात्मनोर्नियतस्वलक्षणविभागपातिन्या प्रज्ञया ज्ञानी स्यात् स खल्वेकं चिन्मात्रं भावमात्मीयं जानाति शेषांश्च सर्वानेव भावान् परकीयान् जानाति। एवं च जानन् कथं परभावान्ममामी इति ब्रूयात्? परात्मनोर्निश्चयेन स्वस्वामिसंबंधस्यासंभवात्। अतः सर्वथा चिद्भाव एव गृहीतव्यः शेषाःसर्वे एव भावाः प्रहातव्या इति सिद्धांतः ॥ ३०० ॥

सिद्धांतोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहं।
एते ये तु समुल्लसंति विविधा भावा पृथग्लक्षणाः
तेऽहंनास्ति यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥१८५॥

तेयादी अवराहे कुव्वदि सो ससंकिदो होदि यः स्तेयपरदाराद्यपराधान् करोति स पुरुषः सशंकितो भवति। केन

अब इस उपदेश की गाथा कहते हैं;—[सर्वान् परकीयान् भावान्] ज्ञानी अपने स्वरूप को जान और सभी परके भावों को [ज्ञात्वा] जानकर [इदं मम] ये मेरे हैं [इति च वचनं] ऐसा वचन [कः नाम बुधः] कौन बुद्धिमान् [भणेत्] कहेगा? ज्ञानी पंडित तो नहीं कह सकता। कैसा है ज्ञानी? [आत्मानं] अपने आत्मा को [शुद्धं जानन्] शुद्ध जानने वाला है।

टीका—जो पुरुष आत्मा और परके निश्चित स्वलक्षण के विभाग में पड़ने वाली प्रज्ञा से ज्ञानी होता है, वह पुरुष निश्चयतः एक चैतन्यमात्र अपने भाव को तो अपना जानता है और बाकी के सभी भावों को परके जानता है। ऐसा जानता हुआ परके भावों को 'ये मेरे हैं' ऐसे किस तरह कह सकता है? ज्ञानी तो नहीं कहता क्योंकि पर और आप में निश्चय से स्वस्वामिपने के सम्बन्ध का असम्भव है। इसलिये सर्वथा चिद्भाव ही एक ग्रहण करने योग्य है अवशेष सभी भाव त्यागने योग्य हैं ऐसा सिद्धान्त है।

भावार्थ—लोक में भी यह न्याय है, कि जो सुबुद्धि और न्यायवान् है, वह परके धनादिक को अपना नहीं कहता, उसी तरह सम्यग्ज्ञानी भी समस्त परद्रव्य को अपना नहीं बनाता, अपने निज भाव को ही अपने जान ग्रहण करता है ॥३००॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**सिद्धांतो** इत्यादि। **अर्थ**—जिनके चित्त का चरित्र उज्वल (उत्कट) है, ऐसे मोक्ष के इच्छुक पुरुष हैं वे इस सिद्धान्त का सेवन करो 'जो मैं तो शुद्ध चैतन्य-

१. परोदये भावे पाठोयं तात्पर्यवृत्तौ।

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान् ।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो मुनिः ॥ १८६ ॥

थेयाई अवराहे कुव्वदि जो सो उ संकिदो भमई ।
मा वज्भेज्जं केणवि चोरोत्ति जणम्मि वियरंतो ॥ ३०१॥
जो ण कुणइ अवराहे सो णिस्संको दु जणवए भमदि ।
णवि तस्स वज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयाइ ॥ ३०२ ॥
एवंहि सावराहो वज्झामि अहं तु संकिदो चेया ।
जइ पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण वज्झामि ॥३०३॥(त्रिकलम्)

स्तेयादीनपराधान् करोति यः स तु शंकितो भ्रमति ।
मा बध्ये केनापि चौर इति जने विचरन् ॥३०१॥
यो न करोत्यपराधान् स निश्शंकस्तु जनपदे भ्रमति ।
नापि तस्य बद्धुं यत् चिन्तोत्पद्यते कदाचित् ॥३०२॥

रूपेण ? **मा वज्भेहं केणवि चोरोत्ति जणम्मि वियरंतो** जने विचरन् माहं बध्ये केनापि तलवरादिना। किं कृत्वा ? चौर इति मत्वा । इत्यन्वयदृष्टांतगाथा गता । **जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे भमदि**

मय एक परम ज्योति ही सदा हूं और ये जो अनेक प्रकार के भिन्न लक्षणरूप भाव हैं मैं वे नहीं हूं क्योंकि वे सभी परद्रव्य हैं । इसका भावार्थ सुगम है ।

आगे कहते हैं कि परद्रव्य को जो ग्रहण करता है वह अपराध वाला है, बंध में पड़ता है; और जो निजद्रव्य में संतुष्ट है वह निरपराधी है नहीं बंधता ऐसी सूचनिका का अगले कथन का श्लोक कहते हैं—**परद्रव्य** इत्यादि । **अर्थ**—जो परद्रव्य को ग्रहण करता है वह तो अपराधी है, वही बंध में पड़ता है; और जो अपने द्रव्य में ही संतुष्ट है परद्रव्य को नहीं ग्रहण करता वह यतीश्वर अपराध रहित है वह नहीं बंधता ॥१८६॥

आगे इस कथन को दृष्टांतपूर्वक गाथा में कहते हैं;—**[यः]** जो पुरुष **[स्तेयादीन् अपराधान्]** चोरी आदि अपराधों को **[करोति]** करता है **[स तु]** वह **[शंकितो भ्रमति]** ऐसी शंका सहित हुआ भ्रमता है कि **[जने विचरन्]** लोक में विचरता हुआ मैं **[चौर इति]** चोर ऐसा मालूम होने पर **[केनापि मा बध्ये]** किसी से पकड़ा न जाऊं **[यः]** जो **[अपराधान्]** कोई भी अपराध **[न करोति]** नहीं करता **[स तु]** वह पुरुष **[जनपदे]** देश में **[निःशंकः भ्रमति]** निशंक भ्रमता है **[तस्य]** उसको **[यत् बद्धुं चिंता]** बंधने की चिंता **[कदाचित् अपि]** कभी भी **[न उत्पद्यते]** नहीं उपजती (होती)

एवमस्मि सापराधो बध्येऽहं तु शंकितश्चेतयिता ।
यदि पुनर्निरपराधो निश्शंकोऽहं न बध्ये ॥३०३॥

यथात्र लोके य एव परद्रव्यग्रहणलक्षणमपराधं करोति तस्यैव बंधशंका संभवति । यस्तु तं न करोति तस्य सा न संभवति । तथात्मापि य एवाशुद्धः सन् परद्रव्यग्रहणलक्षणमपराधं करोति तस्यैव बंधशंका संभवति यस्तु शुद्धः संस्तं न करोति तस्य सा न संभवति, इति नियमः । अतः सर्वथा सर्वपरकीयभावपरिहारेण शुद्ध आत्मा गृहीतव्यः, तथा सत्येव निरपराधत्वात् ॥३०१।३०२।३०३॥

य स्तेयपरदाराद्यपराधं न करोति स निश्शंको जनपदे लोके भ्रमति । **णवि तस्स बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयावि** तस्य चिंता नोपद्यते कदाचिदपि जे अहो यस्मात्कारणात् वा निरपराधः, केन रूपेण चिंता नोत्पद्यते ? नाहं बध्ये केनापि चौर इति मत्वा । एवं व्यतिरेकदृष्टांतगाथा गता । **एवं हि सावराहो वज्झामि अहं तु संकिदो चेदा** यो रागादिपरद्रव्यग्रहणं स्वीकारं करोति स स्वस्वभावच्युतः सन् सापराधो भवति [1]सापराधोऽत्र शंकितो भवति । केन रूपेण ? बध्येऽहं कर्मतापन्नो ज्ञानावरणादिकर्मणा । ततः कर्मबंधभीतः प्रायश्चित्तं प्रति मरणरूपं दंडं ददाति **जो पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण बज्झामि** यस्तु पुनर्निरपराधो भवति सतु दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादि-समस्तविभावपरिणामरहितो भूत्वा निश्शङ्को भवति । केन रूपेण ? इति चेत्-रागाद्यपराधरहितत्वात् नाहं बध्ये केनापि कर्मणेति प्रतिक्रमणादिदंडं विनाप्यनंतज्ञानादिरूपनिर्दोषपरमात्मभावनयैव शुद्ध्यति इत्यन्वयव्यतिरेकदाष्टांतगाथा गता ॥३०१॥३०२॥३०३॥ अथ को हि नामायमपराधः ? इति पृच्छति;—**संसिद्धिराधसिद्धी साधिदमाराधिदं च**

[एवं अहं] ऐसे मैं **[सापराधः अस्मि]** जो अपराधसहित हूं **[तु]** तो **[बध्ये]** बँधूंगा ऐसी **[शंकितः]** शंकायुक्त **[चेतयिता]** आत्मा होता है **[यदि पुनः]** और जो **[निरपराधः]** निरपराध हूं तो **[अहं निशंकः]** मैं निःशंक हूं **[न बध्ये]** नहीं बँधूंगा । ऐसे ज्ञानी विचारता है ।

टीका—जैसे इस लोक में जो पुरुष परद्रव्य का ग्रहण करने वाला है वही अपराध को करता है, उसी के बंध की शंका होती है । और जो अपराध नहीं करता है उसके तो शंका संभव ही नहीं है । उसी तरह आत्मा भी यदि अशुद्ध हुआ परद्रव्य को ग्रहणस्वरूप अपराध करता है, उसी के बंध की शंका होती है । और जो आत्मा शुद्ध हुआ उस अपराध को नहीं करता उसके वह शंका भी नहीं होती, यह नियम है । इसलिये सर्वथा सब परद्रव्य के भाव का त्याग कर शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना । ऐसा करने पर भी निरपराधपन है ।

भावार्थ—चोरी आदि अपराध करे तो बंधने की शंका हो, निरपराध के शंका क्यों हो ? उसी तरह आत्मा पर द्रव्य का ग्रहणरूप अपराध करे तो बंध की शंका होवे ही, यदि अपने को शुद्ध अनुभवे, पर को नहीं ग्रहण करे तो बंध की शंका कैसे हो ? इसलिये पर द्रव्य को छोड़ शुद्ध आत्मा का ग्रहण करना तभी निरपराध होता है ॥३०१।३०२।३०३॥

---

१. सापराधाच्छंकितो भवतीति पाठः ।

को हि नामायमपराधः ?—

संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं ।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ॥३०४॥
जो[1] पुण णिरवराधो चेया णिस्संकिओ उ सो होइ ।
आराहणाए[2] णिच्चं वट्टेइ अहं ति जाणंतो ॥३०५॥ (युग्मम्)

संसिद्धिराधसिद्धं साधितमाराधितं चैकार्थं ।
अपगतराधो यः खलु चेतयिता स भवत्यपराधः ॥३०४॥
यः पुनर्निरपराधश्चेतयिता निश्शंकितस्तु स भवति ।
आराधनया नित्यं वर्तते, अहमिति जानन् ॥३०५॥

परद्रव्यपरिहारेण शुद्धस्यात्मनः सिद्धिः साधनं वा राधः अपगतो राधो यस्य चेतयितुः सोऽपराधः। अथवा अपगतो राधो यस्य भावस्य सोऽपराधस्तेन सह यश्चेतयिता वर्तते स सापराधः स तु परद्रव्यग्रहणसद्भावेन शुद्धात्मसिद्ध्यभावाद्बंधशंकासंभवे सति स्वयमशुद्धत्वादनारा-

---

एयट्ठो कालत्रयवर्तिसमस्तमिथ्यात्वविषयकषायादिविभावपरिणामरहितत्वेन निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा निजशुद्धात्माराधनं सेवनं राध इत्युच्यते संसिद्धिः सिद्धिरिति साधितमित्याराधितं च तस्यैव राधशब्दस्य पर्यायनामानि। **अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराहो** अपगतो विनष्टो राधः शुद्धात्माराधना यस्य पुरुषस्य स पुरुष एवाभेदेन भवत्यपराधः। अथवा अपगतो विनष्टो राधः शुद्धात्माराधः शुद्धात्माराधना यस्य रागादिविभावपरिणामस्य स भवत्यपराधः सहापराधेन वर्तते यः स सापराधः, चेतयितात्मा तद्विपरीतः त्रिगुप्तिसमाधिस्थो निरपराध इति। अथ हे भगवन् किमनेन शुद्धात्माराधनाप्रयासेन यतः प्रतिक्रमणाद्यनुष्ठानेनैव निरपराधो भवत्यात्मा, कस्मात् ? इति चेत्, सापराधस्याप्रतिक्रमणादेर्बोध-

---

आगे पूछते हैं कि यह अपराध क्या है ? उसका उत्तर अपराध का स्वरूप कहते हैं;—**[संसिद्धराधसिद्धं]** संसिद्ध, राध, सिद्ध **[साधितं च आराधितं]** साधित और आराधित **[एकार्थं]** ये शब्द एकार्थ हैं। इसलिये **[यः खलु चेतयिता]** जो आत्मा **[अपगतराधः]** राध से रहित हो **[सः]** वह आत्मा **[अपराधः भवति]** अपराध है **[यः पुनः]** और जो **[चेतयिता]** आत्मा **[निरपराधः]** अपराधी नहीं है **[सः तु]** वह **निःशंकितः]** शंकारहित **[भवति]** है और अपने को **[अहं इति]** में हूं ऐसा **[जानन्]** जानता हुआ **[आराधनया]** आराधना कर **[नित्यं वर्तते]** हमेशा वर्तता है।

टीका—पर द्रव्य का परिहार करके जो शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन उसे राध कहते हैं। जिस आत्मा के राध अर्थात् शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन दूरवर्ती हों वह आत्मा अपराध है। अथवा इसकी दूसरी व्युत्पत्ति (समास विग्रह) ऐसी कि जिस भाव का राध दूरवर्ती हो

---

१. नेयं गाथाऽत्र तात्पर्यवृत्तौ। २. आराहणाइ इत्यपि पाठः।

धक एव स्यात् । यस्तु निरपराधः स समग्रपरद्रव्यपरिहारेण शुद्धात्मसिद्धिसद्भावाद्बंधशंकाया असंभवे सति, उपयोगैकलक्षणशुद्ध आत्मैक एवाहमिति निश्चिन्वन् नित्यमेव शुद्धात्मसिद्धिलक्षणयाराधनया वर्तमानत्वादाराधक एव स्यात् ॥ ३०४ । ३०५ ॥

अनवरतमनंतैर्बध्यते सापराधः स्पृशति निरपराधो बंधनं नैव जातु ।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन् सापराधो भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥१८७॥

शब्दवाच्यापराधाविनाशकत्वेन विषकुंभत्वे सति प्रतिक्रमणादेर्दोषशब्दवाच्यापराधविनाशकत्वेनामृतकुंभत्वात् इति । तथा चोक्तं चिरंतनप्रायश्चित्तग्रंथे—'अपडिक्कमणं अपडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव । अणियत्तीय अणिंदा अगरुहाऽसोहीय विसकुंभो ॥ १ ॥ "पडिकमणं पडिसरणं पडिहरणं धारणा णियत्तीय । णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु ॥ २ ॥" ॥ ३०४ । ३०५ ॥ अत्र पूर्वपक्षे परिहारः—**पडिकमणमित्यादि** । **पडिकमणं** प्रतिक्रमणं कृतदोषनिराकरणं । **पडिसरणं** प्रतिसरणं सम्यक्त्वादिगुणेषु प्रेरणं । **पडिहरणं** प्रतिहरणं मिथ्यात्वरागादिदोषेषु निवारणं **धारणा** पंचनमस्कारप्रभृतिमंत्रप्रतिमादिबहिर्द्रव्यावलंबनेन चित्तस्थिरीकरणं धारणा । **णियत्तीय** बहिरंगविषयकषायादीहागतचित्तस्य निवर्तनं निवृत्तिः । **णिंदा** आत्मसाक्षिदोषप्रकटनं निंदा **गरुहा** गुरुसाक्षिदोषप्रकटनं गर्हा । **सोहिय** दोषे सति प्रायश्चित्तं गृहीत्वा विशुद्धिकारणं शुद्धिः । इत्यष्टविकल्परूपशुभोपयोगो यद्यपि मिथ्यात्वादिविषयकषायपरिणतिरूपाशुभोपयोगापेक्षया सविकल्पसरागचारित्रावस्थायाममृतकुंभो भवति । तथापि रागद्वेषमोहख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिसमस्तपरद्रव्यालंबनविभावपरिणामशून्या, चिदानंदैकस्व-

---

उस भाव को अपराध कहते हैं। उस अपराध सहित जो आत्मा वर्ते वह आत्मा सापराध है। ऐसा आत्मा परद्रव्य के ग्रहण के सद्भाव से, शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभाव से, उसके बंध की शंका का संभव होने से, आप स्वयं अशुद्धपन से आराधना करने वाला नहीं है। और जो आत्मा निरपराध है वह समस्त परद्रव्य के परिग्रह का परिहार करके शुद्ध आत्मा की सिद्धि के सद्भाव से उसके बंध की शंका के न होने से ऐसा निश्चय करता वर्तता है 'कि मैं उपयोग लक्षण वाला एक शुद्ध आत्मा ही हूं वह आत्मा नित्य ही शुद्ध आत्मा की सिद्धि लक्षण वाली आराधनायुक्त सदा वर्तता है, इसलिये आराधक ही है।

भावार्थ—संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित और आराधित—इन शब्दों का अर्थ एक ही है। यहां शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन का नाम राध है। जिसके यह नहीं है वह आत्मा सापराध है, और जिसके यह हो वह निरपराध है। सापराध के बंध की शंका होती है इसलिये अनाराधक है, और निरपराध निश्शंक हुआ अपने उपयोग में लीन होता है तब बंध की शंका नहीं होती, तब वह सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप का एक भावरूप निश्चय आराधना का आराधक ही है ॥३०४।३०५॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**अनवरत** इत्यादि। **अर्थ**—जो आत्मा सापराध है वह तो निरंतर अनंत पुद्गल परमाणुरूप कर्मों से बंधता है; और जो निरपराध है वह बंधन को कभी स्पर्शन नहीं करता। तथा यह सापराध आत्मा तो अपने आत्मा को नियम से अशुद्ध ही सेवन करके सापराध ही होता है और जो निरपराध है वह अच्छी तरह शुद्ध आत्माका सेवन करनेवाला होता है॥१८७॥

ननु किमनेन शुद्धात्मोपासनप्रयासेन यतः प्रतिक्रमणादिनैव निरपराधो भवत्यात्मा सापराधस्याप्रतिक्रमणादेस्तदनपोहकत्वेन विषकुम्भत्वे सति प्रतिक्रमणादेस्तदपोहकत्वेनामृतकुम्भत्वात् । उक्तं च व्यवहाराचारसूत्रे—

अपडिकमणं अपरिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्ती य अणिंदाऽगरुहाऽसोहीय विसकुंभो ॥ १ ॥
पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु ॥ २ ॥

अत्रोच्यते—

पडिकमणं [1]पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुंभो ॥ ३०६ ॥
अपडिकमणं अप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्ती य अणिंदाऽगरहाऽसोही अमयकुंभो ॥ ३०७ ॥ (युग्मम्)

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहारो धारणा निवृत्तिश्च ।
निंदा गर्हा शुद्धिः अष्टविधो भवति विषकुंभः ॥३०६॥

भावविशुद्धात्मालंबनभरितावस्था निर्विकल्पशुद्धोपयोगलक्षणा, **अपडिकमणं** इति गाथाकथितक्रमेण ज्ञानिजनाश्रितनिश्चयाप्रतिक्रमणाविरूपा तु या तृतीया भूमिस्तदपेक्षया वीतरागचारित्रस्थितानां पुरुषाणां विषकुंभ एवेत्यर्थः । किं च विशेषः—अप्रतिक्रमणं द्विविधं भवति ज्ञानिजनाश्रितं, अज्ञानिजनाश्रितं चेति । अज्ञानिजनाश्रितं यदप्रतिक्रमणं तद्विषयकषायपरिणतिरूपं भवति । ज्ञानिजीवाश्रितमप्रतिक्रमणं तु शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानलक्षणं त्रिगुप्तिरूपं । तच्च

आगे व्यवहारनय का आलम्बन करने वाला तर्क करता है कि इस शुद्ध आत्मा के सेवन से क्या लाभ है ? क्योंकि प्रतिक्रमण आदि प्रायश्चित से ही आत्मा निरपराध हो जाता है । सापराध के अप्रतिक्रमणादि अपराध के दूर करने वाले नहीं हैं इसलिए विषकुंभ कहे गये हैं, और निरपराध के प्रतिक्रमणादिक उस अपराध के दूर करने वाले हैं; इसलिये वे अमृतकुंभ कहे गये हैं ।

यही व्यवहार के कहने वाले आचार सूत्र में कहा है अप्पडि इत्यादि । **अर्थ**—अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिंदा, अगर्हा और अशुद्धि ऐसे आठ प्रकार के लगे हुये दोष का प्रायश्चित न करना वह तो विषकुंभ है और प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा और शुद्धि, इस तरह आठ प्रकार से लगे हुये दोष का प्रायश्चित करना वह अमृतकुंभ है । ऐसा व्यवहारनय के पक्ष वाले ने तर्क किया था ।

---

१. तात्पर्यवृत्तौ 'परिहरणं धारणा णियत्तीय' इति पाठः ।

अप्रतिक्रमणमप्रतिसरणमपरिहारोऽधारणा चैव ।
अनिवृत्तिश्चानिंदाऽगर्हाऽशुद्धिरमृतकुम्भः ॥३०७॥

यस्तावदज्ञानिजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादिः स शुद्धात्मसिद्ध्यभावस्वभावत्वेन स्वयमेवापराधत्वाद् विषकुम्भ एव किं तस्य विचारेण । यस्तु द्रव्यरूपः प्रतिक्रमणादिः स सर्वापराधविषदोषापकर्षणसमर्थत्वेनामृतकुम्भोऽपि प्रतिक्रमणाऽप्रतिक्रमणादिविलक्षणाप्रतिक्रमणादिरूपां तार्तीयीकीं भूमिमपश्यतः स्वकार्यकरणासमर्थत्वेन विपक्षकार्यकारित्वाद्विषकुम्भ एव स्यात् । अप्रतिक्रमणादिरूपा तृतीयभूमिस्तु स्वयं शुद्धात्मसिद्धिरूपत्वेन सर्वापराधविषदोषाणां सर्वंकषत्वात् साक्षात्स्वयममृतकुम्भो भवतीति व्यवहारेण द्रव्यप्रतिक्रमणादेरपि, अमृतकुम्भत्वं साधयति। तयैव च निरपराधो भवति चेतयिता। तदभावे द्रव्यप्रतिक्रमणादिरप्यपराध एव। अतस्तृतीयभूमिकयैव निरपराधत्वमित्यवतिष्ठते, तत्प्राप्त्यर्थ एवायं द्रव्यप्रतिक्रमणादिः, ततो मेति मंस्था यत्प्रतिक्रमणादीन् श्रुतिस्त्याजयति किंतु द्रव्यप्रतिक्रमणादिना न मुञ्चति अन्यदपि प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणाद्यगोचराप्रतिक्रमणादिरूपं शुद्धात्मसिद्धिलक्षणमतिदुष्करं किमपि कारयति।

अज्ञानिजनाश्रितमप्रतिक्रमणं सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगापेक्षया यद्यप्यप्रतिक्रमणं भण्यते तथापि वीतरागचारित्रापेक्षया तदेव निश्चयप्रतिक्रमणं। कस्मात् ? इति चेत्, समस्तशुभाशुभास्रवदोषनिराकरणरूपत्वादिति। ततः स्थितं तदेव

उसका उत्तर आचार्य निश्चयनय को प्रधानकर कहते हैं;—[**प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहारः धारणा निवृत्तिः निंदा गर्हा**] प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा [**च शुद्धिः**] और शुद्धि इस तरह [**अष्टविधः**] आठ प्रकार तो [**विषकुम्भः**] विषकुंभ [**भवति**] है; क्योंकि इसमें कर्तापन की बुद्धि संभवती है [**च**] और [**अप्रतिक्रमणं अप्रतिसरणं अपरिहारः अधारणा**] अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा [**अनिवृत्तिः अनिंदा अगर्हा**] अनिवृत्ति, अनिंदा, अगर्हा [**च एव**] और [**अशुद्धिः**] अशुद्धि इस तरह आठ प्रकार [**अमृतकुम्भः**] अमृत कुंभ हैं क्योंकि, यहां कर्तापने का निषेध है इसलिये बंध से रहित हैं।

टीका—प्रथम तो जो अज्ञानीजन साधारण (अज्ञानी लोगों को साधारण ऐसे) अप्रतिक्रमणादि हैं वे तो शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभावरूप स्वभाव वाले हैं इसलिये स्वयमेव अपराधरूप होने से विष कुम्भ ही है; उनका विचार करने का क्या प्रयोजन है? (क्योंकि वे तो प्रथम ही त्यागने योग्य हैं) और जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमणादि हैं वे सब अपराधरूपी विष के दोष को (क्रमशः) कम करने में समर्थ होने से अमृत कुंभ है (ऐसा व्यवहार आचारसूत्र में कहा है) तथापि प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादि से विलक्षण ऐसी—अप्रतिक्रमणादि रूप तीसरी भूमिका को न देखने वाले पुरुष को वे द्रव्य-प्रतिक्रमणादि (अपराध काटने रूप) अपना कार्य करने को असमर्थ होने से विपक्ष (अर्थात् बंध का) कार्य करते होने से विषकुम्भ ही है। जो अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमि है, वह स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धिरूप होने के कारण समस्त अपराधरूपी विष के दोषों को सर्वथा नष्ट करने वाली होने से साक्षात् स्वयं अमृतकुम्भ है और इस प्रकार (वह

वक्ष्यते चात्रैव—

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं ।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिकम्मणं । इत्यादि ।

अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां ।प्रलीनं चापलमुन्मूलितमालंबनं ।
आत्मन्येवालानितं चित्तमासंपूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः ॥१८८॥

निश्चयप्रतिक्रमणं । व्यवहारप्रतिक्रमणापेक्षया, अप्रतिक्रमणशब्दवाच्यं ज्ञानिजनस्य मोक्षकारणं भवति । व्यवहारप्रतिक्रमणं तु यदि शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा तस्यैव निश्चयप्रतिक्रमणस्य साधकभावेन विषयकषायवंचनार्थं करोति तदपि परंपरया मोक्षकारणं भवति, अन्यथा स्वर्गादिसुखनिमित्तपुण्यकारणमेव । यत्पुनरज्ञानिजनसंबं-

---

तीसरी भूमि) व्यवहार से द्रव्य प्रतिक्रमणादि को भी अमृत कुम्भत्व साधती है। उस (तीसरी भूमि) से ही आत्मा निरपराध होता है। उस (तीसरी भूमि)के अभाव में द्रव्य प्रतिक्रमणादि अपराध ही है। इसलिये तीसरी भूमि से ही निरपराधत्व है ऐसा सिद्ध होता है। उसकी प्राप्ति के लिये ही यह द्रव्य प्रतिक्रमणादि है। ऐसा होने से यह नहीं मानना चाहिये कि (निश्चयनय का) शास्त्र द्रव्य प्रतिक्रमणादि को छुड़ाता है। तब फिर क्या करता है? द्रव्य प्रतिक्रमणादि से छुड़ा नहीं देता (अटका नहीं देता, संतोष नहीं मनवा देता) इसके अतिरिक्त अन्य भी, प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादि से अगोचर अप्रतिक्रमणादि रूप, शुद्ध आत्मा की सिद्धि जिसका लक्षण है ऐसा अति दुष्कर कुछ करवाता है।

भावार्थ—व्यवहारनय के अवलंबन करने वाले ने कहा था कि यदि लगे दोषों का प्रतिक्रमणादि करने से ही आत्मा शुद्ध होता है, तो पहले शुद्धात्मा के आलंबन का खेद करने से क्या? शुद्ध हुए पश्चात् उसका आलंबन होता है, पहले आलंबन का खेद निष्फल है। उसको आचार्य समझाते हैं कि, द्रव्य प्रतिक्रमणादि दोष के मेंटने वाले हैं; परंतु शुद्ध आत्मा का स्वरूप प्रतिक्रमणादि रहित है। उसके आलंबन के विना तो द्रव्य प्रतिक्रमणादिक दोष स्वरूप ही हैं, दोष के मेंटने को समर्थ नहीं हैं; क्योंकि निश्चय से युक्त ही व्यवहारनय मोक्ष मार्ग में है, केवल व्यवहार का ही पक्ष मोक्षमार्ग में नहीं है, बंध का ही मार्ग है। इसलिये ऐसा कहा है कि अज्ञानी के जो अप्रतिक्रमणादिक हैं वे विषकुंभ ही हैं, उनकी तो क्या कथा? परंतु जो व्यवहार चारित्र में प्रतिक्रमणादिक कहे हैं वे भी निश्चयनय से विषकुंभ ही हैं। क्योंकि आत्मा तो प्रतिक्रमणादिक से रहित शुद्ध अप्रतिक्रमणादि स्वरूप है। ऐसा जानना ॥३०६।३०७॥

अब इस कथन का कलशरूप काव्य कहते हैं—**अतो हताः** इत्यादि। **अर्थ**—इस कथन से सुख से बैठे हुए प्रमादी जीवों को तो ताड़ना की है और जो निश्चयनय का आश्रय लेकर प्रमादी होकर प्रवर्तन कर रहे हैं उनको ताड़कर उद्यम में लगाया है, चपलता का नाश किया है। जो स्वच्छंद वर्तते हैं उनका स्वच्छंदपना मेंटा है, आलंबन को दूर किया है। जो व्यवहार की पक्षकर परद्रव्य का तथा द्रव्य-प्रतिक्रमणादि का आलंबन ले संतुष्ट होते हैं उनका आलंबन छुड़ाया है। चित्त को आत्मा में ही लगाया

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषंप्रणीतं तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा [1]कुटः स्यात् ।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥१८९॥

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः ।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमतः स्वभावे भवन्मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते चाचिरात् ॥१९०॥

थिमिथ्यात्वविषयकषायपरिणतिरूपमप्रतिक्रमणं तन्नरकादिदुःखकारणमेव । एवं प्रतिक्रमणाद्यष्टविकल्परूपः शुभोपयोगो

है, व्यवहार के आलंबन से जो चित्त अनेक प्रवृत्तियों में भ्रमण करता था उसे शुद्ध आत्मा में ही लगाया है। जब तक संपूर्ण विज्ञानघन आत्मा की प्राप्ति न हो, तब तक चैतन्यमात्र आत्मा में चित्त लगा रहे, चित्त को इस तरह स्थिर किया है, ऐसा जानना ॥१८८॥

अब कहते हैं कि यहां निश्चय नय से प्रतिक्रमणादिक को विषकुम्भ कहा और अप्रतिक्रमणादिक को अमृतकुम्भ कहा,इस कहने से कोई उलटा समझकर प्रतिक्रमणादि को छोड़कर प्रमादी हो जावे तो उसे समझाने को कलशरूप काव्य कहते हैं—यत्र इत्यादि। **अर्थ**—हे भाई जहां प्रतिक्रमण को ही विष कहा है वहां अप्रतिक्रमण कैसे अमृत हो सकता है? इसलिये यह मनुष्य नीचे नीचे गिरता हुआ प्रमाद रूप क्यों होता है? निष्प्रमादी होकर ऊंचा ऊंचा क्यों नहीं चढ़ता।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि अज्ञानावस्था में जो अप्रतिक्रमणादिक था उसकी तो कथा ही क्या? यहां तो निश्चयनय को प्रधान कर जो द्रव्यप्रतिक्रमणादिक शुभ प्रवृत्ति रूप थे, उनकी पक्ष छुड़ाने को उन्हें विषकुम्भ कहा है, क्योंकि ये कर्मबंध के ही कारण हैं। अप्रतिक्रमण प्रतिक्रमण से रहित जो तीसरी भूमि शुद्ध आत्मस्वरूप है वह प्रतिक्रमणादि से रहित है; इसलिये वहां अप्रतिक्रमणादि अमृतकुम्भ कहे गये हैं, उस भूमि में चढ़ने को उपदेश किया है। प्रतिक्रमणादिक को विषकुम्भ सुनकर जो प्रमादी होता है उसको कहते हैं कि यह जन नीचा नीचा क्यों गिरता है तीसरी भूमि में ऊंचा ऊंचा क्यों नहीं चढ़ता? जहां प्रतिक्रमण को विषकुम्भ कहा है वहां तो उसका निषेधरूप अप्रतिक्रमण ही अमृतकुम्भ होगा। सो यह अप्रतिक्रमणादिक अज्ञानी के होने वाला नहीं जानना, तीसरी भूमिका शुद्ध आत्मामयी जानना ॥१८९॥

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करते हुए काव्य कहते हैं—प्रमाद इत्यादि। **अर्थ**—कषाय के भार के भारी होने को आलस्य का होना कहा है उसे प्रमाद कहते हैं। इसलिए प्रमादयुक्त आलस्य भाव कैसे शुद्ध भाव हो सकता है? इसलिये आत्मीकरस से भरे स्वभाव में निश्चल हुआ मुनि परम शुद्धता को प्राप्त होता है और थोड़े समय में ही कर्मबंध से छूट जाता है।

भावार्थ—प्रमाद तो कषाय के गौरव से होता है इसलिये प्रमादी के शुद्धभाव नहीं होते। जो मुनि उद्यम करके स्वभाव में प्रवर्तता है वह शुद्ध होकर मोक्ष को प्राप्त होता है ॥१९०॥

---

१. "कुतः" इत्यपि पाठः। श्री पं० जयचन्द्र छाबड़ा ने "कुटः" के स्थान में 'कुतः' मान कर अर्थ लगाया है।

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वे द्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः ।
बंधध्वंसमुपेत्यनित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छलच्-
चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥१६१॥
बंधच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेतन्
नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकांतशुद्धं ।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यंतगंभीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥ १६२ ॥

यद्यपि सविकल्पावस्थायाममृतकुंभो भवति तथापि सुखदुःखादिसमतालक्षणपरमोपेक्षारूपःसंयमोपेक्षया विषकुंभ एवेति

अब मुक्त होने के अनुक्रम के अर्थरूप काव्य कहते हैं और मोक्ष का अधिकार पूर्ण करते हैं—**त्यक्त्वा** इत्यादि । **अर्थ**—जो पुरुष निश्चय से अशुद्धता के करने वाले सब परद्रव्यों को छोड़कर आप अपने निजद्रव्य में लीन होता है, वह पुरुष नियम से सब अपराधों से रहित हुआ बंध के नाश को प्राप्त होने से नित्य उदयरूप हुआ अपने स्वरूप के प्रकाशरूप ज्योति से निर्मल उछलता जो चैतन्यरूप अमृत का प्रवाह उससे जिसकी महिमा पूर्ण है, ऐसा शुद्ध हुआ कर्मों से छूटता है ।

भावार्थ—पहले समस्त परद्रव्य का त्यागकर अपने आत्मस्वरूप (निजद्रव्य) में लीन होता है, वह सब रागादिक अपराधों से रहित होके आगामी बंध का नाश करता है और नित्य उदयरूप केवल ज्ञान को पाकर शुद्ध होकर सब कर्मों का नाशकर मोक्ष को पाता है । यही मोक्ष होने का क्रम है । इस तरह मोक्ष का अधिकार पूर्ण हुआ, ॥१६१॥

उसके अंतमें मंगलरूपज्ञान की महिमा का कलशरूप काव्य कहते हैं—**बंध** इत्यादि । **अर्थ**—कर्म के बंध के छेदने से अविनाशी अतुल जो मोक्ष उसको प्राप्त हुआ । जिसका प्रकाश नित्य है ऐसी जिसकी स्वाभाविक अवस्था प्रफुल्लित हुई है । उसके कर्म का मैल न रहने से अत्यंत शुद्ध प्रगट हुआ है और एक अपने ज्ञानमात्र आकार के निजरस के भार से अत्यंत गंभीर व धीर है, जिसकी थाह नहीं और जिसमें कुछ आकुलता नहीं ? किसी प्रकार नहीं चले ऐसी अचल अपनी महिमा में लीन हुआ ।

भावार्थ—यह ज्ञान प्रकट हुआ सो कर्म का नाश कर मोक्षरूप हुआ अपनी स्वाभाविक अवस्थारूप अत्यंत शुद्ध समस्त ज्ञेयाकार को गौण कर अपना (ज्ञान का) प्रकाश "जिसकी थाह नहीं व जिसमें आकुलता नहीं" ऐसा प्रकट देदीप्यमान होकर अपनी महिमा में लीन हुआ है ॥ १६२ ॥

इस प्रकार रंगभूमि में मोक्षतत्त्व का स्वांग आया था । सो जब ज्ञान प्रकट हुआ तब मोक्ष का स्वांग निकल गया । यहां तक ३०७ गाथा और १६२ कलश हुए ।

इति मोक्षो निष्क्रांतः ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ मोक्षप्ररूपकः

अष्टमोऽकः ॥ ८ ॥

व्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्थस्थले गाथाष्टकं गतं ॥ ३०६ ॥ ३०७ ॥ तत्रैवं सति शृङ्गाररहितपात्रवद्रागादिरहितशांतरस-परिणतशुद्धात्मरूपेण मोक्षो निष्क्रांतः ।

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां **तात्पर्यवृत्तौ** द्वाविंशति गाथाभिश्चतुर्भिरंतराधिकारैर्नवमो **मोक्षाधिकारः** समाप्तः ॥ ८ ॥

सवैया—ज्यों नर कोय पड्यो दृढबंधन बंधस्वरूप लखै दुखकारी,
चिंतकरै निति कैम कटे यह तौऊ छिदै नहि नैक टिकारी ।
छेदनकूं गहि आयुध धाय चलाय निशंक करै दुय धारी,
यों बुध बुद्धि धसाय दुधा करि कर्म रु आतम आप गहारी ॥ १ ॥

इस प्रकार श्री पं० जयचंद्र विरचित समयसार ग्रंथ की आत्मख्याति नामा टीका की भाषा-वचनिका में आठवां मोक्ष नामा अधिकार पूर्ण हुआ ॥ ८ ॥

अथ सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारः ॥ ९ ॥

अथ प्रविशति सर्वविशुद्धं ज्ञानं ।

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बंधमोक्षप्रक्लृप्तेः ।
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चिष्-
टंकोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुंजः ॥ १९३ ॥
कर्तृत्वं न स्वभावोस्य चितो वेदयितृत्ववत् ।
अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकः ॥ १९४ ॥

अथ प्रविशति सर्वविशुद्धं ज्ञानं । संसारपर्यायमाश्रित्याशुद्धोपादानरूपेणाशुद्धनिश्चयनयेन यद्यपि कर्तृत्व मोक्तृत्वबंधमोक्षादिपरिणामसहितो जीवस्तथापि सर्वविशुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धोपादानरूपेण शुद्धद्रव्यार्थिक-

अथ सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार ।

दोहा—सर्वविशुद्ध सुज्ञानमय, सदा आतमाराम ।
परकूं करै न भोगवै, जानै जपि तसु नाम ॥

यहां मोक्ष तत्त्व का स्वांग निकलने के पश्चात् सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है । रंगभूमि में जीवाजीव, कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—ये आठ स्वांग आये थे उनका नृत्य हुआ । अपना अपना स्वरूप दिखलाके निकल गये । अब सब स्वांग दूर हुए, एकाकार सर्वविशुद्ध ज्ञान प्रवेश करता है ।

वहां प्रथम ही मंगलरूप ज्ञानपुंज आत्मा की महिमा का काव्य कहते हैं—**नीत्वा** इत्यादि । **अर्थ**—समस्त कर्ता-भोक्ता आदि भावों को सम्यक् प्रकार से (भली भांति) नाश को प्राप्त कराके पद-पद पर (अर्थात् कर्मों के क्षयोपशम के निमित्त से होने वाली प्रत्येक पर्याय में) बंधमोक्ष की रचना से दूर वर्तता हुआ, शुद्ध-शुद्ध (अर्थात् रागादिमल तथा आवरण से रहित) विस्तार से परिपूर्ण है ऐसा, और जिसकी महिमा टंकोत्कीर्ण प्रकट है ऐसी ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होती है ।

भावार्थ—शुद्धनय का विषय ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह कर्ता भोक्तापने के भाव से रहित है । बंध मोक्ष की रचना से रहित है । परद्रव्य से और सब परद्रव्य के भावों से रहित है, इसलिये शुद्ध है और अपने निजरस के प्रवाह से पूर्ण देदीप्यमान ज्योतिरूप टंकोत्कीर्ण जिसकी महिमा है, ऐसी ज्ञान पुंज आत्मा प्रगट होती है ॥१९३॥

अब सर्व विशुद्ध ज्ञान को प्रकट करते हैं । वहां प्रथम ही कर्ताभोक्ता भाव से भिन्न दिखलाते हैं उसकी सूचना का श्लोक कहते हैं—**कर्तृत्वं** इत्यादि । **अर्थ**—इस चित्स्वरूप आत्मा का जिस प्रकार

अथात्मनोऽकर्तृत्वं दृष्टांतपुरस्सरमाख्याति—

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं ।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥ ३०८ ॥
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते ।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ॥ ३०९ ॥
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जह्मा कज्जं ण तेण सो आदा ।
उप्पादेदि ण किंचिवि कारणमवि तेण ण स होइ ॥ ३१० ॥
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पंजंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥३११॥ (चतुष्कम्)

द्रव्यं यदुत्पद्यते गुणैस्तैर्जानीह्यनन्यत् ।
यथा कटकादिभिस्तु पर्यायैः कनकमनन्यदिह ॥ ३०८ ॥
जीवस्याजीवस्य तु ये परिणामास्तु दर्शिताः सूत्रे ।
ते जीवमजीवं वा तैरनन्यं विजानीहि ॥ ३०९ ॥

नयेन कर्तृत्वभोक्तृत्वबंधमोक्षादिकारणभूतपरिणामशून्य एवेति । **दवियं जं उप्पज्जदि** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा चतुर्दशगाथापर्यंतं मोक्षपदार्थचूलिकाव्याख्यानं करोति। तत्रादौ निश्चयेन कर्मकर्तृत्वाभावमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं। तदनंतरं शुद्धस्यापि यद् ज्ञानावरणादिप्रकृतिभिःबंधो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमिति कथनार्थं **चेदा दु पयडिअट्ठं** इत्यादि प्राकृतश्लोकचतुष्टयं । अतः परं निश्चयेन भोक्तृत्वाभावज्ञापनार्थं **अण्णाणी कम्मफलं** इत्यादिसूत्रचतुष्टयं । तदनंतरं मोक्षचूलिकोपसंहाररूपेण **विकुणादि** इत्यादि सूत्रद्वयं कथयतीति मोक्षपदार्थचूलिकायां समुदायपातनिका । अथ निश्चयेन

स्वभाव कर्तापना नहीं है । उस तरह भोक्तापन स्वभाव नहीं है । यह आत्मा अज्ञान से कर्ता माना जाता है । जब अज्ञान का अभाव हो जाता है तब कर्ता नहीं है ॥१९४

आगे आत्मा का अकर्तापन दृष्टांत पूर्वक सिद्ध करते हैं;—**[यत् द्रव्यं]** जो द्रव्य **[गुणैः]** जिन अपने गुणों से **[उत्पद्यते]** उपजता है **[तत्]** वह **[तैः]** उन गुणों से **[अनन्यत्]** अन्य नहीं **[जानीहि]** जानना, उन गुणमय ही है **[यथा]** जैसे **[कनकं]** सुवर्ण **[कटकादिभिः]** अपने कटक कड़े आदि **[पर्यायैः]** पर्यायों से **[इह]** लोक में **[अनन्यत् तु]** अन्य नहीं है—कटकादि है वह सुवर्ण ही है । उसी तरह **[जीवाजीवस्य तु]** जीव अजीव के **[ये परिणामाः तु]** जो परिणाम **[सूत्रे दर्शिताः]** सूत्र में कहे हैं **[तैः]** उन परिणामों से **[तं जीवं अजीवं वा]** उस जीव अजीव को **[अनन्यं]** अन्य नहीं **[विजानीहि]** जानना । परिणाम हैं वे द्रव्य ही हैं । **[यस्मात्]** जिस कारण **[स आत्मा]** वह आत्मा

न कुतश्चिदप्युत्पन्नो यस्मात्कार्यं न तेन स आत्मा ।
उत्पादयति न किंचित्कारणमपि तेन न स भवति ॥ ३१० ॥
कर्म प्रतीत्य कर्ता कर्तारं तथा प्रतीत्य कर्माणि ।
उत्पद्यंते च नियमात्सिद्धिस्तु न दृश्यतेऽन्या ॥ ३११ ॥

जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः, सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कंकणादिपरिणामैः कांचनवत् । एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिद्ध्यति, सर्वद्रव्याणां द्रव्यांतरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात् । तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिद्ध्यति । तदसिद्धौ च कर्तृकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिद्ध्यति, अतो जीवोऽकर्ता अवतिष्ठते ॥ ३०८ । ३०९ । ३१० । ३११ ॥

कर्मणां कर्ता न भवति इत्याख्याति ;—यथा कनकमिह कटकादिपर्यायैः सहानन्यदभिन्नं भवति तथा द्रव्यमपि यदुत्पद्यते परिणमति । कैः सह ? स्वकीयस्वकीयगुणैः, तद्द्रव्यं तैर्गुणैः सहानन्यदभिन्नमिति जानीहि इति प्रथमगाथा गता ।

[कुतश्चिदपि] किसी से भी [न उत्पन्नः] नहीं उत्पन्न हुआ है [तेन] इससे किसी का किया हुआ [कार्यं] कार्य [न भवति] नहीं है और [किंचिदपि] किसी अन्य को भी [न उत्पादयति] उत्पन्न नहीं करता [तेन] इसलिये [सः] वह [कारणमपि] किसी का कारण भी [न] नहीं है । क्योंकि [कर्म प्रतीत्य] कर्म को आश्रय कर के तो [कर्ता] कर्ता होता है [तथा च] और [कर्तारं प्रतीत्य] कर्ता को आश्रय कर [कर्माणि] कर्म [उत्पद्यंते] उत्पन्न होते हैं [तु] ऐसा [नियमात्] नियम है [अन्या सिद्धिः] अन्य तरह कर्ता-कर्म की सिद्धि [न दृश्यते] नहीं देखी जाती ।

टीका—जीव प्रथम ही क्रम से निश्चित अपने परिणामों से उत्पन्न हुआ जीव ही है अजीव नहीं है । इसी प्रकार अजीव भी क्रम से निश्चित अपने परिणामों से उत्पन्न हुआ अजीव ही है जीव नहीं है क्योंकि सभी द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है, कोई भी अपने परिणामों से अन्य नहीं, ऐसे परिणामों को छोड़ अन्य में नहीं जाता । जैसे कंकणादि परिणामों से सुवर्ण उत्पन्न होता है वह कंकणादि से अन्य नहीं है उनसे तादात्म्य स्वरूप है उसी तरह सब द्रव्य हैं । इसी प्रकार अपने परिणामों से उत्पन्न हुए जीव का अजीव के साथ कार्य-कारण भाव नहीं सिद्ध होता; क्योंकि सब द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है । उस कार्य कारण भाव की सिद्धि न होने से अजीव के जीव का कर्मत्व सिद्ध नहीं होता, अजीव के जीव का कर्मत्व न होने से कर्ता कर्म के अनन्यापेक्ष सिद्ध होने से जीव के अजीव का कर्तापना नहीं सिद्ध होता । इसलिये जीव पर द्रव्य का कर्ता सिद्ध नहीं हुआ अकर्ता ही सिद्ध हुआ ।

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः ।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बंधः प्रकृतिभिः
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोपि गहनः ॥१९५॥

जीवस्साजीवस्स य जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते जीवस्य अजीवस्य च ये परिणामाः पर्याया देशिताः कथिताः सूत्रे परमागमे तैःसह तेनैव पूर्वोक्तसुवर्णदृष्टांतेन तमेव जीवाजीवद्रव्यमनन्यदभिन्नं विजानीहीति द्वितीयगाथा गता। यस्माच्छुद्धनिश्चयनयेन नरनारकादिविभावपर्यायरूपेण कदाचिदपि नोत्पन्नः—कर्मणा न जनितः तेन कारणेन कर्मनोकर्मापेक्षयात्मा कार्यं न भवति। न च तत्कर्मनोकर्मोपादानरूपेण किमप्युत्पादयति। तेन कारणेन कर्मनोकर्मणां कारणमपि न भवति, यतः कर्मणां कर्ता मोचकश्च न भवति तत.कारणाद् बंधमोक्षयो शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवतीति तृतीयगाथा गता। **कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि उप्पज्जंते णियमा** यतः पूर्वं भणितं सुवर्णद्रव्यस्य कुंडलपरिणामेनैव सह जीवपुद्गलयोः स्वपरिणामैः सहैवानन्यत्वमभिन्नत्वं। पुनश्चोक्तं कर्मनोकर्मभ्यां कर्तृभूताभ्यां जीवो नोत्पाद्यते जीवश्च कर्मनोकर्मणां नोत्पादयति ततो ज्ञायते कर्म प्रतीत्योपचारेण जीवः कर्मकर्ता। तथा कर्माणि चोत्पद्यंते जीवकर्तारमाश्रित्योपचारेण नियमान्निश्चयात् संदेहो नास्ति **सिद्धी दु ण दिस्सदे अण्णा** अनेन प्रकारेण, अनेन कोऽर्थः? परस्परनिमित्तभावं विहाय शुद्धोपादानरूपेण शुद्धनिश्चयेन जीवस्य कर्मकर्तृत्वविषये सिद्धिर्निष्पत्तिर्घटना न दृश्यते कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानां च कर्मत्वं न दृश्यते ततःस्थितं शुद्धनिश्चयनयेनाकर्ता जीव इति चतुर्थगाथा गता। एवं निश्चयेन जीवः कर्मणां कर्ता न भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयं गतं ॥३०८।३०९।३१०।३११॥ अथ शुद्धस्यात्मनो ज्ञानावरणादिप्रकृतिभिर्यद् बंधो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमिति प्रज्ञापयति;—**चेदा** आत्मा स्वस्थभावच्युतः सन् प्रकृतिनिमित्तं कर्मोदयनिमित्तमुत्पद्यते। विनश्यति च विभावपरिणामैः पर्यायैः। प्रकृतिरपि

भावार्थ—सब द्रव्यों के परिणाम पृथक्-पृथक् हैं। अपने-अपने परिणामों के सब कर्ता हैं, वे उन परिणामों के कर्ता हैं वे परिणाम उनके कर्म हैं। निश्चय से किसी का किसी से भी कर्ता कर्म संबंध नहीं है, इस कारण जीव अपने परिणामों का कर्ता है उसके परिणाम उसके कर्म हैं। इसी तरह अजीव अपने परिणामों का कर्ता है उसके परिणाम उसके कर्म हैं। इस तरह जीव अन्य के परिणामों का अकर्ता है ॥३०८।३०९।३१०।३११॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं उसमें जीव अकर्ता है तो भी इसके बंध होता है यह अज्ञान की महिमा है ऐसा कहते हैं—**अकर्ता** इत्यादि। **अर्थ**—इस तरह जीव अपने निज रस से विशुद्ध है। इसलिये परद्रव्य का तथा परभावों का अकर्ता ठहरा। वह स्फुरायमान होती (फैलती) चैतन्य ज्योति से व्याप्त हुआ है, लोक का मध्य जिसकर ऐसा है तो भी इसके इस लोक में प्रकट कर्म प्रकृतियों से बंध होता है। सो यह निश्चयतः अज्ञान की कोई ऐसी ही महिमा है, वह बड़ी गहन है उसका थाह नहीं पाया जाता।

भावार्थ—शुद्धनय से जीव परद्रव्य का कर्ता नहीं है तथा जिसका ज्ञान सब ज्ञेयों में व्यापने वाला है तो भी इसके कर्म का बंध होता है यह कोई अज्ञान की बड़ी महिमा है ॥१९५॥

चेया उ पयडियट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ।
पयडीवि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥३१२॥
एवं बंधो उ दुण्हंपि अण्णोण्णप्पच्चया हवे ।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥३१३॥ (युग्मम्)

चेतयिता तु प्रकृत्यर्थमुत्पद्यते विनश्यति ।
प्रकृतिरपि चेतकार्थमुत्पद्यते विनश्यति ॥३१२॥
एवं बंधस्तु द्वयोरपि अन्योन्यप्रत्ययाद्भवेत् ।
आत्मनः प्रकृतेश्च संसारस्तेन जायते ॥३१३॥

अयं हि आसंसारत एव प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानेन परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्ता सन् चेतयिता प्रकृतिनिमित्तमुत्पादविनाशावासादयति। प्रकृतिरपि चेतयितृनिमित्तमुत्पत्तिविनाशावासादयति च एवमनयोरात्मप्रकृत्योः कर्तृकर्मभावाभावेप्यन्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन द्वयोरपि बंधो दृष्टः, ततः संसारः तत एव च तयोः कर्तृकर्मव्यवहारः ॥३१२।३१३॥

चेतयितृकार्यं जीवसंबंधिरागादिपरिणामनिमित्तं ज्ञानावरणादिकर्मपर्यायैः उत्पद्यते विनश्यति च। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण बंधो जायते द्वयोः—स्वस्वभावच्युतस्यात्मनः, कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलपिंडरूपाया ज्ञानावरणादिप्रकृतेश्च। कथंभूतयो-

---

आगे इस अज्ञान की महिमा को प्रकट करते हैं;—[चेतयिता तु] चेतने वाली आत्मा तो [प्रकृत्यर्थं] ज्ञानावरणादि कर्म की प्रकृतियों के निमित्त से [उत्पद्यते] उत्पन्न होता है [विनश्यति] तथा विनाश को प्राप्त होता है और [प्रकृतिरपि] प्रकृति भी [चेतकार्थं] उस चेतने वाली आत्मा के लिये [उत्पद्यते] उत्पन्न होती है [विनश्यति] तथा विनाश को प्राप्त होती है। आत्मा के परिणामों के निमित्त से उसी तरह परिणमती है। [एवं] इस तरह [द्वयोः] दोनों [आत्मनः च प्रकृतेः] आत्मा और प्रकृति के [अन्योन्यप्रत्ययात्] परस्पर निमित्त से [बंधः] बंध होता है [च तेन] और उस बंध से [संसारः जायते] संसार उत्पन्न होता है।

टीका—यह आत्मा अनादि संसार से लेकर अपने और बंध के पृथक्-पृथक् लक्षण का भेदज्ञान न होने से पर और आत्मा के एकपने का निश्चित अभिप्राय करने से पर द्रव्य का कर्ता हुआ ज्ञानावरण आदि कर्म की प्रकृति के निमित्त से उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होता है। और प्रकृति भी आत्मा के निमित्त से उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होती है, आत्मा के परिणाम के अनुसार परिणमती है। इस तरह आत्मा और प्रकृति इन दोनों के परमार्थ से कर्ता कर्मपने के भाव का अभाव होनेपर भी परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव से दोनों के ही बंध देखा जाता है उस बंध से संसार होता है, उसी से दोनों के कर्ता-कर्म का व्यवहार प्रवर्तता है।

जा एस पयडीयट्ठं चेया गोव विमुंचए।
अयाणओ हवे ताव मिच्छाइट्ठी असंजओ ॥ ३१४ ॥
जया विमुञ्चए चेया कम्मफ्फलमणंतयं।
तया विमुत्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी ॥ ३१५ ॥

यावदेष प्रकृत्यर्थं चेतयिता नैव विमुञ्चति।
अज्ञायको भवेत्तावन्मिथ्यादृष्टिरसंयतः ॥३१४॥
यदा विमुञ्चति चेतयिता कर्मफलमनंतकं।
तदा विमुक्तो भवति ज्ञायको दर्शको मुनिः ॥ ३१५ ॥

यावदयं चेतयिता प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बंधनिमित्तं न मुञ्चति तावत्स्वपरयोरेकत्वज्ञानेनाज्ञायको भवति। स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन मिथ्यादृष्टिर्भवति।

द्वयोः ? अन्योन्यप्रत्यययोः, परस्परनिमित्तकारणभूतयोः। एवं रागाद्यज्ञानभावेन बंधो भवति तेन बंधेन ससारो जायते, न च स्वस्वरूपत इत्युक्तं भवति ॥ ३१२ ॥ ३१३॥ अथ यावत्कालं शुद्धात्मसंवित्तिच्युतः सन् प्रकृत्यर्थं प्रकृत्युदयरूपं रागादिकं न मुंचति तावत्कालमज्ञानी स्यात् तदभावे ज्ञानी च भवतीत्युपदिशति;—यावत्कालमेष चेतयिता जीवः, चिदानंदैकस्वभावपरमात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामभावात्प्रकृत्यर्थं रागादिकर्मोदयरूपं न मुंचति, तावत्कालं रागादिरूपमात्मानं श्रद्दधाति जानात्यनुभवति च ततो मिथ्यादृष्टिर्भवति, अज्ञानी भवति, असंयतश्च भवति, तथाभूतः सन् मोक्षं न लभते। यदा पुनरयमेव चेतयिता मिथ्यात्वरागादिरूपं कर्मफलं शक्तिरूपेणानंतं विशेषेण सर्वप्रकारेण मुंचति तदा शुद्धबुद्धैकस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां सद्भावात् लाभान्मिथ्यात्वरागादिभ्यो भिन्नमात्मानं श्रद्दधाति जानात्यनुभवति च। ततः सम्यग्दृष्टिर्भवति, ज्ञानीभवति

भावार्थ—आत्मा और प्रकृति के परमार्थ से कर्ता कर्मपने का अभाव है तोभी परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभाव से कर्ता कर्म का भाव है इससे बंध है, बंध से संसार है। ऐसा व्यवहार है ॥३१२।३१३॥

आगे कहते हैं जब तक आत्मा प्रकृति के निमित्त से उपजना विनाश होना न छोड़े तब तक अज्ञानी मिथ्यादृष्टि असंयत है—[एष चेतयिता] यह आत्मा [यावत्] जब तक [प्रकृत्यर्थं] प्रकृति के निमित्त से उपजना विनशना [नैव विमुञ्चति] नहीं छोड़ता [तावत्] तब तक [अज्ञायकः] अज्ञानी हुआ [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि [असंयतः] असंयमी [भवेत्] होता है। [यदा] और जब [चेतयिता] आत्मा [अनंतकं] अनंत [कर्मफलं] कर्मफल को [विमुञ्चति] छोड़ देता है [तदा] उस समय [विमुक्तः] बंध से रहित हुआ [ज्ञायकः दर्शकः] ज्ञाता द्रष्टा [मुनिः भवति] संयमी होता है।

टीका—जब तक यह आत्मा अपना और प्रकृति का पृथक्-पृथक् स्वभावरूप लक्षण के भेदज्ञान के अभाव से अपने बंध का निमित्त जो प्रकृति का स्वभाव उसे नहीं छोड़ता, तब तक अपने और

स्वपरयोरेकत्वपरिणत्या चासंयतो भवति । तावदेव परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्ता भवति । यदा त्वयमेव प्रतिनियतस्वलक्षणनिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बंधनिमित्तं मुञ्चति तदा स्वपरयोर्विभागज्ञानेन ज्ञायको भवति । स्वपरयोर्विभागदर्शनेन दर्शको भवति । स्वपरयोर्विभागपरिणत्या च संयतो भवति तदैव च परात्मनोरेकत्वाध्यासस्याकरणादकर्ता भवति ॥३१४।३१५॥

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः ।[1]
अज्ञानादेव भोक्तायं तदभावादवेदकः ॥ १९६ ॥

संयतो मुनिश्च भवति । तथाभूतः सन् विशेषेण द्रव्यभावगतमूलोत्तरप्रकृतिविनाशेन मुक्तो भवतीति । एवं यद्यप्यात्मा शुद्धनिश्चयेन कर्ता न भवति तथाप्यनादिकर्मबंधवशान्मिथ्यात्वरागाद्यज्ञानभावेन कर्म बध्नातीति अज्ञानसामर्थ्यज्ञापनार्थं द्वितीयस्थले सूत्रचतुष्टयं गतं ॥ ३१४ ॥ ३१५ ॥ अथ शुद्धनिश्चयनयेन कर्मफलभोक्तृत्वं जीवस्वभावो न भवति, कस्मात् ? अज्ञानस्वभावत्वात्, इति कथयति—**अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकभेदज्ञानस्याभावादज्ञानी जीवः उदयागतकर्मप्रकृतिस्वभावे सुखदुःखस्वरूपे स्थित्वा हर्षविषादाभ्यां तन्मयो भूत्वा कर्मफलं वेदयत्यनुभवति । **णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि** ज्ञानी पुनः तन्मयो भूत्वा पूर्वोक्तभेदज्ञानसद्भावात् वीतरागसहजपरमानंदरूपसुखरसास्वादेन परमसमरसीभावेन परिणतः सन् कर्मफलमुदितं वस्तु वस्तुस्वरूपेण जानात्येव न च हर्षविषादाभ्यां तन्मयो भूत्वा वेदयतीति ॥३१६॥ अथाज्ञानी जीवः सापराधः सशंकितः सन् कर्मफलं तन्मयो भूत्वा वेदयति, यस्तु निरपराधो ज्ञानी

परके एकपने के ज्ञान से अज्ञायक होता है, अपने परके एकपने के दर्शन (श्रद्धान) से मिथ्यादृष्टि होता है, अपनी परकी एकपने की परिणति से असंयत होता है, और तभी तक पर और आत्मा के एकपने का अध्यवसान करने से कर्ता होता है। और जिस समय यही आत्मा आप और प्रकृति के पृथक्-पृथक् स्वलक्षण के निर्णयरूप ज्ञान से अपने बंध का निमित्त प्रकृति के स्वभाव को छोड़ देता है उस काल अपने परके विभाग के ज्ञान से ज्ञायक होता है, अपने और परके विभाग के श्रद्धान से दर्शक होता है अपने परके विभाग की परिणति से संयत होता है और उसी काल अपने परके एकपने का अभ्यास न करने से अकर्ता होता है।

भावार्थ—यह आत्मा जब तक अपना और परका निजलक्षण नहीं जानता, तब तक भेदज्ञान के अभाव से कर्मप्रकृति के उदय को अपना समझ परिणमता है। उसी तरह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी असंयमी होके कर्ता हुआ कर्म का बंध करता है। और जब भेदज्ञान हो जाता है तब उसका न कर्ता बनता है न कर्म का बंध करता है केवल ज्ञाता द्रष्टा हुआ परिणमता है ।।३१४।३१५।।

इसी तरह भोक्तापन आत्मा का स्वभाव नहीं है उसकी सूचना का श्लोक कहते हैं—**भोक्तृत्वं** इत्यादि। **अर्थ**—इस आत्मा का जिस प्रकार कर्ता स्वभाव नहीं है उसी तरह भोक्तापन भी नहीं है यह अज्ञान से ही भोक्ता है। जब अज्ञान का अभाव हो जाता है तब भोक्ता नहीं होता ।।१९६।।

---

१. स्थितः इति पाठः।

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिश्रो दु वेदेइ ।
णाणी पुण कम्मफलं जाणइ उदियं ण वेदेइ ॥३१६॥

अज्ञानी कर्मफलं प्रकृतिस्वभावस्थितस्तु वेदयते ।
ज्ञानी पुनः कर्मफलं जानाति उदितं न वेदयते ॥३१६॥

अज्ञानी हि शुद्धात्मज्ञानाभावात् स्वपरयोरेकत्वज्ञानेन, स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन, स्वपरयोरेकत्वपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वात् प्रकृतिस्वभावमप्यहंतया अनुभवन् कर्मफलं वेदयते । ज्ञानी तु शुद्धात्मज्ञानसद्भावात्स्वपरयोर्विभागज्ञानेन स्वपरयोर्विभागदर्शनेन स्वपरयोर्विभागपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावादपसृतत्वात् शुद्धात्मस्वभावमेकमेवाहंतयानुभवन् कर्मफलमुदितं ज्ञेयमात्रत्वात् जानात्येव न पुनस्तस्याहंतयाऽनुभवितुमशक्यत्वाद्वेदयते ॥३१६॥

अज्ञानी [1]प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः ।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता॥१६७॥

स कर्मोदये सति किं करोति ? इति कथयति;—

जो[2] पुण णिरावराहो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि ।
आराहणाए णिच्चं वट्टदि अहमिदि वियाणंतो ।

आगे इसी अर्थ को गाथा में कहते हैं;—[अज्ञानी] अज्ञानी [कर्मफलं] कर्म के फल को [प्रकृतिस्वभावस्थितः] प्रकृति के स्वभाव में ठहरा हुआ [वेदयते] भोगता है [पुनः] और [ज्ञानी] ज्ञानी [उदितं] उदय में आये हुए [कर्मफलं] कर्म के फल को [जानाति] जानता है [तु] परंतु [न वेदयते] भोगता नहीं है ।

टीका—अज्ञानी निश्चय से शुद्ध आत्मा के ज्ञान के अभाव से अपना परका एकपने का श्रद्धान करके और अपनी परकी एकपने की परिणति से प्रकृति के स्वभाव में स्थित होता है, इसलिये प्रकृति के स्वभाव को अहंबुद्धिपने से आप अनुभव करता हुआ कर्म के फल को भोगता है । और ज्ञानी शुद्ध आत्मा के ज्ञान के सद्भाव से अपने और पर के भेदज्ञान से अपने परके विभाग के श्रद्धान से और अपनी परकी विभाग रूप परिणति से प्रकृति के स्वभाव से दूरवर्ती हुआ है तथा अपने शुद्ध आत्मा के भाव को एक को ही अहंबुद्धिपन से आप अनुभव करता है । इस प्रकार अनुभव करता हुआ उदय में आये कर्म के फल को ज्ञेयमात्रपने से जानता ही है, परंतु उसे अहंपने से अनुभव न करने से भोगता नहीं है ।

भावार्थ—अज्ञानी के तो शुद्ध आत्मा का ज्ञान ही नहीं है, इसलिये जैसा कर्म उदय में आता

[1] प्रकृतेर्ज्ञानावरणादिकर्मणः स्वभावश्चतुर्गतिशरीररागादिभावसुखदुःखादिका परिणतिस्तत्र निरतः—आत्मीयबुद्ध्या परिणतः । [2] नेयं गाथात्मख्यातौ ।

अज्ञानी वेदक एवेति नियम्यते--

ण मुयइ पयडिमभव्वो सुट्ठुवि अज्झाइऊण सत्थाणि ।
गुडदुद्धंपि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा हुंति ॥३१७॥

न मुंचति प्रकृतिमभव्यः सुष्ट्वपि अधीत्य शास्त्राणि ।
गुडदुग्धमपि पिबंतो न पन्नगा निर्विषा भवंति ॥३१७॥

यथात्र विषधरो विषभावं स्वयमेव न मुञ्चति, विषभावमोचनसमर्थसशर्करक्षीरपानाच्च न मुञ्चति । तथा किलाभव्यः प्रकृतिस्वभावं स्वयमेव न मुञ्चति प्रकृतिस्वभावमोचनसमर्थद्रव्यश्रुतज्ञानाच्च न मुञ्चति, नित्यमेव भावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्मज्ञानाभावेनाज्ञानित्वात् । अतो नियम्यतेऽज्ञानी प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वाद्वेदक एव ॥३१७॥

यः पुनर्निरपराधश्चेतयिता निश्शंकितस्तु स भवति । आराधनया नित्यं वर्तते अहमिति विजानन् । **जो पुण णिरवराहो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि** यस्तु चेतयिता ज्ञानी जीवः स निरपराधः सन् परमात्माराधनविषये निश्शंको भवति । निःशंको भूत्वा किं करोति ? **आराहणाए णिच्चं वट्टदि अहमिदि वियाणंतो**

है उसी को अपना जान भोगता है, और ज्ञानी के शुद्ध आत्मानुभव हो गया है इससे प्रकृति के उदय के आनेको अपना स्वभाव नहीं जानता, उसका ज्ञाता ही रहता है भोक्ता नहीं होता । ॥३१६॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**अज्ञानी** इत्यादि । **अर्थ**—अज्ञानी जन तो प्रकृति के स्वभाव में लीन है, उसीको अपना स्वभाव जानता है इसलिये सदाकाल उसका भोक्ता है, और ज्ञानी प्रकृतिस्वभाव से विरक्त है उसको परका स्वभाव जानता है इसलिये कभी भोक्ता नहीं है । सो आचार्य उपदेश करते हैं कि जो प्रवीण पुरुष हैं वे ज्ञानीपने और अज्ञानीपने के नियम को विचार कर अज्ञानीपने को छोड़ो और शुद्ध आत्ममय एक तेज (प्रताप) में निश्चल होकर ज्ञानीपने को सेवन करो ॥१९७॥

आगे अज्ञानी भोक्ता ही है ऐसा नियम कहते हैं;—**[अभव्यः]** अभव्य **[सुष्ठु अपि]** अच्छी तरह अभ्यासकर **[शास्त्राणि]** शास्त्रों को **[अधीत्य]** पढ़ता हुआ भी **[प्रकृतिं न मुंचति]** कर्म के उदय स्वभाव को नहीं छोड़ता अर्थात् प्रकृति नहीं बदलती **[पन्नगाः]** जैसे सर्प **[गुडदुग्धं]** गुड़सहित दूध को **[पिबंतः अपि]** पीते हुए भी **[निर्विषाः]** निर्विष **[न भवंति]** नहीं होते ।

टीका—जैसे इस लोक में सर्प अपने विष भाव को स्वयं नहीं छोड़ता तथा विष भाव के मेटने को समर्थ ऐसे मिश्री सहित दूध के पीने से भी नहीं छोड़ता, उसी तरह अभव्य वास्तव में प्रकृति के स्वभाव को स्वयमेव भी नहीं छोड़ता और प्रकृति स्वभाव के छुड़ाने को समर्थ जो द्रव्य श्रुति शास्त्र का ज्ञान उससे भी नहीं छोड़ता । क्योंकि इसके नित्य ही भावश्रुतज्ञानरूप शुद्धात्मज्ञान के अभाव से अज्ञानीपन है । इसलिये ऐसा नियम है कि अज्ञानी प्रकृति स्वभाव में ठहरने से कर्म का भोक्ता ही है ।

भावार्थ—अज्ञानी कर्म के फल का भोक्ता ही है यह नियम कहा है । यहांपर अभव्य का

ज्ञानीत्ववेदक एवेति नियम्यते—

णिव्वेयसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेइ ।
महुरं कडुयं बहुविहमवेयओ तेण सो होई ॥३१८॥

निर्वेदसमापन्नो ज्ञानी कर्मफलं विजानाति ।
मधुरं कटुकं बहुविधमवेदको तेन भवति ॥३१८॥

ज्ञानी तु निरस्तभेदभावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्मज्ञानसद्भावेन परतोऽत्यंतविविक्तत्वात् प्रकृतिस्वभावं स्वयमेव मुञ्चति ततोऽमधुरं मधुरं वा कर्मफलमुदितं ज्ञातृत्वात् केवलमेव जानाति, न पुनर्ज्ञाने सति परद्रव्यस्याहंतयाऽनुभवितुमयोग्यत्वाद्वेदयते। अतो ज्ञानी प्रकृतिस्वभावविरक्तत्वादवेदक एव ॥३१८॥

निर्दोषपरमात्माराधनारूपया निश्चयाराधनया नित्यं सर्वकालं वर्तते । किं कुर्वन् ? अनंतज्ञानादिरूपोऽहमिति निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा शुद्धात्मानं सम्यग्जानन् परमसमरसीभावेन चानुभवति इति । अज्ञानी कर्मणां नियमेन वेदको भवतीति दर्शयति;—यथा पन्नगाः सर्पाः शर्करासहितं दुग्धं पिबंतोऽपि निर्विषा न भवंति तथाऽज्ञानी जीवो मिथ्यात्वरागादिरूपकर्मप्रकृत्युदयस्वभावं न मुंचति । किं कृत्वापि ? अधीत्यापि । कानि ? शास्त्राणि । कथं ? सुट्ठुवि सुष्ट्वपि ।

उदाहरण ठीक है, इसका स्वयमेव ऐसा स्वभाव है। वहां अभव्य बाह्य कारणों के मिलने पर भी कर्म के उदय के भोगने का स्वभाव नहीं बदलता इस कारण अज्ञानी के भोक्तापने का नियम बनता है ॥३१७॥

आगे कहते हैं ऐसा नियम है कि ज्ञानी कर्मफल का अवेदक ही है,—**[ज्ञानी]** ज्ञानी **[निर्वेदसमापन्नः]** वैराग्य को प्राप्त हुआ **[कर्मफलं]** कर्म के फल को **[विजानाति]** जानता है जो **[मधुरं-कटुकं]** मीठा तथा कड़वा **[अनेकविधं]** इत्यादि अनेक प्रकार है **[तेन]** इस कारण **[सः]** वह **[अवेदकः भवति]** भोक्ता नहीं है।

टीका—ज्ञानी अभेदरूप भावश्रुत ज्ञानस्वरूप शुद्धात्मा के ज्ञान के होने से पर से अत्यन्त विरक्त है। इसलिये वह ज्ञानी कर्म के उदय के स्वभाव को स्वयं ही छोड़ देता है, उस रूप परिणमन नहीं करता। इस कारण मीठा कड़वा सुख दुःख रूप उदय आये हुए कर्म फल को केवल जानता ही है। क्योंकि ज्ञानी का ज्ञातापन (जानना) स्वभाव है इसलिये कर्ता नहीं बनता और भोक्ता भी नहीं बनता। ज्ञान होने पर परद्रव्य को अहंरूप से अनुभव करने की अयोग्यता है इस कारण भोक्ता नहीं होता। क्योंकि ज्ञानी कर्म स्वभाव से विरक्त होने से अवेदक ही है।

भावार्थ—जो जिससे विरक्त होता है उसको अपने वश तो भोगता नहीं है यदि परवश भोगे तो उसे परमार्थ में भोक्ता नहीं कहते, इस न्याय से ज्ञानी भी कर्म के उदय को अपना नहीं समझता, उससे विरक्त है, सो स्वयमेव तो भोगता ही नहीं। यदि उदय की बलवत्ता से परवश हुआ अपनी निर्बलता से भोगे तो उसे वास्तव में भोक्ता नहीं कहते, व्यवहार से भोक्ता है, उसका यहां शुद्धनय से अधिकार नहीं है ॥३१८॥

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावं ।
जानन्परं करणवेदनयोरभावात् शुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥१९८॥

णवि कुव्वइ णवि वेयइ णाणी कम्माइं बहुपयाराइं ।
जाणइ पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ॥ ३१९ ॥

नापि करोति नापि वेदयते ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि ।
जानाति पुनः कर्मफलं बंधं पुण्यं च पापं च ॥ ३१९ ॥

ज्ञानी हि कर्मचेतनाशून्यत्वेन कर्मफलचेतनाशून्यत्वेन च स्वयमकर्तृत्वादवेदयितृत्वाच्च न कर्म करोति न वेदयते च । किंतु ज्ञानचेतनामयत्वेन केवलं ज्ञातृत्वात्कर्मबंधं कर्मफलं च शुभमशुभं वा केवलमेव जानाति ॥ ३१९ ॥

कस्मान्न मुंचति? वीतरागस्वसंवेदनज्ञानाभावात् कर्मोदये सति मिथ्यात्वरागादीनां तन्मयो भवति यतः कारणात् इति॥३१७॥ ज्ञानी कर्मणां नियमेन निश्चयेन वेदको न भवतीति दर्शयति;—**णिव्वेदसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणादि** परमतत्त्वज्ञानी जीवः संसारशरीरभोगरूपत्रिविधवैराग्यसंपन्नो भूत्वा शुभाशुभकर्मफलमुदयागतं वस्तु वस्तुस्वरूपेण विशेषेण निर्विकारस्वशुद्धात्मनो भिन्नत्वेन जानाति । कथंभूतं जानाति ? **महुरं कडुवं बहुविहमवेदको**

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**ज्ञानी** इत्यादि । **अर्थ**—ज्ञानी जीव कर्म को न करता है और न भोगता है, केवल उस कर्मस्वभाव को जानता ही है । इस प्रकार केवल जानता हुआ कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अभाव से शुद्ध स्वभाव में निश्चल है । इसलिये निश्चय से कर्मों से छूटा हुआ ही कहा जाता है ।

भावार्थ—ज्ञानी कर्म का स्वाधीनपने से कर्ता भोक्ता नहीं है केवल ज्ञाता ही है, इसलिये शुद्ध स्वभावरूप हुआ मुक्त ही है । कर्म का उदय ज्ञानी को क्या कर सकता है ? कुछ नहीं । जब तक निर्बलता रहती है तब तक कर्म जोर चलालें, कभी तो वह कर्म का निर्मूल नाश करेगा ही ॥१९८॥

आगे इसी अर्थ को फिर पुष्ट करते हैं;—**[ज्ञानी]** ज्ञानी **[बहुप्रकाराणि कर्माणि]** बहुत प्रकार के कर्मों को **[नापि करोति]** न तो कर्ता है **[नापि वेदयते]** और न भोगता है **[पुनः]** परन्तु **[बंधं]** कर्म के बंध को **[च]** और **[कर्मफलं]** कर्म के फल **[पुण्यं च पापं]** पुण्य और पापों को **[जानाति]** जानता ही है ।

टीका—ज्ञानी कर्म चेतना से शून्य है तथा कर्मफल चेतना से भी शून्य है इसलिए आप स्वतंत्र होकर कर्ता नहीं होता और न भोक्ता ही होता, इसलिये कर्म को न तो करता है और न भोगता है । ज्ञानी ज्ञान चेतनायुक्त होने से केवल ज्ञाता ही है उससे कर्म के बंध को तथा कर्म के शुभ अशुभ फल को केवल जानता ही है । ३१९ ॥

कुत एतत् ?—

दिट्ठी[1] जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव ।
जाणइ य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ॥ ३२० ॥

दृष्टिः यथैव ज्ञानमकारकं तथाऽवेदकं चैव ।
जानाति च बंधमोक्षं कर्मोदयं निर्जरां चैव ॥ ३२० ॥

यथात्र लोके दृष्टिर्दृश्यादत्यंतविभक्तत्वेन तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात् दृश्यं न करोति न वेदयते च, अन्यथाग्निदर्शनात्संधुक्षणवत् स्वयं ज्वलनकरणस्य, लोहपिंडवत्स्वयमेवौष्ण्यानुभवनस्य च दुर्निवारत्वात्। किंतु केवलं दर्शनमात्रस्वभावत्वात् तत्सर्वं केवलमेव पश्यति। तथा ज्ञानमपि स्वयं द्रष्टृत्वात् कर्मणोऽत्यंतविभक्तत्वेन निश्चयतस्तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात्कर्म न करोति न वेदयते च। किंतु केवलं ज्ञानमात्रस्वभावत्वात्कर्मबंधं मोक्षं वा कर्मोदयं निर्जरां वा केवलमेव जानाति ॥ ३२० ॥

तेण पउणाचो अशुभकर्मफलं निंबकांजीरविषहालाहलरूपेण कटुकं जानाति। शुभकर्मफलं बहुविधं गुडखंडशर्करामृतरूपेण मधुरं जानाति। न च शुद्धात्मोत्थसहजपरमानंदरूपमतींद्रियसुखं विहाय पंचेन्द्रियसुखे परिणमति, तेन कारणेन ज्ञानी वेदको भोक्ता न भवतीति नियमः। एवं ज्ञानी शुद्धनिश्चयेन शुभाशुभकर्म फलभोक्ता न भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले सूत्रचतुष्टयं गतं ॥ ३१८ ॥ अथ निरुपरागशुद्धात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानी कर्म न करोति न च वेदयतीति प्रकाशयति—**णवि कुव्वदि णवि वेददि णाणी कम्माइ बहुपयाराइ** त्रिगुप्तिगुप्तिबलेन

आगे पूछते हैं कि ज्ञानी किस प्रकार कर्त्ता-भोक्ता नहीं हैं, मात्र ज्ञाता ही है। उसका उत्तर दृष्टांत पूर्वक कहते हैं,—[यथा] जैसे [दृष्टिः] नेत्र देखने योग्य पदार्थ को देखता ही है उनका [अकारकं चैव अवेदकं] कर्ता और भोक्ता नहीं है [तथा चैव] उसी प्रकार [ज्ञानं] ज्ञान भी [बंधमोक्षं] बंध मोक्ष [कर्मोदयं] कर्म के उदय [च] और [निर्जरां] निर्जरा को [जानाति] जानता ही है।

टीका—जैसे इस लोक में नेत्र, देखने योग्य पदार्थों से अत्यंत भिन्न होने के कारण उनके करने और भोगने को असमर्थ है, उस भिन्नत्व के कारण दृश्य पदार्थ का न तो कर्ता है और न भोगता है। यदि ऐसा न हो तो अग्नि को जलाने वाले की तरह व अग्नि से तप्तायमान लोह के पिंड की तरह अग्नि के देखने से नेत्र के कर्ता भोक्तापन अवश्य आ जायगा सो नहीं है, नेत्र का स्वभाव केवल दर्शनमात्र है इसलिये दृश्य को केवल देखता ही है। उसी तरह ज्ञान भी आप नेत्रवत् ही है इसलिये कर्म से अत्यंत भिन्न होने से निश्चयतः उस कर्म को करने और भोगने में असमर्थ है, न तो कर्म को करता है न भोगता है। केवल ज्ञानमात्र स्वभावपने से कर्म के बंध, मोक्ष, उदय को तथा उसकी निर्जरा को केवल जानता ही है।

भावार्थ—ज्ञान का स्वभाव नेत्र की भांति दूर से जानने का है। इसलिये ज्ञान के कर्तृत्व

---

१. दिट्ठी सयंपि पाठोऽयं तात्पर्यवृत्तौ।

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यंति तमसा तताः ।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षतां ॥ १९९ ॥

ख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिसमस्तपरद्रव्यालंबनशून्येनानंतज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपेण सालंबने भरितावस्थे निर्विकल्पसमाधौ स्थितो ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नानि निश्चयनयेन न करोति न च तन्मयो भूत्वा वेदयत्यनुभवति । तर्हि किं करोति ? **जाणदि पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च** परमात्मभावनोत्थसुखे तृप्तो भूत्वा वस्तुस्वरूपेण जानात्येव । किं जानाति ? सुखदुःखस्वरूपकर्मफलं प्रकृतिबंधादिभेदभिन्नं पुनः कर्मबंधं, सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्ररूपं पुण्यं, अतोऽन्यदसद्वेद्यादिरूपं पापं चेति ॥ ३१९ ॥ तमेव कर्तृत्वभोक्तृत्वाभावं विशेषेण समर्थयति;—**दिट्ठी सयंपि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव** यथा दृष्टिः कर्त्री दृश्यमग्निरूपं वस्तुसंधुक्षणं पुरुषवन्न करोति तथैव च तप्तायःपिंडवदनुभवरूपेण न वेदयति.। तथा शुद्धज्ञानमप्यभेदेन शुद्धज्ञानपरिणतजीवो वा स्वयं शुद्धोपादानरूपेण न करोति न च वेदयति । अथवा पाठांतरं **दिट्ठी खयंपि णाणं** तस्य

भोक्तृत्व नहीं है । कर्तृत्व भोक्तृत्व मानना अज्ञान है । यहां कोई पूछे कि ऐसा तो केवलज्ञान है । जब तक मोह कर्म का उदय है तब तक तो सुखदुःखरागादिरूप परिणमन होता ही है, जब तक दर्शनावरण, ज्ञानावरण और वीर्यांतराय का उदय है तब तक अदर्शन, अज्ञान और असमर्थपना होता ही है, तब केवलज्ञान के पहले ज्ञाता द्रष्टा कैसे कह सकते हैं ? उसका समाधान—यह तो पहले से ही कहते आए हैं कि यदि स्वतंत्र होकर करे और भोगे तो उसे वास्तव में कर्ता-भोक्ता कहते हैं । सो जब मिथ्यादृष्टिरूप अज्ञान का अभाव हुआ, तब परद्रव्य के स्वामीपने का अभाव हुआ, तब आप ज्ञानी हुआ स्वतंत्रपने से तो किसी का कर्ता भोक्ता नहीं होता । परन्तु अपनी निर्बलता से कर्म के उदय की बलवत्ता से जो कार्य होता है उसको परमार्थदृष्टि से कर्ता भोक्ता नहीं कहा जाता । उसके निमित्त से जो कुछ नवीन कर्मरज लगती भी है, उसको यहां बंध में नहीं गिना । जो संसार है वह तो मिथ्यात्व है, मिथ्यात्व के चले जाने के बाद संसार का अभाव ही होता है, समुद्र में बूंद की क्या गिनती ? । इतना और भी जानना कि केवलज्ञानी तो साक्षात् शुद्धात्मस्वरूप ही है परन्तु श्रुतज्ञानी भी शुद्धनय के अवलंबन से आत्मा को वैसा ही अनुभव करता है । प्रत्यक्ष और परोक्ष का ही भेद है । श्रुतज्ञानी के ज्ञान श्रद्धान की अपेक्षा तो ज्ञाता द्रष्टापना ही है । चारित्र की अपेक्षा प्रतिपक्षी कर्म का जितना उदय है उतना ही घात है, इसके नाश करने का उद्यम है । जब कर्म का अभाव हो जायगा तब साक्षात् यथाख्यात चारित्र होगा, तभी केवल ज्ञान की प्राप्ति होगी । सम्यग्दृष्टि को तो ज्ञानी कहते हैं सो मिथ्यात्व के अभाव की अपेक्षा ही कहते हैं । यदि अपेक्षा नहीं ली जाय तो ज्ञानसामान्य से सभी जीव ज्ञानी हैं और विशेष अपेक्षा ली जाय तो जब तक कुछ भी अज्ञान रहे तब तक ज्ञानी नहीं कहा जा सकता । जैसे सिद्धांत में जो भाव लगाये गये हैं—जब तक केवल ज्ञान नहीं होता तब तक बारवां गुणस्थानपर्यंत अज्ञान भाव ही लगाया है । इसलिये यहां ज्ञानी अज्ञानी कहना सम्यक्त्व मिथ्यात्व की ही अपेक्षा जानना ॥३२०॥

आगे जो सर्वथा एकांत के आशय से आत्मा को कर्ता ही मानते हैं उनका निषेध करते हैं, उसकी सूचना का श्लोक कहते है—ये तु इत्यादि । अर्थ—जो पुरुष अज्ञानरूपी अंधकार से आच्छादित हुए

लोयस्स कुणइ विह्नू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते।
समणाणंपि य अप्पा जइ कुव्वइ छव्विहे काये ॥३२१॥

व्याख्यानं—न केवलं दृष्टिः क्षायिकज्ञानमपि निश्चयेन कर्मणामकारकं तथैवावेदकमपि। तथाभूतः सन् किं करोति ? **जाणदि य बंधमोक्खं** जानाति च। कौ ? बंधमोक्षौ। न केवलं बंधमोक्षौ **कम्मुदयं णिज्जरं चेव** शुभाशुभरूपं कर्मोदयं सविपाकाविपाकरूपेण सकामाकामरूपेण वा द्विधा निर्जरां चैव जानाति इति। एवं सर्वविशुद्धपारिणामिक-परमभावग्राहकेण शुद्धोपादानभूतेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन कर्तृत्व—भोक्तृत्व—बंध—मोक्षादिकारणपरिणामशून्यो जीव इति सूचितं। समुदायपातनिकायां पश्चाद्गाथाचतुष्टयेन जीवस्याकर्तृत्वगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन सामान्यविवरणं कृतं। पुनरपि गाथाचतुष्टयेन शुद्धस्यापि यत्प्रकृतिभिर्बंधो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमित्यज्ञानसामर्थ्यकथनरूपेण विशेषविवरणं कृतं। पुनश्च गाथाचतुष्टयेन जीवस्याभोक्तृत्वगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन व्याख्यानं कृतं। तदनंतरं शुद्धनिश्चयेन तस्यैव कर्तृत्व-बंधमोक्षादिककारणपरिणामवर्जनरूपस्य द्वादशगाथाव्याख्यानस्योपसंहाररूपेण गाथाद्वयं गतं ।। इति समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ मोक्षाधिकारसंबंधिनी चतुर्दशगाथाभिश्चतुर्भिरंतराधिकारैः चूलिका समाप्ता। अथवा द्वितीयव्याख्यानेनात्र मोक्षाधिकारः समाप्तः।

किं च विशेषः—औपशमिकादिपंचभावानां मध्ये केन भावेन मोक्षो भवतीति विचार्यते। तत्रौपशमिक-क्षायोपशमिकक्षायिकौदयिकभावचतुष्टयं पर्यायरूपं भवति शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूप इति। तच्च परस्परसापेक्षं द्रव्यपर्यायद्वयमात्मपदार्थो भण्यते। तत्र तावज्जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वत्रिविधपारिणामिकभावमध्ये शुद्धजीवत्वं शक्तिलक्षणं यत्पारिणामिकत्वं तच्छुद्धद्रव्यार्थिकनयाश्रितत्वान्निरावरणं शुद्धपारिणामिकभावसंज्ञं ज्ञातव्यं तत्तु बंधमोक्षपर्यायपरिणति-रहितं। यत्पुनर्दशप्राणरूपं जीवत्वं भव्याभव्यत्वद्वयं च तत्पर्यायार्थिकनयाश्रितत्वादशुद्धपारिणामिकभावसंज्ञमिति। कथमशुद्धमिति चेत्, संसारिणां शुद्धनयेन सिद्धानां तु सर्वथैव दशप्राणरूपजीवत्वभव्याभव्यत्वद्वयाभावादिति। तस्य त्रयस्य मध्ये भव्यत्वलक्षणपारिणामिकस्य तु यथासंभव सम्यक्त्वादिजीवगुणघातकं देशघातिसर्वघातिसंज्ञं मोहादिकर्म-सामान्यं पर्यायार्थिकनयेन प्रच्छादकं भवति इति विज्ञेयं। तत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति तदायं जीवः सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायेण परिणमति। तच्च परिणमनमागमभाषयौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकं भावत्रयं भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते। स च पर्यायः शुद्धपारिणामिकभावलक्षणशुद्धात्मद्रव्यात्कथंचिद्भिन्नः। कस्मात् ? भावनारूपत्वात्। शुद्धपारिणामिकस्तु भावनारूपो न भवति। यद्येकांतेनाशुद्धपारिणामिकादभिन्नो भवति तदास्य भावनारूपस्य मोक्षकारणभूतस्य मोक्षप्रस्तावे विनाशे जाते सति शुद्धपारिणामिकभावस्यापि विनाशः प्राप्नोति; नच तथा। ततः स्थितं—शुद्धपारिणामिकभावविषये या भावना तद्रूपं यदौपशमिकादिभावत्रयं तत्समस्तरागादिरहितत्वेन शुद्धोपादानकारणत्वान्मोक्षकारणं भवति, नच शुद्धपारिणामिकः। यस्तु शक्तिरूपो मोक्षः स शुद्धपारिणामिके पूर्वमेव तिष्ठति। अयं तु व्यक्तिरूपमोक्षविचारो वर्तते। तथा चोक्तं सिद्धांते—'निष्क्रियः शुद्धपारिणामिकः' निष्क्रिय इति कोऽर्थः ? बंधकारणभूता या क्रिया रागादिपरिणतिः, तद्रूपो न भवति। मोक्षकारणभूता च क्रिया शुद्धभावनापरिणति-स्तद्रूपश्च न भवति। ततो ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति। कस्मात् ? ध्यानस्य विनश्वरत्वात्। तथा योगींद्रदेवैरप्युक्तं—णवि उपज्जइ णवि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ। जिउ परमत्थे जोइया जिणवरु एउ भणेइ ॥ १ ॥ किंच विवक्षितैकदेशशुद्धनयाश्रितेयं भावना निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणक्षायोपशमिकज्ञानत्वेन

आत्मा को कर्ता ही मानते हैं, वे मोक्ष को चाहते हैं तो भी उनके लौकिक जन की तरह मोक्ष नहीं होता ॥१९९॥

लोगसमणाणमेयं [1]सिद्धंतं जइ ण दीसइ विसेसो ।
लोयस्स कुणइ विण्हू समणाणवि अप्पश्रो कुणइ ॥३२२॥
एवं ण कोवि मोक्खो दीसइ[2] लोयसमणाण दोरहंपि ।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए ॥३२३॥ (त्रिकलम्)

लोकस्य करोति विष्णुः सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्त्वान् ।
श्रमणानामप्यात्मा यदि करोति षड्विधान् कायान् ॥३२१॥

यद्यप्येकदेशव्यक्तिरूपा भवति तथापि ध्याता पुरुषः यदेव सकलनिरावरणमखंडैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयमविनश्वरं शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणं निजपरमात्मद्रव्यं तदेवाहमिति भावयति न च खंडज्ञानरूपमिति भावार्थः । इदं तु व्याख्यानं परस्परसापेक्षागमाध्यात्मनयद्वयाभिप्रायस्याविरोधेनैव कथितं सिद्ध्यतीति ज्ञातव्यं विवेकिभिः ॥ ३२० ॥ अतः परं जीवादिनवाधिकारेषु जीवस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वादिस्वरूपं यथास्थानं निश्चयव्यवहारनयविभागेन सामान्येन यत्पूर्वं सूचितं, तस्यैव विशेषविवरणार्थं **लोकस्स कुणदि विह्न** इत्यादि गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण षडधिकनवतिगाथापर्यंतं चूलिकाव्याख्यानं करोति—चूलिकाशब्दस्यार्थः कथ्यते । तथाहि—विशेषव्याख्यानं, उक्तानुक्तव्याख्यानं, उक्तानुक्तसंकीर्णव्याख्यानं चेति त्रिधा चूलिकाशब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः । तत्र षण्णवतिगाथासु मध्ये विष्णोर्देवादिपर्यायकर्तृत्वनिराकरणमुख्यत्वेन **लोगस्स कुणदि विह्न** इत्यादि गाथासप्तकं च भवति । तदनंतरं, अन्यः कर्ता, भुंक्ते चान्यः—इत्येकांतनिषेधरूपेण बौद्धमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं **केहिं दु पज्जयेहिं** इत्यादि सूत्रचतुष्टयं । अतः परं सांख्यमतानुसारिशिष्यं प्रति एकांतेन जीवस्य भावमिथ्यात्वाकर्तृत्वनिराकरणार्थं **मिच्छत्ता जदि पयडी** इत्यादि सूत्रपंचकं । ततः परं ज्ञानाज्ञानसुखदुःखादिभावान् कर्मैवैकांतेन करोति न चात्मेति पुनरपि सांख्यमतनिराकरणार्थं—**कम्मेहिं अण्णाणी** इत्यादि त्रयोदशसूत्राणि । अथानंतरं कोऽपि प्राथमिकशिष्यः शब्दादिपंचेन्द्रियविषयाणां विनाशं कर्तुं वांछति किंतु मनसि स्थितस्य विषयानुरागस्य घातं करोमीति विशेषविवेकं न जानाति तस्य संबोधनार्थं **दंसणणाणचरित्तं** इत्यादि सूत्रसप्तकं । तदनंतरं यथा सुवर्णकारादिशिल्पी कुंडलादि कर्म हस्तकुट्टकाद्युपकरणैः करोति तत्फलं मूल्यादिकं भुंक्ते च तथापि तन्मयो न भवति । तथा जीवोऽपि द्रव्यकर्म करोति भुंक्ते च तथापि तन्मयो न भवतीत्यादिप्रतिपादनरूपेण **जह सिप्पियो दु** इत्यादि गाथासप्तकं । ततः परं यद्यपि श्वेतमृत्तिका व्यवहारेण कुड्यादिकं श्वेतं करोति तथापि निश्चयेन तन्मयो न भवति । तथा जीवोऽपि व्यवहारेण ज्ञेयभूतं च द्रव्यमेव जानाति पश्यति परिहरति श्रद्दधाति च तथापि निश्चयेन तन्मयो न भवति इति ब्रह्माद्वैतमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं **जह सेडिया** इत्यादि सूत्रदशकं । ततः परं शुद्धात्मभावनारूपनिश्चयप्रतिक्रमण—निश्चयप्रत्याख्यान—निश्चयालोचना—निश्चयचारित्रव्याख्यानमुख्यत्वेन **कम्मं जं पुव्वकयं**

अब इसी अर्थ को गाथा से कहते हैं—[सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्त्वान्] देव, नारक, तिर्यंच, मनुष्य प्राणियों को [लोकस्य] लौकिकजनों के मतानुसार [विष्णुः] विष्णु [करोति] करता है ऐसा

---

१. सिद्धं तं णवि य दिस्सदि विसेसो, तात्पर्यवृत्त्यावयं पाठः । २. दीसइ दुण्हंपि समणलोयाणं पाठोऽयं तात्पर्यवृत्तौ ।

लोकश्रमणानामेकः सिद्धांतो यदि न दृश्यते विशेषः ।
लोकस्य करोति विष्णुः श्रमणानामप्यात्मा करोति ॥३२२॥
एवं न कोऽपि मोक्षो दृश्यते लोकश्रमणानां द्वयेषामपि ।
नित्यं कुर्वतां सदेवमनुजासुरान् लोकान् ॥३२३॥

इत्यादिसूत्रचतुष्टयं । तदनंतरं रागद्वेषोत्पत्तिविषयेऽज्ञानरूपस्वकीयबुद्धिरूपदोष एव कारणं न चाचेतनशब्दादिविषया इति कथनार्थं **णिंददि संथुदि वयणाणि** इत्यादि गाथादशकं । अतः परं उदयागतं कर्म वेदयमानो मदीयमिदं मया कृतं च मन्यते स्वस्थभावशून्यः सुखितो दुःखितश्च भवति यः सः पुनरप्यष्टविधं कर्म दुःखबीजं बध्नातीति प्रतिपादनमुख्यत्वेन **वेदंतो कम्मफलं** इत्यादि गाथात्रयं । तदनंतरं आचारसूत्रकृतादि द्रव्यश्रुतेन्द्रियविषयद्रव्यकर्म धर्माधर्माकाशकालाः शुद्धनिश्चयेन रागादयोऽपि शुद्धजीवस्वरूपं न भवंतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन **सत्थं णाणं ण हवदि** इत्यादि पंचदश सूत्राणि । ततः परं यस्य शुद्धनयस्याभिप्रायेणात्मा मूर्तिरहितस्तस्याभिप्रायेण कर्मनोकर्माहाररहित इति व्याख्यानरूपेण **अप्पा जस्सअमुत्तो** इत्यादि गाथात्रयं । तदनंतरं देहाश्रितद्रव्यलिंगं निर्विकल्पसमाधिलक्षणभावलिंगरहितयतीनां मुक्तिकारणं न भवति भावलिंगसहितानां पुनः सहकारिकारणं भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन **पाखंडी लिंगाणि य** इत्यादि सूत्रसप्तकं । पुनश्च समयप्राभृताध्ययनफलकथनरूपेण ग्रंथसमाप्त्यर्थं **जो समयपाहुडमिणं** इत्यादि सूत्रमेकं कथयतीति त्रयोदशभिरंतराधिकारैः समयसारचूलिकाधिकारे समुदायपातनिका—इदानीं त्रयोदशाधिकाराणां यथाक्रमेण विशेषव्याख्यानं क्रियते । तद्यथा—एकांतेनात्मानं कर्तारं ये मन्यंते तेषामज्ञानिजनवन्मोक्षो नास्तीत्युपदिशति;—**लोगस्स कुणदि विह्रू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते** लोकस्य मते विष्णुः करोति । कान् ? सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्वान् **समणाणंपि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काए** श्रमणानां मते पुनरात्मा करोति यदि चेत् । कान् ? षट्जीवनिकायानिति । **लोगसमणाणमेवं सिद्धंतं पडि ण दिस्सदि विसेसो** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सिद्धांतं प्रति, आगमं प्रति न दृश्यते कोऽपि विशेषः । कयोः संबंधी ? लोकश्रमणयोः । कस्मात् इति चेत्—**लोगस्स कुणदि विह्रू समणाणं अप्पओ कुणदि** लोकमते विष्णुनामा कोऽपि परकल्पित-

---

मंतव्य है [च] इसी प्रकार [यदि] यदि [श्रमणानामपि] श्रमणों (मुनियों) के मत में भी ऐसा माना जाय कि [षड्विधान् कायान्] छह काय के जीवों को [आत्मा] आत्मा [करोति] करता है तो [लोकश्रमणानां] लोकों का और यतियों का [एकः सिद्धांतः] एक सिद्धांत ठहरा [विशेषः न दृश्यते] कुछ विशेषता नहीं रही । क्योंकि [लोकस्य] लोक के मत में [विष्णुः] जैसे विष्णु [करोति] करता है उस तरह [श्रमणानामपि] श्रमणों के मत में भी [आत्मा करोति] आत्मा करता है इस तरह कर्ता के मानने में दोनों समान हुए । [एवं] इस तरह [लोकश्रमणानां द्वयेषामपि] लोक और श्रमण इन दोनों में से [कोपि] कोई भी [मोक्षो न दृश्यते] मोक्ष हुआ नहीं दीखता क्योंकि जो [सदेवमनुजासुरान्] देव, मनुष्य, असुर सहित [लोकान्] लोकों को [नित्यं कुर्वतां] नित्य दोनों ही करते हुए प्रवर्तन करते हैं उनके मोक्ष कैसी ।

ये त्वात्मानं कर्तारमेव पश्यंति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तंते। लौकिकानां परमात्मा विष्णुः सुरनारकादिकार्याणि करोति, तेषां तु स्वात्मा तानि करोति इत्यपसिद्धांतस्य समत्वात्। ततस्तेषामात्मनो नित्यकर्तृत्वाभ्युपगमात्—लौकिकानामिव लोकोत्तरिकाणामपि नास्ति मोक्षः ॥३२१।३२२।३२३॥

नास्ति सर्वोऽपि संबंधः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृकर्मत्वसंबंधाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥२००॥

पुरुषविशेषः करोति। श्रमणानां मते पुनरात्मा करोति तत्र विष्णुसंज्ञा श्रमणमते चात्मसंज्ञा नास्ति विप्रतिपत्तिर्न चार्थे। **एवं ण कोवि मुक्खो दीसदि दुण्हंपि समणलोयाणं** एवं कर्तृत्वे सति को दोषः? मोक्षः कोऽपि न दृश्यते कयोर्लोकश्रमणयोः। किं विशिष्टयोः? **णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुआसुरे लोगे** नित्यं सर्वकालं कर्म कुर्वतोः। क्व? लोके। कथंभूते? देवमनुष्यासुरसहिते। किं च—रागद्वेष-मोहरूपेण परिणमनमेव कर्तृत्वमुच्यते। तत्र रागद्वेषमोहपरिणमने सति शुद्धस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गाच्च्यवनं भवति ततश्च मोक्षो न भवतीति भावार्थः। एवं पूर्वपक्षरूपेण गाथात्रयं गतं ॥३२१।३२२।३२३॥ अथोत्तरं निश्चयेनात्मनः पुद्गलद्रव्येण सह कर्तृकर्मसंबंधो नास्ति कथं कर्ता भविष्यतीति कथयति;—**ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति विदिदत्था** परद्रव्यं मम भणंति। के ते? विदितार्थाः—ज्ञातार्थाः तत्त्ववेदिनः। केन कृत्वा भणंति?

टीका—जो पुरुष आत्मा को कर्ता ही मानते हैं वे लोकोत्तर होने पर भी लौकिकपने को उलंघन नहीं करते (छोड़ते) क्योंकि लौकिक जनों के तो परमात्मा विष्णु सुरनारक आदि शरीरों को करता है और लोक से बाह्य मुनियों के अपना आत्मा सुरनारक आदि को करता है। इस तरह अन्यथा मानने में दोनों समान हैं। इसलिये आत्मा के नित्य कर्तापन के मानने से लौकिक जन की तरह लोकोत्तर मुनि भी लौकिक जन की तरह ही हैं, उनका भी मोक्ष नहीं होता।

भावार्थ—जो आत्मा को कर्ता मानते हैं वे मुनि भी हों तो भी लौकिक जन सरीखे ही हैं क्योंकि लोक ईश्वर को कर्ता मानते हैं और मुनियों ने भी आत्मा को कर्ता मान लिया इस तरह इन दोनों का मानना समान हुआ। इस कारण जैसे लौकिक जनों को मोक्ष नहीं है, उसी तरह उन मुनियों को भी मोक्ष नहीं। जो कर्ता होगा वह कार्य के फल को भोगेगा ही, और जो फल भोगेगा उसके मोक्ष कैसा? अर्थात् मोक्ष हो ही नहीं सकता ॥३२१।३२२।३२३॥

आगे कहते हैं कि परद्रव्य और आत्मा का कुछ भी संबंध नहीं है ऐसा काव्य कहते हैं—**नास्ति** इत्यादि। **अर्थ**—परद्रव्य और आत्मा का कोई संबंध नहीं है इस तरह कर्ता कर्म संबंध का भी अभाव होने से पर द्रव्य का कर्तापन कैसे हो सकता है?

भावार्थ—पर द्रव्य और आत्मा का कुछ भी संबंध नहीं है तब कर्ता कर्म संबंध कैसे हो सकता है? ऐसा होने पर कर्तापन भी क्यों होगा? ॥२०१॥

ववहारभासिएण उ परदव्वं मम भणंति अविदियत्था ।
जाणंति णिच्छयेण उ ण य मह परमाणुमिच्चमवि किंचि ॥३२४॥
जह कोवि णरो जंपइ अम्हं गामविसयणयररट्ठं ।
ण य होंति तस्स ताणि उ भणइ य मोहेण सो अप्पा ॥३२५॥
एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिस्संसयं हवइ एसो ।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणइ ॥३२६॥
तह्मा ण मेत्ति णिच्चा दोह्न वि एयाण कत्तविवसायं ।
परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहियाणं ॥३२७॥ (चतुष्कम्)

व्यवहारभाषितेन तु परद्रव्यं मम भणंत्यविदितार्थाः ।
जानंति निश्चयेन तु न च मम परमाणुमात्रमपि किंचित् ॥३२४॥
यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रं ।
न च भवंति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा ॥३२५॥

व्यवहारभाषितेन व्यवहारनयेन । **जाणंति णिच्छयेण दु ण य इह परमाणुमित्त मम किंचि** निश्चयेन पुनर्जानंति । किं ? न चेह परद्रव्यं परमाणुमात्रमपि ममेति । **जह कोविणरो जंपदि अह्माणं गामविसयपुररट्ठं** यथा नाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुषो जल्पति । किं जल्पति ? वृत्यावृतो ग्रामः, देशाभिधानो विषयः, नगराभिधानं पुरं, देशैकदेशसंज्ञं राष्ट्रमस्माकमिति । **ण य हुंति ताणि तस्स दु भणदि य मोहेण सो अप्पा** न च तानि तस्य भवंति राजकीयनगरादीनि तथाप्यसौ मोहेन ब्रूते मदीयं ग्रामादिकमिति दृष्टांतः । अथ दार्ष्टांतः—एवं पूर्वोक्तदृष्टांतेन ज्ञानी व्यवहारमूढो भूत्वा यदि परद्रव्यमात्मीयं भणति तदा मिथ्यात्वं प्राप्तःसन् मिथ्यादृष्टिर्भवति निस्संशयं निश्चितं । संदेहो न कर्तव्यः

आगे जो व्यवहारनय के वचन से यह कहते हैं कि पर द्रव्य मेरा है, ऐसे व्यवहार को ही निश्चय स्वरूप मान लेते हैं, वे अज्ञान से मानते हैं, उसे दृष्टांत द्वारा कहते हैं;—[**अविदितार्थाः**] जिन्होंने पदार्थ का स्वरूप नहीं जाना है वे पुरुष [**व्यवहारभाषितेन**] व्यवहार के कहे हुए वचनों को लेकर [**भणंति**] कहते हैं कि [**परद्रव्यं मम तु**] पर द्रव्य मेरा है [**तु**] और जो [**निश्चयेन**] निश्चयकर [**जानंति**] पदार्थों का स्वरूप जानते हैं वे कहते हैं कि [**परमाणुमपि**] परमाणु मात्र भी [**किंचित् मम न च**] कोई मेरा नहीं है। व्यवहार का कहना ऐसा है कि [**यथा**] जैसे [**कोपि**] कोई [**नरः**] पुरुष [**जल्पति**] कहे के [**अस्माकं**] हमारा [**ग्रामविषयनगरराष्ट्रं**] ग्राम है देश है नगर है और मेरे राजा का देश है वहां निश्चय से विचारा जाय तो [**तानि तु**] वे ग्राम आदिक [**तस्य**] उसके [**न च भवंति**] नहीं हैं [**स आत्मा**] वह आत्मा [**मोहेन च भणति**] मोह से मेरा, मेरा ऐसा कहता है। [**एवमेव**] इसी तरह

एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निस्संशयं भवत्येषः ।
यः परद्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति ॥ ३२६ ॥
तस्मान्न मम इति ज्ञात्वा द्वयेषामप्येतेषां कर्तृव्यवसायं ।
परद्रव्ये जानन् जानीयाद् दृष्टिरहितानां ॥ ३२७ ॥

अज्ञानिन एव व्यवहारविमूढा परद्रव्यं ममेदमिति पश्यंति । ज्ञानिनस्तु निश्चयप्रतिबुद्धाः परद्रव्यकणिकामात्रमपि न ममेदमिति पश्यंति । ततो यथात्र लोके कश्चिद् व्यवहारविमूढः परकीयग्रामवासी ममायं ग्राम इति पश्यन् मिथ्यादृष्टिः। तथा यदि ज्ञान्यपि कथंचिद् व्यवहारविमूढो भूत्वा परद्रव्यं ममेदमिति पश्येत् तदा सोऽपि निस्संशयं परद्रव्यमात्मानं कुर्वाणो मिथ्यादृष्टिरेव स्यात् । अतस्तत्त्वं जानन् पुरुषः सर्वमेव परद्रव्यं न ममेति ज्ञात्वा लोकश्रमणानां द्वयेषामपि योऽयं परद्रव्ये कर्तृव्यवसायः स तेषां सम्यग्दर्शनरहितत्वादेव भवति इति सुनिश्चितं जानीयात् ॥३२४।३२५।३२६।३२७॥

इति । तह्मा इत्यादि । तह्मा तस्मात् परकीयग्रामादिदृष्टांतेन स्वानुभूतिभावनाच्युतः सन् योऽसौ परद्रव्यं व्यवहारेणा-

---

[यः] जो ज्ञानी [जानन्] परद्रव्य को परद्रव्य जानता हुआ [परद्रव्यं मम इति] परद्रव्य मेरा है ऐसा [आत्मानं करोति] अपने को परद्रव्यमय करता है [एषः] वह [निःसंशयं] निःसंदेह [मिथ्यादृष्टिः भवति] मिथ्यादृष्टि होता है । [तस्मात्] इसलिये ज्ञानी [न मम इति ज्ञात्वा] परद्रव्य मेरा नहीं है ऐसा जानकर [परद्रव्ये] परद्रव्य में [एतेषां द्वयेषामपि] इन लौकिकजन तथा मुनियों के [कर्तृव्यवसायं] कर्तापन के व्यापार को [जानन्] जानता हुआ ऐसा [जानीयात्] जानता है कि ये [दृष्टिरहितानां] सम्यग्दर्शन से रहित हैं ।

टीका—जो व्यवहार में ही विमूढ़ हैं वे ही अज्ञानी हैं, वे ही परद्रव्य मेरा है ऐसा देखते हैं (कहते हैं) । जो ज्ञानी हैं वे निश्चय से प्रतिबुद्ध हो गये हैं वे कणिकामात्र भी पुद्गलद्रव्य को यह मेरा है ऐसा नहीं देखते । इसलिए जैसे इस लोक में कोई व्यवहार में मूढ दूसरे के ग्राम में रहने वाला कहे कि 'यह मेरा ग्राम है' ऐसे देखता हुआ मिथ्यादृष्टि कहा जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी भी किसी प्रकार से व्यवहार में विमूढ होकर 'यह परद्रव्य मेरा है' ऐसे देखे तो उस समय वह भी परद्रव्य को अपना करता हुआ मिथ्यादृष्टि ही होता है । इसलिए जो तत्त्व को जानने वाला पुरुष है वह 'सभी परद्रव्य मेरा नहीं हैं' ऐसा जानकर लौकिकजन और श्रमणजन इन दोनों के जो परद्रव्य में कर्तापन का निश्चय है सो उनके सम्यग्दर्शन के न होने से ही है, ऐसा निश्चित जानता है ।

भावार्थ—ज्ञानी होकर भी यदि व्यवहारमोही हो, तो लौकिकजन हो या मुनिजन, दोनों के ही कर्तापन आता है तब मिथ्यादृष्टि होता है ज्ञानी इस प्रकार जानता है ॥३२४।३२५।३२६।३२७॥

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्द्धं संबंध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः।
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे पश्यंत्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वं[1] ॥ २०१ ॥
ये तु स्वभावनियमं कलयंति नेममज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः।
कुर्वंति कर्म तत एव हि भावकर्म कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः॥ २०२ ॥

त्मीयं करोति स मिथ्यादृष्टिर्भवतीति भणितं पूर्वं। तस्मात्कारणाज्ज्ञायते **दुण्हं एदाण कत्तिववसाओ।** परद्रव्ये तयोः पूर्वोक्तलौकिकजैनयोः—आत्मा परद्रव्यं करोतीत्यनेन रूपेण योऽसौ परद्रव्यविषये कर्तृत्वव्यवसायः। किं कृत्वा ? पूर्वं **ण ममेति णच्चा** निर्विकारस्वपरपरिच्छित्तिज्ञानेन परद्रव्यं मम संबंधि न भवति इति ज्ञात्वा ? **जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहिदाणं इमं** लौकिकजैनयोः परद्रव्ये कर्तृत्वव्यवसायं—अन्यः कोऽपि तृतीयतटस्थः पुरुषो जानन् सन् जानीयात्। स कथंभूतं जानीयात् ? वीतरागसम्यक्त्वसंज्ञा या तु निश्चयदृष्टिस्तद्रहितानां व्यवसायोऽयमिति। ज्ञानी भूत्वा व्यवहारेण परद्रव्यमात्मीयं वदन् सन् कथमज्ञानी भवतीति चेत् ? व्यवहारो हि म्लेच्छानां म्लेच्छभाषेव प्राथमिकजनसंबोधनार्थं काल एवानुसर्तव्यः। प्राथमिकजनप्रतिबोधनकालं विहाय कतकफलवदात्मशुद्धिकारकात् शुद्धनयाच्च्युतो भूत्वा यदि परद्रव्यमात्मीयं करोति तदा मिथ्यादृष्टिर्भवति। किं च विशेषः—लोकानां मते विष्णुः करोतीति यदुक्तं पूर्वं तल्लोकव्यवहारापेक्षया भणितं। न चानादिभूतस्य देवमनुष्यादिभूतलोकस्य विष्णुर्वा ब्रह्मा वा महेश्वरो वा कोऽपि कर्तास्ति। कथमिति चेत्, सर्वोऽपि लोकस्तावदेकेंद्रियादिजीवैर्भृतस्तिष्ठति। तेषां च जीवानां निश्चयनयेन विष्णुपर्यायेण ब्रह्मपर्यायेण महेश्वरपर्यायेण जिनपर्यायेण च परिणमनशक्तिरस्ति तेन कारणेनात्मैव विष्णुः, आत्मैव ब्रह्मा, आत्मैव महेश्वरः, आत्मैव जिनः। तदपि कथमिति चेत्, कोऽपि जीवः पूर्वं मनुष्यभवे जिनरूपं गृहीत्वा भोगाकांक्षानिदानबंधेन पापानुबंधि पुण्यं कृत्वा स्वर्गे समुत्पद्य तस्मादागत्य मनुष्यभवे त्रिखंडाधिपतिरर्द्धचक्रवर्ती भवति तस्य विष्णुसंज्ञा न चापरः कोऽपि लोकस्य कर्ता विष्णुरस्ति इति। तथा चापरः कोऽपि जीवो जिनदीक्षां गृहीत्वा रत्नत्रयाराधनया पापानुबंधि पुण्योपार्जनं कृत्वा

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**एकस्य** इत्यादि। **अर्थ**—इस जगत में एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सभी संबंध निषेधा गया है इसलिए जहां वस्तु भेद है वहां कर्ता कर्म की प्रवृत्ति ही नहीं है इस कारण लौकिकजन तथा मुनिजन वस्तु का यथार्थ स्वरूप ऐसे ही देखो कि कोई पदार्थ का कर्ता नहीं है, परद्रव्य परका अकर्ता ही श्रद्धा में लाओ। आगे कहते हैं कि जो पुरुष ऐसा वस्तु स्वभाव का नियम नहीं जानते वे अज्ञानी हुए कर्म को करते हैं, वे भाव कर्म के कर्ता होते हैं ॥२०१॥

इस प्रकार अपने भाव कर्म का कर्ता अज्ञान से चेतन ही है उसकी सूचनिका का काव्य कहते हैं—**ये तु** इत्यादि। **अर्थ**—आचार्य खेद पूर्वक कहते हैं, कि जो पुरुष वस्तु स्वभाव के नियम को नहीं जानते और जिनका पुरुषार्थ रूप तेज अज्ञान मे डूब गया है वे दीन होकर कर्मों को करते हैं। अतः भाव कर्म का कर्ता आप चेतन ही है। अन्य नहीं है।

भावार्थ—जो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है वह वस्तु के स्वरूप का नियम जानता नहीं है, और परद्रव्य का कर्ता बनता है, तब आप अज्ञान रूप परिणमता है इसलिये अपने भाव कर्म का कर्ता अज्ञानी ही है, अन्य नहीं है ॥२०२॥

---

१. 'जनाः स्वतत्त्वं' इत्यपि पाठः।

मिच्छत्तं जइ पयडी मिच्छाइट्ठी करेइ अप्पाणं ।
तह्मा अचेदणा दे पयडी गणु कारगो पत्तो ।। ३२८ ।।
अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणइ मिच्छत्तं ।
तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छाइट्ठी ण पुण जीवो ।। ३२६ ।।
अह जीवो पयडी तह पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं ।
तह्मा दोहिं कदं तं दोण्णिवि भुञ्जन्ति तस्स फलं ।। ३३० ।।
अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं ।
तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा ।। ३३१ ।। (चतुष्कम्)

मिथ्यात्वं यदि प्रकृतिर्मिथ्यादृष्टिं करोत्यात्मानं ।
तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारका प्राप्ता ।। ३२८ ।।
अथवैष जीवः पुद्गलद्रव्यस्य करोति मिथ्यात्वं ।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीवः ।।३२६।।

विद्यानुवादसंज्ञं दशमपूर्वं पठित्वा चारित्रमोहोदयेन तपश्चरणच्युतो भूत्वा हुण्डावसर्पिणीकालप्रभावेण विद्याबलेन लोकस्याहं कर्तेत्यादि चमत्कारमुत्पाद्य मूढजनानां विस्मयं कृत्वा महेश्वरो भवति न सर्वावसर्पिणीषु । सा च हुण्डावसर्पिणी संख्यातीतोत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु गतासु समुपयाति । तथा चोक्तं—संखातीदवसप्पिणि गयासु हुण्डावसप्पिणी एइ । परसमयहं उप्पत्ती तहिं जिणवर एव पभणेइ ।। १ ।। न चान्यः कोऽपि जगत्कर्ता महेश्वराभिधानः पुरुषविशेषोऽस्ति इति । तथा चापरः कोऽपि पुरुषो विशिष्टतपश्चरणं कृत्वा पश्चात्तपःप्रभावेण स्त्रीविषयनिमित्तं चतुर्मुखो भवति तस्य ब्रह्मा संज्ञा । न चान्यः कोऽपि जगतः कर्ता व्यापकैकरूपो ब्रह्माभिधानोऽस्ति । तथैवापरः कोऽपि दर्शनविशुद्धिविनयसंपन्नतेत्यादि षोडशभावनां कृत्वा देवेंद्रादिविनिर्मितपंचमहाकल्याणपूजायोग्यं तीर्थंकरपुण्यं समुपार्ज्य जिनेश्वराभिधानो वीतराग-

---

आगे इस कथन को युक्ति से पुष्ट करते हैं;—जीव के जो मिथ्यात्वभाव होता है उसका निश्चय से कर्ता कौन होता है ? [यदि] यदि [मिथ्यात्वं प्रकृतिः] मिथ्यात्वनामा मोह कर्म की प्रकृति [आत्मानं] आत्मा को [मिथ्यादृष्टिं] मिथ्यादृष्टि [करोति] करती है ऐसा माना जाय [तस्मात् ननु] तो सांख्यमती से कहते हैं कि अहो सांख्यमती [ते प्रकृतिः अचेतना] तेरे मत में प्रकृति तो अचेतन है वह [कारका प्राप्ता] अचेतन प्रकृति जीव के मिथ्यात्व भाव को करने वाली ठहरी, ऐसा बनता नहीं। [अथवा] अथवा ऐसा मानिये कि [एष जीवः] वह जीव [पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वं] ही पुद्गल द्रव्य के मिथ्यात्व को [करोति] करता है [तस्मात्] तो ऐसा मानने से [पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिः] पुद्गल द्रव्य मिथ्यादृष्टि सिद्ध हुआ [न पुनः जीवः] जीव मिथ्यादृष्टि नहीं ठहरा; ऐसा भी नहीं बन सकता। [अथ] अथवा ऐसा माना जाय कि [जीवः तथा प्रकृतिः] जीव और प्रकृति ये दोनों [पुद्गलद्रव्यं] पुद्गल द्रव्य

अथ जीवः प्रकृतिस्तथा पुद्गलद्रव्यं कुरुते मिथ्यात्वं ।
तस्माद्‌द्वाभ्यां कृतं तद् द्वावपि भुंजाते तस्य फलं ॥३३०॥
अथ न प्रकृतिर्न जीवः पुद्गलद्रव्यं करोति मिथ्यात्वं ।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं तत्तु न खलु मिथ्या ॥३३१॥ (चतुष्कं)

जीव एव मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता तस्याचेतनप्रकृतिकार्यत्वेऽचेतनत्वानुषंगात् । स्वस्यैव जीवो मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता जीवेन पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावकर्मणि क्रियमाणे

सर्वज्ञो भवतीति वस्तुस्वरूपं ज्ञातव्यं । एवं यद्येकांतेन कर्ता भवति तदा मोक्षाभाव इति विष्णुदृष्टांतेन गाथात्रयेण पूर्वपक्षं कृत्वा गाथाचतुष्टयेन परिहारव्याख्यानमिति प्रथमस्थले सूत्रसप्तकं गतं ॥ ३२४। ३२५। ३२६। ३२७ ॥ अथ यद्यपि शुद्धनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वात् कर्मणामकर्ता जीवस्तथाप्यशुद्धनयेन रागादिभावकर्मणां स एव कर्ता न च पुद्गल इत्या-ख्याति । अथगाथापंचकेन प्रत्येकं गाथापूर्वार्धेन सांख्यमतानुसारिशिष्यं प्रति पूर्वपक्ष उत्तरार्द्धेन परिहार इति ज्ञातव्यः— **मिच्छत्ता जदि पयडी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं** द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृतिः कर्त्री यद्यात्मानं स्वयमपरिणामिनं हठान्मिथ्यादृष्टिं करोति **तह्मा अचेदणादे पयडी णणु कारगो पत्तो** तस्मात्कारणादचेतना तु या द्रव्यमिथ्या-त्वप्रकृतिः सा तव मते नन्वहो भावमिथ्यात्वस्य कर्त्री प्राप्ता जीवश्चैकांतेनाकर्ता प्राप्तः । ततश्च कर्मबंधाभावः कर्मबंधा-भावे संसाराभावः । स च प्रत्यक्षविरोधः ।

सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं ।
तह्मा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो ॥

सम्यक्त्वं यदि प्रकृतिः सम्यग्दृष्टिं करोत्यात्मानं । तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारकः प्राप्तः ॥ **सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं** सम्यक्त्वप्रकृतिः कर्त्री यद्यात्मानं स्वयमपरिणामिनं सम्यग्दृष्टिं करोति **तह्मा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो** तस्मात्कारणात् अचेतना प्रकृतिः दे तव मते नन्वहो कर्त्री प्राप्ता

के [**मिथ्यात्वं**] मिथ्यात्व को [**कुरुते**] करते हैं [**तस्मात्**] तो [**द्वाभ्यां कृतं**] दोनों से किया गया [**तस्य फलं**] उसका फल [**द्वावपि भुञ्जाते**] दोनों ही भोगें, सो यह भी नहीं बनता । [**अथ**] अथवा ऐसा मानिये कि [**पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं**] पुद्‌गलद्रव्य नामा मिथ्यात्व को [**न प्रकृतिः न जीवः कुरुते**] न तो प्रकृति करती है और न जीव करता है [**तस्मात्**] तो भी [**पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं**] पुद्‌गलद्रव्य ही मिथ्यात्व हुआ [**तत्तु**] सो ऐसा मानना [**खलु**] क्या [**मिथ्या न**] झूठ नहीं है ? इसलिये यह सिद्ध होता है कि मिथ्यात्वनामा भावकर्म का कर्ता अज्ञानी जीव है परन्तु इसके निमित्त से पुद्‌गलद्रव्य में मिथ्यात्व-कर्म की शक्ति उत्पन्न होती है ।

टीका—मिथ्यात्व आदिभाव कर्म का कर्ता जीव ही है । यदि उसको अचेतन प्रकृति का कार्य माना जाय, तो उस भावकर्म को भी अचेतनपने का प्रसंग आ जायगा । मिथ्यात्व आदि भावकर्म का

पुद्गलद्रव्यस्य चेतनानुषंगात् । न च जीवश्च प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वौ कर्तारौ जीववदचेतनायाः प्रकृतेरपि तत्फलभोगानुषंगात् । न च जीवश्च प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वावप्यकर्तारौ, स्वभावत एव पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावानुषंगात् । ततो जीवः कर्ता स्वस्य कर्म कार्यमिति सिद्धं ॥३२८।३२९।३३०।३३१॥

कार्यत्वादकृतं न कर्म नच तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाःप्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगात्कृतिः[1] ।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता नयत्पुद्गलः ॥२०३॥

जीवस्यैकांतेन सम्यक्त्वपरिणामस्याकर्तेति ततश्च वेदकसम्यक्त्वाभावो, वेदकसम्यक्त्वाभावे क्षायिकसम्यक्त्वाभावः ततश्च

कर्ता जीव अपने आप ही है । यदि जीव के पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व आदिक भावकर्म माने जायं तो भावकर्म चेतन होने से पुद्गलद्रव्य के भी चेतनपने का प्रसंग आ जायगा । जीव और प्रकृति दोनों ही मिथ्यात्व आदिक भावकर्म के कर्ता नहीं हैं क्योंकि प्रकृति अचेतन है, उसको भी जीव की तरह उसके फल भोगने का प्रसंग आ जायगा । ये दोनों अकर्ता भी नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के अपने स्वभाव से ही मिथ्यात्व आदि भाव का प्रसंग आता है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि मिथ्यात्व आदि भावकर्म का कर्ता जीव है और भावकर्म अपना कार्य है ।

भावार्थ—भावकर्म का कर्ता जीव ही सिद्ध किया है । यहां ऐसा जानना कि परमार्थ से अन्य द्रव्य अन्यद्रव्य के भाव का कर्ता नहीं है । इसलिये जो चेतन के भाव हैं उनका चेतन ही कर्ता होता है । इस जीव के अज्ञान से मिथ्यात्व आदि भावरूप परिणाम हैं वे चेतन हैं, जड़ नहीं हैं । शुद्धनय से उनको चिदाभास भी कहते हैं । इसलिये चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही होना परमार्थ है । वहां अभेददृष्टि में तो शुद्ध चेतनमात्र जीव है, परन्तु कर्म के निमित्त से जब परिणमन करता है तब उन परिणामों से युक्त होता है । उस समय परिणाम-परिणामी की भेददृष्टि में अपने अज्ञानभाव परिणामों का कर्ता जीव ही है; और अभेद दृष्टि में तो कर्ता कर्मभाव ही नहीं हैं, शुद्ध चेतनामात्र जीववस्तु है । इस तरह यथार्थ समझना कि चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही है ॥।३२८।३२९।३३०।३३१॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**कार्यत्वा** इत्यादि । **अर्थ**—कर्म है वह कार्य है इसलिये बिना किया नहीं होता । वह कर्म जीव और प्रकृति इन दोनों का किया हुआ नहीं है क्योंकि प्रकृति तो जड़ है उसको अपने २ कार्य के फल भोगने का प्रसंग आता है । तथा एक प्रकृति का ही कार्य नहीं है क्योंकि प्रकृति तो अचेतन है और भावकर्म चेतन है इसलिये इस भावकर्म का कर्ता जीव ही है यह जीव का ही कर्म है, क्योंकि चेतन से अन्वयरूप है चेतन का परिणाम है, और पुद्गल ज्ञाता नहीं है इसलिये भावकर्म पुद्गल का नहीं है ।

---

१. 'परमाध्यात्मतरंगिणीग्रन्थे तु भावानुषंगात्कृतिः' इति पाठः ।

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां
कर्तात्मैष कथं चिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता ।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबंधलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते ॥२०४॥

मोक्षाभावः । स च प्रत्यक्षविरोध आगमविरोधश्च । अत्राह शिष्यः—प्रकृतिस्तावत्कर्मविशेषः स च सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयरूपस्य त्रिविधदर्शनमोहस्य सम्यक्त्वाख्यः प्रथमविकल्पः स च कर्मविशेषः कथं सम्यक्त्वं भवति ? । सम्यक्त्वं तु निर्विकारसदानंदैकलक्षणपरमात्मतत्त्वादिश्रद्धानरूपो मोक्षबीजहेतुर्भव्यजीवपरिणाम इति । परिहारमाह—सम्यक्त्वप्रकृतिस्तु कर्मविशेषो भवति तथापि यथा निर्विषीकृतं विषं मरणं न करोति तथा शुद्धात्माभिमुखपरिणामेन मंत्रस्थानीयविशुद्धिविशेषमात्रेण विनाशितमिथ्यात्वशक्तिः सन् क्षायोपशमिकादिलब्धिपंचकजनितप्रथमौपशमिकसम्यक्त्वानंतरोत्पन्नवेदकसम्यक्त्वस्वभावं तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं जीवपरिणामं न हंति तेन कारणेनोपचारेण सम्यक्त्वहेतुत्वात्कर्मविशेषोऽपि सम्यक्त्वं भण्यते स च तीर्थंकरनामकर्मवत् परंपरया मुक्तिकारणं भवतीति नास्ति विरोधः । **अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं** अथवा पूर्वदूषणभयादेष प्रत्यक्षीभूतो जीवः, द्रव्यकर्मरूपस्य पुद्गलद्रव्यस्य शुद्धात्मतत्त्वादिषु विपरीताभिनिवेशजनकं भावमिथ्यात्वं करोति, न पुनः स्वयं भावमिथ्यात्वरूपेण परिणमति इति मतं **तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो** तर्ह्येकांतेन पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीवः । कर्मबंधः तस्यैव, संसारोऽपि तस्यैव, न च जीवस्य । स च प्रत्यक्षविरोध इति । **अह जीवो पयडी विय पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं** अथ पूर्वदूषणभयाज्जीवः प्रकृतिरपि पुद्गलद्रव्यं कर्मतापन्नं भावमिथ्यात्वं कुरुत इति मत **तम्हा दोवि कदत्तं** तस्मात्कारणाज्जीवपुद्गलाभ्यामुपादानकारणभूताभ्यां कृतं तन्मिथ्यात्वं । **दुण्णिवि भुंजंति तस्स फलं** तर्हि द्वौ जीवपुद्गलौ तस्य फलं भुंजाते ततश्चाचेतनायाः प्रकृतेरपि भोक्तृत्वं प्राप्तं स च प्रत्यक्षविरोध इति । **अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं**

भावार्थ—चेतनकर्म चेतन के ही हो सकता है; पुद्गल के चेतन कर्म कैसे होगा ॥२०३॥

आगे जो कोई भावकर्म का भी कर्ता कर्म को ही मानते है उनको समझाने के लिये स्याद्वाद से वस्तु की मर्यादा कहते हैं उसकी सूचना का काव्य यह है—**कर्मैव** इत्यादि । **अर्थ**—कोई आत्मघातक (सर्वथा एकान्तवादी) कर्म को ही कर्ता विचार कर और आत्मा के कर्तृत्व को उड़ाकर 'यह आत्मा कथंचित् करता है' ऐसी कहने वाली जिन-भगवान की निर्बाध श्रुतरूप वाणी को कुपित करते हैं—विराधना करते हैं । ऐसे आत्मघातकों की बुद्धि तीव्र मोह से मुदित हो गई है । उनके ज्ञान की संशुद्धि के लिए स्याद्वाद से निर्बाधित वस्तुस्थिति कही जाती है ।

भावार्थ—कोई वादी सर्वथा एकांत से कर्म का कर्ता कर्म को ही कहते हैं और आत्मा को अकर्ता कहते हैं, वे आत्मा के स्वरूप के घातक हैं । जिनवाणी स्याद्वाद द्वारा वस्तु को निर्बाध कहती है । वह वाणी आत्मा को कथंचित् कर्ता कहती है सो उन सर्वथा एकांतियों पर वाणी का कोप है । उनकी बुद्धि मिथ्यात्व से ढक रही है । उनके मिथ्यात्व के दूर करने को आचार्य कहते हैं कि स्याद्वाद से जैसी वस्तु की सिद्धि होती है वैसे कहते हैं ॥२०४॥

कम्मेहिं दु अण्णाणी किज्जइ णाणी तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहिं सुवाविज्जइ जग्गाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ॥३३२॥
कम्मेहिं सुहाविज्जइ दुक्खाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहिं य मिच्छत्तं णिज्जइ णिज्जइ असंजमं चेव ॥३३३॥
कम्मेहिं भमाडिज्जइ उड्ढमहो चावि तिरियलोयं य ।
कम्मेहिं चेव किज्जइ सुहासुहं जित्तियं किंचि ॥३३४॥
जह्मा कम्मं कुव्वइ कम्मं देई हरत्ति जं किंचि ।
तह्मा उ सव्वजीवा अकारया हुंति आवण्णा ॥३३५॥

अथ मतं न प्रकृतिः करोति न च जीव एव एकांतेन । किं ? पुद्गलद्रव्यं कर्मतापन्नं । कथंभूतं । न करोति ? मिथ्यात्वं भावमिथ्यात्वरूपं। **तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा** तर्हि यदुक्तं पूर्वसूत्रे **अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं** तद्वचनं तु पुनः हु स्फुटं । किं मिथ्या न भवति ? अपि तु भवत्येव । किं च यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शुद्धोजीवस्तथापि पर्यायार्थिकनयेन कथंचित्परिणामित्वे सत्यनादिकर्मोदयवशाद्रागाद्युपाधिपरिणामं गृह्णाति स्फटिकवत् । यदि पुनरेकांतेनापरिणामी भवति तदोपाधिपरिणामो न घटते । जपापुष्पोपाधिपरिणमनशक्तौ सत्यां स्फटिके जपापुष्पमुपाधि जनयति न च काष्ठादौ । कस्मादिति चेत्, तदुपाधिपरिणमनशक्त्यभावात् इति । एवं यदि द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृतिः कर्त्री एकांतेन यदि भावमिथ्यात्वं करोति तदा जीवो भावमिथ्यात्वस्य कर्ता न भवति । भावमिथ्यात्वाभावे कर्मणो बंधाभावः ततश्च संसाराभावः स च प्रत्यक्षविरोधः । इत्यादि व्याख्यानरूपेण तृतीयस्थले गाथापंचकं गतं ॥३२८।३२९।३३०।३३१॥ अथ ज्ञानाज्ञानसुखदुःखादिकर्मैकांतेन कर्मैव करोति न चात्मेति सांख्यमतानुसारिणो वदंति तान्प्रति पुनरपि नयविभागेनात्मनः कथंचित्कर्तृत्वं व्यवस्थापयति— तत्र त्रयोदशगाथासु मध्ये कर्मैवैकांतेन कर्तृ भवति इति कथनमुख्यत्वेन **कम्मेहिं दु अण्णाणी** इत्यादि सूत्रचतुष्टयं । ततः परं सांख्यमतेप्येवं भणितमास्ते—इति संवाददर्शनार्थं ब्रह्मचर्यस्थापन मुख्यत्वेन **पुरुसित्थियाहिलासी** इत्यादि गाथाद्वयं । अहिंसास्थापनमुख्यत्वेन **जह्मा घादेदि परं** इत्यादि गाथाद्वयं । प्रकृतेरेव

[कर्मभिस्तु] जीव कर्मों से **[अज्ञानी]** अज्ञानी **[क्रियते]** किया जाता है **[तथैव]** उसी प्रकार जीव **[कर्मभिः]** कर्मों से **[ज्ञानी]** ज्ञानी होता है जीव **[कर्मभिः]** कर्मों से **[स्वाप्यते]** सुलाया जाता है **[तथैव]** उसी प्रकार जीव **[कर्मभिः]** कर्मों से ही **[जागर्यते]** जगाया जाता है **[कर्मभिः सुखी क्रियते]** कर्मों से सुखी किया जाता है **[तथैव]** उसी प्रकार जीव **[कर्मभिः दुःखी क्रियते]** कर्मों से दुखी किया जाता है **[च]** और जीव **[कर्मभिः मिथ्यात्वं नीयते]** कर्मों से मिथ्यात्व को प्राप्त कराया जाता है **[चैव]** तथा **[असंयमं नीयते]** असंयम को प्राप्त कराया जाता है **[कर्मभिः ऊर्ध्वं चापि अधः च तिर्यग्लोकं भ्राम्यते]** जीव कर्मों से ऊर्ध्वलोक तथा अधोलोक और तिर्यग्लोक में भ्रमाया जाता है **[च कर्मभिः एव]**

पुरिसित्थियाहिलासी इत्थीकम्मं च पुरिसमहिलसइ ।
एसा आयरियपरंपरागया एरिसी दु सुई ॥ ३३६ ॥
तह्मा ण कोवि जीवो अवंभचारी उ अह्म उवएसे ।
जह्मा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसइ इदि भणियं ॥ ३३७ ॥
जह्मा घाएइ परं परेण घाइज्जए य सा पयडी ।
एएणच्छेण किर भण्णइ परघायणामित्ति ॥ ३३८ ॥
तह्मा ण कोवि जीवो वघायओ अत्थि अह्म उवदेसे ।
जह्मा कम्मं चेव हि कम्मं घाएदि इदि भणियं ॥ ३३९ ॥

कर्तृत्वं न चात्मन इत्येकांतनिराकरणार्थं तस्यैव गाथाचतुष्टयस्यैव दूषणोपसंहाररूपेण **एवं संखुवदेसं** इत्यादि गाथैका इति सूत्रपंचकसमुदायेन द्वितीयमंतरस्थलं । तदनंतरं आत्मा कर्म न करोति कर्मजनितभावांश्च किंत्वात्मानं करोतीत्येकगाथायां पूर्वपक्षो गाथात्रयेण परिहार इति समुदायेन **अहवा मण्णसि मज्झं** इत्यादि सूत्रचतुष्टयं । एवं चतुरंतराधिकारे स्थलत्रयेण समुदायपातनिका;—कर्मभिरज्ञानी क्रियते जीव एकांतेन तथैव च ज्ञानी क्रियते कर्मभिः । स्वापं निद्रां नीयते जागरणं तथैवेति प्रथमगाथा गता । कर्मभिः सुखीक्रियते दुःखीक्रियते तथैव च कर्मभिः । कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते तथैवासंयमं चैवैकांतेन द्वितीयगाथा गता । कर्मभिश्चैवोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकं च भ्राम्यते कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यदन्यदपि किंचिदिति तृतीयगाथा गता । यस्मादेवं भणितः कर्मैव करोति कर्मैव ददाति कर्मैव हरति यत्किंचिच्छुभाशुभं तस्मादेकांतेन सर्वे जीवा अकारकाः प्राप्ताः, ततश्च कर्माभावः कर्माभावे संसाराभावः स च प्रत्यक्षविरोधः—इति कर्मैकांतकर्तृत्वदूषणमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं गतं । कर्मैव करोत्येकांतेनेति पूर्वोक्तमर्थं श्रीकुंदकुंदाचार्यदेवाः सांख्यमतसंवादं दर्शयित्वा पुनरपि समर्थयंति । वयं ब्रूमो द्वेषेणैवं न । भवदीयमतेऽपि भणितमास्ते पुंवेदाख्यं कर्म कर्तृ स्त्रीवेदकर्माभिलाषं करोति, स्त्रीवेदाख्यं कर्म पुंवेदकर्माभिलषत्येकांतेन, न च जीवः । एवमाचार्यपरंपरायाः समागता श्रुतिरीदृशी । श्रुतिः कोऽर्थः ?

और कर्मों से ही [**यत्किंचित् यावत् शुभाशुभं क्रियते**] जो कुछ शुभ अशुभ है वह किया जाता है । [**यस्मात्**] क्योंकि [**कर्म करोति**] कर्म ही करता है [**कर्म ददाति**] कर्म ही देता है [**यत् किंचित् हरति इति**] कर्म ही हरता है जो कुछ करता है वह कर्म ही करता है [**तस्मात्**] इसलिये [**सर्वजीवाः**] सभी जीव [**अकारका आपन्नाः भवंति**] अकर्ता सिद्ध होते हैं । कर्ता नहीं है । [**एषा आचार्यपरंपरागता ईदृशी तु श्रुतिः**] यह आचार्यों की परिपाटी से आई हुई श्रुति है कि [**पुरुषः**] पुरुषवेदकर्म तो [**स्त्र्यभिलाषी**] स्त्री का अभिलाषी है [**च**] और [**स्त्रीकर्म**] स्त्रीवेदकर्म [**पुरुषं अभिलषति**] पुरुष को चाहता है। [**तस्मात्**] इसलिये [**कोपि जीवः**] कोई भी जीव [**अब्रह्मचारी न**] अब्रह्मचारी नहीं है [**अस्माकं तु उपदेशे**] हमारे उपदेश में तो ऐसा है [**यस्मात्**] कि [**कर्म चैव हि**] कर्म ही [**कर्म अभिलषति इति**] कर्म को चाहता है [**इति भणितं**] ऐसा कहा है ।

एवं संखुवएसं जे उ परूविंति एरिसं समणा ।
तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पा य अकारया सव्वे ।। ३४० ।।
अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणई ।
एसो मिच्छसहावो तुम्हं एयं मुणंतस्स ।। ३४१ ।।
अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिओ उ समयम्हि ।
णवि सो सक्कइ तत्तो हीणो अहियो य काउं जे ।। ३४२ ।।

आगमो भवतां सांख्यानामिति प्रथमगाथा गता । तथा सति किं दूषणं चेति ? एवं न कोपि जीवोऽस्त्यब्रह्मचारी युष्माकमुपदेशे किंतु यथा शुद्धनिश्चयेन सर्वे जीवा ब्रह्मचारिणो भवंति तथैकांतेनाशुद्धनिश्चयेनापि ब्रह्मचारिण एव यस्मात्पुवेदाख्यं कर्म स्त्रीवेदाख्यं कर्माभिलषति न च जीव इत्युक्तं पूर्वं स च प्रत्यक्षविरोधः । इत्यब्रह्मकथनरूपेण गाथाद्वयं गतं । यस्मात्कारणात् परं कर्मस्वरूपं प्रकृतिः कर्त्री हंति परेण कर्मणा सा प्रकृतिरपि हन्यते न च जीव. । एतेनार्थेन किल जैनमते परघातनामकर्मेति भण्यते । परं किंतु जैनमते जीवो हिंसाभावेन परिणमति परघातनाम सहकारिकारणं भवति इति नास्ति विरोध इति प्रथमगाथा गता । तस्मात्किं दूषणं ? शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन तावदपरिणामी हिंसापरिणामरहितो जीवो जैनागमे कथितः, कथं ? इति चेत्, **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** इति वचनात्, व्यवहारेण तु परिणामीति । भवदीयमते पुनर्यथा शुद्धनयेन चाशुद्धनयेनाप्युपघातको हिंसकः कोऽपि नास्ति । कस्मात् ? इति चेत्, यस्मादेकांतेन कर्मं चैव हि स्फुटमन्यत् कर्मं हंति, न चात्मेति पूर्वसूत्रे भणितमिति । एव हिंसाविचारमुख्यत्वेन गाथाद्वयं गतं । **एवं संखुवदेसं जे दु परूविंति एरिसंसमणा** एवं पूर्वोक्तं सांख्योपदेशमीदृशमेकांतरूपं ये केचन परमागमोक्तं नयविभागमजानंतः **समणा** श्रमणाभासाः द्रव्यलिंगिनः प्ररूपयंति कथयंति । **तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पाय अकारया सव्वे** तेषां मतेनैकांतेन प्रकृतिः कर्त्री भवति । आत्मानश्च पुनरकारकाः सर्वे ।

[यस्मात्] जिस कारण **[परं]** दूसरे को **[हंति]** मारता है **[च]** और **[परेण हन्यते]** परके द्वारा मारा जाता है **[सा प्रकृतिः]** वह प्रकृति ही है **[एतेन अर्थेन भण्यते]** इसी अर्थ को लेकर कहते हैं कि **[परघात नाम इति]** यह परघात नामा प्रकृति है **[तस्मात्]** इसलिये **[अस्माकं उपदेशे]** हमारे उपदेश में **[कोपि जीवः]** कोई भी जीव **[उपघातको नास्ति]** उपघात करने वाला नहीं है **[यस्मात्]** क्योंकि **[कर्म चैव हि]** कर्म ही **[कर्म हंतीति भणितं]** कर्म को घातता है ऐसा कहा है **[एवं तु]** इस तरह **[ये श्रमणाः]** जो कोई यति **[ईदृशं सांख्योपदेशं प्ररूपयंति]** ऐसा सांख्यमत का उपदेश निरूपण करते हैं **[तेषां]** उनके मत में **[प्रकृतिः]** प्रकृति ही **[करोति]** करती है **[च सर्वे आत्मानः]** और आत्मा सब **[अकारकाः]** अकारक ही हैं ऐसा हुआ । **[अथवा]** आचार्य कहते हैं जो, आत्मा के कर्तापने का पक्षसाधने को **[मन्यसे]** तू ऐसा मानेगा कि **[मम आत्मा]** मेरा आत्मा **[आत्मनः]** अपने **[आत्मानं]** आत्मा को **[करोति]** करता है, ऐसा कर्तापन का पक्ष मानो तो **[तज्जानतः]** ऐसे जानने का **[तवैष]** तेरा **[एषः]**

जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमित्तं खु ।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कहं कुणइ दव्वं ।। ३४३ ।।
अह जाणओ उ भावो णाणसहावेण अत्थिइत्ति मयं ।
तह्मा णवि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणइ ।।३४४।। (त्रयोदशकं)

कर्मभिस्तु अज्ञानी क्रियते ज्ञानी तथैव कर्मभिः ।
कर्मभिः स्वाप्यते जागर्यते तथैव कर्मभिः ।। ३३२ ।।

ततश्च कर्तृत्वाभावे कर्माभावः कर्माभावे संसाराभावः । ततो मोक्षप्रसगः । स च प्रत्यक्षविरोध इति । जैनमते पुनः परस्परसापेक्षनिश्चयव्यवहारनयद्वयेन सर्व घटत इति नास्ति दोषः । एवं साख्यमतसंवादं दर्शयित्वा जीवस्यैकांतेनाकर्तृत्वदूषणद्वारेण सूत्रपंचकं गतं। **अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणम-प्पणो कुणदि** हे साख्य ! अथवा मन्यसे त्व पूर्वोक्ताकर्तृत्वदूषणभयान्मदीयमते जीवो ज्ञानी, ज्ञानित्वे च कर्मकर्तृत्वं न घटते यतः कारणादज्ञानिनां कर्मबंधो भवति । किंत्वात्मा कर्त्ता आत्मानं कर्मतापन्नं आत्मना करणभूतेन करोति ततः कारणादकर्तृत्वे दूषणं न भवति ? इति चेत् **एसो मिच्छसहावो तुम्हं एवं मुणंतस्स** अयमपि मिथ्यास्वभाव एवं मन्यमानस्य तव इति पूर्वपक्षगाथा गता । अथ सूत्रत्रयेण परिहारमाह । कस्मान्मिथ्यास्वभावः ? इति चेत्, **जे** यस्मात् कारणात् **अप्पा णिच्चा संखेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्मि** आत्मा द्रव्यार्थिकनयेन नित्यस्तथा चासंख्यात-प्रदेशो देशितः समये परमागमे तस्यात्मनः शुद्धचैतन्यान्वयलक्षणद्रव्यत्वं तथैवासंख्यातप्रदेशत्वं च पूर्वमेव तिष्ठति **णवि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहियो व कादुं जे** तद्द्रव्यं प्रदेशत्वं च तत्प्रमाणादधिकं हीनं वा कर्तुं नायाति-इति हेतोरात्मा आत्मानं करोतीति वचनं मिथ्येति । अथ मतं असंख्यातमानं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन बहुभेदं तिष्ठति तेन कारणेन जघन्यमध्यमोत्कृष्टरूपेणासख्यातप्रदेशत्वं जीवः करोति, तदपि न घटते यस्मात्कारणात् **जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमित्तं हि** जीवस्य जीवरूपं प्रदेशापेक्षया विस्तरतो महामत्स्यकाले लाकपूरणकाले वा अथवा जघन्यतः सूक्ष्मनिगोदकाले नानाप्रकारमध्यमावगाहशरीरग्रहणकाले वा प्रदीपवद्विस्तारोपसंहारवशेन लोकमात्रप्रदेशमेव जानीहि हि स्फुटं **तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कदं भणसि दव्वं** तस्माल्लोकमात्रप्रदेशप्रमाणात्स जीवः किं हीनोऽधिको वा कृतो येन त्वं भणसि आत्मद्रव्यं कृतं किंतु नैवेति । **अह जाणगो दु भावो णाणसहावेण अत्थि-देदि मदं** अथ हे शिष्य ! ज्ञायको भावः पदार्थः आत्मा ज्ञानरूपेण पूर्वमेवास्तीति मतं । **सम्मत्तमेव तह्मा णवि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि** यस्मान्निर्मलानदैकज्ञानस्वभावशुद्धात्मा पूर्वमेवास्ति तस्मादात्मा कर्ता

यह **[मिथ्यास्वभावः तु]** मिथ्या स्वभाव है; क्योंकि **[आत्मा]** आत्मा **[नित्यः]** नित्य **[असंख्येयप्रदेशः]** असंख्यातप्रदेशी **[समये]** सिद्धान्त में **[दर्शितः]** कहा है **[ततः]** उससे **[यत् सः]** जो वह **[हीनः च अधिकः कर्तुं]** हीन या अधिक करने को **[नापि शक्यते]** कोई समर्थ नहीं हो सकते । **[जीवस्य]** जीव का **[जीवरूपं]** जीवरूप **[विस्तरतः]** विस्तार अपेक्षा **[खलु]** निश्चय से **[लोकमात्रं]** लोकमात्र

कर्मभिः सुखीक्रियते दुःखीक्रियते तथैव कर्मभिः।
कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते नीयतेऽसंयमं चैव ॥ ३३३ ॥

कर्मभिर्भ्राम्यते ऊर्ध्वमधश्चापि तिर्यग्लोकं च।
कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यावत्किंचित् ॥ ३३४ ॥

यस्मात् कर्म करोति कर्म ददाति कर्म हरतीति यत्किंचित्।
तस्मात्तु सर्वजीवा अकारका भवंत्यापन्नाः ॥ ३३५ ॥

पुरुषः स्त्र्यभिलाषी स्त्रीकर्म च पुरुषमभिलषति।
एषाचार्यपरंपरागतेदृशी तु श्रुतिः ॥ ३३६ ॥

तस्मान्न कोऽपि जीवोऽब्रह्मचारी त्वस्माकमुपदेशे।
यस्मात्कर्म चैव हि कर्माभिलषतीति भणितं ॥३३७॥

यस्माद्धंति परं परेण हन्यते च सा प्रकृतिः।
एतेनार्थेन किल भण्यते परघातनामेति ॥३३८॥

तस्मान्न कोऽपि जीव उपघातकोऽस्त्यस्माकमुपदेशे।
यस्मात्कर्म चैव हि कर्म हंतीति भणितं ॥३३९॥

एवं सांख्योपदेशं ये तु प्ररूपयंतीदृशं श्रमणाः।
तेषां प्रकृतिः करोत्यात्मानश्चाकारकाः सर्वे ॥३४०॥

अथवा मन्यसे ममात्मात्मानमात्मनः करोति।
एष मिथ्यास्वभावस्तवैतज्जानतः ॥३४१॥

आत्मा नित्योऽसंख्येयप्रदेशो दर्शितस्तु समये।
नापि स शक्यते ततो हीनोऽधिकश्च कर्तुं यत् ॥३४२॥

आत्मानं कर्मतापन्नं स्वयमेवात्मना कृत्वा नैव करोतीत्येकं दूषणं। द्वितीयं च निर्विकारपरमतत्त्वज्ञानी तु कर्ता न भवतीति पूर्वमेव भणितमास्ते। एवं पूर्वपक्षपरिहाररूपेण तृतीयांतरस्थले गाथाचतुष्टयं गतं। कश्चिदाह जीवात्प्राणा भिन्ना अभिन्ना वा ? यद्यभिन्नास्तदा यथा जीवस्य विनाशो नास्ति तथा प्राणानामपि विनाशो नास्ति कथं हिंसा ? अथ भिन्नास्तर्हि जीवस्य प्राणघातेऽपि किमायातं ? तत्रापि हिंसा नास्तीति। तन्न, कायादिप्राणैः सह कथंचिद्भेदा-

---

[जानीहि] जानो [सः द्रव्यं] ऐसा जीवद्रव्य [ततः] उस परिमाण से [किं] क्या [हीनोऽधिकः वा] हीन तथा अधिक [कथं करोति] कैसे कर सकता है ? [अथ] अथवा [इति मतं] ऐसा मानिये जो [ज्ञायकः तु भावः] ज्ञायक भाव [ज्ञानस्वभावेन] ज्ञान स्वभाव से [तिष्ठति] तिष्ठता है [तु] तो

जीवस्य जीवरूपं विस्तरतो जानीहि लोकमात्रं खलु ।
ततः स किं हीनोऽधिको वा कथं करोति द्रव्यं ॥३४३॥
अथ ज्ञायकस्तु भावो ज्ञानस्वभावेन तिष्ठतीति मतं ।
तस्मान्नाप्यात्मात्मानं तु स्वयमात्मनः करोति ॥३४४॥

कर्मैवात्मानमज्ञानिनं करोति ज्ञानावरणाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव ज्ञानिनं करोति ज्ञानावरणाख्यकर्मक्षयोपशममंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव स्वापयति निद्राख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव जागरयति निद्राख्यकर्मक्षयोपशममंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव सुखयति सद्वेदाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव दुःखयति असद्वेदाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव मिथ्यादृष्टिं करोति मिथ्यात्वकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैवासंयतं करोति चारित्रमोहाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैवोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकं भ्रमयति आनुपूर्व्याख्यकर्मोदयमंत-

---

भेदः । कथं ? इति चेत्, तप्तायः पिंडवद्वर्तमानकाले पृथक्त्वं कर्तुं नायाति तेन कारणेन व्यवहारेणाभेदः। निश्चयेन पुनर्मरणकाले कायादिप्राणा जीवेन सहैव न गच्छंति तेन कारणेन भेदः । यद्येकांतेन भेदो भवति तर्हि यथा परकीये काये

[तस्मात्] उसी हेतु से ऐसा हुआ कि [आत्मा] आत्मा [आत्मनः आत्मानं] अपने आपको [स्वयं नापि करोति] स्वयमेव नहीं करता ।

इसलिए कर्तापन साधने को विवक्षा पलटकर पक्ष कहा था सो नहीं बना । यदि कर्म का कर्ता कर्म को ही मानें तो स्याद्वाद से विरोध ही आयेगा; इसलिए कथंचित् अज्ञान अवस्था में अपने अज्ञान भावरूप कर्म का कर्ता मानने में स्याद्वाद से विरोध नहीं है ।

टीका—यहां पूर्व पक्ष ऐसा है कि कर्म ही आत्मा को अज्ञानी करता है; क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के उदय बिना उस अज्ञान की अप्राप्ति है । कर्म ही आत्मा को ज्ञानी करता है, क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के बिना ज्ञान की अप्राप्ति है । कर्म ही आत्मा को सुलाता है, क्योंकि निद्रानाम कर्म के उदय बिना निद्रा की अप्राप्ति है । कर्म ही आत्मा को जगाता है; क्योंकि निद्रानामकर्म के क्षयोपशम के बिना जगाने की अप्राप्ति है । कर्म ही आत्मा को सुखी करता है, क्योंकि सातावेदनीय नामकर्म के उदय के बिना सुख की अप्राप्ति है । कर्म ही आत्मा को दुःखी करता है क्योंकि असातावेदनीय नामकर्म के उदय के बिना दुःख की अप्राप्ति है । कर्म ही आत्मा को मिथ्यादृष्टि करता है, क्योंकि मिथ्यात्व कर्म के उदय के बिना मिथ्यात्व की अप्राप्ति है । कर्म ही आत्मा को असंयमी करता है, क्योंकि चारित्रमोह नामकर्म के उदय के बिना असंयम की अप्राप्ति है । कर्म ही आत्मा को ऊर्ध्वलोक में, अधोलोक में और तिर्यंचलोक में भ्रमाता है, क्योंकि आनुपूर्वीनामकर्म के उदय के बिना भ्रमण की अप्राप्ति है । अन्य जो भी कुछ शुभ अशुभ हैं, उन सबको कर्म ही करता है; क्योंकि प्रशस्त अप्रशस्त रागनाम कर्म के उदय बिना उस शुभ अशुभ की अप्राप्ति है । इस प्रकार सब ही को स्वतन्त्र हो के

रेण तदनुपपत्तेः। अपरमपि यद्यावत्किंचिच्छुभाशुभमेदं तत्तावत्सकलमपि कर्मैव करोति प्रशस्ताप्रशस्तरागाख्यकर्मोदयमंतरेण तदनुपपत्तेः। यत एवं समस्तमपि स्वतंत्रं कर्म करोति कर्म ददाति कर्म हरति च ततः सर्व एव जीवाः नित्यमेवैकांतेनाकर्तार एवेति निश्चिनुमः। किंच—श्रुतिरप्येनमर्थमाह, पुंवेदाख्यं कर्म स्त्रियमभिलषति स्त्रीवेदाख्यं कर्म पुमांसमभिलषति इति वाक्येन कर्मण एव कर्माभिलाषकर्तृत्वसमर्थनेन जीवस्याब्रह्मकर्तृत्वासमर्थनेन च जीवस्याब्रह्मकर्तृत्व प्रतिषेधात्। तथा यत्परं हंति, येन च परेण हन्यते तत्परघातकर्मेति वाक्येन कर्मण एव कर्मघातकर्तृत्वसमर्थनेन जीवस्य घातकर्तृत्वप्रतिषेधाच्च सर्वथैवाकर्तृत्वज्ञापनात्। एवमीदृशं सांख्यसमयं स्वप्रज्ञापराधेन सूत्रार्थमबुध्यमानाः केचिच्छ्रमणाभासाः प्ररूपयंति तेषां प्रकृतेरेकांतेन कर्तृत्वाभ्युपगमेन सर्वेषामेव जीवानामेकांतेनाकर्तृत्वापत्तेः—जीवः कर्तेति श्रुतेः कोपो दुःशक्यः परिहर्तुं। यस्तु कर्म आत्मनोऽज्ञानादिसर्वभावान् पर्यायरूपान् करोति आत्मा त्वात्मानमेवैकं द्रव्यरूपं करोति ततो जीवः कर्तेति श्रुतिकोपो न भवतीत्यभिप्रायः स मिथ्यैव। जीवो हि द्रव्यरूपेण तावन्नित्योऽसंख्येयप्रदेशो लोकपरिमाणश्च। तत्र न तावन्नित्यस्य कार्यत्वमुपपन्नं कृतकत्वनित्यत्वयोरेकत्वविरोधात्। न

छिद्यमाने भिद्यमानेऽपि दुःखं न भवति तथा स्वकीयकायेऽपि दुःखं न प्राप्नोति। न च तथा, प्रत्यक्षविरोधात्। ननु तथापि व्यवहारेण हिंसा जाता न तु निश्चयेनेति ? सत्यमुक्तं भवता व्यवहारेण हिंसां तथा पापमपि नारकादिदुःखमपि व्यवहारेणेत्यस्माकं सम्मतमेव। तन्नारकादि दुःखं भवतामिष्टं चेत्तर्हि हिंसां कुरुत। भीतिरस्ति ? इति चेत् तर्हि

कर्म करता है, कर्म ही हरता है, इसलिये हम ऐसा निश्चय करते हैं कि सभी जीव नित्य एकांत से अकर्ता ही हैं। विशेष कहते हैं—शास्त्र भी इसी अभिप्राय का समर्थन करता है। अर्थात् पुंवेदकर्म स्त्री की और स्त्रीवेदकर्म पुरुष की अभिलाषा करता है, इस वाक्य से अभिलाषा रूप कर्म का कर्त्ता कर्म ही सिद्ध होता है यहां जीवकृत अब्रह्म का समर्थन न होने से जीव को अब्रह्म का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार 'जो दूसरे को मारे और दूसरे से मारा जाय' इस 'परघात' कर्म की व्याख्या के अनुसार घात कर्म का कर्ता कर्म (परघात) ही सिद्ध होता है जीव नहीं, क्योंकि उसका निषेध होने से उसके सर्वथा अकर्तृत्व का ही समर्थन होता है।

इस प्रकार कुछ श्रमणाभास अपने बुद्धि दोष से आगम के अभिप्राय को बिना ही समझे सांख्यमत का अनुसरण करते हैं। उनके इस तरह प्रकृति को एकान्ततः कर्ता मान लेने से सब ही जीव सर्वथा अकर्ता सिद्ध हो जाते हैं। तब 'जीव कर्ता है' आगम की इस विरुद्धता को वे कैसे दूर करेंगे ?

यदि कहा जाय कि 'कर्म आत्मा के पर्यायरूप अज्ञानादि भावों को करता है और आत्मा द्रव्यरूप केवल आत्मा को ही करता है इस तरह आत्मा की विरुद्धता न होगी, तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि जीव द्रव्यरूप से नित्य, असंख्यातप्रदेशी और लोक के बराबर है, अतः जो नित्य होता है वह कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि कर्तृत्व और नित्यत्व में परस्पर विरोध है।

चावस्थिताऽसंख्येयप्रदेशस्यैकस्य पुद्गलस्कंधस्येव प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षणद्वारेणापि तस्य कार्यत्वं प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षणे सति तस्यैकत्वव्याघातात् । न चापि सकललोकवास्तुविस्तारपरिमितनियतनिजाभोगसंग्रहस्य प्रदेशसंकोचनविकाशनद्वारेण तस्य कार्यत्वं, प्रदेशसंकोचविकाशयोरपि शुष्कार्द्रचर्मवत्प्रतिनियतनिजविस्ताराद्धीनाधिकस्य तस्य कर्तुमशक्यत्वात् । यस्तु वस्तुस्वभावस्य सर्वथापोढुमशक्यत्वात् ज्ञायको भावो ज्ञानस्वभावेन सर्वदैव तिष्ठति, तथा तिष्ठंश्च ज्ञायककर्तृत्वयोरत्यंतविरुद्धत्वान्मिथ्यात्वादिभावानां न कर्ता भवति । भवंति च मिथ्यात्वादिभावाः ततस्तेषां कर्मैव कर्तृ प्ररूप्यत इति वासनोन्मेषः स तु नितरामात्माऽऽत्मानं करोतीत्यभ्युपगममुपहंत्येव ततो ज्ञायकस्य भावस्य सामान्यापेक्षया ज्ञानस्वभावावस्थितत्वेऽपि कर्मजानां मिथ्यात्वादिभावानां

त्यज्यतामिति । ततः स्थितमेतत्, एकांतेन सांख्यमतवदकर्ता न भवति किं तर्हि रागादिविकल्परहितसमाधिलक्षणभेदज्ञानकाले

यह कहना भी ठीक नहीं है कि अवस्थित और असंख्यात प्रदेशी आत्मा के—पुद्गल स्कंध की तरह—प्रदेशों के बिछुड़ने मिलने से कार्यत्व सिद्ध हो जायगा क्योंकि बिछुड़ने मिलने से उसमें एकत्व नहीं रह सकता।

'सम्पूर्ण लोक भवन के बराबर विस्तार वाली आत्मा जब अपने नियत (छोटे बड़े) शरीरों को धारण करती है तब आत्मप्रदेशों में संकोच विस्तार होने के कारण उसमें कार्यत्व सिद्ध हो जायगा' यह कथन भी ठीक नहीं है—क्योंकि संकोच विस्तार होने पर भी सूखी गीली अवस्था में अपने ही परिमाण के अन्दर रहने वाले चमड़े की तरह आत्मा को अपने निश्चित विस्तार से हीनाधिक नहीं किया जा सकता।

चूंकि वस्तुस्वभाव को मिटाया नहीं जा सकता इसलिए आत्मा का ज्ञायक भाव सदा ज्ञान स्वभाव से ही रहता है। और जब वह ज्ञान स्वभाव से रहता है तब ज्ञायकता और कर्तृता दोनों में परस्पर विरोध होने से—वह मिथ्यात्वादि भावों का कर्ता नहीं हो सकता परन्तु मिथ्यात्वादि भाव होते अवश्य हैं इसलिये उनका कर्ता कर्म होना चाहिए। ऐसा कथन केवल संस्कार के आधीन होकर ही किया जा सकता है। इससे तो 'आत्मा आत्मा को ही करती है' इस मान्यता का पूर्णतया खण्डन ही होता है।

इसलिए सामान्य की अपेक्षा से ज्ञान स्वभाव में स्थित होकर भी ज्ञायक भाव जब कर्मों से उत्पन्न मिथ्यात्वादि भावों का ज्ञान करता है तब अनादि काल से ज्ञेय ज्ञान का भेद समझने के कारण परपदार्थ को अपना मानने लगता है इस विशेष की अपेक्षा से अज्ञानमयी परिणामों के करने के कारण उसका कर्ता मानना चाहिए। वह भी तब तक, जब तक कि इसे प्रकट भेद ज्ञान की पूर्णता न हो, पूर्णता हो जाने पर जब वह आत्मा को ही आत्मा जानने लगता है, तब इस विशेष की अपेक्षा से ज्ञानमयी ज्ञान परिणामों से—परिणमन करता है, उस समय मात्र ज्ञाता होने से वह साक्षात् अकर्ता रहता है।

ज्ञानसमयेऽनादिज्ञेयज्ञानभेदविज्ञानशून्यत्वात् परमात्मेति जानतो विशेषापेक्षया त्वज्ञानरूपस्य ज्ञान-परिणामस्य करणात्कर्तृत्वमनुमंतव्यं तावद्यावत्तदादिज्ञेयज्ञानभेदविज्ञानपूर्णत्वादात्मानमेवात्मेति जानतो विशेषापेक्षयापि ज्ञानरूपेणैव ज्ञानपरिणामेन परिणममानस्य केवलं ज्ञातृत्वात्साक्षादकर्तृत्वं स्यात् ॥३३२-३४४॥

कर्मणः कर्ता न भवति शेषकाले कर्तेति व्याख्यानमुख्यतयांतरस्थलत्रयेण चतुर्थस्थले त्रयोदश सूत्राणि गतानि ॥३३२। ३४४॥ अथ द्रव्यार्थिकनयेन य एव कर्म करोति स एव भुंक्ते । पर्यायार्थिकनयेन पुनरन्यः करोत्यन्यो भुंक्ते इति च योऽसौमन्यते स सम्यग्दृष्टिर्भवति । इति प्रतिपादयति—**केहिचिदु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिचिदु जीवो** कैश्चित्पर्यायैः पर्यायार्थिकनयविभागैर्देवमनुष्यादिरूपैर्विनश्यति जीवः। न नश्यति कैश्चिद्द्रव्यार्थिकनयविभागैः

भावार्थ—कितने ही जैन मुनि भी स्याद्वादवाणी को अच्छे प्रकार न समझने के कारण सर्वथा एकांत का अभिप्राय करते हैं, और विवक्षा को बदलकर यह कहते हैं कि 'आत्मा तो भावकर्म का अकर्ता ही है' कर्म प्रकृति का उदय ही भावकर्म को करता है। ज्ञान, अज्ञान, सोना, जागना, सुख, दुःख, मिथ्यात्व, असंयम, चार गतियों में भ्रमण इन सब को, तथा जो कुछ भी शुभ-अशुभ भाव हैं, उन सब को कर्म ही करता है, जीव तो अकर्ता है। वे मुनि शास्त्र का भी ऐसा ही अर्थ करते हैं कि वेद के उदय से स्त्री पुरुष का विकार होता है और उपघात तथा परघात प्रकृति के उदय से परस्पर घात होता है। इस प्रकार जैसे सांख्य मतावलम्बी सब कुछ प्रकृति का ही कार्य मानते हैं और पुरुष को अकर्ता मानते हैं, उसी प्रकार अपनी बुद्धिदोष से इन मुनियों की भी इसी प्रकार एकांतिक मान्यता हुई, इसलिए जिनवाणी तो स्याद्वाद रूप है। अतः सर्वथा एकान्त को मानने वाले उन मुनियों पर जिनवाणी का कोप अवश्य होता है। जिनवाणी के कोप के भय से यदि वे विवक्षा को बदलकर ऐसा कहें कि 'भाव कर्म का करता कर्म है और अपने आत्मा का कर्ता आत्मा है'। इस प्रकार हम आत्मा को कथंचित् कर्ता कहते हैं, इसलिए वाणी की विराधना नहीं होती' तो उनका ऐसा कहना मिथ्या ही है। आत्मा द्रव्य से नित्य है, असंख्यात प्रदेशी है, लोक परिमाण है, इसलिए उसमें तो कुछ नवीन करना नही है, और जो भावकर्म रूप पर्याएं हैं उनका कर्ता तो वे मुनि कर्म को ही कहते हैं; इसलिए आत्मा तो अकर्ता ही रहा, तब फिर वाणी का कोप कैसे मिट गया। इसलिए आत्मा के कर्तृत्व और अकृर्तत्व की विवक्षा को यथार्थ मानना ही स्याद्वाद को 'यथार्थ मानना है' आत्मा के कर्तृत्व और अकर्तृत्व के संबंध में सत्यार्थ स्याद्वाद प्ररूपण इस प्रकार है।

आत्मा सामान्य अपेक्षा से तो ज्ञान स्वभाव में ही स्थित है, परंतु मिथ्यात्वादि भावों को जानते समय अनादिकाल से ज्ञेय और ज्ञान के भेद विज्ञान के अभाव के कारण ज्ञेयरूप मिथ्यात्वादि भावों को आत्मा के रूप में जानता है, इसलिए इस प्रकार विशेष अपेक्षा से अज्ञान रूप ज्ञान परिणाम को करने से कर्ता है, और जब भेदविज्ञान होने से आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता है, तब विशेष अपेक्षा से भी ज्ञानरूप परिणाम में ही परिणमित होता हुआ मात्र ज्ञाता रहने से साक्षात् अकर्ता है ॥३३२–३४४॥

माऽकर्तारममी स्पृशंतु पुरुषं सांख्या इवाप्याहर्ताः
कर्तारं कलयंतु तं किल सदा भेदावबोधादधः ।
ऊर्ध्वं[1] तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यंतु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परं ॥२०५॥
क्षणिकमिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदं ।
अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः
स्वयमयमभिषिंचंश्चिच्चमत्कार एव ॥२०६॥

जह्मा यस्मादेवं नित्यानित्यस्वभावं जीवरूपं **तह्मा** तस्मात्कारणात् **कुव्वदि सो वा** द्रव्यार्थिकनयेन स एव कर्म करोति । स एव कः ? इति चेत्, यो भुक्ते । **अण्णो वा** पर्यायार्थिकनयेन पुनरन्यो वा । **णेयंतो** न चैकांतोऽस्ति ।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**मां कर्तार** इत्यादि । **अर्थ**—अर्हंत के अनुयायी जैन भी आत्मा को, सांख्यमतियों की भांति (सर्वथा) अकर्ता मत मानो, भेदज्ञान होने से पूर्व उसे निरंतर कर्ता मानो और भेदज्ञान होने के पश्चात् उद्धत ज्ञानधाम (ज्ञानमंदिर) में निश्चित इस स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा को अकर्ता, अचल और एक परम ज्ञाता ही देखो ।

भावार्थ—सांख्यमती पुरुष को एकांत से अकर्ता, शुद्ध, उदासीन, चैतन्य मात्र मानते हैं । ऐसा मानने से पुरुष के संसार का अभाव आता है । प्रकृति को संसार माना जाय तो प्रकृति तो जड़ है, उसके सुखदुःख आदि का संवेदन नहीं है इसलिये किसका संसार ? इत्यादि दोष आते हैं । क्योंकि वस्तु का स्वरूप सर्वथा एकांत नहीं है इस कारण वे सांख्यमती मिथ्यादृष्टि हैं । उसी तरह जो जैनी भी ऐसा मानते हैं तो वे भी मिथ्यादृष्टि होते हैं । इसलिये आचार्य उपदेश करते हैं कि सांख्यमतियों की तरह जैनी आत्मा को सर्वथा अकर्ता मत मानो । जहां तक आप और पर का भेद विज्ञान न हो तबतक तो रागादिक अपने चेतनरूप भावकर्मों का कर्ता मानो, भेद विज्ञान हुए पश्चात् शुद्ध विज्ञानघन समस्त कर्तापन के अभाव से रहित एक ज्ञाता ही मानो । इस तरह एक ही आत्मा में कर्ता अकर्ता दोनों भाव विवक्षा के वश से सिद्ध होते हैं । यह स्याद्वाद मत जैनियों का है तथा वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है, कल्पना नहीं है । ऐसा मानने से पुरुष के संसार मोक्ष आदि की सिद्धि होती है सर्वथा एकांत मानने में सब निश्चय व्यवहार का लोप हो जाता है ऐसा जानना ॥२०५॥

आगे बौद्धमती क्षणिकवादी ऐसा मानते हैं कि कर्ता तो अन्य है और भोक्ता अन्य है, उनके सर्वथा एकांत मानने में दूषण दिखलाते हैं तथा स्याद्वाद से जिस तरह वस्तु स्वरूप कर्ता-भोक्तापन है उस तरह दिखलाते हैं । उसमें प्रथम ही उसकी सूचना का काव्य यह है—**क्षणिक** इत्यादि । **अर्थ**—एक बौद्धमती क्षणिकवादी तो आत्मतत्त्व की क्षणिक कल्पना करके अपने मनमें कर्ता भोक्ता में भेद मानते हैं । कर्ता

---

१. ऊर्ध्वं मिथ्यात्वरूपविभावपरिणामध्वंसानन्तरं—उद्धतमविलंबेन ज्ञेयग्राहि यद्बोधधाम ज्ञानतेजस्तत्र नियतं तत्परं ।

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यंतं वृत्तिमन्नाशकल्पनात् ।
अन्यः करोति भुंक्तेऽन्य इत्येकांतश्चकास्तु मा ॥२०७॥

'केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिचि दु जीवो ।
जह्मा तह्मा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥३४५॥
केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो ।
जह्मा तह्मा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥ ३४६ ॥
जो चेव कुणइ सोचिय ण वेयए जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥ ३४७ ॥
अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४८॥ (चतुष्कम्)

एवं कर्तृत्वमुख्यत्वेन प्रथमगाथा गता । **केहिचिदु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिचिदु जीवो** कैश्चित् पर्यायैः

अन्य है भोगता अन्य है ऐसा मानते हैं, उनके अज्ञान को यह चैतन्य चमत्कार ही आप नित्य अमृत के समूहों कर सींचता हुआ दूर करता है ।

भावार्थ—क्षणिकवादी कर्ता भोक्ता में भेद मानते हैं । जो पहले क्षण में था वह दूसरे क्षण में नहीं है ऐसा मानते हैं । आचार्य कहते हैं कि हम उनको क्या समझावें ? यह चैतन्य ही उनका अज्ञान दूर करेगा । जो कि अनुभव गोचर नित्य रूप है । पहले क्षण आप है वही दूसरे क्षण में कहता है कि मैं पहले था वही हूं ऐसा स्मरण पूर्वक प्रत्यभिज्ञान उसकी नित्यता दिखलाता है । यहां बौद्धमती कहता है कि जो पहले क्षण था वही मैं दूसरे क्षण में हूं यह मानना तो अनादि अविद्या से भ्रम है यह मिटै तब तत्त्व सिद्ध हो, समस्त क्लेश मिटें । उसको कहते हैं कि हे बौद्ध ! तूने प्रत्यभिज्ञान को भ्रम बतलाया तो जो अनुभव गोचर है वह भ्रम ठहरा, तो तेरा क्षणिक मानना भी अनुभवगोचर है यह भी भ्रम ठहरा, क्योंकि अनुभव अपेक्षा दोनों ही समान हैं । इसलिये सर्वथा एकांत मानना तो दोनों ही भ्रम हैं वस्तु स्वरूप नहीं है । हम (जैन) कथंचित् नित्यानित्यरूप वस्तु का स्वरूप कहते हैं वह सत्यार्थ है ॥२०६॥

आगे ऐसे ही क्षणिक मानने वाले को युक्ति से काव्य द्वारा निषेध करते हैं—**वृत्त्यंश** इत्यादि । **अर्थ**—क्षण क्षण प्रति अवस्था भेदों को वृत्त्यंश कहते हैं, उनके सर्वथा भेद जुदे २ वस्तु मानने से अवस्थाओं का आश्रय रूप जो वृत्तिमान वस्तु उनके नाश की कल्पना करके ऐसा मानते हैं कि करता दूसरा है और भोगता कोई दूसरा ही है । उसपर आचार्य कहते हैं कि ऐसा एकांत मत प्रकाशित करो । जहां अवस्थावान् पदार्थ का नाश हुआ वहां अवस्थायें किसके आश्रय होके रहें ? इस तरह दोनों का नाश आता है तब शून्य का प्रसंग होता है ॥२०७॥

---

१. कोई त्रिभिः ।

केश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव केश्चित्तु जीवः ।
यस्मात्तस्मात्करोति स वा अन्यो वा नैकांतः ॥ ३४५ ॥
केश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव केश्चित्तु जीवः ।
यस्मात्तस्माद्वेदयते स वा अन्यो वा नैकांतः ॥ ३४६ ॥
यश्चैव करोति स चैव न वेदयते यस्यैष सिद्धांतः ।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ॥ ३४७ ॥
अन्यः करोत्यन्यः परिभुंक्ते यस्य एष सिद्धांतः ।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ॥ ३४८ ॥

यतो हि प्रतिसमयं संभवदगुरुलघुगुणपरिणामद्वारेण क्षणिकत्वादचलितचैतन्यान्वयगुणद्वारेण नित्यत्वाच्च जीवः कैश्चित्पर्यायैर्विनश्यति, कैश्चित्तु न विनश्यतीति द्विस्वभावो जीवस्वभावः। ततो य एव करोति स एवान्यो वा वेदयते। य एव वेदयते स एवान्यो वा करोतीति

पर्यायार्थिकनयविभागैः देवमनुष्यादिरूपैर्विनश्यति जीवः न नश्यति कैश्चिद्द्रव्यार्थिकनयविभागैः। **जह्मा** यस्मादेवं नित्यानित्यस्वभावं जीवस्वरूपं **तह्मा** तस्मात्कारणात् **वेददि सो वा** निजशुद्धात्मभावनोत्थसुखामृतरसास्वादमलभमानः स

अब अनेकांत को प्रकट कर के इस क्षणिक वाद का स्पष्टतया निषेधते हैं;—**[यस्मात्]** जिस कारण **[जीवः]** जीव **[कैश्चित्तु पर्यायैः]** कितनी एक पर्यायों से तो **[विनश्यति]** विनाश को प्राप्त होता है **[तु]** और **[कैश्चित्]** कितनी एक पर्यायों से **[नैव]** विनष्ट नहीं होता **[तस्मात्]** इस कारण **[स वा करोति]** वह ही करता है **[वा अन्यः]** अथवा अन्य कर्ता है **[न एकांतः]** एकांत नहीं स्याद्वाद है। **[यस्मात्]** जिस कारण **[जीवः]** जीव **[कैश्चित्तु पर्यायैः]** कितनी एक पर्यायों से **[विनश्यति]** विनाश को प्राप्त होता है **[तु]** और **[कैश्चित्]** कितनी एक पर्यायों से **[नैव]** विनष्ट नहीं होता **[तस्मात्]** इस कारण **[स वा वेदयते]** वही जीव भोक्ता होता है **[अन्यो वा]** अथवा अन्य भोक्ता है **[न एकांतः]** ऐसा ऐकांत नहीं है स्याद्वाद है। **[च यस्य एष सिद्धांतः]** और जिसका ऐसा सिद्धांत है कि **[य एव]** जो जीव **[करोति]** करता है **[स चैव न वेदयते]** वह नहीं भोगता, अन्य ही भोगने वाला है **[स जीवः]** वह जीव **[मिथ्यादृष्टिः]** मिथ्यादृष्टि **[ज्ञातव्यः]** जानना **[अनार्हतः]** अरहंत के मत का अनुयायी नहीं है **[यस्य एष सिद्धांतः]** तथा जिसका ऐसा सिद्धांत है कि **[अन्यः करोति]** कोई अन्य करता है **[अन्यः परिभुंक्ते]** और कोई दूसरा भोगता है **[स जीवः]** वह जीव **[मिथ्यादृष्टिः]** मिथ्यादृष्टि **[ज्ञातव्यः]** जानना **[अनार्हतः]** अरहंत के मत का नहीं है।

टीका—यह जीव प्रति समय होने वाले अगुरुलघुगुण के परिणाम के द्वारा तो क्षणिक है; परंतु अचलित चैतन्य के अवयवरूप गुण के द्वारा नित्य है। ऐसा होने से कुछ एक पर्यायों से तो विनष्ट

नास्त्येकांतः। एवमनेकांतेऽपि यस्तत्क्षणवर्तमानस्यैव परमार्थसत्त्वेन वस्तुत्वमिति वस्त्वंशेऽपि वस्तुत्वमध्यास्य शुद्धनयलोभादृजुसूत्रैकांते स्थित्वा य एव करोति स एव न वेदयते। अन्यः करोति अन्यो वेदयते इति पश्यति स मिथ्यादृष्टिरेव द्रष्टव्यः। क्षणिकत्वेऽपि वृत्त्यंशानां वृत्तिमतश्चैतन्यचमत्कारस्य टंकोत्कीर्णस्यैवांतःप्रतिभासमानत्वात् ॥३४५।३४६।३४७।३४८॥

एव कर्मफलं वेदयत्यनुभवति। स एव कः? इति चेत्, येन पूर्वं कृतं कर्म अण्णो वा पर्यायार्थिकनयेन पुनरन्यो वा णेयंतो न चैकांतोऽस्ति। एवं भोक्तृत्वमुख्यत्वेन द्वितीयगाथा। किं च येन मनुष्यभवे शुभाशुभं कर्म कृतं स एव जीवो द्रव्यार्थिकनयेन देवलोके नरके वा भुंक्ते। पर्यायार्थिकनयेन पुनरतद्रूपापेक्षया बालकाले कृतं यौवनादिपर्यायान्तरे भुंक्ते

होता है तथा कितनी एक पर्यायों से विनष्ट नहीं होता। ऐसे जीव का स्वभाव दो स्वरूप है। इस कारण 'जो करता है वही भोगता है' अथवा अन्य ही भोगता है। 'जो भोगता है वही करता है' अथवा अन्य करता है ऐसा एकांत नहीं है। इस प्रकार अनेकांत होने पर भी जो ऐसा मानता है कि जिस क्षण में जो पर्याय होती है उसी को परमार्थरूप सत्ता से वस्तुपना है, इस प्रकार वस्तु के अंश में वस्तुत्व का निश्चय करके शुद्धनय के लोभ से ऋजुसूत्रनय के एकांत में ठहरकर जो ऐसा श्रद्धान करता है कि जो करता है वही भोगता नहीं, अन्य करता है और अन्य ही भोगता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि ही जानना। क्योंकि पर्यायरूप अवस्थाओं के क्षणिकपना होने पर भी वृत्तिमान (पर्यायी) जो चैतन्य चमत्कार टंकोत्कीर्ण नित्य स्वरूप उसका अंतरंग में प्रतिभासमानपना है।

भावार्थ—वस्तु का स्वभाव जिन वाणी में द्रव्यपर्याय स्वरूप कहा है। इसलिये पर्याय अपेक्षा तो वस्तु क्षणिक है और द्रव्य अपेक्षा नित्य है ऐसा अनेकांत स्याद्वाद से सिद्ध होता है। ऐसा होने पर जीव नामा वस्तु भी ऐसा ही द्रव्य पर्याय स्वरूप है, इसलिये पर्याय अपेक्षा से देखा जाय तब तो कार्य को करता तो अन्य पर्याय है और भोगता अन्य ही पर्याय है। जैसे मनुष्य पर्याय में शुभ अशुभ कर्म किये उनका फल देवादि पर्याय में भोगा। परन्तु द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तब जो करता है वही भोगता है ऐसा सिद्ध होता है। जैसे मनुष्य पर्याय में जो जीवद्रव्य था उसने शुभाशुभ कर्म किये थे वही जीव देवादि पर्याय में गया वहां उसी जीव ने अपने किये का फल भोगा। इस तरह वस्तु का स्वरूप अनेकांत रूप सिद्ध होने पर भी शुद्धनय में तो संशय नहीं और शुद्धनय के लोभ से वस्तु का पर्याय वर्तमान काल में जो एक अंश था उसी को वस्तु मानकर ऋजुसूत्रनय के विषय का एकांत पकड़ ऐसा मानते हैं कि जो करता है वह नहीं भोगता है अन्य भोगता है। और जो भोगता है वह करता नहीं है अन्य करता है। ऐसे मिथ्यादृष्टि अरहंत के मतके नहीं हैं। क्योंकि पर्याय के क्षणिकपना होने पर भी परद्रव्य चैतन्य चमत्कार तो अनुभव गोचर नित्य है। जैसे प्रत्यभिज्ञान से ऐसा जाने कि जो बालक अवस्था में मैं था वही अब तरुण अवस्था में तथा वृद्ध अवस्था में हूं। इस तरह जो अनुभवगोचर स्वसंवेदन में आवे तथा जिन वाणी भी ऐसे ही कहे उसको न माने वही मिथ्यादृष्टि कहलाता है। ऐसा जानना ॥३४५।३४६।३४७।३४८॥

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यांधकैः
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिका तत्रापि मत्वा परैः ।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य [1]पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रेरितै-
रात्मा व्युज्झित एष हारवदहो निस्सूत्रमुक्तेक्षिभिः ॥२०८॥
कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव संचिंत्यतां ।
प्रोता सूत्र इवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं न शक्या क्वचित्
चिच्चिंतामणिमालिकेयमभितोप्येका चकास्त्येव नः ॥२०९॥

प्रति संक्षेपेण अंतर्मूहूर्तानन्तरे च भुंक्ते । भवांतरापेक्षया तु मनुष्यपर्यायेण कृतं देवादिपर्यायेण भुक्ते इति भावार्थः । एवं गाथाद्वयेनानेकांतव्यवस्थापनारूपेण स्वपक्षसिद्धिः कृता । अथैकांतेन य एव करोति स च एव भुक्ते, अथवान्यः

अब इस अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं—**आत्मानं** इत्यादि । **अर्थ**—आत्मा को संपूर्णतया शुद्ध मानने के अन्य अन्य बौद्ध उस आत्मा में काल की उपाधि के बलसे अधिक अशुद्धता मानकर अतिव्याप्ति को प्राप्त होकर तथा शुद्ध ऋजुसूत्रनय में रत होकर चैतन्य को क्षणिक कल्पना करके आत्मा को छोड़ दिया । क्योंकि आत्मा तो द्रव्यपर्याय स्वरूप था, वह सर्वथा क्षणिकपर्यायस्वरूप मानकर छोड़ दिया, उनको आत्मा की प्राप्ति नहीं हुई । यहां हारका दृष्टांत है । जैसे मोतियों का हार नामा वस्तु है उसमें सूत्र में जो मोती पोये हुए हैं वे भिन्न भिन्न दीखते हैं । जो हार सूत्र सहित मोती पोये हुए नहीं देखते, मोतियों को ही भिन्न देख ग्रहण करते हैं उनको हारकी प्राप्त नहीं होती । उसी प्रकार जो आत्मा के एक नित्यचैतन्य भाव को ग्रहण नहीं करते तथा समय समय बर्तना परिणाम रूप उपयोग की प्रवृत्ति को देख उसको सदा नित्य मान काल की उपाधि से अशुद्धपना मानकर ऐसा जानते हैं कि यदि नित्य माना जाय तो काल की उपाधि लगने से आत्मा के अशुद्धपना आता है तब अतिव्याप्ति दूषण लगता है । इस दोष के भय से ऋजुसूत्रनय का विषय शुद्ध वर्तमान समयमात्र क्षणिकपना उस मात्र मान आत्मा को छोड़ देते हैं ।

भावार्थ—आत्मा को समस्तपने शुद्ध मानने के इच्छुक बौद्धमती ने विचारा कि, यदि आत्मा को नित्य माना जाय तो नित्य में काल की अपेक्षा आती है, इसलिये उपाधि लग जायगी तब बड़ी अशुद्धता आयेगी, तब अतिव्याप्ति दोष लगेगा । इस भय से शुद्ध ऋजुसूत्र नयका विषय जो वर्तमान समय है उतना क्षणिक ही आत्मा को माना । तब जो आत्मा नित्यानित्यरूप द्रव्यपर्याय रूप था उसका उसके ग्रहण नहीं हुआ, केवल पर्याय मात्र में आत्मा की कल्पना हुई । वह आत्मा सत्यार्थ ऐसा नहीं जानना ॥२०८॥

अब फिर इसी अर्थ के समर्थनरूप वस्तु के अनुभव करने को काव्य कहते हैं—**कर्तु** इत्यादि । **अर्थ**—कर्ता में और भोक्ता में युक्ति के वशसे भेद हो अथवा अभेद हो, अथवा कर्ता भोक्ता दोनों ही न हों, वस्तु का ही चिंतवन करो । क्योंकि चतुर पुरुषों से सूत्र में पोई हुई मणियों की माला जैसे भेदी

---

१. बौद्धैरित्यर्थः ।

व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिंत्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते[1] ॥ २१० ॥

करोत्यन्यो भुंक्ते इति यो वदति स मिथ्यादृष्टिरित्युपदिशति—**जो चेव कुणदि सो चेव वेदको जस्स एस सिद्धंतो** य एव जीवः शुभाशुभं कर्म करोति स एव चैकांतेन भुंक्ते न पुनरन्यः, यस्यैष सिद्धांतः—आगमः। **सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो** स जीवो मिथ्यादृष्टिरनार्हतो ज्ञातव्यः। कथं मिथ्यादृष्टिः? इति चेत्, यद्येकांतेन नित्यकूटस्थोऽपरिणामी टंकोत्कीर्णः सांख्यमतवत् तदा येन मनुष्यभवेन नरकगतियोग्यं पापकर्मकृतं स्वर्गगतियोग्यं पुण्यकर्म कृतं तस्य जीवस्य नरके स्वर्गे वा गमनं न प्राप्नोति। तथा शुद्धात्मानुष्ठानेन मोक्षश्च कुतः? नित्यैकांतत्वादिति। **अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो** अन्यः करोति कर्म भुंक्ते चान्यः, यद्येकांतेन ब्रूते **सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो** तदा येन मनुष्यभवे पुण्यकर्म कृतं पापकर्म कृतं मोक्षार्थं शुद्धात्मभावनानुष्ठानं च, तस्य पुण्यकर्मणो देवलोकेऽन्यः कोऽपि भोक्ता प्राप्नोति न च स जीवः। नरकेऽपि तथैव। केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपं मोक्षं चान्यः कोऽपि लभते। ततश्च पुण्यपापमोक्षानुष्ठानं वृथेति बौद्धमतदूषणं, इति गाथाद्वयेन नित्यैकांतक्षणिकैकांतमतं निराकृतं। एवं द्वितीयस्थले सूत्रचतुष्टयं गतं ॥३४५।३४६॥

नहीं जाती, तैसे आत्मा में पोई हुई चैतन्यरूप चिंतामणि की माला भी कभी किसी से नहीं भेदी जा सकती। ऐसी यह आत्मारूपी माला समस्तपने से एक हमारे प्रकाशरूप प्रकट हो।

भावार्थ—वस्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप अनेकधर्म वाली है, उसमें विवक्षा के वश से कर्ता भोक्तापने का भेद भी है और भेद नहीं भी है, तथा कर्ता-भोक्ता भेदाभेद भी क्यों करना चाहिए? केवल शुद्ध वस्तुमात्र का उसके असाधारण धर्म के द्वारा अनुभव करना चाहिए, चैतन्य के परिणमनरूप पर्याय के भेदों की अपेक्षा से तो कर्ता-भोक्ता का भेद है। चिन्मात्र द्रव्य अपेक्षा से भेद नहीं है। इस तरह भेद अभेद होवें तथा चिन्मात्र अनुभव में भेद अभेद क्यों कहना? कर्ता भोक्ता भी नहीं कहना, वस्तुमात्र अनुभव करना। जैसे मणियों की माला में सूत और मोतियों का विवक्षा से भेद है। मालामात्र ग्रहण करने में भेदाभेद विकल्प नहीं हैं। उसी तरह आत्मा में चैतन्य के द्रव्यपर्याय अपेक्षा भेदाभेद है तो भी आत्म वस्तुमात्र अनुभव करने पर विकल्प नहीं रहता। इसलिये आचार्य कहते हैं कि ऐसे निर्विकल्प आत्मा का अनुभव हमारे प्रकाशरूप है, ऐसा जैनों का वचन है ॥ २०९ ॥

आगे इस कथन को दृष्टांत से स्पष्ट करते हैं उसकी सूचना के नयविभाग का काव्य कहते हैं—**व्यावहारिक** इत्यादि। **अर्थ**—व्यवहार की दृष्टि में तो कर्ता और कर्म भिन्न दीखते हैं और जब निश्चय से देखा जाय अर्थात् वस्तु को विचारा जाय तो कर्ता और कर्म सदाकाल एक ही देखने में आते हैं।

भावार्थ—व्यवहारनय तो पर्यायाश्रित है इसमें तो भेद ही दीखता है और शुद्ध निश्चयनय द्रव्याश्रित है। इसमें अभेद ही दीखता है। इसलिए व्यवहार में तो कर्ता कर्म का भेद है और निश्चय में अभेद है ॥ २१० ॥

---

१. 'दृश्यते' इत्यपि पाठः।

जह सिप्पिओ उ कम्मं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होइ ॥ ३४९ ॥ तद्रूप
जह सिप्पिओ उ करणेहिं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो करणेहिं कुव्वइ ण य तम्मओ होइ ॥ ३५० ॥
जह सिप्पिओ उ करणाणि गिह्णइ ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो करणाणि उ गिह्णइ ण य तम्मओ होइ ॥ ३५१ ॥
जह सिप्पिओ उ कम्मफलं भुंजदि ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजइ ण य तम्मओ होइ॥ ३५२ ॥
एवं ववहारस्स उ वत्तव्वं दरिसणं समासेण ।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकयं तु जं होई ॥३५३॥
जह सिप्पिओ उ चिट्ठं कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो से ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वइ हवइ य अणण्णो से ॥३५४॥
जह चिट्ठं कुव्वंतो उ सिप्पिओ णिच्च दुक्खिओ होई ।
तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो ॥३५५॥(सप्तकम्)

यथा शिल्पिकस्तु कर्म करोति न च स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति न च तन्मयो भवति ॥३४९॥

---

३४७ । ३४८ ॥ अथ व्यवहारेण कर्तृकर्मणोर्भेदः, निश्चयेन पुनर्यदेव कर्तृ तदेव कर्मेत्युपदिशति—यथा लोके शिल्पी तु सुवर्णकारादिः सुवर्णकुंडलादिकर्म करोति, कैः कृत्वा ? हस्तकुट्टकादिकरणैरुपकरणैः । हस्तकुट्टकाद्युपकरणानि च हस्तेन गृह्णाति, तथापि तैः सुवर्णकुंडलादिकर्महस्तकुट्टकादिकरणैरुपकरणैः सह तन्मयो न भवति । तथैवाज्ञानी जीवोऽपि निष्क्रियवीतरागस्वसंवेदनज्ञानच्युतः सन् ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्माणि करोति । कैः कृत्वा ? मनोवचनकायव्यापाररूपैः कर्मोत्पादककरणैरुपकरणैः तथैव च कर्मोदयवशान्मनोवचनकायव्यापाररूपाणि कर्मोत्पादककरणान्युपकरणानि संश्लेषरूपेण व्यवहारनयेन गृह्णाति तथापि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्ममनोवचनकायव्यापाररूपकर्मोत्पादकोपकरणैः सह टंकोत्कीर्णज्ञायकत्वेन भिन्नत्वात्तन्मयो न भवति । तथैव च स एव शिल्पी सुवर्णकारादिः सुवर्णकुंडलादिकर्मणि कृते सति यत्किमप्यशन-

---

आगे इस कथन को दृष्टांत से गाथाओं में कहते हैं;—[यथा शिल्पिकः तु] जैसे सुनार आदि कारीगर [कर्म] आभूषणादिक कर्म को [करोति] करता है [स तु] परन्तु वह [तन्मयो न च भवति] आभूषणादिकों से तन्मय नहीं होता [तथा] उसी तरह [जीवोपि च] जीव भी [कर्म] पुद्गलकर्म को

यथा शिल्पिकस्तु करणैः करोति न स तन्मयो भवति ।
तथा जीवः करणैः करोति न च तन्मयो भवति ॥३५०॥
यथा शिल्पिकस्तु करणानि गृह्णाति न च स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवः करणानि तु गृह्णाति न च तन्मयो भवति ॥३५१॥
यथा शिल्पिकः कर्मफलं भुंक्ते न च स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवः कर्मफलं भुंक्ते न च तन्मयो भवति ॥३५२॥
एवं व्यवहारस्य तु वक्तव्यं दर्शनं समासेन ।
शृणु निश्चयस्य वचनं परिणामकृतं तु यद्भवति ॥३५३॥

पानादिकं मूल्यं लभते भुंक्ते च तथापि तेनाशनपानादिना सह तन्मयो न भवति। तथा जीवोऽपि शुभाशुभकर्मफलं बहिरंगेष्टानिष्टाशनपानादिरूपं निजशुद्धात्मभावनोत्थमनोहरानंदसुखास्वादमलभमानो भुंक्ते न च तन्मयो भवति। **एवं ववहारस्स उ वत्तव्वं दंसणं समासेण** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण गाथाचतुष्टयेन द्रव्यकर्मकर्तृत्व भोक्तृत्वरूपस्य व्यहारनयस्य दर्शनं निदर्शनं दृष्टांत उदाहरणं हे शिष्य ! वक्तव्यं व्याख्येयं कथनीयं समासेन संक्षेपेण **सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं हवदि** इदं त्वग्रे वक्ष्यमाणं निश्चयस्य वचनं व्याख्यानं शृणु, यत् कथंभूतं ? परिणामकृतं रागादिविकल्पेन निष्पादितमिति। **जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि हवदि य तहा अणण्णो सो** यथा सुवर्णकारादिशिल्पी कुंडलादिकमेवमेवं करोमीति मनसि चेष्टां करोति इति तया चेष्टया सह भवति चानन्यस्तन्मयः **तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि हवदि य अणण्णो सो** तथैवाज्ञानी जीवः केवल-

---

[करोति] करता है। [च] तो भी [तन्मयो न भवति] उससे तन्मय नहीं होता। [यथा] जैसे [शिल्पिकः] शिल्पी [करणैः] हथौड़ा आदि करणों से [करोति] कर्म करता है। [तु सः] परन्तु वह [तन्मयो न भवति] उनसे तन्मय नहीं होता [तथा] उसी तरह [जीवः] जीव भी [करणैः करोति] मन वचन काय आदि करणों से कर्म को करता है [च] तो भी [तन्मयो न भवति] उनसे तन्मय नहीं होता। [यथा] जैसे [शिल्पिकः] शिल्पी [करणानि] करणों को [गृह्णाति] ग्रहण करता है [तु] तो भी [स तु] वह [तन्मयो न भवति] उनसे तन्मय नहीं होता [तथा] उसी तरह [जीवः] जीव [करणानि गृह्णाति] मन वचन कायरूप करणों को ग्रहण करता है [तु च] तो भी [तन्मयो न भवति] उनसे तन्मय नहीं होता। [यथा] जैसे [शिल्पी तु] शिल्पी [कर्मफलं] आभूषणादि कर्मों के फल को [भुंक्ते] भोगता है [तु च] तो भी [सः] वह उनसे [तन्मयो न भवति] तन्मय नहीं होता [तथा जीवः] उसी तरह जीव भी [कर्मफलं] सुख दुःख आदि कर्म के फल को [भुंक्ते] भोगता है [च] परन्तु [तन्मयो न भवति] उनसे तन्मय नहीं होता। [एवं तु] इस तरह से तो [व्यवहारस्य दर्शनं] व्यवहार का मत [समासेन] संक्षेप से [वक्तव्यं] कहने योग्य है [तु] और [यत्] जो [निश्चयस्य]

यथा शिल्पिकस्तु चेष्टां करोति भवति च तथानन्यस्तस्याः ।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति भवति चानन्यस्तस्मात् ॥३५४॥
यथा चेष्टां कुर्वाणस्तु शिल्पिको नित्यदुःखितो भवति ।
तस्माच्च स्यादनन्यस्तथा चेष्टमानो दुःखी जीवः ॥३५५॥

यथा खलु शिल्पी सुवर्णकारादिः कुंडलादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति । हस्तकुट्टकादिभिः परद्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति । हस्तकुट्टकादीनि परद्रव्यपरिणामात्मकानि करणानि गृह्णाति । ग्रामादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कुंडलादिककर्मफलं भुंक्ते च । नत्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः । तथात्मापि पुण्यपापादि पुद्गलपरिणामात्मकं कर्म करोति । कायवाङ्मनोभिः

ज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्य योऽसौ साधको निर्विकल्पसमाधिरूपः कारणसमयसारस्तस्याभावे सत्यशुद्धनिश्चयनयेन अशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिरूपं भावकर्म करोति तेन भावकर्मणा सह भवति चानन्य इति भावकर्मकर्तृत्वगाथा गता । **जह चेट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्च दुःखितो होदि** यथा स एव शिल्पी कुंडला-

---

निश्चय के **[वचनं]** वचन हैं वे **[परिणामकृतं]** अपने परिणामों से किये **[भवति]** होते हैं **[शृणु]** उनको सुनो । **[यथा]** जैसे **[शिल्पिकः]** शिल्पी **[चेष्टां करोति]** अपने परिणामस्वरूप चेष्टारूप कर्म को करता है **[तु च]** परंतु **[तस्या अनन्यः तथा]** वह उस चेष्टा से भिन्न नहीं **[भवति]** होता है, तन्मय है **[तथा]** उसी तरह **[जीवोपि च]** जीव भी **[कर्म]** अपने परिणामस्वरूप चेष्टारूपकर्म को **[करोति]** करता है **[तस्मात्]** उस चेष्टारूप कर्म से **[अनन्यः भवति]** अन्य नहीं है, तन्मय है । **[यथा तु]** जैसे **[शिल्पिकः]** शिल्पी **[चेष्टां कुर्वाणः]** चेष्टा करता हुआ **[नित्यदुःखितो भवति]** निरंतर दुःखी होता है **[तस्माच्च]** उस दुःख से **[अनन्यः स्यात्]** पृथक् नहीं है, तन्मय है **[तथा]** उसी तरह **[जीवः]** जीव भी **[चेष्टमानः दुःखी]** चेष्टा करता हुआ दुःखी होता है ।

टीका—जिस प्रकार निश्चय से सुनार आदि शिल्पी कुंडल आदि परद्रव्य के परिणामस्वरूप कर्म को करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्य के परिणामस्वरूप करणों द्वारा करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्य के परिणामस्वरूप करणों को ग्रहण करता है, और कुंडल आदि कर्म का फल ग्राम धन आदि परद्रव्य के परिणामस्वरूप को पाता है, उनको भोगता है, तो भी वे सभी भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं, उनसे अन्य है, इसलिये उनसे तन्मय नहीं होता, इस कारण वहां निमित्त-नैमित्तिक भावमात्र से ही उनके कर्ता-कर्मपने का और भोक्ता-भोग्यपने का व्यवहार है । उसी प्रकार आत्मा भी पुण्य-पाप आदि पुद्गल द्रव्यस्वरूप कर्म को करता है, मन वचनकाय पुद्गलद्रव्यस्वरूप करणों द्वारा कर्म को करता है, मन वचनकाय पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप करणों को ग्रहण करता है और सुख-दुःख आदि पुद्गल

पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति कायवाङ्मनांसि पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकानि करणानि गृह्णाति सुखदुःखादिपुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकं पुण्यपापादिकर्मफलं भुंक्ते च नत्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः। यथा च स एव शिल्पी चिकीर्षुश्चेष्टानुरूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति। दुःखलक्षणमात्मपरिणामात्मकं चेष्टानुरूपं कर्मफलं भुंक्ते च एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति ततः परिणामपरिणामिभावेन तत्रैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः। तथात्मापि चिकीर्षुश्चेष्टानुरूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति। दुःखलक्षणमात्मपरिणामात्मकं चेष्टानुरूपकर्मफलं भुंक्ते च एकद्रव्यत्वेन ततोनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति ततः परिणामपरिणामिभावेन तत्रैककर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः ॥३४९—३५५॥

ननु परिणाम एव किल कर्मविनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥२११॥

दिकमेवमेवं करोमीति मनसि चेष्टां कुर्वाणः सन् चित्तखेदेन नित्यं दुःखितो भवति। न केवलं दुःखितः। तथो सेय

द्रव्य के परिणामस्वरूप पुण्य पाप आदि कर्मों के फल को भोगता है, सो भिन्न द्रव्यपने से उनसे अन्य होने पर उनसे तन्मय नहीं होता। इसलिये निमित्त-नैमित्तिक भावमात्र से ही वहां कर्ता-कर्मपना भोक्ता भोग्यपने का व्यवहार है। जैसे वही शिल्पी करने का इच्छुक हुआ अपने हस्त आदि की चेष्टारूप अपने परिणामस्वरूप कर्म को करता है और दुःखस्वरूप अपने परिणामरूप चेष्टामय कर्म के फल को भोगता है उन परिणामों को अपने एक ही द्रव्यपने से अनन्य होने से उनसे तन्मय होता है। इसलिये उनमें परिणाम-परिणामी भाव से कर्ता कर्मपने का तथा भोक्ता भोग्यपने का निश्चय है। उसी तरह आत्मा भी करने का इच्छुक हुआ अपने उपयोग की तथा प्रदेशों की चेष्टारूप अपने परिणामस्वरूप कर्म को करता है और दुःख स्वरूप अपने परिणामरूप कर्म के फल को भोगता है। उन परिणामों के अपने एक ही द्रव्यपने से अन्यपना न होने से उन से तन्मय होता है। इसलिये उन परिणामों में परिणाम परिणामी भाव से कर्ता कर्मपने का और भोक्ता भोग्यपने का निश्चय है ॥३४९—३५५॥

अब इसी अर्थ का श्लोक कहते हैं—ननु इत्यादि। अर्थ—हे मुनियो! तुम यह निश्चय करो कि निश्चय से प्रगट परिणाम ही कर्म है, वह परिणाम अपने आश्रयभूतपरिणामी द्रव्य का ही होता है, अन्य का नहीं होता। क्योंकि परिणाम अपने अपने द्रव्य के आश्रय हैं अन्य के परिणाम का अन्य आश्रय नहीं होता। कर्म कर्ता के विना नहीं होता, वस्तु द्रव्य पर्यायस्वरूप है, इसलिए उसकी एक अवस्थारूप कूटस्थ स्थिति आदि नहीं होती, सर्वथा नित्यपना बाधा सहित है इस कारण यह निश्चय सिद्धांत है कि अपने परिणामरूप कर्म का आप ही कर्ता है ॥२११॥

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनंतशक्तिः स्वयं
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वंतरं ।
स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते ।।२१२।।
वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत् ।
निश्चयोयमपरोऽपरस्य कः किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ।।२१३।।

अणण्णो तस्माद् दुःखविकल्पादनुभवरूपेणानन्यश्च स स्यात् **तह चेट्ठन्तो दुही जीवो** तथैवाज्ञानिजीवोऽपि विशुद्धज्ञान-दर्शनादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्य साधको योऽसौ निश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसारः, तस्यालाभे सुखदुःखभोक्तृत्वकाले हर्षविषादरूपां चेष्टां कुर्वाणः सन्मनसि दुःखितो भवति इति । तया हर्षविषादचेष्टया सह अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेणानन्यश्च भवति इति । एवं पूर्वोक्तप्रकारेणाज्ञानिजीवो निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानात् च्युतो भूत्वा सुवर्णकारादिदृष्टांतेन व्यवहारनयेन द्रव्यकर्म करोति भुंक्ते च । तथैवाशुद्धनिश्चयेन भावकर्म चेति व्याख्यानमुख्यत्वेन षष्ठस्थले गाथासप्तकं गतं ।।३४९—३५५।। अथ ज्ञानं ज्ञेयं वस्तु जानाति तथापि धवलकुड्ये श्वेतमृत्तिकावन्निश्चयेन तन्मयं

अब इसी अर्थ के समर्थन में कलशरूप काव्य कहते हैं— **बहिर्लुठति** इत्यादि । **अर्थ**—यद्यपि वस्तु आप प्रकाशरूप अनंतशक्ति स्वरूप है तो भी अन्यवस्तु अन्यवस्तु में प्रवेश नहीं करती बाहर ही लोटती है । क्योंकि ऐसा माना जाता है कि सभी वस्तु अपने अपने स्वभाव में नियम रूप हैं इसपर आचार्य कहते हैं कि ऐसा होनेपर भी यह जीव अपने स्वभाव से चलायमान होकर आकुलित तथा मोही हुआ क्लेशरूप क्यों होता है ? ।

भावार्थ—वस्तु स्वभाव तो नियम से ऐसा है कि किसी वस्तु में कोई वस्तु नहीं मिलती और यह बड़ा अज्ञान है कि यह प्राणी अपने स्वभाव से चलायमान होके व्याकुल (क्लेशरूप) हो जाता है ।।२१२।।

फिर इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिये श्लोक कहते हैं—**वस्तु** इत्यादि । **अर्थ**—जैसे इस लोक में एक वस्तु दूसरी वस्तु की नहीं है, इसी कारण वस्तु वस्तुरूप ही है । ऐसा न माना जाय तो वस्तु का वस्तुपनां हो नहीं ठहर सकता ऐसा निश्चय है । ऐसा होने पर अन्यवस्तु अन्यवस्तु के बाहर लोटती है तौ भी उसका क्या कर सकती है कुछ भी नहीं कर सकती ।

भावार्थ—वस्तु का स्वभाव तो ऐसा है कि अन्य कोई वस्तु उसे बदल नहीं सकती, तब अन्य का अन्य ने कुछ भी नहीं किया । जैसे चेतन वस्तु के एक क्षेत्रावगाहरूप पुद्गल रहते हैं तौ भी चेतन को जड़ द्वारा अपने रूप तो नहीं परिणमा सकते तब चेतन का कुछ भी नहीं किया, यह निश्चयनय का मत है, और निमित्त-नैमित्तिक भाव से अन्य वस्तु के परिणाम होता है वह भी उस वस्तु का ही है अन्य का कहना व्यवहार है ।।२१३।।

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः किंचनापि परिणामिनः स्वयं ।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥२१४॥

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ ।
तह जाणश्रो दु ण परस्स जाणश्रो जाणश्रो सो दु ॥३५६॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ ।
तह पासश्रो दु ण परस्स पासश्रो पासश्रो सो दु ॥३५७॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होइ ।
तह संजश्रो दु ण परस्स संजश्रो संजश्रो सो दु ॥३५८॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होदि ।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ॥३५९॥
एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसणचरित्ते ।
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ॥३६०॥

न भवति इति निश्चयमुख्यत्वेन गाथापंचकं। यथैव च श्वेतमृत्तिका कुड्यं श्वेतं करोतीति व्यवह्रियते तथैव च ज्ञानं ज्ञेयं वस्तु जानात्येवं व्यवहारोऽस्तीति व्यवहारमुख्यत्वेन गाथापंचकं। एवं समुदायेन दशकं। तद्यथा;—यथा लोके

यही श्लोक से कहते हैं—यत्तु इत्यादि। **अर्थ**—कोई वस्तु अन्य वस्तु का कुछ करती है यदि ऐसा कहा जाय तो वस्तु आप परिणामी है, अवस्था से अन्य अवस्था रूप होना वस्तु का पर्याय स्वभाव है, इसीसे परिणामी कहते हैं, ऐसे परिणामी वस्तु के अन्य के निमित्त से परिणाम हुआ उसको ऐसा कहना कि यह अन्य ने किया यह व्यवहारनय की दृष्टि से है। और निश्चय से तो अन्य ने कुछ किया नहीं जो परिणाम हुआ वह अपना ही हुआ दूसरे ने उसमें कुछ भी लाकर नहीं रक्खा, ऐसा जानना ॥२१४॥

आगे इस निश्चयव्यवहारनय के कथन को दृष्टांत द्वारा स्पष्ट करते हैं **[यथा]** जैसे **[सेटिका तु]** सफेदी-कलई-खड़ियामिट्टी तो **[परस्य न]** पर की—दीवार आदि की नहीं है **[सेटिका]** सफेदी तो **[सा च सेटिका भवति]** स्वयं सफेदी ही है **[तथा]** उसी प्रकार **[ज्ञायकः तु]** ज्ञायक आत्मा तो **[परस्य न]** परद्रव्य का नहीं है **[ज्ञायकः स तु ज्ञायकः]** ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। **[यथा]** जैसे **[सेटिका तु]** सफेदी **[परस्य न]** परद्रव्य की नहीं है **[सेटिका सा च सेटिका भवति]** सफेदी तो सफेदी ही है **[तथा]** उसी प्रकार **[दर्शकः तु]** देखने वाला आत्मा **[परस्य न]** पर का नहीं है **[दर्शकः स तु दर्शकः]** दर्शक तो दर्शक ही है **[यथा]** जैसे **[सेटिका तु]** सफेदी **[परस्य न]** पर पदार्थ दीवार आदि की नहीं है **[सेटिका]**

जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं जाणइ णाया वि सयेण भावेण ॥३६१॥
जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं पस्सइ जीवोवि सयेण भावेण ॥३६२॥
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं विजहइ णायावि सयेण भावेण ॥३६३॥

श्वेतिका श्वेतिमृत्तिका खटिका परद्रव्यस्य कुड्यादेर्निश्चयेन श्वेतमृत्तिका न भवति तन्मयो न भवति बहिर्भागे तिष्ठतीत्यर्थः। तर्हि किं भवति ? श्वेतिका श्वेतिकैव स्वस्वरूपे तिष्ठितीत्यर्थः। तथा श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन ज्ञानात्मा घटपटादिज्ञेयपदार्थस्य निश्चयेन ज्ञायको न भवति तन्मयो न भवतीत्यर्थः तर्हि किं भवति। ज्ञायको ज्ञायक एव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः। एवं ब्रह्माद्वैतवादिवत्—ज्ञानं ज्ञेयरूपेण न परिणमति इति कथनमुख्यत्वेन गाथा गता। तथा तेनैव च श्वेतमृतिकादृष्टांतेन दर्शक आत्मा दृश्यस्य घटादिपदार्थस्य निश्चयेन दर्शको न भवति, तन्मयो न भवतीत्यर्थः। तर्हि

सफेदी [सा च सेटिका भवति] वह तो सफेदी ही है [तथा] उसी प्रकार [संयतः तु] त्याग करने वाला आत्मा [परस्य न] परद्रव्य का नहीं है [संयतः स तु संयतः] संयत तो संयत ही है [यथा] जैसे [सेटिका तु] सफेदी [परस्य न] परद्रव्य की नहीं है, [सेटिका सा च सेटिका भवति] सफेदी तो सफेदी ही है [तथा] उसी प्रकार [दर्शनं तु] श्रद्धान [परस्य न] पर पदार्थ का नहीं है [दर्शनं] [तत् दर्शनं] श्रद्धान तो श्रद्धान ही है। [एवं तु] इस प्रकार [ज्ञानदर्शनचरित्रे] ज्ञान, दर्शन और चारित्र में [निश्चयनयस्य भाषितं] निश्चयनय का कथन है [तस्य च] और उस संबंध में [समासेन व्यवहारनयस्य वक्तव्यं शृणु] संक्षेप से व्यवहारनय का कथन सुनो।

[यथा] जैसे [सेटिका आत्मनः स्वभावेन] सफेदी अपने स्वभाव से [परद्रव्यं सेटयति] पर द्रव्य-दीवार आदि को सफेद करती है [तथा] उसी प्रकार [ज्ञाता अपि स्वकेन भावेन परद्रव्यं जानाति] ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को जानता है [यथा] जैसे [सेटिका आत्मनः स्वभावेन परद्रव्यं सेटयति] सफेदी अपने स्वभाव से परद्रव्य को सफेद करती है [तथा] उसी प्रकार [जीवः अपि स्वकेन भावेन परद्रव्यं पश्यति] जीव भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को देखता है [यथा] जैसे [सेटिका आत्मनः स्वभावेन परद्रव्यं सेटयति] सफेदी अपने स्वभाव से परद्रव्य को सफेद करती है [तथा] उसी प्रकार [ज्ञाता अपि स्वकेन भावेन परद्रव्यं विजहाति] ज्ञानी भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को छोड़ता है [यथा] जैसे [सेटिका आत्मनः स्वभावेन परद्रव्यं सेटयति] सफेदी अपने स्वभाव से परद्रव्य को सफेद करती है [तथा] उसी प्रकार [सम्यग्दृष्टिः स्वभावेन परद्रव्यं श्रद्धत्ते] सम्यग्दृष्टि

जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं सद्दहइ सम्मदिट्ठी सहावेण ॥३६४॥
एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते ।
भणिओ अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णायव्वो ॥३६५॥(दशकम्)

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ॥
तथा ज्ञायकस्तु न परस्य ज्ञायको ज्ञायकः स तु ॥३५६॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा दर्शकस्तु न परस्य दर्शको दर्शकः स तु ॥३५७॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा संयतस्तु न परस्य संयतः संयतः स तु ॥३५८॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा दर्शनं तु न परस्य दर्शनं दर्शनं तत्तु ॥३५९॥
एवं तु निश्चयनयस्य भाषितं ज्ञानदर्शनचरित्रे ।
शृणु व्यवहारनयस्य च वक्तव्यं तस्य समासेन ॥३६०॥
यथा परद्रव्यं सेटयति खलु सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं जानाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३६१॥

किं भवति ? दर्शको दर्शक एव स्वस्वरूपेण तिष्ठतीत्यर्थः । एवं सत्तावलोकनदर्शनं दृश्यपदार्थरूपेण न परिणमतीति कथनमुख्यत्वेन गाथा गता । तथा तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन संयत आत्मा त्याज्यस्य परिग्रहादेः परद्रव्यस्य निश्चयेन त्याजको न भवति, तन्मयो न भवतीत्यर्थः । तर्हि किं भवति । संयतः संयत एव निर्विकारनिजमनोहरानंदलक्षणस्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः । एवं वीतरागचारित्रमुख्यत्वेन गाथा गता । तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं श्रद्धेयस्य बहिर्भूतजीवादिपदार्थस्य निश्चयनयेन श्रद्धानकारकं न भवति, तन्मयं न भवतीत्यर्थः । तर्हि किं भवति ? सम्यग्दर्शनं सम्यग्दर्शनमेव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः । एवं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनमुख्यत्वेन गाथा गता । **एवं तु णिच्छयणयस्स भासिदं णाणदंसणचरित्ते** एवं पूर्वोक्तगाथाचतुष्टयेन भाषितं व्याख्यानं कृतं । कस्य संबंधित्वेन ? निश्चयनयस्य । क्व विषये ? ज्ञानदर्शनचारित्रे । **सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं** इदानीं हे शिष्य ! शृणु समाकर्णय ।

अपने स्वभाव से परद्रव्य को श्रद्धान करता है [एवं तु] इस प्रकार [ज्ञान दर्शन चरित्रे] ज्ञान, दर्शन और चारित्र में [व्यवहारनयस्य विनिश्चयः] व्यवहारनय का निर्णय कहा है [अन्येषु पर्यायेषु अपि एवं ज्ञातव्यः] अन्य पर्यायों में भी ऐसा ही जानना ।

यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं पश्यति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३६२॥
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं विजहाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३६३॥
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं श्रद्धत्ते ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३६४॥
एवं व्यवहारस्य तु विनिश्चयो ज्ञानदर्शनचरित्रे ।
भणितोऽन्येष्वपि पर्यायेषु एवमेव ज्ञातव्यः ॥३६५॥

सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं । तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादिपरद्रव्यं । अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्व-संबंधो मीमांस्यते—यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती कुड्यादिरेव भवेत्, एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः, ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः । यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति । ननु कतरान्या सेटिका सेटिकाया यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः । किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि । तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः । यथा दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टांतिकः ।

किं ? वक्तव्यं व्याख्यानं । कस्य संबंधित्वेन ? व्यवहारनयस्य । कस्य संबंधिव्यवहारः ? **से** तस्य पूर्वोक्तज्ञानदर्शनचारित्रत्रयस्य । केन ? **समासेण** संक्षेपेण । इति निश्चयनयेन व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रपंचकं गतं । **अथ व्यवहारः कथ्यते**—यथा येन प्रकारेण लोके परद्रव्यं कुड्यादिकं व्यवहारनयेन श्वेतयते श्वेतं करोति न च कुड्यादिपरद्रव्येण सह तन्मयी

टीका—प्रथम ही दृष्टांत कहते हैं—खडिया (सफेदी) श्वेतगुण से भरा हुआ द्रव्य है । कुटी भीत आदि परद्रव्य उसके व्यवहार से श्वेत किए जाते हैं । अब यहां यह विचारते हैं कि खडिया और परद्रव्य दोनों में परमार्थ से क्या संबंध है ? जो श्वेत करने योग्य कुटी आदि परद्रव्य हैं, उनको श्वेत करने वाली खडिया है या नहीं ? यदि ऐसा माना जावे कि सेटिका भीत आदि परद्रव्य की है, तो ऐसा न्याय है कि जो जिसका हो वह उस स्वरूप ही होता है । जैसे आत्मा का ज्ञान आत्मस्वरूप ही है । ऐसा परमार्थरूप तत्त्वसंबंधी जीवित (विद्यमान) होने पर सेटिका भीत आदि की हुई भीत आदि के स्वरूप होनी चाहिये, उससे पृथक् द्रव्य नहीं होना चाहिए । ऐसा होने पर सेटिका के निजद्रव्य का तो अभाव हो जायगा; भीत आदिक एकद्रव्य ही ठहरेगा । परंतु दूसरे द्रव्य का अभाव होना ठीक नहीं है क्योंकि एकद्रव्य का अन्य द्रव्यरूप होना तो पहले ही

चेतयितात्र तावद् ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं तस्य तु व्यवहारेण ज्ञेयं पुद्गलादि परद्रव्यं । अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्य ज्ञेयस्य ज्ञायकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति ? तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते । यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो

भवति । का कर्त्री ? श्वेतिका श्वेतमृत्तिका खटिका । केन कृत्वा श्वेतं करोति ? स्वकीयश्वेतभावेन । तथा तेन श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन परद्रव्यं घटादिकं ज्ञेय वस्तु व्यवहारेण जानाति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति । कोऽसौ कर्ता ? ज्ञातात्मा । केन जानाति ? स्वकीयज्ञानभावेनेति, प्रथमगाथा गता । तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन घटादिकं दृश्यं परद्रव्यं व्यवहारेण पश्यति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति । कोऽसौ ? ज्ञातात्मा । केन पश्यति ? स्वकीयदर्शनभावेनेति द्वितीयगाथा गता । तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन परिग्रहादिकं परद्रव्यं व्यवहारेण विरमति

निषेध कर आये हैं; अन्य द्रव्य पलटकर अन्य द्रव्यरूप नहीं होता । इसलिये यह निश्चय हुआ कि खड़िया कुटी आदि परद्रव्य की नहीं है । यहां पूछते हैं कि यदि खड़िया भीत आदि की नहीं है तो किसकी है ? उसका उत्तर—खड़िया खड़िया की ही है । वहां फिर पूछते हैं कि वह अन्य खड़िया कौन सी है जिस खड़िया की यह खड़िया है ? उसका उत्तर—खड़िया से भिन्न अन्य कोई खड़िया नहीं है । तो क्या है ? खड़िया के स्वस्वामिरूप अंश ही है । सो ये अंशों के अन्यपना है । वहां कहते हैं कि, यहां पर निश्चयनय में स्वस्वामिअंश का व्यवहार से क्या लाभ है ? कुछ भी नहीं । इससे यह सिद्ध हुआ कि खड़िया अन्य किसी की भी नहीं, खड़िया खड़िया की है ऐसा निश्चय है । जैसा यह दृष्टांत है वैसा ही दार्ष्टांतिक अर्थ है । इस लोक में प्रथम तो चेतने वाला आत्मा ज्ञानगुण से भरे स्वभाववाला द्रव्य है, उसके व्यवहार से जानने योग्य पुद्गल आदिक परद्रव्य है । यहां उस आत्मा का और पुद्गल आदि परद्रव्य दोनों का परमार्थ तत्त्वरूप संबंध विचारते हैं कि पुद्गल आदि परद्रव्यों का चेतयिता आत्मा है या नहीं ? यदि ऐसा माना जाय कि चेतयिता आत्मा पुद्गल आदि परद्रव्य का है तो यह न्याय है कि जो जिसका हो वह वही है अन्य नहीं । इस तरह आत्मा का ज्ञान हुआ आत्मा ही है ज्ञान कुछ पृथक् द्रव्य नहीं है । ऐसे परमार्थरूप तत्त्व संबंध के जीवित (विद्यमान) होने पर आत्मा पुद्गलादिक का होवे तो पुद्गलादिक ही होना चाहिये । ऐसा होने पर आत्मा के स्वद्रव्य का अभाव हो जायगा, पुद्गल द्रव्य ही ठहरेगा, आत्मा अलग द्रव्य नहीं सिद्ध होगा । सो ऐसा नहीं होता है अर्थात् द्रव्य का अभाव नहीं होता । क्योंकि अन्य द्रव्य को पलटकर अन्य द्रव्य होने का निषेध तो पहले ही कह आये हैं । इसलिये चेतयिता आत्मा पुद्गलादिक परद्रव्य का नहीं होता । यहां पूछते हैं कि, चेतयिता आत्मा पुद्गलादि परद्रव्य का नहीं है तो किसका है ? उसका उत्तर—चेतयिता का ही चेतयिता है । फिर पूछते हैं कि वह दूसरा चेतयिता कौन सा है जिसका यह चेतयिता है ? उसका उत्तर—चेतयिता से अन्य कोई चेतयिता तो नहीं है । तो क्या है ? वहां कहते हैं कि स्वस्वामिअंश हैं, वे अन्य कहे जाते हैं । वहां पर कहते हैं यहां निश्चयनय में स्वस्वामीअंश के व्यवहार से क्या लाभ है ? कुछ भी नहीं । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि ज्ञायक है वह निश्चय से अन्य किसी का ज्ञायक नहीं है आप ही ज्ञायक है ऐसा निश्चय है ।

अब जैसा ज्ञायक दृष्टांत दार्ष्टांत से कहा वैसा ही दर्शक को कहते हैं । वहां खड़िया प्रथम तो श्वेत

ज्ञानं भवदात्मैव भवति इति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्, एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः। यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति। ननु कतरोन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि। तर्हि न कस्यापि ज्ञायकः। ज्ञायको ज्ञायक एवेति निश्चयः। किं च सेटिकात्र तावच्छ्-

---

त्यजति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति। स कः कर्ता ? ज्ञातात्मा। केन कृत्वा त्यजति ? स्वकीयनिर्विकल्पसमाधिपरिणामेनेति तृतीयगाथा गता। तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टांतेन जीवादिकं परद्रव्यं व्यवहारेण श्रद्दधाति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति। स कः कर्ता ? सम्यग्दृष्टिः। केन कृत्वा ? स्वकीयश्रद्धानपरिणामेनेति चतुर्थगाथा गता।

गुण से भरे स्वभाव वाली द्रव्य है उससे व्यवहार से श्वेत करने योग्य कुटी आदि परद्रव्य है। सो सेटिका और कुटी आदि परद्रव्य इन दोनों का यहां परमार्थतत्त्वरूप संबंध विचारते हैं—श्वेत करने योग्य कुटी आदि परद्रव्य के श्वेत करने वाली खड़िया है या नहीं ? वहां जो खड़िया कुटी आदिक की है ऐसा मानो तो यह न्याय है कि जिसका जो हो वह वही है अन्य नहीं है। जैसे आत्मा का ज्ञान हुआ आत्मा ही है। ऐसे परमार्थरूप संबंध के विद्यमान होने पर खड़िया कुटी आदि की यदि हो तो कुटी आदिक होनी चाहिये। ऐसा होने पर खड़िया के स्वद्रव्य का नाश हो जायगा किंतु द्रव्य का उच्छेद नहीं होता। क्योंकि एक द्रव्य का अन्यद्रव्यरूप पलटने का पहले ही निषेध कर चुके है। इस कारण खड़िया कुटी आदि की नहीं है। यहां पूछते हैं—सेटिका कुटी आदि की नहीं हैं तो किसकी है ? उसका उत्तर—सेटिका सेटिका की ही है। फिर पूछते हैं-वह दूसरी सेटिका कौनसी है कि जिसकी यह सेटिका है ? उसका उत्तर—दूसरी सेटिका तो नहीं है कि जिसकी यह सेटिका हो सके। तो क्या है ? स्वस्वामि अंश ही अन्य है। वहां कहते हैं यहां निश्चयनय में स्वस्वामिअंश के व्यवहार से क्या साध्य है ? कुछ भी नहीं। तो यह सिद्ध हुआ कि सेटिका किसी की भी नहीं सेटिका सेटिका ही है ऐसा निश्चय है। जैसे यह दृष्टांत है वैसे यहां दार्ष्टांतिक अर्थ है—यहां चेतयिता आत्मा प्रथम ही दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाव वाला द्रव्य है, उसके व्यवहार से देखने योग्य पुद्गल आदि परद्रव्य हैं। अब यहां दोनों का परमार्थभूत तत्त्वरूप संबंध विचारते हैं कि जो पुद्गल आदि परद्रव्य है उसका चेतयिता है या नहीं ? यदि चेतयिता पुद्गल द्रव्यादि का है ऐसा मानो तो यह न्याय है कि जो जिसका होता है वह वही है अन्य नहीं है। जैसे आत्मा का ज्ञान हुआ आत्मा ही है ज्ञान भिन्न द्रव्य नहीं है ऐसे तत्त्वसंबंध के विद्यमान होनेपर चेतयिता पुद्गल आदि का हुआ पुद्गल आदिक ही हो सकेगा, भिन्न द्रव्य न हो सकेगा। ऐसा होनेपर चेतयिता के स्वद्रव्यका नाश हो जाएगा, परंतु द्रव्यका नाश होता नहीं। क्योंकि अन्यद्रव्य को पलट कर अन्यद्रव्य होने का पहले ही निषेध कर चुके हैं। इसलिये यह ठहरा कि चेतयिता पुद्गल द्रव्य आदि का नहीं हैं। यहां पूछते हैं कि चेतयिता पुद्गलद्रव्य आदि का नहीं है तो किसका है ? उसका उत्तर—चेत-

वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादि परद्रव्यं। अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति ? तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते।

एसो ववहारस्स दु विणिच्छियो णाणदंसणचरित्ते भणिदो भणितः कथितः। कोऽसौ कर्मतापन्नः ? एष प्रत्यक्षीभूतः, पूर्वोक्तगाथाचतुष्टयेन निर्दिष्टो विनिश्चयः, व्यवहारानुयायी निश्चय इत्यर्थः। कस्य संबंधी ? व्यवहारनयस्य। क्व विषये ? ज्ञानदर्शनचारित्रत्रये **अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो** इदमोदनादिकं मया भुक्तं,

---

यिता का ही चेतयिता है। फिर पूछते हैं वह दूसरा चेतयिता कौनसा है जिसका यह चेतयिता है ? उसका उत्तर—चेतयिता से अन्य तो चेतयिता नहीं है। तो क्या है। स्वस्वामिअंश ही अन्य है। वहां कहते हैं कि यहां निश्चयनय में स्वस्वामिअंश का व्यवहार से क्या साध्य है ? कुछ भी नहीं। तब यह ठहरा कि चेतयिता किसी का भी दर्शक नहीं है दर्शक है वह दर्शक ही है। यहां निश्चयनय में स्वस्वामिअंश के व्यवहार से क्या साध्य है ? कुछ भी नहीं यह निश्चय है। अब इसी तरह चारित्र को भी कहते हैं—वहां जैसे सेटिका प्रथम ही जिसका स्वभाव श्वेतगुण से भरा है ऐसा द्रव्य है, उसके व्यवहार से श्वेत करने योग्य कुटी आदि परद्रव्य है। अब यहां दोनों का परमार्थ से संबंध विचारते हैं। श्वेत करने योग्य कुटी आदि परद्रव्य के श्वेत करने वाली सेटिका है या नहीं ? जो सेटिका कुटी आदि की है ऐसा मानिये तो यह न्याय है कि जो जिसका हो वह वही है अन्य नहीं है। जैसे आत्मा का ज्ञान हुआ आत्मा ही है अन्यद्रव्य नहीं है। ऐसे परमार्थरूप तत्त्व संबंध को जोवित (विद्यमान) होने पर सेटिका कुटी आदि की हुई कुटी आदि ही होगी। ऐसा होने पर सेटिका के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायगा सो द्रव्य का उच्छेद नहीं होता। क्योंकि अन्य द्रव्य को पलट कर अन्य द्रव्य होने का निषेध पहले कर चुके हैं। इसलिये सेटिका कुट्यादिक की नहीं है। वहां पूछते हैं कि कुट्यादि की नहीं है तो कौन सी सेटिका है ? उसका उत्तर—सेटिका की ही सेटिका है। फिर पूछते हैं कि वह दूसरी सेटिका कौन सी है जिसकी यह सेटिका है। उसका उत्तर—इस सेटिका से अन्य सेटिका तो नहीं है। तो क्या है ? स्वस्वामिअंश हैं वे ही अन्य हैं। वहां कहते हैं स्वस्वामिअंश से निश्चयनय में क्या साध्य है ? कुछ भी नहीं। तब यह ठहरा कि सेटिका अन्य किसी की भी नहीं है सेटिका सेटिका ही है ऐसा निश्चय है। जैसा यह दृष्टांत है वैसा दार्ष्टांतिक अर्थ है। चेतयिता आत्मा है वह प्रथम ही ज्ञान दर्शन गुण से भरा जिसका स्वभाव परके त्यागरूप है ऐसा द्रव्य है, उसके व्यवहार से त्यागने योग्य पुद्गल आदि परद्रव्य है। अब यहां दोनों के परमार्थतत्त्वरूप संबंध विचारते हैं—त्यागने योग्य पुद्गल आदि परद्रव्य के त्यागने वाला चेतयिता है या नहीं ? जो चेतयिता पुद्गल आदि परद्रव्य का है ऐसा मानिये तो यह न्याय है कि जिसका जो हो वह वही है जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है अन्यद्रव्य नहीं। ऐसा तत्त्वसंबंध विद्यमान होने पर चेतयिता पुद्गल आदि का हुआ पुद्गल आदिक ही होगा। ऐसा होने पर चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायगा। सो द्रव्य का उच्छेद होता नहीं। क्योंकि अन्यद्रव्य को पलट कर अन्यद्रव्य होने का प्रतिषेध पहले ही कर चुके हैं। इसलिये चेतयिता पुद्गलादिक का नहीं हो सकता। यहां पूछते हैं कि

यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती कुड्यादिरेव भवेत्, एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद् द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः। यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति। ननु कतरान्या सेटिका सेटिकायाः यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि। तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः। यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टांतिकः—चेतयितात्र तावद्दर्शनगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं तस्य तु व्यवहारेण दृश्यं पुद्गलादि परद्रव्यं। अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्य दृश्यस्य दर्शकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति ? तदुभयतत्त्वसंबंधो

इदमहिविषकंटकादिकं त्यक्तं, इदं गृहादिकं कृतं, तत्सर्वं व्यवहारेण। निश्चयेन पुनः स्वकीयरागादिपरिणाम एव कृतो भुक्तश्च। एवमित्याद्यन्येष्वपि पर्यायेषु निश्चयव्यवहारनयविभागो ज्ञातव्य इति। किं च यदि व्यवहारेण परद्रव्यं जानाति तर्हि निश्चयेन सर्वज्ञो न भवतीति पूर्वपक्षे परिहारमाह—यथा स्वकीयसुखादिकं तन्मयो भूत्वा जानाति तथा बहिर्द्रव्यं न जानाति तेन कारणेन व्यवहारः। यदि पुनः परकीयसुखादिकमात्मसुखादिवत्तन्मयो भूत्वा जानाति तर्हि यथा स्वकीय-

---

चेतयिता पुद्गल आदि का नहीं है तो कौन सा चेतयिता है ? उसका उत्तर—चेतयिता का ही चेतयिता है। फिर पूछते हैं वह दूसरा चेतयिता कौनसा है ? जिसका यह चेतयिता है। उसका उत्तर—चेतयिता से अन्य चेतयिता तो नहीं है। तो क्या है ? स्वस्वामिअंश ही अन्य हैं। वहां कहते हैं—यहां निश्चयनय में स्वस्वामिअंश का व्यवहार से क्या साध्य है ? कुछ भी नहीं। तब यह ठहरा कि अपोहक (त्यागनेवाला) है, वह किसी का भी अपोहक नहीं है. अपोहक है वह अपोहक ही है ऐसा निश्चय है।

अब व्यवहार को कहते हैं—जैसे वही सेटिका जिसका स्वभाव श्वेतगुण से भरा हुआ है वह आप कुटी आदि परद्रव्य के स्वभाव से नहीं परिणमती तथा कुट्यादिक परद्रव्य को अपने स्वभाव से नहीं परिणमाती हुई जिसको कुट्यादि परद्रव्य निमित्त है ऐसे अपने श्वेतगुण से भरे स्वभाव के परिणाम से उपजती हुई कुट्यादि परद्रव्य को अपने स्वभाव से सफेद करती है। कैसा है परद्रव्य ? जिसको सेटिका निमित्त है ऐसे अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हुआ है। उसको श्वेत करती है ऐसा व्यवहार करते हैं। उसी तरह चेतयिता आत्मा भी जिसका स्वभाव ज्ञानगुण से भरा हुआ है ऐसा है। वह आप तो पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभाव से परिणमित हुआ नहीं है और न ही पुद्गल आदि परद्रव्य को अपने स्वभाव से परिणमाता हुआ है। तथा जिसको पुद्गल आदि परद्रव्य निमित्त है ऐसे अपने ज्ञानगुण से भरे स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न होता हुआ है। वह पुद्गलादि परद्रव्य जिसको चेतयिता निमित्त है ऐसे अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हुआ है, उसको अपने स्वभाव से जानता है, ऐसा व्यवहार किया जाता है। ऐसा तो ज्ञान का व्यवहार है। अब दर्शनगुण का व्यवहार कहते हैं—जैसे वही सेटिका जिसका स्वभाव श्वेतगुण से भरा हुआ है, वह आप कुट्यादि

मीमांस्यते—यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवति इति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्। एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद् द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः? ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः। यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति? चेतयितुरेव चेतयिता भवति। ननु कतरोन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण? न किमपि। तर्हि न कस्यापि दर्शकः, दर्शको दर्शक एवेति निश्चयः। अपि च सेटिका अत्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादि परद्रव्यं। अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति? तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते। यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवति इति तत्त्वसंबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती कुड्यादिरेव भवेत्। एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद् द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः? ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः। यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति?

सुखसंवेदने सुखी भवति तथा परकीयसुखदुःखसंवेदनकाले सुखी दुःखी च प्राप्नोति न च तथा। यद्यपि स्वकीयसुखसंवेदनापेक्षया निश्चयः, परकीयसुखसंवेदनापेक्षया व्यवहारस्तथापि छद्मस्थजनापेक्षया सोऽपि निश्चय एवेति। ननु सौग-

---

परद्रव्य के स्वभाव से तो परिणमन नहीं करती हुई है और कुड्यादि परद्रव्य को अपने स्वभाव से परिणमन नहीं कराती हुई है। तथा जिसको कुड्यादि परद्रव्य निमित्त हैं, ऐसे श्वेतगुण से भरे अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हुई है। वह कुड्यादि परद्रव्य जिसको सेटिका निमित्त है ऐसा अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हुआ है। उसको अपने स्वभाव से सफेद करती है, ऐसा व्यवहार किया जाता है। उसी तरह चेतयिता भी जिसका स्वभाव दर्शनगुण से भरा है ऐसा है। वह स्वयं (आप) तो पुद्गल आदि परद्रव्य के स्वभाव से परिणमन नहीं करता है और पुद्गल आदि परद्रव्य को भी अपने स्वभाव से परिणमन नहीं कराता है। तथा जिसको पुद्गल आदि परद्रव्य निमित्त हैं ऐसा अपने दर्शनगुण से भरे स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हुआ है। वह पुद्गल आदि परद्रव्य जिसको चेतयिता निमित्त है ऐसे अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हुए को अपने स्वभाव से देखता है ऐसा व्यवहार किया जाता है। इस तरह दर्शनगुण का व्यवहार है। अब चारित्र का व्यवहार कहते हैं—जैसे वही सेटिका जिसका स्वभाव श्वेतगुण से भरा है ऐसी है वह आप कुड्यादि परद्रव्य के स्वभाव से परिणमन नहीं करती हुई है तथा कुड्यादि परद्रव्य को अपने स्वभाव से नहीं परिणमाती हुई है। और जिसको कुड्यादि परद्रव्य निमित्त है ऐसा श्वेतगुण से भरे अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हुई है तथा यह कुड्यादि परद्रव्य जिसको सेटिका निमित्त है ऐसा अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न उसको

सेटिकाया एव सेटिका भवति । ननु कतरान्या सेटिका सेटिकाया यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः । यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टांतिकः—चेतयितात्र तावद् ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावं द्रव्यं । तस्य तु व्यवहारेणापोह्यं पुद्गलादिपरद्रव्यं । अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्यापोह्यस्यापोहकः चेतयिता किं भवति किं न भवतीति ? तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते । यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवति इति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत् । एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः । ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः । यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति । ननु कतरोऽन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः किंतु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि । तर्हि न कस्याप्यपोहकः, अपोहकोऽपोहक एवेति निश्चयः । अथ व्यवहारव्याख्यानम् । यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मस्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते तथा चेतयितापि ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन जानातीति व्यवह्रियते । किंच यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयंती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भर-

---

तोऽपि ब्रूते व्यवहारेण सर्वज्ञः, तस्य किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति ? तत्र परिहारमाह—सौगतादिमते यथा निश्चयापेक्षया व्यवहारो मृषा, तथा व्यवहाररूपेणापि व्यवहारो न सत्य इति, जैनमते पुनर्व्यवहारनयो यद्यपि निश्चयापेक्षया मृषा तथापि व्यवहाररूपेण सत्य इति । यदि पुनर्लोकव्यवहाररूपेणापि सत्यो न भवति तर्हि सर्वोऽपि लोकव्यवहारो

सेटिका अपने स्वभाव से श्वेत करती है । ऐसा व्यवहार किया जाता है । उसी तरह चेतयिता आत्मा भी ज्ञानदर्शन गुण से भरा परके अपोहन (त्याग) रूप स्वभाव है । वह स्वयं पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभाव से परिणमन नहीं करता है और पुद्गलादि परद्रव्य को भी अपने स्वभाव से नहीं परिणमाता । तथा पुद्गलादि परद्रव्य जिसको निमित्त है ऐसा अपने ज्ञानदर्शनगुण से भरा पर के त्याग करने रूप स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हुआ है । सो जिसको चेतयिता निमित्त है ऐसा अपने स्वभाव के परिणाम से

स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते । तथा चेतयितापि दर्शनगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्‌गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्‌गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणामयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो दर्शनगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्‌गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन पश्यतीति व्यवह्रियते । अपि च—यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणामयंती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते । तथा चेतयितापि ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावः स्वयं पुद्‌गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्‌गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणामयन् पुद्‌गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्‌गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेनापोहतीति व्यवह्रियते । एवमयमात्मनो ज्ञानदर्शनचारित्रपर्यायाणां निश्चयव्यवहारप्रकारः । एवमेवान्येषां सर्वेषामपि पर्यायाणां द्रष्टव्यः ॥३५६।३६५॥

मिथ्या भवति, तथा सत्यतिप्रसंगः । एवमात्मा व्यवहारेण परद्रव्यं जानाति पश्यति निश्चयेन पुनः स्वद्रव्यमेवेति । ततएतद्यातिग्रामारामादि सर्वं खल्विदं ब्रह्म ज्ञेयवस्तु किमपि नास्ति यद् ब्रह्माद्वैतवादिनो वदंति तन्निषिद्धं । यद्यपि सौगतो वदति

उत्पन्न जो पुद्‌गलादि परद्रव्य उसको अपने स्वभाव से त्यागता है । ऐसा व्यवहार किया जाता है । ऐसे ये आत्मा के ज्ञानदर्शनचारित्र पर्यायों का निश्चय व्यवहार है । इसी प्रकार अन्य भी जो कोई पर्याय हैं उन सभी पर्यायों का निश्चय व्यवहार जानना ।

भावार्थ—शुद्धनय से आत्मा का एक चेतनामात्र स्वभाव है । उसके परिणाम देखना, जानना, श्रद्धान करना और परद्रव्य से निवृत्त होना है । वहां निश्चयनय से विचारिये, तब आत्मा परद्रव्य का ज्ञायक नहीं कहा जा सकता, न दर्शक, न श्रद्धान करने वाला और न त्याग करनेवाला कहा जा सकता है । क्योंकि परद्रव्य का और आत्मा का निश्चय से कुछ भी संबंध नहीं है । जो ज्ञाता द्रष्टा श्रद्धान करनेवाला त्याग करने वाला, ए सब भाव हैं सो आप ही है । भाव्य-भावक का भेद कहना भी व्यवहार है । और परद्रव्य का ज्ञाता, द्रष्टा, श्रद्धान करने वाला त्याग करने वाला जो कहते हैं वह भी व्यवहारनय से कहते हैं, क्योंकि परद्रव्य का और आत्मा का निमित्तनैमित्तिक भाव है । सो परके निमित्त से कुछ भाव हुए देख व्यवहारी जन कहते हैं कि परद्रव्य को जानता है, परद्रव्य को देखता है परद्रव्य का श्रद्धान करता है और परद्रव्य को त्यागता है । इस तरह निश्चय व्यवहार का प्रकार जान यथावत् श्रद्धान करना ॥३५६-३६५॥

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो-
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यांतरं जातुचित् ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
किं द्रव्यांतरचुंबनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवंते जनाः ॥२१५॥
शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद्द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः ।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्तिभूमि-
र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ॥२१६॥

ज्ञानमेव घटपटादिज्ञेयाकारेण परिणमति न च ज्ञानाद्भिन्नं ज्ञेयं किमप्यस्ति तदपि निराकृतं । कथं ? इति चेत्, ,यदि ज्ञानं ज्ञेयरूपेण परिणमति तदा ज्ञानाभावः प्राप्नोति यदि वा ज्ञेय ज्ञानरूपेण परिणमति तदा ज्ञेयाभावस्तथा सत्युभयशून्यत्वं, स च प्रत्यक्षविरोधः । एवं निश्चयव्यवहारव्याख्यानमुख्यतया समुदायेन सप्तमस्थले सूत्रदशकं गतं ॥३५६—

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**शुद्ध** इत्यादि । **अर्थ**—आचार्य कहते हैं कि जिसने शुद्धद्रव्य के निरूपण में बुद्धि लगाई है, और जो तत्त्व का अनुभव करता है, ऐसे पुरुष के एकद्रव्य में प्राप्त हुआ अन्यद्रव्य कुछ भी कदाचित् नहीं प्रतिभासित होता । तथा ज्ञान अन्य ज्ञेय पदार्थों को जानता है सो यह ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है । ये लोक हैं वे अन्यद्रव्य के ग्रहण में आकुलित हुए शुद्धस्वरूप से क्यों चिगते हैं ?

भावार्थ—शुद्धनय की दृष्टि से तत्त्व का स्वरूप विचारने से अन्यद्रव्य का अन्यद्रव्य में प्रवेश नहीं दीखता, परंतु ज्ञान में अन्यद्रव्य प्रतिभासित होता है सो यह ज्ञान की स्वच्छता का स्वभाव है, ज्ञान उनको ग्रहण नहीं करता । ये लोक अन्यद्रव्य का ज्ञान में प्रतिभास देख अपने ज्ञानस्वरूप से छूट ज्ञेयके ग्रहण करने की बुद्धि करते हैं सो यह अज्ञान है । आचार्य ने उसको करुणा से कहा है कि ये लोक तत्त्व से क्यों चिगते हैं ? ॥२१५॥

अब इसी अर्थ को काव्य से दृढ़ करते हैं—**शुद्धद्रव्यस्वरस** इत्यादि । **अर्थ**—द्रव्य का निज भाव स्वभाव है । आत्मा का ज्ञान चेतना स्वभाव है । शुद्ध आत्मा का निज रस ज्ञान चेतना है । उसके होने पर अन्य दव्य कुछ भी नहीं हैं । परमार्थ से संबंध नही है । जैसे चांदनी पृथ्वी को उज्वल करती है तथापि पृथ्वी चांदनी की कदापि नहीं होती । उसी तरह ज्ञान ज्ञेयपदार्थ को सदाकाल जानता है तथापि ज्ञेय ज्ञान का कदापि नहीं होता है ।

भावार्थ—शुद्धनय की दृष्टि से देखिये तब किसी द्रव्य का स्वभाव किसी अन्य द्रव्यरूप नहीं होता । जैसे चांदनी पृथ्वी को उज्ज्वल करती है परन्तु चांदनी की पृथ्वी कुछ नहीं लगती; उसी तरह ज्ञान ज्ञेय को जानता है परंतु ज्ञान का ज्ञेय कुछ नहीं लगता । आत्मा का ज्ञान स्वभाव है इसकी स्वच्छता में ज्ञेय स्वयमेव झलकते हैं तो भी ज्ञान में उन ज्ञेयों का प्रवेश नहीं है ॥२१६॥

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न यावद्
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्ये[1]।
ज्ञानं ज्ञानं भवतु तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
भावाभावौ भवति तिरयन्येन पूर्णस्वभावः ॥२१७॥

दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे विसये।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ॥३६६॥
दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे कम्मे।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तम्मि कम्मह्मि ॥३६७॥
दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे काये।
तह्मा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु ॥३६८॥

३६५॥ अथ यावत्कालं निजशुद्धात्मात्मानमात्मत्वेन न जानाति, पंचेन्द्रियविषयादिकं परद्रव्यं च परत्वेन न जानात्ययं जीवस्तावत्कालं रागद्वेषाभ्यां परिणमतीति। अथवा बहिरंगपञ्चेन्द्रियविषयत्यागसहकारित्वेनाविक्षिप्तचित्तभावनोत्पन्न-निर्विकारसुखामृतरसास्वादबलेन विषयकर्मकायानां विघातं करोम्यहमित्यजानन् स्वसंवित्तिरहितकायक्लेशेनात्मानं दमयति। तस्य भेदज्ञानार्थं सिद्धान्तं प्रयच्छति—दर्शनज्ञानचारित्रं किमपि नास्ति। केषु ? शब्दादिपंचेंद्रियविषयेषु ज्ञानावरणादि

अब कहते हैं कि ज्ञान में राग-द्वेष का उदय कहां तक है ? उसका काव्य है—**रागद्वेष** इत्यादि।

अर्थ—यह ज्ञान जब तक ज्ञान रूप नहीं होता और ज्ञेय ज्ञेयभाव को प्राप्त नहीं होता तब तक रागद्वेष दोनों उदय होते हैं। इसलिये यह ज्ञान अज्ञानभाव को दूर करके ज्ञानरूप हो इसी कारण भाव अभाव ज्ञान में होते हैं उनको दूर करता हुआ पूर्ण स्वभाव हो।

भावार्थ—जब तक ज्ञान ज्ञानरूप नहीं होता ज्ञेय ज्ञेयरूप नहीं होता तब तक राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसलिये यह ज्ञान अज्ञान भाव को दूर करके ज्ञानरूप हो अर्थात् जिस कारण ज्ञान में भाव अभाव ये दो अवस्थायें होती हैं वे मिट जांय और ज्ञान पूर्णस्वभाव को प्राप्त हो जाय। यह प्रार्थना है ॥२१७॥

आगे कहते हैं कि रागद्वेष मोह से दर्शन ज्ञान चारित्र का घात होता है। दर्शनज्ञान चारित्र पुद्गल द्रव्य में नहीं हैं, आत्मा ही में दर्शन ज्ञान चारित्र हैं, और आत्मा में ही अज्ञान से राग द्वेष मोह हैं इसलिए अज्ञान से अपना ही घात होता है;—**[दर्शनज्ञानचारित्रं]** दर्शन ज्ञान चारित्र **[अचेतने विषये तु]** अचेतन विषय में तो **[किंचिदपि नास्ति]** कुछ भी नहीं हैं **[तस्मात्]** इसलिये **[तेषु विषयेषु]** उन विषयों में **[चेतयिता]** आत्मा **[किं हंति]** क्या घात करे ? **[दर्शनज्ञानचारित्रं]** दर्शन ज्ञान चारित्र **[अचेतने कर्मणि तु]** अचेतन कर्म में **[किंचिदपि नास्ति]** कुछ भी नहीं हैं। **[तस्मात्]** इसलिये

१. 'पुनर्बोध्यतां याति बोध्यं' इत्यपि पाठः।

णाणस्स दंसणस्स य भणिओ घाओ तहा चरित्तस्स।
णवि तहिं पुग्गलदव्वस्स कोऽवि घाओ उ णिद्दिट्ठो ॥३६९॥
जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु।
तह्मा सम्माइट्ठिस्स णत्थि रागो उ विसएसु ॥३७०॥
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा।
एएण कारणेण उ सद्दादिसु णत्थि रागादि ॥३७१॥ (षट्कम्)

दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने विषये।
तस्मात्किं हंति चेतयिता तेषु विषयेषु ॥३६६॥
दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने कर्मणि।
तस्मात्किं हंति चेतयिता तत्र कर्मणि ॥३६७॥
दर्शनज्ञानचरित्रं किंचिदपि नास्ति त्वचेतने काये।
तस्मात् किं हंति चेतयिता तेषु कायेषु ॥३६८॥
ज्ञानस्य दर्शनस्य भणितो घातस्तथा चरित्रस्य।
नापि तत्र पुद्गलद्रव्यस्य कोऽपि घातस्तुनिर्दिष्टः ॥३६९॥
जीवस्य ये गुणाः केचिन्न संति खलु ते परेषु द्रव्येषु।
तस्मात्सम्यग्दृष्टेर्नास्ति रागस्तु विषयेषु ॥३७०॥
रागो द्वेषो मोहो जीवस्यैव चानन्यपरिणामाः।
एतेन कारणेन तु शब्दादिषु न संति रागादयः ॥३७१॥

द्रव्यकर्मसु औदारिकादिपंचकायेषु। कथं भूतेषु तेषु? अचेतनेषु। तस्मात्किं घातयते चेतयिता आत्मा तेषु जडस्वरूप-विषयकर्मकायेषु? न किमपि। किंच शब्दादिपंचेंद्रियविषयाभिलाषरूपो ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मबंधकारणभूतः कायम-

---

[तत्र कर्मणि] उस कर्म में [चेतयिता] आत्मा [किं हंति] क्या घात करे? [दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शन ज्ञान चारित्र [अचेतने काये तु] अचेतन काय में [किंचिदपि नास्ति] कुछ भी नहीं है [तस्मात्] इसलिये [तेषु कायेषु] उन कायों में [चेतयिता] आत्मा [किं हंति] क्या घाते? [घातः] घात [ज्ञानस्य दर्शनस्य तथा चारित्रस्य] ज्ञान का दर्शन का तथा चारित्र का [भणितः] कहा है [तत्र] वहां [पुद्गलद्रव्यस्य तु] पुद्गल द्रव्य का तो [कोपि घातः] कुछ भी घात [नापि निर्दिष्टः] नहीं कहा। [ये केचित्] जो कुछ [जीवस्य गुणाः] जीव के गुण हैं [ते] वे [खलु] निश्चय से [परेषु द्रव्येषु]

यद्धि यत्र भवति तत्तद्घाते हन्यत एव यथा प्रदीपघाते प्रकाशो हन्यते । यत्र च यद्भवति तत्तद्घाते हन्यते एव यथा प्रकाशघाते प्रदीपो हन्यते । यत्तु यत्र न भवति तत्तद्घाते न हन्यते यथा घटघाते घटप्रदीपो न हन्यते। यत्र यन्न भवति तत्तद्घातेन हन्यते यथा घटप्रदीपघाते घटो न हन्यते । तथात्मनो धर्मा दर्शनज्ञानचारित्राणि पुद्गलद्रव्यघातेऽपि न हन्यंते, नच दर्शनज्ञानचारित्राणां घातेऽपि पुद्गलद्रव्यं हन्यते, एवं दर्शनज्ञानचारित्राणि पुद्गलद्रव्ये न भवंतीत्यायाति अन्यथा तद्घाते' पुद्गलद्रव्यघातस्य, पुद्गलद्रव्यघाते तद्घातस्य दुर्निवारत्वात् । यत एवं ततो ये यावन्तः

मत्वरूपश्च योऽसौ मिथ्यात्वरागादिपरिणामो मनसि तिष्ठति तस्य घातः कर्तव्यः ते च शब्दादयो रागादीनां बहिरंग-कारणभूतास्त्याज्याः—इति भावार्थः । तस्यैव पूर्वोक्तगाथात्रयस्य विशेषविवरणं करोति—तद्यथा—**णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स** शब्दादिपंचेंद्रियाभिलाषरूपेण कायममत्वरूपेण वा ज्ञानावरणादिकर्मबंधनिमित्तमनं-तानुबध्यादिरागद्वेषरूपं यन्मनसि मिथ्याज्ञानं तिष्ठति तस्य मिथ्याज्ञानस्य निर्विकल्पसमाधिप्रहरणेन सर्वज्ञैर्घातो भणितः न केवलं मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यादर्शनस्य च । तथैव मिथ्यात्वचारित्रस्य च **णवि तह्मि कोवि पुग्गलदव्वे घादो दु णिद्दिट्ठो** न च तत्राचेतने शब्दादिविषयकर्मकायरूपे पुद्गलद्रव्ये कोऽपि घातो निर्दिष्टः। किं च यथा घटाधारभूते प्रदीपे हते सति घटो हतो न भवति तथा रागादिनिमित्तभूते शब्दादिपंचेंद्रियविषये हतेऽपि सति मनसि गता रागादयो हता न भवंति नचान्यस्य घाते कृते सत्यन्यस्य घातो भवति । कस्मात् ? अतिप्रसंगादिति भावः । **जीवस्स जे गुणा केई णत्थि ते खलु परेसु दव्वेसु** यस्माज्जीवस्य ये केचन सम्यक्त्वादयो गुणास्ते परेषु परद्रव्येषु शब्दादिविषयेषु न संति खलु स्फुटं **तह्मा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसयेसु** तस्मात्कारणान्निर्विषयस्वशुद्धात्मभावनोत्थसुखतृप्तस्य सम्यग्दृष्टेर्विषयेषु रागो नास्तीति **रागो दोसो मोहो जीवस्स दु जे अणण्णपरिणामा** रागद्वेषमोहा यस्मादज्ञा-

---

परद्रव्यों में [न संति] नहीं हैं [तस्मात्] इसलिये [सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टि के [विषयेषु] विषयों में [रागस्तु] राग ही [नास्ति] नहीं है [रागः द्वेषः मोहः] राग-द्वेष-मोह ये सब [जीवस्यैव च] जीव के ही [अनन्यपरिणामाः] एक (अभेद) रूप परिणाम हैं [एतेन कारणेन तु] इसी कारण [रागादयः] रागादिक [शब्दादिषु] शब्दादिकों में [न संति] नहीं हैं ।

टीका—निश्चय से जो जिसमें होता है वह उसके घात होने पर घाता जाता है । जैसे दीपक में प्रकाश है सो दीपक के घात होने से प्रकाश भी हना जाता है । और जिसमें जो है, उसके घात होने से उस आधार का भी घात होता है; जैसे प्रकाश का घात होने से दीपक भी हना जाता है । जो जिसमें नहीं है वह उसके घात होने से नहीं हना जाता जैसे घट का घात होने से दीपक नहीं हना जाता । तथा जिसमें जो नहीं है वह उसके घात होने से नहीं हना जा सकता । जैसे घड़े में दीपक का घात होने से घड़ा नहीं घाता जाता । आत्मा के धर्म दर्शन-ज्ञान और चारित्र पुद्गलद्रव्य के घात होने पर भी नहीं घाते जाते, तथा दर्शन ज्ञान और चारित्र का घात होने पर पुद्गलद्रव्य भी नहीं घाता जाता । इस तरह दर्शन ज्ञान

---

१. आत्मधर्मघाते ।

केनापि जीवगुणास्ते सर्वेऽपि परद्रव्येषु न संतीति सम्यक् पश्यामः। अन्यथा अत्रापि जीवगुणघाते पुद्गलद्रव्यघातस्य पुद्गलद्रव्यघाते जीवगुणघातस्य च दुर्निवारत्वात्। यद्येवं तर्हि कुतः सम्यग्दृष्टेर्भवति रागो विषयेषु? न कुतोऽपि। तर्हि रागस्य कतरा खनिः? रागद्वेषमोहा हि जीवस्यैवाज्ञानमयाः परिणामास्ततः परद्रव्यत्वाद्विषयेषु न संति, अज्ञानाभावात्सम्यग्दृष्टौ तु न भवंति। एवं ते विषयेष्वसंतः सम्यग्दृष्टेर्न भवंतो न भवंत्येव ॥३६६।३७१॥

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किंचित्।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटंतौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ॥२१८॥

निर्जीवस्याशुद्धनिश्चयेनाभिन्नपरिणामः। **एदेन कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी** तेन कारणेन शब्दादिमनोज्ञामनोज्ञपंचेंद्रियविषयेष्वचेतनेषु यद्यप्यज्ञानी जीवो भ्रांतिज्ञानेन शब्दादिषु रागादीन् कल्पयत्यारोपयति तथापि शब्दा-

---

और चारित्र पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं। यदि ऐसा न हो तो दर्शन ज्ञान चारित्र का घात होने से पुद्गलद्रव्य का घात अवश्य हो जावेगा और पुद्गलद्रव्य का घात होने से दर्शन-ज्ञान और चारित्र का घात अवश्य हो जावेगा। इसीलिये आचार्य कहते हैं कि जीवद्रव्य के गुण हैं वे सभी परद्रव्यों में नहीं हैं। ऐसे पुद्गल को अच्छीतरह हम देखते हैं। यदि ऐसा न हो तो यहांपर भी जीव के गुणका घात होने से पुद्गलद्रव्य का घात अवश्य होना चाहिये और पुद्गलद्रव्य का घात होने से जीव गुण का घात अवश्य होना चाहिये। सो ऐसा नहीं होता। अब विचारते हैं कि ऐसा होनेपर सम्यग्दृष्टि के विषयों में राग किस कारण से होता है? वहां कहते हैं कि किसी भी कारण से नही होता। तब पूछते हैं कि राग के उपजने की कौनसी खान है? वहां कहते हैं कि रागद्वेष मोह जीव के ही अज्ञानमय परिणाम हैं। यह अज्ञान ही रागादिक के उपजने की खान है। क्योंकि विषय परद्रव्य हैं, उनमें रागादिक अज्ञानमय परिणाम नहीं है। जब अज्ञान का अभाव हो जावे तब आत्मा सम्यग्दृष्टि होवे तब उसमें रागादिक भी नहीं हो सकते इस तरह रागादिक विषयों में न होते हुए सम्यग्दृष्टि के न होने से नहीं होते।

भावार्थ—दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि जितने जीव के गुण हैं वे अचेतन पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं। आत्मा के अज्ञानमय परिणाम से ही राग-द्वेष-मोह होते हैं, उनसे अपने ही दर्शन-ज्ञानचारित्र आदि गुण घाते जाते हैं और वे राग द्वेष मोह जीव के ही अस्तित्व में अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। जब अज्ञान का अभाव हो जाने पर सम्यग्दृष्टि बन जाता हैं तब वे राग-द्वेष-मोह नहीं उत्पन्न होते। ऐसा होनेपर शुद्धद्रव्य की दृष्टि में पुद्गल में भी रागद्वेष मोह नहीं है और सम्यग्दृष्टि जीव में भी नहीं हैं। इसतरह वे दोनों में ही नहीं हैं। तथा पर्यायदृष्टि में जीव के अज्ञान अवस्था में हैं, ऐसा जानना ॥३६६।३७१॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**रागद्वेष** इत्यादि। **अर्थ**—इस आत्मा में ज्ञान ही अज्ञानभाव से रागद्वेषरूप परिणमित होता है। वास्तव में स्वायिदृष्टि से देखे जांय तो रागादिक कुछ

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या नान्यद् द्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि ।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरंतश्चकास्ति व्यक्तात्यंतं स्वस्वभावेन यस्मात् ॥२१९॥

अरणदविएण अरणदवियस्स ण कीरए गुणुप्पाओ[1] ।
तह्मा उ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७२॥

अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यस्य न क्रियते गुणोत्पादः ।
तस्मात्तु सर्वद्रव्याण्युत्पद्यंते स्वभावेन ॥३७२॥

न च जीवस्य परद्रव्यं रागादीनुत्पादयतीति शंक्यं—अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यगुणोत्पादकरणस्यायोगात् । सर्वद्रव्याणां स्वभावेनैवोत्पादात् । तथाहि—मृत्तिका कुम्भभावेनोत्पद्यमाना किं कुम्भकारस्वभावेनोत्पद्यते किं मृत्तिकास्वभावेन ? यदि कुम्भकारस्वभावेनोत्पद्यते तदा कुम्भकरणा-

---

विषु रागादयो न संति । कस्मात् ? शब्दादीनामचेतनत्वात् । ततःस्थितं तावदेव रागद्वेषद्वयमुदयते बहिरात्मनो यावन्मनसि त्रिगुप्तिरूपं स्वसंवेदनज्ञानं नास्ति । इति गाथाषट्कं गतं ॥३६६–३७१॥ एवमेतदायाति शब्दादीद्रियविषया अचेतनाश्चेतनरागाद्युत्पत्तौ निश्चयेन कारणं न भवंति;— **अरणदविएण अरणदवियस्स णो कीरदे गुणविघादो** अन्यद्रव्येण बहिरंगनिमित्तभूतेन कुभकारादिनाऽन्यद्रव्यस्योपादानरूपस्य मृत्तिकादेर्न क्रियते । स कः ? चेतनस्याचेत-

---

भी नहीं हैं, द्रव्यरूप भिन्न पदार्थ नहीं हैं। इसलिये आचार्य प्रेरणा करते हैं कि सम्यग्दृष्टि उनको तत्त्वदृष्टिसे प्रकट देखकर नाश करे जिससे कि पूर्ण प्रकाशरूप अचल दीप्तिवाली स्वाभाविक ज्ञानज्योति प्रकाशित हो।

भावार्थ—रागद्वेष भिन्न द्रव्य नहीं हैं, जीव के अज्ञानभाव से होते हैं। इसलिये सम्यग्दृष्टि होके तत्त्वदृष्टि से देखो तो कुछ भी वस्तु नहीं। इस तरह देखने से घातिकर्म का नाश होके केवल ज्ञान उत्पन्न होता है ॥२१८॥

आगे कहते है कि अन्यद्रव्य से अन्यद्रव्य के गुण उत्पन्न नहीं होते । उसकी सूचना का काव्य— **रागद्वेषो** इत्यादि । **अर्थ**—तत्त्वदृष्टि से देखो तो रागद्वेष का उत्पन्न करने वाला अन्य द्रव्य कुछ भी नहीं दीखता, चेतन के ही परिणाम हैं । क्योंकि यह न्याय है कि सब द्रव्यों की उत्पत्ति अपने ही निज स्वभाव में अत्यंत प्रगट रूप शोभित होती है । अन्यद्रव्य में अन्य के गुणपर्यायों की उत्पत्ति नहीं है ॥२१९॥

आगे इस अर्थ को गाथा में कहते हैं;—**[अन्यद्रव्येण]** अन्यद्रव्य से **[अन्यद्रव्यस्य]** अन्यद्रव्य के **[गुणोत्पादः]** गुण का उत्पाद **[न क्रियते]** नहीं किया जा सकता **[तस्मात्तु]** इसलिये यह सिद्धांत है कि **[सर्वद्रव्याणि]** सभी द्रव्य **[स्वभावेन]** अपने अपने स्वभाव से **[उत्पद्यन्ते]** उत्पन्न होते हैं ।

टीका—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए कि परद्रव्य जीव को रागादिक उत्पन्न कराता है; क्योंकि अन्यद्रव्य से अन्यद्रव्य के गुणों को उत्पन्न कराने की असमर्थता है । सब द्रव्यों में स्वभाव से ही उत्पाद होता है । यही दृष्टांत से दिखलाते हैं कि मृतिका घटभाव से उत्पन्न होती हुई कुंभकार के स्वभाव

---

१. तात्पर्यवृत्तौ गुणविघादो इति पाठः ।

हंकारनिर्भरपुरुषाधिष्ठितव्यापृतकरपुरुषशरीराकारः कुम्भः स्यात्, न च तथास्ति द्रव्यांतरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात् । यद्येवं तर्हि मृत्तिका कुम्भकारस्वभावेन नोत्पद्यते किंतु मृत्तिकास्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात् । एवं च सति मृत्तिकायाः स्वस्वभावानतिक्रमान्न कुम्भकारः कुम्भस्योत्पादक एव मृत्तिकैव कुम्भकारस्वभावमस्पृशंती स्वस्वभावेन कुम्भभावेनोत्पद्यते । एवं सर्वाण्यपि द्रव्याणि स्वपरिणामपर्यायेणोत्पद्यमानानि किं निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावेनोत्पद्यंते किं स्वस्वभावेन ? यदि निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावेनोत्पद्यंते तदा निमित्तभूतपरद्रव्याकारस्तत्परिणामः स्यात्, नच तथास्ति द्रव्यांतरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात् । यद्येवं तर्हि न सर्वद्रव्याणि निमित्तभूतपरद्रव्यस्वभावेनोत्पद्यंते किंतु स्वस्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात् । एवं च सति स्वस्वभावानतिक्रमात् सर्वद्रव्याणां निमित्तभूतद्रव्यांतराणि परिणामस्योत्पादकान्येव सर्वद्रव्याण्येव निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावमस्पृशंति

नरूपेण, अचेतनस्य चेतनरूपेण वा चेतनाचेतनगुणघातो विनाशो न क्रियते यस्मात् । **तह्मा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण** तस्मात्कारणान्मृत्तिकादिसर्वद्रव्याणि कर्तृणि घटादिरूपेण जायमानानि स्वकीयोपादानकारणेन मृत्तिकादिरूपेण जायंते न च कुंभकारादिबहिरंगनिमित्तरूपेण । कस्मात् इति चेत् । उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति यस्मात् ।

से उत्पन्न होती है या मृत्तिका के स्वभाव से ? यदि कुंभकार के स्वभाव से उत्पन्न होती है तो जिसमें घट बनाने के अहंकार से भरा हुआ पुरुष विद्यमान है और जिसका हाथ घट बनाने का व्यापार करता है ऐसे पुरुष के आकार रूप घड़ा होना चाहिये अर्थात् कुम्हार के शरीर के आकार घड़ा बनना चाहिये । किन्तु ऐसा नहीं होता । क्योंकि अन्यद्रव्य के स्वभाव से अन्यद्रव्य के परिणाम का उत्पन्न होना नहीं देखते । यदि ऐसा है कि मृत्तिका कुंभकार के स्वभाव से तो उत्पन्न नहीं होती । तो किस तरह उत्पन्न होती है ? मृत्तिका स्वभाव से ही उत्पन्न होती है क्योंकि अपने स्वभाव से ही द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखा जाता है । ऐसा होने पर मृत्तिका को स्वभाव के उल्लंघन करने से कुंभकार घड़े को उत्पन्न करने वाला नहीं है । मिट्टी ही कुंभकार के स्वभाव को नहीं स्पर्शती, अपने ही स्वभाव से कुंभ भाव से उत्पन्न होती है । इसी तरह सब द्रव्य अपने परिणामरूप पर्याय से उत्पन्न होते हैं । क्या वे निमित्तभूत अन्यद्रव्य के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं या अपने ही स्वभाव से उत्पन्न होते हैं ? यदि कहो कि निमित्तभूत अन्यद्रव्य के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं तो निमित्तभूत परद्रव्य के आकार उसका परिणाम होना चाहिये । ऐसा नहीं होता क्योंकि अन्यद्रव्य के स्वभाव से अन्यद्रव्य के परिणाम का उत्पन्न होना नहीं देखा जाता । जब सभी द्रव्य निमित्तभूत परद्रव्य के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होते तो अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं । क्योंकि अपने स्वभाव से ही सब द्रव्यों के परिणाम का उत्पाद देखा जाता है । ऐसा होने पर सभी द्रव्यों के निमित्तभूत जो अन्यद्रव्य वे अन्यद्रव्य के परिणाम के उत्पन्न कराने वाले नहीं हैं । सभी द्रव्य निमित्तभूत अन्यद्रव्यों के स्वभाव को नहीं स्पर्शते अपने स्वभाव से अपने परिणाम भाव से उत्पन्न होते हैं इस कारण आचार्य कहते हैं

स्वस्वभावेन स्वपरिणामभावेनोत्पद्यंते। अतो न परद्रव्यं जीवस्य रागादीनामुत्पादकमुत्पश्यामो यस्मै कुप्यामः ॥३७२॥

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ॥२२०॥

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयंति ये तु ते।
उत्तरंति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरांधबुद्धयः ॥२२१॥

तेन किं सिद्धं ? यद्यपि पंचेंद्रियविषयरूपेण शब्दादीनां बहिरंगनिमित्तभूतेनाज्ञानिजीवस्य रागादयो जायंते तथापि जीवस्वरूपा एव चेतना न पुनः शब्दादिरूपा अचेतना भवंतीति भावार्थः। एवं कोऽपि प्राथमिकशिष्यश्चित्तस्थानरागादीन्न जानाति बहिरंगशब्दादिविषयाणां रागादिनिमित्तानां घातं करोमीति निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदज्ञानाभावाच्चिंतयति

कि जो परद्रव्य है वह जीव के रागादिक के उत्पन्न करने वाला नहीं दीखता जिस पर हम कोप करें।

भावार्थ—आत्मा के रागादिक अपने ही अशुद्ध परिणाम हैं। निश्चयनय से विचारो तो इनके उत्पन्न करने वाला अन्यद्रव्य नहीं है। अन्यद्रव्य इनका निमित्तमात्र है। क्योंकि यह नियम है कि अन्यद्रव्य के अन्यद्रव्य गुणपर्याय उत्पन्न नहीं करते। इसलिये जो ऐसा मानते हैं कि मेरे रागादिक परद्रव्य ही उत्पन्न कराता है, ऐसा एकांत करते हैं वे नियम विभाग नहीं समझे, मिथ्यादृष्टि हैं। ये रागादिक जीव के सत्त्व में उत्पन्न होते हैं, परद्रव्य तो निमित्तमात्र है, ऐसा मानना सम्यग्ज्ञान है। इस कारण आचार्य ऐसा कहते हैं कि हम रागद्वेष की उत्पत्ति में अन्यद्रव्य पर क्यों कोप (गुस्सा) करें। राग-द्वेष का उपजना अपना ही अपराध है ॥३७२॥

अब इस अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं—**यदिह** इत्यादि। **अर्थ**—जो इस आत्मा में राग-द्वेष रूप दोष की उत्पत्ति है वहां परद्रव्य का कुछ भी दोष नहीं है। उस आत्मा में यह आप अपराधी फैलता है। यह कथन प्रकट होवे और यह अज्ञान भी अस्त हो जाय। क्योंकि मैं तो ज्ञान स्वरूप हूं ऐसा मानना सम्यग्ज्ञान है॥

भावार्थ—अज्ञानी जीव राग-द्वेष की उत्पत्ति परद्रव्य से मानकर परद्रव्य पर कोप करता है कि मेरे परद्रव्य राग-द्वेष उत्पन्न करता है उसको दूर करूं। उसके समझाने को कहते हैं कि राग-द्वेष की उत्पत्ति अज्ञान से अपने में ही होती है, वे अपने ही अशुद्ध परिणाम हैं। सो यह अज्ञान नाश को प्राप्त होवे और सम्यग्ज्ञान प्रगट हो। आत्मा ज्ञानस्वरूप है ऐसा अनुभव करो। राग-द्वेष के उत्पन्न होने में परद्रव्य को उत्पन्न करने वाला मानकर उस पर कोप मत करो ऐसा उपदेश है ॥२२०॥

अब इसी अर्थ के दृढ़ करने को अगले कथन की सूचनिकारूप काव्य कहते हैं—**रागजन्मनि** **अर्थ**—जो पुरुष राग की उत्पत्ति में परद्रव्य का ही निमित्तपना मानते हैं, अपना कुछ भी हेतु नहीं मानते, वे मोहरूप नदी के पार नहीं उतरे हैं, क्योंकि शुद्धनय का विषयभूत जो आत्मा का स्वरूप उसके ज्ञान से रहित अंध बुद्धि वाले हैं।

णिंदियसंथुयवयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुयाणि ।
ताणि सुणिऊण रूसदि तूसदि य अहं पुणो भणिदो ॥३७३॥
पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणयं तस्स जइ गुणो अण्णो ।
तह्मा ण तुमं भणिओ किंचिवि किं रूससि अबुद्धो ॥३७४॥
असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणइ सुणसु मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं सोयविसयमागयं सद्दं ॥ ३७५ ॥
असुहं सुहं च रूवं ण तं भणइ पिच्छ मंति सो चेव ।
णय एइ विणिग्गहिउं चक्खुविसयमागयं रूवं ॥ ३७६ ॥
असुहो सुहो व गंधो ण तं भणइ जिग्घ मंति सो चेव ।
णय एइ विणिग्गहिउं घाणविसयमागयं गंधं ॥ ३७७ ॥
असुहो सुहो व रसो ण तं भणइ रसय मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं रसणविसयमागयं तु रसं ॥ ३७८ ॥

तस्य संबोधनार्थं पूर्वं गाथाषट्केन सह सूत्रसप्तकं गतं ॥३७२॥ अथेन्द्रियमनोविषयेषु रागद्वेषौ मिथ्याज्ञानपरिणत एव जीवः करोतीत्याख्याति रूसदि तूसदि य एकेंद्रियविकलेंद्रियादिदुर्लभपरंपराक्रमेणातीतानंतकाले दृष्टश्रुतानुभूत-

---

भावार्थ—शुद्धनय का विषय आत्मा अनंतशक्ति को लिये चैतन्य चमत्कारमात्र नित्य एक है। उसमें यह स्वच्छता है कि जैसा निमित्त मिले वैसे आप परिणमता है। ऐसा नहीं कि जो जैसा परिणमावे वैसा परिणमन करे, अपना कुछ पुरुषार्थ नहीं हो। आत्मा के स्वरूप का जिनको ज्ञान नहीं है वे ऐसा मानते हैं कि आत्मा को परद्रव्य जैसा परिणमावे वैसे परिणमता है। ऐसा मानने वाले मोह की सेना अथवा नदी रागद्वेषादि, परिणाम उनसे पार नहीं होते, उनके राग-द्वेष नहीं मिटते। क्योंकि अपना पुरुषार्थ उनके होने में हो तो उनके मेटने में भी होना चाहिये और पर के ही करने से हो तो वह किया ही करे, अपना मेटना किस काम का? इस कारण अपना किया होता है, अपना मेंटा मिटता है, इस तरह कथंचित् मानना सम्यग्ज्ञान है ॥२२१॥

आगे इस कथन को प्रगट करते हैं कि जो स्पर्श-रस-गंध-वर्ण-शब्दरूप पुद्गल परिणत होते हैं वे यद्यपि इन्द्रियों से आत्मा के जानने में आते हैं तो भी वे जड़ हैं, आत्मा को यह नहीं कहते कि हम को ग्रहण करो। आत्मा ही अज्ञानी होकर उनको भले बुरे मान रागी द्वेषी होता है ऐसा गाथा में कहते हैं—**[बहुकानि]** बहुत प्रकार के **[निंदितसंस्तुतवचनानि]** निंदा और स्तुति के वचन हैं **[पुद्गलाः परिण-मंति]** पुद्गल उनरूप परिणमते हैं **[तानि]** उनको **[श्रुत्वा]** सुन कर **[अहं भणितः]** यह अज्ञानी जीव

असुहो सुहो व फासो ण तं भणइ फुससु मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं कायविसयमागयं फासं ॥३७९॥
असुहो सुहो व गुणो ण तं भणइ बुज्झ मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं तु गुणं ॥३८०॥
असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणइ बुज्झ मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं दव्वं ॥३८१॥
एयं तु जाणिऊण उवसमं णेव गच्छई मूढो ।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ॥३८२॥ (दशकम्)

निंदितसंस्तुतवचनानि पुद्गलाः परिणमंति बहुकानि ।
तानि श्रुत्वा रुष्यति तुष्यति च पुनरहं भणितः ॥३७३॥
पुद्गलद्रव्यं शब्दत्वपरिणतं तस्य यदि गुणोऽन्यः ।
तस्मान्न त्वं भणितः किंचिदपि किं रुष्यस्यबुद्धः ॥३७४॥
अशुभः शुभो वा शब्दः न त्वां भणति शृणु मामिति स एव ।
नचैति विनिर्गृहीतुं श्रोत्रविषयमागतं शब्दं ॥३७५॥

मिथ्यात्वविषयकषायादिविभावपरिणामाधीनतया अत्यंतदुर्लभेन कथंचित्कालादिलब्धिवशेन मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृतीनां तथैव चारित्रमोहनीयस्य चोपशमक्षयोपशमक्षये सति षड्द्रव्यपंचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थादिश्रद्धानज्ञानरागद्वेषपरिहाररूपेण भेदरत्नत्रयात्मकव्यवहारमोक्षमार्गसंज्ञेन व्यवहारकारणसमयसारेण साध्येन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपेणानंतकेवलज्ञानादिचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकेन निश्चयकारणसमयसारेण विना खल्वज्ञानिजीवो रुष्यति तुष्यति च । किं कृत्वा ? **सुणिऊण** श्रुत्वा । पुनः पश्चात् केन रूपेण ? **अहं भणिदो** अनेनाहं भणित इति । कानि श्रुत्वा ? **णिंदिदसंथुदवयणाणि** निंदितसंस्तुतवचनानि **ताणि** तानि । किंविशिष्टानि ? **पोग्गला परिणमंति बहुगाणि** भाषावर्गणायोग्यपुद्गलाः कर्तारो यानि

ऐसा मानता है कि मुझको कहा है इसलिये **[रुष्यति]** ऐसा मान रोस (गुस्सा) करता है **[च पुनः]** और **[तुष्यति]** संतुष्ट होता है । **[शब्दत्वपरिणतं]** शब्द रूप परिणत हुआ **[पुद्गलद्रव्यं]** पुद्गलद्रव्य **[तस्य गुणः]** उसका गुण **[अन्यः]** यदि तुझ से अन्य है **[तस्मात्]** तो हे अज्ञानी जीव **[त्वं किंचिदपि न भणितः]** तुझ को तो कुछ भी नहीं कहा **[अबुद्धः]** तू अज्ञानी हुआ **[किं रुष्यसि]** क्यों रोष करता है ? **[अशुभः वा शुभः]** अशुभ अथवा शुभ **[शब्दः]** शब्द **[त्वां न भणति इति]**

अशुभं शुभं वा रूपं न त्वां भणति पश्य मामिति स एव ।
न चैति विनिगृहीतुं चक्षुर्विषयमागतं रूपं ॥३७६॥
अशुभः शुभो वा गंधो न त्वां भणति जिघ्र मामिति स एव ।
न चैति विनिगृहीतुं घ्राणविषयमागतं गंधं ॥३७७॥
अशुभः शुभो वा रसो न त्वां भणति रसय मामिति स एव ।
न चैति विनिगृहीतुं रसनविषयमागतं तु रसं ॥३७८॥
अशुभः शुभो वा स्पर्शो न त्वां भणति स्पृश मामिति स एव ।
न चैति विनिगृहीतुं कायविषयमागतं तु स्पर्शं ॥३७९॥

कर्मतापन्नानि बहुविधानि परिणमंति । ज्ञानी पुनर्व्यवहारमोक्षमार्गं निश्चयमोक्षमार्गभूतं पूर्वोक्तद्विविधकारणसमयसारं ज्ञात्वा बहिरंगेष्टानिष्टविषये रागद्वेषौ न करोतीति भावार्थः । **पुग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणदं** भाषावर्गणायोग्य-पुद्गलद्रव्यं कर्तृ क्रियस्वेति जीवस्त्वमिति रूपेण निंदितसंस्तुतशब्दरूपत्वपरिणतं **तस्स जदि गुणो अण्णो** तस्य पुद्गलद्रव्यस्य शुद्धात्मस्वरूपाद्यदि गुणोऽन्यो भिन्नो जडरूपः, तर्हि जीवस्य किमायातं ? न किमपि । तस्यैवाज्ञानिजीवस्य पूर्वोक्तव्यवहारकारणसमयसारनिश्चयकारणसमयसाररहितस्य संबोधनं क्रियते । कथं ? इति चेत्, यस्मान्निंदित-संस्तुतवचनेन पुद्गलाः परिणमंति **तह्मा ण तुमं भणिदो किंचिवि** तस्मात्कारणात्त्वं न भणितः किंचिदपि **किं रूससे अबुहो** किं रुष्यसे अबुध । बहिरात्मन्निति । स चैवाज्ञानिजीवो व्यवहारनिश्चयकारणसमयसाराभ्यां रहितः पुनरपि संबोध्यते ।

तुझ को ऐसा नहीं कहता कि **[मां शृणु]** मुझ को सुन **[च]** और **[श्रोत्रविषयं आगतं]** श्रोत्र इंद्रिय के विषय में आये हुए **[शब्दं]** शब्द के **[विनिर्ग्रहीतुं]** ग्रहण करने को **[स एव]** वह आत्मा भी अपने स्वरूप को छोड़ **[न एति]** प्राप्त नहीं होता । **[अशुभं शुभं वा]** अशुभ अथवा शुभ **[रूपं]** रूप **[त्वां इति न भणति]** तुझको ऐसा नहीं कहता कि **[मां पश्य]** तू मुझको देख **[च]** और **[चक्षुर्विषयं आगतं रूपं]** चक्षु इन्द्रिय के विषय में आये हुए रूप के **[विनिर्ग्रहीतुं]** ग्रहण करने को **[स एव]** वह आत्मा भी अपने प्रदेशों को छोड़ **[न एति]** प्राप्त नहीं होता । **[अशुभः वा शुभः]** अशुभ अथवा शुभ **[गंधः]** गंध **[त्वां इति न भणति]** तुझ को ऐसा नहीं कहता कि **[मां जिघ्र]** तू मुझको सूंघ **[च]** और **[घ्राणविषयं आगतं गंधं]** घ्राण इन्द्रिय के विषय में आये हुए गंध के **[विनिर्ग्रहीतुं]** ग्रहण करने को **[स एव]** वह आत्मा भी अपने प्रदेश को छोड़ **[न एति]** प्राप्त नहीं होता है । **[अशुभः वा शुभः रसः]** अशुभ वा शुभ रस **[त्वां इति न भणति]** तुझ को ऐसा नहीं कहता कि **[मां रसय]** मुझ को तू आस्वाद कर **[च]** और **[रसनविषयं आगतं तु रसं]** रसना इंद्रिय के विषय में आये रस के **[विनिर्ग्रहीतुं]** ग्रहण करने को **[स एव]** वह आत्मा भी अपने प्रदेश को छोड़ **[न एति]** प्राप्त नहीं होता । **[अशुभः वा शुभः स्पर्शः]** अशुभ वा शुभ स्पर्श **[त्वां इति न भणति]** तुझ को ऐसा नहीं कहता कि **[मां स्पृश]** तू मुझ को स्पर्श (छू ले) **[च]** और **[कायविषयं आगतं स्पर्शं]** स्पर्शन इंद्रिय के विषय में

अशुभः शुभो वा गुणो न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव ।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं बुद्धिविषयमागतं तु गुणं ॥३८०॥
अशुभं शुभं वा द्रव्यं न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव ।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं बुद्धिविषयमागतं द्रव्यं ॥३८१॥
एतत्तु ज्ञात्वा उपशमं नैव गच्छति मूढः ।
विनिर्ग्रहमनाः परस्य च स्वयं च बुद्धिं शिवामप्राप्तः ॥३८२॥

यथेह बहिरर्थोघटपटादिः, देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा 'मां प्रकाशय' इति स्वप्रकाशने न प्रदीपं प्रयोजयति । न च प्रदीपोप्ययःकांतोपलकृष्टायःसूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य

हे अज्ञानिन् ! शब्दरूपगंधरसस्पर्शरूपा मनोज्ञामनोज्ञपंचेंद्रियविषयाः कर्तारः, त्वां कर्मतापन्नं किमपि न भणंति । किं न भणंति ? हे देवदत्त ! मां कर्मतापन्नं शृणु, मां पश्य, मां जिघ्र, मां स्वादय, मां स्पृशेति । पुनरप्यज्ञानी ब्रूते एते शब्दादयः कर्तारो मां किमपि न भणंति, परं किंतु मदीयश्रोत्रादिविषयस्थानेषु समागच्छंति ? आचार्या उत्तरमाहुः — हे मूढ ! नवायांति विनिर्ग्रहीतुं एते शब्दादिपंचेंद्रियविषयाः । कथंभूताः संतः ? श्रोत्रेंद्रियादिस्वकीयस्वकीयविषयभावमागच्छंतः । कस्मात् ? इति चेत् वस्तुस्वभावादिति । यस्तु परमतत्त्वज्ञानी जीवः स पूर्वोक्तव्यवहारनिश्चयकारणसमयसाराभ्यां बाह्याभ्यंतररत्नत्रयलक्षणाभ्यां सहितः सन् मनोज्ञामनोज्ञशब्दादिविषयेषु समागतेषु रागद्वेषौ न करोति, किंतु स्वस्वभावेन शुद्धात्मस्वरूपमनुभवतीति भावार्थः । यथा पंचेंद्रियविषये मनोज्ञामनोज्ञेंद्रियसंकल्पवशेन रागद्वेषौ करोत्यज्ञानी जीवः, तथा परकीयगुणपरिच्छेदरूपे परद्रव्यपरिच्छेदरूपे च मनोविषयेऽपि रागद्वेषौ करोति तस्याज्ञानिजीवस्य पुनरपि

आये हुए स्पर्श के **[विनिर्ग्रहीतुं]** ग्रहण करने को **[स एव]** वह आत्मा भी अपने प्रदेश को छोड़ **[न एति]** प्राप्त नहीं होता । **[अशुभः वा शुभः]** अशुभ वा शुभ **[गुणः]** द्रव्य का गुण **[त्वां इति न भणति]** तुझ को ऐसा नहीं कहता कि **[मां बुध्यस्व]** तू मुझ को जान **[च]** और **[बुद्धिविषयं आगतं तु गुणं]** बुद्धि के विषय में आये हुए गुण के **[विनिर्ग्रहीतुं]** ग्रहण करने को **[स एव]** वह आत्मा भी अपने प्रदेश को छोड़कर **[न एति]** प्राप्त नहीं होता । **[अशुभं वा शुभं द्रव्यं]** अशुभ वा शुभ द्रव्य **[त्वां इति न भणति]** तुझ को ऐसा नहीं कहता कि **[मां बुध्यस्व]** तू मुझे जान **[च]** और **[बुद्धिविषयं आगतं द्रव्यं]** बुद्धि के विषय में आये हुए द्रव्य के **[विनिर्ग्रहीतुं]** ग्रहण करने को **[स एव]** वह आत्मा भी अपने प्रदेश को छोड़ **[न एति]** प्राप्त नहीं होता । **[मूढः]** मूढ जीव **[एतत्तु ज्ञात्वा]** ऐसा जानकर भी **[उपशमं नैव गच्छति]** उपशम भाव को नहीं प्राप्त होता **[च]** और **[परस्य विनिर्ग्रहमनाः]** परके ग्रहण करने का मन करता है **[च]** क्योंकि **[स्वयं शिवां बुद्धिं अप्राप्तः]** आप कल्याणरूप बुद्धि जो सम्यग्ज्ञान उसको नहीं प्राप्त हुआ है ।

टीका—प्रथम दृष्टांत कहते हैं :—जिस प्रकार देवदत्त यज्ञदत्त का हाथ पकड़ कर उससे अपना कार्य करा लेता है, उस प्रकार घटपटादि बाह्य पदार्थ दीपक से यह नहीं कहते कि तू हमें प्रकाशित कर । और दीपक भी चुम्बक से आकृष्ट सूई की तरह अपना स्थान छोड़कर उन पदार्थों को प्रकाशित करने

तं प्रकाशयितुमायाति। किं तु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्यत्वाच्च यथा तदसन्निधाने तथा तत्संनिधानेऽपि स्वरूपेणैव प्रकाशते। स्वरूपेणैव प्रकाशमानस्य चास्य वस्तुस्वभावादेव विचित्रां परिणतिमासादयन् कमनीयोऽकमनीयो वा घटपटादिर्न मनागपि विक्रियायै कल्प्यते। तथा बहिरर्थः शब्दो रूपं गंधो रसः स्पर्शो गुणद्रव्ये च देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा मां शृणु मां पश्य मां जिघ्र मां रसय मां स्पर्श मां बुध्यस्वेति स्वज्ञाने नात्मानं प्रयोजयति। नचात्माप्ययःकांतोपलकृष्टायःसूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य तान् ज्ञातुमायाति। किंतु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्यत्वाच्च यथा तद-

---

संबोधनं क्रियते तद्यथा—परकीयगुणः शुभोऽशुभो वा चेतनोऽचेतनो वा। द्रव्यमपि परकीयं कर्तृ त्वं। कर्मतापन्नं न भणति हे मनोबुद्धे हे अज्ञानिजनचित्त ! मां कर्मतापन्नं बुध्यस्व जानीहि। अज्ञानी वदति—एवं न ब्रूते किंतु मदीयमनसि परकीयगुणो द्रव्यं वा परिच्छित्तिसंकल्परूपेण स्फुरति प्रतिभाति। तत्रोत्तर दीयते—स चैव परकीयगुणः परकीयद्रव्यं वा मनोबुद्धिविषयमागतं विनिगृहीतुं नायाति। कस्मात् ? ज्ञेयज्ञायकसंबंधस्य निषेधयितुमशक्यत्वात् इति हेतोः—यद्रागद्वेषकरणं तदज्ञानं। यस्तु ज्ञानी स पुनः पूर्वोक्तव्यवहारनिश्चयकारणं समयसारं जानन् हर्षविषादौ न करोतीति भावार्थः **एवं तु** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण मनोज्ञामनोज्ञशब्दादिपंचेंद्रियविषयस्य परकीयगुणद्रव्यरूपस्य मनोविषयस्य वा, कथंभूतस्य ? **जाणिदव्वस्स** ज्ञातद्रव्यस्य पंचेंद्रियमनोविषयभूतस्येत्यर्थः।.तस्य पूर्वोक्तप्रकारेण स्वरूपं ज्ञात्वापि **उवसमं णेव गच्छदे मूढो** उपशमेनैव गच्छति मूढो बहिरात्मा स्वय। कथंभूतः ? **णिग्गहमणा** निग्रहमनाः निवारणबुद्धिः। कस्य संबंधित्वेन ? **परस्स य** परस्य पंचेंद्रियमनोविषयस्य। कथंभूतस्य ? परकीयशब्दादिगुणद्रव्यरूपस्य। पुनरपि कथंभूतस्य ? स्वकीयविषयमागतस्य प्राप्तस्य। पुनरपि किं रूपश्चाज्ञानी जीवः। **सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो** स्वयं च शुद्धात्मसंवित्तिरूपां बुद्धिमप्राप्तः। वीतरागसहजपरमानंदरूपं शिवशब्दवाच्यं सुखं चाप्राप्त इति। किंच, यथायस्कांतोपलाकृष्टा सूची स्वस्थानात्प्रच्युत्यायस्कांतोपलपाषाणसमीपं गच्छति तथा शब्दादयश्चित्तक्षोभरूपविकृतिकरणार्थं जीवसमीपं न गच्छंति। जीवोऽपि तत्समीपं न गच्छति निश्चयतः किंतु स्वस्थाने स्वस्वरूपेणैव तिष्ठति। एव वस्तुस्वभावे सत्यपि यदज्ञानी जीव उदासीनभावं मुक्त्वा रागद्वेषौ करोति तदज्ञानमिति। हे भगवन् पूर्वं बंधाधिकारे भणित—"एव णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रायमादीहिं। राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादि एहिं भावेहिं ॥१॥" इत्यादि रागादीनामकर्ता ज्ञानी, परद्रव्यजनिता रागादयः इत्युक्तं। अत्र तु स्वकीयबुद्धिदोषजनिता रागादयः परेषां शब्दादिपंचेन्द्रियविषयाणां दूषणं नास्तीति

नहीं पहुंचता। किन्तु दीपक घटपटादि पदार्थों के सद्भाव मे भी उसी प्रकार प्रकाशमान रहता है जिस प्रकार उनके अभाव में, क्योंकि वस्तु स्वभाव ही यह है कि वह दूसरे से उत्पन्न नहीं होता न दूसरे को उत्पन्न करता है। इसी तरह घटपटादि पदार्थ भी वे सुन्दर हों या असुन्दर वस्तु स्वभाव के कारण स्वयं तो नाना प्रकार परिणमन करते हैं किन्तु स्वभाव से प्रकाशमान दीपक में कोई विकार पैदा नहीं करते वैसे ही शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श और गुण द्रव्य यज्ञदत्त का हाथ पकड़ कर देवदत्त की तरह आत्मा से यह नहीं कहते कि तू मुझे सुन, देख, सूंघ, आस्वादन कर, छू, समझ। और न आत्मा ही चुम्बक से आकृष्ट सूई की तरह अपने स्थान से हट कर उन्हें जानने के लिए उन तक दौड़ी जाती है। किन्तु उनके सद्भाव में भी आत्मा उन्हें उसी प्रकार जानता है जिस प्रकार उनके अभाव में क्योकि वस्तु का स्वभाव

सन्निधाने तथा तत्सन्निधानेऽपि स्वरूपेणैव जानीते। स्वरूपेण जानतश्चास्य वस्तुस्वभावादेव विचित्रां परिणतिमासादयंतः कमनीया अकमनीया वा शब्दादयो बहिरर्था न मनागपि विक्रियायै कल्प्येरन्। एवमात्मा प्रदीपवत् परं प्रति उदासीनो नित्यमेवेति वस्तुस्थितिः, तथापि यद्रागद्वेषौ तदज्ञानं ॥३७३-३८२॥

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोधः[1] न बोध्यादयं।
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव
तद्वस्तुस्थितिबोधबंध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो।
रागद्वेषमयीं भवंति सहजां मुंचंत्युदासीनतां ॥२२२॥

पूर्वापरविरोधः? अत्रोत्तरमाह—तत्र बंधाधिकारव्याख्याने ज्ञानिजीवस्य मुख्यता ज्ञानी तु रागादिभिर्न परिणमति तेन कारणेन परद्रव्यजनिता भणिताः। अत्र चाज्ञानिजीवस्य मुख्यता स चाज्ञानी जीवः स्वकीयबुद्धिदोषेण परद्रव्यनिमित्त

ही यह है कि वह दूसरे से उत्पन्न नहीं होता और न दूसरे को उत्पन्न करता है। इसी तरह शब्दादि बाह्य पदार्थ अपनी सुन्दर असुन्दर दोनों अवस्थाओं में वस्तु स्वभाव के कारण नाना रूप परिणमन तो करते हैं किन्तु स्वरूप से जाननेवाली आत्मा में कोई विकार पैदा नहीं करते। इस प्रकार आत्मा पर पदार्थ के प्रति सदा ही उदासीन है, यही वस्तुस्वभाव है। इस पर भी जो रागद्वेष होते हैं वह अज्ञान है।

भावार्थ—आत्मा शब्द को सुनकर, रूप को देखकर, गंध को सूंघकर, रसको आस्वादन कर, स्पर्शकर, गुणद्रव्य को जानकर भला बुरा मान रागद्वेष उपजाता है सो वह अज्ञान है। क्योंकि ये शब्दादिक तो जड़ (पुद्गलद्रव्य) के गुण हैं, आत्मा को कुछ नहीं कहते कि हमको ग्रहण करो। और आत्मा भी स्वयं अपने प्रदेशों को छोड़कर उनके ग्रहण करने को उनमें नहीं जाती है। जैसे उनके समीप न होने पर जानता है वैसे ही समीप होनेपर भी जानता है। आत्मा के विकार के लिये कुछ भी नहीं है। जैसे दीपक घटपटादि को प्रकाशित करता है उसी तरह आत्मा उनको जानता है ऐसा वस्तु का स्वभाव है। तो भी आत्मा में जो रागद्वेष उत्पन्न होता है यह अज्ञान ही है ॥३७३-३८२॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—पूर्णै इत्यादि। अर्थ—पूर्ण, एक, अच्युत और शुद्ध (विकार से रहित) ज्ञान स्वरूप जिसकी महिमा है ऐसा ज्ञानी ज्ञेय पदार्थों से कुछ भी विकार को प्राप्त नहीं होता उसी तरह जैसे दीपक प्रकाशने योग्य घटपटादि पदार्थो से विकार को नहीं प्राप्त होता। ऐसी जिनकी बुद्धि वस्तु की मर्यादा के ज्ञान से रहित है, ऐसे अज्ञानी जीव अपनी स्वाभाविक उदासीनता को क्यों छोड़ते हैं और रागद्वेषमय क्यों होते हैं? ऐसा आचार्य ने सोच किया है।

भावार्थ—ज्ञान का स्वभाव ज्ञेय को जानने का ही है। दीपक का स्वभाव घटपट आदि को प्रकाश करने का है। यह वस्तु स्वभाव है। ज्ञेय को जानने मात्र से ज्ञान में विकार नहीं होता। और

---

१. 'बोद्धा' इत्यपि पाठः।

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात् ।
दूरारूढचरित्रवैभवबलाच्चंचच्चिदर्चिर्मयीं
विंदन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य संचेतनां ॥२२३॥

मात्रमाश्रित्य रागादिभिः परिणमति, तेन कारणेन परेषां शब्दादिपचेंद्रियविषयाणां दूषणं नास्तीति भणितं । ततः कारणात् पूर्वापरविरोधो नास्ति इति एवं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गभूतं निश्चयकारणसमयसारव्यवहारकारणसमयसार-द्वयमजानन् सन्नज्ञानी जीवः स्वकीयबुद्धिदोषेण रागादिभिः परिणमति । परेषां शब्दादीनां दूषणं नास्तीति व्याख्यानमुख्य-त्वेन नवमस्थले गाथादशकं गतं ॥३७३।३८२॥ अथ निश्चयप्रतिक्रमणनिश्चयप्रत्याख्याननिश्चयालोचनपरिणततपोधन एवाभेदेन निश्चयचारित्रं भवतीत्युपदिशति;—**णिच्चदे अप्पयं तु जो** इहलोकपरलोकाकांक्षारूपख्यातिपूजालाभदृष्ट-श्रुतानुभूतभोगाकांक्षालक्षणनिदानबंधादिसमस्तपरद्रव्यालंबनोत्पन्नशुभाशुभसंकल्पविकल्परहिते शून्ये विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावा-त्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवनरूपाभेदरत्नत्रयात्मके निर्विकल्पपरमसमाधिसमुत्पन्नवीतरागसहजपरमानंदस्वभावसुखरसा-

---

जो ज्ञेय को जानकर भलाबुरा मान आत्मा रागी, द्वेषी, विकारी होता है सो यह अज्ञान है । इसीसे आचार्य ने सोच किया है कि वस्तु का स्वभाव तो ऐसा है, किन्तु यह आत्मा अज्ञानी होकर रागद्वेष रूप क्यों परिणमता है ? अपनी स्वाभाविक उदासीनता अवस्था रूप क्यो नहीं रहता ? सो यह आचार्य का सोच करना युक्त (ठीक) है । क्योंकि जब तक शुभ राग है तब तक प्राणियों को अज्ञान से दुःखी देख करुणा उत्पन्न होती है तब सोच भी होता है ॥२२२॥

अब अगले कथन की सूचनिकारूप काव्य कहते हैं—**रागद्वेष** इत्यादि । **अर्थ**—ज्ञानी राग-द्वेष रूप विभाव से रहित तेज वाले हैं । नित्य ही अपने चैतन्य चमत्कारमात्र स्वभाव को स्पर्श करने वाले हैं । पूर्व किये गए समस्त कर्म और आगामी होने वाले जो समस्त कर्मों से रहित हैं । तथा वर्तमान काल में आये हुये कर्म के उदय से भिन्न हैं । ऐसे ज्ञानी अतिशय अंगीकार किये चारित्र का जो विभव, समस्त परद्रव्य का त्याग, उसके बल से ज्ञान की सम्यक् प्रकार चेतना को अनुभव करते हैं । वह ज्ञानचेतना चमकती (जागती) चैतन्यरूप ज्योतिमयी हैं तथा अपने ज्ञानरूप रस से जिसने तीन लोक को सींचा है ।

भावार्थ—जिनका राग द्वेष गया और अपने चैतन्य स्वभाव का अंगीकार हुआ तथा अतीत अनागत वर्तमान कर्म का ममत्व गया, ऐसे ज्ञानी सब परद्रव्य से पृथक् होकर चारित्र को अंगीकार करते हैं । उसके बल से कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से पृथक् जो अपनी चैतन्य के परिणमन स्वरूप ज्ञान-चेतना उसका अनुभव करते हैं । यहां तात्पर्य यह जानना कि पहले तो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न अपनी ज्ञानचेतना मात्र स्वरूप आगम अनुमान स्वसंवेदन प्रमाण जाने और उसका श्रद्धान (प्रतीति) दृढ़ करे । सो यह तो अविरत, देश विरत और प्रमत्त अवस्था में भी होता है । जब अप्रमत्त अवस्था होती है अपने स्वरूप का ही ध्यान करता है उस समय ज्ञानचेतना का जैसा श्रद्धान किया था उसमें लीन होता है तब श्रेणी चढ़ केवल ज्ञान उत्पन्न कर साक्षात् ज्ञानचेतनारूप होता है । ऐसा जानना ॥२२३॥

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमरोयवित्थरविसेसं ।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥३८३॥
कम्मं जं सुहमसुहं जह्मि य भावह्मि वज्झइ भविस्सं ।
तत्तो णियत्तए जो सो पच्चक्खाणं हवइ चेया ॥३८४॥
जं सुहमसुहमुदिरणं संपडि य अरोयवित्थरविसेसं ।
तं दोसं जो चेयइ सो खलु आलोयणं चेया ॥३८५॥
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्चं य पडिक्कमदि जो ।
णिच्चं आलोचेयइ सो हु चरित्तं हवइ चेया ॥३८६॥ (चतुष्कम्)

कर्म यत्पूर्वकृतं शुभाशुभमनेकविस्तरविशेषं ।
तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणं ॥३८३॥
कर्म यच्छुभमशुभं यस्मिंश्च भावे बध्यते भविष्यत् ।
तस्मान्निवर्तते यः स प्रत्याख्यानं भवति चेतयिता ॥३८४॥

स्वाद्यसमरसीभावपरिणामेन सालंबने भरितावस्थे केवलज्ञानाद्यनंतचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादके कारणसमयसारे स्थित्वा यः कर्ता, आत्मानं कर्मतापन्नं निवर्तयति । कस्मात्सकाशात् ? **कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमरोयवित्थरविसेसं तत्तो** शुभाशुभमूलोत्तरप्रकृतिभेदेनानेकविस्तरविस्तीर्णं पूर्वकृतं यत्कर्म तस्मात् **सो पडिक्कमणं** स पुरुष एवाभेदनयेन निश्चयप्रतिक्रमणं भवतीत्यर्थः । **णियत्तदे जो** अनंतज्ञानादिस्वरूपात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिस्वरूपाभेदरत्नत्रयलक्षणे परमसामायिके स्थित्वा यः कर्ता आत्मानं निवर्तयति । कस्मात्सकाशात् ? **कम्मं जं सुहमसुहं जह्मि य भावह्मि वज्झदि भविस्सं तत्तो** शुभाशुभानेकविस्तरविस्तीर्णं भविष्यत्कर्म यस्मिन्मिथ्यात्वादिरागा-

---

अब इस अर्थ को गाथा में कहते हैं; वहांपर अतीत कर्म से ममत्व छोड़ना प्रतिक्रमण है, आगामी न करने की प्रतिज्ञा प्रत्याख्यान है, वर्तमान कर्म जो उदयमें आया है उसका ममत्व छोड़े वह आलोचना है। ऐसा चारित्र का विधान है उसको कहते हैं;—**[पूर्वकृतं]** अतीत काल में किये हुये **[यत्]** जो **[शुभाशुभं]** शुभ अशुभ **[अनेकविस्तरविशेषं]** ज्ञानावरण आदि अनेक प्रकार विस्तार विशेषरूप **[कर्म]** कर्म हैं **[तस्मात्]** उनसे **[यः तु]** जो चेतयिता **[आत्मानं निवर्तयति]** अपने आत्मा को छुड़ाता है **[सः]** वह आत्मा **[प्रतिक्रमणं]** प्रतिक्रमण स्वरूप है **[च]** और **[यत् भविष्यत्]** जो आगामी काल में **[शुभं अशुभं]** शुभ तथा अशुभ **[कर्म]** कर्म **[यस्मिन् भावे]** जिस भाव के होने पर **[बध्यते]** बंधे **[तस्मात्]** उस भाव से **[यः चेतयिता]** जो ज्ञानी **[निवर्तते]** छूटे **[सः]** वह आत्मा **[प्रत्याख्यानं भवति]** प्रत्याख्यान स्वरूप है। **[च]** और **[यत् संप्रति]** जो वर्तमान काल में **[शुभं अशुभं]** शुभ अशुभ कर्म

यच्छुभमशुभमुदीर्णं संप्रति चानेकविस्तरविशेषं ।
तं दोषं यः चेतयते स खल्वालोचनं चेतयिता ॥३८५॥
नित्यं प्रत्याख्यानं करोति नित्यं प्रतिक्रामति यश्च ।
नित्यमालोचयति स खलु चरित्रं भवति चेतयिता ॥३८६॥

यः खलु पुद्गलकर्मविपाकभवेभ्यो भावेभ्यश्चेतयितात्मानं निवर्तयति स तत्कारणभूतं पूर्वं कर्म प्रतिक्रामन् स्वयमेव प्रतिक्रमणं भवति। स एव तत्कार्यभूतमुत्तरं कर्म प्रत्याचक्षाणः प्रत्याख्यानं भवति। स एव वर्तमानं कर्मविपाकमात्मनोऽत्यंतभेदेनोपलभमानः आलोचना भवति। एवमयं नित्यं प्रतिक्रामन्, नित्यं प्रत्याचक्षाणो, नित्यमालोचयंश्च पूर्वकर्मकार्येभ्य उत्तर-कर्मकारणेभ्यो भावेभ्योत्यंतं निवृत्तः, वर्तमानं कर्मविपाकमात्मनोऽत्यंतभेदेनोपलभमानः स्वस्मिन्नेव

दिपरिणामे सति बध्यते तस्मात् **सो पच्चक्खाणं हवे चेदा** स एवं गुणविशिष्टस्तपोधन एवाभेदनयेन निश्चय-प्रत्याख्यानं भवतीति विज्ञेयं। **जो वेददि** नित्यानंदैकस्वभावशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मके सुख-दुःखजीवितमरणादिविषये सर्वोपेक्षासंयमे स्थित्वा यः कर्ता वेदयत्यनुभवति जानाति। किं जानाति। **जं** यत्कर्म **तं** तत्। केन रूपेण ? **दोसं** दोषोयं मम स्वरूपं न भवति। कथंभूतं कर्म ? **उदिण्णं** उदयागतं। पुनरपि कथंभूतं ? **सुहमसुहं** शुभाशुभं। पुनश्च किंरूपं ? **अणेयवित्थरविसेसं** मूलोत्तरप्रकृतिभेदेनानेकविस्तरविस्तीर्णं। **संपडिय** संप्रति काले खलु स्फुटं। **सो आलोयणं चेदा** स चेतयिता पुरुष एवाभेदनयेन निश्चयालोचनं भवतीति ज्ञातव्यं। **णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चंपि जोदुपडिक्कमदि णिच्चं अलोचेदिय** निश्चयरत्नत्रयलक्षणे

[अनेकविस्तरविशेषं] अनेक प्रकार ज्ञानावरणादि विस्ताररूप विशेषों को लिये हुए **[उदीर्णं]** उदय आया है **[तं दोषं]** उस दोषको **[यः चेतयिता]** जो ज्ञानी **[चेतयते]** अनुभव करता है उसका स्वामिपना, कर्तापना छोड़ता है **[सः खलु]** वह आत्मा निश्चय से **[आलोचनं]** आलोचना स्वरूप है **[च यः]** इस तरह जो **[चेतयिता]** आत्मा **[नित्यं प्रत्याख्यानं करोति]** नित्य प्रत्याख्यान करता है **[नित्यं प्रतिक्रामति]** नित्य प्रतिक्रमण करता है **[नित्यं आलोचयति]** नित्य आलोचना करता है **[सः खलु]** वह चेतयिता निश्चय से **[चारित्रं भवति]** चारित्रस्वरूप है।

टीका—जो आत्मा पुद्गल कर्म के उदय से हुए भावों से अपने आत्मा को छुड़ावे, उस भाव के कारणभूत पूर्व (अतीत) काल में किये कर्म को प्रतिक्रमण रूप करता हुआ आप ही प्रतिक्रमण स्वरूप होता है। वही आत्मा पूर्वकर्म का कार्यभूत जो आगामी बंधने वाला कर्म उसको प्रत्याख्यान रूप करता (त्यागता हुआ) आप ही प्रत्याख्यान स्वरूप होता है, तथा वही आत्मा वर्तमान कर्म के उदय से अपने को अत्यंत भेद से अनुभव करता हुआ प्रवर्तता है वह आप ही आलोचना स्वरूप होता है। ऐसे यह आत्मा नित्य प्रतिक्रमण करता हुआ, नित्य प्रत्याख्यान करता हुआ और नित्य आलोचना करता हुआ पूर्व कर्म के कार्यरूप और आगामी कर्म के कारण रूप भावों से अत्यन्त निवृत्तिस्वरूप हुआ वर्तमान कर्म

खलु ज्ञानस्वभावे निरंतरचरणाच्चारित्रं भवति। चारित्रं तु भवन् स्वस्य ज्ञानमात्रस्य चेतनात् स्वयमेव ज्ञानचेतना भवतीति भावः ॥ ३८३। ३८४। ३८५। ३८६ ॥

ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धं।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बंधः ॥२२४।

शुद्धात्मस्वरूपे स्थित्वा यः कर्ता पूर्वोक्तनिश्चयप्रत्याख्यानप्रतिक्रमणालोचनानुष्ठानानि नित्यं सर्वकालं करोति **सो दु चरित्तं हवदि चेदा** स चेतयिता पुरुष एवाभेदनयेन निश्चयचारित्रं भवति। कस्मात् ? इति चेत् शुद्धात्मस्वरूपे चरणं चारित्रमिति वचनात्। एवं निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनाचारित्रव्याख्यानरूपेणाष्टमस्थले गाथाचतुष्टयं गतं ॥३८३।३८४।३८५।३८६॥ अथ मिथ्यात्वरागादिपरिणतजीवस्याज्ञानचेतना केवलज्ञानादिगुणप्रच्छादकं कर्मबंधं

के उदय से आपको अत्यंत भेद पूर्वक अनुभव करता हुआ अपने ज्ञान स्वभाव में ही निरंतर प्रवर्तन करने से आप ही चारित्र स्वरूप होता है। ऐसे चारित्र रूप होता अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करने से आप ही ज्ञानचेतना स्वरूप होता है ऐसा तात्पर्य है।

भावार्थ—यहां निश्चय चारित्र का प्रधानता से कथन है। चारित्र में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना का विधान है। पहले लगे हुये दोष से आत्मा को निवर्तन करना प्रतिक्रमण है, आगामी दोष लगाने का त्याग करना प्रत्याख्यान है और वर्तमान दोष से आत्मा को पृथक करना आलोचना है। सो निश्चय से विचारने पर जो आत्मा तीनों काल संबंधी कर्मों से आत्मा को भिन्न जानता है, भिन्न श्रद्धान करता है और भिन्न अनुभव करता है, वह आत्मा स्वयं ही प्रतिक्रमण है, स्वयं ही प्रत्याख्यान है और स्वयं ही आलोचना है। इन तीनों स्वरूप आत्मा का निरंतर अनुभवन करना वही चारित्र है। और निश्चय चारित्र ही ज्ञान चेतना का अनुभवन है। इसी अनुभव से साक्षात् ज्ञान चेतना स्वरूप केवल ज्ञानमय आत्मा प्रकट होता है॥ ३८३-३८६ ॥

अब ज्ञान चेतना और अज्ञान चेतना (कर्म चेतना और कर्मफल चेतना) इनका स्वरूप प्रकट करते हैं उसकी सूचनिका का काव्य कहते हैं—**ज्ञानस्य** इत्यादि। **अर्थ**—ज्ञान की चेतना से ही ज्ञान अत्यंत शुद्ध निरंतर प्रकाशित होता है और अज्ञान की चेतना से बंध दौड़ता हुआ ज्ञान की शुद्धता को रोकता है।

भावार्थ—किसी वस्तु के प्रति उसी का एकाग्र होकर अनुभव रूप स्वाद लेना वह उसका संचेतना कहा जाता है। ज्ञान के प्रति ही एकाग्र उपयुक्त होकर उसी तरफ ध्यान रखना ज्ञानचेतना है। इससे तो ज्ञान अत्यंत शुद्ध होकर प्रकाशित होता है—केवल ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब संपूर्ण ज्ञान चेतना नाम पाता है। और अज्ञान रूप (कर्म और कर्मफलरूप) उपयोग को करना उसी तरफ एकाग्र होकर अनुभव करना वह अज्ञानचेतना है। इससे कर्म का बंध होता है वह ज्ञान की शुद्धता को रोकता है॥ २२४ ॥

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणइ जो दु कम्मफलं ।
सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥ ३८७ ॥
वेदंतो कम्मफलं मए कयं मुणइ जो दु कम्मफलं ।
सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥ ३८८ ॥
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा ।
सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८९॥ (त्रिकलम्)

वेदयमानः कर्मफलमात्मानं करोति यस्तु कर्मफलं ।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधं ॥३८७॥
वेदयमानः कर्मफलं मया कृतं जानाति यस्तु कर्मफलं ।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधं ॥३८८॥
वेदयमानः कर्मफलं सुखितो दुःखितश्च भवति यः चेतयिता ।
स तत्पुनरपि बध्नाति बीजं दुःखस्याष्टविधं ॥३८९॥

ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतनं अज्ञानचेतना । सा द्विधा कर्मचेतना कर्मफलचेतना च । तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना । ज्ञानादन्यत्रेदं वेदयेऽहमिति चेतनं कर्मफल-

---

जनयतीति प्रतिपादयति—ज्ञानाज्ञानभेदेन चेतना तावद्द्विविधा भवति । इयं तावदज्ञानचेतना गाथात्रयेण कथ्यते—उदयागतं शुभाशुभं कर्म वेदयन्ननुभवन् सन्नज्ञानिजीवः स्वस्थभावाद् भ्रष्टो भूत्वा मदीयं कर्मेति भणति । मया कृतं कर्मेति च

अब इस कथन को गाथा से कहते है—[यः तु] जो आत्मा [कर्मफलं वेदयमानः] कर्म के फल को अनुभव करता हुआ [कर्मफलं आत्मानं करोति] कर्मफल को निज रूप ही करता है [सः] वह [पुनरपि] फिर भी [दुःखस्य बीजं] दुःख का बीज [अष्टविधं तत्] ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म को [बध्नाति] बांधता है । [यस्तु] जो [कर्मफलं वेदयमानः] कर्म के फल का वेदन करता हुआ [कर्मफलं मया कृतं जानाति] उस कर्मफल को ऐसा जानता है कि यह मैंने किया है [स पुनरपि] वह फिर भी [दुःखस्य बीजं] दुःख का बीज [अष्टविधं तत्] ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म को [बध्नाति] बांधता है । [यः चेतयिता] जो आत्मा [कर्मफलं वेदयमानः] कर्म के फल को वेदता हुआ [सुखितः च दुःखितः] सुखी और दुःखी [भवति] होता है [सः] वह चेतयिता । [पुनरपि] फिर भी [दुःखस्यबीजं अष्टविधं तत् बध्नाति] दुःख का बीज ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म को बांधता है ।

टीका—ज्ञान से अन्य भावों में ऐसा अनुभव करना कि 'यह मैं हूं' वह अज्ञान चेतना है । वह दो प्रकार की है—कर्मचेतना कर्मफलचेतना । उनमें से ज्ञान के सिवाय अन्य

चेतना । सा तु समस्तापि संसारबीजं । संसारबीजस्याष्टविधकर्मणो बीजत्वात् । ततो मोक्षार्थिना पुरुषेणाज्ञानचेतनाप्रलयाय सकलकर्मसंन्यासभावनां सकलकर्मफलसंन्यासभावनां च नाटयित्वा स्वभावभूता भगवती ज्ञानचेतनैवैका नित्यमेव नाटयितव्या । तत्र तावत्सकलकर्मसंन्यासभावनां नाटयति—

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः ।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलंबे ॥२२५॥

यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च कायेन चेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १ यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २ यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च कायेन चेति

यो भणति । स जीवः पुनरपि तदष्टविधं कर्म बध्नाति । कथंभूतं ? बीजं कारणं । कस्य ? दुःखस्य । इति गाथाद्वयेनाज्ञानरूपा कर्मचेतना व्याख्याता । कर्मचेतना कोऽर्थः ? इति चेत् मदीयं कर्म मया कृतं कर्मेत्याद्यज्ञानभावेन—ईहापूर्वक-

---

भावों में ऐसा अनुभव करना कि 'इसको मैं करता हूं' यह कर्मचेतना है और ज्ञान के सिवाय अन्य भावों में ऐसा अनुभव करना कि इसको मैं भोगता हूँ वह कर्मफलचेतना है। ये दोनों ही अज्ञानचेतना संसार का बीज हैं। क्योंकि संसार का बीज आठ प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म है, उसका यह अज्ञान चेतना बीज है। इससे कर्म बंधते हैं। इसलिये मोक्ष को चाहने वाला पुरुष अज्ञानचेतना का नाश करने के लिये सब कर्मों के छोड़ देने की भावना को भाकर फिर समस्त कर्मों के फल के त्याग की भावना को नृत्य करा कर अपना स्वभावभूत जो ज्ञानवती-भगवती एक ज्ञानचेतना उसी को निरंतर नृत्य कराना चाहिये। वहां प्रथम ही सकल कर्मों के संन्यास की भावना को नचाते हैं उसका कलशरूप काव्य कहते हैं—**कृत** इत्यादि। **अर्थ**—अतीत अनागत वर्तमानकाल सम्बन्धी सभी कर्मों को कृत, कारित, अनुमोदना और मन वचन, काय से छोड़ कर उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्था को मैं अवलम्बन करता हूं। इस प्रकार सब कर्मों का त्याग करने वाला ज्ञानी प्रतिज्ञा करता है।

अब सब कर्मों के त्याग करने के कृत, कारित, अनुमोदना और मन, वचन, काय के ४६ भंग होते हैं। वहां अतीत काल सम्बन्धी कर्म के त्याग करने को प्रतिक्रमण कहा है उसके निम्नांकित ४६ भंग हैं **यदहं** इत्यादि। **अर्थ**—प्रतिक्रमण करने वाला कहता है कि जो मैंने (अतीतकाल में कर्म) किया, कराया और दूसरे से करते हुए का अनुमोदन किया, मन से, वचन से तथा काय से, यह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। (कर्म करना, कराना, और अन्य करने वाले का अनुमोदन करना संसार का बीज है, यह जानकर उस दुष्कृत के प्रति हेय बुद्धि आई तब जीव ने उसके प्रति ममत्व छोड़ा, सो यही उसका मिथ्या करना है।) ॥१॥ जो मैंने (अतीतकाल में) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥२॥ जो मैंने किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मन से तथा

तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३ यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च कायेन चेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४ यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ५ यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ६ यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ७ यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ८ यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ९ यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १० यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ११ यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १२ यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १३ यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १४ यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १५ यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च

मिष्टानिष्टरूपेण निरुपरागशुद्धात्मानुभूतिच्युतस्य मनोवचनकायव्यापारकरणं यत्, सा बंधकारणभूता कर्मचेतना भण्यते। उदयागतं कर्मफलं वेदयन् शुद्धात्मस्वरूपमचेतयमानो मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयनिमित्तेन यः सुखितो दुःखितो वा भवति स जीवः पुनरपि तदष्टविधं कर्म बध्नाति। कथंभूतं ? बीजं कारणं। कस्य ? दुःखस्य। इत्येकगाथया कर्मफलचेतना व्याख्याता। कर्मफलचेतना कोऽर्थः ? इति चेत् स्वस्थभावरहितेनाज्ञानभावेन यथासंभवं व्यक्ताव्यक्तस्वभावेनेहापूर्वकमिष्टानिष्टविकल्प-

---

काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥३॥ जो मैंने किया, कराया, और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥४॥ जो मैंने (अतीतकाल में) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥५॥ जो मैंने किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥६॥ जो मैंने किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥७॥ जो मैंने किया और कराया मन से, वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥८॥ जो मैंने किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वचन से और काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥९॥ जो मैंने कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मन से, वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१०॥ जो मैंने (अतीत काल में) किया और कराया मन से तथा वचन से वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥११॥ जो मैंने किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१२॥ जो मैंने कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१३॥ जो मैंने किया और कराया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१४॥ जो मैंने किया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१५॥ जो मैंने कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा

कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १६ यदहमकार्षं यदचीकरं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १७ यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १८ यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १९ यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २० यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २१ यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २२ यदहमकार्षं यदचीकरं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २३ यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २४ यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतं २५ यदहमकार्षं यदचीकरं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २६ यदहमकार्षं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २७ यदहमचीकरं यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं कायेन तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २८ यदहम-

---

रूपेणहर्षविषादमयं सुखदुःखानुभवनं यत्, सा बंधकारणभूता कर्मफलचेतना भण्यते । इयं कर्मचेतना कर्मफलचेतना च द्विकापि त्याज्या बंधकारणत्वादिति । तत्र तयोर्द्वयोः कर्मचेतनाकर्मफलचेतनयोर्मध्ये पूर्वं तावन्निश्चयप्रतिक्रमण—निश्चयप्रत्याख्यान—निश्चयालोचनास्वरूपं यत्पूर्वं व्याख्यातं तत्र स्थित्वा शुद्धज्ञानचेतनाबलेन कर्मचेतनासंन्यासभावनां नाटयति । कर्मचेतनात्यागभावनां कर्मबंधविनाशार्थं करोतीत्यर्थः। तद्यथा—यदहमकार्षं यदहमचीकरं यदहं कुर्वंतमप्यन्यं प्राणिनं समन्वज्ञासिषं। केन ? मनसा वाचा कायेन तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति षट्संयोगेनैकभंगः । यदहमकार्षं यदहमचीकरं यदहं कुर्वंतमप्यन्यं

काय से वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१९॥

जो मैंने किया और कराया वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१७॥ जो मैंने किया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१८॥ जो मैंने कराया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१९॥

जो मैंने (अतीतकाल में) किया और कराया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥२०॥ जो मैंने किया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥२१॥ जो मैंने कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥२२॥ जो मैंने किया और कराया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥२३॥ जो मैंने किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥२४॥ जो मैंने कराया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥२५॥ जो मैंने किया और कराया काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥२६॥ जो मैंने किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥२७॥ जो मैंने कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥२८॥

कार्षं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २९ यदहमचीकरं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति। ३० यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३१ यदहमकार्षं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३२ यदहमचीकरं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३३ यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३४ यदहमकार्षं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३५ यदहमचीकरं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३६ यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३७ यदहमकार्षं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३८ यदहमचीकरं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३९ यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४० यदहमकार्षं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतं ४१ यदहमचीकरं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतं ४२ यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४३ यदहमकार्षं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४४ यदहमचीकरं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४५ यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृ-

---

प्राणिनं समन्वज्ञासिषं। केन? मनसा वाचा तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पंचसंयोगेन, एकैकापनयनेन भंगत्रयं भवति। संयोगेनेत्याद्यक्षसंचारेणैकोनपंचाशद्भंगा भवंतीति टीकाभिप्रायः। अथवा त एव सुखोपायेन कथ्यंते। कथं? इति चेत्, कृतं कारितमनुमतमिति प्रत्येकं भंगत्रयं भवति। कृतकारितद्वयं कृतानुमतद्वयं कारितानुमतद्वयमिति द्विसंयोगेन च भंगत्रयं

जो मैंने (अतीतकाल में) किया मन से, वचन से तथा काय से वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।२९।। जो मैंने कराया मन से, वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।३०।। जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।३१।।

जो मैंने (अतीतकाल में) किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।३२।। जो मैंने कराया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।३३।। मैंने जो अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।३४।। जो मैंने किया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।३५।। जो मैंने कराया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।३६।। जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।३७।। जो मैंने किया वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।३८।। जो मैंने कराया वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।३९।। जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।४०।।

जो मैंने (अतीतकाल में) किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो।।४१।। जो मैंने कराया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।४२।। जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।४३।। जो मैंने किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।४४।। जो मैंने कराया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।४५।। जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से, वह

तमिति ४६ यदहमकार्षं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४७ यदहमचीकरं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४८ यत्कुर्वंतमप्यन्यं समन्वज्ञासं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४९।

जातं। कृतकारितानुमतत्रयमिति त्रिसंयोगेनैको भंग इति सप्तभंगी। तथैव च मनसा वाचा कायेनेति प्रत्येकं भंगत्रयं भवति। मनोवचनद्वयं मनःकायद्वयं वचनकायद्वयमिति द्विसंयोगेन भंगत्रयं जातं। मनोवचनकायत्रयमिति च त्रिसंयोगेनैको भंग इयमपि सप्तभंगी। कृतं मनसा सह, कृतं वाचा सह, कृतं कायेन सह, कृतं मनोवचनद्वयेन सह, कृतं मनःकायद्वयेन सह, कृतं वचनकायद्वयेन सह, कृतं मनोवचनकायत्रयेण सहेति कृते निरुद्धे विवक्षिते सप्तभंगी जाता यथा। तथा कारितेऽपि, तथा

मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।४६।। जो मैंने किया काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।४७।। जो मैंने कराया काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।४८।। जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ।।४९।।

(इन ४९ भंगों के भीतर, पहले भंग में कृत, कारित, अनुमोदना—ये तीन लिये हैं और उन पर मन, वचन, काय—ये तीन लगाये हैं। इस प्रकार बने हुए इस एक भंग को '३३'[1] की समस्या से—संज्ञा से पहचाना जा सकता है। २ से ४ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना के तीनों लेकर उन पर मन, वचन, काय में से दो दो लगाये हैं। इस प्रकार बने हुए इन तीन भंगों को '३२'[2] की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। ५ से ७ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना के तीनों लेकर उन पर मन, वचन, काय में से एक एक लगाया है। इन तीन भंगों को '३१' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। ८ से १० तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से दो-दो लेकर उन पर मन, वचन, काय तीनों लगाये हैं। इन तीन भंगों को '२३' की संज्ञा वाले भंगों के रूप में पहचाना जा सकता है। ११ से १९ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से दो-दो लेकर उन पर मन, वचन, काय में से दो-दो लगाये हैं। इन नौ भंगों को '२२' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। २० से २८ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से २-२ लेकर उन पर मन, वचन, काय में से १-१ लगाया है। इन ९ भंगों को '२१' की संज्ञा वाले भंगों के रूप में पहिचाना जा सकता है। २९ से ३१ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से १-१ लेकर उन पर मन, वचन, काय तीनों लगाये हैं। इन तीन भंगों को '१३' की संज्ञा से पहचाना जा सकता है। ३२ से ४० तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से १-१ लेकर उन पर मन, वचन काय में से दो-दो लगाये हैं। इन नौ भंगों को '१२' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है। ४१ से ४९ तक के भंगों में कृत, कारित, अनुमोदना में से १-१ लेकर उन पर मन, वचन, काय में से १-१ लगाया है। इन ९ भंगों को '११' की संज्ञा से पहचाना जा सकता है। इस प्रकार सभी मिलाकर ४९ भंग हुए।)

---

१. कृत, कारित, अनुमोदना ये तीनों लिये गये हैं, उन्हें बताने के लिये पहले ३ का अंक रखना चाहिये और फिर मन, वचन, काय ये तीन लिये हैं सो इन्हें बताने के लिये उसी के पास दूसरा ३ का अंक रखना चाहिये। इस प्रकार ३३ की समस्या हुई।

२. कृत, कारित, अनुमोदना ये तीनों लिये हैं, यह बताने के लिये पहले '३' का अंक रखना चाहिये और फिर मन, वचन, काय में से दो लिये हैं, यह बताने के लिये ३ के पास २ का अंक रखना चाहिये। इस प्रकार '३२' की संज्ञा हुई।

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ।।२२६।।

इति प्रतिक्रमणकल्पः समाप्तः ।

न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति १ न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति २ न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति ३ न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति ४ न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति ५ न करोमि न कारयामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति ६ न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति ७ न करोमि न कारयामि

अनुमतेऽपि, तथा कृतकारितद्वयेऽपि, तथा कृतानुमतद्वयेऽपि, तथा कारितानुमतद्वयेऽपि, तथा कृतकारितानुमतत्रये चेति प्रत्येक-

---

अब इस कथन का कलशरूप काव्य कहते हैं—**मोहाद्य** इत्यादि । **अर्थ**—मैंने जो मोह से अथवा अज्ञान से कर्म किये हैं, उन समस्त कर्मों का प्रतिक्रमण करके मैं निष्कर्म (समस्त कर्मों से रहित) चैतन्य स्वरूप आत्मा में आत्मा से ही (निज से ही) निरंतर वर्त रहा हूं (इस प्रकार ज्ञानी अनुभव करता है) ।

भावार्थ—भूतकाल में किये गये कर्म को ४९ भंग पूर्वक मिथ्या करने वाला प्रतिक्रमण करके ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मा में लीन होकर निरन्तर चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करे, इसकी यह विधि है । 'मिथ्या' कहने का प्रयोजन इस प्रकार है :—जैसे किसी ने पहले धन कमा कर घर में रख छोड़ा था; और फिर जब उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया, तब उसे भोगने का अभिप्राय नहीं रहा । उस समय, भूतकाल में जो धन कमाया था वह नहीं कमाने के समान ही है; इसी प्रकार, जीव ने पहले जो कर्म बन्ध किया था; फिर जब उसे अहितरूप जान कर उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया और उसके फल में लीन न हुआ, तब भूतकाल में जो कर्म बांधा था वह नहीं बांधने के समान मिथ्या ही है ।।२२६।।

इस प्रकार प्रतिक्रमण-कल्प (प्रतिक्रमण की विधि) समाप्त हुआ ।

अब टीका में आलोचनाकल्प कहते हैं ।

मैं (वर्तमान में कर्म) न तो करता हूं, न कराता हूं, और न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं, मन से, वचन से तथा काय से ।।१।।

मैं (वर्तमान में कर्म) न तो करता हूं, न कराता हूं, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं, मन से तथा वचन से ।।२।। मैं न तो करता हूं, न कराता हूं, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं, मन से तथा काय से ।।३।। मैं न तो करता हूं, न कराता हूं, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं, वचन से तथा काय से ।।४।।

मैं न तो करता हूं, न कराता हूं, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं, मन से ।।५।। मैं न तो करता हूं, न कराता हूं, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं, वचन से ।।६।। मैं न तो करता हूं, न कराता हूं, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं, काय से ।।७।।

मनसा च वाचा च कायेन चेति ८ न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ९ न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति १० न करोमि न कारयामि मनसा च वाचा चेति ११ न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति १२ न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति १३ न करोमि न कारयामि मनसा च कायेन चेति १४ न करोमि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति १५ न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति १६ न करोमि न कारयामि वाचा च कायेन चेति १७ न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति १८ न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति १९ न करोमि न कारयामि मनसा चेति २० न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति २१ न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति २२ न करोमि न कारयामि वाचा चेति २३ न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति २४ न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति २५ न करोमि न कारयामि कायेन चेति २६ न करोमि

मनेन क्रमेण सप्त भंगी योजनीया। एवं—एकोनपंचाशद्भंगा भवंतीति प्रतिक्रमणकल्पः समाप्तः। इदानीं प्रत्याख्यानकल्पः कथ्यते—तथाहि—यदहं करिष्यामि यदहं कारयिष्यामि यदहं कुर्वंतमप्यन्यं प्राणिनं समनुज्ञास्यामि। केन ? मनसा वाचा कायेन तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववत् षट्संयोगेनैको भंगः। यथा यदहं करिष्यामि यदहं कारयिष्यामि यदहं कुर्वंतमप्यन्यं

न मैं करता हूं, न कराता हूं, मन से, वचन से तथा काय से ॥८॥ न तो मैं करता हूं, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं, मन से, वचन से तथा काय से ॥९॥ न मैं कराता हूं, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं, मन से, वचन से तथा काय से ॥१०॥

न मैं करता हूं, न कराता हूं, मन से तथा वचन से ॥११॥ न मैं करता हूं, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं, मन से तथा वचन से ॥१२॥ न तो मैं कराता हूं, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं, मन से तथा वचन से ॥१३॥ न मैं करता हूं, न कराता हूं मन से तथा काय से ॥१४॥ न मैं करता हूं, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं, मन से तथा काय से ॥१५॥ न मैं कराता हूं, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं, मन से तथा काय से ॥१६॥ न मैं करता हूं, न कराता हूं, वचन से तथा काय से ॥१७॥ न मे करता हूं, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं, वचन से तथा काय से ॥१८॥ न मैं कराता हूं, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं, वचन से तथा काय से ॥१९॥

न तो मैं करता हूं, न कराता हूं, मन से ॥२०॥ न मैं करता हूं, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं, मन से ॥२१॥ न मैं कराता हूं न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं, मन से ॥२२॥ न मैं करता हूं, न कराता हूं, वचन से ॥२३॥ न मैं करता हूं, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं, वचन से ॥२४॥ न मैं कराता हूं, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं, वचन से ॥२५॥ न मैं करता हूं, न कराता हूं, काय से ॥२६॥ न मैं करता हूं, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं,

न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति २७ न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति २८ न करोमि मनसा च वाचा च कायेन चेति २९ न कारयामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ३० न कुर्वंतमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ३१ न करोमि मनसा च वाचा चेति ३२ न कारयामि मनसा च वाचा चेति ३३ न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति ३४ न करोमि मनसा च कायेन चेति ३५ न कारयामि मनसा च कायेन चेति ३६ न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति ३७ न करोमि वाचा च कायेन चेति ३८ न कारयामि वाचा च कायेन चेति ३९ न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति ४० न करोमि मनसा चेति ४१ न कारयामि मनसा चेति ४२ न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति ४३ न करोमि वाचा चेति ४४ न कारयामि वाचा चेति ४५ न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति ४६ न करोमि कायेन चेति ४७ न कारयामि कायेन चेति ४८ न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति ४९ ।

प्राणिनं समनुज्ञास्यामि । केन ? मनसा वाचा चेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववदेकैकापनयनेन पचसंयोगेन भंगत्रय भवति एवं पूर्वोक्तक्रमेण—एकोनपंचाशद्भंगा ज्ञातव्या. । इति प्रत्याख्यानकल्प. समाप्त: । इदानीमालोचनाकल्प. कथ्यते तद्यथा—यदहं करोमि यदहं कारयामि यदहं कुर्वंतमप्यन्यं प्राणिनं समनुजानामि । केन ? मनसा वाचा कायेनेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववत् षट्संयोगेनैकभंग: । तथा यदहं करोमि यदहं कारयामि यदहं कुर्वंतमप्यन्य प्राणिनं समनुजानामि, केन ? मनसा वाचेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति—एकैकापनयनेन पंवसंयोगेन भगत्रय भवति । एव पूर्वोक्तप्रकारेण एकोनपं-

---

काय से ॥२७॥ न मै कराता हूं, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूँ, काय से ॥२८॥

न मैं करता हूँ, मन से, वचन से तथा काय से, ॥२९॥ न मैं कराता हूँ, मन से, वचन से तथा काय से ॥३०॥ मैं अन्य करते हुये का अनुमोदन नहीं करना मन से, वचन से तथा काय से ॥३१॥

न तो मैं करता हूँ, मन से तथा वचन से ॥३२॥ न मैं कराता हूँ, मन से तथा वचन से ॥३३॥ न मैं अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूँ, मन से तथा वचन से ॥३४॥ न मैं करता हूँ मन से तथा काय से ॥३५॥ न मैं कराता हूँ, मन से तथा काय से ॥३६॥ न मैं अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूँ, मन से तथा काय से ॥३७॥ न मै करता हूँ, वचन से तथा काय से ॥३८॥ न मैं कराता हूँ, वचन से तथा काय से ॥३९॥ न मैं अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूँ, वचन से तथा काय से ॥४०॥

न मैं करता हूँ मन से ॥४१॥ न मै कराता हूं मन से ॥४२॥ न मै अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूँ मन से ॥४३॥ न मै करता हूँ वचन से ॥४४॥ न मैं कराता हूँ वचन से ॥४५॥ न मैं अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूँ वचन से ॥४६॥ न मैं करता हूं काय से ॥४७॥ न मै कराता हूँ, काय से ॥४८॥ न मैं अन्य करते हुये का अनुमोदन करता हूं काय से ॥४९॥ (इस प्रकार प्रतिक्रमण के समान आलोचना में भी ४९ भंग कहे ।)

मोहविलासविजृंभितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२७॥

इत्यालोचनाकल्पः समाप्तः ।

न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति १ न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति २ न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति ३ न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति ४ न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति ५ न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति ६ न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति ७ न करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा च वाचा च

चाशद्भंगा ज्ञातव्याः । इत्यालोचनाकल्पः समाप्त. । कल्पः पर्वपरिच्छेदोऽधिकारोऽध्यायः प्रकरणमित्याद्येकार्था ज्ञातव्याः ।

अब इस कथन का कलश रूप काव्य कहते हैं ;—**मोहविलास** इत्यादि । **अर्थ**—(निश्चय चारित्र को अंगीकार करने वाला कहता है कि) मोह के विलास से फैला हुआ जो यह उदयमान (उदय में आता हुआ) कर्म, उस सबकी आलोचना करके मैं निष्कर्म चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही निरन्तर वर्त रहा हूँ ।

भावार्थ—वर्तमानकाल में कर्म का उदय आता है, उसके विषय में ज्ञानी यह विचार करता है कि पहले जो कर्म बांधा था उसका यह कार्य है, मेरा नहीं । मैं इसका कर्ता नहीं हूँ, मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा हूँ । उसकी दर्शन ज्ञानरूप प्रवृत्ति है । उस दर्शन-ज्ञानरूप प्रवृत्ति के द्वारा मैं इस उदयागत कर्म को देखने—जानने वाला हूँ । मैं अपने स्वरूप में ही प्रवर्तमान हूं । ऐसा अनुभव करना ही निश्चय चारित्र है । इस प्रकार आलोचना कल्प समाप्त हुआ ।

अब टीका में प्रत्याख्यान कल्प (अर्थात् प्रत्याख्यान की विधि) कहते हैं । प्रत्याख्यान करने वाला कहता है कि—

मैं (भविष्य में कर्म) न तो करूंगा, न कराऊंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, मन से, वचन से तथा काय से ॥१॥ मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, मन से तथा वचन से ॥२॥ मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, मन से तथा काय से ॥३॥ मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, वचन से तथा काय से ॥४॥

मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा, मन से ॥५॥ मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, वचन से ॥६॥ मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, काय से ॥७॥

कायेन चेति ८ न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन च ९ न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति १० न करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा च वाचा चेति ११ न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति १२ न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति १३ न करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा च कायेन चेति १४ न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति १५ न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति १६ न करिष्यामि न कारयिष्यामि वाचा च कायेन चेति १७ न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति १८ न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति १९ न करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा चेति २० न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति २१ न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति २२ न करिष्यामि न कारयिष्यामि वाचा चेति २३ न करिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति २४ न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति २५ न करिष्यामि न कारयिष्यामि कायेन चेति २६ न करिष्यामि

एवं निश्चयप्रतिक्रमण—निश्चयप्रत्याख्यान—निश्चयालोचनाप्रकारेण शुद्धज्ञानचेतनाभावनारूपेण गाथाद्वयव्याख्यानेन कर्मचेतनासंन्यासभावना समाप्ता। इदानीं शुद्धज्ञानचेतनाभावनाबलेन कर्मफलचेतनासंन्यासभावनां नाटयति करोती-

---

मैं न तो करूंगा, न कराऊँगा, मन से, वचन से तथा काय से ॥८॥ मैं न तो करूंगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा, मन से, वचन से तथा काय से ॥९॥ मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, मन से, वचन से तथा काय से ॥१०॥

मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, मन से तथा वचन से ॥११॥ मैं न तो करूंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, मन से तथा वचन से ॥१२॥ मैं न तो कराऊंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, मन से तथा वचन से ॥१३॥ मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, मन से तथा काय से ॥१४॥ मैं न तो करूंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा मन से तथा काय से ॥१५॥ मैं न तो कराऊंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, मन से तथा काय से ॥१६॥ मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, वचन से तथा काय से ॥१७॥ मै न तो करूंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, वचन से तथा काय से ॥१८॥ मैं न तो कराऊंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, वचन से तथा काय से ॥१९॥

मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, मन से ॥२०॥ मैं न तो करूंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, मन से ॥२१॥ मैं न तो कराऊंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा मन से ॥२२॥ मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, वचन से ॥२३॥ मैं न तो करूंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, वचन से ॥२४॥ मैं न तो कराऊंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा वचन से ॥२५॥

न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति २७ न कारयिष्यामि न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति २८ न करिष्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति २९ न कारयिष्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ३० न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ३१ न करिष्यामि मनसा च वाचा चेति ३२ न कारयिष्यामि मनसा च वाचा चेति ३३ न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति ३४ न करिष्यामि मनसा च कायेन चेति ३५ न कारयिष्यामि मनसा च कायेन चेति ३६ न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति ३७ न करिष्यामि वाचा च कायेन चेति ३८ न कारयिष्यामि वाचा च कायेन चेति ३९ न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति ४० न करिष्यामि मनसा चेति ४१ न कारयिष्यामि मनसा चेति ४२ न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति ४३ न करिष्यामि वाचा चेति ४४ न कारयिष्यामि वाचा चेति ४५ न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति ४६ न करिष्यामि कायेन चेति ४७ न कारयिष्यामि कायेन चेति ४८ न कुर्वंतमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति ॥४९॥

त्यर्थः । तद्यथा—नाहं मतिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये सम्यगनुभवे इत्यर्थः । नाहं श्रुतज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये ।

मैं न तो करूंगा, न कराऊँगा, काय से ॥२६॥ मैं न तो करूंगा न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा, काय से ॥२७॥ मैं न तो कराऊंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा काय से ॥२८॥

मैं न तो करूंगा मन से, वचन से तथा काय से ॥२९॥ मैं न तो कराऊँगा मन से वचन से तथा काय से ॥३०॥ मै न तो अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा मन से, वचन से तथा काय से ॥३१॥

मैं न तो करूंगा मन से तथा वचन से ॥३२॥ मैं न तो कराऊंगा मन से तथा वचन से ॥३३॥ मैं न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा मन से तथा वचन से ॥३४॥ मैं न तो करूंगा मन से तथा काय से ॥३५॥ मै न तो कराऊंगा मन से तथा काय से ॥३६॥ मै न तो अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा मन से तथा काय से ॥३७॥ मैं न तो करूंगा वचन से तथा काय से ॥३८॥ मैं न तो कराऊँगा वचन से तथा काय से ॥३९॥ मैं न तो अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा वचन से तथा काय से ॥४०॥

मैं न तो करूंगा मन से ॥४१॥ मैं न तो कराऊंगा मन से ॥४२॥ मैं न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा मन से ॥४३॥ मैं न तो करूंगा वचन से ॥४४॥ मै न तो कराऊंगा वचन से ॥४५॥ मैं न तो अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा वचन से ॥४६॥ मैं न तो करूंगा काय से ॥४७॥ मै न तो कराऊगा काय से ॥४८॥ मैं न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा काय से ॥४९॥ (इस प्रकार प्रतिक्रमण के समान ही प्रत्याख्यान में भी ४९ भंग कहे ।)

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२८॥
इति प्रत्याख्यानकल्पः समाप्तः ।
समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलंबी ।
विलीनमोहो [1]रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलंबे ॥२२९॥

नाहमवधिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये । नाहं मनःपर्ययज्ञानावरणीयफलं भुंजे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव सचेतये । नाहं केवलज्ञानावरणीयफलं भुंजे । किं तर्हि करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये । इति पंचप्रकारज्ञानावरणीयरूपेण कर्मफलचेतनासंन्यासभावना व्याख्याता । नाहं चक्षुर्दर्शनावरणीयफलं भुजे । तर्हि किं करोभि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये । एवं टीकाकथितक्रमेण—"पण णव दु अट्ठवीसा चउ तिय णउदीय दुण्णि पंचेव । बावण्णहीण वियमय पयडिविणासेण होंति ते सिद्धा" ॥१॥इमां गाथामाश्रित्य अष्टचत्वारिंशदधिकशतप्रमितोत्तरप्रकृतीनां कर्मफलसंन्यासभावना नाटयितव्या, कर्तव्येत्यर्थः । किंच जगत्त्रयकालत्रयसबंधिमनोवचनकायकृतकारितानुमतख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादिसमस्तपरद्रव्यालंबनोत्पन्नशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितेन शून्येन चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विक-

---

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**प्रत्याख्यायेति** । **अर्थ**—(प्रत्याख्यान करने वाला ज्ञानी कहता है कि—) भविष्य के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान (त्याग) करके, जिसका मोह नष्ट हो गया है, ऐसा मैं निरकर्म (अर्थात् समस्त कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही निरंतर वर्त रहा हूं ।

भावार्थ—निश्चयचारित्र में प्रत्याख्यान का विधान ऐसा है कि—समस्त आगामी कर्मों से रहित, चैतन्य की प्रवृत्तिरूप (अपने शुद्धोपयोग में रहना सो प्रत्याख्यान है । इससे ज्ञानी आगामी समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान करके अपने चैतन्यस्वरूप में रहता है ।

यहां तात्पर्य इस प्रकार जानना चाहिये—व्यवहारचारित्र में प्रतिज्ञा में जो दोष लगता है उसका प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान होता है । यहां निश्चयचारित्र की प्रधानता से कथन है इसलिये शुद्धोपयोग से विपरीत सर्व कर्म आत्मा के दोष स्वरूप हैं । उन समस्त कर्मचेतना स्वरूप परिणामों का—तीनों काल के कर्मों का—प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान करके ज्ञानी सर्व कर्म चेतना से भिन्न अपने शुद्धोपयोगरूप आत्मा के ज्ञान-श्रद्धान द्वारा और उसमें स्थिर होने के विधान द्वारा निष्प्रमाद दशा को प्राप्त होकर श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान उत्पन्न करने के सन्मुख होता है । यह, ज्ञानी का कार्य हैं । इस प्रकार प्रत्याख्यान कल्प समाप्त हुआ ।

अब समस्त कर्मो के संन्यास (त्याग) की भावना को नचाने के सम्बन्ध का कथन समाप्त करते हुए कलशरूप काव्य कहते हैं—**समस्तेति** इत्यादि । **अर्थ**—(शुद्धनय का आलम्बन करने वाला कहता है कि—) पूर्वोक्त प्रकार से तीनों काल के समस्त कर्मों को दूर करके, शुद्धनयावलम्बी और विलीनमोह

---

१. रहितो विकारैः इत्यपि पाठः ।

अथ सकलकर्मफलसंन्यासभावनां नाटयति ।

विगलंतु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमंतरेणैव ।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानं ॥२३०॥

नाहं मतिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १ नाहं श्रुतज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २ नाहमवधिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३ नाहं मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४ नाहं केवलज्ञानावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५ नाहं चक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६ नाहमचक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७ नाहमवधिदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मा-

---

त्पसमाधिसंजातवीतरागसहजपरमानंदरूपसुखरसास्वादपरमसमरसीभावानुभवसालंबनेन भरितावस्थेन केवलज्ञानाद्यनंतचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य साक्षादुपादेयभूतस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकेन निश्चयकारणसमयसाररूपेण शुद्धज्ञानचेतनाभावना-

---

(अर्थात् जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है) ऐसा मैं अब सर्व विकारों से रहित चैतन्यमात्र आत्मा का अवलम्बन करता हूँ ॥२२९॥

अब समस्त कर्मफल संन्यास की भावना को नचाते हैं—उसमें प्रथम, उस कथन के समुच्चय अर्थ का काव्य कहते हैं—**विगलंतु** इत्यादि । **अर्थ**—समस्त कर्मफल की संन्यास भावना का करने वाला कहता है कि—कर्मरूपी विषवृक्ष के फल मेरे द्वारा भोगे बिना ही खिर जायें; मैं (अपने) चैतन्यस्वरूप आत्मा का निश्चलतया संचेतन-अनुभव करता हूं ।

भावार्थ—ज्ञानी कहता है कि—जो कर्म उदय में आता है उसके फल को मैं ज्ञाता द्रष्टा रूप से देखता हूँ, उसका भोक्ता नहीं होता, इसलिये मेरे द्वारा भोगे बिना ही वे कर्म खिर जाएं, मैं अपने चैतन्य स्वरूप आत्मा में लीन होता हुआ उसका ज्ञाता-द्रष्टा ही होऊँ । यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि अविरत देशविरत तथा प्रमत्तसंयत दशा में ऐसा ज्ञानश्रद्धान ही प्रधान है और जब जीव अप्रमत्त दशा को प्राप्त होकर श्रेणी चढ़ता है तब यह अनुभव साक्षात् होता है ॥२३०॥

अब टीका में समस्त कर्मफल के संन्यास की भावना को नचाते हैं—

मैं (ज्ञानी होने से) मति ज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ अर्थात् एकाग्रतया अनुभव करता हूँ ॥१॥ मैं श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही संचेतन अनुभव करता हूँ ॥२॥ मैं अवधिज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ॥३॥ मैं मनःपर्ययज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ॥४॥ मैं केवलज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ॥५॥

मैं चक्षुर्दर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ॥६॥ मैं अचक्षुर्दर्शनावरणीय कर्म के०, चैतन्य०॥७॥ मैं अवधिदर्शनावरणीय कर्म के०, चैतन्य० ॥८॥

नमात्मानमेव संचेतये ८ नाहं केवलदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ९ नाहं [1]निद्रादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १० नाहं निद्रानिद्रादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११ नाहं प्रचलादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२ नाहं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३ नाहं स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४ नाहं सातावेदनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १५ नाहमसातावेदनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १६ नाहं सम्यक्त्वमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १७ नाहं मिथ्यात्वमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १८ नाहं सम्यक्त्वमिथ्यात्वमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १९ नाहं अनंतानुबंधिक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २० नाहमप्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २१ नाहं प्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २२ नाहं संज्वलनक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २३ नाहमनंतानुबंधिमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २४ नाहमप्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २५ नाहं प्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैत-

---

बष्टंभेन कृत्वा कर्मचेतनासंन्यासभावना कर्मफलचेतनासन्यासभावना च मोक्षार्थिना पुरुषेण कर्तव्येति भावार्थः । एवं

मैं केवलदर्शनावरणीय कर्म के०,चैतन्य० ॥९॥ मै निद्रादर्शनावरणीय कर्म के०,चैतन्य०॥१०॥ मै निद्रानिद्रादर्शनावरणीय कर्म के०,चैतन्य०॥११॥ मैं प्रचलादर्शनावरणीय कर्म के०, चैतन्य ॥१२॥ मै प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीय कर्म के०, चैतन्य० ॥१३॥ मै स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणीय कर्म के० चैतन्य० ॥१४॥

मैं सातावेदनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ॥१५॥ मैं असातावेदनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥१६॥

मैं सम्यक्त्व मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ॥१७॥ मैं मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥१८॥ मै सम्यक्त्व मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥१९॥ मैं अनंतानुबन्धि क्रोध कषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥२०॥ मैं अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोधकषायवेदनीय मोहनीय कर्म के० चैतन्य० ॥२१॥ मै प्रत्याख्यानावरणीय क्रोधकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥२२॥ मैं संज्वलन क्रोधकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य०॥२३॥ मैं अनंतानुबंधी मानकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य०॥२४॥ मैं अप्रत्याख्याना-

---

१. मदखेदस्वापविनोदार्थं स्वापो निद्रा। अस्या उपर्युपरि वृत्तिर्निद्रानिद्रा। या क्रिया आत्मानं प्रचलयति सा प्रचला शोकमदश्रमादसातस्यापि नेत्रगात्रविक्रियासूचिका सैव पुनरावर्त्यमाना प्रचलाप्रचला।

न्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २६ नाहं संज्वलनमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २७ नाहमनंतानुबंधिमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २८ नाहमप्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २९ नाहं प्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३० नाहं संज्वलनमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३१ नाहमनंतानुबंधिलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३२ नाहमप्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३३ नाहं प्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३४ नाहं संज्वलनलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३५ नाहं हास्यनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३६ नाहं रतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३७ नाहमरतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३८ नाहं शोकनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३९ नाहं भयनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४० नाहं जुगुप्सानोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४१ नाहं

गाथाद्वयं कर्मचेतनासंन्यासभावनामुख्यत्वेन, गाथैका कर्मफलचेतनासंन्यासभावनामुख्यत्वेनेति दशमस्थले गाथात्रयं गतं ॥३८७।३८८-३८९॥ अथेदानीं व्यावहारिकजीवादिनवपदार्थेभ्यो भिन्नमपि टंकोत्कीर्णज्ञायकैकपारमार्थिकपदार्थसंज्ञं गद्यपद्यादिविचित्ररचनारचितशास्त्रैः शब्दादिपंचेंद्रियविषयप्रभृतिपरद्रव्यैश्च शून्यमपि रागादिविकल्पोपाधिरहितं सदानंदैकल-

---

वरणीय मानकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥२५॥ मैं प्रत्याख्यानावरणीय मानकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥२६॥ मैं संज्वलन मानकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥२७॥ मैं अनंतानुबंधी मायाकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥२८॥ मैं अप्रत्याख्यानावरणीय मायाकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥२९॥ मैं प्रत्याख्यानावरणीय मायाकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥३०॥ मैं संज्वलन मायाकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥३१॥ मैं अनंतानुबन्धी लोभकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥३२॥ मैं अप्रत्याख्यानावरणीय लोभकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥३३॥ मैं प्रत्याख्यानावरणीय लोभकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥३४॥ मैं संज्वलन लोभकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥३५॥ मैं हास्यनोकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के० चैतन्य० ॥३६॥ मैं रतिनोकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥३७॥ मैं अरतिनोकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥३८॥ मैं शोकनोकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥३९॥ मैं भय नोकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥४०॥ मैं जुगुप्सानोकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥४१॥ मैं स्त्रीवेदनो-

स्त्रीवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४२ नाहं पुंवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४३ नाहं नपुंसकवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४४ नाहं नरकायुःकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४५ नाहं तिर्यगायुःकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४६ नाहं मानुषायुःकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४७ नाहं देवायुःकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४८ नाहं नरकगतिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४९ नाहं तिर्यग्गतिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५० नाहं मनुष्यगतिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५१ नाहं देवगतिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५२ नाहमेकेंद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५३ नाहं द्वींद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५४ नाहं त्रींद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५५ नाहं चतुरिंद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५६ नाहं पंचेंद्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५७ नाहमौदारिकशरीरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५८ नाहं वैक्रियिकशरीरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५९ नाहमाहारकशरीरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६० नाहं तैजसशरीरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मा-

---

क्षणसुखामृतरसास्वादेन भरितावस्थं परमात्मतत्त्वं प्रकाशयति;—न श्रुतं ज्ञानं अचेतनत्वात् ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेकः। न शब्दो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानशब्दयोर्व्यतिरेकः। न रूपं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानरूपयोर्व्यतिरेकः। न वर्णो

कषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥४२॥ मैं पुरुषवेदनोकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥४३॥ मैं नपुंसकवेदनोकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥४४॥

मैं नरकायु कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ॥४५॥ मैं तिर्यंचायु कर्म के०, चैतन्य० ॥४६॥ मैं मनुष्यायु कर्म के०, चैतन्य० ॥४७॥ मैं देवायु कर्म के०, चैतन्य० ॥४८।

मैं नरकगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ॥४९॥ मैं तिर्यंचगतिनामकर्म के०, चैतन्य० ॥५०॥ मैं मनुष्यगतिनामकर्म के०, चैतन्य० ॥५१॥ मैं देवगति नाम कर्म के०, चैतन्य० । ५२॥ मैं एकेन्द्रियजाति नामकर्म के०, चैतन्य० ॥५३॥ मैं द्वीन्द्रियजाति नाम कर्म के०, चैतन्य० ॥५४॥ मैं त्रीन्द्रियजाति नामकर्म के०, चैतन्य० ॥५५॥ मैं चतुरिन्द्रिय जातिनाम कर्म के०, चैतन्य० ॥५६॥ मैं पञ्चेन्द्रियजाति नामकर्म के०, चैतन्य० ॥५७॥ मैं औदारिकशरीरनाम कर्म के०, चैतन्य० ॥५८॥ मैं वैक्रियिकशरीर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥५९॥ मैं आहारकशरीर नाम कर्म के०, चैतन्य० ॥६०॥ मैं तैजसशरीर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥६१॥ मैं कार्मणशरीर नामकर्म

नमेव संचेतये ६१ नाहं कार्मणशरीरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६२ नाहमौदारिकशरीरांगोपांगनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६३ नाहं वैक्रियिकशरीरांगोपांगनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६४ नाहमाहारकशरीरांगोपांगनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६५ नाहमौदारिकशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६६ नाहं वैक्रियिकशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६७ नाहमाहारकशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६८ नाहं तैजसशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६९ नाहं कार्मणशरीरबंधननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७० नाहमौदारिकशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७१ नाहं वैक्रियिकशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७२ नाहमाहारकशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७३ नाहं तैजसशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७४ नाहं कार्मणशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७५ नाहं समचतुरस्रसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७६ नाहं न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७७ नाहं स्वातिसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७८ नाहं कुब्जसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७९ नाहं वामनसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८० नाहं

ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानवर्णयोर्व्यतिरेकः । न गंधो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानगंधयोर्व्यतिरेकः । न रसो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानरसयोर्व्यतिरेकः । न स्पर्शो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानस्पर्शयोर्व्यतिरेकः । न कर्म ज्ञानं अचेतनत्वात् ततो ज्ञान-

---

के०, चैतन्य० ॥६२॥ मै औदारिकशरीरअंगोपांग नामकर्म के०, चैतन्य० ॥६३॥ मैं वैक्रियिक शरीर अंगोपांग नामकर्म के०, चैतन्य० ॥६४॥ मैं आहारकशरीरअंगोपांग नामकर्म के०, चैतन्य० ॥६५॥ मैं औदारिकशरीर बंधन नामकर्म के०, चैतन्य० ॥६६॥ मैं वैक्रियिकशरीर बंधननामकर्म के०, चैतन्य० ॥६७॥ मैं आहारकशरीरबंधन नामकर्म के०, चैतन्य० ॥६८॥ मैं तैजसशरीरबंधन नाम कर्म के०, चैतन्य० ॥६९॥ मैं कार्मणशरीरबंधन नामकर्म के०, चैतन्य० ॥७०॥ मैं औदारिकशरीर संघात नाम कर्म के०, चैतन्य० ॥७१॥ मैं वैक्रियिकशरीरसंघात नामकर्म के०, चैतन्य० ॥७२॥ मैं आहारक शरीरसंघात नामकर्म के०, चैतन्य० ॥७३॥ मैं तैजसशरीरसंघात नामकर्म के०, चैतन्य० ॥७४॥ मैं कार्मणशरीरसंघात नामकर्म के०, चैतन्य० ॥७५॥ मैं समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म के०, चैतन्य० ॥७६॥ मैं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान नामकर्म के०, चैतन्य० ॥७७॥ मैं स्वातिसंस्थान नाम कर्म के०, चैतन्य० ॥७८॥ मैं कुब्जकसंस्थान नामकर्म के०, चैतन्य० ॥७९॥ मैं वामनसंस्थान नाम कर्म के०, चैतन्य० ॥८०॥ मैं हुण्डकसंस्थान नामकर्म के०, चैतन्य० ॥८१॥ मैं वज्रर्षभनाराचसंहनन नामकर्म

हुंडकसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८१ नाहं वज्रर्षभनाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८२ नाहं वज्रनाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८३ नाहं नाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८४ नाहमर्धनाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८५ नाहं कीलिकासंहनननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८६ नाहमसंप्राप्तासृपाटिकासंहनननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८७ नाहं स्निग्धस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ८८ नाहं रूक्षस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ८९ नाहं शीतस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९० नाहमुष्णस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९१ नाहंगुरुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९२ नाहं लघुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९३ नाहं मृदुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९४ नाहं कर्कशस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९५ नाहं मधुररसनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९६ नाहमम्लरसनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९७ नाहं तिक्तरसनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९८ नाहं कटुकरसनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९९ नाहं कषायरसनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०० नाहं सुरभिगंधनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०१ नाहमसुरभिगंधनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०२ नाहं शुक्लवर्णनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०३ नाहं रक्तवर्णनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०४ नाहं पीतवर्णनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या०

कर्मणोर्व्यतिरेकः। न धर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानधर्मयोर्व्यतिरेकः। नाधर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाधर्मयोर्व्यतिरेकः। न कालोज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानकालयोर्व्यतिरेकः। नाकाशं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाकाशयोर्व्यतिरेकः। नाध्यवसानं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाध्यवसानयोर्व्यतिरेकः। इत्येवं ज्ञानस्य सर्वैरेव परद्रव्यैः सह व्यतिरेकः निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः।

के०, चैतन्य० ॥८२॥ मैं वज्रनाराच संहनन नामकर्म के०, चैतन्य० ॥८३॥ मैं नाराचसंहनन नामकर्म के०, चैतन्य० ॥८४॥ मैं अर्धनाराच संहनन नामकर्म के०, चैतन्य० ॥८५॥ मैं कीलिकासंहनन नाम कर्म के०, चैतन्य० ॥८६॥ मैं असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन नामकर्म के०, चैतन्य० ॥८७॥ मैं स्निग्धस्पर्श नामकर्म के०, चैतन्य० ॥८८॥ मैं रूक्षस्पर्श नामकर्म के०, चैतन्य० ॥८९॥ मैं शीत स्पर्श नाम कर्म के०, चैतन्य० ॥९०॥ मैं उष्ण स्पर्श नाम कर्म के०, चैतन्य० ॥९१॥ मैं गुरु स्पर्श नाम कर्म के०, चैतन्य० ॥९२ मैं लघु स्पर्श नामकर्म के०, चैतन्य० ॥९३॥ मैं मृदु स्पर्श नामकर्म के०, चैतन्य० ॥९४॥ मैं कर्कश स्पर्श नाम कर्म के०, चैतन्य० ॥९५॥ मैं मधुररस नामकर्म के०, चैतन्य० ॥९६॥ मैं आम्लरस नामकर्म के०, चैतन्य० ॥९७॥ मैं तिक्तरस नामकर्म के०, चैतन्य० ॥९८॥ मैं कटुकरस नामकर्म के०, चैतन्य० ॥९९॥ मैं कषायरस नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१००॥

मैं सुरभिगंध नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१०१॥ मैं असुरभिगंध नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१०२॥ मैं शुक्ल वर्ण नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१०३॥ मैं रक्तवर्ण नाम कर्मके०, चैतन्य० ॥१०४॥ मैं पीत

१०५ नाहं हरितवर्णनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०६ नाहं कृष्णवर्णनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०७ नाहं नरकगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०८ नाहं तिर्यग्गत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०९ नाहं मनुष्यगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११० नाहं देवगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १११ नाहं निर्माणनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११२ नाहमगुरुलघुनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११३ नाहमुपघातनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११४ नाहं परघातनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११५ नाहमातपनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११६ नाहमुद्योतनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११७ नाहमुच्छ्वासनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११८ नाहं प्रशस्तविहायोगतिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११९ नाहमप्रशस्तविहायोगतिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२० नाहं साधारणशरीरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२१ नाहं प्रत्येकशरीरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२२ नाहं स्थावरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२३ नाहं त्रसनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२४ नाहं सुभगनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२५ नाहं दुर्भगनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२६ नाहं सुस्वरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२७ नाहं दुःस्वरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२८ नाहं शुभनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२९ नाहमशुभनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३० नाहं सूक्ष्मशरीरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३१ नाहं बादरशरीरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३२ नाहं

अथ जीव एवैको ज्ञानं चेतनत्वात् ततो ज्ञानजीवयोरेवाव्यतिरेकः । न च जीवस्य स्वयं ज्ञानत्वात् ततो व्यतिरेकः कश्चनापि शंकनीयः । एवं सति ज्ञानमेव सम्यग्दृष्टिः, ज्ञानमेव संयम, ज्ञानमेवांगपूर्वरूपं सूत्रं, ज्ञानमेव धर्माधर्मौ, ज्ञानमेव प्रव्रज्येति ज्ञानस्य जीवपर्यायैरपि सहाव्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः । अथैवं सर्वपरद्रव्यव्यतिरेकेण सर्वदर्शनादिजीव-

---

वर्ण नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१०५॥ मैं हरित वर्ण नाम कर्मके०, चैतन्य० ॥१०६॥ मैं कृष्ण वर्ण नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१०७॥ मैं नरकगत्यानुपूर्वी नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१०८॥ मैं तिर्यंच गत्यानुपूर्वी नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१०९॥ मैं मनुष्य गत्यानुपूर्वी नामकर्म के०, चैतन्य० ॥ ११०॥ मैं देव गत्यानुपूर्वी नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१११॥ मैं निर्माण नामकर्म के०, चैतन्य० ॥११२॥ मै अगुरुलघु नामकर्म के०, चैतन्य० ॥११३॥ मैं उपघात नामकर्म के०, चैतन्य० ॥११४॥ मैं परघात नामकर्म के०, चैतन्य० ॥११५॥ मैं आतप नामकर्म के०, चैतन्य० ॥११६॥ मैं उद्योत नामकर्म के०, चैतन्य० ॥११७॥ मैं उच्छ्वास नामकर्म के०, चैतन्य० ॥११८॥ मैं प्रशस्त विहायोगति नामकर्म के०, चैतन्य० ॥११९॥ मैं अप्रशस्त विहायोगति नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१२०॥ मैं साधारण शरीर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१२१॥ मैं प्रत्येक शरीर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१२२॥ मैं स्थावर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१२३॥ मैं त्रस नामकर्म के०, चैतन्य०॥१२४॥ मैं सुभग नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१२५॥ मैं दुर्भग नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१२६॥ मै सुस्वर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१२७॥ मैं दुःस्वर नामकर्म के०, चैतन्य०॥१२८॥ मैं शुभ नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१२९॥ मैं अशुभ नामकर्म के, चैतन्य० ॥१३०॥ मैं सूक्ष्मशरीर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१३१॥ मैं बादरशरीर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१३२॥ मैं

पर्याप्तनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३३ नाहमपर्याप्तनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३४ नाहं स्थिरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३५ नाहमस्थिरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३६ नाहमादेयनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३७ नाहमनादेयनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३८ नाहं यशःकीर्तिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३९ नाहमयशःकीर्तिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १४० नाहं तीर्थकरत्वनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १४१ नाहमुच्चैर्गोत्रकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १४२ नाहं नीचैर्गोत्रकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १४३ नाहं दानांतरायकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १४४ नाहं लाभांतरायकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १४५ नाहं भोगांतरायकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १४६ नाहमुपभोगांतरायकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १४७ नाहं वीर्यांतरायकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ॥१४८॥३८७-३८९॥

स्वभावादन्यतिरेकेण चात्यंतमव्याप्तिम् च परिहरमाणमनादिविभ्रममूलं धर्माधर्मरूपं परसमयमुद्वम्य स्वयमेव प्रव्रज्यारूपमापद्य दर्शनज्ञानचारित्रस्थितिस्वरूपं स्वसमयमवाप्य मोक्षमार्गमात्मन्येव परिणतं कृत्वा समवाप्तसंपूर्णविज्ञानघनभावं

पर्याप्त नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१३३॥ मैं अपर्याप्त नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१३४॥ मैं स्थिर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१३५॥ मैं अस्थिर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१३६॥ मैं आदेय नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१३७॥ मैं अनादेय नामकर्म के० चैतन्य० ॥१३८॥ मै यश: कीर्ति नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१३९॥ मै अयश: कीर्ति नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१४०॥ मैं तीर्थकर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१४१॥ मैं उच्चगोत्र कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ॥१४२॥ मैं नीच गोत्र नाम कर्म के०, चैतन्य०॥१४३॥ मैं दानांतराय कर्म के फल को नही भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ॥१४४॥ मैं लाभांतराय कर्म के०, चैतन्य०॥१४५॥ मै भोगांतराय कर्म के०, चैतन्य०॥१४६॥ मैं उपभोगांतराय कर्म के०, चैतन्य० ॥१४७॥ मैं वीर्यांतराय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ॥१४८॥ (इस प्रकार ज्ञानी सकल कर्मों के फल के संन्यास की भावना करता है)।

यहां भावना का अर्थ बारम्बार चिंतवन करके उपयोग का अभ्यास करना है जब जीव सम्यग्दृष्टि—ज्ञानी होता है तब उसे ज्ञान—श्रद्धान तो हुआ ही है कि 'मै शुद्धनय से समस्त कर्म और कर्म के फल से रहित हूं ? परन्तु पूर्वबद्ध कर्म उदय में आने पर उनसे होने वाले भावों का कर्तृत्व छोड़कर, त्रिकाल सम्बन्धी ४९-४९ भंगों द्वारा कर्मचेतना के त्याग की भावना करके तथा समस्त कर्मों का फल भोगने के त्याग की भावना करके, एक चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही भोगना शेष रह जाता है । अविरत, देश विरत और प्रमत्त अवस्था वाले जीव के ज्ञान-श्रद्धान में निरंतर यह भावना तो है ही; और जब जीव अप्रमत्त दशा को प्राप्त करके एकाग्रचित्त से ध्यान करे, केवल चैतन्य मात्र अवस्था में उपयोग लगाये और शुद्धोपयोग रूप हो, तब निश्चयचारित्र रूप शुद्धोपयोग भाव से श्रेणी चढ़कर केवल ज्ञान प्राप्त करता है । उस समय इस भावना का फल जो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से रहित साक्षात् ज्ञान-चेतना रूप परिणमन है सो होता है । पश्चात् आत्मा अनन्त काल तक ज्ञानचेतना रूप ही रहता हुआ परमानन्द में मग्न रहता है ।

निश्शेषकर्मफलसंन्यसनान्ममैव [1]सर्वक्रियांतरविहारनिवृत्तवृत्तेः ।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं कालावलीयमचलस्य वहत्वनंता ॥२३१॥
यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां भुंक्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः ।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं [2]निष्कर्मशर्ममयमेति दशांतरं सः ॥२३२॥

हानोपादानशून्यं साक्षात्समयसारभूतं परमार्थरूपं शुद्धज्ञानमेकमेवावस्थितं द्रष्टव्यं । "अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुतामादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितं । मध्याद्यंतविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभास्वरः शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥१॥ उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत् । यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ॥२॥ तपश्चरणं च यत् केन नयेन एतत्सर्वं ज्ञानं मन्यते ? इति चेत् मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीण-कषायपर्यंतस्वकीयस्वकीयगुणस्थानयोग्यशुभाशुभशुद्धोपयोगाविनाभूतविवक्षिताशुद्धनिश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेणेति । ततः स्थित शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुद्धोपादानरूपेण जीवादिव्यावहारिकनवपदार्थेभ्यो भिन्नमादि-

---

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**निःशेष** इत्यादि । सकल कर्मों के फल का त्याग करके ज्ञानचेतना की भावना करने वाला ज्ञानी कहता है कि पूर्वोक्त प्रकार से सकल कर्मों के फल का संन्यास (त्याग) करने से मैं चैतन्य लक्षण वाले आत्मतत्त्व को ही अतिशयतया भोगता हूं, और इसके सिवाय अन्य उपयोग की क्रिया तथा बाह्य की क्रिया उसमें प्रवृत्ति से रहित वर्तने वाला अचल हूं । सो मेरे यह काल की आवली प्रवाहरूप अनन्त है, वह आत्मतत्त्व के उपभोग में लगी रहे, उपयोग की प्रवृत्ति अन्य में मत जावे ।

भावार्थ—ऐसी भावना करने वाला ज्ञानी ऐसा तृप्त हुआ है कि भावना करते हुए मानो साक्षत् केवली ही हुआ है । सो अनन्तकाल तक ऐसा ही रहना चाहता है । यह ठीक है; क्योंकि इसी भावना से केवली होता है । केवलज्ञान उत्पन्न होनेका परमार्थ उपाय यही है, बाह्य व्यवहारचारित्र इसी का साधन रूप है । इसके विना व्यवहारचारित्र शुभकर्म को बांधता है, मोक्ष का उपाय नहीं है ॥२३१॥

अब पुनः काव्य कहते हैं—**यः पूर्व** इत्यादि । **अर्थ**—जो पुरुष पूर्व काल में अज्ञानभाव से किये कर्मरूप विषवृक्ष के उदय आये हुये फल को स्वामी होकर नहीं भोगता और निश्चय से अपने आत्म-स्वरूप से ही तृप्त है, अन्य कुछ तृष्णा नहीं करता, वह पुरुष वर्तमानकाल में सुन्दर (रमण करने योग्य) तथा आगामी काल में जिनका फल सुन्दर (रमणे योग्य) ऐसे कर्मों से रहित स्वाधीन सुखमयी अन्य स्वरूप दशा को प्राप्त होता है, जो दशा संसार अवस्था में पहले कभी नहीं हुई थी ।

भावार्थ—ज्ञानचेतना की भावना का यह फल है । इसकी भावना से अत्यन्त तृप्ति रहती है, अन्य तृष्णा नहीं रहती । और आगामी काल में केवलज्ञान उपार्जन कर सब कर्मों से रहित मोक्ष अवस्था को प्राप्त होता है ॥२३२॥

---

१. सर्वं यत्क्रियांतरं शुद्धचेतनातिरिक्तविभावरूपं न तु विहरणं नाम शुद्धसंवित्तेः सत्त्वेन भवनं तस्मान्निवृत्ता वृत्तिर्ज्ञानचेतना यस्य तस्य तथाभूतस्येत्यर्थः । २ स्वर्गादिसुखं हि कर्मजन्यं मोक्षे तु तदभावात् अनाकुलत्वलक्षणशर्मसद्भावाच्च निष्कर्मशर्ममयत्वमिति ।

अत्यंतं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः ।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां
सानंदं नाटयंतः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबंतु ॥२३३॥
इतः पदार्थप्रथनावगुंठनाद् विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत् ।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयात् विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ॥२३४॥

मध्यांतमुक्तमेकमखंडप्रतिभासमयं निजनिरंजनसहजशुद्धपरमसमयसाराभिधानं सर्वप्रकारोपादेयभूत शुद्धज्ञानस्वभावं शुद्धात्मतत्त्वमेव श्रद्धेयं ज्ञेयं ध्यातव्यमिति । एवं व्यावहारिकनवपदार्थमध्ये भूतार्थनयेन शुद्धजीव एक एव वास्तवः स्थित इति व्याख्यानमुख्यत्वेन एकादशस्थले पंचदश गाथा गताः । किं च—मत्यादिसंज्ञानपंचकं पर्यायरूपं तिष्ठति शुद्धपारिणामिक-

---

अब उपदेश करते हैं कि ऐसे कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग की भावना से अज्ञान चेतना के अभाव को प्रगट नचाकर ज्ञानचेतना के स्वभाव को पूर्ण कर के, उसको नचाते हुए ज्ञानीजन सदाकाल आनन्द रूप रहें

इसी अर्थ का कलशरूप काव्य है—**अत्यंतं** इत्यादि । **अर्थ**—ज्ञानीजन कर्म से तथा कर्म के फल से अत्यन्त विरक्त भावना को निरंतर भाकर, और समस्त अज्ञानचेतना के नाश को अच्छी तरह नृत्य कराकर, अपने निज रस से प्राप्त स्वभावरूप ज्ञानचेतना को आनंद के साथ जैसे हो उस तरह पूर्ण करके नृत्य कराते हुए यहां से आगे कर्म के अभावरूप आत्मीकरसरूप अमृत रस को सदाकाल पीवें । यह ज्ञानीजनों को प्रेरणा है ।

भावार्थ—पहले तो तीन काल संबंधी कर्म का कर्तृत्व रूप कर्मचेतना के ४६ भंग रूप त्याग की भावना कराई, फिर १४८ कर्मप्रकृतियों का उदयरूप कर्मफल के त्याग की भावना कराई । ऐसे अज्ञानचेतना का प्रलय कराके ज्ञानचेतना में प्रवर्तने का उपदेश किया है । यह ज्ञानचेतना सदा आनन्दरूप अपने स्वभाव का अनुभवरूप है । उसको ज्ञानीजन सदा भोगो, यह श्रीगुरुओं का उपदेश है ।

यह सर्वविशुद्धज्ञान का अधिकार है; इसलिये ज्ञान को कर्ता-भोक्तापने से भिन्न दिखलाया ॥२३३॥

अब अन्य द्रव्य और अन्य द्रव्यों के भावों से ज्ञान को पृथक् दिखलाते हैं, उसकी सूचनिका का काव्य कहते हैं—**इतः पदार्थ** इत्यादि । **अर्थ**—यहां से आगे ज्ञान के अधिकार में सब वस्तुओं से भिन्नत्व के निश्चय से पृथक् किया गया ज्ञान निश्चल ठहरता है । पदार्थ के विस्तार को ज्ञेयज्ञान संबंध करके एकसा दिखलाने से हुई जो अनेक रूप कर्तृत्वभावरूप क्रिया, उसके विना एक ज्ञान क्रियामात्र सब आकुलता से रहित देदीप्यमान हुआ ठहरता है ।

भावार्थ—ज्ञान को सब वस्तुओं से पृथक् दिखलाते हैं ॥२३४॥

सत्थं णाणं ण हवइ जह्मा सत्थं ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ॥ ३१० ॥
सद्दो णाणं ण हवइ जह्मा सद्दो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति ॥ ३११ ॥
रूवं णाणं ण हवइ जह्मा रूवं ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति ॥ ३१२ ॥
वण्णो णाणं ण हवइ जह्मा वण्णो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति ॥ ३१३ ॥
गंधो णाणं ण हवइ जह्मा गंधो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति ॥ ३१४ ॥
ण रसो दु हवदि णाणं जह्मा दु रसो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं रसं य अण्णं जिणा विंति ॥३१५॥
फासो ण हवइ णाणं जह्मा फासो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति ॥ ३१६ ॥
कम्मं णाणं ण हवइ जह्मा कम्मं ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ॥ ३१७ ॥
धम्मो[1] णाणं ण हवइ जह्मा धम्मो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति ॥ ३१८ ॥
णाणमधम्मो[2] ण हवइ जह्मा धम्मो ण याणए किंचि ।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति ॥ ३१९ ॥

भावस्तु द्रव्यरूपः । जीवपदार्थो हि न च केवलं द्रव्यं, न च पर्यायः, किंतु परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायधर्माधारभूतो धर्मी ।

यही गाथाओं में कहते हैं;—[शास्त्रं] शास्त्र [ज्ञानं न भवति] ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [शास्त्रं किंचित् न जानाति] शास्त्र कुछ नहीं जानता, जड़ है [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्]

---

१. धम्मच्छिओ ण णाणं पाठः तात्पर्यवृत्तौ । २. ण हवदि णाणमधम्मच्छिओ, तात्पर्यवृत्तौ ।

कालो णाणं ण हवइ जह्मा कालो ण याणए किंचि ।
तह्मा अरणं णाणं अरणं कालं जिणा विंति ॥ ४०० ॥
आयामंपि ण णाणं जह्मा यासं ण याणए किंचि ।
तह्मा यासं अरणं अरणं णाणं जिणा विंति ॥ ४०१ ॥
णज्झवसाणं[1] णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जह्मा ।
तह्मा अरणं णाणं अज्झवसाणं तहा अरणं ॥४०२ ॥
जह्मा जाणइ णिच्चं तह्मा जीवो दु जाणओ णाणी ।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥ ४०३ ॥
णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं ।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्जं अब्भुवंति बुहा ॥४०४॥ (पञ्चदशकम्)

शास्त्रं ज्ञानं न भवति यस्माच्छास्त्रं न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यच्छास्त्रं जिना विदंति ॥ ३९० ॥
शब्दो ज्ञानं न भवति यस्माच्छब्दो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं शब्दं जिना विदंति ॥ ३९१ ॥
रूपं ज्ञानं न भवति यस्माद्रूपं न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यद्रूपं जिना विदंति ॥ ३९२ ॥

तत्रेदानीं केन ज्ञानेन मोक्षो भवतीति विचार्यते—केवलज्ञानं तावत्फलभूतमग्रे भविष्यति । अवधिमनःपर्ययज्ञानद्वयं च **रूपिष्ववधेः । तदनंतभागे मनःपर्ययस्य** इति वचनात् मूर्तविषयत्वादेव मूर्तं मोक्षकारणं न भवति ततः सामर्थ्यादेव

ज्ञान अन्य है **[शास्त्रं अन्यत्]** शास्त्र अन्य है, ऐसे **[जिना विदंति]** जिन भगवान कहते हैं। **[शब्दः ज्ञानं न भवति]** शब्द ज्ञान नहीं है **[यस्मात्]** क्योंकि **[शब्दः किंचित् न जानाति]** शब्द कुछ नहीं जानता **[तस्मात्]** इसलिये **[ज्ञानं अन्यत्]** ज्ञान अन्य है **[शब्दं अन्यं]** शब्द अन्य है ऐसा **[जिना विदंति]** जिनदेव कहते हैं **[रूपं ज्ञानं न भवति]** रूप ज्ञान नहीं है **[यस्मात्]** क्योंकि **[रूपं किंचित् न जानाति]** रूप कुछ नहीं जानता **[तस्मात्]** इसलिये **[ज्ञानं अन्यत्]** ज्ञान अन्य है **[रूपं अन्यत्]** रूप अन्य है ऐसा **[जिना विदंति]** जिनदेव कहते हैं। **[वर्णः ज्ञानं न भवति]** वर्ण ज्ञान नहीं है

1. अज्झवसाणं णाणं णहवदि जह्मा अचेदणं णिच्चं इति तात्पर्यवृत्तौ पाठः ।

वर्णो ज्ञानं न भवति यस्माद्वर्णो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं वर्णं जिना विदंति ॥ ३६३ ॥
गंधो ज्ञानं न भवति यस्माद्गंधो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं गंधं जिना विदंति ॥ ३६४ ॥
न रसस्तु भवति ज्ञानं यस्मात्तु रसो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानं रसं चान्यं जिना विदंति । ।३६५ ॥
स्पर्शो न भवति ज्ञानं यस्मात्स्पर्शो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं स्पर्शं जिना विदन्ति ।।३६६।।

बहिर्विषयमतिज्ञानश्रुतज्ञानविकल्परहितत्वेन स्वशुद्धात्माभिमुखपरिच्छित्तिलक्षणं निश्चयनिर्विकल्पभावरूपमानसमतिज्ञान श्रुतज्ञानसंज्ञ पचेंद्रिमाविषयत्वेनातींद्रियं शुद्धपारिणामिकभावविषये तु या भावना तद्रूपं निर्विकारस्वसंवेदनशब्दवाच्य संसारिणा

[यस्मात्] क्योंकि [वर्णः किंचित् न जानाति] वर्ण कुछ नहीं जानता [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [वर्णः अन्यः] वर्ण अन्य है [जिना विदंति] ऐसा जिनदेव कहते है [गंधः ज्ञानं न भवति] गंध ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [गंधः किंचित् न जानाति] गंध कुछ नहीं जानता [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [गंधं अन्यं] गंध अन्य है ऐसा [जिना विदंति] जिनदेव कहते हैं । [रसः तु ज्ञानं न भवति] और रस ज्ञान नही है [यस्मात्तु] क्योंकि [रसः किंचित् न जानाति] रस कुछ नहीं जानता [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [रसं च अन्यं] रस अन्य है ऐसा [जिना विदंति] जिनदेव कहते है [स्पर्शः ज्ञानं न भवति] स्पर्श ज्ञान नही है [यस्मात्] क्योंकि [स्पर्शः] स्पर्श [किंचित् न जानाति] कुछ नहीं जानता [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [स्पर्शं अन्यं] स्पर्श अन्य है ऐसा [जिना विदंति] जिनदेव कहते है । [कर्म ज्ञानं न भवति] कर्म ज्ञान नही है [यस्मात्] क्योंकि [कर्म किंचित् न जानाति] कर्म कुछ नहीं जानता [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [कर्म अन्यत्] कर्म अन्य है [जिना विदंति] ऐसा जिनदेव कहते हैं । [धर्मः ज्ञानं न भवति] धर्म ज्ञान नही है [यस्मात्] क्योंकि [धर्मः किंचित् न जानाति] धर्म कुछ नहीं जानता [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [धर्मं अन्यं] धर्म अन्य है ऐसा [जिना विदंति] जिनदेव कहते हैं [अधर्मः ज्ञानं न भवति] अधर्म ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [अधर्मः किंचित् न जानाति] अधर्म कुछ नहीं जानता [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [अधर्मं अन्यं] अधर्म अन्य है ऐसा [जिना विदंति] जिनदेव कहते हैं [कालः ज्ञानं न भवति] काल ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [कालः किंचित् न जानाति] काल कुछ नहीं जानता [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं

कर्म ज्ञानं न भवति यस्मात्कर्म न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यत्कर्म जिना विदन्ति ॥३९७॥
धर्मो ज्ञानं न भवति यस्माद्धर्मो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं धर्मं जिना विदन्ति ॥३९८॥
ज्ञानमधर्मो न भवति यस्मादधर्मो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यमधर्मं जिना विदन्ति ॥३९९॥
कालो ज्ञानं न भवति यस्मात्कालो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यद् ज्ञानमन्यं कालं जिना विदन्ति ॥४००॥
आकाशमपि न ज्ञानं यस्मादाकाशं न जानाति किंचित् ।
तस्मादाकाशमन्यदन्यज्ज्ञानं जिना विदन्ति ॥४०१॥
नाध्यवसानं ज्ञानमध्यवसानमचेतनं यस्मात् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमध्यवसानं तथान्यत् ॥४०२॥
यस्माज्जानाति नित्यं तस्माज्जीवस्तु ज्ञायको ज्ञानी ।
ज्ञानं च ज्ञायकादव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यं ॥४०३॥
ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं तु संयमं सूत्रमंगपूर्वगतं ।
धर्माधर्मं च तथा प्रव्रज्यामभ्युपयांति बुधाः ॥४०४॥

क्षायिकज्ञानाभावात् क्षायोपशमिकमपि विशिष्टभेदज्ञान मुक्तिकारणं भवति । कस्मात् ? इति चेत् समस्तमिथ्यात्वरागादि

अन्यत्] ज्ञान अन्य है [कालं अन्यं] काल अन्य है ऐसा [जिना विदंति] जिनदेव कहते हैं। [आकाशं अपि ज्ञानं न] आकाश भी ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [आकाशं किंचित् न जानाति] आकाश कुछ नहीं जानता [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [आकाशं अन्यत्] आकाश अन्य है ऐसा [जिना विदंति] जिनदेव ने कहा है। [तथा] उसी प्रकार [अध्यवसानं ज्ञानं न] अध्यवसान ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [अध्यवसानं] अध्यवसान [अचेतनं] अचेतन है [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [अध्यवसानं अन्यत्] अध्यवसान अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। [तस्मात् तु] इसलिये [जीवः] जीव [ज्ञायकः ज्ञानी] ज्ञायक है, वही ज्ञानी है [यस्मात्] क्योंकि [नित्यं जानाति] निरंतर जानता है [च] और [ज्ञानं] ज्ञान [ज्ञायकात् अव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यं] ज्ञायक से अभिन्न है ऐसा जानना चाहिए [तु] और [ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं] ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है [संयमं] संयम है [अंगपूर्वगतं सूत्रं] अंगपूर्वगत सूत्र है [च धर्माधर्मं] और धर्म अधर्म है [तथा] तथा [प्रव्रज्यां] दीक्षा भी ज्ञान है [बुधाः अभ्युपयांति] ऐसा ज्ञानीजन अंगीकार करते (मानते) हैं।

न श्रुतं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेकः । न शब्दो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञान-शब्दयोर्व्यतिरेकः । न रूपं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानरूपयोर्व्यतिरेकः । न वर्णो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानवर्णयोर्व्यतिरेकः । न गंधो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानगंधयोर्व्यतिरेकः । न रसो ज्ञान-मचेतनत्वात् ततो ज्ञानरसयोर्व्यतिरेकः । न स्पर्शो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानस्पर्शयोर्व्यतिरेकः । न कर्म ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानकर्मणोर्व्यतिरेकः । न धर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानधर्मयो-र्व्यतिरेकः । नाधर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाधर्मयोर्व्यतिरेकः । न कालो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानकालयोर्व्यतिरेकः । नाकाशं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाकाशयोर्व्यतिरेकः । नाध्यवसानं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाध्यवसानयोर्व्यतिरेकः । इत्येवं ज्ञानस्य सर्वैरेव परद्रव्यैः सह व्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः । अथ जीव एवैको ज्ञानं चेतनत्वात् ततो ज्ञानजीवयोरेवाव्यतिरेकः. न च जीवस्य स्वयं ज्ञानत्वात्ततो व्यतिरेकः कश्चनापि शंकनीयः । एवं तु सति ज्ञानमेव सम्यग्दृष्टिः, ज्ञान-मेव संयमः, ज्ञानमेवांगपूर्वरूपं सूत्रं, ज्ञानमेव धर्माधर्मौ, ज्ञानमेव प्रव्रज्येति ज्ञानस्य जीवपर्यायैरपि

विकल्पोपाधिरहितस्वशुद्धात्मभावनोत्थपरमाल्हादैकलक्षणसुखामृतरसास्वादैकाकारपरमसमरसीभावपरिणामेन कार्यभूतस्या-नंतज्ञानसुखादिरूपस्य मोक्षफलस्य विवक्षितैकशुद्धनिश्चयनयेन शुद्धोपादानकारणत्वादिति । तथा चोक्तं "भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन । तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन" ॥३९०—४०४॥ अतः परमेवं सति शुद्धबुद्धैकस्वभाव-परमात्मतत्त्वस्य देह एव नास्ति कथमाहारो भविष्यतीत्युपदिशति; —**अत्ता जस्स अमुत्तो** आत्मा यस्य शुद्धनयस्या-भिप्रायेण मूर्तो न भवति **ण हु सो आहारगो हवदि एवं** स एवममूर्तत्वे सति हु स्फुटं तस्य शुद्धनयस्याभिप्रायेणा-

---

टीका—वचनात्मक द्रव्य श्रुतज्ञान नहीं है क्योंकि वचन अचेतन है इसलिए ज्ञान का और श्रुत का भेद है । शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द पुद्गल द्रव्य की पर्याय है, अचेतन है; इसलिये ज्ञान का और शब्द का भेद है । रूप ज्ञान नहीं हैं क्योंकि रूप पुद्गल का गुण है, अचेतन है, इसलिये रूप का और ज्ञान का भेद है । वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण पुद्गलद्रव्य का गुण है, अचेतन है, इसलिये वर्ण का और ज्ञान का भेद है । गंध ज्ञान नहीं है क्योंकि गंध पुद्गलद्रव्य का गुण है, अचेतन है, इसलिये गंध का और ज्ञान का भेद है । रस ज्ञान नहीं है क्योंकि रस पुद्गलद्रव्य का गुण है, अचेतन है, इसलिए रस का और ज्ञान का परस्पर भेद है । स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श पुद्गलद्रव्य का गुण है, अचेतन है, इसलिये स्पर्श का और ज्ञान का भेद है । कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म अचेतन है, इसलिये कर्म का और ज्ञान का भेद है । धर्मद्रव्य ज्ञान नहीं है, क्योंकि धर्म अचेतन है इसलिए धर्मद्रव्य का और ज्ञान का भेद है । अधर्मद्रव्य ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्मद्रव्य अचेतन है इसलिए अधर्मद्रव्य का और ज्ञान का भेद है । कालद्रव्य ज्ञान नहीं है, क्योंकि काल अचेतन है इसलिए काल का और ज्ञान का भेद है । आकाशद्रव्य ज्ञान नहीं है, क्योंकि आकाश अचेतन है इसलिये ज्ञान का और आकाश का भेद है । अध्यवसान ज्ञान नहीं, है क्योंकि अध्यवसान अचेतन है, इसलिये ज्ञान का और कर्म के उदय की प्रवृत्ति रूप अध्यवसान

सहाव्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः। अथैवं सर्वपरद्रव्यव्यतिरेकेण सर्वदर्शनादिजीवस्वभावाव्यतिरेकेण वा अतिव्याप्तिमव्याप्तिं च परिहरमाणमनादिविभ्रममूलं धर्माधर्मरूपं परसमयमुद्वम्य स्वयमेव प्रव्रज्यारूपमापद्य दर्शनज्ञानचारित्रस्थितित्वरूपं स्वसमयमवाप्य मोक्षमार्गमात्मन्येव परिणतं कृत्वा समवाप्तसंपूर्णविज्ञानघनभावं हानोपादानशून्यं साक्षात्समयसारभूतं परमार्थरूपं शुद्धंज्ञानमेकमेव स्थितं द्रष्टव्यं ॥३९०-४०४॥

हारको न भवति। **आहारो खलु मुत्तो** आहारः। कथंभूतः? खलु स्फुटं मूर्तः। **जह्मा सो पुग्गलमओ दु** यस्मात् स नोकर्माद्याहारः पुद्गलमयः। **सो कोवि य तस्स गुणो** स कोपि तस्य गुणोऽस्त्यात्मनः। कथं? **पाउ-**

का भेद है। इस प्रकार ज्ञान का सब परद्रव्यों के साथ साथ भिन्न होने का निश्चय साधित देखना चाहिए।

अब कहते हैं कि जीव ही एक ज्ञान है; क्योंकि जीव चेतन है; इसलिये ज्ञान का और जीव का अभेद है। जीव के अपने आप ज्ञानपना है, ज्ञान जीव का भेद कुछ भी शंकारूप नहीं करना। ऐसा होने पर ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अंगपूर्वगत सूत्र है। तथा धर्म अधर्म भी ज्ञान ही है और ज्ञान ही दीक्षा है और ज्ञान ही निश्चय चारित्र है। इस तरह जीव का पर्यायों के साथ भी अभेद का निश्चय साधित देखना।

अब कहते है कि इस प्रकार सब परद्रव्यों के साथ तो व्यतिरेक (भेद) के द्वारा तथा सब दर्शनादि जीव स्वभावों के साथ अभेद के द्वारा अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष को दूर करता हुआ, अनादिकाल से जिसका मूलकारण अविद्या है ऐसे पुण्य पाप जो शुभ अशुभ रूप परसमय उसको दूर कर के, आप निश्चय चारित्ररूप दीक्षा को पाकर, दर्शन ज्ञानचारित्र में स्थिति रूप जो स्वसमय उसको व्यापकर आत्मा में ही मोक्षमार्ग के परिणाम कर जिसने सम्पूर्ण विज्ञानघन स्वभाव पालिया है ऐसा, त्याग ग्रहण से रहित साक्षात् समयसारभूत परमार्थरूप शुद्ध एक ज्ञान ही अवस्थित हुआ देखना अर्थात् प्रत्यक्ष स्वसंवेदन अनुभव करना।

भावार्थ—सब परद्रव्यों से तो जुदा और अपने पर्यायो से अभेदरूप ऐसा एक ज्ञान दिखलाया। इसलिये अतिव्याप्ति और अव्याप्ति नाम वाले लक्षण के दोष दूर हो गये। क्योंकि आत्मा का लक्षण उपयोग है, उपयोग में ज्ञान प्रधान है, वह अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है; इस कारण अतिव्याप्ति स्वरूप नहीं है। और अपनी सब अवस्थाओं में है, इसलिये अव्याप्ति स्वरूप नहीं है। यहां पर ज्ञान कहने से आत्मा ही जानना, क्योंकि अभेदविवक्षा में गुण और गुणी का आपस में अभेद है; इसलिये विरोध नहीं। यहां ज्ञान को ही प्रधान कर आत्मा का अधिकार है इसी लक्षण से सब परद्रव्यों से भिन्न अनुभवगोचर होता है। यद्यपि आत्मा में अनंत धर्म हैं तो भी उनमें कोई तो छद्मस्थ के अनुभवगोचर ही नहीं कि उनको कहे। छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को नहीं पहचान सकता। कोई धर्म अनुभवगोचर हैं उनमें कोई अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादिक हैं वे अन्यद्रव्यों से साधारण (समान) हैं उनके कहने से पृथक् आत्मा

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितं ।
मध्याद्यंतविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥२३५॥

ग्गिय विस्ससो वापि प्रायोगिको वैश्रसिकश्चेति । प्रायोगिकः कर्मसंयोगजनितः । वैस्रसिकः स्वभावजः । येन गुणेन किं करोति ? **णवि सक्कदि घित्तुं जे ण मुञ्चिदुं चेव जं परं दव्वं** परद्रव्यमाहारादिकं गृहीतु मोक्तुं च न

नहीं जाना जाता। कोई परद्रव्य के निमित्त से हुए हैं, उनको कहने से परमार्थ आत्मा का शुद्ध स्वरूप कैसे जाना जाय ? इसलिये ज्ञान ही कहने से छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को पहचान सकता है। इसलिये ज्ञान को ही आत्मा कहकर इस ज्ञान में अनादि अज्ञान से शुभाशुभ उपयोगरूप परसमय की प्रवृत्ति को दूर करके, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र में प्रवृत्तिरूप स्वसमयरूप परिणमनस्वरूप मोक्षमार्ग में आत्मा को परिणमा के संपूर्ण ज्ञान को जब प्राप्त होता है, तब फिर त्याग ग्रहण के लिये कुछ नहीं रहता। ऐसा साक्षात् समयसारस्वरूप पूर्ण ज्ञान परमार्थभूत शुद्ध ठहरे उसको देखना। वहां पर देखना भी तीन प्रकार जानना। एक तो शुद्धनय के ज्ञान द्वारा इसका श्रद्धान करना। यह तो अविरत आदि अवस्था में भी मिथ्यात्व के अभाव से होता है। दूसरा ज्ञान श्रद्धान हुए बाद बाह्य सब परिग्रह का त्यागकर इसका अभ्यास करना। उपयोग को ज्ञान में ही ठहराता। जैसा शुद्धनय से अपने स्वरूप को सिद्ध समान जानकर श्रद्धान किया, वैसा ही ध्यान में लेकर एकाग्र चित्त को ठहराना, बार बार इसीका अभ्यास करना। किन्तु यह देखना तो अप्रमत्त दशा में होता है। इसलिए जहां तक ऐसे अभ्यास से केवल ज्ञान प्राप्त हो वहां तक यह अभ्यास निरंतर करना। यह देखना दूसरा प्रकार है। यहां तक तो पूर्ण ज्ञान का शुद्धनय के आश्रय से परोक्ष देखना है। और तीसरा केवल ज्ञान प्राप्त हो तब साक्षात् देखना होता है। उस समय सब विभावों से रहित हुआ सब को देखने जानने वाला ज्ञान होता है। यह पूर्ण ज्ञान का प्रत्यक्ष देखना है। ज्ञान है वही आत्मा है। अभेदविवक्षा में ज्ञान कहो या आत्मा कहो कुछ विरोध नहीं जानना।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**अन्येभ्यो** इत्यादि। **अर्थ**—यह ज्ञान उस तरह अवस्थित हुआ है जैसे इसकी महिमा निरंतर उदित रहे, प्रतिपक्षी कर्म न रहे। अन्य परद्रव्यों से भिन्न अवस्थित हुआ है, अपने में ही निश्चित है, पृथक् वस्तुत्व धारण करता हुआ है अर्थात् वस्तु का स्वरूप सामान्य विशेषात्मक है सो ज्ञान ने भी सामान्य विशेषात्मकपने को धारण कर रक्खा है, ग्रहण त्याग से रहित है, रागादिक मलसे रहित है। और इसकी महिमा नित्य उदय रूप ठहर रही है। मध्य आदि अन्त जो भेद उनसे रहित स्वाभाविक विस्तार रूप हुए प्रकाश कर देदीप्यमान है और शुद्ध ज्ञान का समूह है। ऐसी जिसकी महिमा सदा उदयमान है, उस तरह ठहरा हुआ है।

भावार्थ—ज्ञान का पूर्णरूप सबको जानना है। सो जब यह प्रकट होता है तब उन विशे-

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ॥२३६॥
व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितं ।
कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शंक्यते ॥२३७॥

अत्ता जस्सामुत्तो ण हु सो आहारओ हवइ एवं ।
आहारो खलु मुत्तो जह्मा सो पुग्गलमओ उ ॥४०५॥
णवि सक्कइ घित्तुं जं ण[1] विमोत्तुं जं य जं परद्दव्वं ।
सो कोवि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वावि ॥४०६॥
तह्मा उ जो विसुद्धो चेया सो णेव गिण्हए किंचि ।
णेव विमुंचइ किंचिवि जीवाजीवाण दव्वाणं ॥४०७ (त्रिकलम्)

शक्नोति । अहो हे भगवन् ? कर्मजनितप्रायोगिकगुणेन आहारं गृह्णंस्ते च कथमनाहारका भवति इति । हे शिष्य ! भद्रमुक्तं त्वया परं किंतु निश्चयेन तन्मयो न भवति स व्यवहारनयः । इद तु निश्चयव्याख्यानमिति । **तह्मा दु जो विशुद्धो चेदा** यस्मान्निश्चयनयेनानाहारकः तस्मात्कारणात् यस्तु विशेषेण शुद्धो रागादिरहितश्चेतयितात्मा **सो णेव गिह्णदे किंचि णेव विमुञ्चदि किंचिवि जीवाजीवाण दव्वाणं** कर्माहार-नोकर्माहार-कवलाहार-लेप्याहार-ओजआहार-मानसाहाररूपेण जीवाजीवद्रव्याणां मध्ये सचित्ताचित्ताहारं नैव किंचिद् गृह्णाति न मुंचति । तत कारणान्नोकर्माहारमयं शरीरं जीवस्वरूपं न भवति । शरीराभावे शरीरमयद्रव्यलिंगमपि जीवस्वरूपं न भवति इति । एवं निश्चयेन जीवस्या-

---

पणों के साथ प्रकट होता है । इसकी महिमा कोई नहीं बिगाड़ सकता, सदा उदयमान रहती है॥२३५॥

अब इसी अर्थ को काव्य से कहते हैं कि ऐसे ज्ञान स्वरूप आत्मा का धारण करना यही कृत-कृत्यपना है—**उन्मुक्त** इत्यादि । **अर्थ**—जिसने सब शक्तियां समेट ली है, ऐसे पूर्ण स्वरूप आत्मा का आत्मा में ही धारण करना वही तो छोड़ने योग्य छोड़ा और जो ग्रहण करने योग्य था सो सब ग्रहण कर लिया ।

भावार्थ—पूर्ण ज्ञान स्वरूप सब शक्तियों का समूह स्वरूप आत्मा को धारण करना वही त्यागने योग्य सभी त्याग किया और ग्रहण करने योग्य था वह ग्रहण किया । यही कृतकृत्यपना है॥२३६॥

आगे कहते हैं कि ऐसे ज्ञान के देह भी नहीं है उसकी सूचना का श्लोक है—**व्यतिरिक्तं** इत्यादि । **अर्थ**—ज्ञान पूर्वोक्त प्रकार परद्रव्य से पृथक् ठहरा । ऐसा ज्ञान कर्म नोकर्मरूप आहार करनेवाला आहारक कैसे हो सकता है ? और जब आहारक नहीं है तो इसके देह की शंका नहीं करना ॥२३७॥

१. ण मु चदे चेव ज पर दव्वं पाठोयं तात्पर्यवृत्तौ ।

आत्मा यस्यामूर्तो न खलु स आहारको भवत्येवं।
आहारः खलु मूर्तो यस्मात्स पुद्गलमयस्तु ॥४०५॥
नापि शक्यते ग्रहीतुं यन्न विमोक्तुं यच्च यत्परं द्रव्यं।
स कोऽपि च तस्य गुणो प्रायोगिको वैस्रसो वापि ॥४०६॥
तस्मात्तु यो विशुद्धश्चेतयिता स नैव गृह्णाति किंचित्।
नैव विमुंचति किंचिदपि जीवाजीवयोर्द्रव्ययोः ॥४०७

ज्ञानं हि परद्रव्यं किंचिदपि न गृह्णाति न मुञ्चति प्रायोगिकगुणसामर्थ्यात् वैस्रसिकगुणसामर्थ्याद्वा ज्ञानेन परद्रव्यस्य गृहीतुं मोक्तुं चाशक्यत्वात्। परद्रव्यं च न ज्ञानस्यामूर्तात्मद्रव्यस्य मूर्तपुद्गलद्रव्यत्वादाहारः ततो ज्ञानं नाहारकं भवत्यतो ज्ञानस्य देहो न शंकनीयः ॥४०५।४०६।४०७॥

हारो नास्ति, इति व्याख्यानमुख्यत्वेन द्वादशस्थले गाथात्रय गतं ॥४०५।४०६।४०७॥ अथैवं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य परमात्मनो नोकर्माहाराद्यभावे सत्याहारमयदेहो नास्ति। देहाभावे देहमयं द्रव्यलिंगं निश्चयेन मुक्तिकारणं न भवतीति

अब इस अर्थ को गाथा में कहते हैं;—[एवं] इस प्रकार [यस्य आत्मा अमूर्तः] जिसका आत्मा अमूर्तीक है [स खलु] वह निश्चय से [आहारकः न भवति] आहारक नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [आहारः खलु मूर्तः] आहार मूर्तीक है [स तु पुद्गलमयः] वह तो पुद्गलमय है। [यत् परद्रव्यं] जो पर द्रव्य है [यत् ग्रहीतुं च विमोक्तुं नापि शक्यते] वह ग्रहण भी नहीं किया जा सकता और छोड़ा भी नहीं जा सकता [स कोपि च तस्य गुणः] वह कोई ऐसा ही आत्मा का गुण [प्रायोगिकः वापि वैस्रसः] प्रायोगिक तथा वैस्रसिक है। [तस्मात्तु] इसलिये [यः विशुद्धः चेतयिता] जो विशुद्ध आत्मा है [सः] वह [जीवाजीवयोः द्रव्ययोः] जीव अजीव पर द्रव्य में से [किंचित् नैव गृह्णाति] किसी को भी न तो ग्रहण ही करता है [अपि किंचित् नैव विमुञ्चति] और न किसी को छोड़ता है।

टीका—यहां आत्मा कहने से ज्ञान का ग्रहण है, क्योंकि अभेद विवक्षा से लक्षण में ही लक्ष्य का व्यवहार है। इस न्याय से आत्मा को ज्ञान ही कहा जाता है। इसलिये टीकाकार कहते हैं कि ज्ञान परद्रव्य को किंचित् मात्र भी ग्रहण नहीं करता और न छोड़ता है; क्योंकि प्रायोगिक अर्थात् परनिमित्त से उत्पन्न हुआ जो गुण, उसकी सामर्थ्य से तथा वैस्रसिक (स्वाभाविक) गुण की सामर्थ्य से दोनों तरह से ज्ञान के द्वारा परद्रव्य के ग्रहण करने का और छोड़ने का असमर्थपना है। अमूर्तीक आत्मद्रव्य जो ज्ञान उसके मूर्तीक पुद्गलद्रव्य आहार नहीं है, क्योंकि अमूर्तीक के मूर्तीक आहार नहीं होता। इसलिये ज्ञान आहारक नहीं है। इस कारण ज्ञान में देह की शंका न करना।

भावार्थ—ज्ञानस्वरूप आत्मा अमूर्तीक है और कर्म नोकर्म रूप पुद्गलमय आहार मूर्तीक

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते ।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिंगं मोक्षकारणं ॥२३८॥

पाखंडीलिंगाणि व गिहलिंगाणि व बहुप्पयाराणि ।
घित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गोत्ति ॥४०८॥
ण उ होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा ।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति ॥४०९॥

पाषंडिलिंगानि वा गृहलिंगानि वा बहुप्रकाराणि ।
गृहीत्वा वदंति मूढा लिंगमिदं मोक्षमार्ग इति ॥४०८॥
न तु भवति मोक्षमार्गो लिंगं यद्देहनैर्म्मम्या[1] अर्हंतः ।
लिंगं मुक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवंते ॥४०९॥

केचिद्द्रव्यलिंगमज्ञानेन मोक्षमार्गं मन्यमानाः संतो मोहेन द्रव्यलिंगमेवोपाददते । तद-

---

प्रतिपादयति;—पाखंडिलिंगानि गृहस्थलिंगानि च बहुप्रकाराणि गृहीत्वा वदंति मूढा । किं वदति ? इदं द्रव्यमयलिंगमेव मुक्तिकारणं । कथंभूताः संतः ? रागादिविकल्पोपाधिरहितं परमसमाधिरूप भावलिंगमजानत. ण य होदि मोक्ख-

---

है; इसलिये परमार्थ से आत्मा के पुद्गलमय आहार नहीं है । आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है । इस कारण परद्रव्य को तो ग्रहण ही नहीं करता । स्वभावरूप परिणमन करे तथा विभाव रूप परिणमन करे, अपने ही परिणाम का ग्रहण त्याग है, परद्रव्य का ग्रहण त्याग कुछ भी नहीं है । इसलिये आत्मा के पुद्गलमय देह स्वरूप लिंग (वेष—बाह्यचिह्न) मोक्ष के कारण नहीं ॥४०५। ४०६-४०७॥

उसकी सूचना का श्लोक कहते हैं—**एवं ज्ञानस्य** इत्यादि । **अर्थ**—पूर्वोक्त प्रकार से शुद्धज्ञान के देह ही विद्यमान नहीं है इसलिये ज्ञाता के देहमय चिह्न (भेष) मोक्ष का कारण नहीं है ॥२३८॥

अब इस अर्थ को गाथाओं से कहते है;—[**पाखंडिलिंगानि**] पाखंडिलिंग [**वा**] अथवा [**गृहिलिंगानि**] गृहिलिंग ऐसे [**बहुप्रकाराणि**] बहुत प्रकार के बाह्य लिंग हैं उनको [**ग्रहीत्वा**] धारण करके [**मूढा इति वदंति**] अज्ञानी जन ऐसा कहते हैं कि [**इदं लिंगं**] यह लिंग ही [**मोक्षमार्गः**] मोक्ष का मार्ग है । आचार्य कहते हैं कि [**लिंगं मोक्षमार्गः न तु भवति**] लिंग मोक्ष का मार्ग नहीं है [**यत्**] क्योंकि [**अर्हंतः**] अर्हंत देव भी [**देहनिर्ममाः**] देह से निर्ममत्व हुए [**लिंगं मुक्त्वा**] लिंग को छोड़कर [**दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवंते**] दर्शनज्ञान चारित्र को ही सेवन करते हैं ।

टीका—कितने ही लोग अज्ञान से द्रव्यलिंग को ही मोक्ष मार्ग मानते हुए मोह से द्रव्यलिंग को ही अंगीकार करते हैं । इस द्रव्यलिंग को मोक्ष मार्ग मानना अयुक्त है; क्योंकि सभी अरहंत देवों

---

१. निर्ममा इत्यपि पाठः

प्यनुपपन्नं सर्वेषामेव भगवतामर्हद्देवानां शुद्धज्ञानमयत्वे सति द्रव्यलिंगाश्रयभूतशरीरममकारत्यागात्। तदाश्रितद्रव्यलिंगत्यागेन दर्शनज्ञानचारित्राणां मोक्षमार्गत्वेनोपासनस्य दर्शनात् ॥४०८।४०६॥

अथैतदेव साधयति—

ण वि एस मोक्खमग्गो पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ॥४१०॥

नाप्येष मोक्षमार्गः पाखंडिगृहिमयानि लिंगानि।
दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गं जिना विदंति ॥४१०॥

न खलु द्रव्यलिंगं मोक्षमार्गः शरीराश्रितत्वे सति परद्रव्यत्वात्। तस्माद्दर्शनज्ञानचारित्राण्येव मोक्षमार्गः, आत्माश्रितत्वे सति स्वद्रव्यत्वात् ॥४१०॥

मग्गो लिंगं भावलिंगरहितं द्रव्यलिंग केवलं मोक्षमार्गो न भवति। कस्मात् ? इति चेत्-जं यस्मात्कारणात् **देहणिम्ममा अरिहा** अर्हंतो भगवंतो देहनिर्ममाः संतः। किं कुर्वंति ? **लिंगं मुइत्तु** लिंगाधारं यच्छरीरं तस्य शरीरस्य

के शुद्ध ज्ञानमयता होने से, द्रव्यलिंग का आश्रयभूत शरीर के ममत्व का त्याग होने से, उस शरीर के आश्रित द्रव्यलिंग के त्याग को और दर्शनज्ञानचारित्र की मोक्षमार्ग रूप से उपासना देखी जाती है।

भावार्थ—यदि देहमय द्रव्यलिंग ही मोक्ष का कारण होता तो अरहंतादिक देह का ममत्व छोड़ दर्शनज्ञानचारित्र को क्यों सेवन करते, द्रव्यलिंग से ही मोक्ष को प्राप्त हो जाते। इसलिये यह निश्चय हुआ कि देहमयलिंग मोक्षमार्ग नहीं है। परमार्थ से दर्शन ज्ञानचारित्र रूप आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है ॥४०८।४०६॥

आगे यह सिद्ध करते हैं कि दर्शनज्ञान और चारित्र ही मोक्षमार्ग है;—[**पाखण्डगृहिमयानि लिंगानि**] पाखंडी (मुनिलिंग) और गृहस्थलिंग [**एषः**] यह [**मोक्षमार्गः**] मोक्षमार्ग [**नापि**] नहीं है [**दर्शनज्ञानचारित्राणि**] दर्शनज्ञान और चारित्र [**मोक्षमार्गं**] मोक्षमार्ग हैं [**जिना विदंति**] ऐसा जिनदेव कहते हैं॥

टीका— निश्चय से द्रव्यलिंग मोक्ष का मार्ग नहीं है, क्योंकि इसको शरीर के आश्रित होने से यह परद्रव्य है, दर्शनज्ञानचारित्र ही मोक्ष मार्ग हैं; क्योंकि इसको आत्माश्रित होनेसे (निज आत्म) द्रव्यपना है॥

भावार्थ—मोक्ष सब कर्मों के अभाव रूप आत्मा का परिणाम है, इसलिये इसका कारण भी आत्मा का परिणाम ही होना चाहिये। दर्शनज्ञानचारित्र आत्मा के परिणाम हैं इसलिये वे ही मोक्ष के मार्ग हैं, यह निश्चय से कहा है। लिंग है देहमय है, देह पुद्गलद्रव्यमय है; इसलिये आत्मा के देह मोक्ष का मार्ग नहीं है। परमार्थ से अन्यद्रव्य का अन्यद्रव्य कुछ नहीं करता यह नियम है ॥४१०॥

यत एवं—

तह्मा दुहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं वा गहिए।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥४११॥

तस्मात् तु हित्वा लिंगानि सागारैरनगारैर्वा गृहीतानि।
दर्शनज्ञानचारित्रे आत्मानं युंक्ष्व मोक्षपथे ॥४११॥

यतो द्रव्यलिंगं न मोक्षमार्गः, ततः समस्तमपि द्रव्यलिंगं त्यक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्रेष्वेव मोक्षमार्गत्वात् आत्मा योक्तव्य इति सूत्रानुमतिः ॥४११॥

यन्ममत्वं तन्मनोवचनकायैर्मुक्त्वा। पश्चात् **दंसणणाण चरित्ताणि सेवते** चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वविषये यानि श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाणि सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि तानि सेवंते भावयंतीत्यर्थः ॥४०८।४०९॥ अथैतदेव व्याख्यानं विशेषेण दृढयति;—**ण वि एस मोक्खमग्गो** न चैष मोक्षमार्गः। एष कः? **पाखंडिगिहिमयाणि लिंगाणि** निर्विकल्पसमाधिरूपभावलिंगान्निरपेक्षाणि रहितानि यानि पाखण्डिगृहिमयानि द्रव्यलिंगानि। कथंभूतानि? निर्ग्रंथकौपीनग्रहणरूपाणि बहिरंगाकारचिह्नानि। तर्हि को मोक्षमार्गः? इति चेत् **दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति** शुद्धबुद्धैकस्वभाव एव परमात्मतत्त्वश्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाणि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं जिना वदंति कथयंति ॥४१०॥ यत एवं— **तह्मा जहित्तु लिंगे सागारणगारिएहिं वा गहिदे** यस्मात्कारणात्पूर्वोक्तप्रकारेण

आगे कहते हैं कि यदि द्रव्यलिंगमोक्षमार्ग नहीं है तो यह उपदेश है; कि आत्मा को दर्शनज्ञान और चारित्र में ही लगाना चाहिए **[तस्मात्]** इस कारण **[सागारैः]** गृहस्थों के **[वा]** अथवा **[अनगारैः]** मुनियों के **[गृहीतानि लिंगानि]** ग्रहण किये गये लिंगों को **[जहित्वा]** छोड़कर **[आत्मानं]** अपने आत्मा को **[दर्शनज्ञानचारित्रे]** दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप **[मोक्षपथे]** मोक्ष मार्ग में **[युंक्ष्व]** युक्त करो। यह श्री गुरुओं का उपदेश है।

टीका—क्योंकि द्रव्यलिंग मोक्षका मार्ग नहीं है, इस कारण सभी द्रव्यलिंगों को छोड़कर दर्शन ज्ञानचारित्र में ही आत्मा को युक्त करना। यही मोक्ष का मार्ग है ऐसा सूत्र का उपदेश है।

भावार्थ—यहाँ द्रव्यलिंग को छुड़ाकर दर्शन ज्ञान और चारित्र में लगाने का वचन है। यह सामान्य परमार्थ वचन है। मुनि श्रावक के व्रत छुड़ाने का उपदेश नहीं है। जो केवल द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग जानकर भेष धारण करते हैं उनको द्रव्यलिंग का पक्ष छुड़ाया है कि वेषमात्र से मोक्ष नहीं है, परमार्थ रूप मोक्षमार्ग आत्मा के दर्शन ज्ञान और चारित्ररूप परिणाम ही हैं। व्यवहार आचार सूत्र में कहे अनुसार जो मुनि श्रावक के बाह्यव्रत हैं वे व्यवहार से निश्चय मोक्षमार्ग के साधक हैं। उनको नहीं छुड़ाते; परन्तु ऐसा कहते हैं कि उनका भी ममत्व छोड़ परमार्थ मोक्षमार्ग में लगने से ही मोक्ष होता है, केवल भेषमात्र से मोक्ष नहीं है, ऐसा जानना ॥४११॥

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥२३९॥

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥४१२॥

मोक्षपथे आत्मानं स्थापय तं चैव ध्यायस्व तं चेतयस्व ।
तत्रैव विहर नित्यं मा विहार्षीरन्यद्रव्येषु ॥४१२॥

आ संसारात्परद्रव्ये रागद्वेषादौ नित्यमेव स्वप्रज्ञादोषेणावतिष्ठमानमपि स्वप्रज्ञागुणेनैव ततो व्यावर्त्य दर्शनज्ञानचारित्रेषु नित्यमेवावस्थापय अतिनिश्चलमात्मानं । तथा समस्तचिन्तान्तर निरोधेनात्यंतमेकाग्रो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्राण्येव ध्याय । तथा सकलकर्मकर्मफलचेतनासंन्यासेन शुद्धज्ञानचेतनामयो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्राण्येव चेतयस्व । तथा द्रव्यस्वभाववशतः प्रतिक्षण-विजृम्भमाणपरिणामतया तन्मयपरिणामो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्रेष्वेव विहर । तथा ज्ञानरूपमेकमे-

---

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं जिनाः प्रतिपादयंति तस्मात्यक्त्वा । कानि ? निर्विकारस्वसंवेदनरूपभावलिंगरहितानि सागारानगारवर्गैः समूहैः—गृहीतानि बहिरंगाकारद्रव्यलिंगानि । पश्चात् किं कुरु ? **दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे** हे भव्य! आत्मानं योजय संबंधं कुरुष्व । क्व केवलज्ञानाद्यनंतचतुष्टयस्वरूपशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयलक्षणे मोक्षपथे मोक्षमार्गे ॥४११॥ अथ निश्चयरत्नत्रयात्मकः शुद्धात्मानुभूतिलक्षणो मोक्षमार्गो मोक्षार्थिना पुरुषेण सेवितव्य इत्युपदिशति—**मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि** हे भव्य ! आत्मानं स्थापय क्व विषये ? शुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयस्वरूपे मोक्षपथे । **चेदयहि** तमेव मोक्षपथं चेतयस्व परमसमरसी-

---

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करने की सूचना का श्लोक कहते हैं—**दर्शन** इत्यादि । **अर्थ**—जिस कारण आत्मा का यथार्थरूप दर्शन ज्ञानचारित्र का त्रिकस्वरूप है इस कारण मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को एक यही मोक्षमार्ग सदा सेवने योग्य है ॥२३९॥

अब यही उपदेश गाथा से कहते हैं;—हे भव्य तू **[मोक्षपथे]** मोक्षमार्ग में **[आत्मानं]** अपने आत्मा को **[स्थापय]** स्थापन कर **[च तं एव]** उसीका **[ध्यायस्व]** ध्यान कर **[तं चेतयस्व]** उसी को अनुभव गोचर कर **[तत्रैव नित्यं विहर]** और उस आत्मा में ही निरंतर विहार कर **[अन्यद्रव्येषु मा विहार्षीः]** अन्यद्रव्यों में विहार मत कर ।

टीका—आचार्य उपदेश करते हैं कि हे भव्य ! अनादिसंसार से लेकर यह आत्मा अपनी बुद्धिदोष से परद्रव्य में रागद्वेषादि करने में नित्य ही तिष्ठता हुआ प्रवर्त रहा है, और तू उसको अपनी बुद्धि के ही गुण से उन परद्रव्यों में राग-द्वेष से छुड़ाकर दर्शन ज्ञानचारित्र में निरन्तर तिष्ठता अति निश्चल स्थापनकर । समस्त अन्य चिंताओं का निरोध करके अत्यन्त एकाग्र चित्त होकर दर्शनज्ञान-

चाचलितमवलंबमानो ज्ञेयरूपेणोपाधितया सर्वत एव प्रधावत्स्वपि परद्रव्येषु सर्वेष्वपि मनागपि मा विहार्षीः ॥४१२॥

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्तात्मकस्-
तत्रैवस्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतति ।
तस्मिन्नेव निरंतरं विहरति द्रव्यांतराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विंदति ॥२४०॥
ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिंगे द्रव्यमये वहन्ति ममतां [१]तत्त्वावबोधच्युताः ।
नित्योद्योतमखंडमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यंति ते ॥२४१॥

भावेन अनुभवस्व **झायहि तं चेव** तमेव ध्याय निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावय । **तत्थेव विहर णिच्चं** तत्रैव विहर वर्तनापरिणति कुरु । नित्यं सर्वकालं । **मा विहरसु अण्णदव्वेसु** दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबंधादि-

चारित्र का ही ध्यान कर। समस्त कर्म और कर्मफलरूपचेतना का त्याग करके **शुद्धज्ञानचेतनामय** होकर दर्शन-ज्ञानचारित्र का ही अनुभवकर। द्रव्य के स्वभाव के वश क्षण-क्षण में जो परिणाम उत्पन्न होते हैं उन परिणामों में तन्मय होकर दर्शन ज्ञानचारित्र में ही विहार कर। तू एक ज्ञानरूप को ही निश्चलरूप से अवलंबन करता हुआ जो ज्ञेयरूप से ज्ञान में उपाधि स्वरूप है ऐसे सब ओर से फैले हुये परद्रव्य उनमें किंचितमात्र भी विहार मत कर।

भावार्थ—परमार्थ रूप आत्मा के परिणाम दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं, वे ही मोक्ष मार्ग हैं, उन में ही आत्मा को स्थापन करना, उनका ही ध्यान करना, उन्हीं का अनुभव करना, और उन्हीं में प्रवर्तना, अन्य द्रव्यों में नहीं प्रवर्तना, परमार्थ से यही उपदेश है, केवल व्यवहार में ही मूढ़ न रहना ॥ ४१२ ॥

अब इसी अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं—**एको मोक्ष** इत्यादि। **अर्थ**—दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप यही एक मोक्ष का मार्ग है। जो पुरुष उसी में तिष्ठता है, उसी को निरंतर ध्याता है, उसी का अनुभव करता है और अन्य द्रव्यों का स्पर्शन नहीं करता, उसी में निरंतर प्रवर्तन करता है, वह पुरुष थोड़े ही काल में अवश्य समयसार अर्थात् जिसका नित्य उदय रहे, ऐसे परमात्मा के रूप को अनुभव करता है।

भावार्थ—निश्चय मोक्ष मार्ग के सेवन से थोड़े काल में ही मोक्ष की प्राप्ति होती है यह नियम है ॥२४०॥

---

१ तत्त्वज्ञानबहिर्भूता इत्यर्थः।

पासंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु ।
कुव्वंति जे ममत्तं तेहिं ण णायं समयसारं ॥४१३॥

पाखंडिलिंगेषु वा गृहिलिंगेषु वा बहुप्रकारेषु ।
कुर्वंति ये ममतां तैर्न ज्ञातः समयसारः ॥४१३॥

ये खलु श्रमणोऽहं श्रमणोपासकोऽहमिति द्रव्यलिंगममकारेण मिथ्याहंकारं कुर्वंति तेऽनादिरूढव्यवहारविमूढाः प्रौढविवेकं निश्चयमनारूढाः परमार्थसत्यं भगवंतं समयसारं न पश्यंति ॥४१३॥

परद्रव्यालंबनोत्पन्नशुभाशुभसंकल्पविकल्पेषु मा विहार्षीः, मा गच्छ, मा परिणतिं कुर्विति ॥ ४१२ ॥ अथ सहजशुद्धपरमात्मानुभूतिलक्षणभावलिंगरहिता ये द्रव्यलिंगे ममता कुर्वंति तेऽद्यापि समयसारं न जानंतीति प्रकाशयति;—पाखं-

आगे कहते हैं कि जो द्रव्यलिंग को ही मोक्ष मार्ग मान कर उसमें ममत्व रखते हैं वे मोक्ष को नहीं पाते उसकी सूचना का काव्य है—**ये त्वेन** इत्यादि । **अर्थ**—जो पुरुष इस पूर्वोक्त परमार्थ स्वरूप मोक्ष मार्ग को छोड़कर व्यवहारमार्ग में स्थापन किये आत्मा के बाह्य भेष में ही ममता करते हैं, अर्थात् यह जानते हैं कि यही हमको मोक्ष प्राप्त कराएगा वे पुरुष तत्त्व के यथार्थज्ञान से रहित हुए मुनिपद लेने से भी इस समयसार को नहीं पाते । कैसा है समयसार ? जिसका नित्य उदय है, कोई भी विरोधी होकर उसके उदय का नाश नहीं कर सकता, अखंड है, जिसमें अन्य ज्ञेय आदि के निमित्त से खंड नहीं होता, एक है अर्थात् पर्यायोंकर अनेक अवस्थायें होती हैं तौ भी एकरूपपने को नहीं छोड़ता, जिसके समान अन्य नहीं ऐसा जिसका प्रकाश है, सूर्यादिक के प्रकाश की ज्ञान के प्रकाश को उपमा नहीं लग सकती । अपने स्वभाव की प्रभा का प्राग्भार है, अर्थात् जिसका भार अन्य नहीं सहन कर सकता तथा अमल है अर्थात् रागादि विकार रूप मल से रहित है । ऐसे परमात्मा के स्वरूप को द्रव्यलिंगी नहीं पा सकता ॥ २४१ ॥

अब इसी अर्थ की गाथा कहते हैं;—[**ये**] जो पुरुष [**पाखंडिलिंगेषु**] पाखंडी लिंगों में [**वा**] अथवा [**बहुप्रकारेषु गृहिलिंगेषु वा**] बहुत भेद वाले गृहस्थ लिंग में [**ममत्वं**] ममता [**कुर्वंति**] करते हैं अर्थात् हमको ये ही मोक्ष के देनेवाले हैं ऐसे, [**तैः**] उन पुरुषों ने [**समयसारः**] समय सार को [**न ज्ञातः**] नहीं जाना ॥

टीका—जो पुरुष निश्चयतः ऐसा मानते हैं कि मैं श्रमण हूं, अथवा श्रमण का उपासक हूं, इस तरह द्रव्यलिंग में ममकार करके मिथ्या अहंकार करते हैं, वे अनादि के चले आये व्यवहार में विमूढ़ हुए भेदज्ञान वाले निश्चयनय को नहीं पाते हुए परमार्थ से सत्यार्थभगवान ज्ञानरूपसमयसार को नहीं देखते ।

भावार्थ—जो अनादि कालीन परद्रव्य के संयोग से व्यवहार में मोही हैं वे ऐसा जानते हैं कि यह बाह्य महाव्रतादि रूप भेद ही हमको मोक्ष प्राप्त करायेगा परन्तु जिससे भेदज्ञान का जानना होता है ऐसे निश्चयनय को नहीं जानते, उनके सत्यार्थपरमात्मरूपशुद्धज्ञानमयसमयसार की प्राप्ति नहीं होती।४१३।

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयंति नो जनाः ।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयंतीह तुषं न तंडुलं ॥ २४२ ॥
द्रव्यलिंगममकारमीलितैः दृश्यते समयसार एव न ।
द्रव्यलिंगमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ॥ २४३ ॥

ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे ।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥ ४१४ ॥

व्यावहारिकः पुनर्नयो द्वे अपि लिंगे भणति मोक्षपथे ।
निश्चयनयो नेच्छति मोक्षपथे सर्वलिंगानि ॥ ४१४ ॥

डिलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु कुव्वंति जे ममत्तिं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानलक्षणभावलिंगरहितेषु निर्ग्रंथरूपपाखंडिद्रव्यलिंगेषु कौपीनचिह्नादिगृहस्थद्रव्यलिंगेषु बहुप्रकारेषु ये ममतां कुर्वंति **तेहिं ण णादं समयसारं** जगत्त्रयकालत्रयवर्तिख्यातिपूजालाभमिथ्यात्वकामक्रोधादिसमस्तपरद्रव्यालंबनसमुत्पन्नशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितः शून्यः चिदानंदैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजापूर्वपरमाह्लादरूपसुखरसानुभवपरमसमरसीभावपरिणामेन सालंबनः पूर्णकलशवद्भरितावस्थः केवलज्ञानाद्यनंतचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**व्यवहार** इत्यादि । **अर्थ**—जो लोक व्यवहार में ही मोहित बुद्धि वाले हैं वे परमार्थ को नहीं जानते । जैसे लोक में तुष (भूषा) के ही ज्ञान में विमुग्ध बुद्धि वाले तुष को ही चावल जानते हैं वे तंदुल को चावल नहीं जानते ।।

भावार्थ—जो परमार्थ आत्मा का स्वरूप नहीं जानते और व्यवहार में ही मूढ़ हो रहे हैं अर्थात् शरीरादि परद्रव्य को ही आत्मा जानते हैं वे परमार्थ आत्मा को नहीं जानते । जैसे तुष और तंदुल का भेद न जानने वाले को पराल (छिलके) को कूटने से तंदुल की प्राप्ति नहीं होती, तुष और तंदुल का भेदज्ञान होने पर ही तंदुल पा सकता है ।। २४२ ।।

आगे इसी अर्थ के दृढ़ करने को काव्य कहते हैं—**द्रव्यलिंग** इत्यादि । **अर्थ**—जो द्रव्यलिंग के मोह से अंधे हैं उनसे समयसार नहीं देखा जा सकता; क्योंकि इस लोक में द्रव्यलिंग तो अन्यद्रव्य से होता है और ज्ञान अपने आत्मद्रव्य से ही होता है ।

भावार्थ—जो द्रव्यलिंग को ही अपना मानते हैं वे अंधे हैं ।। २४३ ।।

आगे कहते हैं कि व्यवहारनय तो मुनिश्रावक के भेद से दो प्रकार के लिंगों को मोक्षमार्ग कहता है और निश्चयनय किसी लिंग को मोक्षमार्ग नहीं कहता;—**[व्यावहारिकः नयः पुनः]** व्यवहारनय तो **[द्वे लिंगे अपि]** मुनि श्रावक के भेद से दोनों ही प्रकार के लिंगों को **[मोक्षपथे भणति]** मोक्षमार्ग कहता है और **[निश्चयनयः]** निश्चयनय **[सर्वलिंगानि]** सभी लिंगों को **[मोक्षपथे न इच्छति]** मोक्षमार्ग में इष्ट नहीं करता ।

यः खलु श्रमणश्रमणोपासकभेदेन द्विविधं द्रव्यलिंगं मोक्षमार्ग इति प्ररूपणप्रकारः स केवलं व्यवहार एव, न परमार्थस्तस्य स्वयमशुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वाभावात्। यदेव श्रमणश्रमणोपासकविकल्पातिक्रांतं दृशिज्ञप्तिवृत्तप्रवृत्तिमात्रं शुद्धज्ञानमेवैकमिति निस्तुषसंचेतनं परमार्थः, तस्यैव स्वयं शुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वात्। ततो ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्ध्या चेतयंते ते समयसारमेव न चेतयंते। य एव परमार्थं परमार्थबुद्ध्या चेतयंते ते एव समयसारं चेतयंते ॥ ४१४ ॥

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ॥२४४॥

साक्षादुपादेयभूतस्य कार्यसमयसारस्योत्पादको योऽसौ निश्चयकारणसमयसारः स खलु तेनं ज्ञात इति ॥ ४१३ ॥ अथ निर्विकारशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणभावलिंगसहितं निर्ग्रंथयतिलिंगं कोपीनकरणादिबहुभेदसहितं गृहिलिंगं चेति द्वयमपि मोक्षमार्गे व्यवहारनयो मन्यते। निश्चयनयस्तु सर्वद्रव्यलिंगानि न मन्यत इत्याख्याति;—**ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे** व्यावहारिकनयो द्वे लिंगे मोक्षपथे मन्यते। केन कृत्वा? निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणभाव-

---

टीका—मुनि और उपासक—श्रावक के भेद से लिंग दो प्रकार का है। वे दोनों ही लिंग मोक्षमार्ग हैं ऐसा कहना केवल व्यवहार ही है परमार्थ नहीं है, क्योंकि इस व्यवहारनय के स्वयं अशुद्ध द्रव्य का अनुभव स्वरूपपना होने से परमार्थपने का अभाव है। तथा मुनि और श्रावक के भेद से भिन्न दर्शन ज्ञान चारित्र की प्रवृत्तिमात्र निर्मलज्ञान ही एक है, ऐसा निर्मल अनुभवन वही परमार्थ है, वही मोक्षमार्ग है। क्योंकि ऐसे ज्ञान के ही स्वयं शुद्धद्रव्यरूप होने का स्वरूपपना होने से परमार्थपना है। इसलिये जो पुरुष केवल व्यवहार का ही परमार्थ बुद्धि से अनुभव करते हैं वे समयसार को अनुभव नहीं करते, जो परमार्थ को ही परमार्थ की बुद्धि से अनुभव करते हैं वे ही इस समयसार को अनुभव करते हैं।

भावार्थ—व्यवहारनय का विषय भेद रूप अशुद्धद्रव्य परमार्थ नहीं है। और निश्चयनय का विषय अभेदरूप शुद्ध द्रव्य परमार्थ है। जो व्यवहार को ही निश्चय मान कर प्रवर्तन कर रहे हैं उनको समयसार की प्राप्ति नहीं है, और जो परमार्थ को परमार्थ जानते हैं उनको समयसार की प्राप्ति होती है वे ही मोक्ष पाते हैं ॥ ४१४ ॥

आगे कहते हैं कि बहुत कहने से क्या लाभ, एक परमार्थ का ही चिंतवन करना। उसका काव्य है—**अलमल** इत्यादि। **अर्थ**—आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से और बहुत से दुर्विकल्पों से तो कुछ लाभ नहीं। इस अध्यात्मग्रंथ में इस एक परमार्थ को ही निरंतर अनुभवन करना चाहिये। क्योंकि वास्तव में अपने रस के फैलाव से पूर्ण जो ज्ञान उसके स्फुरायमान होने मात्र जो समयसार—परमात्मा उसके सिवाय अन्य कुछ भी सार नहीं है।

भावार्थ—पूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव निश्चय से करना ही सार है ॥२४४॥

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णतां ।
विज्ञानघनमानंदमयमध्यक्षतां नयत् ॥ २४५ ॥

लिंगस्य बहिरंगसहकारिकारणत्वेनेति । **णिच्छयणओ दु णेच्छदि मुक्खपहे सव्वलिंगाणि** निश्चयनयस्तु निर्विकल्पसमाधिरूपत्रिगुप्तिगुप्तबलेन अहं निर्ग्रंथलिंगी, कौपीनधारकोऽहमित्यादि मनसि सर्वद्रव्यलिंगविकल्पं रागादिविकल्पवन्नेच्छति । कस्मात् ? स्वयमेव निर्विकल्पसमाधिस्वभावत्वात् इति । किंच—अहो शिष्य ! **पाखण्डीलिंगाणि य** इत्यादि गाथासप्तकेन द्रव्यलिंगं निषिद्धमेवेति त्वं मा जानाहि किं तु निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपं भावलिंगरहितानां यतीनां संबोधनं कृतं । कथं ? इति चेत्, अहो तपोधना ! द्रव्यलिंगमात्रेण संतोषं मा कुरुत किंतु द्रव्यलिंगाधारेण निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपभावनां कुरुत । ननु भवदीयकल्पनेयं, द्रव्यलिंगनिषेधो न कृत इति अत्र ग्रंथे-पूर्वलिखितमास्ते **ण य होदि मोक्खमग्गो लिंग** इत्यादि ? नैव **ण य होदि मोक्खमग्गो लिंग**मित्यादिवचनेन भावलिंगरहितं द्रव्यलिंगं निषिद्धं न च भावलिंगसहितं । कथं ? इति चेत् द्रव्यलिंगाधारभूतो योऽसौ देहस्तस्य ममत्वं निषिद्धं । न च द्रव्यलिंगं निषिद्धं । केन रूपेण ? इति चेत्, पूर्वं दीक्षाकाले सर्वसंगपरित्याग एव कृतो न च देहत्यागः । कस्मात् ? देहाधारेण ध्यानज्ञानानुष्ठानं भवति इति हेतोः । नच देहस्य पृथक्त्वं कर्तुमायाति शेषपरिग्रहवदिति । वीतरागध्यानकाले पुनर्मदीयो देहोऽहं लिंगीत्यादिविकल्पो व्यवहारेणापि न कर्तव्यः । देहनिर्ममत्वं कृतं कथं ज्ञायते ? इति चेत् **जं देहम्मिणममा अरिहा दंसणणाणचरित्ताणि सेवंते** इत्यादि वचनेनेति । न हि शालितंदुलस्य बहिरंगतुषे विद्यमाने मत्यभ्यंतरतुषस्य त्यागः कर्तुमायाति । अभ्यंतरतुषत्यागे सति बहिरंगतुषत्यागो नियमेन भवत्येव । अनेन न्यायेन सर्वसंगपरित्यागरूपे बहिरंगद्रव्यलिंगे सति भावलिंगं भवति न भवति वा नियमो नास्ति, अभ्यंतरे तु भावलिंगे सति सर्वसंगपरित्यागरूपं द्रव्यलिंगं भवत्येवेति । हे भगवन् भावलिंगे सति बहिरंगं द्रव्यलिंगं भवतीति नियमो नास्ति **साहारणासाहारणे**त्यादि वचनादिति ? परिहारमाह-कोऽपि तपोधनो ध्यानारूढस्तिष्ठति तस्य केनापि दुष्टभावेन वस्त्रवेष्टनं कृतं । आभरणादिकं वा कृतं तथाप्यसौ निर्ग्रंथ एव । कस्मात् ? इति चेत्, बुद्धिपूर्वकममत्वाभावात् पांडवादिवत् । येऽपि घटिकाद्वयेन मोक्षं गता भरतचक्रवर्त्यादयस्तेऽपि निर्ग्रंथरूपेणैव । परं किन्तु तेषां परिग्रहत्यागं लोका न जानंति स्तोककालत्वादिति भावार्थः । एवं भावलिंगरहितानां द्रव्यलिंगमात्रं मोक्षकारणं न भवति । भावलिंगसहितानां पुनः सहकारिकारणं भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन त्रयोदशस्थले गाथासप्तकं गतं । अत्राह शिष्यः—केवलज्ञानं शुद्धं छद्मस्थज्ञानं पुनरशुद्धं शुद्धस्य केवलज्ञानस्य कारणं न भवति । कस्मात् ? इति चेत्—**सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो**

आगे इस समयसार ग्रंथ को पूर्ण करते हैं उसकी सूचना का श्लोक है—**इदमेकं** इत्यादि । **अर्थ**—यह समयप्राभृत ग्रंथ पूर्णता को प्राप्त होता है । कैसा है ? जिसका विनाश न हो सके ऐसा जगत के अद्वितीय नेत्र के समान है, क्योंकि वह शुद्ध परमात्मा समयसार आनंदमय है उसको प्रत्यक्ष प्राप्त करता है ।

भावार्थ—यह समयप्राभृतग्रंथ वचनरूप तथा ज्ञानरूप दोनों ही तरह से नेत्र के समान है, क्योंकि जैसे नेत्र घटपटादि को प्रत्यक्ष दिखलाता है वैसे यह भी शुद्ध आत्मा के स्वरूप को प्रत्यक्ष अनुभवगोचर दिखलाता है ॥२४५ ॥

जो समयपाहुडमिणं पडिहूणं अत्थतच्चदो णाउं।
अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तमं सोक्खं ॥ ४१५ ॥

यः समयप्राभृतमिदं पठित्वा अर्थतत्त्वतो ज्ञात्वा।
अर्थे स्थास्यति चेतयिता स भविष्यत्युत्तमं सौख्यं ॥ ४१५ ॥

यः खलु समयसारभूतस्य भगवतः परमात्मनोऽस्य विश्वप्रकाशकत्वेन विश्वसमयस्य

इति वचनात् इति ? नैवं, छद्मस्थज्ञानस्य कथंचिच्छुद्धाशुद्धत्वं। तद्यथा—यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया शुद्धं न भवति तथापि मिथ्यात्वरागादिरहितत्वेन वीतरागसम्यक्त्वचारित्रसहितत्वेन च शुद्धं। अभेदनयेन पुनः छद्मस्थानां संबंधि भेदज्ञानमात्मस्वरूपमेव ततः कारणात्तेनैकदेशव्यक्तिरूपेणापि सकलव्यक्तिरूपं केवलज्ञानं जायते नास्ति दोषः। अथ मतं सावरणत्वात्क्षायोपशमिकत्वाद्वा शुद्धं न भवति तर्हि मोक्षोऽपि नास्ति। कस्मात् ? छद्मस्थानां ज्ञानं यद्यप्येकदेशेन निरावरणं तथापि केवलज्ञानापेक्षया नियमेन सावरणमेव क्षायोपशमिकमेवेति। अथाभिप्रायः परिणामिकभावशुद्धः तेन मोक्षो भविष्यति तदपि न घटते। कस्मात् ? इति चेत् केवलज्ञानात्पूर्वं पारिणामिकभावस्य शक्तिमात्रेण शुद्धत्वं न व्यक्तिरूपेणेति। तथाहि—जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वरूपेण त्रिविधो हि पारिणामिकः। तत्र तावदभव्यत्वं मुक्तिकारणं न भवति यत्पुनर्जीवत्वभव्यत्वद्वयं तस्य द्वयस्य तु यदायं जीवो दर्शनचारित्रमोहनीयोपशमक्षयोपशमक्षयलाभेन वीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयेण परिणमति तदा शुद्धत्वं। तच्च शुद्धत्वं—औपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकभावत्रयस्य संबंधि मुख्यवृत्त्या, पारिणामिकस्य पुनर्गौणत्वेनेति। तत्र शुद्धपारिणामिकस्य बंधमोक्षस्य कारणरहितत्वं पंचास्तिकायेऽनेन श्लोकेन भणितमास्ते '

मोक्षं कुर्वंति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधाः।
बंधमौदयिको भावो निष्क्रियः पारिणामिकः ॥ १ ॥

तत एव स्थितं निर्विकल्पशुद्धात्मपरिच्छित्तिलक्षणं वीतरागसम्यक्त्वचारित्राविनाभूतमभेदनयेन तदेव शुद्धात्मशब्दवाच्यं क्षायोपशमिकमपि भावश्रुतज्ञानं मोक्षकारणं भवतीति। शुद्धपारिणामिकभावः पुनरेकदेशव्यक्तिलक्षणायां कथंचिद्भेदाभेदरूपस्य द्रव्यपर्यायात्मकस्य जीवपदार्थस्य शुद्धभावनावस्थायां ध्येयभूतद्रव्यरूपेण तिष्ठति न च ध्यानपर्यायरूपेण, कस्मात् ? ध्यानस्य विनश्वरत्वात् इति ॥ ४१४ ॥ अथेदं शुद्धात्मतत्त्वं निर्विकारस्वसंवेदनप्रत्यक्षेण भावयन्नात्मा परमाक्षयसुखं प्राप्नोतीत्युपदिशति;—**श्रीकुंदकुंदाचार्यदेवा समयसार** ग्रंथसमाप्तिं कुर्वंतः फलं दर्शयंति—तद्यथा—**जो समयपाहुडमिणं पठिदूणय** यः कर्ता समयप्राभृताख्यमिदं शास्त्रं पूर्वं पठित्वा न केवलं पठित्वा **अत्थतच्चदो णादुं** ज्ञात्वा च। कस्मात् ? ग्रंथार्थतः न केवलं ग्रंथार्थतः ? तत्त्वतो भावपूर्वेण **अत्थे ठाहिदि** पश्चादुपादेयरूपे

अब भगवान कुन्दकुन्दाचार्य इस ग्रंथ को पूर्ण करते हैं सो इसकी महिमारूप पढ़ने के फल की गाथा कहते हैं—**[यः चेतयिता]** जो चेतयिता पुरुष—भव्यजीव **[इदं समयप्राभृतं पठित्वा]** इस समय प्राभृत को पढ़कर **[अर्थतत्त्वतः ज्ञात्वा]** अर्थ से और तत्त्व से जानकर **[अर्थे स्थास्यति]** इसके अर्थ में ठहरेगा **[सः]** वह **[उत्तमं सौख्यं भविष्यति]** उत्तम सुख स्वरूप होगा।

टीका—जो भव्य पुरुष निश्चयतः इस शास्त्र को पढ़ कर सर्व पदार्थों के प्रकाशन में समर्थ ऐसे परमार्थभूत चैतन्य प्रकाशरूप आत्मा का अर्थ से तथा तत्त्व से निश्चय करता हुआ इसी के अर्थ

प्रतिपादनात् स्वयं शब्दब्रह्मायमाणं शास्त्रमिदमधीत्य विश्वप्रकाशनसमर्थपरमार्थभूतचित्प्रकाशरूपं परमात्मानं निश्चिन्वन् अर्थतस्तत्त्वतश्च परिच्छिद्य अस्यैवार्थभूते भगवति एकस्मिन् पूर्णे विज्ञान-

शुद्धात्मलक्षणेऽर्थे निर्विकल्पसमाधौ स्थास्यति **चेदा सो पावदि उत्तमं सोक्खं** स चेतयितात्मा भाविकाले प्राप्नोति लभते। किं लभते ? वीतरागसहजापूर्वपरमाह्लादरूपं, आत्मनोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालवृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वंद्वभावं। अन्यद्रव्यानपेक्षं निरुपममभितं, शाश्वतं सर्वकालमुत्कृष्टानंतसारं परमसुखं भवतस्तस्य सिद्धस्य जातमिति।

अथाह शिष्यः—हे भगवन् ? अतींद्रियसुखं निरंतर व्याख्यातं भवद्भिस्तच्च जनैर्न ज्ञायते ? भगवानाह—कोऽपि देवदत्तः स्त्रीसेवनाप्रभृतिपंचेंद्रियविषयव्यापाररहितप्रस्तावे निर्व्याकुलचित्तः तिष्ठति, स केनापि पृष्टः भो देवदत्त ! सुखेन तिष्ठसि त्वमिति? तेनोक्तं सुखमस्तीति तत्सुखमतींद्रियं। कस्मात् ? इति चेत् संसारिकसुखं पंचेंद्रियप्रभवं। यत्पुनरतींद्रियसुखं तत्पंचेंद्रियविषयव्यापाराभावेऽपि दृष्टं यत इदं तावत्सामान्येनातींद्रियसुखमुपलभ्यते। यत्पुनः पंचेंद्रियमनोभवसमस्तविकल्पजालरहितानां समाधिस्थपरमयोगिनां स्वसंवेदनगम्यमतीन्द्रियसुखं तद्विशेषेणेति। यच्च मुक्तात्मनामतींद्रियसुखं तदनुमानगम्यमागमगम्यं च। तथाहि—मुक्तानामिंद्रियविषयव्यापाराभावेऽपि अतींद्रियसुखमस्तीति पक्षः। कस्मात् ? इति चेत् इदानीं तेन विषयव्यापारातीतनिर्विकल्पसमाधिरतपरममुनीद्वारा स्वसंवेद्यात्मसुखोपलब्धिरिति हेतुः। एवं पक्षहेतुरूपेण द्व्यंगमनुमानं ज्ञातव्यं। आगमे तु प्रसिद्धमेवात्मोपादानसिद्धमित्यादिवचनेन। अतः कारणात् अतींद्रियसुखे संदेहो न कर्तव्य इति।

उक्तं च—यद्देवमनुजाः सर्वे सौख्यमक्षार्थसंभवं।
निर्विशंति निराबाधं सर्वाक्षप्रीणनक्षम ॥ १ ॥
सर्वेणातीतकालेन यच्च भुक्तं महर्द्धिकं।
भाविनो ये च भोक्ष्यंति स्वादिष्टं स्वांतरंजकं ॥ २ ॥
अनंतगुणितं तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजं।
एकस्मिन् समये भुंक्ते तत्सुखं परमेश्वरः ॥ ३ ॥

भूत भगवान् एक पूर्ण विज्ञानघनस्वरूप परब्रह्म उसमें सब प्रकार से उद्यम करके ठहरेगा, वह पुरुष आप ही उत्तम अनाकुलता लक्षण वाले सुख रूप हो जायगा। यह शास्त्र समयसारभूत भगवान् परमात्मा सबके प्रकाशने वाला होने से जिसको विश्व समय कहते हैं उसके प्रकाशित करने से आप स्वयं शब्दब्रह्म सरीखा है। वह सुख तत्काल उदय रूप प्रगट होता एक चैतन्य रस से भरे अपने स्वभाव में अच्छी तरह ठहरा निराकुल आत्म स्वरूपपने से परमानन्द शब्द द्वारा कहने योग्य है ॥

भावार्थ—इस शास्त्र का नाम समय प्राभृत है। समय नाम पदार्थ का है उसको कहने वाला है अथवा समय नाम आत्मा का है उसको कहने वाला है। वह आत्मा सब पदार्थों का प्रकाशक है उसको यह कहता है। सब पदार्थों के कहने वाले को शब्दब्रह्म कहते हैं। इस प्रकार आत्मा को कहने से इस शास्त्र को भी शब्दब्रह्म सरीखा कहना चाहिये। शब्दब्रह्म तो द्वादशांग शास्त्र है इसको भी उसकी उपमा है। यह शब्दब्रह्म परमब्रह्म को (शुद्ध परमात्मा को) साक्षात् दिखलाता है। जो इस शास्त्र को पढ़ कर इसके यथार्थ अर्थ में ठहरेगा वह परमब्रह्म को पायेगा। इसी से परमानंद रूप

घने परमब्रह्मणि सर्वारंभेण स्थास्यति चेतयिता, स साक्षात्तत्क्षणविजृम्भमाणचिदेकरसनिर्भरस्वभावसुस्थितनिराकुलात्मरूपतया परमानंदशब्दवाच्यमुत्तममनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं स्वयमेव भविष्यतीति ॥४१५॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण विष्णुकर्तृत्वनिराकरणमुख्यत्वेन गाथासप्तकं। तदनंतरमन्यः करोति अन्यो भुंक्ते—इति बौद्धमतैकांतनिराकरणमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं। ततः परमात्मा रागादिभावकर्म न करोति इति सांख्यमतनिराकरणरूपेण सूत्रपंचकं। तत. परं कर्मैव सुखादिकं करोति न चात्मेति पुनरपि सांख्यमतैकातनिराकरणमुख्यत्वेन गाथात्रयोदश। तदनंतरं चित्तस्थरागस्य घातः कर्तव्य-इत्यजानन्बहिरंगशब्दादिविषयाणां घातं करोमीति योऽसौ चिंतयति तत्संबोधनार्थं गाथासप्तकं। तदनतरं द्रव्यकर्म व्यवहारेण करोति भावकर्म निश्चयेन करोतीति मुख्यत्वेन गाथासप्तकं। ततः परं ज्ञानं ज्ञेयरूपेण न परिणमति इति कथनरूपेण सूत्रदशकं। तदनंतर शुद्धात्मोपलब्धिरूपनिश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनाचारित्रव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टय। तदनंतरं पंचेंद्रियमनोविषयनिरोधकथनरूपेण सूत्रदशकं। तदनंतरं कर्मचेतनाकर्मफलचेतनाविनाशनिरूपणमुख्यत्वेन गाथात्रयं। ततः परं शास्त्रेंद्रियविषयादिकं ज्ञानं न भवतीति प्रतिपादनरूपेण गाथापंच-

---

स्वात्मीक, स्वाधीन, बाधा रहित (अविनाश) उत्तम सुख को प्राप्त करेगा। इसलिए हे भव्य जीवो ! तुम अपने कल्याण के लिए इसको पढ़ो, सुनो, निरन्तर इसी का ध्यान रखो, जिससे कि अविनाशी सुख की प्राप्ति हो। यह श्री गुरुओं का उपदेश है॥ ४१५॥

अब इस सर्वविशुद्ध ज्ञान के अधिकार की पूर्णता का कलश रूप श्लोक कहते हैं—**इतीदं** इत्यादि। **अर्थ**—इस प्रकार यह आत्मा का तत्त्व (परमार्थ भूत स्वरूप) ज्ञान मात्र ही निश्चित हुआ। जो अखंड है, अर्थात् अनेक ज्ञेयाकारों को तथा प्रतिपक्षी कर्मों को यद्यपि खंड-खंड दीखता है, तौ भी ज्ञान मात्र मे खंड नहीं है, इसी से एक रूप है, अचल है, ज्ञान रूप से चल नहीं होता, ज्ञेय रूप नहीं होता अपने आप से ही आप जानने योग्य है और किसी खोटी युक्ति से बाधित नहीं होता॥

भावार्थ—यहां आत्मा का निज स्वरूप ज्ञान ही कहा है। आत्मा में अनन्त धर्म हैं उनमें कोई तो साधारण हैं वे अतिव्याप्ति स्वरूप हैं। उनसे आत्मा पहचाना नहीं जाता। कोई पर्यायाश्रित हैं किसी अवस्था में होते हैं, किसी में नहीं हैं इसलिए वे अव्याप्तिस्वरूप हैं। उनसे भी आत्मा नहीं पहचाना जाता। तथा चेतनता यद्यपि लक्षण है तौ भी शक्ति मात्र है। वह अदृष्ट है इसलिए उसकी व्यक्ति दर्शन और ज्ञान हैं। उनमें से ज्ञान साकार है, प्रगट अनुभव गोचर है; इसलिये ज्ञान के द्वारा ही आत्मा पहचाना जाता है। इस कारण इस ज्ञान को ही प्रधान कर आत्म तत्त्व कहा गया है। ऐसा नहीं समझना कि जो आत्मा को ज्ञान मात्र तत्त्व कहा है सो इतना ही परमार्थ है, अन्य धर्म झूठे हैं, आत्मा में नहीं हैं। ऐसा सर्वथा एकांत करने से मिथ्यादृष्टि होता है। विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध का तथा वेदांत का मत आता है। ऐसा एकांत बाधा सहित है। ऐसे एकांत अभिप्राय को कोई मुनिव्रत भी पालन करे तथा आत्मा के ज्ञानमात्र का ध्यान करे तौ भी मिथ्यात्व नही छूटता। मंद कषाय के निमित्त से भले ही स्वर्ग प्राप्त हो जावे परन्तु मोक्ष का साधन तो नहीं होता। इसलिए स्याद्वाद को यथार्थ समझना चाहिये॥ २४६॥

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितं ।
अखंडमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितं ॥२४६॥

इति श्रीअमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ
सर्वविशुद्धज्ञानप्ररूपको नवमोऽकः ॥६॥

दश । ततः परं शुद्धात्मा कर्मनोकर्माहारादिकं निश्चयेन न गृह्णाति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं । तदनतर शुद्धात्म-भावनारूपं भावलिंगनिरपेक्षं द्रव्यलिंगं मुक्तिकारणं न भवतीति प्रतिपादनमुख्यत्वेन गाथासप्तकं । तदनंतरं सुखरूपफल-दर्शनमुख्यत्वेन सूत्रमेकं ॥ ४१५ ॥

इति श्री**जयसेनाचार्य**कृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां
तात्पर्यवृत्तौ समुदायेन षडधिकनवतिगाथाभिस्त्रयोदशाधिकारैः
समयसारचूलिकाभिधानः **सर्वविशुद्धज्ञान**नामा
दशमोऽधिकारः समाप्तः ॥ ६ ॥

इस प्रकार यहाँ तक ४१५ गाथाओं का व्याख्यान और उस व्याख्यान के कलश रूप तथा सूचनिका रूप २४६ काव्य टीकाकार ने किये

इस प्रकार श्री **पंडित जयचंद्रजी** कृत समयसार ग्रंथ की आत्मख्याति नाम टीका की
भाषा वचनिका में **नौवां सर्वविशुद्धज्ञान** का अधिकार
पूर्ण हुआ ॥ ६ ॥

॥ अथ स्याद्वादाधिकारः ॥१०॥

अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः।
उपायोपेयभावश्च मनाग् भूयोऽपि चिंत्यते ॥२४७॥

स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेकमस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य। स तु सर्वमनेकांतात्मकमित्यनुशास्ति सर्वस्यापि वस्तुनोऽनेकांतस्वभावत्वात्। अत्र त्वात्मवस्तुनि ज्ञानमात्रतया अनुशास्यमानेऽपि न तत्परिकोपः, ज्ञानमात्रस्यात्मवस्तुनः स्वयमेवानेकांतत्वात्। तत्र यदेव तत्तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं यदेव सत्तदेवासत् यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकांतः। तत्स्वात्मवस्तुनो ज्ञानमात्रत्वेऽप्यंतश्चकचकायमानज्ञानस्वरूपेण तत्त्वात्, बहिरुन्मिषदनंतज्ञेयतापन्नस्वरूपातिरिक्तपररूपेणातत्त्वात्, सहक्रम प्रवृत्तानंतचिदंशसमुदयरूपाविभागद्रव्येणैकत्वात्, अविभागैकद्रव्यव्याप्तसहक्रमप्रवृत्तानंतचिदंश-

---

अथ स्याद्वादाधिकारः

अत्र स्याद्वादसिद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिंत्यते ॥

चिंत्यते विचार्यते कथ्यते मनाक् संक्षेपेण भूयः पुनरपि। काऽसौ? वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः? वस्तुतत्त्वस्य वस्तुस्वरूपस्य व्यवस्थितिर्व्याख्या। किमर्थं? स्याद्वादशुद्ध्यर्थं स्याद्वादनिश्चयार्थं। अत्र समयसारव्याख्याने समाप्तिप्रस्तावेन केवलं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिश्चिन्त्यते। उपायोपेयभावश्च। उपायो मोक्षमार्गः उपेयो मोक्ष इति। अतः परं स्याद्वादशब्दार्थः कः?—इति प्रश्ने सत्याचार्या उत्तरमाहुः—**स्यात्कथंचित् विवक्षितप्रकारेणानेकांतरूपेण वदनं वादो जल्पः कथनं प्रतिपादनमिति स्याद्वादः** स च स्याद्वादो भगवतोऽर्हतः शासनमित्यर्थः। तच्च भगवतः शासनं किं करोति?

अथ स्याद्वाद अधिकार

अब यहां टीकाकार विचारते हैं कि, इस ग्रन्थ में ज्ञान को प्रधान कर के आत्मा को ज्ञानमात्र कहते आये हैं। यदि कोई ऐसा तर्क करे कि जैन मत में तो स्याद्वाद है, तब क्या आत्मा को ज्ञान मात्र कहने से एकांत नहीं आ जाता, अर्थात् स्याद्वाद से विरोध आया। तथा एक ही ज्ञान में उपाय तत्त्व और उपेय तत्त्व ये दो किस प्रकार बन सकते हैं? ऐसे तर्क को दूर करने के लिए उसका काव्य कहते हैं—**अत्र स्याद्वाद** इत्यादि। **अर्थ**—इस अधिकार में स्याद्वाद की शुद्धि के लिए वस्तु तत्त्व की व्यवस्था तथा एक ही ज्ञान में उपाय भाव और उपेय भाव कैसे घटित होता है, यह विचारते हैं।

भावार्थ—यद्यपि यहां ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व कहा है तो भी वस्तु का स्वरूप सामान्य विशेषात्मक अनेक धर्म स्वरूप है वह स्याद्वाद से सिद्ध किया जाता है। ज्ञानमात्र आत्मा भी वस्तु है उसकी व्यवस्था स्याद्वाद से साधते हैं और इस ज्ञान में ही उपाय और उपेय भाव अर्थात् साध्यसाधकभाव विधा-

रूपपर्यायैरनेकत्वात् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेन सत्त्वात् परद्रव्यक्षेत्रकालभावाभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेनाऽसत्त्वात्, अनादिनिधनाविभागैकवृत्तिपरिणतत्वेन नित्यत्वात्, क्रमप्रवृत्तैकसमयावच्छिन्नानेकवृत्त्यंशपरिणतत्वेनानित्यत्वात्, तदतत्त्वमेकानेकत्वं सदसत्वं नित्यानित्यत्वं च प्रकाशत एव। ननु यदि ज्ञानमात्रत्वेऽपि आत्मवस्तुनः स्वयमेवानेकांतः प्रकाशते तर्हि किमर्थमर्हद्भिस्तत्साधनत्वेनाऽनुशास्यतेऽनेकांतः ? । अज्ञानिनां ज्ञानमात्रात्मवस्तुप्रसिद्ध्यर्थमिति ब्रूमः। न खल्वनेकांतमंतरेण ज्ञानमात्रमात्मवस्त्वेव प्रसिद्ध्यति। तथाहि—इह हि स्वभावत एव बहुभावनिर्भरे विश्वे सर्वभावानां स्वभावेनाद्वैतेऽपि द्वैतस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् समस्तमेव वस्तु स्वपररूपप्रवृत्तिव्यावृत्तिभ्यामुभयभावाध्यासितमेव। तत्र यदायं ज्ञानमात्रो

सर्वं वस्तु, अनेकांतात्मकमित्यनुशास्ति। अनेकात इति कोऽर्थः ? इति चेत् एकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादक—अस्तित्वनास्तित्वद्वयादिस्वरूपं परस्परविरुद्धसापेक्षशक्तिद्वयं यत्तस्य प्रतिपादनं स्यादनेकातो भण्यते। सचानेकातः किं करोति ? ज्ञानमात्रो

रते हैं। अब इसकी व्यवस्था कहते है—स्याद्वाद सब वस्तु के साधने वाला एक निर्बाध अर्हंत्सर्वज्ञ का शासन (मत) है, वह स्याद्वाद सब वस्तुओं को अनेकात्मक कहता है, क्योंकि सभी पदार्थों का अनेक धर्म रूप स्वभाव है। असत्यार्थ कल्पना से नहीं कहता, जैसा वस्तु का स्वभाव है वैसा ही कहता है। यहां आत्मा नामक वस्तु को ज्ञान मात्रपने कहने से स्याद्वाद का कोप नहीं है, ज्ञानमात्र आत्म वस्तु के भी स्वयमेव अनेकांतात्मकपना है। अनेकांत का ऐसा स्वरूप है कि जो वस्तु सत्स्वरूप है, वही वस्तु असत्स्वरूप है, जो वस्तु नित्य स्वरूप है वही वस्तु अनित्य स्वरूप है। इस प्रकार एक वस्तु में वस्तुपने की उपजाने वालीं परस्पर विरुद्ध दो शक्तियां अपने आत्म वस्तु के ज्ञानमात्र होने पर भी पाई जाती हैं। आत्मा का ज्ञानमात्रपना होने से भी अन्तरंग में प्रकाशमान ज्ञान स्वरूप से तो तत्स्वरूपपना है और बाह्य उघड़ते अनंत ज्ञेयभाव को प्राप्त ज्ञान स्वरूप से भिन्न जो परद्रव्यों के रूप उनसे अतत्स्वरूपपना है, ज्ञान उन स्वरूप नहीं है। सहभूत प्रवर्तमान और क्रमरूप प्रवर्तमान अनंत चैतन्य के अंश उनके समुदायरूप अविभागरूप जो द्रव्यत्व उससे तो एकपना है तथा अविभाग एक द्रव्य मे व्याप्त जो सहभूत प्रवर्तमान वा क्रमरूप प्रवर्तमान चैतन्य के अनंत अंशों स्वरूप पर्यायों से अनेकपना है। अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप होने की शक्ति के स्वभावपने से सत्त्वस्वरूप है और परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव होने की शक्ति के स्वभावपने के अभाव से असत्त्वस्वरूप है। अनादिनिधन अविभाग एक वृत्तिरूप परिणमन होने से नित्य स्वरूप है और क्रम से प्रवर्तमान एक समय में अनेक वृत्तियां के अंश रूप से परिणमन होने से अनित्यपना स्वरूप है। इस तरह तत्पना-अतत्पना, एकपना-अनेकपना, सत्पना-असत्पना नित्यपना-अनित्यपना प्रकट प्रकाशित होता है। यहां तर्क, यदि आत्म-वस्तु के ज्ञानमात्रपना होने पर भी स्वयमेव अनेकांत प्रकाशता है तो अर्हंत भगवान् उसके साधन के रूप में अनेकांत का (स्याद्वाद का) किसलिये उपदेश करते हैं ? उसका समाधान—जो अज्ञानी जन हैं उनके ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के प्रसिद्ध करने के लिये उपदेश देते हैं। निश्चयतः अनेकांत के बिना ज्ञानमात्र आत्मवस्तु ही प्रसिद्ध नहीं होती। यही कहते हैं—स्वभाव से ही बहुत से भावों से भरे हुए इस लोक में सब भावों के अपने अपने स्वभाव से अद्वैतपना

भावः शेषभावैः सह स्वरसभरप्रवृत्तज्ञातृज्ञेयसंबंधतयाऽनादिज्ञेयपरिणमनाज्ज्ञानतत्त्वं पररूपेण प्रतिपद्याज्ञानी [1]भूत्वानाशमुपैति, तदा स्वरूपेण तत्त्वं द्योतयित्वा ज्ञातृत्वेन परिणमनाज्ज्ञानी कुर्वन्ननेकांत एव तमुद्गमयति १। यदा तु सर्वं वै खल्विदमात्मेति अज्ञानतत्त्वं ज्ञानस्वरूपेण प्रतिपद्य विश्वोपादानेनात्मानं नाशयति तदा पररूपेणातत्त्वं द्योतयित्वा विश्वाद्भिन्नं ज्ञानं दर्शयन् अनेकांत एव नाशयितुं न ददाति २। यदानेकज्ञेयाकारैः खंडितसकलैकज्ञानाकारो नाशमुपैति तदा द्रव्येणैकत्वं द्योतयन् अनेकांत एव तमुज्जीवयतीति ३। यदा त्वेकज्ञानाकारोपादानायानेकज्ञेयाकारत्यागेनात्मानं नाशयति तदा पर्यायैरनेकत्वं द्योतयन् अनेकांत एव नाशयितुं न ददाति ४। यदा ज्ञायमानपरद्रव्यपरिणमनात् ज्ञातृद्रव्यं परद्रव्यत्वेन प्रतिपद्य नाशमुपैति तदा स्वद्रव्येण

योऽसौ भावो जीवपदार्थः शुद्धात्मा स तदतद्रूप एकानेकात्मकः सदसदात्मको नित्यानित्यादिस्वभावात्मको भवतीति कथ-

---

है, तो भी द्वैतपने का निषेध करने का असंमर्थपना है। इसलिए सभी वस्तु स्वरूप में प्रवृत्ति और पररूप सेव्यावृत्ति इन दोनों रीतियों से दोनों भावों से युक्त है यह नियम है। यही ज्ञानमात्र भाव में लगाना। वहां, जब यह ज्ञान मात्र भाव (आत्मा) शेष भावों के साथ निज रस के भार से प्रवर्तित ज्ञाता—ज्ञेय के सम्बन्ध के कारण और अनादि काल से ज्ञेयों के परिणमन के कारण ज्ञान तत्त्व को पर रूप मानकर (अर्थात् ज्ञेयरूप से अंगीकार करके) अज्ञानी होता हुआ नाश को प्राप्त होता है, तब उस (ज्ञान मात्र भाव का) स्वरूप से (ज्ञान रूप से तत्पना) प्रकाशित करके अर्थात् (ज्ञान रूप से ही है ऐसा प्रकट करके) ज्ञाता रूप से परिणमन के कारण ज्ञानी करता हुआ अनेकांत ही उसका उद्धार करता है—नाश नहीं होने देता ॥ १ ॥

और जब वह ज्ञानमात्रभाव 'वास्तव में यह सब आत्मा है' इस प्रकार अज्ञानतत्त्व को स्वरूप से (ज्ञान रूप से) मान कर अंगीकार करके विश्व के ग्रहण द्वारा अपना नाश करता है (सर्व जगत को निज रूप मानकर उसका ग्रहण करके जगत से भिन्न ऐसे अपने को नष्ट करता है) तब उस ज्ञान मात्र भाव का) पररूप से अतत्पना प्रकाशित करके (अर्थात् ज्ञान पररूप नहीं है यह प्रकट करके) विश्व से भिन्न ज्ञान को दिखाता हुआ अनेकांत ही उसे अपना (ज्ञानमात्रभाव का) नाश नहीं करने देता ॥२॥

जब यह ज्ञानमात्रभाव अनेक ज्ञेयाकारों के द्वारा (ज्ञेयों के आकारों द्वारा) अपना सकल (अखंड, सम्पूर्ण) एक ज्ञानाकार खण्डित हुआ मानकर नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) द्रव्य से एकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकांत ही उसे जीवित रखता है—नष्ट नहीं होने देता ॥३॥

और जब वह ज्ञानमात्र भाव ज्ञान—आकार का ग्रहण करने के लिये अनेक ज्ञेयाकारों के त्याग द्वारा अपना नाश करता है (अर्थात् ज्ञान में जो अनेक ज्ञेयों के आकार आते हैं उनका त्याग करके अपने को नष्ट करता है) तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) पर्यायों से अनेकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकांत ही उसे अपना नाश नहीं करने देता ॥ ४ ॥

---

१. नाशमुपैति इत्यपि पाठः।

सत्त्वं द्योतयन् अनेकांत एव तमुज्जीवयति ५। यदा तु सर्वद्रव्याणि अहमेवेति परद्रव्यं ज्ञातृद्रव्यत्वेन प्रतिपद्यात्मानं नाशयति तदा परद्रव्येणासत्त्वं द्योतयन् अनेकांत एव नाशयितुं न ददाति ६। यदा परक्षेत्रगतज्ञेयार्थपरिणमनात् परक्षेत्रेण ज्ञानं सत् प्रतिपद्य नाशमुपैति तदा स्वक्षेत्रेणास्तित्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति ७। यदा तु स्वक्षेत्रे भवनाय परक्षेत्रगतज्ञेयाकारत्यागेन ज्ञानं तुच्छीकुर्वन्नात्मानं नाशयति तदा स्वक्षेत्र एव ज्ञानस्य परक्षेत्रगतज्ञेयाकारपरिणमनस्वभावत्वात्परक्षेत्रेण नास्तित्वं द्योतयन् अनेकांत एव नाशयितुं न ददाति ८। यदा पूर्वालंबितार्थविनाशकाले ज्ञानस्यासत्त्वं प्रतिपद्य नाशमुपैति तदा स्वकालेन सत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव तमुज्जीवयति ९। यदा त्वर्थालम्बनकाल एव ज्ञानस्य सत्त्वं प्रतिपद्यात्मानं नाशयति तदा परकालेनासत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति १०। यदा ज्ञायमानपरभावपरिणमनात् ज्ञाय-

---

यति। तथाहि—ज्ञानरूपेण तद्रूपो भवति। ज्ञेयरूपेणातद्रूपो भवति। द्रव्यार्थिकनयेनैकः। पर्यायार्थिकनयेनानेकः। स्व-

---

अब यह ज्ञानमात्र भाव, जानने में आने वाले परद्रव्यों के परिणमन के कारण ज्ञातृद्रव्य को परद्रव्य रूप से मानकर—अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) सब द्रव्य से सत्त्व प्रकाशित करता हुआ अनेकांत ही उसे जिलाता है—नष्ट नहीं होने देता ॥ ५ ॥

और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'सर्वद्रव्य मैं ही हूं, (अर्थात् सर्वद्रव्य आत्मा ही है) इस प्रकार परद्रव्य को ज्ञातृद्रव्य रूप से मानकर अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञान मात्रभाव का) परद्रव्य से असत्त्व प्रकाशित करता हुआ (आत्मा परद्रव्य रूपसे नहीं है, इस प्रकार प्रकट करता हुआ) अनेकांत ही उसे अपना नाश नहीं करने देता ॥ ६ ॥

जब यह ज्ञानमात्र भाव परक्षेत्र गत (परक्षेत्र में रहे हुये) ज्ञेय पदार्थों के परिणमन के कारण परक्षेत्र से ज्ञान को सत् मानकर—अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञान मात्र भाव का) स्वक्षेत्र से अस्तित्व प्रकाशित करता हुआ अनेकांत ही उसे जिलाता है—नष्ट नहीं होने देता ॥७॥

और जब वह ज्ञानमात्र भाव स्वक्षेत्र में रहने के लिये, परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकारों के त्याग द्वारा (अर्थात् ज्ञान में जो परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयों का आकार आता है उनका त्याग करके) ज्ञान को तुच्छ करता हुआ अपना नाश करता है, तब स्वक्षेत्र में रहकर ही परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकार रूप से परिणमन करने का ज्ञान का स्वभाव होने से(उस ज्ञानमात्रभाव का) परक्षेत्र से नास्तित्व प्रकाशित करता हुआ अनेकांत ही उसे अपना नाश नहीं करने देता ॥८॥

जब यह ज्ञानमात्र भावपूर्वालम्बित पदार्थों के विनाशकाल में (पूर्व में जिनका आलंबन किया था ऐसे ज्ञेय पदार्थों के विनाश के समय) ज्ञान को असत्य मानकर अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) स्वकाल से (ज्ञान के काल से) तत्त्व प्रकाशित करता हुआ अनेकांत ही उसे जिलाता है—नष्ट नहीं होने देता ॥९॥

और जब वह ज्ञानमात्रभाव पदार्थों के आलम्बन काल में ही (मात्र ज्ञेय पदार्थों को जानते समय ही) ज्ञान का सत्त्व मानकर, अंगीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का)

कभावं परभावत्वेन प्रतिपद्य नाशमुपैति तदा स्वभावेन सत्त्वं द्योतयन् अनेकांत एव तमुज्जीवयति ११ यदा तु सर्वे भावा अहमेवेति परभावं ज्ञायकभावत्वेन प्रतिपद्यात्मानं नाशयति तदा परभावेनासत्त्वं द्योतयन्ननेकांत एव नाशयितुं न ददाति १२। यदाऽनित्यज्ञानविशेषैः खंडितनित्यज्ञानसामान्यो नाशमुपैति तदा ज्ञानसामान्यरूपेण नित्यत्वं द्योतयन्ननेकांत एव [1]तमुज्जीवयति १३। यदा तु नित्यज्ञानसामान्योपादानायानित्यज्ञानविशेषत्यागेनात्मानं नाशयति तदा ज्ञानविशेषरूपेणानित्यत्वं द्योतयन्ननेकांत एव तं नाशयितुं न ददाति १४। भवंति चात्र श्लोकाः—

द्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयेन सद्रूपः। परद्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयेनासद्रूपः। द्रव्यार्थिकनयेन नित्यः। पर्यायार्थिकनयेनानित्यः। पर्यायार्थिकनयेन भेदात्मकः द्रव्यार्थिकनयेनाभेदात्मको भवतीत्याद्यनेकधर्मात्मक इति। तदेव स्याद्वादस्वरूपं तु समंतभद्राचार्यदेवैरपि भणितमास्ते—

परकाल से (ज्ञेय के काल से) असत्त्व प्रकाशित करता हुआ अनेकांत ही उसे अपना नाश नहीं करने देता ॥१०॥

जब यह ज्ञानमात्र भाव, जानने में आते हुए परभावों के परिणमन के कारण ज्ञायक भाव को परभाव रूप से मानकर—अंगीकार करके नाश को प्राप्त होता है तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) स्वभाव से सत्त्व प्रकाशित करता हुआ अनेकांत ही उसे जिलाता है—नष्ट नहीं होने देता ॥११॥

और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'सर्वभाव मैं ही हूं' इस प्रकार परभाव को ज्ञायक भाव रूप से मान कर—अंगीकार करके अपना नाश करता है तब (उस ज्ञान मात्र भाव का) परभाव से असत्त्व प्रकाशित करता हुआ अनेकांत ही उसे अपना नाश नहीं करने देता ॥१२॥

जब यह ज्ञानमात्र भाव अनित्य ज्ञान विशेषों के द्वारा अपना नित्य ज्ञान सामान्य खण्डित हुआ मानकर नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) ज्ञान सामान्य रूप से नित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकांत ही उसे जिलाता है—नष्ट नहीं होने देता ॥१३॥

और जब वह ज्ञानमात्र भाव नित्य ज्ञान सामान्य का ग्रहण करने के लिये अनित्य ज्ञान विशेषों के त्याग के द्वारा अपना नाश करता है (अर्थात् ज्ञान के विशेषों का त्याग करके अपने को नष्ट करता है) तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) ज्ञान विशेष रूप से अनित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकांत ही उसे अपना नाश नहीं करने देता ॥१४॥

यहां तत्-अतत् के २ भंग, एक अनेक के २ भंग, सत्-असत् के द्रव्य क्षेत्र, काल-भाव से ८ भंग और नित्य अनित्य के २ भंग—इस प्रकार सब मिलाकर १४ भंग हुए। इन १४ भंगों में यह बताया है कि एकान्त से ज्ञान मात्र आत्मा का अभाव होता है और अनेकांत से आत्मा जीवित रहती है, अर्थात् एकान्त से आत्मा जिस स्वरूप है उस स्वरूप नहीं समझा जाता, स्वरूप में परिणमित नहीं होता, और अनेकांत से वह वास्तविक स्वरूप से समझा जाता है, स्वरूप में परिणमित होता है।

---

१. नाशयितुं न ददाति इत्यपि पाठः।

बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्ती भवद्
विश्रांतं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति ।
यत्तत्तत्दिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुनः
दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति ।।२४८।।
विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया,
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छंदमाचेष्टते ।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शीपुन,
र्विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत् ।।

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः ।
सर्वथेति प्रदुष्यंति पुष्यंति स्यादितीह ते ।। १ ।।
सर्वथा नियमत्यागी यथा दृष्टमपेक्षकः ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषां ।। २ ।।

यहां निम्न प्रकार से (चौदह भंगों के कलशरूप) चौदह काव्य भी कहे जा रहे हैं (उनमें से पहले, प्रथम भंग का कलश रूप काव्य कहते हैं—बाह्यार्थैरित्यादि । **अर्थ**—बाह्य ज्ञेय पदार्थों के द्वारा सम्पूर्णतया पिया गया, अपनी व्यक्ति (प्रकटता) को छोड़ देने से रिक्त हुआ समस्ततया पररूप में ही विश्रांत हुआ—पशुवत् सर्वथा एकांतवादी का ज्ञान नाश को प्राप्त होता है और स्याद्वादी का ज्ञान है वह अपने स्वरूप से तत्स्वरूप ही है ज्ञानस्वरूप ही है, ऐसे तत्स्वरूप हुआ, अतिशय से प्रकट हुए ज्ञान के समूहरूप स्वभाव के भारसे सम्पूर्ण उदयरूप प्रकट होता है ।

भावार्थ—कोई सर्वथा एकांती तो ज्ञान को ज्ञेयाकारमात्र ही मानता है उसके ज्ञान को तो ज्ञेय पी गये ज्ञान कुछ न रहा । और स्याद्वादी ऐसा मानते हैं कि ज्ञान अपने स्वरूप से ज्ञान ही है, ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञानत्व को नहीं छोड़ता । इसलिये तत्स्वरूप ज्ञान प्रकट प्रकाशमान है ।।२४८।।

पुनः काव्य कहते हैं—विश्वं इत्यादि । **अर्थ**—अज्ञानी सर्वथा एकांतवादी, समस्त ज्ञेय पदार्थ ज्ञानमय हैं ऐसा विचारकर सकल जगत को निजतत्त्व की आशा से देख आप समस्त वस्तुमयी होके तिर्यंच की तरह स्वच्छंद चेष्टा करता है । और जो स्याद्वाद को देखने वाला है वह उस ज्ञान के निज स्वरूप को ऐसा देखता है कि अपने ज्ञानस्वरूप से तत्स्वरूप है, पर ज्ञेय स्वरूपों से तत्स्वरूप नहीं है । इस प्रकार सब वस्तु से भिन्न, सब ज्ञेय वस्तुओं से घटित होने पर भी समस्त ज्ञेय स्वरूप नहीं, और ज्ञेयाकाररूप होने पर भी उससे भिन्न ऐसा ज्ञान का स्वरूप अनुभव करता है ।

भावार्थ—जो वस्तु अपने स्वरूप से तत्स्वरूप है वही वस्तु परके स्वरूप से अतत्स्वरूप है ऐसे स्याद्वादी देखता है । ज्ञान अपने स्वरूप से तत्स्वरूप है उसी तरह पर ज्ञेयों के आकार होने पर उनसे भिन्न है इसलिये अतत्स्वरूप है । एकांतवादी ज्ञान को समस्त वस्तु स्वरूप मान आत्मा को ज्ञेयस्वरूप मान अज्ञानी हो पशु की तरह स्वच्छंद प्रवर्तता है । ऐसा अतत्स्वरूप का भंग है ।।२४९।।

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विष्वग्विचित्रोल्लसज्
ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुट्यन् पशुर्नश्यति ।
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसयन्
एकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकांतवित् ॥२५०॥
ज्ञेयाकारकलंकमेचकचितिप्रक्षालनं कल्पयन्
एकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति ।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं,
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकांतवित् ॥२५१॥

अनेकांतोप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः ।
अनेकांतः प्रमाणात्ते तदेकांतोऽर्पितान्नयात् ॥ ३ ॥
धर्मिणोऽनंतरूपत्वं धर्माणां न कथंचन ।
अनेकांतोप्यनेकांत इति जैनमतं ततः ॥ ४ ॥

अब काव्य कहते हैं—**बाह्यार्थ** इत्यादि । **अर्थ**—अज्ञानी सर्वथा एकांतवादी, बाह्य ज्ञेय पदार्थों के ग्रहणरूप ज्ञान के स्वभाव के भार से समस्त अनेक प्रकट ज्ञान में आये ज्ञेय के आकारों से जिसकी शक्ति खंड खंड हो गई है ऐसा हुआ समस्तपने से खंड खंड होता आप नाश को प्राप्त होता है और अनेकांत का जानने वाला सदा उदयरूप ज्ञान के एक द्रव्यत्व से ज्ञेयों के आकार होने से सर्वथा हुए भेद के भ्रम को दूर करता निर्बाध अनुभवनस्वरूप ज्ञान को एक देखता है ।

भावार्थ—ज्ञान है वह ज्ञेयों के आकार परिणमने से अनेक दीखता है उसको सर्वथा एकांतवादी अनेक खंड खंड रूप देखता हुआ ज्ञानमय आत्मा का नाश करता है और स्याद्वादी ज्ञान को ज्ञेयाकार होने पर भी सदा उदयरूप द्रव्यत्वरूप से एक देखता है । यह एकस्वरूप भंग है ॥२५०॥

अब काव्य कहते हैं—**ज्ञेयाकार** इत्यादि । **अर्थ**—अज्ञानी सर्वथा एकांतवादी, ज्ञेयों के आकारों से कलंकित अनेकाकार रूप मलिन चैतन्य में एक चैतन्यमात्र के आकार करने की इच्छा करने से प्रक्षालन की कल्पना करता हुआ ज्ञान अनेकाकार प्रकट है तो भी उसको नहीं मानता, एकाकार ही मान ज्ञान का अभाव करता है । और अनेकांत का जानने वाला, ज्ञेयाकार से ज्ञान की विचित्रता होने पर भी एकत्व को प्राप्त ज्ञान स्वयमेव धो डाला हुआ शुद्ध है, एकाकार है ऐसे उस ज्ञान की पर्यायों से अनेकता को अनुभव करता है ।

भावार्थ—एकांतवादी तो ज्ञान में ज्ञेयाकार को मैल समझ एकाकार करने के लिये ज्ञेयाकार को धोकर ज्ञान का नाश करता है । और अनेकांती ज्ञान को स्वरूप से अनेकाकार स्वरूप मानता है । ऐसा वस्तु का स्वभाव है वह सत्यार्थ है । ऐसा अनेक स्वरूप भंग है ॥२५१॥

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावंचितः,
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति ।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता ।
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति ।।२५२।।
सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः,
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति ।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां,
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ।।२५३।।
भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतंतमभितः पश्यन्पुमांसं पशुः

एवं कथंचिच्छब्देन वाचकस्यानेकांतात्मकवस्तुप्रतिपादकस्य स्याच्छब्दस्यार्थ संक्षेपेण ज्ञातव्य । तत्रैवमनेकांत-

---

अब काव्य कहते हैं—प्रत्यक्षा इत्यादि । अर्थ—अज्ञानी एकातवादी, प्रत्यक्ष प्रमाण से चित्रित हुआ दीखता प्रकट स्थूल निश्चल ऐसे परद्रव्य को देख उसके अस्तित्व से ठगा हुआ अपने निज आत्म द्रव्य के अस्तित्व को नहीं देखने से समस्तपने सर्वथा शून्य हुआ आत्मा का नाश करता है और स्याद्वादी अपने निज द्रव्य के अस्तित्व से निपुण रीति से निज आत्म द्रव्य का निरूपणकर तत्काल प्रकट हुए विशुद्ध ज्ञान रूप तेज से पूर्ण हुआ जीता है, नष्ट नही होता ।

भावार्थ—एकाती बाह्य परद्रव्य को प्रत्यक्ष देख उसी का अस्तित्व मानने लगता है और अपना आत्म द्रव्य इद्रिय-प्रत्यक्ष कर दीखा नही इसलिये उसको शून्य मान आत्मा का नाश करता है । परन्तु स्याद्वादी, ज्ञानरूप तेज से अपने आत्मद्रव्य के अस्तित्व को अवलोकनकर आप जीता है आत्मा का नाश नही करता । यह स्वद्रव्य अपेक्षा अस्तित्व का भग है ।।२५२।।

अब पुन काव्य कहते हैं—सर्वद्रव्य इत्यादि । अर्थ—अज्ञानी एकांतवादी, आत्मा को सब द्रव्य-मयी एक कल्पनाकर दुर्नीति की वासना से वासित हुआ प्रगट परद्रव्य में स्वद्रव्य का भ्रम करके विश्राम करता है । और स्याद्वादी, समस्त वस्तु में ही परद्रव्य स्वरूप से नास्तिता को जानता हुआ जिसके शुद्ध ज्ञान की महिमा निर्मल है ऐसा हुआ स्वद्रव्य को ही आश्रय करता है ।

भावार्थ—एकातवादी तो सब द्रव्यमय एक आत्मा को मान परद्रव्य अपेक्षा नास्तिता का लोप करता है । और स्याद्वादी सब में परद्रव्य की अपेक्षा नास्तिता मान अपने निज द्रव्य में रमता है । यह परद्रव्य की अपेक्षा नास्तिता का भग है ।।२५३।।

पुन काव्य कहते हैं,—भिन्न इत्यादि । अर्थ—अज्ञानी एकांतवादी, भिन्न क्षेत्र में स्थित ज्ञेय

स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुनः
तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ॥२५४॥
स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विध[1]परक्षेत्रस्थितार्थोज्झना-
त्तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान्सहार्थैर्वमन् ।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां ।
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ॥२५५॥
पूर्वालंबितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्,
सीदत्येव न किंचनापि कलयन्नत्यंततुच्छः पशुः ।

व्याख्यानेन ज्ञानमात्रभावो जीवपदार्थः एकानेकात्मको जातः । तस्मिन्नेकानेकात्मके जाते सति ज्ञानमात्रभावस्य जीव-

---

पदार्थों में ज्ञेयज्ञायक संबंध रूप निश्चित व्यापार में स्थित पुरुष को समस्तपने से बाह्य ज्ञेयों में ही पड़ते हुए को देखता कष्ट को ही प्राप्त होता है । और स्याद्वाद का जानने वाला अपने क्षेत्र में अपने अस्तित्व से जिसने अपना वेग रोक लिया है ऐसा हुआ अपने क्षेत्र में ही अस्तित्वरूप ठहरता है ।

भावार्थ—एकांतवादी तो भिन्न क्षेत्र में स्थित ज्ञेय पदार्थों के जानने के व्यापार रूप हुए पुरुष को बाह्य पड़ता ही मान नष्ट करता है । और स्याद्वादी, अपने क्षेत्र में ही ठहरा हुआ पुरुष अन्यक्षेत्र में स्थित ज्ञेयों को जानता हुआ अपने क्षेत्र में ही अस्तित्व को धारता है—ऐसा मानता आत्मा में ही ठहरता है । यह स्वक्षेत्र में अस्तित्व का भंग है ॥२५४॥

पुनः काव्य कहते हैं—**स्वक्षेत्र** इत्यादि । **अर्थ**—अज्ञानी एकांतवादी, अपने क्षेत्र में ठहरने के लिए भिन्न-भिन्न परक्षेत्र में ठहरे हुए ज्ञेय पदार्थों के छोड़ने से तुच्छ होकर अपने चैतन्य के ज्ञेय रूप आकारों को पर ज्ञेय अर्थ के साथ वमन करता हुआ जैसे अर्थों को छोड़ता है वैसे ही चैतन्य के आकारों को भी छोड़ता है तब आप तुच्छ रहा । ऐसे अपना नाश करता है । और स्याद्वादी अपने क्षेत्र में बसता हुआ परक्षेत्र में अपनी नास्तिता को जानता यद्यपि परक्षेत्र के ज्ञेय पदार्थों को छोड़ता है तो भी अपने चैतन्य के जो ज्ञेय रूप आकार हुए उनको पर से खेंचता हुआ तुच्छता को नहीं अनुभव करता, नष्ट नहीं होता ।

भावार्थ—एकांती तो परक्षेत्र में तिष्ठते ज्ञेय पदार्थों के आकार चैतन्य के आकार हुए उनको जैसे अर्थों को छोड़ता है वैसे चैतन्य के आकारों को भी छोड़ता है । ऐसा जानता है कि चैतन्य के आकारों को अपना करूंगा तो अपना क्षेत्र छूट जायगा इसलिए आप चैतन्य के आकार रहित हुआ तुच्छ (नष्ट) होता है । और स्याद्वादी ज्ञेय पदार्थों को छोड़ देता है तो भी अपने चैतन्य के आकारों को नहीं छोड़ता, अपने क्षेत्र में बसता हुआ परक्षेत्र में अपनी नास्तिता को जानता नष्ट नहीं होता । यह पर क्षेत्र की अपेक्षा नास्तिता का भंग है ॥२५५॥

---

१. विधि इत्यपि पाठः ।

अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ।।२५६।।
अर्थालंबनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
र्ज्ञेयालंबनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति,
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुंजीभवन् ।।२५७।।
विश्रांतः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु,
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकांतनिश्चेतनः ।
सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तोभवन्,
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः ।।२५८।।

पदार्थस्य नयविभागेन भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गद्वयरूपेणोपायभूतं साधकरूपं घटते । मोक्षरूपेण

पुनः काव्य कहते हैं—**पूर्वा** इत्यादि । **अर्थ**—अज्ञानी एकांतवादी, पूर्वकाल में आलंबे ज्ञेय पदार्थों के नाश होने के समय में ज्ञान का भी नाश जानता हुआ कुछ भी नहीं जानता तुच्छ हुआ नाश को प्राप्त होता है । और स्याद्वाद का जानने वाला, इस आत्मा के अपने काल से अस्तित्व को जानता हुआ बाह्य वस्तु को वार-बार होके नष्ट हो जाने पर भी आप पूर्ण ही ठहरता है ।

भावार्थ—पहले जो ज्ञेय जाने थे वे उत्तरकाल में नष्ट हो गये, उनको देख एकांती अपने ज्ञान का भी नाश मान अज्ञानी हुआ आत्मा का नाश करता है । और स्याद्वादी ज्ञेय पदार्थों के नष्ट होने पर भी अपना अस्तित्व अपने काल से ही मानता नष्ट नहीं होता । यह स्वकाल अपेक्षा अस्तित्व का भंग है ।।२५६।।

पुनः काव्य कहते हैं—**अर्थालंबन** इत्यादि । **अर्थ**—अज्ञानी एकांतवादी, ज्ञेय पदार्थ के आलंबन काल से ही ज्ञान का अस्तित्व जानता हुआ बाह्य ज्ञेय के आलंबन में चित्त को अनुराग सहित कर बाह्य भ्रमता हुआ नाश को प्राप्त होता है । और स्याद्वाद का जानने वाला, परकाल से अपने आत्मा का नास्तित्व जानता हुआ आत्मा में खुदा जो नित्य स्वाभाविक ज्ञान पुञ्ज उस स्वरूप हुआ ठहरता है, नष्ट नहीं होता ।

भावार्थ—एकांती तो ज्ञेय के आलंबन के काल में ही ज्ञान का सत्त्व जानता है इसलिए ज्ञेय के आलंबन में मन लगा के बाह्य भ्रमता हुआ नष्ट होता है और स्याद्वादी, ज्ञेय के काल से अपना अस्तित्व नहीं जानता अपने ही काल से अपना अस्तित्व जानता है इसलिये ज्ञेय से भिन्न ही अपने ज्ञान का पुञ्ज रूप हुआ नष्ट नहीं होता । यह परकाल अपेक्षा नास्तित्व का भंग है ।।२५७।।

अब काव्य कहते हैं—**विश्रांता** इत्यादि । **अर्थ**—अज्ञानी एकांतवादी, परभाव को ही अपना भाव

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः,
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति ।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरात्,
आरूढः परभावभावविरहव्यालोकनिष्कंपितः ॥२५९॥
प्रादुर्भावविराममुद्रितवहज् ज्ञानांशनानात्मना-
निर्ज्ञानात्क्षणभंगसंगपतितः प्रायः पशुर्नश्यति ।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं,
टंकोत्कीर्णघनस्वभावमहिमाज्ञानं भवन् जीवति ॥२६०॥

पुनरुपेयभूतं साध्यरूपं च घटत इति ज्ञातव्यं । अथ प्राभृताध्यात्मशब्दयोरर्थः कथ्यते । तद्यथा—यथा कोऽपि देवदत्तो

जानने से बाह्य वस्तुओं में विश्राम करता अपने स्वभाव की महिमा में एकांतकर निश्चेतन हुआ (जड़ हुआ) आप नाश को प्राप्त होता है । और स्याद्वादी, सभी वस्तुओं में अपना नियम रूप स्वभाव भाव के भवन स्वरूप ज्ञान से पृथक् हुआ, सहज स्वभावका प्रत्यक्ष अनुभवरूप किया है प्रतीति रूप जानपना जिसने ऐसा हुआ नाशको नही प्राप्त होता ।

भावार्थ—एकांती तो परभाव को निज भाव जान बाह्य वस्तु में ही विश्राम करता हुआ आत्मा का नाश करता है । और स्याद्वादी, अपने ज्ञानभाव को ज्ञेयाकार होनेपर भी ज्ञानको ही अपना भाव जानता हुआ अपना नाश नहीं करता । यह अपने भाव की अपेक्षा अस्तित्वका भंग है ॥२५८॥

पुन: काव्य कहते हैं—**अध्यास्य** इत्यादि । अज्ञानी एकांतवादी, अपने आत्मा में सब ज्ञेय पदार्थों का होना निश्चयकर शुद्धज्ञान स्वभाव से च्युत हुआ सब पदार्थों में स्वेच्छाचारी हुआ क्रीडा करता है, अपने भाव का लोप करता है । और स्याद्वादी, अपने भाव में ही सर्वथा आरूढ हुआ परभाव का अपने भाव में अभाव प्रगट है ऐसा समझ निश्चित हुआ शुद्ध ही शोभायमान है ।

भावार्थ—एकांती तो परभावों को अपना जान अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत हुआ सब जगह नि:शंक (स्वेच्छा से) प्रवर्तता है । और स्याद्वादी परभावों को जानता है तो भी उनसे भिन्न अपने आत्मा को शुद्ध ज्ञानस्वभाव अनुभव करता हुआ शोभता है । यह परभाव अपेक्षा नास्तित्व का भंग है । ॥२५९॥

पुन: काव्य कहते हैं—**प्रादुर्भाव** इत्यादि । **अर्थ**—अज्ञानी एकांतवादी, उत्पाद व्यय से प्राप्त हुए ज्ञान के अंशों द्वारा नाना स्वरूप के निर्णय के ज्ञान से क्षणभंग के संग में पड़ा बहुधा अपना नाश करता है । और स्याद्वादी, चैतन्यस्वरूप से चैतन्य वस्तु को नित्य उदयरूप अनुभव करता हुआ टंकोत्कीर्ण घन स्वभाव महिमा वाले ज्ञानरूप से जीता है, अपना नाश नहीं करता ।

भावार्थ—एकांती तो ज्ञेय के आकारवत् ज्ञान को उत्पन्न होता और विनाश होता देख क्षण-भंग की संगतिवत् अपना नाश करता है और स्याद्वादी, ज्ञेय के साथ ज्ञान के उपजने और विनाश होने

टंकोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया,
वांछत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किंचन ।
ज्ञानं नित्यमनित्यता परिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं,
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात् ॥२६१॥
इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन् ।
आत्मतत्त्वमनेकांतः स्वयमेवानुभूयते ॥२६२॥

राजदर्शनार्थं किंचित्सारभूतं वस्तु राज्ञे ददाति तत्प्राभृतं भण्यते । तथा परमात्माराधकपुरुषस्य निर्दोषिपरमात्म-

---

पर भी चैतन्यभाव का नित्य उदय अनुभव करता हुआ ज्ञानी होता जीता है, अपना नाश नही करता । यह नित्यपने का भंग है ॥२६०॥

पुनः काव्य कहते हैं—**टंकोत्कीर्ण** इत्यादि । **अर्थ**—अज्ञानी एकांतवादी, टंकोत्कीर्ण निर्मल ज्ञान का फैलावरूप एक आकार जो आत्मतत्त्व उसकी आशाकर अपने में उछलती निर्मल चैतन्य की परिणति से पृथक् कुछ आत्मा को चाहता है सो कुछ है नहीं । और स्याद्वादी, नित्यज्ञान को अनित्यता को प्राप्त होने पर भी उज्वल देदीप्यमान चैतन्य वस्तु की प्रवृत्ति के क्रम से ज्ञान की अनित्यता को अनुभव करता हुआ ज्ञान को अंगीकार करता है ।

भावार्थ—एकांती तो ज्ञान को एकाकार नित्य ग्रहण करने की इच्छा से ज्ञानचैतन्य की परिणति उत्पन्न होती और नाश होती है उससे भिन्न कुछ मानता है सो परिणाम के सिवाय परिणामी कुछ भिन्न तो है नहीं । और स्याद्वादी यद्यपि ज्ञान नित्य है तो भी चैतन्य की परिणति क्रम से उपजती विनसती है उसके क्रम से ज्ञान की अनित्यता मानता है वस्तु स्वभाव ऐसा ही है यह अनित्यपने का भंग है । ॥२६१॥

अब श्लोक से कहते हैं कि ऐसा अनेकांत अज्ञान से मोही जीवों को आत्मतत्त्व को ज्ञानमात्र साधता हुआ स्वयमेव अनुभव में आता है—**इत्यज्ञान** इत्यादि । **अर्थ**—इस पूर्वोक्त प्रकार अनेकांत, अज्ञान से मूढ प्राणियों को समझाने के लिये आत्मतत्त्व को ज्ञान मात्र साधता हुआ अपने अनुभवगोचर होता है ।

भावार्थ—अनादिकाल से प्राणी स्वयमेव तथा एकांतवाद का उपदेश कर आत्मतत्त्व का ज्ञान के अनुभव से अनेक प्रकार पक्षपात कर आत्मा का नाश करते हैं उनको समझाने के लिये आत्मा का स्वरूप ज्ञान मात्र ही कहकर उसको अनेकांतस्वरूप प्रकटकर स्याद्वाद से दिखलाया है सो यह असत्कल्पना नहीं हैं । ज्ञानमात्र वस्तु अनेकधर्म सहित अपने आप अनुभवगोचर प्रत्यक्ष प्रतिभास में आती है सो हे प्रवीण पुरुषो ! तुम अपने आत्माकी तरफ देख, अनुभव कर देखो । ज्ञान को तत्स्वरूप, अतत् स्वरूप, एक स्वरूप, अनेक स्वरूप, अपने द्रव्यक्षेत्र काल भाव से सत्स्वरूप, परके द्रव्य क्षेत्रकाल भाव से असत्स्वरूप नित्यस्वरूप, अनित्यस्वरूप इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभव गोचरकर अनेक धर्म स्वरूप प्रतीति में लाओ । यही सम्यग्ज्ञान है । सर्वथा एकांत मानने से मिथ्याज्ञान है ऐसा जानना ॥२६२॥

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयं ।
अलंघ्यं शासनं जैनमनेकांतो व्यवस्थितः ॥२६३॥

राजवर्शनार्थमिदमपि शास्त्रं प्राभृतं । कस्मात् ? सारभूतत्वात् इति प्राभृतशब्दस्यार्थः । रागादिपरद्रव्यनिरालंबनत्वेन निज-

---

अब अनेकांतकी महिमा श्लोक से करते हैं **एवमित्यादि** । **अर्थ**—इस प्रकार वस्तु के यथार्थ स्वरूप की व्यवस्थिति कर अपने स्वरूप को आप ही स्थापन करता हुआ अनेकांत है वह निश्चित ठहरा । कैसा है यह ? किसी से जीता न जाय ऐसा जिनदेव का मत (आज्ञा) है ।

भावार्थ—यह अनेकांत ही निर्बाध जिनमत है सो जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा स्थापन करता हुआ अपने आप सिद्ध हुआ है । असत्कल्पना से वचन मात्र प्रलाप किसीने नहीं कहा । सो हे निपुण पुरुषो ! अच्छी तरह विचारकर प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाण से अनुभव कर देखो । यहां कोई तर्क करता है कि आत्मा अनेकांतमयी है अनन्त धर्मा है तो भी उसका ज्ञान मात्रपने से नाम किसलिये किया ? ज्ञान मात्र कहने में तो अन्य धर्मों का निषेध जाना जाता है । उसका समाधान—यहां लक्षण की प्रसिद्धि से लक्ष्य की प्रसिद्धि के लिये आत्मा का ज्ञान मात्रपने से नाम किया है कि आत्मा ज्ञानमात्र है । यही कहते हैं—आत्मा का ज्ञान लक्षण है क्यों कि वह ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है । यह ज्ञान किसी अन्य द्रव्य में नहीं पाया जाता इसलिये इस ज्ञानलक्षण की प्रसिद्धिकर उससे लखने योग्य आत्मा की प्रसिद्धि होती है । लक्षण वही है जिसको बहुतकर सब जानें और लक्ष्य वह है कि जिसको प्रसिद्धपने न जान सकें । इस कारण लक्षण कहने से लक्ष्य प्रसिद्ध होता है । यहां फिर तर्क करता है कि इस लक्षण की प्रसिद्धि से क्या प्रयोजन ? लक्ष्य ही साधने योग्य है आत्माको ही साधना चाहिये । उसका समाधान-जिसके लक्षण अप्रसिद्ध है ऐसे अज्ञानी पुरुष के लक्ष्य की प्रसिद्धि नहीं होती । अज्ञानी को तो पहले लक्षण दिखाया जाय तब लक्ष्य को ग्रहण करता है क्योंकि जिसके लक्षण प्रसिद्ध हो उसीके उस लक्षण स्वरूप लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है । फिर पूछते हैं कि वह लक्ष्य भिन्न ही क्या है जो ज्ञान की प्रसिद्धि से उससे पृथक् ही सिद्ध होता है ? उसका उत्तर–ज्ञान से भिन्न ही लक्ष्य आत्मा नहीं है क्योंकि द्रव्य रूप से ज्ञान और आत्मा में भेद नहीं है अभेद ही है । यहां फिर पूछते हैं कि ज्ञान आत्मा अभेदरूप है तो लक्ष्य लक्षण का भेद किसके द्वारा किया जाता है ? उसका उत्तर-प्रसिद्धिकर प्रसाध्यमानपना है उससे किया भेद है । ज्ञान प्रसिद्ध है क्योंकि ज्ञानमात्र का स्वसंवेदन कर सिद्धपना है सब प्राणियों के स्वसंवेदनरूप अनुभव में आता है । उस प्रसिद्धिकर साधे हुए उस ज्ञान से अविनाभावी जो अनंतधर्म उनका समुदाय रूप अभिन्न देश रूप मूर्ति आत्मा है । इसलिये ज्ञानमात्र में अचलित निश्चल लगाई दृष्टि कर क्रमरूप और अक्रम रूप युगपद्रूप प्रवर्तता जो उस ज्ञान से अविनाभूत अनंतधर्म का समूह जितना कुछ देखा जाता है उतना कुछ समस्त ही एक निश्चयकर आत्मा है । इसी प्रयोजन के लिये इस अध्यात्म प्रकरण में इस आत्मा का ज्ञानमात्रपने से नाम कहा है । फिर पूछते हैं कि क्रमरूप व अक्रमरूप अनंत धर्म जिसमें प्रवर्तते हैं ऐसे आत्मा के ज्ञानमात्रपना कैसा है ? उसका समाधान–परस्पर भिन्नभिन्न स्वरूप को धारण करने वाले अनन्त धर्मों का समुदायरूप परिणत हुई जो एक ज्ञान क्रिया उस मात्र

नन्वनेकांतमयस्यापि किमर्थमत्रात्मनो ज्ञानमात्रतया व्यपदेशः ? लक्षणप्रसिद्धया लक्ष्यप्रसिद्ध्यर्थं। आत्मनो हि ज्ञानं लक्षणं तदसाधारणगुणत्वात्तेन ज्ञानप्रसिद्ध्या तल्लक्ष्यस्यात्मनः प्रसिद्धिः। ननु किमनया लक्षणप्रसिद्ध्या लक्ष्यमेव प्रसाधनीयं नाप्रसिद्धलक्षणस्य[1] लक्ष्यस्यप्रसिद्धिः प्रसिद्धलक्षणस्यैव तत्प्रसिद्धेः। ननु किं तल्लक्ष्यं यज्ज्ञानप्रसिद्ध्या ततो भिन्नं प्रसिद्ध्यति ? न ज्ञानाद्भिन्नं लक्ष्यं ज्ञानात्मनोर्द्रव्यत्वेनाभेदात्। तर्हि किं कृतो लक्ष्यलक्षणविभागः ? प्रसिद्धप्रसाध्यमानत्वात् कृतः। प्रसिद्धं हि ज्ञानं ज्ञानमात्रस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। तेन प्रसिद्धेन प्रसाध्यमानस्तदविनाभूतानंतधर्मसमुदयमूर्तिरात्मा ततो ज्ञानमात्राचलितनिखातया दृष्ट्या क्रमाक्रमप्रवृत्तं तदविनाभूतमनंतधर्मजातं यद्यावल्लक्ष्यते तत्तावत्समस्तमेवैकः खल्वात्मा। एतदर्थमेवात्रास्य ज्ञानमात्रतया व्यपदेशः। ननु क्रमाक्रमप्रवृत्तानंतधर्ममयस्यात्मनः कथं ज्ञानमात्रत्वं ? परस्परव्यतिरिक्तानंतधर्मसमुदायपरिणतैकज्ञप्तिमात्रभावरूपेण स्वयमेव भवनात्। अत एवास्य ज्ञानमात्रैकभावांतःपातिन्योऽनंताः शक्तय उत्प्लवंते। आत्मद्रव्यहेतुभूतचैतन्यमात्रभावधारणलक्षणा जीवत्वशक्तिः। अजडत्वात्मिका चितिशक्तिः। अनाकारोपयोगमयी दृशिशक्तिः। साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्तिः। अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः। स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्तिः। अखंडितप्रतापस्वातंत्र्य-

शुद्धात्मनि विशुद्धाधारभूतेऽनुष्ठानमध्यात्मं। इदं प्राभृतशास्त्रं ज्ञात्वा किं कर्तव्यं ? सहजशुद्धज्ञानानंदैकस्वभावोऽहं निर्वि-

भावरूपकर अपने आप (स्वयमेव) होने से आत्मा के ज्ञानमात्रपना है। आत्मा के जितने धर्म हैं वे सभी ज्ञान के परिणमनस्वरूप हैं। यद्यपि उनमें लक्षण भेद से भेद है तौ भी प्रदेशभेद नही है इसलिये एक असाधारण ज्ञान के कहने से सभी इसमें आगये। इसीसे इस आत्मा का ज्ञानमात्र जो एक भाव उसके अंतःपातिनी (इसी में आकर पड़ने वाली) अनंत शक्तियां उदय होतीं (उघड़ती) हैं ॥२६३॥

उनमें से कितनी एक शक्तियों को कहते हैं। उनका टीका में संस्कृत पाठ है उनकी वचनिका लिखते हैं—**आत्म** इत्यादि। **अर्थ**—प्रथम तो जीवत्वनामा शक्ति है। वह कैसी है ? आत्मद्रव्य को कारणभूत जो चैतन्यमात्र भाव वही हुआ भाव प्राण उसका धारण जिसका लक्षण है ऐसी है। **अजड** इत्यादि। **अर्थ**—यह दूसरी चितिशक्ति है। वह कैसी है ? जिसका स्वरूप जड़ रहित चेतना है ऐसी है। **अनाका** इत्यादि। **अर्थ**—यह तीसरी दर्शन क्रिया रूप शक्ति है। कैसी है ? जिसमें ज्ञेयरूप आकार का विशेष नहीं ऐसे दर्शनोपयोगमयी (सत्तामात्र पदार्थ से उपयुक्त होने स्वरूप) है। **साकारो** इत्यादि। **अर्थ**—यह चौथी ज्ञान शक्ति है। वह कैसी है ? ज्ञेयपदार्थ के आकार रूप विशेष से उपयुक्त होने वाले ज्ञानमयी है। **अना** इत्यादि। **अर्थ**—यह पांचवीं सुख शक्ति है। कैसी है ? आकुलता से रहितपना जिसका लक्षण है ऐसी है। **स्वरूप** इत्यादि। **अर्थ**—यह छठी वीर्य शक्ति है। कैसी है ? अपने आत्मस्वरूप की रचना की सामर्थ्य रूप है। **अखंडित** इत्यादि। **अर्थ**—वह सातवीं प्रभुत्व शक्ति है। कैसी है ?

१. लक्ष्यप्रसिद्धिः इत्यपि पाठः।

शालित्वलक्षणा प्रभुत्वशक्तिः । सर्वभावव्यापकैकभावरूपा विभुत्वशक्तिः । विश्वविश्वसामान्यभाव-परिणतात्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्तिः । विश्वविश्वविशेषभावपरिणामात्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्तिः । नीरूपात्मप्रदेशप्रकाशमानलोकालोकाकारमेचकोपयोगलक्षणा स्वच्छत्वशक्तिः । स्वयंप्रकाशमान-विशदस्वसंविचिमयी प्रकाशशक्तिः । क्षेत्रकालानवच्छिन्नचिद्विलासात्मिकाऽसंकुचितविकाशत्व-शक्तिः । अन्याक्रियमाणाऽन्याकारकैकद्रव्यात्मिका अकार्यकारणशक्तिः । परात्मनिमित्तकज्ञेय-ज्ञानाकारग्रहणग्राहणस्वभावरूपा परिणम्यपरिणामकत्वशक्तिः । अन्यूनातिरिक्तस्वरूपनियतत्वरूपा त्यागोपादानशून्यत्वशक्तिः । षट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूपप्रतिष्ठत्वकारणविशिष्टगुणा-

---

कल्पोऽहं, उदासीनोऽहं निजनिरंजनशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतराग-

---

जिसका प्रताप किसी से खंडित न किया जाय ऐसा जो स्वाधीनपना उससे शोभायमानपना जिसका लक्षण है ऐसी है । **सर्व** इत्यादि । **अर्थ**—यह आठवीं विभुत्वनामक शक्ति है । सब भावों में व्यापक जो एक भाव उस रूप है, जिसका ज्ञान एक भाव सब भावों में व्याप्त होता है । **विश्व** इत्यादि । **अर्थ**—यह नौमी सर्वदर्शित्व नामक शक्ति है । समस्त पदार्थों का समूह रूप जो लोक अलोक उसका सामान्य-भाव सत्तामात्र उसके देखने रूप जिसका स्वरूप परिणत हुआ है ऐसे देखने वाली है । **विश्व** इत्यादि । **अर्थ**—समस्त पदार्थों का समूह रूप लोक अलोक उनके समस्त जो आकार सहित भाव उनके जानने रूप जिसका स्वरूप परिणत हुआ है ऐसी ज्ञानमयी दशवीं सर्वज्ञत्व नामा शक्ति है । **नीरूपा** इत्यादि । **अर्थ**—अमूर्तीक आत्मा का प्रदेशों में प्रकाशमान जो लोक अलोक के आकार से अनेक आकार रूप दीखता उपयोग जिसका लक्षण है ऐसी स्वच्छत्व नामा ग्यारहवीं शक्ति है । जिस प्रकार दर्पण में घटपटादि प्रकाशित हों, ऐसी स्वच्छता है । **स्वयं** इत्यादि । **अर्थ**—अपने आप प्रकाशमान स्पष्ट अपने अनुभवमयी प्रकाश नामा बारहवीं शक्ति है । **क्षेत्र** इत्यादि । **अर्थ**—क्षेत्र काल से अमर्यादरूप चैतन्य का विलास उस स्वरूप असंकुचित विकासत्व नामा तेरहवीं शक्ति है । **अन्या** इत्यादि । **अर्थ**—अन्य से न करने योग्य और अन्य का कारण नहीं ऐसा एकद्रव्य उस स्वरूप अकार्य कारणत्वनामा चौदहवीं शक्ति है । **परात्म** इत्यादि । **अर्थ**—पर और आप जिनका निमित्त है ऐसे ज्ञेयाकार ज्ञानाकार उनका ग्रहण करना और ग्रहण कराना ऐसा स्वभाव जिसका रूप है, ऐसी परिणम्य परिणामकत्व नामा पंद्रहवीं शक्ति है, यह शक्ति ज्ञेयाकार और ज्ञानाकार आप ही परिणमती है । **अन्यूना** इत्यादि । **अर्थ**—न घटे न बढ़े ऐसे स्वरूप में नियम रूप जैसे का तैसा रहना उस रूप त्यागोपादान शून्यत्व नामा सोलहवीं शक्ति है । **षट्** इत्यादि । **अर्थ**—षट् स्थान, पतित, वृद्धि, हानिरूप परिणत हुआ जो वस्तु के निजस्वरूप की प्रतिष्ठा का कारण विशेष अगुरु लघुत्वनामा गुण उस स्वरूप अगुरुलघुत्वनामा सत्रहवीं शक्ति है । इस षट् स्थान पतित हानि वृद्धि का स्वरूप गोमटसार ग्रंथ से जानना, यह अविभाग प्रतिच्छेद की संख्या रूप

त्मिका—अगुरुलघुत्वशक्तिः। क्रमाक्रमवृत्तिवृत्तित्वलक्षणोत्पादव्ययध्रुवत्वशक्तिः। द्रव्यस्वभाव-भूतध्रौव्यव्ययोत्पादालिंगितसदृशविसदृशरूपैकाऽस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्तिः। कर्मबंधव्यप-गमव्यंजितसहजस्पर्शादिशून्यात्मप्रदेशात्मिका अमूर्तत्वशक्तिः। सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्राति-रिक्तपरिणामकरणोपरमात्मिका अकर्तृत्वशक्तिः। सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामानु-भवोपरमात्मिका अभोक्तृत्वशक्तिः। सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पंद्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः। आसंसारसंहरणविस्तरणलक्षितकिंचिदूनचरमशरीरपरिमाणावस्थितलोकाकाशसम्मितात्मावयवत्वल-क्षणा नियतप्रदेशत्वशक्तिः। सर्वशरीरैकस्वरूपात्मिका स्वधर्मव्यापकत्वशक्तिः स्वपरसमाना-

---

सहजानंदरूपसुखानुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनेन सवेद्योगम्यः प्राप्योभरितावस्थोहं। राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान-

---

षट् स्थानों से वस्तु स्वभाव का घटना बढ़ना वस्तु के स्वरूप को ठहराने का कारण ऐसा ही कोई गुण है उसको अगुरुलघु गुण कहते हैं, सो यह भी शक्ति आत्मा में है। **क्रमा** इत्यादि। **अर्थ**—क्रमवृत्ति रूप पर्याय, अक्रम वृत्ति रूप गुण, उनका बर्तना जिसका लक्षण है ऐसी उत्पादव्यय-ध्रुवत्वनामा अठारहवीं शक्ति है, क्रमवर्ती पर्याय तो उत्पाद व्यय रूप होते है और सहवर्ती गुण ध्रुव रूप रहते हैं। **द्रव्य** इत्यादि। **अर्थ**—द्रव्य के स्वभाव भूत ऐसे ध्रौव्य-व्यय-उत्पादो से स्पर्शित जो समान रूप व असमान रूप परिणाम उन स्वरूप एक अस्तित्वमात्रमयी उन्नीसवी परिणाम शक्ति है। कर्म बध के अभाव से व्यक्त हुआ जो स्वभाव से ही स्पर्श, रस, गंध, वर्ण से रहित आत्मा का प्रदेश उस स्वरूप अमूर्तत्व नामा बीसवीं शक्ति है। **सकल** इत्यादि। **अर्थ**—सब कर्मों से किये गये ज्ञातापने मात्र से भिन्न परिणाम उनके करने का अभाव स्वरूप इक्कीसवीं अकर्तृत्व शक्ति है, आत्मा ज्ञातापने के अतिरिक्त कर्म से किये परिणामों का कर्ता नहीं है यह भी इसमें शक्ति है। **सकल** इत्यादि। **अर्थ**—सकल कर्मों से किये ज्ञाता-पने मात्र से भिन्न जो परिणाम उनके नही भोगने रूप अभोक्तृत्व नामा बाईसवी शक्ति है। आत्मा ज्ञातापने के सिवाय कर्म के किये अन्य परिणामों का भोक्ता नही है यह भी इसमें शक्ति है। **सकल** इत्यादि। **अर्थ**—सब कर्मों के अभाव से प्रवृत्त हुआ जो आत्मा के प्रदेशों का निश्चलपना उस स्वरूप तेईसवीं निष्क्रियत्व शक्ति है। सब कर्मों का जब अभाव होता है तब प्रदेशों का कंप मिट जाता है इस-लिये यह शक्ति भी इसमें है। **आसंसार** इत्यादि। **अर्थ**—अनादि संसार से लेकर संकोच विस्तार से चिह्नित और किंचित् ऊन चरम-शरीर प्रमाण से अवस्थित ऐसे दोनों भावों को लिये हुये लोकाकाश परिणाम स्वरूप अवयवपना जिसका लक्षण है ऐसी नियत प्रदेशत्व शक्ति चौबीसवीं है। आत्मा के लोक परिणाम असंख्यात प्रदेश नियत हैं वे संसार अवस्था में चरम शरीर से कुछ कम अवस्थित हैं ऐसी शक्ति है। **सर्व** इत्यादि। **अर्थ**—सब ही शरीरों में एक स्वरूप रहना, यह पच्चीसवीं स्वधर्म व्यापकत्वशक्ति है। शरीर के धर्मरूप न होना और अपने धर्मों में व्याप्त होना यह शक्ति है। **स्वपर** इत्यादि। **अर्थ**—अपने पर के समान धर्म व असमान धर्म व समानासमान

समानसमानासमानत्रिविधभावधारणात्मिका साधारणासाधारणसाधारणासाधारणधर्मत्वशक्तिः। विलक्षणानंतस्वभावभावितैकभावलक्षणानंतधर्मत्वशक्तिः। तदतद्रूपमयत्वलक्षणा विरुद्धधर्मत्वशक्तिः। तद्रूपभवनरूपा तत्त्वशक्तिः। अतद्रूपाऽभवनरूपा अतत्त्वशक्तिः। अनेकपर्यायव्यापकैकद्रव्यमयत्वरूपा एकत्वशक्तिः। एकद्रव्यव्याप्यानेकपर्यायमयत्वरूपा अनेकत्वशक्तिः। भूतावस्थत्वरूपा भावशक्तिः। शून्यावस्थत्वरूपाऽभावशक्तिः। भवत्पर्यायव्ययरूपा भावाभावशक्तिः। अभवत्पर्यायोदयरूपाऽभावभावशक्तिः। भवत्पर्यायभवनरूपा भावभावशक्तिः। अभवत्पर्यायाऽभवनरूपाऽभावाभावशक्तिः। कारकानुगतक्रियानिष्क्रांतभवनमात्रमयी भावशक्तिः। कारकानुगतभवत्तारूपभावमयी क्रियाशक्तिः। प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी कर्मशक्तिः। भवत्तारूपसिद्धरूपभावभावकत्वमयी कर्तृशक्तिः। भवद्भावभवनसाधकतमत्वमयी करणशक्तिः। स्वयं दीयमानभावोपेय-

---

माया-लोभ—पंचेंद्रियविषयव्यापार मनोवचनकायव्यापार—भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म-ख्याति-पूजा-लाभ दृष्टश्रुतानुभूत-

---

धर्म ऐसे तीन प्रकार के भाव धारणस्वरूप साधारणासाधारण साधारणासाधारण धर्मत्व नामा छब्बीसवीं शक्ति है। **विलक्ष** इत्यादि। **अर्थ**—परस्पर भिन्न लक्षण स्वरूप जो अनन्त स्वभाव उनसे मिला हुआ जो एक भाव जिसका लक्षण है ऐसी सत्ताईसवीं अनंतधर्मत्व शक्ति है। **तद्** इत्यादि। **अर्थ**—तत्स्वरूप और अतत्स्वरूप जिसका लक्षण है ऐसी विरुद्ध धर्मत्व शक्ति अट्ठाईसवीं है। **तद्रूप** इत्यादि। **अर्थ**—तत्स्वरूप होना जिसका स्वरूप है ऐसी उनतीसवीं तत्त्वशक्ति है, जो वस्तु का स्वभाव है उसे तत्त्व कहते हैं वही तत्त्वशक्ति है। **अत** इत्यादि। **अर्थ**—तत्स्वरूप न होने रूप तीसवीं अतत्त्वशक्ति है, जैसे चेतन जडरूप नहीं होता यह शक्ति है। **अनेक** इत्यादि। **अर्थ**—अनेक पर्यायों में व्यापक जो एक द्रव्य उसमयीस्वरूप इकतीसवीं एकत्व शक्ति है। **एक** इत्यादि। **अर्थ**—एक द्रव्य में व्यापने योग्य अनेक पर्यायमय स्वरूप बत्तीसवीं अनेकत्व शक्ति है। **भूता** इत्यादि। **अर्थ**—विद्यमान परिणामों से अवस्थितस्वरूप तेतीसवीं भाव शक्ति है। **शून्या** इत्यादि। **अर्थ**—जिस परिणाम का अभाव है उसके शून्यत्व से अवस्थित स्वरूप चौंतीसवीं अभावशक्ति है। **भवत्** इत्यादि। **अर्थ**—वर्तमान में होने वाली पर्याय के व्यय होने रूप पैंतीसवीं भावाभावशक्ति है। **अभव** इत्यादि। **अर्थ**—वर्तमान में न होने वाले पर्याय के उदय होने रूप छतीसवीं अभाव भाव शक्ति है। **भवत्** इत्यादि। **अर्थ**—वर्तमान पर्याय के होने रूप (रहने रूप) सैंतीसवीं भावभाव शक्ति है। **अभ** इत्यादि। **अर्थ**—न होने वाले पर्याय के नहीं होने रूप अड़तीसवीं अभावाभाव शक्ति है। **कारका** इत्यादि। **अर्थ**—कर्ता कर्म आदि कारकों में अनुगत क्रिया से रहित होने मात्रमयी उनतालीसवीं भावशक्ति है। **कारका** इत्यादि। **अर्थ**—कारक के अनुसार होने रूप भावमयी चालीसवीं क्रियाशक्ति है। **प्राप्य** इत्यादि। **अर्थ**—पाने में आता ऐसा बनाबनाया जो भाव उसमयी इकतालीसवीं कर्मशक्ति है। **भवत्ता** इत्यादि। **अर्थ**—होने रूप

त्वमयी संप्रदानशक्तिः । उत्पादव्ययालिंगितभावापायनिरपायध्रुवत्वमयी अपादानशक्तिः । भाव्यमानभावाधारत्वमयी अधिकरणशक्तिः । स्वभावमात्रस्वस्वामित्वमयी संबंधशक्तिः ।

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः ।
एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं तद्द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु ॥२६४॥
नैकांतसंगतदृशा स्वयमेव वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिरिति प्रविलोकयंतः ।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य संतो ज्ञानी भवंति जिननीतिमलंघयंतः ॥२६५॥

भोगाकांक्षारूपनिदान-माया-मिथ्याशल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहितःशून्योऽहं । जगत्त्रयेऽपि कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः

जो सिद्ध रूपभाव उसके होने वाले पनामयी व्यालीसवीं कर्तृत्व शक्ति है । **भव** इत्यादि । **अर्थ**—होते हुए भाव के होने में अतिशयवान् साधकपनेमयी तेतालीसवीं करण शक्ति है । **स्वयं** इत्यादि । **अर्थ**—अपने ही से देने में आता जो भाव उसके प्राप्त होने योग्यपना पाने योग्यपनेमयी चौवालीसवीं संप्रदान शक्ति है । **उत्पाद** इत्यादि । **अर्थ**—उत्पादव्यय से स्पर्शित जो भाव उसके अपाय के होने से नष्ट न होता ऐसे ध्रुवपना उसमयी पैंतालीसवीं अपादान शक्ति है । **भाव्यमान** इत्यादि । **अर्थ**—भावने में आता जो भाव उसके आधारपनेमयी छयालीसवीं अधिकरण शक्ति है । **स्वभाव** इत्यादि । **अर्थ**—अपने भावमात्र स्वस्वामिपनेमयी संबंध शक्ति सैंतालीसवीं है, अपने भावों का स्वामी आप है, यह संबंध है । ऐसे सैंतालीस शक्तियों के नाम कहे । इनको आदि लेकर अनेक शक्तियों से युक्त आत्मा है तो भी ज्ञानमात्रपने को नहीं छोड़ता ।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य है—**इत्याद्य** इत्यादि **अर्थ**—ऐसे ये सैंतालीस शक्तियां अनेक अपनी शक्तियों से अच्छी तरह परिपूर्ण होने पर भी जो भाव ज्ञानमात्रमयीपने को नहीं छोड़ता वह चैतन्य आत्मा द्रव्यपर्यायमयी इस लोक में वस्तु है । क्रमरूप अक्रमरूप विशेष वर्तनेवाले जो विवर्त (परिणमन की विकाररूप अवस्था) उनसे अनेक प्रकार होकर प्रवर्तन करता है ।

भावार्थ—कोई जानेगा कि ज्ञानमात्र कहा हुआ आत्मा एक स्वरूप ही है । किन्तु ऐसा नहीं है वस्तु का स्वरूप द्रव्य पर्यायमयी है चैतन्य भी वस्तु है वह अनन्त शक्ति से भरा है सो क्रमरूप व अक्रमरूप अनेक परिणामों के विकारों का समूह रूप अनेकाकार होता है परन्तु ज्ञान असाधारण भाव को नहीं छोड़ता सब अवस्थायें परिणाम पर्यायी हैं वे ज्ञानमय हैं ॥२६४॥

अब इस अनेक स्वरूप वस्तु को जो जानते हैं, श्रद्धान करते हैं और अनुभव करते हैं उनकी प्रशंसा में कलशरूप काव्य कहते हैं—**नैकांत** इत्यादि । **अर्थ**—वस्तु अपने आप अनेकांतात्मक है ऐसे वस्तुतत्त्व की व्यवस्था को अनेकांत में प्राप्त की गई दृष्टि से देखते हुए सत्पुरुष स्याद्वाद की अधिक शुद्धि को अंगीकार करके ज्ञानी होते हैं । और जिनेश्वरदेव के स्याद्वादन्याय को उल्लंघन नहीं करते ।

भावार्थ—जो सत्पुरुष अनेकांत में लगायी हुई दृष्टि से ऐसे अनेकांतरूप वस्तुतत्त्व की मर्यादा को देखते हैं वे स्याद्वाद की शुद्धि को पाकर ज्ञानी होते हैं । वे जिनदेव के स्याद्वाद न्याय को उलंघन नहीं करते । स्याद्वादन्याय, वस्तु जैसी है वैसा कहता है, इस प्रकार स्याद्वाद का अधिकार पूर्ण हुआ ॥२६५॥

अथास्योपायोपेयभावश्चिंत्यते। आत्मवस्तुनो हि ज्ञानमात्रत्वेऽप्युपायोपेयभावो विद्यत एव। तस्यैकस्यापि स्वयं साधकसिद्धरूपोभयपरिणामित्वात्। तत्र यत्साधकं रूपं स उपायः। यत्सिद्धं रूपं स उपेयः। अतोऽस्यात्मनोऽनादिमिथ्यादर्शनाज्ञानाचारित्रैः स्वरूपप्रच्यवनात्संसरतः सुनिश्चलपरिगृहीतव्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपाकप्रकर्षपरंपरया क्रमेण स्वरूपमारोप्यमाणस्यांतर्मग्ननिश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविशेषतया साधकरूपेण तथा परमप्रकर्ष[1]मकरिकाधिरूढरत्नत्रयातिशयप्रवृत्तसकलकर्मक्षयप्रज्वलितास्खलितविमलस्वभावभावतया सिद्धरूपेण च स्वयं परिणममानज्ञानमात्रमेकमेवोपायोपेयभावं साधयति। एवमुभयत्रापि ज्ञानमात्रस्यानन्यतया नित्यमस्खलितैकवस्तुनो निष्कंपपरिग्रहणात् तत्क्षण एव मुमुक्षूणामासंसारादलब्धभूमिकानामपि भवति भूमिकालाभः। ततस्तत्र नित्यदुर्ललितास्ते स्वत एव क्रमाक्रमप्रवृत्तानेकांतमूर्तयः साधकभावसंभवपरमप्रकर्षकोटिसिद्धिभावभाजनं भवंति। ये तु नेमामंतर्नीतानेकांतज्ञानमात्रैकभावरूपां भूमिमुपलभंते ते नित्यमज्ञानिनो भवंतो ज्ञानमात्रभावस्य स्वरूपेणाभवनं पररूपेण भवनं पश्यंतो जानंतोऽनुचरंतश्च मिथ्यादृष्टयो मिथ्याज्ञानिनो मिथ्याचारित्राश्च भवंतोऽत्यंतमुपायोपेयभ्रष्टा विभ्रमंत्येव।

कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयेन तथा सर्वजीवाः। इति निरन्तरं भावना कर्तव्या। **इति स्याद्वादोऽधिकारः।**

अब ज्ञानमात्र भाव के उपाय और उपेय दो भावों का विचार करते हैं। उपाय वह है जिससे पाने योग्य भाव पाये जांय, उसको मोक्षमार्ग भी कहते हैं और उपेय भाव पाने योग्य (आदर करने योग्य) भाव को कहते हैं। वह आत्मा का शुद्ध सब कर्मों से रहित भाव है, उसको मोक्ष भी कहते हैं। सो यद्यपि ज्ञानमात्र भाव एक है, तो भी अनेकांत स्वरूप है। उसमें स्याद्वाद से साधा हुआ उपाय और उपेय ये दोनों भाव एक में ही बनते हैं। उन्हींका विचार करते हैं—आत्म वस्तु के ज्ञान मात्र होने पर भी उपाय और उपेय भाव विद्यमान ही हैं, क्योंकि उस एक के भी अपने आप साधक और सिद्ध इन दोनों रूप परिणामीपना है। आत्मा तो परिणामी है और साधकपना व सिद्धपना ये दोनों परिणाम हैं। उनमें साधक रूप तो उपाय है और जो सिद्ध है वह उपेय है। क्योंकि इस आत्मा के अनादिकाल से मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान-मिथ्या चारित्रों के कारण अपने स्वरूप से च्युत होने से संसार में भ्रमण करते हुए के भली प्रकार ग्रहण किये गए व्यवहार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के परिपाक (पचना) के बढ़ने की परंपरा के अनुक्रम से अपने स्वरूप में अपने को आरोपण करने वाले के अंतर्मग्न निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के विशेषपने से साधक रूप है। इस तरह परमप्रकर्ष की पराकाष्ठा को प्राप्त रत्नत्रय की अतिशयता से प्रवर्तित, सकलकर्म के क्षय से देदीप्यमान, अस्खलित और विमल स्वभाव के कारण स्वयं सिद्धरूप से परिणत, ऐसा एक ही ज्ञान मात्र उपाय और उपेय भाव को सिद्ध करता है।

भावार्थ—यह आत्मा अनादि काल से मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र के कारण संसार में भ्रमण

---

१. मकरा एव मकरिका मर्यादा-इत्यर्थः।

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकंपां भूमिं श्रयंति कथमप्यपनीतमोहाः ।
ते साधकत्वमधिगम्य भवंति सिद्धा मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमंति ॥२६६॥
स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥२६७॥

अत्र ग्रंथे प्रचुरेण पदानां सन्धिर्न कृता । वाक्यानि च भिन्नभिन्नानि कृतानि सुखबोधार्थं । तेन कारणेन लिंग-

---

करता है। जब व्यवहार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को निश्चल अंगीकार करे, तब अनुक्रम से अपने स्वरूप के अनुभव की वृद्धि करता हुआ निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की पूर्णता को प्राप्त होता है तब तक तो साधक रूप है और निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की पूर्णता से सब कर्मों का नाश हो तब साक्षात् मोक्ष होता है, वही सिद्धरूप भाव है। सो इन दोनों भावरूप ज्ञान का ही परिणाम है, वही उपायोपेय भाव है। इस तरह दोनों ही भावों में ज्ञानमात्र का अनन्यपना है, और अन्यपना नहीं है। उससे निरंतर नहीं चिगता जो एक वस्तु उसके निष्कंप परिग्रहण से उसी काल मोक्ष के चाहने वाले पुरुषों के अनादि संसार से लेकर कभी जिन्होंने नहीं पायी ऐसी भूमिका इसप्रकार लाभ होना है, इसलिये वे सत्पुरुष वहां सदाकाल निश्चल हुए आप से ही क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्ते अनेक धर्मों की मूर्ति हुए, साधक भाव से जिसकी उत्पत्ति है ऐसे परमप्रकर्ष की हदरूप सिद्ध भाव के पात्र होते हैं। और अनेक धर्म जिसमें गर्भित हैं ऐसे ज्ञानमात्र एक भावस्वरूप ऐसी भूमि को जो नहीं पाते वे नित्य अज्ञानी हुए ज्ञानमात्र भाव को अपने स्वरूपकर नहीं होना और पररूपकर होना श्रद्धान करते, जानते हुए और आचरण करते हुए मिथ्यादृष्टि हुए, मिथ्या ज्ञानी हुए, मिथ्या चारित्री हुए, अत्यंत उपायोपेय भाव से भ्रष्ट हुए संसार में भ्रमते ही रहते हैं।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**ये ज्ञान** इत्यादि। **अर्थ**—जिनका किसी तरह अज्ञान (मिथ्यात्व) दूर हो गया है ऐसे भव्यपुरुष ज्ञानमात्र, निजभावमयी निश्चल भूमिका को आश्रय करते हैं। वे पुरुष साधकपने को अंगीकार करके सिद्ध होते हैं। और जो मोही (अज्ञानी–मिथ्यादृष्टि) हैं वे इस भूमिका को न पाकर संसार में भ्रमण करते हैं।

भावार्थ—जो पुरुष गुरु के उपदेश से तथा स्वयमेव काल लब्धि को पाकर मिथ्यात्व से रहित होते हैं वे ज्ञानमात्र अपने स्वरूप को पाकर साधक होकर सिद्ध होते हैं। और जो अपने को ज्ञानमात्र नहीं पाते, वे संसार में भ्रमण करते हैं ॥२६६॥

अब कहते हैं कि वे भूमिका किस प्रकार पाते हैं—**स्याद्वाद** इत्यादि। **अर्थ**—जो पुरुष स्याद्वाद-न्याय का प्रवीणपना और निश्चल व्रतसमितिगुप्तिरूप संयम इन दोनों के द्वारा अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा में उपयोग लगाता हुआ आत्मा को निरंतर भाता है, वही पुरुष ज्ञाननय और क्रियानय से उन दोनों में परस्पर तीव्र मैत्रीभाव का पात्रभूत हुआ इस निज भावमयी भूमिका को पाता है।

भावार्थ— जो ज्ञाननय को ही ग्रहण कर क्रियानय को छोड़ता है, वह प्रमादी स्वच्छंद हुआ

चित्पिंडचंडिमविलासिविकासहासः [1]शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः।
आनंदसुस्थितसदास्खलितैकरूपस्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥ २६८ ॥
स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
किं बंधमोक्षपथपातिभिरन्यभावैर्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥ २६९ ॥
चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखंड्यमानः ।
तस्मादखंडमनिराकृतखंडमेकमेकांतशांतमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥ २७० ॥

वचन-क्रिया-कारक-सन्धिसमास-विशेष्य-विशेषणवाक्य-समाप्त्यादिकं दूषणं न ग्राह्यं विवेकिभिः । शुद्धात्मादितत्त्वप्रति-

इस भूमि को नहीं पाता । और जो क्रियानय को ही ग्रहण कर ज्ञाननय को नहीं जानता वह भी शुभ कर्म से संतुष्ट हुआ इस निष्कर्म भूमिका को नहीं पाता । तथा जो ज्ञान पाकर निश्चल संयम को अंगीकार करते हैं उनके ज्ञाननय के और क्रियानय के परस्पर अत्यंत मित्रता होती है, वे ही इस भूमिका को पाते हैं । इन दोनों नयों के ग्रहण त्याग का स्वरूप व फल **पंचास्तिकाय** ग्रंथ के अन्त में कहा है वहां से जानना ।।२६७।।

अब काव्य से कहते हैं कि जो इस भूमिका को पाता है वही आत्मा को पाता है—**चित्पिंड** इत्यादि । **अर्थ**—जो पुरुष पूर्वोक्त प्रकार भूमिका को पाता है, उसी पुरुष के यह आत्मा उदय होता है । कैसा है आत्मा ? चैतन्यपिंड का निरर्गल विलास करने वाला जो प्रफुल्लित होना उस रूप जिसका फूलना है, शुद्ध प्रकाश के समूह से उत्तम प्रभात के समान उदय रूप है, आनंद से अच्छी तरह ठहरा सदा नहीं चिगता है एकरूप जिसका, जिसकी ज्ञान रूप दीप्ति अचल है । ऐसा है ।

भावार्थ—यहां चित्पिंड इत्यादि विशेषण से तो अनंत दर्शन का प्रकट होना बतलाया है, अचल शुद्धप्रकाश इत्यादि विशेषण से अनंतज्ञान का प्रकट होना जताया है, आनंदसुस्थित इत्यादि विशेषण से अनंतसुख का प्रकट होना जताया है और अचलार्चि इस विशेषण से अनंतवीर्य का प्रकट होना जतलाया है । पूर्वोक्त भूमि के आश्रय से ऐसा आत्मा का उदय होता है ।।२६८।।

अब काव्य से कहते हैं कि ऐसा ही आत्मस्वभाव हमारे भी प्रकट होवे—**स्याद्वाद** इत्यादि । **अर्थ**—स्याद्वाद से प्रकाशरूप हुआ है लहलहाट करता तेजःपुंज जिसमें, और जिसमें शुद्ध स्वभाव की महिमा है ऐसा ज्ञानप्रकाश मुझ में उदय होने से बंध मोक्ष के मार्ग से पटकने वाले अन्य भावों से क्या साध्य है ? मेरे तो केवल अनंत चतुष्टयरूप यह अपना स्वभाव ही निरंतर उदयरूप हुआ स्फुरायमान होवे ।

भावार्थ—स्याद्वाद के द्वारा यथार्थ आत्मज्ञान होने के बाद इसका फल पूर्ण आत्मा का प्रकट होना है । मोक्ष का इच्छुक पुरुष यही प्रार्थना करता है कि मेरा पूर्ण स्वभाव आत्मा उदय हो । अन्य भाव बंधमोक्ष मार्ग की कथारूप हैं उनसे क्या प्रयोजन है ? ।।२६९।।

अब काव्य से कहते हैं कि यद्यपि नयों के द्वारा आत्मा साधा जाता है तथापि यदि नयों पर ही

१ शुद्धप्रकाशभरेण निर्भरमत्यन्तं शुद्धो भातः सुष्ठो उद्दीप्तः ।

न द्रव्येण खंडयामि । न क्षेत्रेण खंडयामि । न कालेन खंडयामि । न भावेन खंडयामि । सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रोभावोस्मि ।

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव ।
ज्ञेयो ज्ञेयः ज्ञानकल्लोलवल्गज् ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रं ॥२७१ ॥

पावनविषये यदज्ञानात् किंचिद्विस्मृतं तदपि क्षमितव्यमिति । जयउ रिसि पउमणंदी जेण महातच्चपाहुडसेलो । बुद्धि-

---

दृष्टि रहे तो नयों में परस्पर विरोध भी है इसलिये मैं नयों का विरोध मिटाकर आत्मा का अनुभव करता हूं—**चित्रात्म** इत्यादि । **अर्थ**—यह आत्मा अनेक प्रकार की अपनी शक्तियों के समुदायमय है । नयों की दृष्टि से भेदरूप किया हुआ तत्काल खंड खंडरूप होकर नाश को प्राप्त होता है । इसलिये मैं अपने आत्मा को ऐसा अनुभव करता हूं कि मैं चैतन्यमात्र तेजरूप वस्तु हूं । जिसमें खंड दूर नहीं किये गये हैं तो भी खंड (भेद) रहित अखंड हूं एक हूं । जिसमें कर्म के उदय का लेश नहीं ऐसा शांतभावमय हूं और अचल हूं अर्थात् कर्म के उदय से चलाया नहीं चलता ।

भावार्थ—आत्मा में अनेक शक्तियां हैं, एक एक शक्ति का ग्राहक एक एक नय है । सो नयों की एकांत दृष्टि से देखो तो आत्मा का खंड खंड हो नाश हो जाय । इसलिये स्याद्वादी, नयों का विरोध मेंट चैतन्यमात्र वस्तु अनेक शक्ति समूहरूप सामान्य विशेष स्वरूप सर्वशक्तिमय एक ज्ञानमात्र को अनुभव करता है । ऐसा वस्तु का स्वरूप है उसमें विरोध नहीं है ॥२७०॥

अब ज्ञानी अखंड आत्मा का ऐसा अनुभव करता है उसे कहते हैं—**न द्रव्येण** इत्यादि । **अर्थ**—ज्ञानी शुद्धनय का आलंबन लेकर ऐसा अनुभव करता है कि मैं अपने शुद्धात्म स्वरूप को न तो द्रव्य से खंडित करता हूं न क्षेत्र से खंडित करता हूं काल से खंडित नहीं करता और न भाव से खंडित करता है । अत्यंत विशुद्ध (निर्मल) एक ज्ञानमय भाव हूं ।

भावार्थ—शुद्धनय से देखा जाय तब द्रव्य क्षेत्रकालभाव से शुद्ध चैतन्यमात्र भाव में कुछ भी भेद नहीं दीखता । इसलिये ज्ञानी अभेद ज्ञानस्वरूप अनुभव में भेद नहीं करता ।

अब कहते हैं कि मैं तो ज्ञान हूं और ज्ञेय ज्ञेय हैं—**योऽयमित्यादि** । **अर्थ**—जो यह मैं ज्ञानमात्र भाव हूं सो ज्ञेय का ज्ञानमात्र नहीं जानना । तो यह ज्ञानमात्र भाव कैसा जानना ? ज्ञेयों के आकार जो ज्ञान के कल्लोल उनको विलगता ऐसा ज्ञान वही ज्ञान, वही ज्ञेय, वही ज्ञाता इस तरह ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता, इन तीन भावों सहित वस्तुमात्र जानना ।

भावार्थ—अनुभव करते ज्ञानमात्र अनुभवे तब बाह्य ज्ञेय तो पृथक् ही हैं ज्ञान में बैठे नहीं और ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में है सो वह ज्ञान भी ज्ञेयाकाररूप दीखता है । ये ज्ञान के कल्लोल हैं सो ऐसा भी ज्ञान का स्वरूप है । आपसे आप जानने योग्य है इसलिये ज्ञेयरूप भी है । आप ही अपने को जानने वाला है इसलिए ज्ञाता भी है । ऐसे तीनों भावस्वरूप ज्ञान एक है । इसी से सामान्य विशेष स्वरूप वस्तु कहा जाता है, उस मात्र ही ज्ञानमात्र कहा जाता है । सो अनुभव करने वाला इसी तरह अनुभव करे कि ऐसा ज्ञानभाव यह मैं हूं ॥२७१॥

क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकाऽमेचकं
क्वचित् पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मनः
परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत् ॥२७२॥
इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता
मितः क्षणविभंगुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात्।
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवं ॥२७३॥

सिरेणुद्धरिओ समप्पिओ भव्वलोयस्स ॥१॥ जं मल्लीणा जीवा तरंति संसारसायरमणंतं। तं सव्वजीवसरणं णंदउ

अब काव्य से कहते हैं कि अनुभव की दशा में अनेकरूप दीखते हैं तो भी यथार्थ ज्ञाता निर्मल ज्ञान को नहीं भूलता।

क्वचिल्ल इत्यादि। **अर्थ**—अनुभव करनेवाला कहता है कि मेरा आत्मतत्त्व कभीतो अनेकाकार दीखता है, कभी शुद्ध एकाकार दीखता है, कभी दोनों रूप दीखता है, तो भी जो निर्मल बुद्धि हैं उनके मन को भ्रम उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि वह परस्पर अच्छी तरह मिलीं जो प्रगट अनेक शक्तियां उनके समूह स्वरूप स्फुरायमान होता है।

भावार्थ—आत्मतत्त्व अनेक शक्तियों को लिये हुए है इसलिये किसी अवस्था में कर्म के उदय के निमित्त से अनेक आकार अनुभव में आते हैं, किसी अवस्था में शुद्ध एकाकार अनुभव में आता है और किसी अवस्था में शुद्धाशुद्धरूप अनुभव में आता है, तो भी यथार्थ ज्ञानी स्याद्वाद के बल से भ्रमरूप नहीं होता। जैसा है वैसा ही मानता है, ज्ञानमात्र से च्युत नहीं होता ॥२७२॥

अब काव्य से कहते हैं कि अनेकरूप को धारता यह आत्मा का अद्‌भुत आश्चर्यकारी विभव है—**इतो** इत्यादि। **अर्थ**—अहो! बड़ा आश्चर्यकारी यह आत्मा का स्वाभाविक अद्‌भुत विभव है कि एक तरफ देखो तो अनेकता को धारण करता है, यह पर्याय दृष्टि है। एक तरफ देखिये तो सदा ही एकता ही धारता है, यह द्रव्यदृष्टि है। एक तरफ देखा जाय तो क्षणभंगुर है, यह क्रमभावी पर्यायदृष्टि है। एक तरफ देखा जाय तो ध्रुव दीखता है, यह सहभावी गुणदृष्टि है क्योंकि सदा उदयरूप दीखती है। एक तरफ देखिये तो परमविस्तारस्वरूप दीखता है, यह ज्ञान अपेक्षा सर्वगत दृष्टि है। और एक तरफ देखिये तो अपने प्रदेशों से ही धारण किया जाता है, यह प्रदेशों की अपेक्षादृष्टि है। ऐसे आश्चर्यरूप विभव को आत्मा धारण करता है।

भावार्थ—यह द्रव्यपर्यायात्मक अनंतधर्मा वस्तु का स्वभाव है। जो पूर्ण अज्ञानी हैं उनके ज्ञान में आश्चर्य उत्पन्न होता है कि यह असम्भव सी बात है। ज्ञानियों के वस्तु स्वभाव में आश्चर्य नहीं है,तो भी ऐसा अद्‌भुत परम आनन्द होता है कि ऐसा पहले कभी नहीं हुआ, यह आश्चर्य भी उपजता है ॥२७३॥

कषायकलिरेकतः स्खलति शांतिरस्त्येकतो
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः ।
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुतादद्भुतः ॥२७४॥

जयति सहजतेजः पुंजमज्जत्त्रिलोकी
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः ।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलंभः
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः ॥२७५॥

जिणसासणं सुंदरं ॥२॥ यश्चाभ्यस्यति संश्रृणोति पठति प्रख्यापयत्यादरात् । तात्पर्याख्यमिदं स्वरूपरसिकैः संवर्णितं

अब इसी का अर्थरूप काव्य है—**कषाय** इत्यादि । **अर्थ**—आत्मा के स्वभाव की महिमा अद्भुत से अद्भुत विजयरूप प्रवर्तती है, किसी से बाधित नहीं होती । एक तरफ देखिये तो कषायों का क्लेश दीखता है, एक तरफ देखिये तो कषायों का उपशमरूप शांतभाव है, एक तरफ देखिये तो संसारसंबंधी पीड़ा दीखती है, एक तरफ देखिये तो संसार का अभावरूप मुक्ति भी स्पर्श करती है, और एक तरफ देखिये तो केवल (एक) चैतन्यमात्र ही शोभता है, इस प्रकार अद्भुत से अद्भुत महिमा है ।

भावार्थ—यहां भी पहले काव्य के भावार्थरूप ही जानना । यह अन्यवादी सुनकर बड़ा आश्चर्य करते हैं । उनके चित्त में विरोध के कारण यह बात समझ में नहीं आ सकती । यदि उनके कभी श्रद्धा भी हो जाय तो प्रथम अवस्था में बड़ा अद्भुत दीखता है कि हमने अनादिकाल योंही खोया, ये जिनवचन बड़े उपकारी हैं, वस्तु का स्वरूप यथार्थ जताते हैं, ऐसा आश्चर्य कर श्रद्धान करता है ॥२७४॥

आगे टीकाकार इस सर्वविशुद्धज्ञान के परिशिष्ट अधिकार को पूर्ण करते हैं इसके अन्त के मंगल के लिये इस चिच्चमत्कार को ही काव्य से सर्वोत्कृष्ट कहते हैं—**जयति** इत्यादि । **अर्थ**—यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर चैतन्यचमत्कार जयवन्त प्रवर्तता है, किसी से बाधा न जाय इस तरह सर्वोत्कृष्ट हो प्रवर्तता है । अपने स्वभावस्वरूप प्रकाश के पुञ्ज में मग्न हुए जो तीन लोक के पदार्थ उनसे जिसमें अनेक भेद हुए दीखते हैं ऐसा है तो भी एक स्वरूप ही है, अर्थात् केवल ज्ञान में सब पदार्थ झलकते हैं वे अनेक ज्ञेयाकाररूप दीखते हैं तो भी चैतन्यरूप ज्ञानाकार की दृष्टि में एक ही स्वरूप है । अपने निज रस से पूर्ण ऐसा तत्त्व स्वरूप का पाना जिसका छिदा नहीं है अर्थात् प्रतिपक्षी कर्म का अभाव होने से जिसके स्वभाव का अभाव नहीं पाया जाता । प्रगट बलात्कार से जिसकी दीप्ति नियमरूप है, अपने अनंत वीर्य से निष्कम्प ठहर रहा है । ऐसा चिच्चमत्कार जयवंत है । यहां जयवंत कहने से सर्वोत्कृष्टपने कर रहना कहा सो यही मंगल है ।

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहं ।
उदितममृतचंद्रज्योतिरेतत्समंताज्-
ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावं ॥२७६॥
मुक्तामुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादितः ।
अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्तिं नमाम्यहम् ॥१॥

अथ द्रव्यस्यादेशवशेनोक्तां सप्तभंगीमवतारयामः —स्यादस्ति द्रव्यं ।१। स्यान्नास्ति द्रव्यं ।२। स्यादस्ति नास्ति च द्रव्यं ।३। स्यादवक्तव्यं द्रव्यं ।४। स्यादस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं ।५।

प्राभृतं । शश्वद्रूपमलं विचित्रसकलंज्ञानात्मकं केवलं ।

आगे टीकाकार अपने नाम को प्रगट करते हुए पूर्वोक्त आत्मा को ही आशीर्वाद देते हैं— **अविचलित** इत्यादि । **अर्थ**—यह अमृतचन्द्रज्योति अर्थात् जिसका मरण नहीं, तथा जिससे अन्य का भी मरण नहीं वह अमृत और अत्यंत स्वादुरूप मिष्ट हो उसे लोक रूढि से अमृत कहते हैं, ऐसी अमृतमयी चंद्रमा के समान ज्योति अर्थात् प्रकाशस्वरूपज्ञान या प्रकाशस्वरूपआत्मा वह उदय को प्राप्त हुआ सब क्षेत्रकाल में देदीप्यमान प्रकाशरूप रहो । कैसी है ? निश्चलचेतना जिसका स्वरूप है ऐसे आत्मा में आप ही द्वारा अपने आत्मा को निरंतर मग्न करती हुई धारती है, अपने प्राप्त किए स्वभाव को कभी नहीं छोड़ती । जिसका मोह नाश को प्राप्त हुआ है अर्थात् जिसने अज्ञान अन्धकार को दूर किया है । जिसका स्वभाव प्रतिपक्षी कर्म से रहित है । निर्मल है और पूर्ण है ।

भावार्थ—यहां आत्मा को अमृतचंद्रज्योति कहा, सो यह लुप्तोपमा अलंकार से कहा जानना, क्योंकि अमृतचंद्रवत् ज्योति ऐसा समास करने से वत् शब्द का लोप हो जाता है तब अमृतचंद्रज्योति कहा जाता है और वत् शब्द न करो तो अमृतचंद्ररूप ज्योति ऐसा कहना तब भेदरूपक अलंकार है । तथा अमृतचंद्रज्योति ऐसा ही आत्मा का नाम कहो तब अभेदरूपक अलंकार होता है । इसके विशेषणों के द्वारा चन्द्रमा से व्यतिरेक भी है, क्योंकि ध्वस्त मोह विशेषण तो अज्ञान अंधकार दूर होना बतलाता है और निर्मलपूर्ण विशेषण लांछन रहितपना पूर्णता बताता है । निःसपत्न स्वभाव विशेषण राहु बिम्ब से और बादल आदि से आच्छादित न होना बतलाता है । समंतात् ज्वलन है वह सब क्षेत्र और सब काल में प्रतापरूप प्रकाश करना बतलाता है । ऐसा चन्द्रमा नहीं है । अमृतचंद्र ऐसा टीकाकार ने अपना नाम भी सूचित किया है और इसका समास बदल कर अर्थ किया जाय तब अनेक अर्थ होते हैं, सो यथासंभव जानना चाहिये ।

मुक्तेत्यादि । **अर्थ**—जो कर्मों से मुक्त है और ज्ञानादि गुणों से अमुक्त है उस अविनाशी ज्ञानमूर्ति परमात्मा को नमस्कार करता हूँ ॥१॥

स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं ।६। स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं ।७। इति। अत्र सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकांतद्योतकः कथंचिदर्थः स्याच्छब्दो निपातः। तत्र स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टमस्ति द्रव्यं। परद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टं नास्ति द्रव्यं। स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टमस्ति च नास्ति च द्रव्यं। स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपदादिष्टमवक्तव्यं द्रव्यं। स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चादिष्टमस्ति चावक्तव्यं द्रव्यं। परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चादिष्टं नास्ति चावक्तव्यं द्रव्यं। स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चादिष्टमस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यमिति। इति सप्तभंगी समाप्ता॥ **इति स्याद्वादोऽधिकारः॥**

संप्राप्यापपदेऽपि मुक्तिललनारक्तः सदा वर्तते।

इतिश्रीकुंदकुंददेवाचार्यविरचितसमयसारप्राभृताभिधानग्रंथस्य संबंधिनी श्रीजयसेनाचार्यकृता दशाधिकारैरेकोनचत्वारिंशदधिकगाथाशतचतुष्टयेन तात्पर्यवृत्तिः समाप्ता।

अब द्रव्य को लेकर प्रतिपादित सप्तभंगी दिखाते हैं:—स्यादस्ति द्रव्यं १ स्यान्नास्ति द्रव्यं २ स्यादस्ति नास्ति च द्रव्यं ३ स्यादवक्तव्यं द्रव्यं ४ स्यादस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं ५ स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं ६ स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं ७।

यहाँ 'स्यात्' शब्द का अर्थ कथंचित् है जो एकान्त का निषेध और अनेकान्त का प्रकाश करता है। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की अपेक्षा द्रव्य है १, अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की अपेक्षा द्रव्य नहीं है २, स्व परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य है और नहीं है ३, स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव और परद्रव्य, क्षेत्र काल, भावों से युगपद् कहे जाने की अपेक्षा-अर्थात् नहीं कहा जासकता-द्रव्य अवक्तव्य है ४, स्वद्रव्यक्षेत्र काल, भाव और युगपत् स्वपरद्रव्य क्षेत्र काल भावों की अपेक्षा द्रव्य है और अवक्तव्य है ५, परद्रव्य क्षेत्र काल भाव और युगपत् स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल भावों की अपेक्षा द्रव्य नहीं है और अवक्तव्य है ६, स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव तथा युगपत् स्वपरद्रव्य, क्षेत्र, काल भावों की अपेक्षा द्रव्य है और नहीं है तथा अवक्तव्य है ७,।

इस तरह सप्तभंगी समाप्त हुई।

सवैया इकतीसा—सुख विशुद्ध ज्ञानरूप सदा चिदानंद करता न भोगता न परद्रव्यभाव को,
मूरत अमूरत जे आनद्रव्य लोकमांहि ते भी ज्ञानरूप नहीं न्यारे न अभाव को।
यहै जानि ज्ञानी जीव आपकूं भजै सदैव ज्ञानरूप सुखरूप आन न लगाव को,
कर्म कर्मफलरूपचेतनाकूं दूरि टारि ज्ञानचेतना अभ्यास करे शुद्ध भाव को॥१॥

इस प्रकार समयसार ग्रंथ की आत्मख्याति नाम टीका की वचनिका में सर्वविशुद्धज्ञान का स्याद्वाद अधिकार पूर्ण हुआ। इति स्याद्वाद अधिकार॥

यस्माद्द्वैतमभूत् पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रांतरं ।
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः ।
भुंजाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्नाक्रियायाः फलं ।
[1]तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किंचिन्न किंचित् खलु ॥२७७॥
स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैः
व्याख्याकृतेयं समयस्य शब्दैः ।

संस्कृतटीकाकार का वक्तव्य—अब संस्कृत टीका पूर्णकर अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं कि आत्मा में परसंयोग से अनेक भाव होते हैं। उनका वर्णन ग्रन्थों में है इसलिये सभी वर्णन इस विज्ञान घन में मग्न हुये कुछ भी नहीं दीखते।

यस्मात् इत्यादि। **अर्थ**—जिस परसंयोगरूप बंध पर्यायजनितअज्ञान से प्रथम तो अपना और पर का द्वैतरूप एकभाव हुआ, पुनः उस द्वैतपने से अपने स्वरूप में अंतर हुआ अर्थात् बंध पर्याय को ही आप जाना, उस अंतर के पड़ने से रागद्वेष का परिग्रहण हुआ, उसके होने से क्रिया और कर्ता कर्म आदि कारकों से भेद पड़ा, उस क्रिया कारक के भेद से आत्मा की जो अनुभूति है वह क्रिया के सब फल को भोगती खेदखिन्न हुई। ऐसा अज्ञान है। इसलिये जब ज्ञान हुआ तब उस विज्ञानघन के समूह में मग्न हो गया। अब इसको देखा जाय तो कुछ भी नहीं है, यह प्रगट अनुभव में आता है।

भावार्थ—अज्ञान है वह पर संयोग से ज्ञान ही अज्ञानरूप परिणमित हुआ था, कुछ दूसरी वस्तु तो थी नहीं। इसलिये अब ज्ञानरूप परिणमित हुआ तब कुछ भी न रहा। उस समय इस अज्ञान के निमित्त से राग-द्वेष, कर्ता-कर्म, सुख-दुख आदि भाव होते थे वे भी नष्ट हो गये, एक ज्ञान ही रह गया। तीन कालवर्ती अपने पर के सब भावों को आत्मा ज्ञाता द्रष्टा हुआ देखना चाहिये ॥२७७॥

आगे अमृतचन्द्र आचार्य इस ग्रंथ करने के अभिमानरूप कषाय को दूर करते हुये यथार्थ कहते हैं—**स्वशक्ति** इत्यादि। **अर्थ**—यह समय अर्थात् आत्मवस्तु तथा समयप्राभृत नाम शास्त्र, उसका व्याख्यान या यह आत्मख्याति नाम टीका शब्दों से की गई है। कैसे हैं शब्द? अपनी शक्ति से ही अच्छी तरह कहा है वस्तु का यथार्थस्वरूप जिन्होंने। निज आत्मस्वरूप अमूर्तीक ज्ञानमात्र, उसमें गुप्त होने वाले (प्रवेश करने वाले) मुझ अमृतचन्द्र सूरि का कुछ भी कर्त्तव्य नहीं हैं।

भावार्थ—शब्द हैं वह तो पुद्गल है सो पुरुष के निमित्त से वर्णपद वाक्य रूप परिणमन करता है। सो इनमें वस्तु के स्वरूप के कहने की शक्ति स्वयमेव है क्योंकि शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचक सम्बन्ध है, सो द्रव्यश्रुत की रचना शब्द को ही करना सम्भवती है। आत्मा अमूर्तीक और ज्ञान-स्वरूप है इसलिये मूर्तीक पुद्गल की रचना कैसे करे इसलिये आचार्य ने ऐसा कहा है कि यह समय प्राभृत की टीका शब्दों से की गई है, मैं तो अपने स्वरूप में लीन हूं मेरा कर्तव्य इसमें नहीं है। ऐसा

१. किल तत् किंचित् क्रियायाः फलं अधुना विज्ञानघनौघमग्नं न किंचित्।

स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति
कर्तव्यमेवामृतचंद्रसूरेः ॥२७८॥

इति श्री—अमृतचन्द्राचार्यकृता समयसारव्याख्या आत्मख्यातिःसमाप्ता ॥

कहने से उद्धतपने का त्याग भी आता है। तथा निमित्तनैमित्तिक व्यवहार से ऐसा ही कहते हैं कि विवक्षित कार्य उस पुरुष ने किया, इस न्याय से अमृतचन्द्र आचार्यकृत यह टीका है ही। इसी न्याय से पढने सुनने वालो को उनका उपकार भी मानने योग्य है। क्योकि इसके पढने सुनने से परमार्थ आत्मा का स्वरूप जाना जाता है। उसका श्रद्धान आचरण होने पर मिथ्याज्ञान-श्रद्धान-आचरण दूर हो जाते हैं और परम्परया मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिये इसका निरतर अभ्यास करना योग्य है।

इस प्रकार समयसार ग्रन्थ की आत्मख्याति नामा टीका समाप्त हुई।

यहाँ तक गाथा तो ४१५ हुई और कलश काव्य २७८ हुये।

भाषाकार का वक्तव्य

सवैया इकतीसा—कुद कुद मुनि कियो गाथाबध प्राकृत है प्राभृत समय शुद्ध आतम दिखावनू,
सुधाचन्द्रसूरि करी सस्कृत टीकावर आतमख्याति नाम यथातथ्य भावनू।
देश की वचनिका मे लिखि जयचन्द्र पढै सक्षेप अर्थ अल्प बुद्धिकू पावनू,
पढो सुनो मन लाय शुद्ध आतमा लखाय ज्ञान रूप गहौ चिदानन्द दरसावनू ॥१॥

दोहा—समयसार अविकार का वर्णन कर्ण सुनत,
द्रव्यभावनोकर्म तजि आतमतत्त्व लखत ॥२॥

इस प्रकार इस समयप्राभृत नामा ग्रन्थ की आत्मख्याति नामा सस्कृत टीका की देश भाषामय वचनिका लिखी है। सो यह उसका सक्षेप भावार्थरूप अर्थ लिखा है। सस्कृत टीका मे न्याय से सिद्ध हुये प्रयोग है, उनका विस्तार करो तब अनुमान प्रमाण के प्रयोग, प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय और निगमन रूप हैं उनका स्पष्टत व्याख्यान लिखा जाय तो ग्रन्थ बहुत बढ जाय इसलिये आयु, बुद्धि बल, स्थिरता अल्प होने से जितना बन सका उतना सक्षेप से प्रयोजनमात्र लिखा है उसको पढकर भव्य जीवो ! पदार्थ समझना, और कुछ अर्थ मे हीनाधिकता हो तो हे बुद्धिमानो ! मूल ग्रन्थ से जिस प्रकार हो, उस प्रकार समझना। काल दोष से इन ग्रथो की गुरुसप्रदाय का व्युच्छेद हो गया है इससे जितना बनता है, उतना अभ्यास होता है। जैनमत स्याद्वाद रूप है सो जो जिनमत की आज्ञा मानते है, उनके विपरीत श्रद्धान नही होता। कही अर्थ का अन्यथा समझना भी हो जाता है तो विशेष बुद्धिमान का निमित्त मिलने से यथार्थ हो जाता है। जिनमत के श्रद्धान करने वाले हठग्राही नही होते ऐसा जानना चाहिये।

अब अत मगल के लिये पच परमेष्ठी को नमस्कार कर ग्रथ समाप्त करते हैं—

मगल श्री अरहत घातिया कर्म निवारे,
मगल सिद्ध महत कर्म आठो पर जारे।

आचारज उवज्झाय मुनी मंगलमय सारे,
दीक्षाशिक्षा देय भव्य जीवनि कूं तारे ।
अठवीस मूल गुण धार जे सर्व साधु अनगार हैं,
मैं नमूं पंच गुरु चरण कूं मंगल हेतु करार हैं ॥१॥

जैपुर नगर मांहि तेरा पंथ शैली बड़ी बड़े बड़े गुणी जहां पढ़ें ग्रन्थ सार हैं,
जयचन्द्र नाम मैं हूं तिनि में अभ्यास किछु कियो बुद्धिसारू धर्म रागतें विचारे हैं ।
समयसार ग्रन्थ ताकी देश के वचन रूप भाषाकरी पढ़ो सूनूं करो निरधार है,
आपा पर भेद जानि हेय त्यागि उपादेय गहो शुद्ध आतम कूं यहै बात सार है ॥२॥

संवत्सर विक्रम तणूं अष्टादशशत और
चौसठि कातिकवदि दशै पूरणग्रंथ सुठौर ॥३॥

इस प्रकार श्रीमत्कुंदकुंदाचार्यकृतसमयप्राभृतनामा प्राकृतगाथाबद्धग्रंथ की अमृतचंद्राचार्यकृत आत्मख्याति नामा संस्कृत टीका के अनुसार पं० जयचन्द्रकृत यह संक्षेप भावार्थ मात्र भाषाटीका सम्पूर्ण हुई ।

॥ समाप्तोऽयं समयसारः ॥

॥ अथसमयसारस्य अकारादिक्रमेण गाथासूची ॥

॥ तात्पर्यवृत्तिगत अतिरिक्त गाथाएं ॥

॥ अथ कलशकाव्यानां अकारादिक्रमेण सूची ॥

ACHRYA KUNDKUNDA'S

आचार्य कुन्दकन्द मूल रचियता

SAMAYA SAR

समय सार

ALONGWITH
COMMENTRIES

टीका कार

सस्कृत आत्मख्याति	श्री अमृतचन्द्रा चार्य
SANSKRIT ATMAKHYATI	SHRI AMRIT CHANDRA ACHARYA
सस्कृत टीका तात्पर्यवृत्ति	जयसेना चार्य
SANSKRIT TATAPARYAVARTI	JAYASEN ACHRYA
हिन्दी टीका	प जय चन्द जी
HINDI	PT JAI CHAND JI

AND
एवम्

ENGLISH INTRODUCTION (PAGE 1 TO 12)

अंग्रेजी भूमिका

TRANSLATION OF ORIGINAL VERSES(PAGE 13 TO 43)

मूल का अनुवाद

BY

SHRI RAJKRISHEN JAIN

श्री राजकृष्ण जैन

DR A N UPADYE, KOLHAPUR

डा आदिनाथ नेमनाथ उपाध्ये

Ex Chairman Deptt of Jainology & Prakrit Mysore University

Published By

AHIMSA MANDIR PRAKASHAN

1-DARYA GANJ, NEW DELHI - 110 002
PHONE 3267200

INTRODUCTION

Samayasara which means 'Essence of the Self', is the most mystical of Kundakunda's works. It deals with the self from the point of view of ultimate reality (Suddha Nischaya); and its study by laymen is discouraged by some of the orthodox Jaina Pandits on the authority of Pūjyapāda as it is likely to lead immature minds astray by weakening discipline of conduct and sense of individual responsibility. The bulk of the original scripture, the 12th part of the Anga literature, known as Drstivāda on which the work is based has been lost, and probably the prejudice created against its study by the orthodox section of the community is partly responsible for the loss, apart from the inherent difficulty of the subject matter itself.

The alternative title, Samaya-Pāhuda (Prābhrta, Sanskrit), used by the author in the opening verse literally means 'Present of the Self' (to the Divine Being). The Drstivāda was divided into 14 Purvas or books, one of which dealt with knowledge (jñāna). Each Pūrva was divided into sections which were again sub-divided into what are called Prābhrta-Adhikāras; and one of these dealt with Samaya-Prābhrta which would thus mean simply a section. But it is possible that the term was adopted in the Anga literature itself on account of its figurative appeal.

There are two recensions of the text available, both with exhaustive commentaries, one called Ātmakhyāti by Amritacandra who flourished in the 10th century A.D., and the other called Tātparyavrtti by Jayasena who is placed in the 13th century A.D. The Ātmakhyāti has a Hindi commentary by Pandit Jaya Candra, and Tātparyavrtti by Brahmachari Sital Prasadji, J.L. Jaini's English edition follows Tātparyavrtti. Amrta-candra was not only the older but far more learned of the two principal commentators; and he has incorporated in his poem/commentary an independent Sanskrit poem of his own, about two thirds of the size of Kundakunda's work. On the other hand Jayasena gives 22 additional verses as part of the text itself and variations in the reading of some of the verses which cannot be attributed to a scribe in copying. He also cuts up the last chapter of the previous recension into two, his last chapter appearing as a summing up of the subject matter. Additional verses also apear in Jayasena's recension of the text of two other works of Kundakunda's Pravacanasāra and Pañcāstikāyasara.

It is not possible to conceive of any reason for Amrta-candra's omission of the verses. Slovenly work could not be expected from a great scholar like him, and brevity, was obviously no consideration with him as he has put in a whole poem of his own composition into the commentary. May be that the additional verses appear to be a subsequent interpolation. They might be the work of some one who had mastered the language, and manner of the original, from which they are considered to be indistinguishable. But on careful study it will be seen that sometimes they interrupt the author's argument unnecessarily; and. at least on one occasion, they cut right across it. In verse 219 Kundakunda compares the soul of man of true knowledge to gold which even in the midst of mud retains its purity. Verse 220 continues the argument, the soul being compared to the shell of the couch which retains its whiteness whatever the creature may be eating. In between, Jayasena puts in three

verses stating how a man with faith, knowledge and austerities can purify his soul as alchemists could convert base metal into very much gold This goes against Kundkunda's position, which is generally accepted position in the Jaina doctrine that Karmas only obscure the true character of the soul as mud may cover gold, and emancipation reveals its true nature, but does not convert it into something different as an alchemist may convert base metal into gold Jayasena has not given any explanation for the additional verses, and the circumstances point to him having been the author of the verses

To the modern mind there is something heinous in any one tampering with old texts like this In India, however, many old works have received such treatment even from authors of great merit and originality, who have preferred to remain anonymous, not with the idea of committing a fraud, but from a sense of modesty and selflessness It is possible that Jayasena put in the additional verses in a similar frame of mind, but the controversial verses in Pravacansāra do not support this charitable interpretation Many Jaina writers begin their work by inviting the reader himself to rectify mistakes of ommission and commission on their part

Amrta candra s text, which appears in Pandit Jaya Chandra s Hindi commentary, has been adhered to in this translation In interpretation there is no difference between the commentators, old or modern

The following summary puts in brief the argument as presented by the author himself

THE SELF

The soul poised in right vision, knowledge and function is the ture self, but that permeated by Karmic matter is other than self

The Self which has realised its oneness is supreme in the Universe, Karmic bondage of such a self is untenable

Bondage and sense-gratification are often heard of, known and experienced and therefore easy to understand, but one-ness of the self is not easily realised

The self is only the knower, lax or rigid discipline does not pertain to it, and what it knows is also itself

The differentiation of faith, knowledge and conduct is simply conventional and does not apply to pure consciousness Convention, however, is indispensible at the preparatory stage like a non Aryan language in instructing a non-Aryan

He is called a Śruta kevalin whose knowledge of the scripture has helped him to realise the self as absolutely pure

The conventional point of view does not bring out reality which the soul of right faith looks out for It is meant only for those who have not yet reached the higher stage

Insight, from the point of view of reality, into the nature of soul, non-soul, merit, demerit, inflow of Karmas, stoppage of Karmas, shedding of Karmas, bondage and emancipation is right faith

From the point of view of ultimate reality the self is undifferenced, incorruptible, self-governed and unrelated.

The soul perverted by ignorance (Ajñāna) identifies itself with matter whether bound with the soul (like Karma) or not; but the All- Knowing has said that the soul is never without consciousness (upayoga) how can it be matter?

If you object that the body being different from the soul, the worship of Tīrthankaras and Ācaryas becomes meaningless, the answer is that from the practical point of view the soul is not different from the body. The holy man when worshipping the Kevalin's body is really worshipping the attributes of the Kevalin's soul.

One who has subjugated the senses and got rid of delusion realises the self.

Knowledge of the self is true renunciation, as all activities of the mind (other than pure consciousness) are discarded by the man of self- realisation. "I am only the knower free from good or bad thoughts, verily I am only one; pure intuition and knowledge are my very substance; I am not material", this is what he realises.

SOUL AND NON-SOUL

Some persons who are ignorant of the ture nature of the self identify the self with mental apprehension (Adhyavasānam), others with action (Karma), others still with variations in mental stortes, with the Karmas which determine before birth, the details of bodily structure with the fruition of Karmas, with the resultant of the qualities of Karmas, intense or mild; with a combination of soul and Karma, with a combination of different Karmas. All these are modes of expression of Karmic matter of eight kinds, not the soul; and they are the cause of misery for the soul. For practical purposes, however they are spoken of as the soul as the king going out with his entourage is simply referred to as the king.

In reality the soul is one, without taste, colour or smell, imperceptible by the senses, not cognisable by any sign, or form, and always with the attribute of consciousness. Attachment and aversion, delusion, active or quiescent Karmas, and cognition or inclination for Karma (pratyaya) are not of it, nor the power regulating the conglomeration, ingress and fruition of Karmas, their bondage and shedding and the various stages of spiritual development arising therefrom. Otherwise soul would acquire the characteristic properties of matter, or matter attain emancipation and become soul.

ACTION AND THE AGENT

So long as the soul does not distinguish between the self and the causes of inflow of Karma, i.e., the attraction of the senses towards external objects, it remains ignorant and indulges in the passions — anger, pride, guile, and greed. Thus it accumulates Karmas, resulting in bondage. As soon as it acquires the necessary descrimination, bondage stops, and realising impure mental state to be alien to itself and the cause of its misery, the soul gives it up.

It feels the self as one, pure and full of knowledge and intuition, poised in such pure consciousness, it destroys Karmas.

The self possessed of right knowledge realises that it cannot function as, or appropriate or get transformed into non-self, and vice-versa. It is only the knower of the multifarious fruits of Karmas.

Matter evolves as Karma owing to the soul's mental state, and Karmic Matter's reaction also transforms the soul. Neither the soul acquires the properties of Karma, nor vice-versa; but the two act and react on each other, the soul being the primary cause only of its own mental state. From the conventional point of view, however, the souls considered to be the doer as well as the enjoyer of multifarious Karmas.

It the soul were the doer and the enjoyer of material karmas two conflicting functions (knower and doer) would be attributed to it which is against the Jaina doctrine. Thus false faith is produced by the association of two things, a soul of wrong vision and non-soul [Karmic matter in the form of vision-obscuring (Darśanāvaraniya) karma]; similarly ignorance, conduct, delusion, Yoga (reaction to some objects) anger, etc. have two sides. The soul has had this association for time without beginning.

In this way the conscious self, essentially pure, becomes the agent of transformations in itself in three ways by wrong vision, wrong knowledge and wrong functioning causing corresponding modifications of Karmic matter. One who realises this renounces all actions, i.e., ceases to identify one's self with Karmas.

Speaking generally, there are four causes of bondage wrong belief, indiscipline, passion and Yoga (reaction of soul to sense-objects). This gives rise to thirteen stages of spiritual development up to that of the fully emancipated soul which is the fourteen and final stage. These thirteen are rendered possible by the operation of Karmic matter and are distinct from the conscious self.

If Karmic matter does not evolve in this manner and bind the soul, mundane existence (Samsāra) would become impossible and the Sānkhya doctrine established unless this property inheres in Karmic matter itself. The soul because of its nature being different cannot cause modifications in it; and if the soul is not affected by Karmic matter, it cannot undergo any modification at all.

Thus from two different points of view the soul is regarded as corruptible or incorruptible by Karmas, whereas the essence of the self is independent of points of view, and so is knowledge of the true self.

MERIT AND DEMERIT

Bad deeds constitute bad conduct and good deeds good conduct, but both alike cause one to wander about in mundane existence, i.e., bondage, and have therefore to be discarded by the seeker after emancipation.

The soul with attachment binds Karmas, one free from attachment sheds them. The supreme objective is the pure self; poisded in contemplation of that the saint attains Nirvāṇa; but not otherwise, even if he performs austerterities and observes all the vows.

The soul is essentially pure, all-knowing and all-seeing; but being covered by the

dust of Karmas, it does not reveal these qualities. Its faith is perverted by false vision, knowledge by ignorance and functioning by passions.

INFLOW OF KARMAS

As stated before with regard to bondage, Āsrava (inflow of Karmas) has also four causes,—wrong belief, indiscipline, reaction of soul to sense-objects and passions, which inhere in the soul, and have their counterpart in Karmic matter of various kinds. Owing to these the soul evolves in multifarious ways.

The soul of right vision stops this inflow, and then is merely conscious of Karmas already accumulated, mental states like attraction, aversion etc. are the cause of bondage, and when these are overcome, the soul remains only the knower, the old Karmas remaining inert in such a soul.

When knowledge is incomplete, its perversion is possible, and it may then be said to be the cause of bondage, so also faith and functioning. Thus may the man of right vision be also affected by old Karmas towards which he may happen to turn his attention (Upayoga) and make them starting points for fresh Karmas. These assume eight forms, as knowledge-obscuring etc. If however he is free from the corresponding mental states, the Karmas remain inert.

STOPPAGE OF KARMA

The knowing self is pure consciousness. The passions, anger etc. do not pertain to it, nor do the eight kinds of Karmas; and the subsidiary Karmas, Karmas and non-Karmas are not consciousness. When this right knowledge arises in the soul, the pure self has no mental state other than consciousness. Karmas do not affect this essential nature of the soul.

The ignorant man identifies his soul with attachment, but the man of knowledge discards good and bad activity, and poised in knowledge and intention, free from desire and all attachment, contemplates one-ness of the self by the self, without being conscious of Karma or non- karma. He thus soon gets free from Karmas and realises the self to be identical with intuition and knowledge (Jñānamaya).

As stated before, the cause of attachment etc., giving rise to Karmas are wrong belief and knowledge, indiscipline and contact of soul with sense objects. When these disappear, the inflow of Karmas stops, and the subsidiary Karmas work off themselves, leading to emancipation 'rom mundane existence.

SHEDDING OF KARMAS

Contact with the outside world produces pleasure or pain. If one knows it to be due to the fruition of Karmas, the Karmas drop off on fruition and no fresh ones are drawn in, as a man learned in the science of medicine may take poison without killing himself. One who takes liquor with indifference does not become intoxicated by it; so also may the man of knowledge take his enjoyment without becoming bound by Karmas.

"I am one, simply the knower by nature. Anger is not my mode, it is simply caused by the evolution of Karmic matter". So feels the man of knowledge and is not affected by Karmas. If however there is the slightest trace of attachment in him, it shows that he does not realise the nature of the self.

Freedom from ties means freedom from desire. So the man of knowledge entertains no desire even for virtue. He is only the knower, immutable and independent and retains his true character even in the midst of Karmic dirt like gold in mud.

THE EIGHT ATTRIBUTES OF RIGHT FAITH

The man of right faith is free from 1. doubt and therefore fear; 2. from desire for the result of Karmas, even reward for a relgious life; 3. from hatred or disgust; 4. from superstition; 5. he contemplates the emancipated self and suppresses all other thoughts; 6. keeps his soul steadfast on the right path; 7. has love for three gems faith, knowledge and conduct, which lead to emancipation; and 8. proclaims the glory of the Jinas' faith by true knowledge and self- restraint.

BONDAGE

A man smeared with all is coated with dust if he performs various exercises in a dusty place; not so a man free from oil. Similarly the man of right faith may engage in multifarious activities without accumulating the dust of Karmas if he is free from feelings of attachment etc.

One's own Karmas are responsible for life and death, happiness and misery. It is wrong of you to say that you give life or death, happiness or misery to others and vice versa. Your identification with such acts depends on your own mental state. Similarly with regard to the other virtues :- non-stealing, truth, chastity and contentment. It is not the material act that causes bondage, but your inner response to it (Adhyavasanam) which is the determining factor (Buddhi, Vyavsāya, Adhyavasāna, Mati, Vijñāna, Chintā, Bhāva, and Pariṇāma, are all synonyms for this purpose).

This goes against the conventional point of view which enjoins vows, austerities, restraint and virtue. These the man of wrong faith may observe without coming nearer emancipation, as he is aiming at future reward and not the destruction of Karmas.

EMANCIPATION

By merely knowing the shackles that bind one, or thinking of them a man cannot get freedom, unless he strives to break them and throw them away. So also the soul bound by Karmas must know its own nature and that of the bondage and then strive for freedom; the Karmas will thus be chiselled off by discriminating self from non-self. When there is self-realisation, there will be no more bondage. The real ego is the knowing or conscious self, the seer, other thoughts and feelings should be discarded as non-self.

The soul forgetful of its true nature sins against itself even if engaged in virtuous acts like repentance, steadfastness, self-control, confession, expiation etc.

ABSOLUTE KNOWLEDGE

The properties of a substance are not different or separable from the substance itself and persist through its modifications.

The self is neither created nor a creator; but is born and dies on account of unknown Prakṛti (in the shape of Karmas) and it reacts on Prakṛti also, and the association of the two produces Saṃsāra or mundane existence.

So long as the self does not break this association, it remains ignorant, perverted and uncontrolled. It is emancipated when it discards the fruition of Karmas and acquires right knowledge and intuition.

The ignorant man limited by Prakṛti experiences the fruit of Karmas, the man of knowledge is only aware of the fruition, but is not affected by it.

In the opinion of the people in general, Vishṇu creates various forms of life. If the śramaṇas hold that the self does so, there would be no distinction between the two, and neither would get release. They both identify the pure self with non-self.

If the soul causes wrong belief in a material substance, then wrong belief inheres in matter. If soul and Prakrti together cause wrong belief in matter both must bear the fruit. If all processes, ignorance, knowledge, wrong belief, happiness, misery, sleep, awakening etc., are assigned to Karmas then the souls are made in- active and responsibility for conduct ceases. It is also wrong to hold that the soul is not inactive because it creates itself, as the soul is eternal and all knowledge and all-pervading by nature, and so it remains.

Every substance retains properties peculiar to it. The man of right vision knows that sense-objects have no property in common with the soul and is not therefore attracted by them.

Love, hatred, delusion etc., are modes of the soul and cannot inhere in material objects. A substance can neither create, nor destroy the peculiar properties of another entirely different from itself.

An artisan does his work with some raw material, his bodily organs and the help of instruments without becoming identified with them, but he enjoys the fruit of his labour. Similar is the relationship between the soul and Karmas from the conventional point of view. In reality, the artisan is identified with his endeavour and is worried by it so also is the soul by the mental states. The knowing self however remains only the knower and it knows and believes in all substances without becoming identified with them as chalk whitens a wall without being converted into it.

The knowing self can discard non-self in the shape of Karmas by its own inherent power; if the dispositions which created bondage are controlled, the old Karmas drop off, which is repentance, future Karmas are not attracted, which is renunciation; and present Karmas are not accumulated, which is true confession.

Karmic matter evolves various forms of sound, colour or shape, smell taste and touch, which left to themselves are inert. They are merely objects which the ignorant soul

appropriates by its mis-guided activity, and fails to realise its true character which would lead to emancipation Experiencing the fruition of past Karmas, it accumulates fresh Karmas of eight kinds, which are the source of misery

Knowledge is different from all material objects including the scripture, it is also different from Dharma and Adharma, space and time which are incorporeal, it is different from mental states (Adhyavasānam) which are objects of consciousness and not themselves conscious The soul is always the knower and it is nothing but knowledge itself, belief and conduct, the scripture, merit and demerit and initiation So the enlightened know it to be

The soul is non-meterial and incapable of grasping or releasing other substances, animate or inanimate Insignia by themselves do not constitute the path of salvation, which consists of right belief, knowledge and conduct Keep the self on the path and make it realise and meditate on its true nature Insignia have only conventional significance

CONCEPTION OF THE SELF

Kundakunda isolates the knowing or conscious self from all else –body the senses mind, intellect, understanding passions, emotions, in fact the whole range of psychic activity which he classifies as nonself The self just knows everything How are we to know this knower of all? Self consciousness is a fact of experience but reason in realising it, cannot take us very far It may barely recognise such a separate entity as the a knowing self which it may even try to explain away, or identify with some entity in the category of non self Systems which adopt this attitude are summarily disposed of as wrong The only argument urged against them is that consciousness is a distinctive property of the self and cannot manifest itself in non self by any means A substance (Dravya) always retains its distinctive feature and matter cannot develop consciousness just as it cannot function as space or time

When it comes to formulating the nature and attributes of the self Kundakunda falls back on the authority of the Jina who had actually experienced the self, and is quoted again and again throughout the work He claims to have verified that authority by his own experience which appropriately enough he does not stress Like Jaina writers as a class Kundakunda does not want to be dogmatic He seems to have realised that in judging a religious doctrine independently, whatever is based on the personal experience of individuals has to be treated as an assumption and it has to be seen how far the assumption is justified by logic and how far it is helpful in evolving a system answering best to the needs of man What if the reader who accepts the existence of separate conscious self, but has either not experienced it or experienced it differently? For the former he prescribes the conventional or practical course (Vyavahāra) of moral conduct, self control, the discipline of austerities and meditation which may help him to see light To the latter his advice seems to be to follow his own line of experience Kundakunda says nothing more but there have been Jaina thinkers who laid down that all those who see identical selves working in themselves and all other beings are difinitely on the path of salvation

As in all other important works of his, the question is examined from two points of view, Niśchaya or reality and Vyavahāra or convention Kundakunda himself makes no mention of the cognate doctrine of Syādvāda, but the conventators make free use of it in

their discussions. Ordinarily a Naya or stand point is represented as revealing a phase of truth, but as this work is addressed to ultimate reality, the question of a phase of truth does not arise. Nisćhaya is declared as true, revealing reality, and concerned with the supreme end, Whereas Vyavahāra is the reverse of all these. It does not, however, follow that Vyavahāra is, therefore, of no consequence. If has practical utility in the preparatory stage as knowledge of a non-Āryan dialect for instructing a non-Āryan, or it may only provide a convenient mode of expression as a king is said to fight when the battle is actually conducted by his warriors. Reality is independent of points of view which hold good only so long as knowledge is incomplete. When knowledge is whole, it reveals the whole truth, and is identical with the self.

The feature of the self which Kundakunda singles out for special emphasis at the very begining is its 'one-ness'. As Jainism does not posit one universal consciousness the question arises what Kundakunda means by one-ness. He only says that bondage cannot be predicated of such a self which shows that he refers to the emancipated self. Commentators explain that by one-ness the author means the absolute identity of all emancipated selves, their functioning entirely by themselves as pure knowledge and intuition, their being free from the differentiation of intuition, knowledge and conduct and the distinctions of knowledge, the knower and the known, of object and its attributes and of substance and its qualities each self being one indivisible and self sufficient whole.

The self is also incorruptible, undifferenced immutable unqualified and unrelated a description reminiscent of Upanishads. It has perfect knowledge not as an attribute but as its very constitution. The last verse also indicates that its state is one of supreme bliss. Infinite energy (Vīrya) which other works of Kundakunda give as another attribute finds no mention in this work. Why the question arises the mundane soul is so different from the self pictured here?

BONDAGE

The reason is that the mundane soul is associated with Karmas of various kinds, an arrangement which has had no beginning but can be ended. The bondage is kept up by ignorance of the true nature of the self or entertaining false notions about it, so that the soul has formed the habit of identifying itself with some form of non-self. This gives rise to attachment to or aversion from objects of sense gratification, resulting in various passions. Contact with the outside world and temptation coupled with lack of discipline keeps on feeding the flame. If the root cause is removed, that is to say the true nature of the self is realised, the first and the most difficult step towards final release will have been taken. The rest will be a question of discipline, self-control, and meditation which will deepen faith and widen knowledge and purify life, leading finally to full and direct realisation of truth in one sweep.

MECHANISM OF BONDAGE

The law of Karma, transmigration, bondage, soul and emancipation are features common to most of the Indian religious systems though the conceptions are varied to fit into

the general metaphysical background of each system. The Jaina doctrine gives Karma a subtle material structure sufficiently varied in character to correspond to all conditions of life mental and physical. They are devided into eight principal classes. There are Karmas which obscure knowledge and intuition, which pervert vision and conduct and obstruct progress, which determine age, class of being, family etc., or the amount of pleasure or pain etc., which is to fall to one's lot and so on. There are also subsidiary Karmas (no-Karmas) which determine the details of bodily structure. This Karmic matter is inert by itself, but it gets a grip on the soul the moment its Upayoga or attention is turned to it. The mundane soul is permeated by this stuff which gives it a body (Kārmaṇa Śarīra) confining the soul within itself but capable of adjustment to the size of the body which the soul may occupy from time to time. Every act of the individual has two sides to it – a mental state such as desire, anger etc., (Bhāva Karma) which are modes of the soul though alien to its true nature, and the corresponding class of Karmic matter (Pudgala or Dravya Karma) which is drawn into the soul and affects its behaviour in future. Compared with the bliss attained on emancipation, every form of mundane existence including that in heaven (Svarga) is one of suffering, mental or physical, and the difference between good and evil is therefore only one of degree, not of kind. Both lead to bondage and a chain is a chain whether made of gold or iron.

To take an illustration, a doctor treats a patient with pure motive and every possible care without overestimating his skill to tackle the malady. His mental state is meritorious and he draws in Karmas which will tend to improve his lot in this or a future life. This is independent of what actually happens to the patient. He lives or dies according to his own Karmas. If, on the other hand, a robber plans out plunder and murder, the mischief to his soul is done whether his plans are put into execution or not and whether they succeed or fail. The fate of the soul is determined by the Bhāvas or dispositions in each case, their translation into action depending on the interplay of Karmic forces. To explain how material Karmas affect the non-material soul without altering its essential character, the stock illustration of Hindu religious literature, – that of a crystal in conjuction with a coloured substance is used by Kundakunda also (verse 300).

THEORY OF EMANCIPATION

It has been observed already that the root cause of the soul remaining in bondage is its ignorance of its true character or a false conception of it. The veil is not lifted by an outside agency, but the capacity is inherent in the soul itself. Once it has realised its true nature it will tend to discard non-self as alien to it. Kundakunda at places seems to consider practical conduct and austerities as of no moment but of course what he means, as is clear at other places, is that the individual has to rise above mere observance of form and see the spiritual aspect of all things. Refraining from killing, stealing, falsehood, unchastity and greed (the five vows of Jainism) will be of no avail if the mind is not purified.

If attention is turned towards pleasure or pain it will of course be experienced and the chain of Karmas strengthened. If they are undergone with equanimity, they will only represent the fruition of past Karmas, which will thereafter drop off automatically, and no new Karmas will be contracted. It may thus come about that the man of knowledge even in

the the midst of sensuous enjoyment will be coming nearer emancipation and an ignorant man engaged in pious austerities, with an eye on reward, will be only prolonging bondage.

Kindakunda seems to make no distinction in this work between faith, knowledge and conduct. As matter of fact the stage which he contemplates is free from this distinction, conduct meaning the functioning of the soul according to its true nature which is vision (Darśana) and knowledge (Jñāna) or faith and knowledge and conduct become equality with each other and with the self. From this point of view the eight attributes of right faith which includes the basic virtues of courage, contentment, humility, charity and love would mean: (1) Freedom from doubt, because owing to the destruction of the very foundation of bondage there is freedom from fear. (2) Desirelessness because there is no desire for the fruition of Karmas. (3) Freedom from disgust for all things, animate or inanimate as they are all behaving according to their nature. (4) Freedom from superstition as the nature of Karmas is understood clearly. (5) Covering up defects — getting ride of all impure thoughts in one-self. (6) Confirmation in the right path — of one's own soul. (7) Love — for the three jewels, faith, knowledge and conduct. Lastly (8) Proclaiming the glory of faith — by controlling the mind in the light of knowledge.

Confession, repentance and renunciation are the conventional means of fighting sin, present, past or future; but control of the dispositions which create bondage that is to say attachment and desire covers all these.

It is clear that by knowledge, in this work, Kundakunda means self- experience. The state which he is depicting is not that of knowing, but of being something different form the ordinary individual even the most virtuous individual on the empirical plane, immoral conduct, virtuous enthusiasm and passionate devotion assiduosly cultivated in the preparatory stage have all become superseded or rather sublimated. There is indifference to the outside world of joy and suffering, ordeal and struggle but it is not callousness and is in fact compatible with infinite compassion. The mental attitude is comparable to that of a kind-hearted gentleman who comes across a child crying over a broken doll and passes on with an amused smile, knowing as he does that the child will grow out of the mentality which is the cause of his suffering. On the authority of those who have experienced it, the state is said to be one of positive bliss; and their greatest service to humanity has been that they have shown the way to achieve it. For this reason they are considered worthy of adoration. No direct help can be expected of them, but the individual may draw what inspiration he can from their example.

CRITICISM OF OTHER DOCTRINES

The only doctrine to which criticism has been meted out specifically by Kundakunda is the Sānkhya. The main objection urged against it is that by making the self (Puruṣa) altogether incorruptible it makes mundane existence (Saṁsāra) impossible, an objection that was also urged by Śaṅkara, the author of Advaitism, some centuries later. There is also the moral objection that an inactive Purusa will be an irresponsible Puruṣa even during mundane existence. The objection that the system attributes to non-self (Prakṛti) functions

involving modes of consciousness is shared by the Sānkhya with some other systems. The criticism that the self responsible for action is different from that which has to bear the consequences relates to Buddhism.

The other doctrines referred to fall into two categories, viz. (1) those in which the conception of the self is wrong, it being identified with some form or other of non-self and (2) theistic systems which attribute creation or mundane activity to the Highest Self (Vishṇu). The former receive summary disposal as wrong, the difference with them being fundamental. The latter are not considered essentially different from the doctrine of the Śramaṇas or Jainas who do not rise above the conventional standpoint. It would appear that Kundakunda would have no quarrel with a theistic system which made the Creator part of the phenomental world put placed above Him a Higher Self free from Karmic activity. If, however, the physical world was made a manifestation of the highest self the system world be open to the same objection as the Sānkhya, viz., attributing two conflicting functions to one reality.

In other works Kundakunda the Vedānta system is criticised under the generic term of Ekāntavāda for clinging to one single point of view, the Nischaya point of view in this case. The obvious implication is that he does not consider the system wrong from that point of view and as Samayasāra stresses only Niśchaya it contains no specific criticism of Vedānta. The term is applied to various cognate systems, all accepting the authority of the Vedas and the Upanisads, and positing a Universal self. The divergent systems of Śaṅkara and Rāmānuja had not yet been born, but in actual practice the term Vedānta has come to be identified with Śaṅkara's Advaitism owing to the great ability, originality and vigour of that thinker.

CHAPTER I

1. Bowing to all the Siddhas who have attained a state of existence immutable, immobile and incomparable, I will speak of this Samaya-pāhuḍa which has been uttered by the Masters of Scripture, or Śrutakevalins.

(Siddhas are emancipated souls which are all alike, all-pervading and interpentrable. They thus constitute one uniform mass of consciousness filling the Universe.)

Dhruvam (immutable) also suggests "independent functioning"- like an axis revolving round itself.

2. Know the soul poised in (right) functioning, intuition or faith and knowledge to be the true self; know that soul bond spatially by Karmic matter to be other than self.

(Faith (darśana), Knowledge (jñāna) and Conduct (Charitra) are the three "gems" of the Jaina doctrine leading to emancipation. As will be seen later on, they become, at the final stage, equated with each other and with the self. The terms adopted in the translation follow the niśchaya point of view)

3. The self which has realised its one-ness is supreme in the Universe. To predicate bondage in oneness is therefore incompatible.

4. Accounts of desire, gratification and bondage are heard, understood and experienced by all; but realisation of oneness of the isolated self is not easy.

5. That isolated oneness I will (try to) show with all my spiritual resources, if I make you see it, accept it, if I fail, do not accept (what would strike you as) deception on my part.

(In commenting on this verse Amritacandra says that the author lays stress on individual experiences among the various means of realisation. Hence the use of the word deception (chala).

6. The knowing faculty is not (a question of) lower or higher (stages of spiritual growth). So it is called pure and the knower is even itself (in all circumstances) and the self is the subject of such knowledge faculty.

(The reference is to the 14 stages of spiritual growth beginning with the soul of wrong belief and ending with the liberated soul. The first 6 stages are marked by absence or laxity of discipline (pramatta).

7. Conduct, belief and knowledge are attributed to the knower from its conventional points of view. (In reality) there is no (differentiation of) knowledge, conduct and belief, in pure consciousness.

8. As a non-Āryan cannot be made to grasp (anything) excepting through his own language, so without convention, instruction about the absolute is not possible.

9. Him who, through the Scripture, realises the self to be absolutely pure, the holy illuminators of the world call a master of scripture (śruta-kevali).

10. The Jinas call him a Śruta-Kevalin who has full knowledge of the scriptures; as all scriptural knowledge (inheres in) in the self, therefore (the knower of the self) is Śruta-Kevalin.

11. The conventional standpoint (relates to) the unreal; the pure point of view is said (to relate to) the real; verily the soul that follows the real is one of right vision.

(Śuddha here means Śuddha-niścaya or the point of view of ultimate reality).

12. The pure substance from the pure standpoint should be known by the seers of the supreme state of the soul; and those stuck at a lower stage should be instructed according to convention.

13. Insight into (the nature of) Soul, non-soul, virtue, vice, inflow of Karmas, stoppage of Karmas, shedding of Karmas, bondage and emancipation from the point of reality (constitute) right faith.

14. Know that to be the pure standpoint which sees the self as free (from Karmas), isolated, immutable, undifferenced (niyataṃ) and un- related.

(The soul essentially remains what it has been. Karma or prakṛti does not deprive it of any of the properties inherent in it, but prevent their manifestation owing to certain dispositions produced in it by contact with prakṛti).

15. He who sees the self as free (from Karma), isolated undifferenced and immutable sees the whole Jaina doctrine in the body of the scripture.

16. Faith, knowledge and conduct should always be cherished by saints; again, in reality, know all these three to be even the self.

(In the emancipated self faith knowledge and conduct become equated with each other and with itself). (V.7)

17 & 18 As a man desirous of wealth knowing the king believes in him and assiduously serves him, even so should king soul desirous of emancipation should know believe and function.

19. "I am Karma or no-Karma and Karmas and nokarmas are mine". So long as the soul thinks like this verily it is of perverse understanding.

(Nokarma is a techanical term used in the Jaina doctrine for Karmas in the previous births which determine body, age, family etc., adopted by the soul at the new birth).

20, 21 & 22 "I am other substances, animate, inanimate or mixed; they are myself; I am theirs and they are mine; they were mine in past time and I was theirs; even again they will be mine and I will be theirs". One who thus entertains false notions in his mind is foolish, but one who knowing reality, does not do so, is wise.

23. One whose mind is perverted by ignorance-the soul filled with multifarious feelings-says of matter in contact with it or not, "this is mine".

24. The soul as seen by the Omniscient is always possessed of the characteristic of awareness (upayoga) how can it be (identified with) matter which, thou sayest, is thine).

25. If that self becomes matter, the latter will acquire the properties of soul; then you can say "this matter is mine".

26. If soul is not the body, the eulogy of Tīrthankaras and also Ācāryas is all meaningless; therefore the self is the body. (so one may argue).

Tīrthankaras (lit., the makers of ferry- for crossing mundane existence), rank highest in the Jaina hierarchy for their propagation of the doctrine before emancipation. There were 24 of them, Mahāvīra the author of the doctrine in its present form having been the last. Acaryas are the leaders of groups (Sanghas) of monks).

27. The conventional point of view tells us that soul and body are verily one; but from the point of view of reality, soul and body can nerver be identical.

28. Eulogising the material body which is different from the soul, the saint believes that verily in he has eulogised and adored the Holy Kevalin.

(Kevalin is the man of absolutely emancipated self who has attained the highest knowledge).

29. That is not right from the niścaya point of view; the properties of the body are not of the Kevalin. One who eulogises the attributes of the absolute eulogises the Kevalin.

30. As description of a city does not constitute description of its ruler, eulogy of the body is not eulogy of the Kevalin's attributes.

31. He who, subjugating the senses believes the self through its characteristic of knowledge to be above all is verily called a conqueror of the senses by the saints poised in reality.

32. He who overcoming delusion, believes theself through its character of knowledge to be above all by the knowers of the supreme objective, such a saint is called a conqueror of delusion.

33. Add when the saint who has controlled delusion (actually) destroys of it, he is called 'delusion-free' by the knowers of reality.

(Verses 31-33 refer to stages of spiritual growth involving control of the senses and the evil passions and emotions which lead one astray. In the case of the senses, only the question of control arises; but passions and emotions have first to be controlled and then got rid of so that struggle may cease. The point made by the author is that this discipline should go on side by side with progress in self- realisation).

34. Knowledge (of the self) renounces all alien dispositions knowing them to be other than itself; therefore in reality renunciation should be known to be (necessarily as, or nothing but) knowledge.

35. As a person knowing a property to be another's gives it up, so does the sage discard all alien dispositions.

36. It is to be understood 'Delusion as nothing to me. I am only one with the Characteristic of Upayoga or awareness'. The knowers of the true self call this freedom from delusion.

37. One who understands "Medium of motion (dharma) etc., are not mine; I am only one, with the characteristic of awareness (upyoga)", this the knowers of the ture self call indifference to dharma.

(The reference is to the 5 substances (other than soul in the Jaina doctrine-viz, matter, dharma or principle of motion, adharma or principle of rest, time and space).

38. "I am one, verily pure, consisting of intuition and knowledge, always non-material; nothing else is mine even to the extent of an atom".

CHAPTER II

SOUL & NON - SOUL

39. Some dull-witted people, ignorant of the true nature of the self and believing non-soul to be the soul, identify the soul with mental apprehension and with Karma.

40. Other believe the discriminating faculty in variations of mental states as intense or mild to be the soul; still others believe No-karmas (subsidiary karmas) which determine the details of bodily structure to the be soul.

41. Some take the fruition of karmas to be the soul; others take Karmic energy with the property of variation as intense or mild to be the soul.

42. Some take the soul and Karma, the two together, as the soul; others take the conglomeration of karmas with the soul to be the soul.

43. In this and many other ways perverse-minded people identify the self with non-self, therefore by believers in reality they are not classed as (parmārthavādies i.e. believes in the ultimate goal of mokṣa).

(The criticism in these verses is directed mainly against materialism, Buddhism and Mimāṁsā who do not posit a separate permanent self underlying the phenomena of life and mind).

44. All these modes, the Jina of absolute knowledge has said, represent evolution of matter; how can they be called souls?

45. The Jinas say that all the eight kinds of Karmas are material, and their fruit on maturity is said to be suffering.

46. From the conventional point of view it has been declared by the Jinas that mental states etc., constitute souls.

47. It is said of the retinue (or army) that the king has gone out this is only conventional; among those that go out only one is the king.

48. Even so from the conventional point of view in the scripture attachment and other alien mental states are said to be the soul; In reality the soul is only one (distinct from them).

49. Know the soul to be without taste, without colour, without smell, imperceptible (by the sense) without sound, with consciousness as its (characteristic) property, incognisable by physical sign, and without descriable form.

50. The soul has neither colour, nor smell, neither taste nor touch, nor corporeality nor body, nor figuration, no constitution.

51. Attachment, aversion and delusion are not of the soul, nor inclination (pratyayā) nor Karma nor subsidiary Karmas (no-Karma).

52. Karmic atoms (Varga), molecules (Varganā) and mass (phaḍḍayā) are not of the soul nor disposition obstructing self experiences, nor stages of fruition.

53. In the soul there is no stage of reaction to sense objects (yoga) or of bondage, neither the stage of maturity (of Karma) nor specification of class.

(Jīva margaṇā means determination of mundane soul by 14 specifications:- 1. grade of existence, 2. kind of body, 3. number of sense organs, 4. sex, 5. intensity of passions degree of, 6. intuition, 7. knowledge, 8. conduct, 9. the hue of soul tarnish (leśyā), 10. expectation of release, 11. state of belief, 12. degree of intelligence, 13. reaction, physical, vocal and mental of sense- objects (yoga) and 14. receptiveness of subsidiary Karmas.

54. In the soul there is no stage of the duration of bondage, or of perturbation (by passion) or of purity or of acquisition of self- restraint.

55. The soul has no classification of organisms and no stages of spiritual growth, as all these are modes of evolution of matter.

56. These modes from colour etc. to the stages of spiritual growth are (predicated) of the soul from the conventional point of view, but from the point of view of reality, none of them is of the soul.

57. The association (of soul) with these (forms of matter) should be understood to be like that of milk and water (i.e. spatial) but they are not of the soul because it has the differentiating attribute of awareness (upayoga).

58. Seeing some one robbed on a road, people following convention say "this road is looted"; but the road is never looted.

59. Similarly seeing the colour of Karmas and no-karmas in the soul, the Jina has stated from the conventional points of view. "this is the soul's colour".

60. Thus have smell, taste, touch, figuration etc., been predicated (of the soul) conventionally by the seers of reality.

61. Souls localised in any state of existence in the world have colour etc.; those released from mundane existence verily have no colour etc.

62. If you hold that all these modes together constitute the soul itself, then for you there would be no difference whatsoever between soul and non-soul.

63. If you hold that mundane souls have (in reality colour, etc., then mundane souls become material (or corporeal).

64. Thus, silly man, matter will have the attribute of soul and matter becoming soul will even attain emancipation.

(The author is supposed to be arguing the point with a disciple who raises it and the term 'mūḍha' has been used here as one of endearment rather than reproach.

65. Living beings with one, two, three, four and five senses big and fully developed or otherwise these are due to the nature of karmas in a previous life which determine the kind of body (assumed in this life).

66. These classes of living beings are produced by the nature of Karmic matter as their cause and so they are material; how can they be called soul?

67. Classification of body as whole or defective, small or large, is attributed by scripture to the soul from the conventional point of view.

68. These stages of spiritual growth are stated to be due to the perversion (mohini) Karmas, how can they be souls, they that are called permanently insatient.

CHAPTER III

The Doer & the Deed

69. So long as he does not know the distinction between the two, the self and alien dispositions or the Karmic inflay (āsrava) the ignorant soul till then indulges in anger etc.

70. By indulgence in anger etc., Karmas are accumulated; thus verily has been described bondage of the soul by the All-Seeing.

71. And when the distinction between the self and āsravas is realised by the soul, then there is no bondage.

72. Knowing the impurity of āsravas and perverse dispositions and the cause of suffering, the soul discards them.

73. "I am really one, pure, unrelated, full of knowledge and intuition, poised in them and experiencing this (self) I renounce all these (āsravas)".

74. Knowing them, bound as they are to the soul, as mutable, transitory and unsupported, with suffering as their form and fruit, (the self) becomes free from them.

75. He who knows that the self does not evolve as Karma or no-Karma is a sage (i.e., a man of knowledge).

76. Verily, the sage though knowing Karmic matter of many kinds, neither evolves nor adopts nor develop the modes of other substances.

77. Verily the sage (i.e., a man of knowledge), knowing the various dispositions of the true self, neither evolves nor adopts nor develops the modes of other substances.

78. Verily the sage, though knowing the endless fruition of Karmic matter neither evolves, nor adopts nor develops the modes of other substances.

79. So even matter evolves its own modes, and does not evolve, adopt or develop the forms of other substances.

80. By virtue of the disposition of the soul, matter develops Karmic activity; similarly, the soul is also transformed because of Karmic matter.

81. The soul does not acquire the properties of Karma nor Karma the properties of the soul; but know (that there is) transformation of the two by virtue of each other.

82. For this very reason the self is the agent of its own dispositions, but is not the cause of any of the modifications taking place in Karmic matter.

83. From the absolute point of view the self only evolves itself and know that the self then experiences itself.

84. From the conventional point of view the self performs (or is the agent of) material Karmas of many kinds and then it accordingly experiences the same in many ways.

85. If the self were (in reality) to perform and experience material Karmas, the objection

would arise of double functioning (as subject and object) which is opposed to be faith of the Jina.

86. Because they make both the modes of self and the modes of matter inhere in the self, so the holders of the doctrine double functioing are wrong-believers.

(The objection in these verses applies at one end to materialism which attributes the two functions to matter, and at the other end to monists which attributes them to the self).

87. Then wrong belief has two aspects, (1). relating to the soul (as common agent) and (2) relating to non-soul; simiarly ignorance, indiscipline, Yoga (reaction to sense objects), delusion, anger etc., (all) these modes have two aspects.

88. Karmic matter representing wrong belief, Yoga, indiscipline and ignorance (pertains to) non-soul; attention (upayoga), ignorance, indiscipline and wrong belief pertain to the soul.

89. Consciousness affected by delusion has from eternity (produced in the soul) three transformations—wrong belief, ignorance and indiscipline; this should be understood.

90. (Perverted in) these three ways upayoga, pure and untainted (in its essence) is the cause of those dispositions which the upayoga creats (in the soul)?

91. Whatever disposition the soul engenders it is the creator of that disposition; matter thereby itself evolves as karma.

92. Taking non-self to be the self the confusing the self with non-self, the ignorant soul becomes the do of Karmas, (i.e. identified with them).

93. The soul constituted of knowledge not taking non-self for self and not taking self for non-self is not the doer or agent of Karmas (i.e. not identified with Karmas).

94. This upayoga of three kinds (wrong belief, knowledge and conduct) produces the false notion "I am anger" (etc.) and the upayoga is then the cause of that disposition in the soul.

95. This upayoga of three kinds produces the confusion of self with medium of motion etc., and the upayoga becomes the cause of those dispositions of the soul.

96. Thus does the man of dull understanding identify alien substances with the self and in his ignorance also identifies the self with non- self.

97. For this reason only has the self been stated as the doer by the seers of reality; he who realises this verily gives up all activity (or sense of agency).

98. From the conventional point of view, the soul makes things like pitcher, cloth, chariot etc., (animates) the senses and performs Karmas and no-Karmas of various kinds.

99. If it were in reality the maker of those alien substances, it would become identified with them; as it is not one with them, therefore it is not their maker.

100. The soul does not make pitcher nor cloth nor other things, they are produced by Yoga and Upayoga of which it is the cause.

101. Knowledge-obscuring and other Karmas are forms of matter; the self is not their maker. He who knows this is the (true) knower.

102. Whatever good or bad dispositions arise in the soul, the soul is verily their cause; that is its Karma which it (also) experiences.

103. Whatever attribute a substance has can certainly not be transferred to another substance; not being so transferred, how can it transform that other substance?

104. The self does not affect the substance or the attributes of material Karmas; not affecting these two in those (Karmas), how can it be their doer?

105. On seeing the evolution of bondage by virtue of the soul's (dispositions), it is said as a formality that the soul has done the deed.

106. When a war conducted by the warriors, people say "it is waged by the king". Similarly, by convention, the soul is said to be the cause of knowledge-obscuring karmas etc.

107. It is stated from the conventional point of view that the self produces, causes, binds, transforms or receives (Karmic) matter.

108. As by convention a king is said to be the producer of vice for virture (in his subjects), so the soul is said conventionally to be the producer of properties of (Karmic) matter.

109. Generally speaking, four ways are truly said to be the cause of bondage, and they should be known to be-wrong belief, indiscipline, passion and reaction to sense-objects (yoga).

110. And of these four thirteen different stages have been mentioned, from false vision up to Sayogi (thirteenth stage of spiritual growth, where bodily activity is present).

111. These (stages) are really devoid of consciousness because they are brought about by the maturing of material Karmas; if they do deeds, the self does not experience them (in reality).

112. Because the tendencies for spiritual stages cause the Karmas, therefore the soul is not the doer but the spiritual stage produces the Karmas.

113. Soul is inseparable from consciousness if similarly anger is also considered inseparable from the soul, there would result oneness of soul and non-soul.

114. Similarly here whatever is soul will in reality be the same as non- soul; and the objection will arise of oneness of soul with inflow of Karmas, no-Karmas and Karmas.

115. And if (you agree that) anger is one thing and the conscious self another, then like anger, other tendencies, Karma and no-Karma will be different (from the conscious self).

116. If Karmic matter is not of itself bound with the soul nor of itself evolves into modes of Karma, then it becomes unchangeable.

117. And if molecules of Karmic matter do not evolve as modes of Karma, the objection

arises of mundane existence becoming impossible, or the Sāṃkhya doctrine is established.

118. (If you hold that the soul transforms matter into modes of Karma that matter being itself unchangeable how can the conscious self transform it?

119. If Karmic matter is of itself transformed into Karma, it would be wrong to say that the soul turns Karmic matter into Karma.

120. It therefore follows:-Karmic matter is turned into Karma by Karma, the same way know is to be turned into knowledge-obscuring Karmas, etc.

121. If you think the soul is not of itself bound by Karmas nor of itself transformed into anger etc., then it becomes untransformed.

122. If the soul does not of itself evolve dispositions of anger etc., then would result the impossibility of mundane existence, or the Sāṅkhya doctrine established.

123. Anger is Karmic matter and it creates anger in the soul, if that (soul) itself is not transformable how can it evolve anger?

124. If it is your idea that the soul of itself evolves the disposition of anger, then it will be wrong (to say) that (the Karma of) anger transforms the soul into anger.

125. (The position is that) in association with anger (in the form of Karmic matter) the soul evolves anger; in association with pride, pride; in association with deceit, deceit, and in association with greed, greed.

126. Whatever disposition the soul evolves it is the creator of the disposition, in the sage the disposition are of the nature of knowledge, in the ignorant man of the nature of ignorance.

127. Owing to disposition of the form of ignorance the ignorant man becomes the doer of Karmas; the sage has dispositions of the nature of knowledge and therefore is not identified with Karmas.

128. Because dispositions of the form of knowledge only create dispositions of the form of knowledge, therefore verily all the dispositions of the sage are of the form of knowledge.

129. Dispositions of the nature of ignorance only are created from ignorance, therefore all dispositions of the ignorant conform to ignorance.

130. From gold, ear-rings etc. befitting its nature are produced as from iron hand-cuffs are produced.

131. Similarly in the ignorant many dispositions conforming to ignorance are created whereas in the sage all dispositions conform to knowledge.

132. Acquisition of wrong knowledge by the soul is the result of knowledge-obscuring Karmas, belief in wrong principles is the result of vision-obscuring Karmas.

133. Indiscipline in the soul is the result of conduct-perverting Karmas, impure inclination is the result of the rise of passion.

134. The enthusiastic activity of the soul, good or bad, worth indulging in or refrained from, know it to be due to the rise of Yoga (reaction of soul to sense objects).

135 & 136. Owing to these Karmic molecules which are attracted (into the soul) evolve into eight kinds of Karmas, (knowledge-obscuring Karmas etc.), when those Karmic molecules bind the soul, the soul really becomes the cause of the dispositions that evolve.

137. If dispositions of attachment do arise in the soul along with Karma, then both soul and Karma would acquire attachment, etc.

138. If dispositions of attachment are created in the soul by itself, then soul could be transformed without karmas as auxiliary cause.

139. If matter is transformed into Karma only in association with soul, then verily both matter and soul would acquire the nature of Karma.

140. If matter alone could evolve into modes of Karma then Karma could undergo transformations without the aid of the soul's dispositions.

141. From the conventional point of view it is stated that Karmas bind and are attached to the soul, but from the absolute point of view, Karmas are neither bound nor attached to the soul.

142. Whether Karmas are or are not bound to the soul, know it to be subject to point of view; but the statement which is above points of view is about the essence of the self.

143. One who has realised the self merely knows both the points of view stated, but being free from the limitations of points of view, he does not at all cognise points of view.

144. What has been stated to be free from all points of view is the absolute self which is also called right vision and right knowledge.

VIRTUE & VICE

145. Bad deeds (constitute) vice and also know good deeds to be virtue, (but) how can that be virtue which leads to mundane existence?

146. A gold chain can bind a man as well as one of iron, similarly deeds done, whether good or bad, bind the soul.

147. Therefore do not have attachment for or association with (good or) evil; by such attraction for or association with (good or) evil, the self will destroy its independence.

148 & 149. As any one knowing a person to be of immoral character gives up association with and attachment for him, even so those absorbed in the self give up and refrain from Karmic activity (prakṛti) knowing its nature and character to be evil.

150. The soul with attachment binds Karmas, one with detachment remains free, so has the Jina declared, therefore do not be attracted by Karma.

151. Verily, the supreme category, the self is the pure the perfect, the saint and sage. With their dispositions poised in that, saints attain emancipation.

152 If one performa austerities or observes vows without being poised in the Supreme principle, the all knowing call all that austerity and vow childish

153 Those who observe vows and rules of conduct and practise virtue and austerities (but) without realisation of the supreme principle, cannot attain emancipation

154 Men without supreme realisation owing to ignorance desire virtue, the cause of mundane existence, not knowing the cause of emancipation

155 Belief in soul etc (the seven tattvas) is faith, understanding them is knowledge, freedom from attachment etc is conduct This is the path of emancipation (from the conventional point of view)

156 The learned turn to convention, leaving (aside) reality, only the saints who take refuge in the absolute point of view destroy Karmas

157 As the white state of cloth disappears by its being covered with dirt so should right vision be known to be blurred by wrong belief

158 As the white state of cloth disappears by its being covered with dirt, so should knowledge be known to be effected by the dirt of ignorance

159 As the white state of cloth disappears by its being covered with dirt so should conduct be known to be perverted by passion

160 That (inherently) all knowing all seeing one covered as it is by the dust of one s own Karma and engrossed in mundane existence does not know all in full

161 The Jina has said that perversion obscures right vision know that on its becoming
162 & operative the soul gets wrong vision The Jina has said that ignorance (as
163 Jnānāvaranīya Karma) obstructs knowledge, know that on its becoming operative the soul becomes ignorant The Jina has said that passion perverts conduct, know that at its rise the soul becomes immoral

CHAPTER IV

INFLOW OF KARMAS

164 Wrong belief, indiscipline, evil passion and reaction to sense objects with multifarious divisions (due to variations) on the animate and inanimate (side) are only transformations of no other than the soul

165 They evolve the knowledge-obscuring Karmas etc , and they are caused by the soul with its dispositions of attachment, aversion etc

166 There is no inflow of Karmas and bondage in one of right vision which stops the inflow, there are the old Karmas in bondage of which he is aware but no fresh bondage

167 Dispositions of attachment etc , arising in the soul are the cause of bondage, one free from attachment etc , keeps free of bondage and is only the knower

168 As a ripe fruit fallen (from a tree) cannot be attached again to the stalk so when the soul's disposition to Karma drops off that Karma can never become operative again

169 In the sage the old karmas though incorporated with the Karmic body are all (inert) like a clod of earth

170 The four classes (of causes of āsrava) with multifarious sub division bind the soul every moment through cognition and perception the sage therefore is immune from them

171 Because the lower stage of the faculty of cognition then evolves other modes (like attachment etc) it is in that sense said to be the cause of bondage

172 Because intuition, knowledge and conduct have developed (only) upto a low stage the knower therefore attracts Karmic matter of various kinds

173 The person of right vision has all the tendencies caused by old bondage, (but they) attract only modes of Karmas corresponding to his attention (at any particular time)

174 They cannot bear fruit (cause bondage) as a minor girl does not get enjoyed by a man, they bind the soul when there is attraction as of a man for a young woman

175 They remain inert but become effection when seven or eight kinds of Karmas, knowledge obscuring etc arise in the soul

176 For these reasons the man of right vision is a non-binder (of Karmas), In the absence of the mental state fit for inflow of Karma, the tendencies are not said to be the cause of bondage

177 The man of right vision does not have attachment, aversion, and delusion (the mental states which cause) inflow of karmas, therefore in the absence of the āsrava mental states, Karmic matter is not active

(The mental states which cause inflow of Karma are called bhāvāsrava, and the corresponding Karmic matter, dravyāsrava or praytyayā)

178 The four-fold cause gives rise to eight kinds (of Karmas) but they are not contracted in the absence of attachment etc , which lead to bondge

179 & 180 As food taken by a man is transformed by the heart of the stomach into many forms, flesh, fat, blood, etc , so the tendencies contracted before, bind many kinds of Karmas in the knower, such souls are devoid of the (niścaya) point of view

CHAPTER VI

STOPPAGE OF KARMAS

181. In awareness (upayoga), there is only the conscious principle (at work); in anger, etc., there is no awareness whatsoever, in anger there is only anger, verily there is no awareness in anger.

182. In the eight kinds of Karmas and the non-Karmas and the there is no awareness, awareness there is no Karma or no-karma.

183. When this right a viparāta knowledge rises in the soul, the pure self has no mental state except awareness.

184. As gold heated in fire is not deprived of its nature as gold, so the sage, though distressed by the maturity of Karma, does not lose his function (purely) as a knower.

185. So knows the sage, but the perverse one enveloped in the darkness of ignorance, and not knowing the true nature of the self identifies the self with attachment.

186. The soul knowing the pure self attains the pure self attains the pure state of the self; but one knowing (only) the false self is engrossed in the false self.

187, 188. One, who restraining the self by the self from both the reactions (yogas) good and evil (merit and demerit) is poised in intuition (or faith) and knowledge, the self free from desire for all else and from all attachment to outside objects mediates on the self by the self hot mindful of Karma and non-Karma (but) only of its one-ness.

189. One who meditates on the self as constituted of intuition (of faith) and knowledge and different from all else even realises the self in a short time released from karmas.

190, 191 & 193. The cause of those (āsravas) are stated by the all seeing to be mental apprehensions viz. wrong vision, ignorance, indiscipline, and yoga. (souls' reaction to sense objects).

In the absence of the cause, of course the inflow of Karma cease; in the absence of mental tendencies Karmas cease; in the absence of Karmas, non-Karmas cease; with the disappearance of no-Karma, mundane existence ceases.

CHAPTER VII

SHEDDING OF KARMAS

193. Whatever sanse-gratification the man of right vision has from inanimate and other objects, all results in shedding Karmas.

(The enjoyments are due to past Karmas which are thereby neutralised and with his right frame of mind fresh Karmas are not contracted).

194. The enjoyment of a substance produces certain pleasure or pain; (he) experiences that pleasure or pain (with equanimity) as the result of maturity of Karma; then shedding of Karma occurs.

195. As men learned (in the property of poisons) do not meet death by taking poison, so the sage undergoes the operation of Karmas but is not bound (by new ones).

196. As the taking of wine with indifference does not make a man intoxicated, even so the sage experiencing things with indifference is not bound (by Karmas).

197. Some though gratifying the senses (with equanimity) may be regarded (from the moral point of view) as not gratifying them, others even though abstenious, (but with hankering) will be (considered to be) sensuous; by playing a part one does not become the character.

198. "The great Jinas have described many ways of the shedding of karmas after maturity, but they are not my true modes; I am only the knower by nature".

199. "Attachment is Karmic matter, its expression on maturity is this (passion); it is not my nature, verily I am only one, the knower by nature".

200. Thus does the man of right vision perceive the self to be of the nature of knowledge and knowing reality ignores the Karmas attaining fruition.

201. Verily one who possesses attachment, etc. even to the extent of an atom, does not know the self though he may have mastered all the scripture.

202. Ignorant of self and also ignorant of non-self, how can he have right faith without knowing soul and non-soul?".

203. Giving up all material and other alien dispositions of the self, you adopt this firm disposition by its true nature.

204. Sensorial and scriptural knowledge, clairvoyance, though-reading and absolute knowledge-these have one (one the same) nature; that is the absolute point of view by attaining which release is obtained.

205. People devoid of the attributes of knowledge do not attain this state though many (virtuous deeds are performed by them); attain this right state if you desire emancipation.

(Amṛta-candra's interpretation of this verse as it stands seems rather forced. Possibly there is a mistake in the text).

206. Always cherish this (stage), always be content with it; be fully satisfied with it; then you will attain supreme bliss.

207. What wise man will say "non-self is my property", knowing for certain as he does that the self is its own possession.

208. "If property is mine I acquire the nature of non-soul; because I am only the knower, therefore property is not mine".

209. "Whether cut or broken, taken away or destroyed, going this way or thay way, still physical body (lit. external or accepted) is not mine".

210. The sage is said to be free from possession and hanker even (after virtue). He does not desire (even) virture; and therefore virtue cannot be considered as part of himself, he is only the knower thereof.

211. The sage (a knower) is said to be free desire and therefore free from possession, and he does not desire vice. Free from the desire for vice, he is only the knower thereof.

212. The sage is said to be free from desire of food and therefore free from possession; free from the desire for food, he is only the conscience thereof.

213. The sage is said to be free from desire and therefore free from possession. He is free from desire for drink. Being free from the desire for drink, he is only the knower thereof.

214. The sage does not entertain all these and other similar dispositions, his nature is really that of knower and independent of all.

215. Being always indifferent to enjoyment produced by the present rise (of Karmas) he entertains no desire for future or present enjoyment.

216. That which experiences and that which is experienced both disappear from moment to moment. The knowing self is conscious of that but never desires either.

217. The sage feels no attachment for mental apprehensions which lead to bondage and enjoyment, resulting in mundane existence and the body.

218. The sage free from attachment to all objects (even) when engaged in action is not affected by the dust of Karma as gold by mud.

219. But the ignorant man attached to all objects when engaged in action is affected by the dust of Karma as iron by mud.

220, & 221. The conch may take in various things, animate, inanimate or mixed, but its white shell cannot be turned into black. So also the sage may enjoy many kinds of things, animate, inanimate or mixed, but his knowledge cannot be turned into attachment.

222, & 223. When that very conch of itself giving up its white character assumes black colour, then its whiteness does disappear; so also if the sage himself forgetting his true nature as knowledge lapses into ignorance he does become ignorant.

224, As a man of this (earth) serves the king for the sake of livelihood and the king also
225, gives him various things which are the source of pleasure, so also the person (called)
226 soul cherishes Karmic dust for the sake of pleasure and king Karma provides him
& 227. with instruments of pleasure. As a man does not save the king for the sake of livelihood, the king does not provide him with various means of enjoyment, similarly if the man of right vision does not cherish Karmic dust for the sake of sense-gratification, then Karma does not provide him with means of enjoyment.

228. Because the souls of right vision are free from doubt, they are free from fear, relieved of seven kinds of fear, they are therefore fearless, or havey no dabb.

(The seven kinds of fear are 1. fear relating to this life 2. fear relating to the future life 3. fear of being without protection 4. fear of loss of property 5. fear of pain 6. of accident and 7. of death.

The author is enumerating the eight Aṅgas or constituents of right faith of which he gives a purely spiritual interpretation).

229. That fearless soul which cuts through the four legs or (causes) of the evil of Karmic bondage (viz. false knowledge, indiscipline, passion and yoga) should be considered to be of right vision.

230. That soul which entertains no hankering for the fruits of Karmas or for any properties of substances should be considered to be of right vision, free from desire.

231. That soul should be considered meek (or free from criticism or disgust) and of right vision which does not feel disgust at the natural functioning of any objects.

(Among the 25 flaws of faith mentioned in Jaina works, stress is laid on the absence of eight kinds of pride, and this part may therefore be taken to correspond to humility but it covers patience also, as it extends to inanimate objects).

232. That soul should be considered to be of right vision which is free from superstition of all the mo-des of all substances.

233. One who is filled with devotion to the Siddhas and ignores the defects of others, should be considered to be of right vision.

234. One who establishes the soul on the path of emancipation preventing it from going astray, should be considered to be of right vision endowed with steadfastness (or re-establishment).

235. That person of right vision should be considered to be possessed of love who has love for the three gems, categories of saints (Āchārya, Upādhyāya & Sadhus) or three stage of emancipation (right belief, knowledge and conduct) which constitute the path of liberation.

236. That soul of right vision should be considered to be the upholder of the glory of the Jina's faith which mounted on the Chariot of knowledge subdues the hankering of his mind.

CHAPTER VIII

BONDAGE

237 to 241. As a man smeared with oil taking position in a dusty place performs exercises with weapons, pierces or cuts palm, plaintain and bamboo trunks and destroys animate and inanimate objects, destroys them in various ways (and so becomes covered with dust) now consider what really is the cause of the dust sticking to him. It is of course by virtue of the property of oil on that man's body which makes dust stick to him and not the movements of his body and the rest. Thus the man of wrong vision engaged in multifarious activities with feelings of attachments etc., becomes covered with the dust of Karma.

242 to 246 Again the same man with oil entirely removed (from his body) performs exercises with arms in a place with plenty of dust, pierces and cuts palm, plantain, and bamboo trunks and destroys animate and inanimate things with various kinds of weapons, but does not become coated with dust; now think why really not? It is the absence of oil from that man's body which oil made it coated with dust, not of course the movements of the body. Similarly the man of right vision engaged in multifarious activities, but not enteraining feelings of attachment etc. is not covered with the dust (of Karmas).

247. He who thinks 'I kill' or 'I am killed' by other is foolish and ignorant; the sage is the reverse of this.

248. It has been declared by the Jinas that living beings die on the exhaustion of the age (determining Karma). Thou dost not destroy the age (determining Karma), how is their death caused by thee?

249. It has been stated by the Jinas that living beings die owing to the exhaustion of the age (determining Karma). They cannot give or destroy the age-(Karma); how can they kill you?

250. He who thinks that he makes other people live or other people make him live is foolish and ignorant, the sage is the reverse of this.

251. The Omniscient has said that life is due to the operation of the age- Karma; thou dost not give them the age (Karma); how hast thou made them live?

252. The Omniscient has said that life is due to the operation of the age- Karma; they do not give thee the age-Karma; how can they make these live?

253. He who thinks of himself that he makes people suffer or happy is foolish and ignorant. The sage is the reverse of this.

254. All people are miserable or happy owing to the operation of Karmas, and thou dost not give the Karmas, how dust thou made them miserable or happy?.

255. All beings become miserable or happy by virtue of Karma, and thou dost not give them Karma; how are thou made miserable by them?

256. All beings become miserable or happy at the rise of Karma, and thou dost not get Karma from them, how art thou made miserable by them.

257. One dies or becomes miserable entirely owing to the operation of Karmas; therefore is not the idea that thou art killed or made miserable by others really false?

258. If one does not die and does not suffer that also is due to the operation of Karmas; therefore is not the idea that thou art not killed or made miserable by them really false?

259. This idea of thine that thou makest people miserable or happy is foolish; it makes good or bad Karmas bind thee.

260. This feeling of thine, "I make people miserable or happy" makes vice or virtue associated with thee.

261. This feeling of thine, "I kill people or let them live", makes vice or virtue associated with thee.

262. From impulse (results) bondage, whether you kill beings or not, this is the substance of (the theory of) bondage from the point of view of reality.

263. Similarly from impulse for falsehood, theft, unchastity and greed (prigraha) results sin.

(These four with non-injury (ahiṃsā) constitute the five well-known vows of Jainism).

264. And also impulse for truth, honesty, chastity and poverty (aparigraha) results in virtue.

265. Again, it is contact with an object that produces an impulse in souls; the bondage is not due to the object, but to the impulse.

266. 'I make living beings miserable or happy; I bind or release them'. Such cogitation in you is meaningless, verily it is false.

267. If souls are bound by Karmas by virtue of their propensities while those established on the path of salvation are released, what them is your part in it?

268. By their propensities souls assume forms as sub-human, hellish, divine or human beings, men or lower forms of life (animals, plants etc.) and do multifarious deeds of virtue or vice.

269. The soul by its inclination may identify the self with Dharma or Adharma, soul or non-soul, the Universe or the empty space.

270. The saints who do not have these propensities etc., are not besmeared with bad or good Karmas.

271. Intellect, will, impulse, understanding, empirical knowledge, mind and feeling are synonymous (for this purpose).

272. Thus know the conventional standpoint to be contradicted by the absolute standpoint. (Only) saints absorbed in the absolute standpoint attain emancipation.

273. The ignorant man of false faith may observe vows, carefulness (five samitis) walking, speaking, laying down, giving or taking & putting down & lifting) restraints, and (rules of) morality and perform austerities as laid down by the great Jinas, but he still remains unfit for release.

274. A person unfit for emancipation and not believing in it, even though learned derives no benefit from his learning, un-believer in (true) knowledge as he is.

275. He believes in Karmas, inclines to, has liking for, and then also acquires merit for the sake of enjoyment, but certainly not in order to destroy Karmas.

276. It should be known that from the conventional point of view, Ācārāṅga etc. constitute knowledge belief in soul, etc. is right faith, and regard for (all) the six forms of life is called (right) conduct.

277. In reality, the self is knowledge, the self is faith and conduct, the self is renunciation; the self is stoppage of Karmas and mediation (Yoga).

278 & 279. As a pure crystal is not itself transformed into red, etc. but looks red etc., (in conjunction) with other things, so the pure knowing self is not itself transformed into attachment etc., but (in contact) with other things appears affected by the faults of attachment etc.

280. The knower does not develop attachment, aversion, delusion and passion in the self, and is not therefore the cause of those mental states.

281. (The soul) developing mental states in response to Karmic matter corresponding to attachment, aversion and passion binds again the (Karmas of) attachment etc.

282. The soul that considers its own, the mental states corresponding to the Karmic matter of attachment aversion and passion is bound by (the Karmic matter of) attachment etc.

(These mental states though inhering in the soul, are alien to its true nature).

283. Non-repentance is of two kinds and non-renuciation also should be known (to be the same); by such teaching the conscious self is said to be not their cause.

285. So long as the self does not observe renunciation and repentance externally and internally it should be known to be the doer.

286. (Repentance and renunçiation here mean dissociation from karmic activity in thought, word and dead past, present or future) Faults (in relation to food etc.) pertain to matter, how can the knower be considered to have done them, which verify always pertain to non-self.

287. Faults in relation to food involving injury or prepared by others for me are material in nature pertaining to non-self, how can they be my doing; they that have been said to be always unintelligent?

CHAPTER IX

EMANCIPATION

288. As a man who has been in shackles for a long time knows of their hard or soft nature and duration but if he does not break them, he does not end his bondage and even for a long time that man does not attain emancipation.

290. Similarly, by merely knowing the extent, duration, nature and function of karmic bondage one does not shake it off, but shakes off all if he is pure (in heart).

291. As by (merely) thinking of bondage one bound in shackles does not obtain release, so also the soul by merely thinking of bondage does not attain emancipation.

292. As one bound in shackles gets release on breaking the shackles, similarly the soul attains emancipation by breaking (karmic) bondage.

293. One who knowing the nature of bondage and of the self is averse from bondage, gets rid of the Karmas.

294. The soul and bondage are separated by their distinctive features; cut through by the chisel of discernment, they fall apart.

295. The soul should be freed from bondage by realizing the distinctive feature of each bondage should be separated and the pure self realised.

296. How is the self realised? The self is realised by discernment. As it discriminates, so also it apprehends?

297. The conscious agent apprehended by discrimation is in reality the "I"; the remaining dispositions should be known to be other than "mine".

298. The seer apprehended by discrimination is in reality the "I", the remaining dispositions should be known to be other than 'mine'.

299. The knower apprehended by discrimination is in reality the "I" the remaining dispositions should be known to be other than "mine".

300. What wise man understanding the pure nature of the self and knowing the dispositions arising from non-self can utter the words "they are mine"?

301. One who commits the offence of theft etc. is afraid of being caught when moving about among people known as he is, people as a thief.

302. One who does not commit any offence moves about without fear among people; anxiety for being caught never arises in him.

303. Similarly, the guilty soul is afraid of being bound (by Karmas) but the innocent soul has no fear of being bound.

304. Self-Realisation, realisation attainment realised and attained are synonymous. The soul that is devoid of realisation is verily guilty.

(Realisation comprehends all processes of spiritual development).

305. Again the soul free from guilt is (also free from fear; knowing the self, it is always absorbed in it.

306. Repentance, piety, renunciation, concentration, detachment, self-abasement, confession and atonement (constitute) the eight-fold pitcher of poison.

(The practices necessary at the preparatory stage become hindrances after a certain stage. Routine should be superseded if it is not to kill the spirit).

307. Absence of repentance, piety, renunciation, concentration, detachment, self-abasement, confession and atonement (constitute) the eightfold pitcher of nectar.

CHAPTER X

308. Know that whatever is made of a substance has no other but its own attributes, as bangles etc. are no other than forms of gold.

(A substance retains its essential properties in all its forms. The dravyas in the Jaina doctrine, soul, matter, medium of motion, medium or rest, space and time, are differenciated from each other by metaphysical properties and are incovertible into each other).

309. Whatever modes of soul and non-soul have been stated in the scripture, know them to be soul and non-soul and nothing else.

310. Because the self is not produced by anything, it is not an effect; it does not produce anything, so it is not a cause either.

311. A doer implies a deed; also deeds done for certain imply a doer. No other conclusion is really conceivable.

312. A soul is born and dies on account of association with Karmic matter (prakṛti in the shape of Karma); Karmas also are performed and destroyed on account of association with soul.

313. Thus comes about bondage of the two, the self and Karmic matter, which produces mundane existence.

314 So long as the soul does not break this association with Karmic matter, it is ignorant, of perverted vision and undisciplined.

315. When the soul breaks the endless (cycle of) fruition of Karmas, the saint of knowledge and vision becomes emancipated.

316. The ignorant man, stuck in the nature of prakṛti (Karma) experiences the fruition of Karmas; whereas the sage is merely aware of the maturing of the fruits of Karmas which he does not experience.

317. The man unfit (for emancipation) does not destroy Karmas, though he may have well studied the scripture; even by drinking milk with sugar in it serpents do not become free from poison.

318. The sage gifted with detachment (merely) knows the fruition of Karmas of many kinḍs, sweet and bitter, without being identified with them; that is why he is called non-enjoyer.

319. The sage neither performs nor experiences Karmas of many kinds, but understands the fruit of Karmas, of bondage, of virtue and vice is bondage nature.

320. Knowledge, like vision is neither doer nor enjoyer, but only knower of bondage, emancipation, rise of Karmas and shedding of Karmas.

321, 322 & 323. According to the people Vishṇu creates celestial beings, hell inhabitants, men and Lower creatures; if according to the Śramaṇas (Jaina Saints) also soul creates six forms of life, then no difference can be seen between the views of the people and

the Śramaṇas; for the people Vishṇu creates and for the Śramaṇas the soul does it, thus one does not see (the possibility of) emancipation for either of the two the people or the Śramaṇas, always creating worlds with gods and men.

324 to 326. Ignorant people following the conventional point of view call other substances "mine", but thou knowing the point of view of reality ever that for nothing is theirs even to the extent of an atom, a man may say of a village, country, town or kingdom 'it is mine', but they are not his, and the soul says so in delusion.

Similarly one who knowing other substances calls them 'mine', identifying the self with them, is a person of wrong belief.

327. Therefore (the sage) knowing "this is not mine" attributes the activity of both these (the soul in one case and Vishṇu in the other) to other than self, those of wrong belief (making the confusion).

328. If the Karmic force (prakṛti) of wrong belief makes the self a wrong believer, then unintelligent prakṛti would really become a doer.

329. Or if the soul causes wrong belief in matter, then matter becomes a wrong believer and not the soul.

330. Or if soul and prakṛti (together) turn Karmic matter into wrong belief, then both being responsible for the deed both must taste the fruit.

331. If neither prakṛti nor soul turns matter into wrong belief, Is it not then really wrong that matter (can develop) wrong belief?

332 to 335. If the soul is made ignorant by Karmas and also known by Karmas, and if it is made to sleep and also awakened by Karmas; if it is made happy or miserable by karmas, if by Karmas it is led to wrong belief and also indiscipline, if by Karmas it is made to wander in the upper, middle and the neither worlds, if by Karmas is done all good and evil whatsoever, therefore it would follow but the soul is inactive.

336 & 337. "The male-sex Karma desires a woman and the female sex Karma desires a man". If this is the teaching of the scripture handed down traditionally by the Ācāryas then on your own showing, no soul could be (considered) unchaste because only one Karma desires (another) Karma as mentioned before.

338. One class of Karma (prakṛti) destroys another or is destroyed by another, that class in this sense is called 'parghāta' (killing another being).

339. Therefore no soul, according to your teaching (can be considered) guilty of killing, because only one Karma kills another Karma, as said above.

340. If any Śramaṇas (Jaina ascetics) thus preached the Sāṅkhya doctrine, according to them nature (prakṛti) becomes the agent and all souls become inactive.

341. Or if you hold "my soul transforms itself by itself" this understanding of yours is also wrong.

342. The soul is stated by the scripture to be eternal and possessed of innumerable spacial units and it cannot be decreased or increased.

343. Know the soul in its true nature to be co-extensive with the universe; how can this substance be decreased or increased?

344. If you hold that consciousness the essence of Knowledge then the self does not transform the self by the self .

345. As in some reforms the soul comes to an end but not in others, therefore a one-sided view that the same soul remains the doer or becomes another is not (tenable).

346. As in some reforms the soul comes to an end but not in others, therefore a one-sided view that the same soul remains the experiencer or becomes another is not (tenable).

347. The person who holds that the same soul does a deed and not experience (the result) should be known to be of wrong belief and against (the doctrine of) the Arhata.

348. The person who holds that one soul does the deed and another enjoys (the fruit) should (also) be known to be of wrong belief and against (the religion of) the Arhata.

(The author has in mind the different functions of the mundane soul, viz. animating the senses or the body, underlying mental phenomena and pure consciousness. Only the last constitues the distinctive feature of the soul and represents the constant factor. The other two keep changing from moment to moment.

(The term 'Jīva' issued in the Jaina doctrine for the mundane soul with all its limiting adjuncts as well as for the released soul. All the views mentioned in the four verses are condemned as one-sided, the truth being that only the conscious subject remains constant and the other factors do change).

349. As an artisan does a job, but does not become identified with it, so the soul enacts Karmas, but does not become identified with them.

350. As the artisan works with his tool, but does not become identified with them so also the soul acts with (sense) organs, but does not become identified with them.

351. As the artisan handles his tools, but does not become identified with them so also the soul activates the organs, but does not become identified with them.

352. As the artisan enjoys the fruit of his labour, but does not become one with it so also the soul enjoys the fruit of Karma, but does not become one with it.

353. Thus has the doctrine been stated briefly from the conventional standpoint; now listen to the statement from the standpoint of reality which refers to changes resulting from dispositions (of the soul).

354. As the artisan makes an effort and is one with it so also the soul evolves (the mental counterpart of) Karma and is therefore one with it.

(Karma has two sides dravya or physical and bhāva or mental; the soul is identified with the latter).

355. As the artisan making an effort is always worried by it and is therefore one with that worry so also the exerting soul suffers.

356. As chalk (when applied to another thing) does not become that thing but remains chalk, so the knower remains the knower and does not become other than the knower.

357. As chalk (when applied to another thing) does not become that thing but remains chalk, so the seer remains the seer and does not become other than the seer.

358. As chalk (when applied to another thing) does not become that thing but remains chalk, so the self-controlled soul remains the self-controlled soul and does not become other than the self-controlled soul.

359. As chalk (when applied to another thing) does not become that thing but remains chalk, so intuition remains intuition and does not become other than inuition.

360. Thus have been stated knowledge, intuition and conduct from the standpoint of reality; now listen to a brief statement from the conventional point of view.

361. As chalk whitens another thing owing to its very nature so also the knower knows other things by virtue of the very nature of the self.

362. As chalk whitens another owing to its very nature, so also the soul sees other things by virtue of its very nature.

363. As chalk whitens another owing to its very nature, so also the knowing self renounces other things by virtue of its very nature.

364. As chalk whitens another owing to its very nature, so also the man of right belief believes in other things by virtue of the nature of the self.

365. Thus then has been stated the truth about knowledge, intuition and conduct, from the conventional point of view; the other modes (of consciousness) should be understood similarly.

(These verses state the relationship between the knowing self and sense object which has to be accepted on the authority of the scripture and can only be explained by illustration. The Advaita doctrine regards such relationship impossible between radically different categories and gets over the difficulty by treating the world of spirit as well as matter as an expression of the one reality, Brahman.

A similar difficulty arises about the connection of soul with Karmic matter).

366. There is no intuition: knowledge or conduct is an unintelligent substance; therefore what does the soul destroy in those objects of senses?

367. There is no intuition: knowledge or conduct in Karmas; therefore what does the soul destroy in those Karmas.

368. There is no intuition: knowledge or conduct in body; therefore what does the soul destroy in bodies?

369. Destruction of intruition, knowledge and conduct (by the soul) is spoken of, but destruction of matter is never spoken of.

370. The attributes of a soul are certainly never present in other substances; therefore the man of right faith has no attachment to sense objects.

371. Attachment, aversion and delusion are the soul's own modes, for these reasons there is no attachment, etc. in sound etc.

372. By one substance (dravya) the properties of another substance cannot be produced. Therefore all substances evolve according to their own nature.

(The dravyas are dassified according to their metaphyscial properties into six categories, viz. soul, matter, medium of motion, medium of rest, space and time. They cannot change each other's properties).

373. Words of blame or praise are matter assuming various forms. One gets angry or pleased on hearing them, taking them to refer to one-self.

374. Matter assumes the form of words, if its property is different (from that of the self), it does not apply at all to thy self; why do you get angry, you unenlightened?

375. A bad or a good word does not say to thee "hear me", not does the self go to grasp an object perceived by the sense of hearing.

376. Bad or good colour does not say to thee "see me"; nor does the self go to grasp an object perceived by the eye.

377. Bad or good scent does not say to thee "smell me"; nor does the self go to grasp an object perceived by the sense of smell.

378. Bad or good flavour does not say to thee "taste me"; nor does the self go to grasp an object perceived by the sense of taste.

379. A bad or a good form does not say to thee "touch me"; nor does the self go to grasp an object by the body.

380. A bad or a good property (of a sense object) does not say to thee 'understand me"; nor does the self go to grasp an object perceived by the intellect.

381. A bad or a good substance does not say to thee "know me"; nor does the self go to grasp an object apprehended by the intellect.

382. (Even) knowing the substance in this way the foolish man has his mind engrossed in non-self and with understanding devoid of self-realisation does not attain tranquility.

383. One freeing the self from Karmas done in the past, good or bad, of multifarious kinds in detail that is repentance.

384. The soul freeing itself from dispositions which would bind (to it) Karmas, good or bad, in future that is renunciation.

385. The soul recognising as evil present maturity of multifarious kinds (of Karmas), good or bad, that is confession.

386. The soul constantly repenting, constantly renouncing, constantly confessing, that is right conduct.

387. One who experiencing the fruit of Karmas identifies the self with the fruit of Karmas again sows eight kinds of (Karmic) seed for (future) misery.

388. One who experiencing the fruition of Karmas feels that he has brought it about again sows eight kinds of (Karmic) seed for (future) misery.

389. The soul that experiencing the fruition of Karmas is made happy or miserable thereby again sow right kinds of (Karmic) seed for (future) misery.

390. The scripture is not knowledge as the scripture knows nothing; therefore the Jinas have said that knowledge is different from scripture.

391. Word is not knowledge as word knows nothing; therefore Jinas have said that knowledge is different from word.

392. Form is not knowledge as form knows nothing; therefore the Jinas have said that knowledge is different from form.

393. Colour is not knowledge as colour knows nothing; therefore the Jinas have said that knowledge is different from form.

394. Smell is not knowledge as smell knows nothing; therefore the Jinas have said knowledge is different from smell.

395. Taste is not knowledge as taste knows nothing; therefor the Jinas have said that knowledge is different from taste.

396. Touch is not knowledge as touch knows nothing; therefore the Jinas have said that knowledge is different from touch.

397. Karma is not knowledge as Karma knows nothering; therefore the Jinas have said that knowledge is different from Karma.

398. Medium of motion is not knowledge as medium of motion knows nothing; therefore the Jinas have said that knowledge is different from medium of motion.

399. Medium of rest is not knowledge as medium of rest knows nothing; therefore the Jinas have said that knowledge is different from fulcrum of rest

400. Time is not knowledge as time knows nothing; therefore the Jinas have said that knowledge is different from time.

401. Space is not knowledge as space knows nothing; therefore the Jinas have said that knowledge is different from space.

402. Mental apprehension is not knowledge as mental apprehension is insentient; therefore the Jinas have said that knowledge is different from mental apprehension.

403. Because the soul is always conscious therefore it is the knower, the conscious principle; and knowledge should be known to be no other than the knower.

404. Knowledge is right vision and discipline, scripture consisting of Aṅgas and Pūrvas, virtue and vice, and initiation so the sages think.

405. Thus he whose self is non-material, can certainly not take food, for food, indeed is material because it consists of matter.

(Āhāra as defined in the Jain doctrine includes the igress of Karmic matter into the soul, which it does not assimilate).

406. It has property, natural or acquired, which would enable it to grasp or release foreign matter.

407. Therefore the soul that is pure neither grasps nor discards anything of the categories, soul, non-soul etc.

408. Adopting the insignia of heretics or householders, fools say that insignia are the path of emancipation.

409. Insignia are not the path of emancipation as the Arhats, free from attachment to the body, giving up insignia cultivate faith, knowledge and conduct.

410. The insignia of heretics or householders never (constitues) the path of emancipation; the Jinas say that faith, knowledge and conduct (constitute) the path of emancipation.

411. Therefore, giving up the insignia adopted by householders and the homeless ones, direct the self to faith, knowledge and conduct, the path of emancipation.

412. Put the self on the path of emancipation, (experience it), mediate on it, always live therein it, do not be diverted to other things.

413. Those who show attachment for multifarious kinds of insignia of heretics or householders do not know the essence of the self.

414. Although, the conventional standpoint declares the two (classes of) insignia (of monks and householders) to be the path of emancipation, the standpoint of reality does not want any insignia for the path of liberation.

415. One who having read the Samaya-Pāhuḍa, and known its meaning and purport steadies the soul in its spirit will attain supreme bliss.

:: • ::

卐 जिनवाणी स्तुति 卐

वीर हिमाचल तै निकसी गुरु गौतम के मुख कुण्ड ढरी है।
मोह महाचल भेद चली, जग की जड़ता ताप दूर करी है।।
ज्ञान पयोनिधि मांहिरली बहु भंग तरंगनि सो उछरी है।
ता शुचि शारद गंगनदी प्रति में अंजुरी करि शीश धरी है।
या जग मन्दिर में अनिवार अज्ञान अन्धेर छयो अति भारी।
श्री जिनकी दीप शिखा सम जो नहिं होत प्रकाशन हारी।।
तो किस भांति पदारथ पांति कहां लहते, रहते अविचारी।
या विधि संत कहैं धनि हैं धनि हैं जिन बैन बड़े उपकारी।।

SHRI RAJ KKRISHEN JAIN MEMORIAL LECTURE SERIES

(In Print)

1.	Lectures on Jain Ethical Traditions and Its Relevance by *Dr. G.C. Pande*, Vice-Chancellor, Rajasthan University, Jaipur.	Rs. 40.00
2.	Some Thoughts on Science and Religion by *Dr. D.S. Kothari*, Ex-Chairman, University Grants Commission and Chancellor, Jawahar Lal Nehru University, New Delhi.	Rs. 40.00
3.	Yoga, Meditation and Mysticism in Jainism by *Justice T.K. Tukol*, Ex-Vice-Chancellor, Bangalore University, Bangalore.	Rs. 40.00
4.	Jaina Logic By *Dr. T.G. Kalghatgi*, former Head of Department of Jainology & Prakrit, Mysore University, Mysore.	Rs. 40.00
5.	Lectures on Shravakachara, Its Significance and Relevance Today by *Dr. B.K. Khadabadi* Ex-Head, Jainology Chair, Karnataka University, Dharwad.	Rs. 50.00
6.	Lectures on Jain Society Through the Ages by *Dr Vilas A. Sangave*, Shivaji University, Kolhapur.	Rs. 40.00
7.	Lectures on Jain Theory of Knowledge by *Dr. Mohan Lal Mehra*, Deptt. of Philosophy, Pune University, Pune.	Under print
8.	Lectures on the place of Jaina Philosophy in Indian Thought by *Dr Nath Mal Tatia*, Director Jain Vishva Bharati, Ladnun.	Under print

हमारे प्रकाशन

1.	**भक्ति-गुच्छक** – (स्तोत्र, पाठ और पूजा आदि का अपूर्व संग्रह) पृष्ठ 631 का गुटका	मूल्य 8 रुपये
2.	**अध्यात्म-तरंगिणी** – रचयिता, आचार्य सोमदेव, संस्कृत-टीकाकार आ० गणधरकीर्ति, हिन्दी-टीकाकार – पं० पन्नालाल साहित्याचार्य	मूल्य 6 रुपये
3.	**युगवीर-भारती** – पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार की कविताओं का संग्रह	मूल्य 4 रुपये
4.	**भगवान महावीर** – लेखिका डा० रमादेवी जैन	मूल्य 4 रुपये
5.	**हरिवंश-कथा** – मूल लेखक : आचार्य जिनसेन, रुपान्तरकार : श्री माई दयाल जैन, पृष्ठ संख्या 340 सजिल्द	मूल्य 25 रुपये
6.	**प्रद्युम्न चरित्र** – (बाल संस्करण) श्रीमती पद्मा जैन	मूल्य 3 रुपये
7.	**हरिवंश कथा** – (बाल संस्करण) श्रीमती पद्मा जैन	मूल्य 3 रुपये
8.	**तन से लिपटी बेल** – (उपन्यास) – लेखक - श्री आनन्द प्रकाश जैन (सजिल्द)	मूल्य 15 रुपये
9.	**पुराने घाट नई सीढ़ियां** – डा० नेमिचन्द जैन, ज्योतिषाचार्य पी-एच०डी० डी०लिट्	सजिल्द मूल्य 12 रुपये
10.	**नित्य नियम पूजन, चतुर्विंशति पाठ तीर्थक्षेत्र पूजन व स्तोत्र संग्रह** – श्री वृन्दावन जी कृत	मूल्य 30 रुपये
11.	**सिद्ध चक्र विधान** – श्री सन्तलाल जी कृत	मूल्य 30 रुपये
12.	**भारतीय धर्म और अहिंसा** – सिद्धांताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री वाराणसी	मूल्य 52 रुपये
13.	**जैन दर्शन व न्याय** – डा० दरबारी लाल कोठिया	मूल्य 25 रुपये
14.	**समयसार** – आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य कृत "श्री राजकृष्ण जी जैन" द्वारा गाथाओं के अंग्रेजी रूपान्तर सहित ।	" 150 रुपये
15.	**नियमसार** – आचार्य कुन्दकुन्द "श्री राजकृष्ण जी जैन" कृत अंग्रेजी रूपान्तर सहित । (उद्भव एवं विकास तथा एक परिशीलन)	(प्रेस में)

अहिंसा मन्दिर

फोन : 3267200

1 दरियागंज, अंसारी रोड़, नई दिल्ली-2

अन्य केन्द्र : हरिद्वार, कुरुक्षेत्र व पिलानी

(श्री राजकृष्ण जैन चेरिटेबल ट्रस्ट द्वारा संचालित)